आचार्य जिनसेन विरचित

हरिवंशपुराण

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य



भारतीय ज्ञानपीठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिवंशपुराण

'हरिवंशपुराण' आचार्य जिनसेन (आठवीं शती) की अप्रतिम संस्कृत काव्यकृति है। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के त्यागमय जीवनचरित के साथ-साथ कृष्ण, बलभद्र, कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न तथा पाण्डवों और कौरवों का लोकप्रिय चरित बड़ी सुन्दरता से अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस विशाल ग्रन्थ में सम्पूर्ण हरिवंश का परिचय तथा जैनधर्म और संस्कृति के विभिन्न उपादानों का स्पष्ट एवं विस्तार से विवेचन हुआ है। भारतीय संस्कृति और इतिहास की बहुविध सामग्री इसमें भरी पड़ी है।

'हरिवंशपुराण' मात्र कथा-ग्रन्थ नहीं है, यह उच्चकोटि का महाकाव्य भी है। छ्यासठ सर्गों में विविध छन्दों में निबद्ध इस विशाल ग्रन्थ में लगभग आठ हजार नौ सौ श्लोक हैं।

मूल संस्कृत, हिन्दी अनुवाद, महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना तथा अनेक परिशिष्टों के साथ सुसम्पादित यह ग्रन्थ पुराण-कथाप्रेमियों के लिए जितना उपयोगी है, उससे कहीं अधिक इसकी उपयोगिता भारतीय संस्कृति और इतिहास के अनुसन्धित्सुओं के लिए है।

प्रस्तुत है ग्रन्थ का यह एक और नया संस्करण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक 27

आचार्य जिनसेन विरचित

हरिवंशपुराण

हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना तथा परिशिष्टि सहित

सम्पादन एवं अनुवाद

डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ

आठवाँ संस्करण : 2003 □ मूल्य : 325 रुपये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ISBN 81-263-0847 - 8

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रधान सम्पादक (प्रथम संस्करण)
डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. आ.ने. उपाध्ये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : बी. के. ऑफसेट, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Moortidevi Jain Granthamala : Sanskrit Grantha No. 27

HARIVAṀŚA PURĀṆA

of

ĀCHĀRYA JINASENA

with

Hindi translation, introduction and appendices

Edited and Translated

by

Dr. Panna Lal Jain, Sahityacharya

BHARATIYA JNANPITH

Eighth Edition : 2003 □ Price : Rs. 325

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ISBN 81-263-0847 - 8

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published.

•

General Editors (First Edition)

Dr. Hiralal Jain and Dr. A. N. Upadhye

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at : B.K. Offset, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सम्पादकीय

प्रथम संस्करण

साहित्यकी प्रेरणाके मूलाधार हैं प्रकृतिके दृश्य और घटनाएँ एवं जीवनके अनुभव। मनुष्यके विभिन्न अनुभवोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली उन पुरुषोंके चरित्र सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने लोक-कल्याणका कुछ विशेष कार्य किया, चाहे वह संकटसे मुक्ति सम्बन्धी हो अथवा भौतिक या आध्यात्मिक उत्कर्षके रूपमें। यह बात इसीसे सिद्ध है कि संसारका नब्बे प्रतिशत साहित्य वीर-गाथात्मक है, जिसमें यथार्थ व कल्पित कुछ असाधारण लोकोत्तर मानव-चरित्रका चित्रण पाया जाता है। भारतीय साहित्यको ही देखिए जहाँ वेदोंसे लगाकर कलकी चीनी लड़ाईके किसी छोटे-से समाचार तककी रचनाओंमें किसी न किसी प्रकारके पौरुषकी ही प्रधानता पायी जायेगी।

राष्ट्रके कुछ महापुरुषोंके चरित्र क्षेत्र और कालकी सीमाको पार कर व्यापक रूपसे लोकरुचिके विषय बन गये हैं। राम और कृष्णके चरित्र इसी प्रकारके हैं। हिन्दू और जैन साहित्यमें इनकी प्रधानता है, और गत दो-ढाई हजार वर्षोंमें अगणित पुराण, काव्य, नाटक व कथानक इन नामोंके आधारसे लिखे गये हैं। जैसे वैदिक परम्परामें रामायण और महाभारत उक्त विविध साहित्यिक धाराओंके स्रोत सिद्ध हुए हैं वैसे ही जैन साहित्यमें पद्मपुराण या पद्मचरित और हरिवंशपुराण या अरिष्टनेमिचरितका स्थान है। यहाँ हमारा प्रयोजन विशेषतः हरिवंश सम्बन्धी कथानकोंसे है। अर्धमागधी आगममें अनेक स्थलोंपर कृष्ण व कौरव-पाण्डवोंके आख्यान आये हैं। विशेषतः छठे श्रुताङ्ग णायाधम्मकहाओ एवं आठवें अन्तगडदसाओंमें। आगमोत्तर 'वसुदेवहिंडी' आदि प्राकृत ग्रन्थ भी हरिवंश सम्बन्धी कथाओंके महान् आकर हैं। इनका बहुत-सा वर्णन महाभारतसे मिलता है, और कुछ स्वतन्त्र पाया जाता है। विशेष बात यह है कि इन चरित्रोंको भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भी अपनी-अपनी सैद्धान्तिक व नैतिक परम्पराके अनुरूप बनाकर अपनाया गया है।

पूछा जा सकता है कि इन अन्य धर्मके देवरूप माने जानेवाले पुरुषोंको जैनधर्ममें क्यों और कैसे मान्यता प्राप्त हुई? उत्तर वही है, जो ऊपर दिया जा चुका है। जैनधर्ममें वीर-पूजाकी मान्यता है। उसने अपने अन्तिम तीर्थंकरको तो वीर व महावीर नामसे सम्बोधित ही किया है। ऐसे चौबीस महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने तप और ज्ञानके बलसे धर्मका मार्ग प्रशस्त बनाया और स्वयं तीर्थंकर रूपसे लोकाराधनके पात्र बने। बारह वीर पुरुष ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने लोकविजय और दुष्टनिग्रह करके शासनकी व्यवस्थाएँ स्थापित कीं। वे चक्रवर्ती पद प्राप्त करके लोकसम्मानके भाजन हुए। इसी प्रकार नौ बलभद्रों, नौ नारायणों तथा इन नारायणोंके शत्रु नौ प्रतिनारायणोंने भी अपने-अपने समयमें कुछ असाधारण पराक्रम द्वारा विविध प्रकारके आदर्श उपस्थित किये। जैन पुराणोंमें विस्तारसे तथा चरित्रों व कथानकोंमें रचयिताकी प्रतिभा व रुचि अनुसार हीनाधिक कलात्मक रूपसे इन त्रेसठ शलाकापुरुषोंकी वीर-गाथा गायी गयी है। इन्हीं लोकोत्तर वीर पुरुषोंमें राम और कृष्ण भी गिने गये हैं। अतएव उनकी भी जैनपुराणोंमें सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पायी जाती है।

विषय-वर्णनकी दृष्टिसे वैदिक परम्परामें पुराणके पाँच अंग माने गये हैं—सृष्टिकी रचना, प्रलय और पुनः सृष्टि, मानव वंश, मनुओंके युग और राजवंशोंके चरित्र। अपने मौलिक सिद्धान्तोंके अनुसार उचित हेर-फेरके साथ जैनपुराणोंमें भी इन लक्षणोंका पालन किया गया है। जैन धर्म विश्वको जड़-चेतन रूपसे अनादि-अनन्त मानता है, किन्तु उसका विकास कालचक्रके आरोह-अवरोह क्रमसे ऊपर-नीचेकी ओर परिवर्तनशीलताको लिये हुए बदला करता है। अतः जैनपुराणोंमें सर्ग और प्रतिसर्गके स्थानपर विश्वका यही स्वरूप तथा कालचक्रके आरोंका उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप विपरिवर्तन व लोक-व्यवस्थामें हेर-फेरका विवरण दिया गया है। वंशों, मनुओं (कुलकरों) और वंशानुचरितोंका इन पुराणोंमें भी अपनी परम्परानुसार वर्णन है। पुराणविषयक जैन ग्रन्थोंकी संख्या सैकड़ों है, और वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तमिल, कन्नड, हिन्दी आदि सभी प्राचीन भारतीय भाषाओंमें पाये जाते हैं। इन विविध रचनाओंमें वर्णन-भेद भी पाया जाता है जिसका परस्पर तथा वैदिक पुराणोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन-अनुसन्धान एक रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय है।

जैन हरिवंशपुराणमें उक्त प्रकार विषय-प्रतिपादनके साथ-साथ हरिवंशकी एक शाखा यादवकुल और उसमें उत्पन्न हुए दो शलाकापुरुषोंका चरित्र विशेष रूपसे वर्णित हुआ है। एक बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और दूसरे नवें नारायण कृष्ण। ये दोनों चचेरे भाई थे, जिनमें-से एकने अपने विवाहके अवसरपर निमित्त पाकर संन्यास ले लिया; और दूसरेने कौरव-पाण्डव युद्धमें अपना बल-कौशल दिखलाया। एकने आध्यात्मिक उत्कर्षका आदर्श उपस्थित किया, और दूसरेने भौतिक लीलाका। एकने निवृत्ति-परायणताका मार्ग प्रशस्त किया, और दूसरेने प्रवृत्तिका। इसी प्रसंगसे हरिवंशपुराणमें महाभारतका कथानक सम्मिलित पाया जाता है।

इस विषयकी प्राचीन संस्कृति, प्राकृत व अपभ्रंश रचनाएँ बहुसंख्यक हैं। हरिवंशपुराणके नामसे संस्कृतमें धर्मकीर्ति, श्रुतकीर्ति, सकलकीर्ति, जयसागर, जिनदास व मंगरस कृत, व पाण्डवपुराण नामसे श्रीभूषण, शुभचन्द्र, वादिचन्द्र, जयानन्द, विजयगणि, देवविजय, देवप्रभ, देवभद्र व शुभवर्धन कृत; तथा नेमिनाथ चरित्रके नामसे सूराचार्य, उदयप्रभ, कीर्तिराज, गुणविजय, हेमचन्द्र, भोजसागर, तिलकाचार्य, विक्रम, नरसिंह, हरिषेण, नेमिदत्त आदि कृत रचनाएँ ज्ञात हैं। प्राकृतमें रत्नप्रभ, गुणवल्लभ और गुणसागर द्वारा तथा अपभ्रंशमें स्वयंभू, धवल, यशःकीर्ति, श्रुतकीर्ति, हरिभद्र व रयधू द्वारा रचित पुराण व काव्य ज्ञात हो चुके हैं (देखिए—वेलणकर कृत जिनरत्नकोश, तथा कोछड़ कृत अपभ्रंश साहित्य)। इन स्वतन्त्र रचनाओंके अतिरिक्त जिनसेन, गुणभद्र व हेमचन्द्र तथा पुष्पदन्त कृत संस्कृत व अपभ्रंश महापुराणोंमें भी यह कथानक वर्णित है एवं उसकी स्वतन्त्र प्राचीन प्रतियाँ भी पायी जाती हैं। हरिवंशपुराण, अरिष्टनेमि या नेमिचरित, पाण्डवपुराण व पाण्डवचरित आदि नामोंसे न जाने कितनी संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनाएँ अभी भी अज्ञात रूपसे भण्डारोंमें पड़ी होना सम्भव है। प्राचीन हिन्दी व कन्नडमें रचित ग्रन्थ भी अनेक हैं। अतः प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादकने अपनी प्रस्तावनाके पृष्ठ दस पर प्रस्तुत रचनाके अतिरिक्त केवल एक संस्कृत और एक अपभ्रंश रचना मात्रका जो उल्लेख किया है, उससे इस विषयपर जैन साहित्य रचनाके सम्बन्धमें भ्रम नहीं होना चाहिए।

पुराणोंको हिन्दू व जैन परम्पराओंमें अपने-अपने कालके विश्वकोश बनानेका प्रयत्न किया गया है। उनमें न केवल कथानक मात्र है, किन्तु प्रसंगानुसार धर्म व नीतिके अतिरिक्त नाना कलाओं और ज्ञान-विज्ञानका भी परिचय संक्षेप या विस्तारसे करा दिया गया है। इस प्रवृत्तिका उद्देश्य यह दिखाई देता है कि एक ही पुराणका पाठ करनेवाला श्रद्धालु अपनी परम्परा सम्बन्धी सभी प्रकारकी जानकारी प्राप्त कर ले। प्रस्तुत हरिवंशपुराणमें भी यह प्रवृत्ति विशेष रूपसे पायी जाती है। यहाँ जो त्रैलोक्यका स्वरूप, महावीर तीर्थंकरका जीवनचरित्र, समवसरण व धर्मोपदेश तथा संगीत कला आदिका वर्णन किया गया है, वह उन-उन विषयोंका परिपूर्ण प्रकरण है और स्वतन्त्र रूपसे भी अध्ययन व प्रसारके योग्य है।

वैदिक साहित्य, और विशेषतः पौराणिक रचनाओंके कर्तृत्व और कालके सम्बन्धमें बड़ा विवाद तथा अनिश्चय है। सौभाग्यसे जैन परम्पराओंमें कालनिर्देशकी प्रवृत्ति प्रायः अधिक स्पष्ट पायी जाती है। यहाँ प्रमुख पुराणोंके रचयिता और रचनाकालके स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। प्रस्तुत हरिवंशपुराणके कर्ताने तो अपना परिचय भले प्रकार दे दिया है कि वे पुन्नाट संघके थे, उनके गुरुका नाम कीर्तिषेण था और उन्होंने अपनी यह रचना शक संवत् ७०५ में समाप्त की थी। यही नहीं, किन्तु वे ही एक ऐसे महाकवि पाये जाते हैं, जिन्होंने भगवान् महावीरसे लगाकर ६८३ वर्षकी सर्वमान्य गुरुपरम्पराके अतिरिक्त उसके आगे अपने समय तककी अन्यत्र कहीं न पायी जानेवाली गुर्वावली भी दी है।

हरिवंशपुराणकारकी इस अद्वितीय ऐतिहासिक चेतनाका एक और भी महत्त्वपूर्ण प्रमाण उनकी रचनामें उपलभ्य है, जिसने तत्कालीन समस्त भारतके इतिहासकी जानकारीको प्रभावित किया है। उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने ग्रन्थके समाप्तिकालके साथ-साथ यह भी उल्लेख किया है कि उन्होंने कहाँ किन स्थानोंमें बैठकर वह रचना की थी। उनकी यह सूचना ग्रन्थके उपान्त्य दो श्लोकोंमें (६६, ५२–५३) में पायी जाती है, जहाँ उन्होंने कहा है कि उस ग्रन्थका बहुभाग पहले वर्धमानपुरके पार्श्वनाथ मन्दिरमें बैठकर रचा था और शेष भाग शान्तिनाथके उस शान्तिपूर्ण मन्दिरमें जहाँ दोस्तटिकाके लोगोंने एक बृहत्पूजाका आयोजन किया था। उस समय उत्तर दिशामें इन्द्रायुध, दक्षिणमें कृष्णके पुत्र श्रीवल्लभ तथा पूर्व और पश्चिममें अवन्तिनरेश, वत्सराज तथा सौरमण्डल (सौराष्ट्र) में वीर जयवराह राज्य करते थे। ये उल्लेख बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और सभी इतिहास-लेखकोंने इनका उपयोग किया है। किन्तु कुछ बातोंमें उलझन भी उत्पन्न हुई है। एक मत यह है कि यहाँ पूर्वमें अवन्तिराज वत्सराजका और पश्चिममें सौराष्ट्रके नरेश वीर जयवराहका उल्लेख किया गया है। किन्तु दूसरे मतानुसार यहाँ पूर्वमें अवन्तिराज और पश्चिममें वत्सराज तथा वीर जयवराहका उल्लेख समझना चाहिए। इस बातमें भी मतभेद है कि इन राज्यसीमाओंका मध्यबिन्दु कहा जानेवाला वर्धमानपुर कौन-सा है। ग्रन्थमालाके हम दोनों प्रधान सम्पादक भी इस बातपर एकमत नहीं हैं। डॉ. उपाध्येके मतसे यह वर्धमानपुर काठियावाड़का वर्तमान वढवान है, और वहीं इसी पुन्नाट संघके हरिषेणने इससे १४८ वर्ष पश्चात् शक ८५३ में बृहत्कथाकोशकी रचना की थी (देखिए उक्त ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ. १२१)। किन्तु डॉ. हीरालाल जैनने अपने एक लेख (इण्डियन कलचर खण्ड ११, १९४४-४५ पृ. १६१ आदि, तथा जैन सिद्धान्त भास्कर, १२-२) में यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि जिनसेन द्वारा उल्लिखित वर्धमानपुर वर्तमान मध्यभारतके धार जिलेका बदनावर होना चाहिए, क्योंकि उसका प्राचीन नाम वर्धमानपुर पाया जाता है, वहाँ प्राचीन जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं, वहाँसे दुतरिया (प्राचीन दोस्तटिका) नामक ग्राम समीप है तथा वहाँसे उक्त राज्य विभाजनकी सीमाएँ ठीक-ठीक इतिहास-संगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रश्नके साथ पुन्नाट संघकी शाखाका कर्नाटकसे आकर वर्धमानपुरमें स्थापित होने और कमसे कम जिनसेन और हरिषेणके बीच कोई डेढ़ सौ वर्ष तक चलते रहनेका इतिहास भी गवेषणीय है। केवल संघके गिरनार यात्राके लिए आने और वर्धमानपुरमें रुक जानेकी बातसे इस महान् घटनाका पूरा मर्म नहीं खुलता। सम्भव है जैन धर्मके महान् आश्रयदाता राष्ट्रकूट-नरेशोंके मालवा और गुजरातमें प्रभुत्व बढ़नेसे इस संघपीठकी स्थापनाका कुछ सम्बन्ध हो। शिलालेखोंके अनुसार इन प्रदेशोंको राष्ट्रकूटनरेश दन्तिदुर्गने सन् ७५० के लगभग अपने अधीन कर लिया था।

ग्रन्थके अन्तिम पद्यमें इस हरिवंशपुराणको ऐसा श्रीपर्वत कहा है जिसका कविने बोधिके लाभार्थ आश्रय लिया, और यह आशा व्यक्त की कि यह श्रीपर्वत समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर व स्थिरतर बनकर पृथ्वीपर प्रतिष्ठित रहे। प्रश्न है कि यहाँ कवि-द्वारा अपनी रचनाको श्रीपर्वतकी उपमा देनेकी सार्थकता क्या है ? विचार करनेपर यहाँ भी भारतीय संस्कृतिकी एक धाराका महत्त्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ दिखायी देता है। बौद्धसाहित्यमें श्रीपर्वतका अनेक स्थलोंपर उल्लेख मिलता है। विशेषतः मंजुश्री मूलकल्प (पृ. ८८) का यह उल्लेख ध्यान देने योग्य है,

श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिन-धातुपरे भुवि।
सिद्ध्यन्ते मन्त्र-तन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु ॥

इस उल्लेखके अनुसार दक्षिणापथमें धान्यकटकके समीप श्रीपर्वत नामक महाशैलपर एक चैत्य है जिसमें जिन (बुद्ध) की अस्थियाँ व भस्मावशेष सुरक्षित हैं। वहाँ साधना करनेसे मन्त्र-तन्त्र शीघ्र सिद्ध होते और सब कामनाएँ सफल होती हैं। बौद्ध साहित्यमें ही नहीं, अन्य संस्कृत महाकवियोंने भी श्रीशैलकी इस ख्यातिका उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, महाकवि बाणने अपनी कादम्बरी कथाके एक पात्र वृद्ध द्रविड धार्मिकको 'श्रीपर्वताश्चर्यवार्तासहस्राभिज्ञ' कहा है तथा हर्षचरितमें स्वयं हर्षको कहा है 'सकलप्रणयि-मनोरथसिद्धिः श्रीपर्वतः'। भवभूतिने अपने मालतीमाधव नामक नाटकके एक पात्र बौद्ध भिक्षुणी सौदामिनीके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्त्र-तन्त्र सीखनेके लिए पद्मावती नगरीसे श्रीपर्वतको जानेकी बात कही है। इस प्रकारके और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सातवीं शती व उसके आस-पास श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रात्मक ऋद्धि-सिद्धिके लिए देशप्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। इसी ख्यातिके कारण कुछ तिब्बती ग्रन्थोंमें तो यहाँ तक कहा गया है कि भगवान् बुद्धने अपना धर्मचक्र-प्रवर्तन धान्यकटक (श्रीपर्वतके निकटवर्ती नगर) में ही किया था (राहुल सांकृत्यायन कृत पुरातत्त्व-निबन्धावली)। खुदाईसे प्राप्त हुई पुरातत्त्व सामग्रीके आधारसे उक्त श्रीपर्वत आधुनिक आन्ध्रप्रदेशके गुण्टूर जिलेमें स्थित नागार्जुनी कोंडासे अभिन्न सिद्ध किया गया है। इस पहाड़ीका अब स्थानीय नाम नहरल्लवडु है। पूर्व इतिहासके ऐसे प्रकाशमें अब सन्देह नहीं रहता कि हरिवंशपुराणके कर्ताको भी श्रीपर्वतकी उक्त प्रख्याति विज्ञात थी, और उसीको तुलनामें उन्होंने अपना यह पुराणरूपी नया श्रीपर्वत खड़ा किया। जिस प्रकार उस महायान बौद्धधर्मकी चैत्यवादी शाखा व वज्रयान सम्प्रदायमें मनोरथोंकी सिद्धि श्रीपर्वतकी उपासनासे मानी जाती थी, उसी प्रकार जिनसेनने अपनी इस रचनाके विषयमें कहा कि 'जो कोई इस हरिवंशको भक्तिसे पढ़ेंगे उन्हें अल्प यत्नसे ही अपनी आकांक्षित कामनाओंकी पूरी सिद्धि होगी, तथा धर्म, अर्थ और मोक्षका भी लाभ मिलेगा' (६६, ४६)। ग्रन्थकर्ता स्वयं जिनेन्द्रके नाम मात्रको ही ग्रहों आदिकी पीड़ाको दूर करनेका उपाय मानते थे (६६, ४१) और सिंह-वाहिनी (अम्बादेवी) की उपासनासे सर्व विघ्नोंकी शान्ति होनेमें विश्वास रखते थे (६६, ४४)।

भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मकी देन बड़ी विशाल और गम्भीर है, तथा इस संस्कृतिसे अन्य समानान्तर धाराओंसे ग्रहण किये हुए तत्त्वोंकी मात्रा भी कम नहीं है। बड़ी आवश्यकता है कि खोज-शोधपूर्वक इन बिखरी हुई कड़ियोंको जोड़ा जाये। इस कार्यके लिए पहले तो सुचारु रूपसे साहित्य-प्रकाशनकी ही बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि अभी तक भी विपुल जैन साहित्य अप्रकाशित व अज्ञात पड़ा हुआ है। यह बात जैन शास्त्रभण्डारों और विशेषतः जयपुरके भण्डारोंकी प्रकाशित सूचियोंके अवलोकन मात्रसे सिद्ध हो जाती है। इस प्राचीन साहित्यके प्रकाशनके साथ ही साथ हिन्दी व अन्य प्रचलित भाषाओंमें उसके शुद्ध अनुवादकी आवश्यकता है। हर्षकी बात है कि यह कार्य कुछ ग्रन्थमालाओं द्वारा योजनाबद्ध रूपसे हो रहा है, जिनमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाका विशेष स्थान है। इस प्रकार प्रकाशित साहित्यकी, और विशेषतः जैन पुराणोंकी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टियोंसे आन्तरिक व तुलनात्मक गवेषणाकी नितान्त आवश्यकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थको साहित्याचार्य पं. पन्नालालजीने पाँच-छह प्रतियोंके आधारसे संशोधित कर उसको अपने अनुवादसे अलंकृत किया है। उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें ग्रन्थ सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख व संकेत किया है। कुछ बातें ऐसी भी कही गयी हैं जिनपर और अधिक विचार व प्रमाणीकरणकी आवश्यकता थी। उदाहरणार्थ, उन्होंने कुवलयमालामें विमलकृत हरिवंशपुराण या चरितके उल्लेखका कथन किया है, किन्तु उन्होंने उस अंशके उस पाठको सर्वथा भुला दिया है जिसे कुवलयमालाके सम्पादक (डॉ. उपाध्ये) ने अपने संस्करणमें स्वीकार किया है। उसमें 'हरिवंस' के स्थानपर 'हरिवरिसं' का पाठ होनेसे कुछ अन्य भी अर्थ निकाला जा सकता है। उन्होंने रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणका प्रस्तुत रचनामें तथा महापुराणमें इस रचनाका अनुकरण किये जानेका उल्लेख किया है, किन्तु इन महत्त्वपूर्ण मतोंका जितनी सावधानी और गम्भीरतासे प्रमाणीकरण वांछनीय था वह यहाँ नहीं पाया जाता। अन्य कुछ बातोंका संशोधन उपर्युक्त विवेचन द्वारा करनेका प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थसहित पं. पन्नालालजीने जैन धर्मके तीन प्राचीन पुराणों—महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराणका संस्करण और अनुवाद प्रस्तुत कर जैन साहित्यकी जो सेवा की है उसके लिए हम उनके बहुत अनुगृहीत हैं। ये तीनों ही संस्करण इनके पूर्व संस्करणोंसे अति अधिक शुद्ध और उपयोगी रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं, जिससे साधारण पाठकोंके अतिरिक्त इस विषयपर शोधकार्य करनेवालोंको वे बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी आशा है।

—हीरालाल जैन, आ. ने. उपाध्ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

[१] सम्पादन-परिचय

हरिवंश पुराणका सम्पादन निम्नलिखित ६ प्रतियोंके आधारपर हुआ है—

'क' प्रति—यह प्रति पं. परमानन्दजी शास्त्रीके सौजन्यसे श्री दि. जैन सरस्वतीभण्डार धर्मपुरा, देहलीसे प्राप्त हुई थी। इसकी पत्रसंख्या २८२ है, प्रति पत्रपर १३-१४ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ४२ से ४५ तक अक्षर हैं। प्रति प्राचीन है, जर्जर होनेसे कितने ही पत्र अलग कर नये पत्र लिखाये गये हैं। अन्तिम पत्र भी जर्जर होनेसे बदला गया है इसलिए लिपि संवत्का पता नहीं चल सका। स्याही लाल-काली है, अक्षर सुवाच्य हैं, जहाँ-तहाँ टिप्पणी भी दी गयी हैं। प्रायः पाठ शुद्ध हैं। पत्रोंकी साइज ११ × ५ इंच है। इसका सांकेतिक नाम 'क' है।

'ख' प्रति—यह प्रति भी पं. परमानन्दजी शास्त्रीके सौजन्यसे पंचायती मन्दिर देहलीसे प्राप्त हुई है। संवत् १८७१ में लिखी गयी है। दशा अच्छी है; परन्तु कागज जर्जर होने लगा है। लाल-काली स्याही है, पत्रसंख्या ३३० है। प्रतिपत्रमें १२–१३ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्तिमें ३५–३८ अक्षर हैं। पत्रोंकी साइज १२½ × ६ इंच है। इसका सांकेतिक नाम 'ख' है।

'ग' प्रति—यह प्रति श्री पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ और डॉ. कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जयपुरके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें १२ × ५ साइजके ३१३ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १२ पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्तिमें ४५–५० तक अक्षर हैं। प्राचीन है, परन्तु बीच-बीचमें कई जगह जीर्ण-शीर्ण हो जानेसे नये पत्र लिखाकर शामिल कराये गये हैं। कहीं-कहीं टिप्पण भी दिये गये हैं, पाठ शुद्ध है, दशा अच्छी है। लेख संवत् १८३० है। इसका सांकेतिक नाम 'ग' है।

'घ' प्रति—यह प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनासे उपलब्ध हुई थी। इसमें १२ × ५ इंचके ३७६ पत्र, प्रतिपत्रमें १२ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३६–४० अक्षर हैं। काली-लाल स्याही से लिखी गयी है, सुवाच्य लिपि है और दशा अच्छी है। लेखनकाल अज्ञात है फिर भी कागजकी दशा से अधिक प्राचीन मालूम होती है। इसका सांकेतिक नाम 'घ' है।

'ङ' प्रति—यह प्रति पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ और डॉ. कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालके सौजन्यसे जयपुरसे प्राप्त हुई थी। इसमें ११ × ५ इंचकी साइजके ४२० पत्र हैं। प्रतिपत्रमें ११–१२ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४०–४२ अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, कागज पतला है, लेखनकाल १६४० विक्रम संवत् है। दशा अच्छी है, स्याहीके दोषसे कुछ पत्र परस्पर चिपक गये हैं। बीच-बीचमें कुछ टिप्पणी भी हैं, पाठ शुद्ध है। अन्तमें लेख है—

'संवत् १६४० वर्षे चैत्रे मासे शुक्लपक्षे षष्ठ्यां तिथौ बुधवासरे रोहिणी नामक नक्षत्रे श्री मूलसंघे'। इसका सांकेतिक नाम 'ङ' है।

'म' प्रति—यह प्रति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे पं. दरबारीलालजी न्यायतीर्थ (साम्प्रतिक नाम—सत्यभक्त) के द्वारा सम्पादित होकर दो भागोंमें मूलमात्र प्रकाशित हुई है। जहाँ कहीं खटकने लायक अशुद्धियाँ रह गयी हैं। इसका सांकेतिक नाम 'म' है।

उक्त छह मूल प्रतियोंके पाठसे भी जहाँ-कहीं शुद्ध पाठका निर्णय नहीं हो सका वहाँ श्री ऐलक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई तथा प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर मैसूरकी प्रतिसे भी पाठ मिलाकर शुद्ध पाठ स्थापित किये गये हैं। इस कार्यमें हमें श्री पं. कुन्दनलालजी शास्त्री तथा पं. के. श्री भुजबली शास्त्री मूडबिद्रीसे पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है।

[२] हरिवंशपुराण

अभी तक मेरी दृष्टिमें तीन हरिवंशपुराण आये हैं। जिनमें दो संस्कृतमें हैं और एक अपभ्रंश भाषाका है। अपभ्रंश हरिवंशके रचयिता महाकवि रइधू हैं। इसकी प्रति मैंने कुरवाई (सागर) के जैन मन्दिरमें देखी थी। संस्कृतके दो हरिवंशोंमें एक हरिवंश ब्रह्मचारी जिनदासका बनाया हुआ है। इसकी प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटचूट पूनामें विद्यमान है। रचना सरल और संक्षिप्त है। जिनसेनके हरिवंशमें जो यत्र-तत्र प्रसंगोपात्त अन्य वर्णन आये हैं उन्हें छोड़कर मात्र कथाभाग इसमें संगृहीत किया गया है। दूसरा हरिवंश आचार्य जिनसेनका है जिसका संस्करण पाठकोंके हाथमें है।

आचार्य जिनसेनका हरिवंश पुराण दिगम्बर-सम्प्रदायके कथासाहित्यमें अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह विषय विवेचनाकी अपेक्षा तो प्रमुख स्थान रखता ही है, प्राचीनताकी अपेक्षा भी संस्कृत कथाग्रन्थोंमें तीसरा ग्रन्थ ठहरता है। पहला रविषेणाचार्यका पद्मपुराण, दूसरा जटासिंहनन्दीका वरांगचरित और तीसरा यह जिनसेनका हरिवंश है। यद्यपि जिनसेनने अपने हरिवंशमें महासेनकी सुलोचनाकथा तथा कुछ अन्यान्य ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है; परन्तु अभी तक अनुपलब्ध होनेके कारण उनके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता। हरिवंशके कर्ता जिनसेनने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें पार्श्वाभ्युदयके कर्ता जिनसेन स्वामीका स्मरण किया है इसलिए इनका महापुराण हरिवंशसे पूर्ववर्ती होना चाहिए....यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जिस तरह जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें जिनसेन (प्रथम) का स्मरण करते हुए उनके पार्श्वाभ्युदयका उल्लेख किया है उस तरह महापुराणका उल्लेख नहीं किया, इससे विदित होता है कि हरिवंशकी रचनाके पूर्व तक जिनसेन (प्रथम) के महापुराणकी रचना नहीं हुई थी। महापुराण, जिनसेन स्वामीके जीवनकी अन्तिम रचना है इसीलिए तो वह उनके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकी, उनके शिष्य गुणभद्राचार्यके द्वारा पूर्ण किया गया है। हरिवंश और महापुराण दोनोंको देखनेके बाद ऐसा लगता है कि महापुराणकारने हरिवंशको देखनेके बाद उसकी रचना की है। हरिवंशपुराणमें तीन लोकोंका, संगीतका तथा व्रतविधान आदिका जो बीच-बीचमें विस्तृत वर्णन किया गया है उससे कथाके सौन्दर्यकी हानि हुई है। इसलिए महापुराणमें उन सबके अधिक विस्तारको छोड़कर प्रसंगोपात्त संक्षिप्त ही वर्णन किया गया है। काव्योचित भाषा तथा अलंकारकी विच्छित्ति भी हरिवंशपुराणकी अपेक्षा महापुराणमें अत्यन्त परिष्कृत है।

[३] हरिवंशपुराणका आधार

जिस प्रकार जिनसेनके महापुराणका आधार कवि परमेष्ठीका 'वागर्थसंग्रह' पुराण है उसी प्रकार हरिवंशका आधार भी कुछ न कुछ अवश्य रहा होगा। हरिवंशके कर्ता जिनसेनने प्रकृत ग्रन्थके अन्तिम सर्गमें भगवान् महावीरसे लेकर ६८३ वर्ष तककी और उसके बाद अपने समय तककी जो विस्तृत—अविच्छिन्न आचार्य-परम्परा दी है उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके गुरु कीर्तिषेण थे और सम्भवतया हरिवंशकी कथावस्तु उन्हें उनसे प्राप्त हुई होगी!

कुवलयमालाके कर्ता उद्योतन सूरिने (वि. सं. ८३५) अपनी कुवलयमालामें जिस तरह रविषेणके पद्मचरित और जटासिंह नन्दीके वरांगचरितकी स्तुति की है उसी तरह हरिवंशकी भी की है[१]। उन्होंने लिखा है कि मैं हजारों बुधजनोंके प्रिय, हरिवंशोत्पत्तिकारक, प्रथम वन्दनीय और विमलपद हरिवंशको वन्दना

१. बुहजण सहस्स दइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पिहु हरिवंसं चेव विमलपयं॥३८॥

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

करता हूँ। यहाँ श्लेषसे विमलपदके (विमलसूरिके चरण और विमल हैं पद जिसके ऐसा हरिवंश) दो अर्थ घटित होते हैं। विमलसूरिका यह 'हरिवंश' अभी तक अप्राप्य है, इसके मिलनेपर हरिवंशके मूलाधारका निर्णय सहज हो सकता है। वर्णन शैलीको देखते हुए इन्होंने रविषेणके पद्मचरितको अच्छी तरह देखा है यह स्पष्ट है। पद्यमय ग्रन्थोंमें गद्यका उपयोग अन्यत्र देखनेमें नहीं आता परन्तु जिस प्रकार रविषेणने पद्मचरितमें वृत्तानुगन्धी गद्यका प्रयोग किया है उसी प्रकार जिनसेनने भी हरिवंशके ४९वें सर्गमें नेमि जिनेन्द्रका स्तवन करते हुए वृत्तानुगन्धी गद्यका प्रयोग किया है। हरिवंशका लोकविभाग एवं शलाकापुरुषोंका वर्णन 'त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति' से मेल खाता है[1]। द्वादशांगका वर्णन राजवार्तिकके अनुरूप है, संगीतका वर्णन भरतमुनिके नाट्यशास्त्रसे अनुप्राणित है और तत्त्वोंका निरूपण तत्त्वार्थसूत्र तथा सर्वार्थसिद्धिके अनुकूल है। इससे जान पड़ता है कि आचार्य जिनसेनने उन सब ग्रन्थोंका अच्छी तरह आलोडन किया है। तत्तत्प्रकरणोंमें दिये गये तुलनात्मक टिप्पणोंसे उक्त बातका निर्णय सुगम है। हाँ, व्रतविधान, समवसरण तथा जिनेन्द्र विहारका वर्णन किससे अनुप्राणित है ? यह निर्णय मैं नहीं कर सका।

[४] हरिवंशपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन

हरिवंश पुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाट संघके थे। ये महापुराणादिके कर्ता जिनसेनसे भिन्न हैं। इनके गुरुका नाम कीर्तिषेण और दादागुरुका नाम जिनसेन था। महापुराणादिके कर्ता जिनसेनके गुरु वीरसेन और दादागुरु आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्नाटकका प्राचीन नाम है इसलिए इस देशके मुनिसंघका नाम पुन्नाट संघ था। जिनसेनका जन्मस्थान, माता-पिता तथा प्रारम्भिक जीवनका कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। गृहविरत पुरुषके लिए इन सबके उल्लेखकी आवश्यकता भी नहीं है।

आचार्य जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे—यह हरिवंशपुराणके स्वाध्यायसे स्पष्ट हो जाता है। हरिवंशपुराण पुराण तो है ही साथ ही इसमें जैन वाङ्मयके विविध विषयोंका अच्छा निरूपण किया गया है इसलिए यह जैन-साहित्यका अनुपम ग्रन्थ है।

[५] ग्रन्थकर्ताकी गुरु-परम्परा

हरिवंशपुराणके छयासठवें सर्गमें भगवान् महावीरसे लेकर लोहाचार्य तककी वही आचार्य-परम्परा दी है जो कि श्रुतावतार आदि अन्य ग्रन्थोंमें मिलती है। परन्तु उसके बाद अर्थात् वीर निर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर जिनसेनने अपने गुरु कीर्तिषेण तककी जो अविच्छिन्न परम्परा दी है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टिसे इस ग्रन्थका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। वह परम्परा इस प्रकार है—विनयधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, कीर्तिषेण और जिनसेन (हरिवंशके कर्ता)।[2]

इनमें अमितसेनको पुन्नाटगणका अग्रणी तथा शतवर्षजीवी बतलाया है। वीरनिर्वाणसे लोहाचार्य तक ६८३ वर्षमें २८ आचार्य बतलाये हैं। लोहाचार्यका अस्तित्व वि. सं. २१३ तक अभिमत है और वि. सं. ८४० तक जिनसेनका अस्तित्व सिद्ध है। इस तरह इस ६२७ वर्षके अन्तरालमें ३१ आचार्योंका होना सुसंगत है।

---

१. ब्र. जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुरसे प्रकाशित त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें उसके सम्पादक डॉ. हीरालालजी और डॉ. ए. एन. उपाध्येने त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिको अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करते हुए हरिवंशके साथ भी उसकी तुलना की है और दोनोंके वर्णनमें कहाँ साम्य और कहाँ वैषम्य है ! इसकी अच्छी चर्चा की है। विस्तार भयसे हम यहाँ उस चर्चाको न लेकर पाठकोंका ध्यान उस ओर अवश्य आकृष्ट करते हैं।

२. हरिवंशपुराण, सर्ग ६६, श्लो. २२-३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[६] हरिवंशका रचना-स्थान

हरिवंशपुराणकी रचनाका प्रारम्भ वर्द्धमानपुरमें हुआ और समाप्ति दोस्तटिकाके शान्तिनाथ जिनालयमें हुई। यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्रका प्रसिद्ध शहर 'वढवाण' जान पड़ता है क्योंकि हरिवंशपुराणमें उस समयकी जो भौगोलिक स्थिति बतलायी है उसपर विचार करनेसे उक्त कल्पनाको बल प्राप्त होता है।

हरिवंशपुराणके ६६वें सर्गके ५२ और ५३वें श्लोकमें कहा है[1] कि शकसंवत् ७०५ में जब कि उत्तर दिशाकी इन्द्रायुध, दक्षिण दिशाकी कृष्णका पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्वकी अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिमकी—सौरोंके अधिमण्डल सौराष्ट्रकी वीर जयवराह रक्षा करता था तब अनेक कल्याणोंसे अथवा सुवर्णसे बढ़नेवाली विपुल लक्ष्मीसे सम्पन्न वर्धमानपुरके पार्श्वजिनालयमें जो कि नन्नराज वसतिके नामसे प्रसिद्ध था यह ग्रन्थ पहले प्रारम्भ किया गया और पीछे चलकर दोस्तटिकाकी प्रजाके द्वारा उत्पादित प्रकृष्ट पूजासे युक्त वहाँके शान्ति जिनेन्द्रके शान्तिपूर्ण गृहमें रचा गया।

वढवाणसे गिरिनगरको जाते हुए मार्गमें 'दोत्तडि' नामक स्थान है वही 'दोस्तटिका' है। प्राचीन गुर्जर-काव्य संग्रह (गायकवाड सीरिज) में अमुलुकृत चर्चरिका प्रकाशित हुई है उसमें एक यात्रीकी गिरिनार-यात्राका वर्णन है। वह यात्री सर्वप्रथम वढवाण पहुँचता है, फिर क्रमसे रंनदुलई, सहजिगपुर, गंगिलपुर और लखमीधरुको पहुँचता है। फिर विषम दोत्तडि पहुँचकर बहुत-सी नदियों और पहाड़ोंको पार करता हुआ करिवंदियाल पहुँचता है। करिवंदियाल और अनन्तपुरमें डेरा डालता हुआ भालणमें विश्राम करता है। वहाँसे उसे ऊँचा गिरिनार पर्वत दिखने लगता है। यह विषम दोत्तडि ही दोस्तटिका है।

वर्धमानपुर (बढ़वाण) को जिस प्रकार जिनसेनाचार्यने अनेक कल्याणोंके कारण विपुलश्रीसे सम्पन्न लिखा है उसी प्रकार हरिषेणकथाकोशके कर्ता हरिषेणने भी उसे 'कार्त्तस्वरापूर्णजनाधिवास' लिखा है। कार्त्तस्वर और कल्याण दोनों ही स्वर्णके वाचक हैं इससे सिद्ध होता है कि वह नगर अत्यधिक समृद्ध था और उसकी समृद्धि जिनसेनसे लेकर हरिषेण तक १४८ वर्षके लम्बे अन्तरालमें भी अक्षुण्ण बनी रही। हरिषेणने अपने कथाकोशकी रचना भी इसी वर्द्धमानपुर (वढ़वाण) में शक संवत् ८५३ (वि. सं. ९८९) में पूर्ण की थी।

यद्यपि जिनसेन पुन्नाट संघके थे और पुन्नाट नाम कर्नाटकका है तथापि विहारप्रिय होनेसे उनका सौराष्ट्रकी ओर आगमन युक्ति-सिद्ध है। सिद्धक्षेत्र गिरिनार पर्वतकी वन्दनाके अभिप्रायसे पुन्नाट संघके मुनियोंने इस ओर विहार किया हो, यह आश्चर्यकी बात नहीं। जिनसेनने अपनी गुरुपरम्परामें अमितसेनको पुन्नाट गणके अग्रणी और शतवर्षजीवी लिखा है। इससे जान पड़ता है कि यह संघ अमितसेनके नेतृत्वमें ही पुन्नाट—कर्नाटक देशको छोड़कर उत्तर भारतकी ओर आया होगा और पुण्यभूमि श्री गिरिनार क्षेत्रकी वन्दनाके निमित्त सौराष्ट्र (काठियावाड़) में गया होगा।

वर्द्धमानपुरकी चारों दिशाओंमें जिन राजाओंका वर्णन जिनसेनने किया है, उनपर भी विचार कर लेना आवश्यक है—

---

१. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजे परां
शौर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणैः परिवर्धमान-विपुल-श्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालय-नन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजा प्रजनितप्राज्यार्चना वर्जने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. इन्द्रायुध

स्व. ओझाजीने लिखा है कि इन्द्रायुध और चक्रायुध किस वंशके थे, यह ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु सम्भव है कि वे राठोड़ हों। स्व. चिन्तामणि विनायक वैद्यके अनुसार इन्द्रायुध भण्डि कुलका था और उक्त वंशको वर्मवंश भी कहते थे।[1] इसके पुत्र चक्रायुधको परास्त कर प्रतिहारवंशी राजा वत्सराजके पुत्र नागभट द्वितीयने जिसका कि राज्यकाल विन्सेंट स्मिथके अनुसार वि. सं. ८५७—८८२ है[2] कन्नौजका साम्राज्य उससे छीना था। बढवाणके उत्तरमें मारवाड़का प्रदेश पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कन्नौजसे लेकर मारवाड़ तक इन्द्रायुधका राज्य फैला हुआ था।

२. श्रीवल्लभ

यह दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशके राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविन्द (द्वितीय) था। कावीमें मिले हुए[3] ताम्रपटमें इसे गोविन्द न लिखकर वल्लभ ही लिखा है, अतएव इस विषयमें सन्देह नहीं रहा कि यह गोविन्द (द्वितीय) ही था और वर्धमानपुरकी दक्षिण दिशामें उसीका राज्य था। कावी भी बढ़वाणके प्रायः दक्षिणमें है। श. सं. ६९२ (वि. सं. ८२७) का उसका एक ताम्रपत्र भी मिला है।

३ अवन्तिभूभृत् वत्सराज

यह प्रतिहार वंशका राजा था और उस नागावलोक या नागभट (द्वितीय) का पिता था जिसने चक्रायुधको परास्त किया था। वत्सराजने गौड़ और बंगालके राजाओंको जीता था और उनसे दो श्वेत छत्र छीन लिये थे। आगे इन्हीं छत्रोंको राष्ट्रकूट गोविन्द (द्वितीय) या श्रीवल्लभके छोटे भाई ध्रुवराज ने चढ़ाई करके उससे छीन लिया था और उसे मारवाड़की अगम्य रेतीली भूमिकी ओर भागनेको विवश किया था।

ओझाजी ने लिखा है कि उक्त वत्सराजने मालवाके राजापर चढ़ाई की और मालवराजको बचानेके लिए ध्रुवराज उसपर चढ़ दौड़ा। ७०५ में तो मालवा वत्सराजके ही अधिकारमें था क्योंकि ध्रुवराजका राज्यारोहणकाल श. सं. ७०७ के लगभग अनुमान किया गया है। उसके पहले ७०५ में तो गोविन्द (द्वितीय) (श्रीवल्लभ) ही राजा था और इसलिए उसके बाद ही ध्रुवराजकी उक्त चढ़ाई हुई होगी।

उद्योतन सूरिने अपनी कुवलयमाला जावालिपुर या जालोर (मारवाड़) में तब समाप्त की थी जब श. सं. ७०० के समाप्त होनेमें एक दिन बाकी था। उस समय वहाँ वत्सराजका राज्य था अर्थात् हरिवंशकी रचनाके समय (श. सं. ७०५ में) तो (उत्तर दिशाका) मारवाड़ इन्द्रायुधके अधीन था और (पूर्वका) मालवा वत्सराजके अधिकारमें था। परन्तु इसके ५ वर्ष पहले (श. सं. ७००) में वत्सराज मारवाड़का अधिकारी था। इससे अनुमान होता है कि उसने मारवाड़से ही आकर मालवापर अधिकार किया होगा और उसके बाद ध्रुवराजकी चढ़ाई होनेपर वह फिर मारवाड़की ओर भाग गया होगा। श. सं. ७०५ में वह अवन्ति या मालवाका शासक होगा। अवन्ति बढ़वाणकी पूर्व दिशामें है ही। परन्तु यह पता नहीं लगता कि उस समय अवन्तिका राजा कौन था, जिसकी सहायताके लिए राष्ट्रकूट ध्रुवराज दौड़ा था। ध्रुवराज (श. सं. ७०७) के लगभग गद्दीपर आरूढ हुआ था। इन सब बातोंसे हरिवंशकी रचनाके समय उत्तरमें इन्द्रायुध, दक्षिणमें श्रीवल्लभ और पूर्वमें वत्सराजका राज्य होना ठीक मालूम होता है।

---

१. देखो, सी. पी. वैद्यका 'हिन्दू भारतका उत्कर्ष' : पृ. १७५।
२. म म. ओझाजीके अनुसार नागभटका समय वि.सं. ८७२-८९० तक है।
३. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी : जिल्द ५, पृ. १४६।
४. एपिग्राफिआ इण्डिका : जिल्द ६, प. २७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. वीर जयवराह

यह पश्चिममें सौरोंके अधिमण्डलका राजा था। सौरोंके अधिमण्डलका अर्थ हम सौराष्ट्र ही समझते हैं जो काठियावाड़के दक्षिणमें है। सौर लोगोंका राष्ट्र सौर-राष्ट्र या सौराष्ट्रसे बढ़वाण और उसके पश्चिमकी ओरका प्रदेश ही ग्रन्थकर्ताको अभीष्ट है।

यह राजा किस वंशका था इसका ठीक पता नहीं चलता। हमारा अनुमान है कि यह चालुक्य वंशका कोई राजा होगा और उसके नामके साथ 'वरआह' का प्रयोग उस तरह होता होगा जिस तरह कि कीर्तिवर्मा (द्वितीय) के साथ महावराहका। राष्ट्रकूटोंसे पहले चौलुक्य सार्वभौम—राजा थे और काठियावाड़पर भी उनका अधिकार था। उनसे यह सार्वभौमपना श. सं. ६७५ के लगभग राष्ट्रकूटोंने ही छीना था, इसलिए बहुत सम्भव है कि हरिवंशकी रचनाके समय सौराष्ट्रपर चौलुक्य वंशकी ही किसी शाखाका अधिकार हो और उसीको जयवराह लिखा हो। सम्भवतः पूरा नाम जयसिंह हो और वराह विशेषण।

प्रतिहार राजा महीपालके समयका एक दानपत्र हड्डाला गाँव (काठियावाड़) से श. सं. ८३६ का मिला है। उससे मालूम होता है कि उस समय बढ़वाणमें धरणीवराहका अधिकार था, जो चावड़ा वंशका था और प्रतिहारोंका करद राजा था। इससे एक संभावना यह भी है कि उक्त धरणीवराहका ही कोई ४–६ पीढ़ी पहलेका पूर्वज उक्त जयवराह रहा हो।

[७] हरिवंशका रचनाकाल

जिनसेनाचार्यने अन्तिम सर्गके ५२वें श्लोकमें हरिवंशका रचनाकाल शक संवत् ७०५ लिखा है जो वि. सं. ८४० होता है। जिनसेनने अपने ग्रन्थकी रचनाका समय मात्र शक संवत्में लिखा है जब कि हरिषेणने कथाकोशका रचनाकाल लिखते समय शक संवत्के साथ वि. सं. का भी उल्लेख किया है। उत्तरभारत, गुजरात और मालवा आदिमें वि. सं. का और दक्षिणमें शक संवत्का चलन रहा है। जिनसेनको दक्षिणसे आये हुए एक-दो पीढ़ियाँ ही बीती थीं इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थमें शक संवत्का ही उल्लेख किया है, परन्तु हरिषेणको काठियावाड़में कई पीढ़ियाँ बीत गयी थीं इसलिए उन्होंने वहाँकी पद्धतिके अनुसार साथमें वि. सं. का देना भी उचित समझा।

[८] जिनसेनके पूर्ववर्ती विद्वान्

कृतज्ञताके नाते जिनसेनने अपनेसे पूर्ववर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जटासिंहनन्दी, शान्त (शान्तिषेण) विशेषवादी, कुमारसेन गुरु, वीरसेनगुरु, जिनसेन स्वामी और वर्द्धमान पुराणके कर्ताका नामस्मरण करते हुए उनकी प्रशंसा की है। अतः इनके सम्बन्धमें संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

समन्तभद्र

समन्तभद्र क्षत्रिय राजपुत्र थे। इनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था किन्तु बादमें आप 'समन्तभद्र' इस श्रुतिमधुर नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुए। इनके गुरुका नाम क्या था और इनकी क्या गुरुपरम्परा थी यह ज्ञात नहीं हो सका। वादी, वाग्मी और कवि होनेके साथ-साथ स्तुतिकार होनेका श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्रके तलद्रष्टा और विलक्षण प्रतिभासम्पन्न थे। एक परिचय पद्यमें तो आपको दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होनेके साथ आज्ञासिद्ध सिद्धसारस्वत भी बतलाया है। आपकी सिंहगर्जनासे सभी वादिजन काँपते थे। आपने अनेक देशोंमें विहार किया और वादियोंको पराजित कर उन्हें सन्मार्गका प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थकी उद्भाविका हैं। उनके नाम इस प्रकार

१. हरिवंशपुराण, सर्ग १, श्लोक ३९–४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं–१ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २ युक्त्यनुशासन, ३ आप्तमीमांसा, ४ रत्नकरण्ड श्रावकाचार और ५ स्तुतिविद्या। हरिवंशपुराणकार जिनसेनने इनके जीवसिद्धि और युक्त्यनुशासन इन दो ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इनका समय विक्रमकी २–३ शताब्दी माना जाता है।

सिद्धसेन

इस नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं पर यह सिद्धसेन वही ज्ञात होते हैं जो सन्मतिप्रकरण नामक प्राकृत ग्रन्थके कर्ता हैं। ये न्यायशास्त्रके विशिष्ट विद्वान् थे। इनका समय विक्रमकी ६-७वीं शताब्दी होना चाहिए। कतिपय प्राचीन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता भी दिगम्बर सिद्धसेन हुए हैं। ये सिद्धसेन, न्यायावतारके कर्ता श्वेताम्बरीय विद्वान् सिद्धसेन दिवाकरसे भिन्न हैं।[1]

देवनन्दी

यह पूज्यपादका दूसरा नाम है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ४० (६४) के उल्लेखानुसार इनके देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं। यह आचार्य अपने समयके बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। दर्शनसारके इस उल्लेखसे वि. सं. ५२६ में दक्षिण मथुरा या मदुरामें पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने द्राविड़ संघकी स्थापना की थी, आप ५२६ वि. सं. से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। आचार्य जिनसेनने इनका स्मरण वैयाकरणके रूपमें किया है। अबतक आपके जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश तथा दशभक्ति ये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं।

वज्रसूरि

ये देवनन्दी या पूज्यपादके शिष्य द्राविड़संघके स्थापक वज्रनन्दि जान पड़ते हैं। जिनसेनने इनके विचारोंको प्रवक्ताओं या गणधर देवोंके समान प्रमाणभूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत किया गया है जिसमें बन्ध और मोक्ष तथा उनके हेतुओंका विवेचन किया गया है। दर्शनसारके उल्लेखानुसार आप छठी शतीके प्रारम्भके विद्वान् ठहरते हैं।

महासेन

इन्हें जिनसेनने सुलोचना कथाका कर्ता कहा है। इनका विशिष्ट परिचय अज्ञात है।

रविषेण

आप पद्मपुराणके कर्ता रविषेण हैं। पद्मपुराणकी श्रुतिसुखद और हृदयहारी रचना कर आपने राम-कथाको अपने ढंगसे विद्वत्-समाजके समक्ष उपस्थित किया है। आप विक्रमकी आठवीं शतीके मध्यवर्ती विद्वान् थे। आपने पद्मपुराणकी रचना वि. सं. ७३३ में पूर्ण की है।

जटासिंहनन्दि

जिनसेनने इनका नामोल्लेख न कर इनके वराङ्गचरितका उल्लेख किया है। यह बड़े भारी तपस्वी थे। इनका समाधिमरण 'कोप्पण' में हुआ था। कोप्पणके समीपकी 'पल्लवकी गुण्डु' नामकी पहाड़ीपर इनके चरण-चिह्न भी अंकित हैं और उनके नीचे दो लाइनका पुरानी कनड़ीका एक लेख भी उत्कीर्ण है जिसे 'चापय्य' नामके व्यक्तिने तैयार कराया था। इनकी एकमात्र कृति 'वराङ्गचरित' डॉ. ए. एन. उपाध्ये-द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुकी है। राजा वरांग बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथके समयमें हुआ है। उपाध्येजीने जटासिंहनन्दी का समय ७वीं शती निश्चित किया है।

---

१. देखो, अनेकान्त : वर्ष ६, किरण ११–१२ में प्रकाशित, पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार का 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' शीर्षक लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्त

इनका पूरा नाम शान्तिषेण जान पड़ता है। इनकी उत्प्रेक्षा अलंकारसे युक्त वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की गयी है। इनका कोई काव्य ग्रन्थ होगा। जिनसेनने, अपनी गुरु-परम्पराका वर्णन करते हुए जयसेनके पूर्व एक शान्तिषेण आचार्यका नामोल्लेख किया है बहुत कुछ सम्भव है कि यह शान्त वही शान्तिषेण हों।

विशेषवादि

जिनसेनने इनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत किया है जो गद्य-पद्यमय है और जिनकी उक्तियोंमें बहुत विशेषता है। वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें भी इनका स्मरण किया है।

कुमारसेन गुरु

चन्द्रोदय ग्रन्थके रचयिता प्रभाचन्द्रके आप गुरु थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। इनका समय निश्चित नहीं है। चामुण्डराय पुराणके पद्य नं. १५ में भी इनका स्मरण किया गया है। डॉ. उपाध्येने इनका परिचय देते हुए जैन संदेशके शोधांक १२ में लिखा है कि ये मूलगुण्ड नामक स्थानपर आत्म-त्यागको स्वीकार करके कोप्पणाद्रिपर ध्यानस्थ हो गये तथा समाधिपूर्वक मरण किया।

वीरसेन गुरु

ये उस मूलसंघ पंचस्तूपान्वयके आचार्य थे जो सेनसंघके नामसे लोकमें विश्रुत हुआ है। ये आचार्य चन्द्रसेनके प्रशिष्य और आर्यनन्दीके शिष्य तथा महापुराण आदिके कर्ता जिनसेनके गुरु थे। आप षट्खण्डागमपर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका तथा कषाय प्राभृतपर बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखकर दिवंगत हुए थे। जिनसेनने उन्हें कवियोंका चक्रवर्ती तथा अपने-आपके द्वारा परलोकश्री विजेता कहा है। आपका समय विक्रमकी ९वीं शतीका पूर्वार्ध है।

जिनसेन स्वामी

आप वीरसेन गुरुके शिष्य थे। हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेनने आपके पार्श्वाभ्युदय ग्रन्थकी ही चर्चा की है। जब कि आप महापुराण तथा कषायप्राभृतकी अवशिष्ट चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीकाके भी कर्ता हैं। इससे जान पड़ता है कि हरिवंशपुराणके समय उन्होंने पार्श्वाभ्युदयकी ही रचना की होगी। जयधवला और महापुराणकी रचना पीछे की होगी। और महापुराणकी रचना तो उनकी अन्तिम कृति कही जा सकती है जिसे वे पूरा नहीं कर सके। उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्रने उसे पूरा किया। आपका समय ९वीं शती है।

वर्धमानपुराणके कर्ता

जिनसेनने वर्द्धमानपुराणका उल्लेख किया है परन्तु इसके कर्ताका नाम नहीं लिखा है। जान पड़ता है कि उनके समयका अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ होगा।

[९] हरिवंशपुराणकी कथावस्तु

हरिवंशपुराणमें जिनसेनाचार्य प्रधानतया बाईसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ भगवान्का चरित्र लिखना चाहते थे परन्तु प्रसंगोपात्त अन्य कथानक भी इसमें लिखे गये हैं। यह बात हरिवंशके प्रत्येक सर्गके उस पुष्पिका वाक्यसे सिद्ध होती है जिसमें उन्होंने 'इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे' इसका उल्लेख किया है। भगवान् नेमिनाथका जीवन आदर्श त्यागका जीवन है। वे हरिवंश-गगनके प्रकाशमान सूर्य थे। भगवान् नेमिनाथके साथ नारायण और बलभद्र पदके धारक श्रीकृष्ण तथा रामके भी कौतुकावह चरित्र इसमें लिखे गये हैं। पाण्डवों तथा कौरवोंका लोकप्रिय चरित्र इसमें बड़ी सुन्दरताके साथ अंकित किया है। श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका चरित भी इसमें अपना पृथक् स्थान रखता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१०] हरिवंशपुराणकी साहित्यिक सुषमा

हरिवंशपुराण न केवल कथा ग्रन्थ है किन्तु महाकाव्यके गुणोंसे युक्त उच्च कोटिका महाकाव्य भी है। इसके सैंतीसवें सर्गसे नेमिनाथ भगवान्का चरित्र प्रारम्भ होता है वहींसे साहित्यिक सुषमा इसकी बढ़ती जाती है। इसका पचपनवाँ सर्ग यमकादि अलंकारोंसे अलंकृत है। अनेक सर्ग सुन्दर-सुन्दर छन्दोंसे विभूषित हैं। ऋतुवर्णन, चन्द्रोदयवर्णन आदि भी अपने ढंगके निराले हैं। नेमिनाथ भगवान्के वैराग्य तथा बलदेवके विलाप आदिके वर्णन करनेके लिए जिनसेनने जो छन्द चुने हैं वे रस परिपाकके अत्यन्त अनुरूप हैं। श्रीकृष्णकी मृत्युके बाद बलदेवका करुण विलाप और स्नेहका चित्रण, लक्ष्मणकी मृत्युके बाद रविषेणके द्वारा पद्मपुराणमें वर्णित राम-विलापके अनुरूप है। वह इतना करुण चित्रण हुआ है कि पाठक अश्रुधाराको नहीं रोक सकता। नेमिनाथके वैराग्य वर्णनको पढ़कर प्रत्येक मनुष्यका हृदय संसारकी माया-ममतासे विमुख हो जाता है। राजीमतीके परित्यागपर पाठकके नेत्रोंसे सहानुभूतिकी अश्रुधारा जहाँ प्रवाहित होती है वहाँ उनके आदर्श सतीत्वपर जन-जनके मानसमें उनके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है।

मृत्युके समय कृष्णके मुखसे जो अन्तिम उद्गार प्रकट हुए हैं उनसे उनकी महिमा बहुत ही ऊँची उठ जाती है। तीर्थंकर प्रकृतिका जिसे बन्ध हुआ है उसके परिणामोंमें जो समता होनी चाहिए वह अन्त तक स्थित रही है। यहाँ हम कुछ अवतरण देकर ग्रन्थकी सुषमाको प्रकट करना चाहते थे परन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे वैसा नहीं कर रहा हूँ। मेरा अनुरोध है कि पाठक ग्रन्थका स्वाध्याय कर रसानुभूति करें।

[११] हरिवंशपुराण और लोकवर्णन

हरिवंशपुराणका लोकवर्णन प्रसिद्ध है जो त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिसे अनुप्राणित है। किसी पुराणमें इतने विस्तारके साथ इस विषयकी चर्चा आना खास बात है। पुराण आदि कथाग्रन्थोंमें लोक आदिका वर्णन संक्षेप रूपमें ही किया जाता है परन्तु इसका वर्णन अत्यन्त विस्तार और विशदताको लिये हुए है। कितने ही स्थलोंपर करणसूत्रोंका भी अच्छा उल्लेख किया गया है। यदि लोक-विभागके प्रकरणको हिन्दी अनुवादके साथ अलगसे प्रकाशित कर दिया जाये तो अल्पमूल्यमें पाठक इससे अवगत हो सकते हैं।

[१२] हरिवंशपुराण और धर्मशास्त्र

भगवान् नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके प्रकरणको लेकर ग्रन्थकर्ताने बड़े विस्तारके साथ तत्त्वोंका निरूपण किया है। इस निरूपणका आधार उमास्वामी महाराजका तत्त्वार्थसूत्र और पूज्यपाद स्वामीकी सर्वार्थसिद्धि टीका है। वर्णनको देखकर ऐसा लगने लगता है कि मानो तत्त्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धि ही श्लोकरूपमें परिवर्तित हो सामने आये हैं। कथाके साथ-साथ बीच-बीचमें तत्त्वोंका निरूपण पढ़कर पाठकका मन प्रफुल्लित बना रहता है।

[१३] एक विचारणीय विषय

दिगम्बर परम्परामें नारदको नरकगामी माना गया है परन्तु हरिवंशपुराणके कर्ताने उसे चरमशरीरी बताया है—

प्रस्तावेऽत्र गणिज्येष्ठं श्रेणिकोऽपृच्छदित्यसौ ।
क एष नारदो नाथ कुतो वास्य समुद्भवः ॥१२॥ सर्ग ४२
गण्युवाच वचो गण्यः शृणु श्रेणिक भण्यते ।
उत्पत्तिरन्त्यदेहस्य नारदस्य स्थितिस्तथा ॥१३॥ सर्ग ४२
अन्त्यदेहः प्रकृत्यैव निःकषायोऽप्यसौ क्षितौ ।
रणप्रेक्षाप्रियः प्रायो जातो जल्पाकभास्करः ॥२२॥ सर्ग ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारदोऽपि नरश्रेष्ठः प्रव्रज्य तपसो बलात् ।
कृत्या भवक्षयं मोक्षमक्षयं समुपेयिवान् ॥२४॥ सर्ग ६५

उक्त श्लोकोंमें १३ और १२वें श्लोकमें नारदको अन्त्यदेह लिखा है जिसपर कितनी ही प्रतियोंमें 'चरमशरीरस्य' यह टिप्पण भी दिया हुआ है और ६५वें श्लोकमें तो स्पष्ट ही अक्षय मोक्षको प्राप्त करनेकी बात लिखी है।

यह नारदकी मुक्तिका प्रकरण विचारणीय है। इसी प्रकार ६५वें सर्गके अन्तमें कथा है कि बलदेव जब ब्रह्मलोकमें देव हो चुके तब वे अवधिज्ञानसे कृष्णके जीवका पता जानकर उसे सम्बोधनके लिए बालुकाप्रभापृथिवीमें गये। बलदेवका जीव देव, कृष्णको अपना परिचय देनेके बाद उसे वहाँसे अपने साथ ले जानेका प्रयत्न करता है परन्तु वह सब विफल होता है। अन्तमें कृष्णका जीव बलदेवसे कहता है कि, 'भाई जाओ अपने स्वर्गका फल भोगो, आयुका अन्त होनेपर मैं भी मनुष्यपर्यायको प्राप्त होऊँगा। वह मनुष्यपर्याय जो कि मोक्षका कारण होगी। उस समय हम दोनों तप कर जिनशासनकी सेवासे कर्मक्षयके द्वारा मोक्ष प्राप्त करेंगे। परन्तु तुम इतना करना कि भारतवर्षमें हम दोनों पुत्र आदिसे संयुक्त तथा महाविभवसे सहित दिखाये जावें। लोग हमें देखकर आश्चर्यसे चकित हो जावें। तथा घर-घरमें शंख, चक्र और गदा हाथमें लिये हुए मेरी प्रतिमा बनायी जाये और मेरी कीर्तिकी वृद्धिके लिए हमारे मन्दिरोंसे भरतक्षेत्रको व्याप्त किया जाये।' बलदेवके जीवने कृष्णके वचन स्वीकार कर उससे कहा कि सम्यग्दर्शनमें श्रद्धा रखो। तथा भरतक्षेत्रमें आकर कृष्णके कहे अनुसार विक्रियासे उनका प्रभाव दिखाया और तदनुसार उनकी प्रतिमा और मन्दिर बनवाकर भरतक्षेत्रको व्याप्त किया।

इस प्रकरणमें विचारणीय बात यही है कि जिसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध है वह सम्यग्दृष्टि तो रहेगा ही। यह ठीक है कि बालुकाप्रभामें उत्पन्न होते समय उनका सम्यक्त्व छूट गया होगा परन्तु अपर्याप्तक अवस्थाके बाद फिरसे उन्हें सम्यग्दर्शन हो गया होगा यह निश्चित है। सम्यग्दृष्टि जीवने लोकमें अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए मिथ्यामूर्तिके निर्माणकी प्रेरणा दी और सम्यग्दृष्टि बलरामके जीव देवने वैसा किया भी। इस प्रकरणकी संगति कुछ समझमें नहीं आती।

सम्पादन और आभार-प्रदर्शन

इस ग्रन्थके सम्पादनमें श्रम बहुत करना पड़ा। जिन स्थलोंका आधार मिल गया उनके सम्पादनमें तो सुविधा रही परन्तु जिनका कुछ आधार नहीं मिला उनके सम्पादनमें बहुत खोज-बीन करनी पड़ी। महापुराणके सम्पादनके लिए कुछ ताड़पत्रीय प्रतियाँ मिल गयी थीं जिनसे सही पाठ आँकनेमें बहुत सहायता मिली थी; परन्तु हरिवंशपुराणकी ताड़पत्रीय प्रतियाँ नहीं मिल सकीं। उत्तर भारतके भाण्डारोंमें पायी जानेवाली कागजकी ही प्रतियाँ उपलब्ध हुईं। हमें यह लिखते हुए संकोच नहीं होता कि उत्तर भारतमें जो कागजपर प्रतियाँ लिखी गयी हैं वे यदा-कदा च ऐसे पेशेवर लेखकोंकी कलमसे भी लिखी गयी हैं जो संस्कृत भाषासे प्रायः अनभिज्ञ रहे हैं। ऐसे लेखकोंकी कृपासे प्रतियाँ प्रायः अशुद्ध हो गयी हैं अतः शुद्ध पाठकी कल्पना करनेमें बहुत चिन्तन करना पड़ता है। ऐसे कई स्थल इस ग्रन्थमें निकले जिनके विषयमें मुझे दूसरी प्रतियोंके पाठ मिलाने पड़े और 'पद्मयान क्या है' इस विषयका एक लेख ही जैन सन्देशमें लिखना पड़ा। पं. के. भुजबली शास्त्रीने मैसूरकी प्रतियोंसे पाठ मिलाने और पं. कुन्दनलालजीने बम्बईकी प्रतियोंसे पाठ मिलानेमें मुझे पर्याप्त सहयोग दिया। पं रतनलालजी कटारया केकड़ी भी सुयोग्य विद्वान् हैं, आपने हमारा 'पद्मयान' वाला लेख पढ़कर सुझाया कि सिन्धुरारोढुंके स्थानपर शम्भुरारोढुं पाठ होना चाहिए। सम्पादनके लिए उपलब्ध प्रतियोंमें-से सभीमें 'सिन्धुरारोढुं' पाठ था पर खोज करनेपर मैसूरकी प्रतियोंमें शम्भुरारोढुं पाठ मिल गया और उससे अर्थकी संगति बैठ गयी। और भी एक-दो स्थल ऐसे हैं जिनमें आपने अच्छा विचार व्यक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। नारदमुक्ति तथा सम्यग्दृष्टि कृष्णके द्वारा मिथ्यामार्ग चलानेकी बातपर भी आपने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। इस तरह इन विद्वानोंका मैं आभार मानता हूँ। पं. दरबारीलालजी सत्यभक्त-द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित मूल हरिवंशपुराण तथा पं. दौलतरामजी और पं. गजाधरलालजी कृत हिन्दी टीकाएँ भी हमारे कार्यमें पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई हैं इसलिए इनके प्रति मैं समादर प्रकट करता हूँ। प्रस्तावना लेखमें श्रीमान् स्वर्गीय नाथूरामजी प्रेमीके 'जैन-साहित्यका इतिहास' से यथेच्छ सहायता ली गयी है अतः उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करता हूँ। महापुराणकी प्रस्तावना प्रेमीजीने रुग्ण रहते हुए भी स्वयं देखी थी। पद्मपुराणकी प्रस्तावनामें काफी विचार पत्रों द्वारा दिये थे पर हरिवंशपुराण की प्रस्तावनाके समय हमें उनका प्रत्यक्ष सहयोग न मिलकर मात्र उनके लेखका परोक्ष सहयोग मिल रहा है इसका हृदयमें दुःख है। किसी भी व्यक्तिको परखने और उसे ऊँचा उठानेकी उनकी उदात्त भावना सम्पर्क-में आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। हरिवंशके इस संस्करणको पद्यानुक्रमणिका, शब्दकोष तथा सूक्तिरत्नाकर आदि स्तम्भोंसे अत्यन्त उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है। तत्तत्प्रकरणों-में तुलनात्मक टिप्पणोंसे भी इसे उपयोगी बनाया गया है। इस कार्यके लिए श्री डॉ. हीरालालजी, डॉ. ए. एन. उपाध्ये तथा बाबू लक्ष्मीचन्द्रजीने सुझाव और सत्प्रेरणा दी है जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। इतना सुन्दर और सुव्यवस्थित प्रकाशन करनेके लिए भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक साहू शान्तिप्रसादजी तथा उसकी अध्यक्षा रमारानीजी धन्यवादके पात्र हैं। महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराणको सुसम्पादित करनेकी मेरी चिर-साधना साहूजीकी उदारतासे ही पूर्ण हो सकी है। इसलिए उनके प्रति अपनी श्रद्धा किन शब्दोंमें प्रकट करूँ ?

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आजका वातावरण आर्हत दर्शनके प्रचारके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। शंकराचार्यके समयसे लेकर अभी पिछले पचीस-पचास वर्ष पूर्व तकका समय इतना संघर्षपूर्ण समय था कि लोग एक-दूसरेके दर्शन या धर्मकी बातको सुनना ही पाप समझते थे पर सौभाग्यसे अब वह संघर्षमय वातावरण समाप्तप्राय है और धीरे-धीरे बिलकुल ही समाप्त होनेके सम्मुख है। आजका मानव एक-दूसरे दर्शन या धर्मकी बातको सुनने और समझनेके लिए तैयार है। आज आर्हत दर्शनके हीरे-जवाहरात कुन्दकुन्द और समन्तभद्रके अनूठे-अनूठे ग्रन्थ विश्वके सामने रखे जावें तो विश्वके प्रत्येक मानवका अन्त-रात्मा उनके अलौकिक प्रकाशसे जगमगा उठे। आवश्यकता है कि कुन्दकुन्द स्वामीकी अध्यात्मधारा विश्वके रंगमंचपर प्रवाहित की जाये जिससे आजका संताप—सन्त्रस्त मानव उसमें अवगाहन कर सच्ची शान्तिका अनुभव कर सके। आजकी सरकार जिन पंचशीलोंकी स्थापना कर विश्वमें शान्ति स्थापित करना चाहती है, उन पंचशीलोंके सिद्धान्त तथा समाजवाद और निरतिवादके सिद्धान्त आर्हत दर्शनोंमें उनके पुराण, काव्य और कथा-ग्रन्थोंमें कूट-कूट कर भरे हुए हैं। यदि आर्हत दर्शनका अनुयायी समाज अपने दर्शनके प्रकाशनार्थ पंचवर्षीय योजना बना ले और पूरी शक्तिके साथ जुट पड़े तो उसके इतिहासमें एक गणनीय कार्य हो जावेगा। जैनमन्दिरोंके अन्दर लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति अनावश्यक पड़ी हुई है। यदि जिनेन्द्र देवकी वाणीके प्रचारमें उसीका उपयोग कर लिया जाये तो यह महान् पुण्यका कार्य होगा। मन्दिरोंमें चाँदी-सोनेके बर्तनोंके संग्रह तथा संगमर्मर आदि लगवानेकी अपेक्षा जिनवाणीके प्रचारमें जो द्रव्य खर्च होता है वह लाखगुना अच्छा है—अर्हत धर्मकी सच्ची प्रभावना करनेवाला है।

अन्तमें ग्रन्थकी अगाधता और अपनी अल्पज्ञता तथा व्यस्तताके कारण हुई त्रुटियोंके लिए क्षमा-याचना करता हुआ प्रस्तावना लेख समाप्त करता हूँ।

सागर
२३।८।६२

विनम्र
पन्नालाल जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादनमें सहायक ग्रन्थ

हरिवंशपुराणके सम्पादनमें प्रस्तावनामें वर्णित पाण्डुलिपियोंके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है।

१. हरिवंशपुराण (पं. दौलतरामजी कृत वचनिका) लाहौरका संस्करण
२. हरिवंशपुराण (पं. गजाधरप्रसादजी कृत अनुवाद) कलकत्ताका संस्करण
३. त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति (प्रथम भाग) जीवराज ग्रन्थमालासे प्रकाशित
४. त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति (द्वितीय भाग) ,,
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ,,
६. राजवार्त्तिक ज्ञानपीठका संस्करण
७. सर्वार्थसिद्धि सोलापुरका संस्करण
८. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय बम्बईका संस्करण
९. मोक्षशास्त्र सूरतका संस्करण
१०. त्रिलोकसार (संस्कृत टीका सहित) बम्बईका संस्करण
११. त्रिलोकसार (हिन्दी टीका सहित)
१२. नाट्यशास्त्र (भरतमुनि)
१३. वर्षप्रबोध
१४. साहित्यदर्पण
१५. जैन साहित्यका इतिहास (स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमी)
१६. जीवकाण्ड
१७. सिद्धान्तकौमुदी
१८. अमरकोष
१९. विश्वलोचनकोष
२०. पाण्डवपुराण सोलापुरका संस्करण
२१. वृत्तरत्नाकर
२२. छन्दोमंजरी

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
प्रथम सर्ग	
मंगलाचरणके अन्तर्गत अनाद्यनिधन जिन-शासन, तीर्थनायक श्री वर्धमान स्वामी, शेष ऋषभादि २३ तीर्थंकर अतीत-अनागतके चौबीस जिनेन्द्र और अर्हदादि पंच परमेष्ठियोंका स्तवन	१-३
समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, वरांगचरितके कर्ता जटासिंहनन्दी, शान्तिषेण, विशेषवादी कवि, कुमारसेन, वीरसेन, जिनसेन आदि पूर्वाचार्योंका स्मरण	३-५
सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा	५-६
ग्रन्थकर्तृ प्रतिज्ञा, ग्रन्थके मूलोत्तर ग्रन्थकर्ता	६-७
स्वाध्यायकी उपयोगिता, ग्रन्थके वर्णनीय अधिकारोंका संग्रह	७-११
ग्रन्थकी महत्ता और उसके अध्ययनकी प्रेरणा	११
द्वितीय सर्ग	
जम्बूद्वीप सम्बन्धी विदेह देशके कुण्डपुर ग्राममें राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमतीके राजा सिद्धार्थ पुत्र थे। इनकी प्रियकारिणी स्त्रीके गर्भमें अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानसे च्युत होकर भगवान् महावीरका जीव आया	१२-१३
भगवान् महावीर स्वामीके गर्भ और जन्मकल्याणकका वर्णन	१४-१५
उनका वर्धमान नाम था, तीस वर्षकी अवस्थामें जिनदीक्षा लेकर उन्होंने १२ वर्ष तक घनघोर तपस्या की। तदनन्तर ऋजुकूला नदीके तटपर केवलज्ञान प्राप्त कर ६६ दिन तक मौन विहार किया	१६-१७
पश्चात् राजगृहीके विपुलाचलपर आये। वहाँ देवोंने एक योजन विस्तृत समवसरणकी रचना की। इन्द्रभूति आदि पण्डितोंने उनकी सभामें आकर उनसे दीक्षा धारण की। राजा चेटककी पुत्री चन्दना भी आर्यिका होकर गणिनी हुई है। राजा श्रेणिक चतुरंग सेनाके साथ भगवान्के समवसरणमें पहुँचा। समवसरणका संक्षिप्त वर्णन	१७-१९
श्रावण कृष्ण प्रतिपदाके दिन अभिजित् नक्षत्रमें भगवान्की प्रथम देशना हुई। उसमें अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतका वर्णन, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास तथा जीवादि सात तत्त्वोंकी विस्तृत चर्चा हुई	१९-२०
गौतम गणधर द्वारा द्वादशांगकी रचना, भगवान्की दिव्यध्वनि श्रवण कर राजा श्रेणिकने सम्यग्दर्शन धारण किया। अहिंसा महाव्रत आदि श्रमणधर्म-मुनिधर्मका वर्णन सुनकर कितने ही जीवोंने महाव्रत और कितने ही मनुष्य तथा तिर्यंचोंने देशव्रत धारण किया। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी महिमा और समवसरणके प्रभावका निरूपण	२१-२३
तृतीय सर्ग	
भगवान् महावीरका भरतक्षेत्रके आर्यखण्ड सम्बन्धी अनेक देशोंमें विहार, चौंतीस अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य, गणधर तथा अन्य शिष्य समूहका निरूपण	२४-२७
भगवान्का पंचशैल—राजगृहपर पहुँचना, उसकी प्राकृतिक सुषमाका वर्णन, और विपुलाचलपर भगवान्का समवसरण रचा जाना। चतुर्विध संघके समक्ष दिव्यध्वनि द्वारा जीवाजीवादि तत्त्व, चौदह गुणस्थान, चतुर्गतिके दुःख, और उनमें उत्पन्न होनेके कारण आदिका वर्णन तथा भगवान्की देशना सुनकर	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
लोगोंसे व्रतादिक धारण करना	२७-४०
राजा श्रेणिक गौतम गणधरसे तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों तथा प्रतिनारायणोंके चरित, वंशोंकी उत्पत्ति और लोकालोक विभागके निरूपणके लिए प्रार्थना करते हैं	४०-४१
चतुर्थ सर्ग	
अलोकाकाश और लोकाकाशका स्वरूप तथा उसका आकार	४२
अधोलोक और ऊर्ध्वलोकका विस्तार तथा वातवलयोंका वर्णन व विस्तार	४२-४५
अधोलोककी सात पृथिवियोंका वर्णन, रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग और पंकभागका निरूपण	४५-४६
अब्बहुल भागमें नारकियोंके बिलोंका वर्णन, सातों पृथिवियोंके पटलोंका वर्णन, घर्मा पृथिवीके प्रस्तार-क्रमसे बिलोंका वर्णन	४७-४९
द्वितीयादि पृथिवीके बिलोंका वर्णन	४९-५२
प्रथमादि पृथिवियोंके महानरकोंका वर्णन तथा बिलोंका विस्तार	५२-५३
प्रथमादि पृथिवियोंके इन्द्रकबिलोंका विस्तार	५४-५७
घर्मा आदि पृथिवियोंके इन्द्रकबिलोंकी मोटाई	५७
प्रथमादि पृथिवियोंके बिलोंका परस्पर अन्तर	५७-५८
प्रथमादि पृथिवीके प्रस्तारोंमें जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुका वर्णन	५८-५९
प्रथमादि पृथिवीमें नारकियोंकी ऊँचाईका वर्णन	६२-६३
प्रथमादि पृथिवियोंमें अवधिज्ञानका विषय, मिट्टीकी दुर्गन्ध, लेश्याओंका वर्णन, उष्ण और शीतकी बाधा, उपपाद स्थानोंका वर्णन	६६-६७
प्रथमादि पृथिवियोंके नारकी उपपाद स्थानोंसे गिरनेपर उछलना, असुरकुमारकृत बाधा, नारकियोंके परस्परकृत दुःख, नारकियोंके परिणाम, वेद और संस्थानका वर्णन	६७-६८
आगामीकालमें तीर्थंकर होनेवाले नारकियोंकी विशेषता, प्रथमादि पृथिवियोंमें नारकियोंके उत्पत्ति सम्बन्धी अन्तर कौन जीव किस नरक तक उत्पन्न होते हैं ? प्रथमादि पृथिवियोंमें लगातार उत्पन्न होना, किस पृथिवीसे निकला हुआ नारकी क्या होता क्या नहीं होता आदिका वर्णन तथा अधोलोकके वर्णनका समारोप	६८-६९
पंचम सर्ग	
तिर्यग्लोककी व्याख्या, जम्बूद्वीपके मेरुक्षेत्र, कुलाचलादिका विस्तार तथा भरतक्षेत्रके विजयार्ध, हिमवत्कुलाचल, हेमवतक्षेत्र, महाहिमवत्कुलाचल, हरिवर्षक्षेत्र, निषध कुलाचल, विदेहक्षेत्र, नील कुलाचल, रुक्मी पर्वत, शिखरिकुलाचलका वर्णन, ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध, अन्तिम भागोंमें स्थित वनखण्ड और वाटिकाएँ	७०-७७
कुलाचलोंके सरोवर, उनकी गहराई, कमल, कमलोंमें रहनेवाली देवियाँ तथा सरोवरोंसे निकलनेवाली नदियोंका वर्णन	७७-७८
पद्मसरोवरसे निकलनेवाली गंगा, सिन्धु और रोहितास्या नदियोंके निर्गमन-द्वार तथा प्रवाह आदिका वर्णन	७८-८०
सिन्धु नदीकी गंगा नदीके साथ समानता, अन्य नदियोंके निर्गमन और प्रवाह तथा हैमवत आदि क्षेत्रोंमें स्थित नाभिगिरि पर्वतोंका वर्णन	८०-८१
जम्बूद्वीपके समान धातकीखण्ड द्वीपके क्षेत्र-कुलाचल आदिका वर्णन, द्वितीय जम्बूद्वीप, विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत देवकुरु और उत्तरकुरुका वर्णन	८१-८२
जम्बूवृक्ष और शाल्मली वृक्षका वर्णन तथा नीलादि कुलाचलों और सीता आदि नदियोंके समीपस्थित कूटों, ह्रदों तथा उनमें रहनेवाले देवोंका वर्णन	८२-८५
विदेहक्षेत्रके वक्षारगिरि पर्वत, भद्रशाल वन और उसकी वेदिकाका वर्णन	८५-८६
विभंगा नदियोंका वर्णन	८६
जम्बूद्वीप सम्बन्धी विदेहक्षेत्रके बत्तीस भेद, उनकी राजधानी आदिका वर्णन	८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
विदेहके कच्छा आदि प्रत्येक क्षेत्रमें बहनेवाली गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका वर्णन	८८
वृषभाचल तथा देवारण्य और भूतारण्य वनोंका वर्णन	८८-८९
जम्बूद्वीपके मेरु पर्वत तथा जगतीका वर्णन	८९-९६
देवारण्य तथा उसके प्रासाद आदिका वर्णन	९६-९७
संख्यात द्वीपोंके अनन्तर द्वितीय जम्बूद्वीपका वर्णन	९७-९९
लवण समुद्रके विस्तार, पाताल विवर समीपवर्ती पर्वत, गोतम देव, उनके अन्य अन्तर्द्वीप, लवणसमुद्रकी जगती तथा उसके विस्तारका वर्णन	९९-१०४
धातकीखण्ड द्वीपका वर्णन	१०४-१०८
कालोदधिका वर्णन	१०८-१०९
पुष्करद्वीपका वर्णन	१०९-११०
मनुष्यक्षेत्र और उसका विस्तार	११०
मानुषोत्तर पर्वतका वर्णन	११०-११२
आदिके सोलह द्वीपसमुद्रोंके नाम, समुद्रोंके जलका स्वाद, समुद्रोंमें त्रसजीवोंका अस्तित्व कहाँ है, कहाँ नहीं है ? तथा द्वीपसमुद्रोंके अधिष्ठाता देवोंका वर्णन	११२-११४
आठवें नन्दीश्वर द्वीपका वर्णन	११४-११६
अरुणद्वीप तथा अरुणसागरमें अन्धकारका वर्णन	११६-११७
कुण्डलवरद्वीप और कुण्डलगिरि तथा रुचकवर द्वीप और रुचकगिरिका वर्णन	११७-११९
स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभपर्वतका वर्णन, स्वयंप्रभपर्वतके आगे तिर्यंचोंका वर्णन, मध्यलोकके वर्णनका समारोप	१२०

षष्ठ सर्ग

विषय	पृष्ठ
पृथिवीतलसे सात सौ नब्बे योजनकी ऊँचाईसे लेकर नौ सो योजनकी ऊँचाई तक स्थित ज्योतिष पटल ग्रहोंका स्थिति-क्रम, आयु, विस्तार, रूप, रंग तथा अढ़ाई द्वीपके सूर्य-चन्द्रमा आदिका वर्णन	१२१-१२३
मेरु पर्वतकी चूलिकाके ऊपर ऊर्ध्वलोकके सौधर्मादि १६ स्वर्गोंके आठ युगल, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानोंका स्थिति-क्रम, तथा त्रेशठ पटलोंके इन्द्रक विमानोंके नामोंका वर्णन	१२३-१२५
श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक तथा संख्यात-असंख्यात योजन विस्तारवाले विमानोंका वर्णन	१२५-१२६
पाँच पैंतल्ला और चार लखूरोंका वर्णन	१२६-१२७
श्रेणीबद्ध विमानोंका अवस्थानक्षेत्र, उनके शिलापट्टोंकी मोटाई तथा भवनोंकी गहराई आदिका वर्णन	१२७-१२८
कौन जीव कहाँ तक उत्पन्न होते हैं, १२८ देवोंमें लेश्याएँ देवोंके अवधिज्ञानका विषय क्षेत्र, देवोंकी ऊँचाई, प्रविचार और देवियोंके उत्पत्ति-स्थानका वर्णन	१२८-१२९
सिद्धलोकका वर्णन तथा ऊर्ध्वलोकके वर्णनका समारोप	१२९-१३१

सप्तम सर्ग

विषय	पृष्ठ
काल-द्रव्यका स्वरूप तथा उसका अस्तित्व, व्यवहारकालके समय, आवली उच्छ्वास, और प्राण आदि भेदों-प्रभेदोंका वर्णन	१३२-१३४
परमाणु तथा अवसंज्ञ, त्रुटिरेणु, त्रसरेणु और रथरेणु आदिका वर्णन	१३४-१३५
व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य, अद्धा पल्य तथा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह-छह कालोंका वर्णन	१३५-१३७
अवसर्पिणीके प्रथम कालके समय भरतक्षेत्रकी उत्तम भोगभूमि तथा दस प्रकारके कल्पवृक्षोंका निरूपण	१३७-१४०
भोगभूमिमें उत्पत्तिके कारणोंका वर्णन करते हुए पात्र-कुपात्र-अपात्रका वर्णन	१४०-१४१
तृतीय कालके अन्तिम भागमें प्रतिश्रुति आदि चौदह कुलकरोंकी उत्पत्ति और उनके कार्य, ऊँचाई, रूप-रंग और दण्ड-व्यवस्था आदिका वर्णन	१४१-१४५

अष्टम सर्ग

विषय	पृष्ठ
अन्तिम कुलकर नाभिराजके इक्यासी खण्डके सर्वतोभद्र भवनका वर्णन	१४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
राजा नाभिराजकी महारानी मरु देवीके सौन्दर्यका वर्णन	१४६-१४८
नाभिराज और मरुदेवीके यहाँ भगवान् ऋषभदेवके गर्भावतारके छह माह पूर्वसे कुबेरके द्वारा रत्नोंकी वर्षा तथा श्री, ह्री आदि देवियोंके द्वारा भगवान्की माता—मरुदेवीकी सेवा होना और इससे तीर्थंकरकी उत्पत्तिका निश्चय होना	१४८-१५०
मरुदेवीका ऐरावत आदि १६ स्वप्न देखना देवियोंने उनकी स्तुति की	१५०-१५२
नाभिराज द्वारा स्वप्नोंके फलका निरूपण और भगवान् ऋषभदेवके गर्भावतारका वर्णन	१५३-१५४
भगवान् ऋषभदेवका जन्म तथा रुचक-गिरिनिवासिनी देवियोंके द्वारा अपने नियोगानुसार सेना एवं चतुर्णिकाय देवोंके आवास-भवनोंमें, भेरीनाद, शंखनाद आदि होनेका वर्णन	१५४-१५६
जन्म-कल्याणकके लिए देवोंका आगमन और नगरकी तात्कालिक शोभाका वर्णन	१५६-१५७
जिनबालकको सुमेरु पर्वतपर ले जाकर इन्द्र द्वारा उनका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करना	१५८-१५९
इन्द्राणी द्वारा भगवान्को लेप लगाकर अलंकार पहनाना। उनके सुसज्जित शरीरका मनोहर वर्णन, इन्द्र द्वारा 'ऋषभदेव' नामकरण और उनकी हृदयहारिणी स्तुति	१५९-१६४
पर्वतसे वापस आकर जिनबालक माता-पिताको सौंपना और आनन्द नाटक करना	१६४-१६५
नवम सर्ग	
ऋषभदेवकी बालक्रीड़ा और शरीरकी सुन्दरताका वर्णन	१६६-१६७
युवा होनेपर उनका नन्दा और सुनन्दाके साथ विवाह	१६७
कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर भूख-प्याससे विह्वल प्रजाका नाभिराजकी सम्मतिसे भगवान्के पास जाना और अपना दुःख प्रकट करना, भगवान्का सबको सान्त्वना देकर कर्मभूमिकी रचना करना, असि-मसी आदि छह कर्मोंका उपदेश देना तथा अपने पुत्र-पुत्रियोंको नाना कलाएँ सिखाना और राजवंश स्थापित करनेका वर्णन	१६७-१६९
नीलांजसा नामक नर्तकीको अकस्मात् विलीन देख भगवान्के वैराग्यका होना, लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुति, निष्क्रमण कल्याणककी तैयारीका वर्णन	१६९-१७१
कुबेरनिर्मित पालकीका वर्णन	१७१-१७३
भगवान्का प्रथम ३२ कदम पैदल चलना, तदनन्तर पालकीपर सवार हो दीक्षा-स्थानपर पहुँचना, वहाँ उनके द्वारा प्रजाको सान्त्वनाका उपदेश देकर अनेक राजाओंके साथ दीक्षा धारण करना	१७३-१७४
भगवान्का छह माहका योग लेकर ध्यानस्थ होना तथा साथमें दीक्षित हुए चार हजार राजाओंका भूख-प्याससे बेचैन हो भ्रष्ट होना	१७४-१७६
नमि और विनमिको धरणेन्द्र द्वारा विजयार्धकी दोनों श्रेणियोंका राज्य प्रदान	१७६-१७७
छह माहका योग समाप्त होनेपर भगवान् आहार के लिए निकले	१७७-१७९
भगवान् जब हस्तिनापुर आनेको हुए तब वहाँके राजा सोमप्रभको स्वप्न-दर्शन हुआ। सिद्धार्थ पुरोहितने स्वप्नोंका फल बताया। भगवान् पहुँचे और सोमप्रभके छोटे भाई श्रेयांसने जातिस्मरणके द्वारा आहारकी सब विधि जानकर उन्हें इक्षुरसका आहार दिया। राजा श्रेयांसका सुयश जगमें व्याप्त हो गया	१७९-१८२
पूर्वतालपुरके शकटास्य नामक वनमें भगवान्को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, समवसरण रचा गया, अनेक गणधर हुए और भगवान्की दिव्यध्वनि खिरने लगी	१८२-१८४
दशम सर्ग	
एक हजार वर्षका मौन खोलकर भगवान् ऋषभदेवने सबको संसार-सागरसे पार करनेवाला तीर्थ दिखलाया। मुनिधर्म और श्रावक	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
धर्मका वर्णन करनेके बाद विस्तारसे श्रुतज्ञान-का व्याख्यान किया	१८५
श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्यायसमास आदि २० भेदोंका वर्णन, उसीके अन्तर्गत आचारांग आदि अंगोंका वर्णनीय विषय और उनके भेदोपभेदोंका निरूपण	१८५-१९०
दृष्टिवाद अंगके पूर्वगत भेदोंका वर्णन, अंगबाह्य श्रुतका निरूपण, समस्त श्रुतके अक्षरोंका परिमाण, मतिज्ञानका स्वरूप तथा उसके भेदोंका कथन, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानका निरूपण तथा उनके प्रयोजन आदिकी चर्चा	१९१-१९७
एकादश सर्ग	
समवसरणसे वापस आकर भरतने पुत्रजन्म-का उत्सव किया और चक्ररत्नकी पूजा कर दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाके देव और मनुष्योंको वश कर उन्होंने उत्तर दिशाकी ओर प्रयाण किया और विजयार्ध देवका स्मरण कर उसे परास्त किया, तदनन्तर तमिस्र गुहाद्वारसे उत्तर भरत क्षेत्रमें प्रवेश किया	१९८-२००
उत्तर भरत के म्लेच्छ राजाओं तथा उनके सहायक मेघमुख देवको परास्त कर समस्त म्लेच्छ खण्डोंपर विजय प्राप्त की। इस तरह साठ हजार वर्ष तक षट्खण्ड भरतको दिग्वि-जय कर भरत चक्रवर्ती अयोध्याके निकट आये	२००-२०२
जब चक्ररत्न अयोध्याके प्रवेश-द्वारपर रुक गया तब भरतके पूछनेपर बुद्धिसागर पुरो-हितने उसका कारण बताया। भरतने अपने सब भाइयोंके पास दूत भेजे। बाहुबलीको छोड़ अन्य भाइयोंने राज्यसे व्यामोह छोड़ दीक्षा ले ली परन्तु बाहुबलीने दृष्टियुद्ध, जल-युद्ध और मल्लयुद्धमें भरतको परास्त कर दिया। भरतने कुपित हो उसपर चक्ररत्न चला दिया परन्तु चक्र भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सका।	२०२-२०४

विषय	पृष्ठ
इस घटनासे बाहुबलीने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली। उनकी तपस्याका वर्णन	२०४-२०५
चक्रवर्ती भरतके वैभवका वर्णन	२०५-२०८
द्वादश सर्ग	
भरत समवसरणमें जाकर शलाकापुरुषों-का चरित्र सुनते थे। उन्होंने तीर्थंकरोंके स्मरणार्थ अपने द्वारपर २४ घण्टियोंकी वन्दनमाला बँधवायी थी। उन्हींके साम्राज्य-में सर्वप्रथम जयकुमार और सुलोचनाका स्वयंवर हुआ	२०९-२११
विद्याधर और विद्याधरीको देख जयकुमार और सुलोचना मूर्च्छित हो गये। अनन्तर जातिस्मरण द्वारा अपने पूर्वभव जानकर बहुत प्रसन्न हुए। सुलोचना द्वारा पूर्वभवोंका वर्णन	२११
रतिप्रभ देवके द्वारा जयकुमारके शीलकी परीक्षाका वर्णन	२११
जयकुमार द्वारा सुलोचनाके लिए भगवान् ऋषभदेवके समवसरणका वर्णन। जयकुमार-ने स्वयं १०८ राजाओंके साथ दीक्षा ले ली तथा गणधरका पद प्राप्त किया। भगवान्के ८४ गणधरोंके नाम एवं शिष्य-परम्पराका वर्णन। कैलास पर्वतपर योग निरोध कर भगवान् ऋषभदेव मोक्ष पधारे	२११-२१५
त्रयोदश सर्ग	
चक्रवर्ती भरतने अर्ककीर्तिको राज्य दे दीक्षा धारण कर ली और वृषभसेन आदि गणधरों-के साथ कैलास पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया	२१६
अर्ककीर्ति स्मितयशको राज्य देकर तप द्वारा मोक्षको प्राप्त हुए। सूर्यवंश और चन्द्रवंशके अनेक राजाओंका समुल्लेख	२१६-२१७
अजितनाथ भगवान्, सगर चक्रवर्ती, उनके अदृग् आदि साठ हजार पुत्र और कालक्रमसे होनेवाले सम्भवनाथसे लेकर शीतलनाथ तक-के तीर्थंकरोंका समुल्लेख	२१७-२१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

चतुर्दश सर्ग

जम्बूद्वीपके वत्सदेशमें कौशाम्बी नगरी थी। उसमें राजा सुमुख राज्य करता था। इस प्रकरणके अन्तर्गत कौशाम्बी नगरी और राजा सुमुखका काव्यशैलीसे वर्णन २१९-२२०
वसन्त ऋतुका वर्णन २२०-२२१
वन विहारके लिए जाता हुआ राजा सुमुख मार्गमें एक सुन्दरीकी सुन्दरतापर आसक्त हो उसके हरणका विचार करने लगा २२२-२२३
मन्त्रीके पूछनेपर राजा सुमुखने उसे अपनी व्यग्रताका कारण बताया और मन्त्री राजाकी इच्छापूर्तिके लिए प्रयत्न करने लगा २२४-२२५
सन्ध्या होनेपर सुमति मन्त्रीने आत्रेयी नामकी दूती उस—वनमाला सुन्दरीके पास भेजी। वनमाला भी अन्तरंगसे राजा सुमुखपर आसक्त थी अतः दूतीका प्रयत्न सफल हो गया और वनमाला पतिकी अनुपस्थितिमें राजाके घर आ गयी। सुमुख और वनमाला परस्परके समागमसे प्रसन्नताका अनुभव करने लगे २२५-२२८

पञ्चदश सर्ग

राजा सुमुख और वनमाला प्रेमसे रहने लगे। एक बार उन्होंने 'वरधर्म' नामक मुनिराजको आहारदान देकर विद्याधर-युगलकी आयुका बन्ध किया। तदनन्तर वज्रपातसे दोनों मरकर क्रमशः विजयार्ध गिरिके 'हरिपुर' और 'मेघपुर' नगरमें उत्पन्न हुए। वहाँ भी उन दोनोंका वर-वधूके रूपमें समागम हुआ। वरका नाम 'आर्य' और वधूका नाम 'मनोरमा' था २२९-२३३
वनमालाके विरहमें उसके असली पति 'वीरक' सेठकी बड़ी दुर्दशा हुई। तदनन्तर वह दीक्षा धारण कर प्रथम स्वर्गमें देव हुआ २३३-२३४
'वीरक'का जीव देव, अवधिज्ञानसे अपनी पूर्व प्रिया 'वनमाला' और उसके अपहर्ता 'सुमुख'को जानकर विजयार्धसे उठा लाया और भरतक्षेत्रके चम्पापुर नगरमें समस्त विद्याएँ छेदकर छोड़ गया। अब वह 'आर्य' विद्याधर अपनी 'मनोरमा' विद्याधरीके साथ वहीं रहने लगा। वहाँका राजा बन गया तथा उसके 'हरि' नामका पुत्र हुआ। यही 'हरि' हरिवंशका स्थापक हुआ। इसी वंशमें आगे चलकर कुशाग्रपुर(राजगृह नगर)में राजा 'सुमित्र' और रानी 'पद्मावती' का वर्णन २३४-२३६

षोडश सर्ग

भगवान् शीतलनाथके बाद कालक्रमसे नौ तीर्थंकरोंके मोक्ष चले जानेपर कुशाग्रपुरके राजा सुमित्र और रानी पद्मावतीके जब बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथके गर्भावतारका समय आया तब रानी पद्मावतीने सोलह स्वप्न देखे। राजा सुमित्रने उनका फल बताया २३७-२३८
भगवान् मुनि सुव्रतनाथका जन्म। देवोंने क्षीरसागरके जलसे अभिषेक कर जन्मोत्सव किया। बाल्य अवस्था पूर्ण होनेपर सुन्दर स्त्रियोंके साथ उनका विवाह हुआ २३८-२४०
शरद् ऋतुका साहित्यिक वर्णन २४०-२४१
शरद्ऋतुके चन्द्रतुल्य उज्ज्वल मेघको तत्काल विलीन होते देख उन्हें वैराग्य आ गया, वे संसारके पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करने लगे। लौकान्तिक देवोंने उनके वैराग्यकी सराहना की। २४१-२४४
दीक्षाकल्याणकका वर्णन, वृषभदत्तके यहाँ आहारका निरूपण, देवोपनीत पंचाश्चर्य २४४-२४५
तेरह मासकी छद्मस्थ अवस्था पूर्ण होनेपर उन्हें केवलज्ञान हुआ, देवोंने समवसरणकी रचना की, ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया, दिव्यध्वनिके द्वारा धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति हुई। उनके समवसरणमें स्थित साधु-समूहकी गणना २४६-२४७
निर्वाण-प्राप्तिका वर्णन २४७

सप्तदश सर्ग

उसी हरिवंशमें मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके सुव्रत नामका पुत्र हुआ। सुव्रतके दक्ष नाम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
का पुत्र हुआ और दक्षकी इला नामक रानीसे ऐलेय नामक पुत्र और मनोहरी नामकी कन्या हुई।	२४८
राजा दक्षने अपनी पुत्री मनोहरीकी सुन्दरतासे रीझकर उसे अपनी स्त्री बना लिया। इस घटनासे राजा दक्षकी स्त्री इला पतिसे सम्बन्ध विच्छेद कर अपने ऐलेय पुत्रको ले अन्यत्र चली गयी। वहाँ उसने इलावर्धन नगर बसाकर ऐलेयको राजा बनाया। ऐलेयके पुत्र कुणिमने विदर्भ देशमें एक कुण्डिन नामका नगर बसाया। काल-क्रमसे इसी वंशमें अन्य अनेक पुत्र उत्पन्न हुए।	२४८-२५०
राजा वसु, क्षीरकदम्बकका पुत्र पर्वत और नारदका वर्णन तथा उनके 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्यके अर्थको लेकर शास्त्रार्थका वर्णन और राजा वसु द्वारा मिथ्या अर्थका समर्थन, वसुका पतन और नरक गमनका निरूपण	२५०-२६१

अष्टादश सर्ग

राजा वसुके बृहद्ध्वज नामक पुत्रसे मथुरामें सुबाहु पुत्र हुआ। इसे आदि लेकर अनेक राजाओंके हो जानेपर इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हुए। उनके मोक्ष जानेके बाद इसी हरिवंशमें यदु नामका राजा हुआ जो यादवों की उत्पत्तिका कारण हुआ। इसी वंशमें अन्धकवृष्णिकी सुभद्रा स्त्रीसे समुद्रविजय आदि दस भाई हुए।	२६२-२६३
राजा भोजक वृष्णिकी पद्मावती नामक पत्नीसे उग्रसेन, महासेन आदि पुत्र हुए। राजा वसुके सुवसु पुत्रकी सन्ततिमें अनेक राजा हुए। राजगृह नगरमें राजा जरासन्ध तथा उसके कालयवन आदि पुत्रोंका वर्णन	२६३-२६४
कदाचित् सौर्यपुरके गन्धमादन पर्वतपर सुप्रतिष्ठ मुनिराजको उपसर्गके बाद केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई	२६४
सुप्रतिष्ठ केवलीके द्वारा धर्मका विस्तृत उपदेश, जिसमें मुनि तथा श्रावकोंके व्रतोंका वर्णन, कुल कोटियाँ, एकेन्द्रियादि जीवोंकी आयु, इनका आकार, अवगाहना, जीवसमास, इन्द्रियोंका आकार तथा उनके विषय क्षेत्र आदिका वर्णन	२६४-२६९
अन्धकवृष्णिके भवान्तरका वर्णन	२६९-२७०
अन्धकवृष्णिके समुद्रविजय आदि दस पुत्रोंके भवान्तरोंका निरूपण	२७०-२७५
सुप्रतिष्ठ केवलीका विहार और समुद्रविजयको राज्यप्राप्तिका वर्णन	२७५

एकोनविंश सर्ग

राजा समुद्रविजयने अपने आठ छोटे भाइयोंके विवाह किये। वसुदेव अत्यन्त सुन्दर थे। जब वे नगरमें क्रीडार्थ निकलते थे तब नगरकी स्त्रियाँ उन्हें देख कामसे विह्वल हो उठती थीं। इसलिए नगरके प्रतिष्ठित लोग राजा समुद्रविजयके पास गये। उन्होंने लोगोंको सान्त्वना देकर विदा किया और तत्काल घूमकर आये हुए वसुदेवको बड़े प्रेमसे अपने महलमें रख छोड़ा तथा उनके बाहर जानेपर पाबन्दी लगा दी	२७८-२७९
एक दिन कुब्जा दासीके द्वारा कुमार वसुदेवको अपने कैद होनेका पता लग गया, जिससे वे रात्रिके समय एक सेवकको साथ ले बाहर निकल गये। श्मशानमें जाकर उन्होंने उस सेवकको यह प्रत्यय करा दिया कि वसुदेव चितामें जलकर मर गये और आप शीघ्रगामी घोड़ेपर सवार हो वहाँसे अन्यत्र चल दिये। सेवकने समुद्रविजयको खबर दी, इस घटनासे सब लोग बहुत दुःखी हुए	२७९-२८०
वसुदेवका भारतवर्ष एवं विजयार्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियोंमें परिभ्रमण कर अनेक विद्याधर और भूमिगोचरी कन्याओंके साथ विवाह करना	२८०-२८५
उसी परिभ्रमणके समय वसुदेव चम्पापुरीमें आये और सेठ चारुदत्तकी गन्धर्वसेना पुत्रीकी संगीतज्ञताकी प्रशंसा सुन उसे परास्त करनेके लिए सुग्रीव नामक संगीताचार्यके पास संगीत विद्या सीखने लगे। तदनन्तर उन्होंने	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

संगीतके द्वारा गन्धर्वसेनाको परास्त कर उसे विवाहा, इसी प्रकरणके अन्तर्गत संगीत शास्त्रका विस्तृत निरूपण किया २८५-२९७

विंशतितम सर्ग

राजा श्रेणिकके प्रश्नके उत्तरमें गौतम गणधर सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करनेवाली विष्णुकुमार मुनिकी कथा कहने लगे। उज्जयिनीका राजा श्रीधर्मा नगरवासियोंको मुनिवन्दनाके लिए जाते देख मन्त्रियोंके साथ स्वयं गया। मुनियोंका संघ उस समय ध्यानस्थ था, अतः किसीने राजाको आशीर्वाद नहीं दिया। बलि आदि मन्त्री मार्गमें मिले, एक मुनिको शास्त्रार्थके लिए छेड़ बैठे और हारकर लज्जित हुए। रात्रिमें मुनियोंको मारनेके लिए आये पर यक्षने कीलित कर दिया। यह देख राजाने मन्त्रियोंको देशसे निकाल दिया २९८

हस्तिनापुरके महापद्म चक्रवर्ती और उनके पुत्र विष्णुकुमारकी दीक्षाका वर्णन। बलि आदि मन्त्री हस्तिनापुर जाकर राजा पद्मके पास रहने लगे २९८-२९९

किसी समय अकम्पनाचार्य आदि पूर्वोक्त मुनियोंका संघ हस्तिनापुर पहुँचा तो बलि आदि मन्त्रियोंने राजा पद्मसे ७ दिन तकका राज्य लेकर मुनियोंपर उपसर्ग किया और विष्णुकुमार मुनिने अपनी विक्रियासे बलिका दमन कर मुनिसंघकी रक्षा की २९९-३०३

एकविंशतितम सर्ग

कुमार वसुदेवके पूछनेपर चारुदत्तने आत्मकथा सुनायी। जिसके अन्तर्गत चारुदत्तकी उत्पत्ति, विवाह, वेश्याव्यसनकी आसक्ति, वेश्याकी माताके द्वारा छलसे अलग करना, अपने घर वापस आना, माता तथा स्त्रीसे मिलना, व्यापारके लिए बाहर जाना, मार्गमें अनेक कष्ट भोगना, अन्तमें मुनिराजके दर्शन कर उनके पुत्रोंकी सहायतासे विजयार्धपर जाना और गन्धर्वसेना पुत्रीको विवाहके अर्थ लाना आदिका रोमांचकारी वर्णन ३०४-३१८

द्वाविंशतितम सर्ग

चम्पापुरीमें गन्धर्वसेनाके साथ वसुदेव रह रहे थे कि इसी बीचमें फाल्गुनका अष्टाह्निका पर्व आ गया। वसुदेव गन्धर्वसेनाके साथ वासुपूज्य स्वामीकी प्रतिमाकी पूजाके लिए नगरके बाहर गये। बीचमें नृत्य करनेवाली एक मातंगकन्याकी ओर उनका आकर्षण बढ़ा परन्तु गन्धर्वसेनाकी प्रेरणासे सारथिने रथ आगे बढ़ा दिया। मन्दिरमें वसुदेवने वासुपूज्य भगवान्‌की पूजा और स्तुति की। घर वापस आनेपर गन्धर्वसेनाका प्रणय कोप शान्त किया ३१९-३२२

एक समय वसुदेव एकान्त स्थानमें बैठा था, उसी समय एक वृद्ध विद्याधरीने आकर उन्हें आशीर्वाद दिया और विद्याओंके निकाय तथा विजयार्धकी दोनों श्रेणियोंकी नगरियोंका नामोल्लेख कर सिंहदंष्ट्र और नीलांजनाकी पुत्री नीलयशाको विवाहनेकी बात कही। वसुदेवने 'तथाऽस्तु' कहकर स्वीकृति दी ३२२-३२७

एक बार एक वेतालकन्या रात्रिके समय वसुदेवको खींचकर श्मशान ले गयी, वहाँ उसने अपना असली रूप दिखलाकर पूर्वोक्त नीलयशाके साथ उनका पाणिग्रहण कराया। तदनन्तर उन विद्याधरियोंके साथ वसुदेव ह्रीमन्तपर गये। पश्चात् हिरण्यवतीकी सहायतासे असित पर्वत नामक नगर गये। वहाँके राजा सिंहदंष्ट्रने अपने अन्तःपुरके साथ वसुदेवको प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखा। वसुदेव नीलयशाके साथ सानन्द रहने लगे ३२७-३३०

त्रयोविंशतितम सर्ग

कुमार वसुदेव नीलयशाके साथ सुखसे रहते थे। वर्षा ऋतु आयी और उसके बाद शरद् ऋतुने अपनी छटा दिखलायी। विद्याधर दम्पती क्रीड़ाके लिए बाहर निकले। वसुदेव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

भी नीलयशाके साथ बाहर गये, वहाँ नीलकण्ठ नामका विद्याधर मयूरका रूप धर नीलयशाको हर ले गया। वसुदेव जहाँ-तहाँ घूमते हुए गिरितट नगरमें गये। वहाँ ब्राह्मणोंका जमाव देख तथा सोमश्री कन्याकी यह प्रतिज्ञा कि 'जो मुझे वेदमें परास्त कर देगा उसीसे विवाह करूँगी' ज्ञातकर ब्रह्मदत्त उपाध्यायके पास वेद पढ़ने लगे। इसी प्रकरणमें आर्ष वेदकी उत्पत्तिका वर्णन ३३१-३३४

अनार्ष वेदोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए सगर राजा, सुलसा और मधुपिंगलकी रोचक कथा तथा सगर राजाके द्वारा कृत्रिम सामुद्रिक शास्त्रका वर्णन, अन्तमें वेदज्ञानमें परास्त कर कुमार वसुदेवने सोमश्रीके साथ विवाह किया ३३४-३४३

चतुर्विंशतितम सर्ग

कुमार वसुदेवने तिलवस्तु नगरमें जाकर नर-मांसभोजी सौदासको नष्ट किया। इसी प्रकरणमें वृद्ध लोगोंने सौदासका वृत्तान्त सुनाया ३४४-३४५

कुमार वसुदेवका अचलग्रामके सेठकी पुत्री वनमालाके साथ विवाह हुआ। तथा वेदसामपुरके राजा कपिल मुनिको जीतकर उसकी कपिला नामक पुत्रीके साथ विवाह सम्पन्न हुआ। विद्याधर लोकमें घूमनेके अनन्तर वेगवती और मदनवेगा आदिके साथ उनका संयोग हुआ ३४५-३५०

पञ्चविंशतितम सर्ग

मदनवेगाके भाई दधिमुखने अपने पिताको बन्धनसे छुड़ानेके लिए वसुदेवसे प्रार्थना की। इसी सन्दर्भमें हस्तिनापुरके राजा कार्तवीर्य, जमदग्निके पुत्र परशुराम और सुभौम चक्रवर्तीका वर्णन ३५१-३५४

दधिमुखकी प्रार्थना सुन वसुदेवने युद्ध द्वारा त्रिशिखरको मारा और अपने श्वसुर को बन्धनसे मुक्त किया ३५४-३५६

विषय पृष्ठ

षड्विंशतितम सर्ग

कुमार वसुदेवसे मदनवेगाके अनावृष्टि नामका पुत्र हुआ। एक दिन सब विद्याधर अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ विजयार्ध गिरिके सिद्धकूट जिनालय गये। कुमार वसुदेव भी मदनवेगाके साथ गये। वहाँ मदनवेगाने उन्हें विद्याधरोंकी विविध जातियोंका परिचय कराया ३५७-३५८

एक दिन मदनवेगा कारणवश कुमारसे कुपित हो भीतर चली गयी। इसी बीचमें त्रिशिखर विद्याधरकी विधवा पत्नी शूर्पणखी मदनवेगाका रूप धरकर कुमारको छलसे हर ले गयी। शूर्पणखी कुमारको नष्ट करनेके कार्यमें मानसवेगको नियुक्त कर चली गयी। कुमार राजगृही नगरीमें एक घासकी गंजीपर गिरे। उधर जरासन्धके सेवकोंने पकड़कर तत्काल मारनेके अभिप्रायसे एक चर्म-निर्मित भाथड़ीमें बन्द कर उन्हें पर्वतसे नीचे पटका परन्तु 'वेगवती' स्त्रीने उन्हें बीचमें ही झेल लिया और नीचे उतारकर भाथड़ीसे बाहर निकाला, दोनोंका मिलन हुआ ३५८-३६०

कुमार वसुदेवने नागपाशसे बद्ध बालचन्द्राको छुड़ाया जिससे उसे विद्या सिद्ध हो गयी और वह कुमारकी पत्नी बननेकी आशासे अपनी वह विद्या कुमारकी आज्ञासे वेगवतीको दे गयी ३६०-३६१

सप्तविंशतितम सर्ग

विद्युद्दंष्ट्रने संजयन्त मुनिपर उपसर्ग किस कारण किया? राजा श्रेणिकके इस प्रकार प्रश्न करनेपर गौतम गणधर संजयन्त केवलीका चरित पूर्वभवोंके साथ वर्णन करने लगे। इसीके अन्तर्गत सुमित्रदत्त वणिक्के रत्न हड़पनेवाले श्रीभूति पुरोहितकी कथाका समुल्लेख ३६२-३७२

अष्टाविंशतितम सर्ग

वेगवतीसे रहित वसुदेव एक बार तापसोंके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

आश्रममें गये वहाँ विकथा करते हुए तापसोंसे श्रावस्ती नगरीके राजा एणीपुत्रकी प्रियंगु-सुन्दरी कन्याका समाचार जानकर नगरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ कामदेवके मन्दिरके आगे निर्मित तीन पाँवके सुवर्णमय भैंसाको देखकर उन्होंने वहाँके ब्राह्मणोंसे उसका परिचय पूछा। एक ब्राह्मणने इसके उत्तरमें उन्हें मृगध्वज केवली और महिषका सारा चरित्र सुनाया ३७३-३७७

एकोनत्रिंशत्तम सर्ग

वसुदेव कुमारका बन्धुमती और प्रियंगु सुन्दरी कन्याओंकी प्राप्तिका वर्णन ३७८-३८३

त्रिंशत्तम सर्ग

कार्तिककी पूर्णिमाकी रात्रिमें कुमार वसुदेव सुखसे सोये हुए थे कि एक अतिशय रूपवती कन्या उन्हें जगाकर एकान्तमें ले गयी और उन्हें अपना परिचय देने लगी। उसने कहा कि मैं प्रभावती हूँ और आपकी प्रिया वेगवतीका समाचार लायी हूँ। सोमश्रीने मुझे भेजा है। कुमार उसके साथ सोमश्रीके घर गये और अपनी चिर वियुक्त प्रियाओंसे मिलकर प्रसन्न हुए। इसी प्रकरणमें उन्हें प्रभावतीकी प्राप्ति हुई ३८४-३८८

एकत्रिंशत्तम सर्ग

अनेक कन्याओंको विवाहते हुए कुमार वसुदेव अरिष्टपुर नगर आये और वहाँके राजा रुधिरकी पुत्री रोहिणीके स्वयंवरमें वेष बदलकर पहुँचे। 'पणव' नामक बाजा बजानेवालोंकी श्रेणीमें जा बैठे। रोहिणीने वसुदेवके गलेमें वरमाला डाल दी। इस घटनासे अनेक राजा कुपित होकर वसुदेवसे युद्ध करनेको तत्पर हुए। जरासन्ध बारी-बारीसे राजाओंको वसुदेवके साथ लड़ाता था। अन्तमें समुद्रविजयका भी अवसर आया। दोनों भाइयोंका युद्ध हुआ। वसुदेवने अपना कौशल दिखलानेके बाद एक पत्रसे युक्त बाण समुद्रविजयकी ओर छोड़ा जिसे ग्रहण कर समुद्रविजय हर्षित हुए। चिर वियुक्त भाईके मिलनसे सर्वत्र आनन्द छा गया ३८९-३९९

द्वात्रिंशत्तम सर्ग

वसुदेवके रोहिणी स्त्रीसे 'राम' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक विद्याधरीकी प्रार्थना सुन कुमार वसुदेव, समुद्रविजयकी आज्ञा ले पुनः विजयार्ध पर्वतपर गये और वहाँसे अपनी समस्त स्त्रियोंको साथ ले वापस आ गये ४००-४०३

त्रयस्त्रिंशत्तम सर्ग

वसुदेव शस्त्रविद्याका उपदेश देते हुए सौर्यपुरमें रहने लगे। किसी समय वे कंस आदि शिष्योंके साथ राजगृह गये। वहाँ जरासन्धकी घोषणाको सुन वे सिंहपुरके स्वामी सिंहरथको जीवित पकड़ लाये। घोषणाके अनुसार जरासन्ध अपनी जीवद्यशा पुत्री वसुदेवको देने लगे पर उन्होंने स्वयं न लेकर कंसको दिलवा दी इस प्रकरणमें कंसका परिचय ४०४-४०६

कंस, वसुदेवको मथुरा ले आया और बहन देवकीका उनके साथ विवाह कर दिया ४०६

अतिमुक्तक मुनिके द्वारा 'देवकीका पुत्र तुम्हारे पतिको मारेगा' यह भविष्यवाणी सुन कंसकी स्त्री जीवद्यशा बहुत घबड़ायी। कंसने भी घबड़ाकर वसुदेवसे यह वचन ले लिया कि देवकीका प्रसव हमारे घर होगा। वसुदेवने अतिमुक्तक मुनिसे इसका कारण पूछा। उत्तरमें मुनिराजने कंसका पूर्वभव सम्बन्धी वर्णन किया ४०६-४११

बलदेव सहित, देवकीके सातों पुत्रोंके पूर्वभवोंका वर्णन ४११-४१८

चतुस्त्रिंशत्तम सर्ग

अतिमुक्तक मुनिके मुखसे यह बात सुनकर कि 'हमारे वंशमें बाईसवें तीर्थंकर उत्पन्न होंगे' वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए। उनकी प्रार्थना सुनकर अतिमुक्तक मुनिने नेमिनाथ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

के पूर्वभवोंका सविस्तर वर्णन किया। इसी प्रकरणमें उन्होंने सर्वतोभद्र आदि अनेक उपवासव्रतोंका स्वरूप वर्णन किया ४१९-४४७

पञ्चत्रिंशत्तम सर्ग

अतिमुक्तक मुनिके मुखसे भगवान् नेमिनाथके पूर्वभव सुनकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए, क्रम-क्रमसे देवकीने मथुरामें तीन युगलके रूपमें छह पुत्र उत्पन्न किये। जिन्हें इन्द्रकी आज्ञा से नैगमदेव सुभद्रिल नगरके सुदृष्टि सेठके घर पहुँचाता रहा और उसके मृत पुत्रोंको देवकी-के पास छोड़ता रहा। सेठके यहाँ छहों पुत्रों-का लालन-पालन होता रहा ४४८-४४९

तदनन्तर देवकीने स्वप्न-दर्शनपूर्वक कृष्ण को गर्भमें धारण किया। भाद्रपद मास शुक्ला द्वादशीको सात मासमें कृष्णका जन्म हुआ। वसुदेव उसे गुप्तरूपसे अपने विश्वासपात्र नन्दगोपको सौंप आये और उसकी स्त्री यशोदाकी पुत्रीको ले आये। पता चलनेपर कंसने उस पुत्रीकी नाक चपटी कर उसे छोड़ दिया ४५०-४५२

श्रीकृष्ण नन्द और यशोदाके यहाँ बढ़ने लगे। निमित्तज्ञानीके कथनसे शंकित हो कंस गुप्त रूपसे बढ़ते हुए अपने शत्रुकी खोज करने लगा ४५२-४५४

देवकी उपवासके बहाने कृष्णको देखनेके लिए गयी। कृष्णकी बालक्रीड़ा और लोको-त्तर पराक्रमका वर्णन ४५४

षट्त्रिंशत्तम सर्ग

शरद् ऋतुका साहित्यिक वर्णन, श्रीकृष्णको मारनेके लिए कंसके विविध प्रयत्न, मल्लयुद्धके लिए कंसने कृष्णको मथुरा बुलाया, इससे शंकित वसुदेवने सौर्यपुरसे समुद्रविजय आदि नौ भाइयोंको मथुरा बुला लिया। बलभद्र और श्रीकृष्णका कंसके मल्लोंके साथ युद्ध हुआ, जिसमें उन्होंने उन मल्लोंको यमलोक पहुँचा दिया। कंस सामने

विषय पृष्ठ

आया तो कृष्णने उसे भी पृथिवीपर पछाड़ कर समाप्त कर दिया ४५५-४६५

कृष्ण अपने माता-पिता तथा समुद्रविजय आदिसे मिलकर प्रसन्न हुए। सुकेतु विद्या-धरने कृष्णको अपनी पुत्री 'सत्यभामा' दी। जीवद्यशाके करुण विलापसे द्रवीभूत हो जरासन्धने यादवोंको नष्ट करनेके लिए अपने भाई अपराजितको भेजा। जिसे कृष्णने अपने बाणोंसे धराशायी कर दिया ४६६-४७०

सप्तत्रिंशत्तम सर्ग

भगवान् नेमिनाथके गर्भमें आनेके छह माह पूर्वसे समुद्रविजयके घर रत्नोंकी वर्षा होने लगी। माता शिवा देवीने ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे ४७१-४७४

राजा समुद्रविजयने स्वप्नोंका फल बतलाते हुए कहा कि 'तुम्हारे तीर्थंकर पुत्र होगा' ४७४-४७७

अष्टत्रिंशत्तम सर्ग

देवोंने भगवान्के माता-पिताका अभिषेक कर वस्त्राभूषणोंसे उनकी पूजा की। शिवा देवी-का गूढ़ गर्भ वृद्धिको प्राप्त होने लगा। वैशाख शुक्ल त्रयोदशीको चित्रा नक्षत्रमें भगवान्का जन्म हुआ। तीनों लोकोंमें हर्ष छा गया। जन्म महोत्सवके लिए देवोंकी सात प्रकारकी सेना सौर्यपुर आयी ४७८-४८२

देवियोंके द्वारा जातकर्मका वर्णन ४८२-४८३

सौर्यपुरकी अद्भुत शोभा हो रही थी। इन्द्र भगवान्को ऐरावत हाथीपर विराजमान कर सुमेरु पर्वतकी ओर चला। इसी प्रसंगमें ऐरावत हाथीका वर्णन। हर्षमय वातावरण-में भगवान्का जन्माभिषेक प्रारम्भ हुआ ४८३-४८६

एकोनचत्वारिंशत्तम सर्ग

इन्द्र द्वारा भगवान्का स्तवन ४८७-४८९

देवों द्वारा शंखादि वादित्रोंका वादन और भगवान्की परिचर्याका वर्णन ४९०-४९३

चत्वारिंशत्तम सर्ग

यादवों द्वारा अपने भाई अपराजितका वध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

सुन जरासन्ध बहुत कुपित हुआ और उनका वध करनेके अभिप्रायसे सौर्यपुरकी ओर चल पड़ा। जब यादवोंको पता चला तब वे परस्पर मन्त्रणा कर सौर्यपुरसे पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये। विन्ध्याचलके वनमें एक देवीने कृत्रिम चिताएँ जलाकर तथा यादवोंके नष्ट होनेका मिथ्या समाचार सुनाकर जरासन्धको वापस लौटा दिया। ४९४-४९७

एकचत्वारिंशत्तम सर्ग

समुद्रविजय आदिके द्वारा समुद्रकी शोभाका अवलोकन ४९८-४९९

कृष्णने अष्टमभक्त कर पंचपरमेष्ठीका ध्यान किया। इन्द्रकी आज्ञासे गौतम देवने समुद्रको शीघ्र ही दूर हटा दिया और उस स्थलपर कुबेरने द्वारिकानगरीकी रचना कर दी। श्रीकृष्णको नारायण और रामको बलभद्र स्थापित कर कुबेर अपने स्थानपर चला गया। द्वारिकाका सुन्दर वर्णन ५००-५०३

द्वाचत्वारिंशत्तम सर्ग

द्वारिकामें नारदका आगमन ५०४-५०५

नारदकी उत्पत्तिका वर्णन ५०५

नारद कृष्णके अन्तःपुरमें गये परन्तु सत्यभामा अपनी साज-सजावटमें लीन थी अतः उठकर उनका सत्कार नहीं कर सकी। नारदजीका मनोभाव बदल गया जिससे वे सत्यभामाका मान भग्न करनेके लिए किसी अन्य सुन्दर कन्याकी खोज करनेके लिए चल पड़े ५०५-५०७

अब वे कुण्डिनपुरमें स्थित राजा भीष्मके अन्तःपुरमें पहुँचे। वहाँ रुक्मिणीको देख 'तू द्वारिकाधीश श्रीकृष्णकी पटराज्ञी हो' यह आशीर्वाद दे उसका मन श्रीकृष्णकी ओर आकृष्ट कर चल दिये और रुक्मिणीका चित्रपट ले श्रीकृष्णके पास पहुँचे, श्रीकृष्णका अनुराग बढ़कर चरम सीमापर पहुँच रहा था, उसी समय रुक्मिणीकी बुआका गुप्त पत्र उन्हें मिला। कृष्ण बलभद्रको

विषय पृष्ठ

साथ ले कुण्डिनपुर पहुँचे और नागदेवकी पूजाके बहाने उद्यानमें आयी हुई रुक्मिणीको हरकर ले आये। युद्धमें शिशुपालको मार गिराया और रुक्मिणीके भाई रुक्मीको बन्दी बना लिया। रुक्मिणीके साथ विधिवत् विवाह कर सुखसे रहने लगे ५०७-५१३

त्रिचत्वारिंशत्तम सर्ग

सत्यभामा और रुक्मिणीके सपत्नीभावका वर्णन ५१४-५१६

रुक्मिणी और सत्यभामाके गर्भका वर्णन तथा दोनोंके पुत्रोंकी उत्पत्तिका निरूपण ५१६-५१७

रुक्मिणीके पुत्रको पूर्वभवका वैरी 'धूमकेतु' नामका असुर हरकर ले गया और खदिराटवीमें तक्षशिलाके नीचे दबा आया। मेघकूट नगरका राजा कालसंवर विद्याधर अपनी स्त्रीके साथ वहाँसे निकला और उस बालकको लेकर अपने घर गया। उसका प्रद्युम्न नाम रखा ५१७-५१९

रुक्मिणीका विलाप, कृष्णके द्वारा दी गयी सान्त्वना, नारदका आगमन और सीमन्धर स्वामी द्वारा पद्मरथ चक्रवर्तीके प्रश्नोत्तरमें प्रद्युम्नके पूर्व भवोंका वर्णन, नारदका मेघकूट जाकर कालसंवरके यहाँ प्रद्युम्नको स्वयं देखना और लौटकर कृष्ण तथा रुक्मिणीको सब समाचार सुनानेका वर्णन ५१८-५३२

चतुश्चत्वारिंशत्तम सर्ग

सत्यभामाके पुत्रका नाम भानुकुमार रखा गया। श्रीकृष्णका जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारीके साथ विवाह हुआ ५३३-५३७

पञ्चचत्वारिंशत्तम सर्ग

किसी समय यादवोंके भानेज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुल द्वारिका आये। यादवोंने उनका अच्छा सत्कार किया। कुरुवंशके राजाओंका वर्णन करते हुए पाण्डवोंकी उत्पत्ति, पाण्डुके बाद दुर्योधनादि कौरवों और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंके बीच होनेवाले संघर्षका वर्णन ५३८-५४१

लाक्षागृहमें आग लगवा देनेसे पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ अज्ञात रूपसे बाहर निकल गये और अनेक जगह भ्रमण करते रहे। अन्तमें माकन्दी नगरीके राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीको स्वयंवरमें अर्जुनने प्राप्त किया और युद्धमें विरोधी राजाओंको परास्त कर प्रकट हुए। सबके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश कर सुखसे रहने लगे ५४१-५५०

षट्चत्वारिंशत्तम सर्ग

पाण्डव दुर्योधनके साथ जुआ खेले और अपना सब राज-पाट हारकर बारह वर्ष तक अज्ञातवासके लिए निकल पड़े। इसी अज्ञातवासके समय विराट नगरमें द्रौपदीके ऊपर कुदृष्टि करनेपर भीमसेनने कीचककी अच्छी मरम्मत की जिससे वह मुनि होकर तपस्या करने लगा। कीचकके सौ भाइयोंने तेज दिखाया तो उन्हें जलती चितामें भस्म कर दिया। कीचक मुनिने केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त किया ५५१-५५६

सप्तचत्वारिंशत्तम सर्ग

कीचकका उपद्रव शान्त कर पाण्डव हस्तिनापुर वापस आ गये। धीरे-धीरे दुर्योधनका दुर्भाव फिरसे बढ़ने लगा इसलिए वे पुनः दक्षिणकी ओर चले गये। विन्ध्य वनमें तपस्वी विदुरसे युधिष्ठिरकी भेंट हुई। क्रम-क्रमसे पाण्डव द्वारिका पहुँचे और समुद्रविजय आदिसे मिलकर प्रसन्न हुए ५५७-५५८

युधिष्ठिर आदिको लक्ष्मीमती आदि कन्याएँ प्राप्त हुईं ५५८

प्रद्युम्नकी चेष्टाओंका वर्णन ५५८-५६०

प्रद्युम्नकी शोभा देख कालसंवरकी स्त्री कनकमाला कामसे विह्वल हो गयी और प्रद्युम्नको रिझानेका प्रयत्न करने लगी। ५६०-५६३

विषय पृष्ठ

प्रद्युम्नका द्वारिका आना और तरह-तरहकी अद्भुत चेष्टाएँ दिखाना ५६३-५६८

अष्टचत्वारिंशत्तम सर्ग

सत्यभामाके सुभानु और जाम्बवतीके शम्ब नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। सुभानु और शम्बकी लीलाएँ सबका मन मोहती थीं। इसी प्रसंगमें वसुदेवने अपनी पूर्व कथा कही। ५६९-५७१

यदुवंशके कुमारों का वर्णन ५७१-५७४

एकोनपञ्चाशत्तम सर्ग

कृष्णकी छोटी बहनकी सुन्दरता और तपस्याका वर्णन। इसी प्रसंगमें मुनिराजने उसके भवान्तरका वर्णन किया ५७५-५८०

विन्ध्याटवीमें उसे सिंहने खा लिया सिर्फ़ तीन अंगुलियाँ बचीं। उनमें त्रिशूलकी कल्पना कर लोग उसे दुर्गाके नामसे पूजने लगे ५८०-५८२

पञ्चाशतम सर्ग

द्वारिकामें यादवोंके बढ़ते वैभवको सुन जरासन्धका क्रोध भड़क उठा और वह युद्ध करनेके लिए उद्यत हो गया। दोनोंने एक दूसरेके प्रति अपने-अपने दूत भेजे। तदनन्तर युद्ध प्रारम्भ हुआ। ५८३-५९२

एकपञ्चाशत्तम सर्ग

युद्धका अवान्तर वर्णन। राजा रुधिरका पुत्र वीर हिरण्यनाभ मारा गया जिससे एक ओर हर्ष और दूसरी ओर विषाद छा गया ५९३-५९६

द्वापञ्चाशत्तम सर्ग

युद्ध अपने पूर्ण उत्कर्षपर पहुँच गया और श्रीकृष्णके द्वारा जरासन्ध मारा गया ५९७-६०३

त्रिपञ्चाशत्तम सर्ग

कृष्ण नारायणके रूपमें प्रसिद्ध हुए। अनेक विद्याधरोंने वसुदेवके साथ आकर कृष्णको नमस्कार किया। कृष्ण विजयी हुए ६०४-६०८

चतुःपञ्चाशत्तम सर्ग

नारदने द्रौपदीसे रुष्ट होकर अपनी प्रतिशोधकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
भावना प्रकट की। और उसका चित्र बनाकर धातकीखण्डकी अमरकंकापुरीके राजा पद्मनाभके पास पहुँचे। राजा पद्मनाभने संगम नामक देवके द्वारा सोती हुई द्रौपदीका अपहरण करा लिया। अन्तमें पता चलनेपर श्रीकृष्ण तथा पाण्डव भी देवकी की सहायता से वहाँ पहुँचे और राजा पद्मनाभको दण्डित कर द्रौपदीको वापस ले आये। असामयिक हँसीके कारण कृष्ण पाण्डवोंपर अप्रसन्न हो गये जिससे पाण्डव दक्षिणसमुद्रके तटपर चले गये और मथुरा नगरी बसाकर रहने लगे	६०९-६१५
पञ्चपञ्चाशत्तम सर्ग	
श्रीकृष्णकी सभामें नेमिकुमार गये और प्रसंगवश 'सबसे अधिक बलवान् कौन है' इसकी परीक्षा हुई, कृष्ण नेमिनाथके बलसे परास्त हो गये। यादवोंकी जलक्रीड़ाका वर्णन। नेमिनाथके विवाहके लिए स्वीकृति पाकर कृष्णने विवाहके लिए राजीमतीको निश्चित किया। बारात जूनागढ़ जा रही थी, परन्तु मार्गमें रुद्ध पशुओंको देख कुमारको वैराग्य आ गया और रसमें भंग हो गया	६१६-६३४
षट्पञ्चाशत्तम सर्ग	
भगवान् नेमिनाथकी तपश्चर्या और केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन	६३५-६४५
सप्तपञ्चाशत्तम सर्ग	
भगवान्के समवसरणका वर्णन	६४६-६५९
अष्टपञ्चाशत्तम सर्ग	
वरदत्त गणधरके पूछनेपर भगवान्की दिव्यध्वनिमें जीवाजीवादि तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन हुआ	६६०-६९३
एकोनषष्टितम सर्ग	
भगवान् नेमिनाथके विहारका अनुपम वर्णन	६९४-७०५
षष्टितम सर्ग	
वसुदेवसे देवकीके कृष्ण जन्मके पूर्व जो छह युगल पुत्र हुए थे उनकी तपस्याका वर्णन	७०६
सत्यभामा आदि रानियोंके भवान्तरोंका वर्णन भगवान्की दिव्यध्वनिमें हुआ	७०६-७१५
गजकुमारके निर्वेदका वर्णन। भगवान् नेमिनाथ एक बार रैवतकगिरिपर आये। श्रीकृष्णने उनसे त्रेशठशलाकापुरुषोंका विवरण पूछा। तब भगवान्ने उन सबका विस्तारसे वर्णन किया	७१६-७५३
एकषष्टितम सर्ग	
सोमशर्मा ब्राह्मणकी कन्याको छोड़ गजकुमार मुनि हो गये थे इसलिए उसने रुष्ट होकर उनके ऊपर अग्निका उपसर्ग किया। परन्तु वे शुक्लध्यानसे कर्मक्षय कर मोक्ष पधारे, देवोंने उनका निर्वाणोत्सव मनाया। श्रीकृष्णके पूछनेपर भगवान्ने बारह वर्ष बाद द्वारिकादाहकी बात कही और प्रयत्न करनेके बाद भी द्वैपायन मुनिके क्रोधसे द्वारिका भस्म हो गयी	७५४-७६२
द्विषष्टितम सर्ग	
श्रीकृष्ण और बलदेव भ्रमण करते-करते कौशाम्ब वनमें पहुँचे, वहाँ कृष्णको प्यासने सताया। बलदेव पानीके लिए गये और श्रीकृष्ण पीताम्बर ओढ़कर पड़ गये, इसी समय धोखेसे जरत्कुमारके बाणसे उनके पदतलमें चोट लगी। उत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते-करते कृष्णकी मृत्यु हो गयी।	७६३-७६८
त्रिषष्टितम सर्ग	
पानी लेकर जब बलदेव वापस आये तो कृष्णको चुपचाप पड़ा देख पहले तो जागनेकी प्रतीक्षा करने लगे परन्तु बादमें मृत्यु जान कर विलाप करने लगे। ६ माह तक कृष्णका शव लेकर घूमते रहे। अन्तमें सिद्धार्थ सारथिके जीव देवने अपनी विक्रियारूप क्रियाओंसे उन्हें सम्बोधित किया जिससे उन्होंने कृष्णका तुंगीगिरिपर दाह किया और नेमिनाथ भगवान्से परोक्ष दीक्षा ले तप करने लगे। उनकी तपस्याका आश्चर्यकारी वर्णन	७६९-७८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

चतुःषष्टितम सर्ग

भगवान् नेमिनाथ विहार करते-करते पल्लव देशमें पहुँचे। वहाँ पाण्डवोंने उनसे अपने भवान्तर सुने और दीक्षा लेकर घोर तप किया ७८४-७९७

पंचषष्टितम सर्ग

पाण्डवोंकी तपस्या तथा उपसर्गका वर्णन। बलदेव सौ वर्ष तक तपकर ब्रह्म स्वर्गमें देव हुए। पूर्व स्नेहसे प्रेरित हो बलदेवका जीव कृष्णको सम्बोधनके लिए बालुकाप्रभा गया। भगवान् मोक्ष पधारे ७९८-८०३

षट्षष्टितम सर्ग

जरत्कुमारसे यादव वंशकी परम्परा चली। ग्रन्थके अन्तमें भगवान् महावीरके निर्वाणका प्रसंग या दीपावलीके प्रचलित होनेका वर्णन तथा आचार्य परम्पराका विशद वर्णन ८०४-८११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकेत सूची

क	दिल्लीकी प्रति
ख	पंचायती मन्दिर दिल्लीकी प्रति
ग	जयपुरकी प्रति
घ	भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी प्रति
ङ	जयपुरकी प्रति
म	माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित मूल प्रति
क + टि	क प्रतिके टिप्पणमें। इसी प्रकार अन्य प्रतियोंके टिप्पणका संकेत समझना चाहिए
वि. उ. श्रे.	विजयार्धकी उत्तर श्रेणी
वि. द. श्रे	विजयार्धकी दक्षिण श्रेणी
आ + ती.	आगामी तीर्थंकर
आ + च.	आगामी चक्रवर्ती
आ + ना.	आगामी नारायण
आ + प्र. ना.	आगामी प्रतिनारायण
त्रै. प्र.	त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति
ज. प्र.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
त. वा.	तत्त्वार्थराजवार्तिक
मो. शा.	मोक्षशास्त्र
पु. उ.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
ना. शा.	नाट्यशास्त्र
व्य.	व्यक्तिवाचक
भौ.	भौगोलिक
पा.	पारिभाषिक



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितं

हरिवंशपुराणम्

प्रथमः सर्गः

सिद्धं धौव्यव्ययोत्पादलक्षणद्रव्यसाधनम् । जैनं द्रव्याद्यपेक्षातः साद्यनाद्यर्थं शासनम् ॥१॥
शुद्धज्ञानप्रकाशाय लोकालोकैकभानवे । नमः श्रीवर्द्धमानार्य वर्द्धमानजिनेशिने ॥२॥
नमः सर्वविदे सर्वव्यवस्थानां विधायिने । कृतादिधर्मतीर्थाय वृषभाय स्वयम्भुवे ॥३॥
येन तीर्थमभिव्यक्तं द्वितीयमजितायितम् । अजिताय नमस्तस्मै जिनेशाय जितद्विषे ॥४॥
शं भवे वा विमुक्तौ वा भक्ता यत्रैव शम्भवे । भेजुर्भव्या नमस्तस्मै तृतीयाय च शम्भवे ॥५॥

यदु कुल जलधि सुचन्द्र सम, वृष रथचक्र सुनेमि
भव्य कमल दिनकर जयौ, जयौ जिनेन्द्र सुनेमि ॥१॥
देव शास्त्र गुरुको प्रणमि, बार बार शिर नाय ।
श्री हरिवंश पुराणकी, भाषा लिखूँ बनाय ॥२॥

जो वादी-प्रतिवादियोंके द्वारा निर्णीत होनेके कारण सिद्ध है, उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य लक्षणसे युक्त जीवादि द्रव्योंको सिद्ध करनेवाला है, और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादि तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सादि है ऐसा जिन-शासन सदा मंगलरूप है ॥१॥ जिनका शुद्ध ज्ञान रूपी प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है, जो लोक और अलोकको प्रकाशित करनेके लिए अद्वितीय सूर्य हैं, तथा जो अनन्तचतुष्टय रूपी लक्ष्मीसे सदा वृद्धिगत हैं ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥२॥ जो सर्वज्ञ हैं, युगके प्रारम्भकी सब व्यवस्थाओंके करनेवाले हैं, तथा जिन्होंने सर्वप्रथम धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति चलायी है उन स्वयंबुद्ध भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥३॥ जिन्होंने अपने ही समान आचरण करनेवाला द्वितीय तीर्थ प्रकट किया था तथा जिन्होंने अन्तरंग बहिरंग शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी ऐसे उन अजितनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥४॥ जिन शंभव नाथके भक्त भव्यजन संसार अथवा मोक्ष—दोनों ही स्थानोंमें सुखको प्राप्त हुए थे उन तृतीय शंभवनाथ तीर्थंकरके लिए

---

१. ध्रौव्यव्ययोत्पादलक्षणं म. । २. अथेत्यव्ययं मङ्गलवाचकम् 'मङ्गलानन्तराराजप्रश्नकात्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । ३. शुद्धज्ञानमेव प्रकाशो यस्य तस्मै । ४. श्रिया वर्द्धमानो यः स तस्मै । ५. गृहस्थादिव्यापाराणाम् । ६. शं सुखम् । ७. संसारे । ८. मोक्षे । ९. यस्मिन् सति । १०. तृतीयतीर्थङ्करे । ११. शं सुखं भवति यस्मात् इति शम्भुस्तस्मै शम्भवे चतुर्थ्यन्तप्रयोगः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थं चतुर्थमन्वर्थं[1] यश्चकाराभिनन्दनः । लोकाभिनन्दनस्तस्मै जिनेन्द्राय नमस्त्रिधा ॥६॥
पञ्चमं सं[2]प्रपञ्चार्थं तीर्थं वर्तयति स्म यः । नमः सु[3]मतये तस्मै नमः सुमतये सदा ॥७॥
कर्कु[4]भोऽभासयद्यस्य जितपद्मप्रभा प्रभा । पद्मप्रभाय षष्ठाय तस्मै तीर्थकृते नमः ॥८॥
यस्तीर्थं स्वार्थसंपन्नः परार्थमुदपादयत् । सप्तमं तु नमस्तस्मै सुपार्श्वाय कृतात्मने ॥९॥
अष्टमस्येन्द्रजुष्टस्य कर्त्रे तीर्थस्य तायिने[5] । चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमश्चन्द्रामकीर्तये ॥१०॥
देहदन्तप्रभाक्रान्तकुन्दपुष्पत्विषे नमः । पुष्[6]पदन्ताय तीर्थस्य नवमस्य विधायिने ॥११॥
शुचिशीतलतीर्थस्य जन्तुसंतापनोदिनः । दशमस्य नमः कर्त्रे शीतलायाप[7]थाशिने ॥१२॥
तीर्थं व्युच्छिन्नमुद्भाव्य भव्यानामाजवञ्जवम् । चिच्छेदैकादशो योऽर्हंस्तस्मै श्रीश्रेयसे नमः ॥१३॥
कुतीर्थध्वान्तमुद्धूय द्वादशं तीर्थमुज्ज्वलम् । नमस्कृतवते मत्रे वासुपूज्यविवस्वते ॥१४॥
विमलाय नमस्तस्मै यः कापथ[8]मलाविलम् । त्रयोदशेन तीर्थेन चकार विमलं जगत् ॥१५॥
तस्मै नमः कुसिद्धान्ततमोभेदनभास्वते । चतुर्दशस्य तीर्थस्य यः कर्ताऽनन्तजिज्जिनः ॥१६॥
अधर्मपथपातालपतदुद्धरणक्षमम् । कर्त्रे पञ्चदशं तीर्थं धर्माय मुनये नमः ॥१७॥
सृष्टषोडशतीर्थाय कृत[9]नानेतिशान्तये । चक्रेशाय जिनेशाय नमः शान्ताय[10] शान्तये[11] ॥१८॥

नमस्कार हो ॥५॥ लोगोंको आनन्दित करनेवाले जिन अभिनन्दन नाथने सार्थक नामको धारण करनेवाले चतुर्थ तीर्थकी प्रवृत्ति की थी उन श्री अभिनन्दन जिनेन्द्रके लिए मन-वचन-कायसे नमस्कार हो ॥६॥ जिन्होंने विस्तृत अर्थसे सहित पंचम तीर्थकी प्रवृत्ति की थी तथा जो सदा सुमति-सद्बुद्धिके धारक थे उन पंचम सुमतिनाथ तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो ॥७॥ कमलोंकी प्रभाको जीतनेवाली जिनकी प्रभाने दिशाओंको देदीप्यमान किया था उन छठवें तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥८॥ जिन्होंने आत्महितसे सम्पन्न होकर परहितके लिए सप्तम तीर्थकी उत्पत्ति की थी तथा जो स्वयं कृतकृत्य थे उन सुपार्श्वनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥९॥ जो इन्द्रोंके द्वारा सेवित अष्टम तीर्थके प्रवर्तक एवं रक्षक थे तथा जो चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्तिके धारक थे उन चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१०॥ जिन्होंने अपने शरीर तथा दाँतोंकी कान्तिसे कुन्दपुष्पकी कान्तिको परास्त कर दिया था और जो नौवें तीर्थके प्रवर्त्तक थे उन पुष्पदन्त भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥११॥ जो प्राणियोंके सन्तापको दूर करनेवाले उज्ज्वल एवं शीतल दशवें तीर्थके कर्ता थे उन कुमार्गके नाशक श्री शीतलनाथ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१२॥ जिन्होंने श्री शीतलनाथ भगवान्‌के मोक्ष जानेके बाद व्युच्छित्तिको प्राप्त तीर्थको प्रकट कर भव्य-जीवोंका संसार नष्ट किया था तथा जो ग्यारहवें जिनेन्द्र थे उन श्री श्रेयांसनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥१३॥ जिन्होंने कुतीर्थरूपी अन्धकारको नष्ट कर बारहवाँ उज्ज्वल तीर्थ प्रकट किया था तथा जो सबके स्वामी थे ऐसे उन वासुपूज्य भगवान् रूपी सूर्यको नमस्कार हो ॥१४॥ जिन्होंने कुमार्ग रूपी मलसे मलिन संसारको तेरहवें तीर्थके द्वारा निर्मल किया था उन विमलनाथ भगवान्‌को नमस्कार हो ॥१५॥ जो चौदहवें तीर्थके कर्ता थे तथा जिन्होंने अनन्त अर्थात् संसारको जीत लिया था और जो मिथ्या धर्म रूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान थे उन अनन्तनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥१६॥ जो अधर्मके मार्गसे पाताल-नरकमें पड़नेवाले प्राणियोंका उद्धार करनेमें समर्थ पन्द्रहवें तीर्थके कर्ता थे उन श्री धर्मनाथ मुनीन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१७॥ जो सोलहवें तीर्थके कर्ता थे, जिन्होंने अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नाना ईतियोंको शान्त किया था, जो

---

१. -मर्थ्यं म. । २. सविस्तारार्थं । ३. सुष्ठु मतिर्ज्ञानं केवलं यस्य तस्मै । ४. दिशः । ५. पालकाय । ६. कापथस्फेटकाय । ७. कुमार्गमलिनम् । कषायमलाविलं ख., म. । ८. सृष्टे षोडशतीर्थस्य म., ख. । ९. कृता नानाप्रकाराणामीतीनां शान्तिर्येन स तस्मै । १०. शान्तमूर्तये । ११. शान्तिनाथाय ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येन सप्तदशं तीर्थं [1]प्रावर्त्ति पृथुकीर्त्तिना [2]। तस्मै कुन्थुजिनेन्द्राय नमः प्राक्चक्रवर्त्तिने ॥१९॥
नमोऽष्टादशतीर्थेन [3]प्राणिनामिष्टकारिणे। [4]चक्रपाणिजिनाराय [5]निरस्तदुरितारये ॥२०॥
तीर्थेनैकोनविंशेन स्थापितस्थिरकीर्त्तये। नमो मोहमहामल्लमाथिमल्लाय मल्लये [6]॥२१॥
स्वं विंशतितमं तीर्थं कृत्वेशो मुनिसुव्रतः। अतारयद् भवाल्लोकं यस्तस्मै सततं नमः ॥२२॥
नमये मुनिमुख्याय [7]नमितान्तर्बहिर्द्विषे। एकविंशस्य तीर्थस्य कृताभिव्यक्तये नमः ॥२३॥
भास्वते हरिवंशाद्रिश्रीशिखामणये नमः। द्वाविंशतीर्थसच्चक्रनेमये [8]ऽरिष्टनेमये ॥२४॥
धर्ता [9]धरणनिर्धूतपर्वतोद्धरणासुरः। त्रयोविंशस्य तीर्थस्य पार्श्वो विजयतां [10] विभुः ॥२५॥
इत्यस्यामवसर्पिण्यां ये तृतीयचतुर्थयोः। कालयोः कृततीर्थास्ते जिना नः सन्तु सिद्धये ॥२६॥
येऽतीतापेक्ष [11]याऽनन्ताः संख्येया वर्तमानतः [12]। अनन्तानन्तमानास्तु भाविकालव्यपेक्षया [13] ॥२७॥
तेऽर्हन्तः सन्तु नः सिद्धाः सूर्युपाध्यायसाधवः। मङ्गलं गुरवः पञ्च सर्वे सर्वत्र सर्वदा ॥२८॥
[14]जीवसिद्धिविधायीह [15]कृतयुक्त्यनुशासनम्। वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥२९॥

चक्ररत्नके स्वामी थे, और स्वयं अत्यन्त शान्त थे उन शान्तिनाथ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१८॥ जिन्होंने सत्रहवाँ तीर्थं प्रवृत्त किया था, जो विशाल कीर्तिके धारक थे, तथा जो जिनेन्द्र होनेके पूर्व चक्ररत्नको प्रवृत्त करनेवाले—चक्रवर्ती थे उन श्री कुन्थु जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥१९॥ जो अठारहवें तीर्थंकर थे, प्राणियोंका कल्याण करनेवाले थे, और जिन्होंने पापरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया था उन चक्ररत्नके धारक भी अरनाथ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥२०॥ जिन्होंने उन्नीसवें तीर्थके द्वारा अपनी स्थायी कीर्ति स्थापित की थी, तथा जो मोहरूपी महामल्लको नष्ट करनेके लिए अद्वितीय मल्ल थे ऐसे मल्लिनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥२१॥ जिन्होंने अपना बीसवाँ तीर्थं प्रवृत्त कर लोगोंको संसारसे पार किया था उन श्री मुनिसुव्रत भगवान्‌के लिए निरन्तर नमस्कार हो ॥२२॥ जो मुनियोंमें मुख्य थे, जिन्होंने अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओंको नम्रीभूत कर दिया था, और जिन्होंने इक्कीसवाँ तीर्थं प्रकट किया था उन नमिनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥२३॥ जो सूर्यके समान देदीप्यमान थे, हरिवंशरूपी पर्वतके उत्तम शिखामणि थे, और बाईसवें तीर्थंरूपी उत्तम चक्रके नेमि (अयोधारा) स्वरूप थे उन अरिष्टनेमि तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो ॥२४॥ जो तेईसवें तीर्थंके धर्ता थे तथा जिनके ऊपर पर्वत उठाकर उपद्रव करनेवाला असुर धरणेन्द्रके द्वारा नष्ट किया गया था वे पार्श्वनाथ भगवान् जयवन्त हों ॥२५॥ इस प्रकार इस अवसर्पिणीके तृतीय और चतुर्थ कालमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले जो जिनेन्द्र हुए हैं वे सब हम लोगोंकी सिद्धिके लिए हों ॥२६॥ जो भूतकालकी अपेक्षा अनन्त हैं, वर्तमानकी अपेक्षा संख्यात हैं, और भविष्यत्‌की अपेक्षा अनन्तानन्त हैं वे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—समस्त पंच परमेष्ठी सब जगह तथा सब कालमें मंगलस्वरूप हों ॥२७-२८॥

जो जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ (पक्षमें जीवोंकी मुक्ति) के रचयिता हैं तथा जिन्होंने युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ (पक्षमें हेतुवादके उपदेश) की रचना की है ऐसे श्री समन्तभद्रस्वामीके

१. प्रवर्तितं। २. विस्तारितयशसा। ३. तीर्थाय म.। ४. चक्रवर्तिपदधारकतीर्थंकरपदधारक-अरनाथाय। ५. विध्वस्तपापवैरिवर्गाय। ६. मोह एव महामल्लस्तं मथितुं शीलं यस्य तादृशो मल्लस्तस्मै। ७. नमितान्तर्बहिर्वैरिवर्गाय। ८. प्रवर्तकाय। ९. धरणेन धरणेन्द्रेण निर्धूतः पर्वतोद्धरणः असुरो यस्य सः। १०. सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। ११. भूतकालापेक्षातः। १२. वर्तमानकालापेक्षातः। १३. भविष्यत्कालापेक्षातः। १४. जीवानां सिद्धिस्तद्विधायि, द्वितीयपक्षे जीवसिद्धिनाम ग्रन्थस्तत्कारकं। १५. कृता युक्तिर्यत्र एतादृशम् अनुशासनं यत्र द्वितीयपक्षे युक्त्यनुशासनं नाम ग्रन्थः स कृतो येन तत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः[1] । बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥२९॥
[2]इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः[3] । देवस्य देववन्द्यस्य[4] न वन्द्यन्ते गिरः कथम् ॥३०॥
वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः । प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः[5] ॥३१॥
महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी । कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना[6] ॥३२॥
कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्त्तिता । मूर्त्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः[7] प्रिया ॥३४॥
वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक्[8] । कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥३५॥
शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षाबलान्मनः । कस्य नोद्घाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरज्यते ॥३६॥
[9][10]योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः । विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः ॥३७॥

वचन इस संसारमें भगवान् महावीरके वचनोंके समान विस्तारको प्राप्त हैं ॥२९॥ जिनका ज्ञान संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्री सिद्धसेनकी निर्मल सूक्तियाँ श्री ऋषभ जिनेन्द्रकी सूक्तियोंके समान सत्पुरुषोंकी बुद्धिको सदा विकसित करती हैं ॥३०॥ जो इन्द्र, चन्द्र, अर्क और जैनेन्द्र व्याकरणोंका अवलोकन करनेवाली है ऐसी देववन्द्य देवनन्दी आचार्यकी वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है ? ॥३१॥ जो हेतु सहित बन्ध और मोक्षका विचार करनेवाली हैं ऐसी श्री वज्रसूरिकी उक्तियाँ धर्मशास्त्रोंका व्याख्यान करनेवाले गणधरोंकी उक्तियोंके समान प्रमाणरूप हैं ॥३२॥ जो मधुर है—माधुर्य गुणसे सहित है (पक्षमें अनुपम रूपसे युक्त है) और शीलालंकारधारिणी है—शीलरूपी अलंकारका वर्णन करनेवाली है (पक्षमें शीलरूपी अलंकारको धारण करनेवाली है) इस प्रकार सुलोचना—सुन्दर नेत्रोंवाली वनिताके समान, महासेन कविकी सुलोचना नामक कथाका किसने वर्णन नहीं किया है ? अर्थात् सभीने वर्णन किया है ॥३३॥ श्री रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्ति सूर्यकी मूर्तिके समान लोकमें अत्यन्त प्रिय है क्योंकि जिस प्रकार सूर्यकी मूर्ति कृतपद्मोदयोद्योता है अर्थात् कमलोंके विकास और उद्योत—प्रकाशको करनेवाली है उसी प्रकार रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्ति भी कृतपद्मोदयोद्योता अर्थात् श्री रामके अभ्युदयका प्रकाश करनेवाली है—पद्मपुराणकी रचनाके द्वारा श्री रामके अभ्युदयको निरूपित करनेवाली है और सूर्यकी मूर्ति जिस प्रकार प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है उसी प्रकार रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्ति भी प्रतिदिन परिवर्तित—अभ्यस्त होती रहती है ॥३४॥ जिस प्रकार उत्तम स्त्री अपने हस्त-मुख-पाद आदि अंगोंके द्वारा अपने आपके विषयमें मनुष्योंका गाढ़ अनुराग उत्पन्न करती रहती है उसी प्रकार* श्री वरांग चरितकी अर्थपूर्ण वाणी भी अपने समस्त छन्द-अलंकार रीति आदि अंगोंसे अपने आपके विषयमें किस मनुष्यके गाढ़ अनुरागको उत्पन्न नहीं करती ? ॥३५॥ श्री शान्त (शान्तिषेण) कविकी वक्रोक्ति रूप रचना, रमणीय उत्प्रेक्षाओंके बलसे, मनोहर अर्थके प्रकट होने पर किसके मनको अनुरक्त नहीं करती है ? ॥३६॥ जो गद्य-पद्य सम्बन्धी समस्त विशिष्ट उक्तियोंके विषयमें विशेष अर्थात् तिलकरूप हैं तथा जो विशेषत्रय (ग्रन्थविशेष) का निरूपण करनेवाले हैं ऐसे विशेषवादी

---

१. स्पष्टाः । २. रुद्रचन्द्रार्क क., म., घ., ङ. । इन्द्र ख., म. । ३. -णेक्षणाः म. । 'व्याकरणेशिनः' इत्यपि पाठः । ४. देवसंघस्य ख., म. । ५. प्रमाणभूताः । ६. गणधरदेवानाम् । ७. सुनेत्रा, सुलोचनानाम्नी कथा च । ८. पद्मं कमलं रामश्च । ९. पद्मपुराणकर्तुः रविषेणाचार्यस्य । १०. वराङ्गकथा अत्र वराङ्गचरितकर्तुः श्रीजटासिंहनन्दिनः कवेर्नाम नोल्लिखितम् । ११. वादिराजमुनिना पार्श्वनाथचरितेऽपि समुल्लेखः कृतः—"विशेषवादिगीर्गुम्फश्रवणासक्तबुद्धयः । अक्लेशादधिगच्छन्ति विशेषाभ्युदयं बुधाः ।"

* यहाँ कविने वराङ्गचरितके रचयिता जटासिंहनन्दीका उल्लेख न कर केवल ग्रन्थका ही उल्लेख किया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् । गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2] ॥३८॥
जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः । वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥३९॥
[3]यामिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः । स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्त्तिं संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥
वर्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः । प्रस्फुरन्ति [4]गिरीशान्तःस्फुटस्फटिकभित्तिषु ॥४१॥
निर्गुणाऽपि गुणान्[5] सद्भिः कर्णपूरीकृता कृतिः । बिभर्त्येव वधूवक्त्रैश्चूतस्येवाग्रमञ्जरी ॥४२॥
साधुरस्यति काव्यस्य दोषवत्तामयाचितः । पावकः शोधयत्येव कलधौतस्य कालिकाम् ॥४३॥
काव्यस्यान्तर्गतं लेपं कुतश्चिदपि सत्सभाः[6] । प्रक्षिपन्ति बहिः क्षिप्रं सागरस्येव [7]वीचयः ॥४४॥
मुक्ताफलतयाऽऽदानात् परिषद्भिः[8] कृतिः स्फुरेत् । जलात्मापि विशुद्धाभिस्तोयधेरिव शुक्तिभिः ॥४५॥
दुर्वचोविषदुष्टान्तर्मुखस्फुरितजिह्वकान् । निगृह्णन्ति [10]खलव्यालान् सन्तरेन्द्राः[11] स्वशक्तिभिः ॥४६॥

कविका विशेषवादीपना सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥३७॥ श्री कुमारसेन गुरुका वह यश इस संसारमें समुद्र पर्यन्त सर्वत्र विचरण करता है जो प्रभाचन्द्र नामक शिष्यके उदयसे उज्ज्वल है तथा जो अविजित रूप है—किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता है ॥३८॥ जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्षके लोगोंको जीत लिया है तथा जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं ऐसे श्री वीरसेन स्वामीकी निर्मल कीर्ति प्रकाशमान हो रही है ॥३९॥ अपरिमित ऐश्वर्यको धारण करनेवाले श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्रको जो गुणस्तुति है वही जिनसेन स्वामीकी कीर्तिको विस्तृत कर रही है ।

भावार्थ—श्री जिनसेन स्वामीने जो पार्श्वाभ्युदय काव्यकी रचना की है वही उनकी कीर्तिको विस्तृत कर रही है ॥४०॥ * वर्धमान पुराणरूपी उगते हुए सूर्यकी सूक्तिरूपी किरणें† विद्वज्जनोंके अन्तःकरणरूपी पर्वतोंकी मध्यवर्तिनी स्फटिककी दीवालोंपर देदीप्यमान हैं ॥४१॥ जिस प्रकार स्त्रियोंके मुखोंके द्वारा अपने कानोंमें धारण की हुई आमकी मंजरी निर्गुणा—डोरा-रहित होनेपर भी गुण सौन्दर्य विशेषको धारण करती है उसी प्रकार सत् पुरुषोंके द्वारा श्रवण की हुई निर्गुणा—गुण-रहित रचना भी गुणोंको धारण करती है । भावार्थ—यदि निर्गुण रचनाको भी सत् पुरुष श्रवण करते हैं तो वह गुण सहितके समान जान पड़ती है ॥४२॥

साधु पुरुष याचनाके बिना ही काव्यके दोषोंको दूर कर देता है सो ठीक ही है क्योंकि अग्नि स्वर्णकी कालिमाको दूर हटा ही देती है ॥४३॥ जिस प्रकार समुद्रकी लहरें भीतर पड़े हुए मैलको शीघ्र ही बाहर निकालकर फेंक देती हैं उसी प्रकार सत्पुरुषोंकी सभाएँ किसी कारण काव्यके भीतर आये हुए दोषको शीघ्र ही निकालकर दूर कर देती हैं ॥४४॥ जिस प्रकार समुद्रकी निर्मल सीपोंके द्वारा ग्रहण किया हुआ जल मोतीरूप हो जाता है उसी प्रकार दोषरहित सत्पुरुषोंकी सभाओंके द्वारा ग्रहण की हुई जड़ रचना भी उत्तम रचनाके समान देदीप्यमान होने लगती है ॥४५॥ दुर्वचनरूपी विषसे दूषित जिनके मुखोंके भीतर जिह्वाएँ लपलपा रही हैं ऐसे दुर्जनरूपी

१. श्रीकुमारसेनस्य शिष्यः प्रभाचन्द्र आसीत् येन चन्द्रोदय नाम शास्त्रं रचितम् । आदिपुराणे श्रीजिनसेनाचार्येणापि प्रभाचन्द्रस्य स्मरणं कृतम्—"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे । कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥" । २. न केनापि विजितम् । ३. यामिताभ्युदयपार्श्वं -ख. । यामिताभ्युदये पार्श्वं -म., पार्श्वे = पार्श्वनाथतीर्थङ्करदेवे । ४. पण्डितानां मनःस्फटिकभित्तिषु ! ५. गुणान् बिभर्ति इति संबन्धः । ६. पण्डितपरिषदः । ७. कल्लोलाः । ८. सभाभिः । ९. मुखे म. । १०. दुर्जननागान् । ११. उत्तमनृपाः । पक्षे उत्तमविषवैद्याः ।

* यहाँ भी वर्धमान पुराणके रचयिताका नाम प्रकट नहीं किया गया है ।

† गिरां वाणीनाम् ईशा गिरीशाः विद्वांसः, पक्षे गिरीणां पर्वतानामीशा गिरीशाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेजोबहुलमारूक्षं खलं कालं विदाहिनम्[२] । सन्तः काले कलध्वानाः शमयन्ति यथा घनाः ॥४७॥
साध्वसाधुसमाकारप्रवृत्तमबुधं बुधाः । वारयन्ति तमोराशिं रवीन्द्वोरिव रश्मयः ॥४८॥
इत्थं साधुसहायोऽहमनातङ्कमनुद्धतम् । देहं काव्यमयं लोके करोमि स्थिरमात्मनः ॥४९॥
बद्धमूलं भुवि ख्यातं बहुशाखाविभूषितम् । पृथुपुण्यफलं पूतं कल्पवृक्षसमं परम् ॥५०॥
अरिष्टनेमिनाथस्य चरितेनोज्ज्वलीकृतम् । पुराणं हरिवंशाख्यं ख्यापयामि मनोहरम् ॥५१॥ [युग्मम्]
द्युमणिद्योतितं[3] द्योत्यं द्योतयन्ति यथाणवः[४] । मणिप्रदीपखद्योतविद्युतोऽपि यथायथम् ॥५२॥
द्योतितस्य तथा तस्य पुराणस्य महात्मभिः । द्योतने वर्ततेऽत्यल्पो मादृशोऽप्यनुरूपतः ॥५३॥
विप्रकृष्टमपि ह्यर्थं सौकुमार्ययुतं मनः । [५]सूरिसूर्यकृतालोकं लोकचक्षुरिवेक्षते ॥५४॥
पञ्चधाप्रविभक्तार्थं[६] क्षेत्रादिप्रविभागतः । प्रमाणमागमाख्यं तत्प्रमाणपुरुषोदितम् ॥५५॥
तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थकरः स्वयम् । ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाख्यो गणाग्रणीः ॥५६॥
उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्त्तारो बहवः क्रमात् । प्रमाणं तेऽपि नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः[७] ॥५७॥
त्रयः केवलिनः पञ्च ते चतुर्दशपूर्विणः । क्रमेणैकादश प्राज्ञा विज्ञेया दशपूर्विणः ॥५८॥
पञ्चैवैकादशाङ्गानां धारकाः परिकीर्तिताः । आचाराङ्गस्य चत्वारः[८] पञ्चैति युगस्थितिः ॥५९॥

साँपोंको सज्जनरूपी विषवैद्य अपनी शक्तिसे शीघ्र ही वश कर लेते हैं ॥४६॥ जिस प्रकार मधुर गर्जना करनेवाले मेघ, अत्यधिक धूलिसे युक्त, रूक्ष और तीव्र दाह उत्पन्न करनेवाले ग्रीष्मकालको समय आनेपर शान्त कर देते हैं उसी प्रकार मधुर भाषण करनेवाले सत्पुरुष, अत्यधिक अपराध करनेवाले, कठोर प्रकृति एवं सन्ताप उत्पन्न करनेवाले दुष्ट पुरुषको समय आनेपर शान्त कर लेते हैं ॥४७॥ जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें, अच्छे और बुरे पदार्थोंको एकाकार करनेमें प्रवृत्त अन्धकारकी राशिको दूर कर देती हैं उसी प्रकार विद्वान् मनुष्य, सज्जन और दुर्जनके साथ समान प्रवृत्ति करनेमें तत्पर मूर्ख मनुष्यको दूर कर देती हैं ॥४८॥ इस प्रकार साधुओंकी सहायता पाकर मैं रोग और अभिमानसे रहित अपने इस काव्यरूपी शरीरको संसारमें स्थायी करता हूँ ॥४९॥ अब मैं उस हरिवंश पुराणको कहता हूँ जो बद्धमूल है—प्रारम्भिक इतिहाससे सहित (पक्षमें जड़से युक्त है), पृथिवीमें अत्यन्त प्रसिद्ध है, अनेक शाखाओं—कथाओं-उपकथाओंसे विभूषित है, विशाल पुण्यरूपी फलसे युक्त है, पवित्र है, कल्पवृक्षके समान है, उत्कृष्ट है, श्री नेमिनाथ भगवान्‌के चरित्रसे उज्ज्वल है, और मनको हरण करनेवाला है ॥५०-५१॥ जिस प्रकार सूर्यके द्वारा प्रकाशित पदार्थको, अत्यन्त तुच्छ तेजके धारक मणि, दीपक, जुगनू तथा बिजली आदि भी यथायोग्य—अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े विद्वान् महात्माओंके द्वारा प्रकाशित इस पुराणके प्रकाशित करनेमें मेरे जैसा अल्प शक्तिका धारक पुरुष भी अपनी सामर्थ्यके अनुसार प्रवृत्त हो रहा है ॥५२-५३॥ जिस प्रकार सूर्यका आलोक पाकर मनुष्यका नेत्र दूरवर्ती पदार्थको भी देख लेता है उसी प्रकार पूर्वाचार्यरूपी सूर्यका आलोक पाकर मेरा सुकुमार मन अत्यन्त दूरवर्ती—कालान्तरित पदार्थको भी देखनेमें समर्थ है ॥५४॥ जिसके प्रतिपादनीय पदार्थ-क्षेत्र, द्रव्य, काल, भव और भावके भेदसे पाँच भेदोंमें विभक्त हैं तथा प्रामाणिक पुरुषों—आप्तजनोंने जिसका निरूपण किया है ऐसा आगम नामका प्रमाण, प्रसिद्ध प्रमाण है ॥५५॥ इस तन्त्रके मूलकर्ता स्वयं श्री वर्धमान तीर्थंकर हैं, उनके बाद उत्तर तन्त्रके कर्ता श्री गौतम गणधर हैं, और उनके अनन्तर उत्तरोत्तर तन्त्रके कर्ता क्रमसे अनेक आचार्य हुए हैं सो वे सभी सर्वज्ञके कथनका अनुवाद करनेवाले होनेसे हमारे लिए प्रमाणभूत हैं ॥५६-५७॥ इस

१. पापप्रचुरं पक्षे धूलिबहुलम् । २. दाहोत्पादकम् उष्णकालम् । ३. द्योतनं म. । ४. लघवः । ५. आचार्यरविप्रकटीकृतम् । ६. द्रव्यक्षेत्रकालादिभिरन्तरितार्थं मूर्तामूर्तम् । ७. सर्वज्ञवाणीप्रकाशकाः । ८. केवलिनः चतुर्दशपूर्वधारिणः, दशपूर्वधारिणः, एकादशाङ्गधारिणः, एकाङ्गधारिणः एते पञ्चधा मुनयः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमानजिनेन्द्राऽऽस्यादिन्द्रभूतिः श्रुतं दधे । ततः सुधर्मस्तस्मात्तु जम्बूनामान्त्यकेवली ॥६०॥
तस्माद्विष्णुः क्रमात् तस्मान्नन्दिमित्रोऽपराजितः । ततो गोवर्धनो दध्रे भद्रबाहुः श्रुतं ततः ॥६१॥
दशपूर्वी विशाखाख्यः प्रोष्ठिलः क्षत्रियो जयः । नागसिद्धार्थनामानौ धृतिषेणगुरुस्ततः ॥६२॥
विजयो बुद्धिलाभाख्यो गङ्गदेवाभिधस्ततः । दशपूर्वधरोऽन्त्यस्तु धर्मसेनमुनीश्वरः ॥६३॥
नक्षत्राख्यो यशःपालः पाण्डुरेकादशाङ्गधृक्[२] । ध्रुवसेनमुनिस्तस्मात् कंसाचार्यस्तु पञ्चमः ॥६४॥
सुभद्रोऽतो यशोभद्रो यशोबाहुरनन्तरः । लोहाचार्यस्तुरीयोऽभूदाचाराङ्गधृतां[3] ततः ॥६५॥
पूर्वाचार्येभ्य एतेभ्यः परेभ्यश्च वितन्वतः । एकदेशागमस्यायमेकदेशोऽपदिश्यते ॥६६॥
अर्थतः पूर्व एवायमपूर्वो ग्रन्थतोऽल्पतः । शास्त्रविस्तरभीरुभ्यः क्रियते सारसंग्रहः ॥६७॥
मनोवाक्कायशुद्धस्य भव्यस्याभ्यस्यतः सदा । श्रेयस्करपुराणार्थो वक्तुः श्रोतुश्च जायते ॥६८॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ । अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः ॥६९॥
यतस्ततः पुराणार्थः पुरुषार्थकरः परः । वक्तव्यो देशकालज्ञैः श्रोतव्यस्त्यक्तमत्सरैः ॥७०॥
लोकसंस्थानमत्रादौ राजवंशोद्भवस्ततः । हरिवंशावतारोऽतो वसुदेवविचेष्टितम् ॥७१॥
चरितं नेमिनाथस्य द्वारवत्या[4] निवेशनम् । युद्धवर्णननिर्वाणे पुराणेऽष्टौ शुभा इमे ॥७२॥
संग्रहादधिकारैः स्वैः संगृहीतैरलंकृताः । अधिकाराः सूत्रिताः पौक्सूरिसूत्रानुसारिभिः[5] ॥७३॥

पंचमकालमें तीन केवली, पाँच चौदह पूर्वके ज्ञाता, पाँच ग्यारह अंगोंके धारक, ग्यारह दशपूर्वके जानकार और चार आचारांगके ज्ञाता इस तरह पाँच प्रकारके मुनि हुए हैं ॥५८-५९॥

श्री वर्धमान जिनेन्द्रके मुखसे श्री इन्द्रभूति (गौतम) गणधरने श्रुतको धारण किया उनसे सुधर्माचार्यने और उनसे जम्बू नामक अन्तिम केवलीने ॥६०॥ उनके बाद क्रमसे १ विष्णु, २ नन्दिमित्र, ३ अपराजित, ४ गोवर्धन, और ५ भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए ॥६१॥ इनके बाद ग्यारह अंग और दशपूर्वके जाननेवाले निम्नलिखित ग्यारह मुनि हुए—१ विशाख, २ प्रोष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जय, ५ नाग, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गंगदेव, और ११ धर्मसेन ॥६२-६३॥ इनके अनन्तर १ नक्षत्र, २ यशःपाल, ३ पाण्डु, ४ ध्रुवसेन और ५ कंसाचार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंगके ज्ञाता हुए ॥६४॥ तदनन्तर १ सुभद्र, २ यशोभद्र, ३ यशोबाहु और लोहार्य ये चार मुनि आचारांगके धारक हुए ॥६५॥ इस प्रकार इन तथा अन्य आचार्योंसे जो आगमका एकदेश विस्तारको प्राप्त हुआ था उसीका यह एकदेश यहाँ कहा जाता है ॥६६॥ यह ग्रन्थ अर्थकी अपेक्षा पूर्व ही है अर्थात् इस ग्रन्थमें जो वर्णन किया गया है वह पूर्वाचार्योंसे प्रसिद्ध ही है परन्तु शास्त्रके विस्तारसे डरनेवाले लोगोंके लिए इसमें संक्षेपसे सारभूत पदार्थोंका संग्रह किया गया है इसलिए इस रचनाकी अपेक्षा यह अपूर्व अर्थात् नवीन है ॥६७॥ जो भव्यजीव मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक सदा इसका अभ्यास करते हुए कथन अथवा श्रवण करेंगे उनके लिए यह पुराण कल्याण करनेवाला होगा ॥६८॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका कहा गया है सो उन दोनों प्रकारके तपोंमें अज्ञानका विरोधी होनेसे स्वाध्याय परम तप कहा गया है ॥६९॥ यतश्च इस पुराणका अर्थ उत्तम पुरुषार्थोंका करनेवाला है इसलिए देश-कालके ज्ञाता मनुष्योंके लिए मात्सर्यभाव छोड़कर इसका कथन तथा श्रवण करना चाहिए ॥७०॥

इस पुराणमें सर्वप्रथम लोकके आकारका वर्णन, फिर राजवंशोंकी उत्पत्ति, तदनन्तर हरिवंशका अवतार, फिर वसुदेवकी चेष्टाओंका कथन, तदनन्तर नेमिनाथका चरित, द्वारिकाका निर्माण, युद्धका वर्णन और निर्वाण—ये आठ शुभ अधिकार कहे गये हैं ॥७१-७२॥ ये सभी

१. यशःपालपाण्डु-ख., म. । २. धृग् म. । ३. धृतस्ततः म. । ४. द्वारावत्या म. । ५. पूर्वाचार्यकृतशास्त्रानुगामिभिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहेण विभागेन विस्तारेण च वस्तुनः । शासने देशना यस्माद् विभागः कथ्यते ततः ॥७४॥
वर्धमानजिनेन्द्रस्य धर्मतीर्थप्रवर्तनम् । गणभृद्गणसंख्यानं भूयो राजगृहागमम् ॥७५॥
[1]गौतमश्रेणिकप्रश्ने क्षेत्रकालनिरूपणम् । ततः कुलकरोत्पत्तिमुत्पत्तिं वृषभस्य च ॥७६॥
कीर्त्तनं क्षत्रियादीनां हरिवंशप्रवर्त्तनम् । मुनिसुव्रतनाथस्य तत्र वंशे समुद्भवम् ॥७७॥
दक्षप्रजापतेर्वृत्तं वसुवृत्तान्तमेव च । जननं वृष्णिपुत्राणां सुप्रतिष्ठस्य केवलम् ॥७८॥
वृष्णिदीक्षां तथा राज्यं समुद्रविजयस्य तु । वसुदेवस्य सौभाग्यमुपायेन च निर्गमम् ॥७९॥
लाभं कन्यकयोस्तस्य सोमाविजयसेनयोः । वन्यहस्तिवशीकारं श्यामया सह संगमम् ॥८०॥
अङ्गारकेण हरणं चम्पायां च विमोचनम् । लाभं गन्धर्वसेनाया मुनेर्विष्णोर्विचेष्टितम् ॥८१॥
चरितं चारुदत्तस्य तस्यैव मुनिदर्शनम् । चारुनीलयशोलाभं सोमश्रीलाभमेव च ॥८२॥
वेदोत्पत्तिमुपाख्यानं सौदासस्य नृपस्य तु । कपिलाकन्यकालाभं पद्मावत्युपलम्भनम् ॥८३॥
संप्राप्तिं चारुहासिन्या रत्नवत्यास्ततोऽपि च । सोमदत्तसुतालाभं वेगवत्याश्च संगमम् ॥८४॥
लाभं मदनवेगाया बालचन्द्रावलोकनम् । प्रियङ्गुसुन्दरीलाभं बन्धुमत्या समन्वितम् ॥८५॥
प्रभावत्याः परिप्राप्तिं रोहिण्याश्च स्वयंवरम् । संग्रामे विजयं तस्य भ्रातृभिः सह संगमम् ॥८६॥
बलदेवसमुत्पत्तिं कंसोपाख्यानमेव च । जरासन्धस्य वचनात् [2]सिंहस्यन्दनबन्धनम् ॥८७॥
तथा जीवद्यशोलाभं कंसस्य पितृबन्धनम् । देवक्या सह संयोगं ततोऽप्यानकदुन्दुभेः ॥८८॥

अधिकार संग्रहकी भावनासे संगृहीत अपने अवान्तर अधिकारोंसे अलंकृत हैं तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित शास्त्रोंका अनुसरण करनेवाले मुनियोंके द्वारा गुम्फित हैं ॥७३॥ वस्तुका निरूपण करनेके लिए दो प्रकारकी देशना पायी जाती है एक विभाग रूपसे और दूसरी विस्तार रूप से। इनमें-से यहाँ विभागरूपीय देशनाका निरूपण किया जाता है ॥७४॥ प्रथम ही इस ग्रन्थमें श्री वर्धमान जिनेन्द्रकी धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका वर्णन है फिर गणधरोंकी संख्या और भगवान्‌के राजगृहमें आगमनका निरूपण है ॥७५॥ तदनन्तर श्रेणिक राजाका गौतम स्वामीसे प्रश्न करना, तदनन्तर क्षेत्र, कालका निरूपण, फिर कुलकरोंकी उत्पत्ति और भगवान् ऋषभदेवकी उत्पत्तिका वर्णन है ॥७६॥ तत्पश्चात् क्षत्रिय आदि वर्णोंका निरूपण, हरिवंशकी उत्पत्तिका कथन और उसी हरिवंशमें भगवान् मुनिसुव्रतके जन्म लेनेका निरूपण है ॥७७॥ तदनन्तर दक्ष प्रजापतिका उल्लेख, वसुका वृत्तान्त, अन्धकवृष्णिके दशकुमारोंका जन्म, सुप्रतिष्ठ मुनिके केवलज्ञानकी उत्पत्ति, राजा अन्धकवृष्णिकी दीक्षा, समुद्रविजयका राज्य, वसुदेवका सौभाग्य, उपायपूर्वक वसुदेवका बाहर निकलना, वहाँ उन्हें सोमा और विजयसेना कन्याओंका लाभ होना, जंगली हाथीका वश करना, श्यामाके साथ वसुदेवका संगम, अंगारक विद्याधरके द्वारा वसुदेवका हरण, चम्पा नगरीमें वसुदेवका छोड़ना, वहाँ गन्धर्वसेनाका लाभ, विष्णुकुमार मुनिका चरित, सेठ चारुदत्तका चरित, उसीको मुनिका दर्शन होना, तथा वसुदेवको सुन्दरी नीलयशा और सोमश्रीका लाभ होनेका वर्णन है ॥७८-८२॥ तदनन्तर वेदोंकी उत्पत्ति, राजा सौदासकी कथा, वसुदेवको कपिला कन्या और पद्मावतीका लाभ, चारुहासिनी और रत्नवतीकी प्राप्ति, सोमदत्तकी पुत्रीका लाभ, वेगवतीका समागम, मदनवेगाका लाभ, बालचन्द्राका अवलोकन, प्रियंसुन्दरीका लाभ, बन्धुमतीका समागम, प्रभावतीकी प्राप्ति, रोहिणीका स्वयंवर, संग्राममें वसुदेवकी जीत और उनका भाइयोंके साथ समागम होनेका कथन है ॥८३-८६॥ तत्पश्चात् बलदेवकी उत्पत्ति, कंसका व्याख्यान, जरासन्धके कहनेसे राजा सिंहरथका बाँधना, कंसको जीवद्यशाकी प्राप्ति होना, पिता उग्रसेनको बन्धनमें डालना, देवकीके साथ वसुदेवका समागम होना, 'देवकीके पुत्रके हाथसे मेरा मरण है'

---

१. गौतमश्रेणिकप्रश्नं म., ख. । २. सिंहरथबन्धनम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्यातिमुक्तकादेशं कंससंक्षोभकारणम् । प्रार्थनं वसुदेवस्य देवकीप्रसवं प्रति ॥८९॥
[1]आनकेन मुनेः प्रश्नमष्टपुत्रभवान्तरम् । चरितं नेमिनाथस्य पापप्रमथनं तथा ॥९०॥
उत्पत्तिं [2]वासुदेवस्य गोकुले बालचेष्टितम् । ग्रहणं सर्वशास्त्राणां बलदेवोपदेशतः ॥९१॥
चापरत्नसमारोपं कालिन्द्यां नागनाथनम् । वाजिवारणचाणूरमल्लकंसवधं ततः ॥९२॥
उग्रसेनस्य राज्यं च सत्यभामाकरग्रहम् । [3]सर्वज्ञातिसमेतस्य प्रीतिं च परमां हरेः ॥९३॥
जीवद्यशोविलापं च जरासन्धरुषं ततः । प्रेषितस्य रणे कालयवनस्य पराभवम् ॥९४॥
तथाऽपराजितस्यापि मारणं हरिणा रणे । शौरीणां परमं तोषमकुतोभयतः स्थितिम् ॥९५॥
शिवादेव्याः सुतोत्पत्तौ षोडशस्वप्नदर्शनम् । फलानां कथनं पत्या नेमिनाथसमुद्भवम् ॥९६॥
मेरौ जन्माभिषेकं च बालक्रीडामहोदयम् । जरासन्धातिसन्धानं [4]शौरिसागरसंश्रयम् ॥९७॥
देवताकृतमायातो जरासन्धनिवर्तनम् । विष्णोः [5]साष्टमभक्तस्य दर्भशय्याविरोहणम् ॥९८॥
गौतमेनेन्द्रवचनात् सागरस्यापसारणम् । कुबेरेण क्षणात्तत्र द्वारावत्या निवेशनम् ॥९९॥
रुक्मिणीहरणं [6]भास्वद्भानुप्रद्युम्नसम्भवम् । [7]रौक्मिणेयहृतिं पूर्ववैरिणा धूमकेतुना ॥१००॥
विजयार्द्धस्थितिं पित्रोर्नारदेनेष्टसूचनम् । प्राप्तिं षोडशलाभानां प्रज्ञप्तेरुपलम्भनम् ॥१०१॥
कालसंवरसङ्ग्रामं पितृमातृसमागमम् । शम्बोत्पत्तिं शिशुक्रीडां प्रश्नं चापि पितुःपितुः ॥१०२॥
तेन [8]स्वहिण्डनाख्यानं कुमाराणां च कीर्त्तनम् । वार्तोपलम्भाद् दूतस्य प्रेषणं प्रतिशत्रुणा ॥१०३॥

ऐसा श्री सत्यवादी अतिमुक्तक मुनिका आदेश सुन कंसका व्याकुल होना, 'देवकीका प्रसव हमारे घर ही हो' इस प्रकार कंसकी वसुदेवसे प्रार्थना करना, वसुदेवका अतिमुक्तक मुनिसे प्रश्न, देवकीके आठ पुत्रोंके भवान्तर पूछना और भगवान् नेमिनाथके पापापहारी चरितका निरूपण है ॥८७-९०॥ तदनन्तर श्रीकृष्णकी उत्पत्ति, गोकुलमें उनकी बालचेष्टाएँ, बलदेवके उपदेशसे समस्त शास्त्रोंका ग्रहण, धनुष रत्नका चढ़ाना, यमुनामें नागको नाथना, घोड़ा, हाथी, चाणूरमल्ल और कंसका वध, उग्रसेनका राज्य, सत्यभामाका पाणिग्रहण, सर्वकुटुम्बियों सहित श्रीकृष्णका परम प्रीतिका अनुभव करना, कंसकी स्त्री जीवद्यशाका विलाप, जरासन्धका क्रोध, रणमें भेजे हुए कालयवनका पराजय, श्रीकृष्णके द्वारा युद्धमें अपराजितका मारा जाना, यादवोंका परमहर्ष और निर्भयताके साथ रहना, पुत्रोत्पत्तिके निमित्त शिवादेवीके सोलह स्वप्न देखना, पतिके द्वारा स्वप्नोंका फल कहा जाना, नेमिनाथ भगवान्का जन्म, सुमेरु पर्वतपर उनका जन्माभिषेक होना, भगवान्की बालक्रीड़ा और महान् अभ्युदयका विस्तार, जरासंधका पीछा करना, यादवोंका सागरका आश्रय करना, देवीके द्वारा की हुई मायासे जरासन्धका लौटना, तीन दिनके उपवासका नियम लेकर कृष्णका डाभकी शय्यापर आरूढ़ होना, इन्द्रकी आज्ञासे गौतम नामक देवके द्वारा समुद्रका संकोच करना और कुबेरके द्वारा वहाँ क्षणभरमें द्वारावती (द्वारिका) नगरीकी रचना होना इन सबका वर्णन है ॥९१-९९॥ तदनन्तर रुक्मिणीका हरा जाना, देदीप्यमान भानुकुमार और प्रद्युम्नकुमारका जन्म होना, रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नका पूर्वभवके वैरी धूमकेतु असुरके द्वारा हरण होना, विजयार्धमें प्रद्युम्नकी स्थिति, नारदके द्वारा प्रद्युम्नके माता-पिताको इष्ट समाचारकी सूचना देना, प्रद्युम्नको सोलह लाभों तथा प्रज्ञप्ति विद्याकी प्राप्ति होना, राजा कालसंवरके साथ प्रद्युम्नका युद्ध, मातापिताका मिलाप, शम्बकुमारकी उत्पत्ति, प्रद्युम्नकी बालक्रीड़ा, वसुदेवका प्रद्युम्नसे प्रश्न, प्रद्युम्न द्वारा अपने भ्रमणका वृत्तान्त, सकल यादव कुमारोंका कीर्तन, समाचार पाकर प्रति शत्रु जरासन्धका कृष्णके प्रति दूत भेजना, यादवोंकी

१. वसुदेवेन । २. कृष्णस्य । ३. सर्वकुटुम्बयुक्तस्य । ४. यादवानां समुद्राश्रयम् । ५. उपवासत्रययुक्तस्य । ६. शोभमानभानुकुमारप्रद्युम्नोत्पत्तिम् । ७. प्रद्युम्नस्य हरणम् । ८. स्वकीयपरिभ्रमणाख्यानम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यादवानां सभाक्षोभं सेनयोरुपसर्पणम् । विजयार्धे [1]खगक्षोभं वसुदेवपराक्रमम् ॥१०४॥
अक्षौहिणीप्रमाणं च रथिनोऽतिरथांस्तथा । महासमरथान् सर्वान् नृपानर्धरथानपि ॥१०५॥
चक्रव्यूहव्यपोहार्थं गरुडव्यूहकल्पनम् । सिंहगारुडविद्यासु रथासिं बलकृष्णयोः ॥१०६॥
नेमेः सारथिरूपेण मातुलेरुपसर्पणम् । नेम्यनावृष्णिपार्थैश्च चक्रव्यूहस्य भेदनम् ॥१०७॥
कदनं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रसुतैः सह । सेनापत्योर्महायुद्धं कृष्णमागधयोरतः ॥१०८॥
चक्रोत्पत्तिं तदा विष्णोर्जरासन्धवधस्ततः । विजयं वसुदेवस्य खेचरीभिर्निवेदितम् ॥१०९॥
कृष्णकोटिशिलोत्क्षेपं वसुदेवागमं ततः । ततो दिग्विजयं दिव्यं रत्नानां च समुद्भवम् ॥११०॥
भ्रात्रोः राज्याभिषेकं च द्रौपदीहरणं सह । पाण्डवैर्धातकीखण्डाद् विष्णुनालयनं पुनः ॥१११॥
नेमिसामर्थ्यविज्ञानं मज्जनं तदनन्तरम् । पूरणं [2]पाञ्चजन्यस्य विवाहारम्भसंभ्रमम् ॥११२॥
मृगमोक्षविधानं च दीक्षणं केवलोदयम् । देवागमविभूतिं च समवस्थानकीर्तनम् ॥११३॥
राजीमत्यास्तपःप्राप्तिं द्विधा धर्मोपदेशनम् । धर्मतीर्थविहारं च [3]षट्सहोदरसंयमम् ॥११४॥
ऊर्जयन्तनगारोहं देवकीप्रश्नसंकथाम् । रुक्मिणीसत्यभामादिमहादेवीभवान्तरम् ॥११५॥
कुमारस्य गजाख्यस्य संभवं तस्य दीक्षणम् । [4]वसुदेवेतरोद्विग्ननवभ्रातृतपस्यनम् ॥११६॥
त्रिषष्टिपुरुषोद्भूतिं सजिनान्तरविस्तरम् । बलदेवपरिप्रश्नं ततः प्रद्युम्नदीक्षणम् ॥११७॥
रुक्मिण्यादिहरिस्त्रीणां दुहितॄणां च संयमम् । द्वीपायनमुनेः क्रोधाद् द्वारवत्या विनाशनम् ॥११८॥

सभामें क्षोभ उत्पन्न होना, दोनों सेनाओंका पास-पास आना, विजयार्ध पर्वतके विद्याधरोंमें क्षोभ उत्पन्न होना, श्री वसुदेवका पराक्रम, अक्षौहिणी दलका प्रमाण, रथी, अतिरथ, समरथ और अर्धरथ राजाओंका निरूपण, जरासन्धके चक्रव्यूहको नष्ट करनेके लिए श्रीकृष्णकी सेनामें गरुड़व्यूह-की रचना होना, बलदेवको सिंहवाहिनी और कृष्णको गरुड़वाहिनी विद्याकी प्राप्ति होना, नेमिके सारथिके रूपमें उनके मामाके पुत्रका आगमन, नेमि, अनावृष्णि तथा अर्जुनके द्वारा चक्रव्यूहका भेदा जाना, पाण्डवोंका कौरवोंके साथ युद्ध, दोनों सेनाओंके अधिपति कृष्ण तथा जरासन्धके महायुद्धका वर्णन है ॥१००-१०८॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके चक्ररत्नकी उत्पत्ति होना, जरासन्धका मारा जाना, विद्याधरियोंके द्वारा वसुदेवके लिए श्रीकृष्णकी विजयका समाचार सुनाना, कृष्णका कोटिशिलाका उठाना, वसुदेवका आगमन, श्रीकृष्णका दिग्विजय, दिव्यरत्नोंकी उत्पत्ति, दोनों भाइयोंका राज्याभिषेक, द्रौपदीका हरण, श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवोंके साथ जाकर धातकीखण्डसे द्रौपदीका पुनः वापस लाना, श्रीकृष्णको नेमिनाथकी सामर्थ्यका ज्ञान होना, नेमिनाथकी जलक्रीड़ा, पांचजन्य शंखका बजाना, नेमिनाथके विवाहका आरम्भ, पशुओंका छुड़ाना, दीक्षा लेना, केवलज्ञान उत्पन्न होना, ज्ञानकल्याणकके लिए देवोंका आगमन, समवसरणका निर्माण, राजीमतीका तप धारण करना, सागार और अनगारके भेदसे दो प्रकारके धर्मका उपदेश देना, धर्म-तीर्थोंमें विहार, श्रीकृष्णके छह भाइयोंका संयम धारण करना, नेमिनाथका गिरिनार पर्वतपर आरूढ़ होना, देवकीके प्रश्नका उत्तर देना, रुक्मिणी तथा सत्यभामा आदि आठ महादेवियोंके भवान्तरोंका निरूपण, गजकुमारका जन्म, उनकी दीक्षा और वसुदेवसे भिन्न नौ भाइयोंका संसारसे उद्विग्न हो तपश्चरण करनेका निरूपण है ॥१०९-११६॥

तदनन्तर भगवान् नेमिनाथके द्वारा त्रेसठ शलाकापुरुषोंकी उत्पत्तिका वर्णन, तीर्थंकरोंके अन्तरका विस्तार, बलदेवका प्रश्न, प्रद्युम्नकी दीक्षा, रुक्मिणी आदि कृष्णकी स्त्रियों और

१. खगक्षोभो क., ख., ग., घ., ङ., म., । २. एतन्नामधेयस्य शङ्खविशेषस्य । ३. विष्णोः युगलत्वरूप-षट्सहोदरसंयमम् । ४. वसुदेवं विहाय समुद्रविजयादीनां नवानां भ्रातॄणां तपस्यनं वैराग्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामकेशवयोः [1]प्लुष्टबन्धुपुत्रकलत्रयोः । निर्गमं दुर्गमं शोकं कौशाम्बवनसेवनम् ॥११९॥
[2]शौरिरक्षणमुक्तस्य प्रमादाद्दैवयोगतः । जरत्कुमारमुक्तेन शरेण हननं हरेः ॥१२०॥
ततो घातकशोकं च शोकं रामस्य दुस्तरम् । सिद्धार्थबोधितस्यास्य निर्विण्णस्य तपस्यनम् ॥१२१॥
ब्रह्मलोकोपपादं च [3]कौन्तेयानां तपोवनम् । ऊर्जयन्तगिरावन्ते नेमिनाथस्य निर्वृतिम् ॥१२२॥
उपसर्गजयं पञ्चपाण्डवानां महात्मनाम् । दीक्षां जरत्कुमारस्य सन्तानं तस्य चायतम् ॥१२३॥
हरिवंशप्रदीपस्य जितशत्रोश्च केवलम् । पुरप्रवेशमन्ते च श्रेणिकस्य पृथुश्रियः ॥१२४॥
वर्धमानजिनेशस्य निर्वाणं गणिनां तथा । देवलोककृतं वक्ष्ये प्रदीपमहिमोदयम् ॥१२५॥
हरिवंशपुराणस्य विभागोऽयं ससंग्रहः । श्रूयतां विस्तरः सिद्धयै भव्यैः सभ्यैरतः परम् ॥१२६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एकस्यापि महानरस्य चरितं पापस्य विध्वंसनं, सर्वेषां जिनचक्रवर्त्तिहलिनामेतद्बुधाः किं पुनः ।
वार्येकस्य महाघनस्य महतस्तापस्य विच्छेदकं, लोकव्यापिघनाघनौघनिपतद्धारासहस्रं न किम् ॥१२७॥
मुक्त्वा लोकपुराणतिर्यगपथभ्रान्तिं विवेकी जनो, गृह्णातु प्रगुणां पुराणपदवीमेतां हितप्रापिणीम् ।
दिग्मूढं विरहय्य मोहबहुलं संशुद्धदृष्टिः परो विस्तीर्णे, जिनभास्करप्रकटिते मार्गे भृगोः कः पतेत् ॥१२८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ संग्रहविभागवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

पुत्रियोंका संयम ग्रहण करना, द्वीपायन मुनिके क्रोधसे द्वारिका पुरीका विनाश, जिनके भाई, पुत्र तथा स्त्रियाँ जल गयी थीं ऐसे बलराम और कृष्णका द्वारिकासे निकलना, असह्य शोक, कौशाम्बीके वनमें दोनों भाइयोंका जाना, बलभद्रकी रक्षासे रहित श्रीकृष्णका भाग्यवश जरत्कुमारके द्वारा छोड़े हुए बाणसे प्रमादपूर्वक मारा जाना, तदनन्तर मारनेवाले जरत्कुमारका शोक करना, बलरामका दुस्तर शोक, सिद्धार्थ देवके द्वारा प्रतिबोधित होनेपर बलदेवका विरक्त हो दीक्षा धारण करना, ब्रह्मलोकमें जन्म होना, पाण्डवोंका तपके लिए वनको जाना, गिरिनार पर्वतपर नेमिनाथका निर्वाण होना, महान् आत्माके धारक पाँच पाण्डवोंका उपसर्ग जीतना, जरत्कुमारकी दीक्षा, उसकी विस्तृत सन्तान, हरिवंशके दीपक राजा जितशत्रुको केवलज्ञान, विशाल लक्ष्मीके धारक राजा श्रेणिकका अन्तमें नगरप्रवेश, श्री वर्धमान जिनेन्द्र और उनके गणधरोंका निर्वाण और देवोंके द्वारा किया हुआ दीपमालिका महोत्सवका वर्णन है। श्री जिनसेन स्वामी कहते हैं कि इस पुराणमें इन सबका मैं वर्णन करूँगा ॥११७-१२५॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि इस प्रकार हरिवंशपुराणका यह संग्रह सहित अवान्तर विभाग दिखा दिया। अब इसके आगे भव्य सभासद् आत्म-सिद्धिके लिए इसके विस्तारका वर्णन श्रवण करें ॥१२६॥ हे विद्वज्जनो! जब एक ही महापुरुषका चरित्र पापका नाश करनेवाला है तब समस्त तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और बलभद्रोंके चरितका निरूपण करनेवाले इस ग्रन्थकी महिमाका क्या कहना है? सो ठीक ही है क्योंकि जब एक ही महामेघका जल अत्यधिक सन्तापको नष्ट करनेवाला है तब लोकमें सर्वत्र व्याप्त मेघ समूहसे पड़नेवाली हजारों जलधाराओंकी महिमाका क्या कहना है? ॥१२७॥ विवेकीजन, लौकिक पुराणरूपी टेढ़े-मेढ़े कुपथके भ्रमणको छोड़, सीधे तथा हित प्राप्त करनेवाले इस पुराणरूपी मार्गको ग्रहण करें। मोहसे भरे हुए दिङ्मूढ मनुष्यको छोड़ अत्यन्त शुद्ध दृष्टिको धारण करनेवाला ऐसा कौन मनुष्य है जो जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्यके द्वारा लम्बे-चौड़े मार्गके प्रकाशित होनेपर भी भृगुपात करेगा—किसी पहाड़की चट्टानसे नीचे गिरेगा? अर्थात् कोई नहीं ॥१२८॥

इस प्रकार जिसमें भगवान् अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे श्री जिनसेनाचार्य विरचित हरिवंशपुराणमें 'संग्रह विभाग वर्णन' नामका प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

१. दग्धबन्धुपुत्रस्त्रीकयोः । २. बलभद्ररक्षारहितस्य । ३. पाण्डवानाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयः सर्गः

अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते । विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रिया ॥१॥
प्रतिवर्षविनिष्पन्नधान्यगोधनसंचितः । सर्वोपसर्गनिर्मुक्तः प्रजासौस्थित्यसुन्दरः ॥२॥
सखेटखर्वटाटोपिमटम्बपुटभेदनैः । द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैर्विभूषितः[1] ॥३॥
किं तत्र वर्ण्यते यत्र स्वयं क्षत्रियनायकाः । इक्ष्वाकवः[2] सुखक्षेत्रे संभवन्ति दिवश्च्युताः ॥४॥
तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डलम् । सुखाम्भःकुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥५॥
यत्र प्रासादसंघातैः शङ्खशुभ्रैर्नभस्तलम् । धवलीकृतमाभाति शरन्मेघैरिवोन्नतैः ॥६॥
चन्द्रकान्तकरस्पर्शाच्चन्द्रकान्तशिलाः निशि । द्रवन्ति यद्गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः ॥७॥
सूर्यकान्तकरासंगात् सूर्यकान्ताग्रकोटयः । स्फुरन्ति[3] यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषितः ॥८॥
पद्मरागमणिस्फीतिर्[4]यत्र प्रासादमूर्धनि । इनपादपरिष्वङ्गादङ्गनेवातिरज्यते[5] ॥९॥
मुक्तामरकतालोकैर्वज्रवैडूर्यविभ्रमैः । एकमेवं सदा धत्ते यस्समस्ताकरश्रियम् ॥१०॥

अथानन्तर इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें लक्ष्मीसे स्वर्गखण्डकी तुलना करनेवाला, विदेह इस नामसे प्रसिद्ध एक बड़ा विस्तृत देश है ॥१॥ यह देश प्रतिवर्ष उत्पन्न होनेवाले धान्य तथा गोधनसे संचित है, सब प्रकारके उपसर्गोंमें रहित है, प्रजाकी सुखपूर्ण स्थितिसे सुन्दर है और खेट, खर्वट, मटम्ब, पुटभेदन, द्रोणामुख, सुवर्ण, चाँदी आदिकी खानों, खेत, ग्राम और घोषोंसे विभूषित है। भावार्थ—जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हो उसे बुद्धिमान् पुरुष खेट कहते हैं, जो केवल पर्वतसे घिरा हो उसे खर्वट कहते हैं। जो पाँच सौ गाँवोंसे घिरा हो उसे पण्डितजन मटम्ब मानते हैं। जो समुद्रके किनारे हो तथा जहाँपर लोग नावोंसे उतरते हैं उसे पतन या पुटभेदन कहते हैं। जो किसी नदीके किनारे बसा हो उसे द्रोणामुख कहते हैं। जहाँ सोना-चाँदी आदि निकलता है उसे खान कहते हैं। अन्न उत्पन्न होनेकी भूमिको क्षेत्र या खेत कहते हैं। जिनमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हैं तथा जो बाग-बगीचा और मकानोंसे सहित हों उन्हें ग्राम कहते हैं, और जहाँ अहीर लोग रहते हैं उन्हें घोष कहते हैं। वह विदेह देश इन सबसे विभूषित था ॥२-३॥ उस देशका क्या वर्णन किया जाये जहाँके सुखदायी क्षेत्रमें क्षत्रियोंके नायक स्वयं इक्ष्वाकुवंशी राजा स्वर्गसे च्युत हो उत्पन्न होते हैं ॥४॥ उस विदेह देशमें कुण्डपुर नामका एक ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्रके नेत्रोंकी पंक्तिरूपी कमलिनियोंके समूहसे सुशोभित है तथा सुखरूपी जलका मानो कुण्ड ही है ॥५॥ जहाँ शंखके समान सफेद एवं शरद् ऋतुके मेघके समान उन्नत महलोंके समूहसे सफेद हुआ आकाश अत्यन्त सुशोभित होता है ॥६॥ जिसके महलोंके अग्र भागमें लगी हुई चन्द्रकान्तमणिकी शिलाएँ रात्रिके समय चन्द्रमारूपी पतिके कर अर्थात् किरण (पक्षमें हाथके) स्पर्शसे स्वेदयुक्त स्त्रियोंके समान द्रवीभूत हो जाती हैं ॥७॥ जहाँके मकानोंपर लगे हुए सूर्यकान्तमणिके अग्रभागकी कोटियाँ, सूर्यरूपी पतिके कर अर्थात् किरण (पक्षमें हाथ) के स्पर्शसे विरक्त स्त्रियोंके समान देदीप्यमान हो उठती हैं ॥८॥ जहाँके महलोंके शिखरपर लगे हुए पद्मराग मणियोंकी पंक्ति, सूर्यको किरणोंके संसर्गसे स्त्रीके समान अत्यन्त अनुरक्त हो जाती है ॥९॥ उस नगरमें कहीं मोतियोंकी मालाएँ लटक रही हैं, कहीं मरकत मणियोंका

---

१. -भूर्पविभूषितः म. । २. इक्ष्वाकुवंशोद्भवा राजानः । ३. ज्वलन्ति । ४. 'पद्मरागमणिस्फातिः' इत्ययं पाठः शुद्धः प्रतिभाति । ५. सूर्यकिरणाश्लेषात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शालशैलमहावप्रपरिखापरिवेषिणः । यस्योपरि परं [1]गच्छत्यमित्रेतरमण्डलम् ॥११॥
एतावतैव पर्याप्तं पुरस्य गुणवर्णनम् । स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम् ॥१२॥
[2]सर्वार्थश्रीमतीजन्मा तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः । सिद्धार्थोऽभवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः ॥१३॥
यत्र पाति धरित्रीयमभूदेकत्र दोषिणी । धर्मार्थिन्योऽपि [3]यत्र्यक्तपरलोकमयाः प्रजाः ॥१४॥
कस्तस्य तान् [4]गुणानुद्धान्नरस्तुलयितुं क्षमः । वर्धमानगुरुत्वं यः प्रापितः स नराधिपः ॥१५॥
उच्चैःकुलाद्रिसंभूता सहजस्नेहवाहिनी । महिषी श्रीसमुद्रस्य तस्यासीत् [5]प्रियकारिणी ॥१६॥
चेतश्चेटकराजस्य यास्ताः [6]सप्तशरीरजाः । अतिस्नेहाकुलं चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी ॥१७॥
कस्तां योजयितुं शक्तस्त्रिशलां गुणवर्णनैः । या स्वपुण्यैर्महावीरप्रसवाय नियोजिता ॥१८॥
सर्वतोऽथ नमन्तीषु सर्वासु सुरकोटिषु । प्रभावान्निपतन्तीषु नभसो [7]वसुवृष्टिषु ॥१९॥
वीरेऽवतरति त्रातुं धरित्रीमसुधारिणः [8] । तीर्थेनाच्युतकल्पोच्चैःपुष्पोत्तरविमानतः ॥२०॥

प्रकाश फैल रहा है, कहीं हीराकी प्रभा फैल रही है और कहीं वैडूर्यमणियोंकी नीली-नीली आभा छिटक रही है। उन सबसे वह एक होनेपर भी सदा सब रत्नोंकी खानकी शोभा धारण करता है ॥१०॥ कोटरूपी पर्वत, बड़े-बड़े धूलि कुट्टिम, और परिवारसे घिरे हुए उस नगरके ऊपर यदि कोई जा सकता था तो मित्र अर्थात् सूर्यका मण्डल ही जा सकता है, अमित्र अर्थात् शत्रुओंका मण्डल नहीं जा सकता था ॥११॥ इस नगरके गुणोंका वर्णन तो इतनेसे ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्गसे अवतार लेते समय भगवान् महावीरका आधार हुआ—भगवान् महावीर वहाँ स्वर्गसे आकर अवतीर्ण हुए ॥१२॥

राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमतीसे उत्पन्न, समस्त पदार्थोंको देखनेवाले, सूर्यके समान देदीप्यमान और समस्त अर्थ-पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले सिद्धार्थ वहाँके राजा थे ॥१३॥ जिन सिद्धार्थके रक्षा करनेपर पृथिवी इसी एक दोषसे युक्त थी कि वहाँकी प्रजाने धर्मकी इच्छुक होनेपर भी परलोकका भय छोड़ दिया था। भावार्थ—जो प्रजा धर्मकी इच्छुक होती है उसे स्वर्ग, नरक आदि परलोकका भय अवश्य रहता है परन्तु वहाँकी प्रजा परलोकका भय छोड़ चुकी थी यह विरोध है परन्तु परलोकका अर्थ शत्रु लोगोंसे विरोध दूर हो जाता है अर्थात् वहाँकी प्रजा धर्मकी इच्छुक थी और शत्रुओंके भयसे रहित थी ॥१४॥ जो राजा सिद्धार्थ, साक्षात् भगवान् वर्धमान स्वामीके पितृपदको प्राप्त हुए उनके उत्कृष्ट गुणोंका वर्णन करनेके लिए कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है ? ॥१५॥

जो उच्च कुलरूपी पर्वतसे उत्पन्न स्वाभाविक स्नेहकी मानो नदी थी ऐसी रानी प्रियकारिणी लक्ष्मीके समुद्रस्वरूप राजा सिद्धार्थकी प्रिय पत्नी थी ॥१६॥ जिन सात पुत्रियोंने राजा चेटकके चित्तको अत्यधिक स्नेहसे व्याप्त कर रखा था उन पुत्रियोंमें प्रियकारिणी सबसे बड़ी पुत्री थी ॥१७॥ जो अपने पुण्यसे भगवान् महावीरको जन्म देनेके लिए प्रवृत्त हुई उस त्रिशला (प्रियकारिणी) के गुण वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है ? ॥१८॥

अथानन्तर जब सब ओरसे समस्त देवोंकी पंक्तियाँ नमस्कार कर रही थीं, प्रभावके कारण जब आकाशसे रत्नोंकी वर्षा हो रही थी और भगवान् महावीर जब अपने तीर्थसे प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए अच्युत स्वर्गके उच्चतम पुष्पोत्तर विमानसे पृथिवीपर अवतीर्ण होनेके लिए उद्यत हुए

---

१. सूर्यमण्डलं गच्छति न तु शत्रुमण्डलम् । २. सर्वार्थ नाम पिता, श्रीमती माता ताभ्यां जन्म यस्य सः । ३. प्रेत्य प्राप्यो लोकः परलोकः पक्षे शत्रुलोकः । ४. -नुद्यान् म. । ५. त्रिशला इति प्रियकारिण्या द्वितीयं नाम । ६. पुत्र्यः । ७. रत्नवृष्टिषु । ८. प्राणिगणान् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा तं षोडशसुस्वप्नदर्शनोत्सवपूर्वकम् । दध्रे [1]गर्भेश्वरं गर्भे श्रीवीरं प्रियकारिणी ॥२१॥
पञ्चसप्ततिवर्षाष्टमासमासार्धशेषकः । चतुर्थस्तु सदा कालो दुःषमः सुषमोत्तरः ॥२२॥
आषाढशुक्लषष्ठ्यां तु गर्भावतरणेऽर्हतः । [2]उत्तराफाल्गुनीनोऽमुडुराजद्विजः श्रितः ॥२३॥
[3]दिक्कुमारीकृताभिख्यां द्योतिमूर्तिं घनस्तनीम् । प्रच्छन्नोऽभासयद्गर्भस्तां रविः प्रावृषं यथा ॥२४॥
नवमासेष्वतीतेषु स जिनोऽष्टदिनेषु च । उत्तराफाल्गुनीष्विन्दौ वर्तमानेऽजनि प्रभुः ॥२५॥
ततोऽन्त्यजिनमाहात्म्याल्लुठत्पीठकिरीटकाः । प्रणेमुरवधिज्ञाततद्वृत्तान्ताः सुरेश्वराः ॥२६॥
शङ्खभेरीहरिध्वानघण्टानिर्घोषघोषणम् । समाकर्ण्य सुरास्तूर्णं घूर्णितार्णवरावि[4]णः ॥२७॥
सप्तानीकमहाभेदाः सस्त्रीकाः कृतभूषणाः । सेन्द्राश्चतुर्णिकायास्ते प्रापुः कुण्डपुरं पुरम् ॥२८॥ (युग्मम्)
त्रिःपरीत्य पुरं देवाः पुरन्दरपुरस्सराः । जिनमिन्दुमुखं देवं [4]तद्गुरू च ववन्दिरे ॥२९॥
मातुः शिशुं विकृत्यान्यं सुप्तायाः सुरमायया । इन्द्राणी प्रणता नीत्वा जिनेन्द्रं हरये ददौ ॥३०॥
गृहीत्वा करपद्माभ्यां तमभ्यर्च्य चिरं हरिः । चक्रे नेत्रसहस्रोरुपुण्डरीकवनार्चितम् ॥३१॥
ततश्चन्द्रावदाताङ्गमिन्द्रस्तुङ्गमतङ्गजम् । शृङ्गौघमिव हेमाद्रेर्मुक्ताधोमदनिर्झरम् ॥३२॥

रानी प्रियकारिणीने उत्तमोत्तम सोलह स्वप्न देखकर गर्भमें गर्भकल्याणकके स्वामी श्री महावीर भगवान्‌को धारण किया ॥१९-२१॥ जब भगवान् गर्भमें आये तब दुःषम-सुषम नामक चतुर्थ कालके पचहत्तर वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे ॥२२॥ आषाढ़ शुक्ला षष्ठीके दिन जब भगवान् महावीर जिनेन्द्रका गर्भावतरण हुआ तब चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रपर स्थित था ॥२३॥ जिस प्रकार मेघमालाके भीतर छिपा हुआ सूर्य वर्षाऋतुको सुशोभित करता है उसी प्रकार दिक्कुमारियों-के द्वारा कृतशोभ, देदीप्यमान शरीरकी धारक एवं स्थूल स्तनोंको धारण करनेवाली माता प्रियकारिणीको वह प्रच्छन्नगर्भ सुशोभित करता था ॥२४॥

तदनन्तर नौ माह आठ दिनके व्यतीत होनेपर जब चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रपर आया तब भगवान्‌का जन्म हुआ ॥२५॥ तत्पश्चात् अन्तिम जिनेन्द्रके माहात्म्यसे जिनके सिंहासन तथा मुकुट हिल उठे थे एवं अवधिज्ञानसे जिन्होंने उनके जन्मका वृत्तान्त जान लिया था ऐसे इन्द्रोंने उन्हें नमस्कार किया ॥२६॥ भवनवासियोंके यहाँ शंख, व्यन्तरोंके यहाँ भेरी, ज्योतिषियोंके यहाँ सिंह और कल्पवासियोंके यहाँ घण्टाका शब्द सुनकर जो शीघ्र ही क्षुभित समुद्रके समान शब्द करने लगे थे, जो सात प्रकारकी सेनाओंके महाभेदोंसे सहित थे, स्त्रियों सहित थे तथा जिन्होंने नाना प्रकारके आभूषण धारण कर रखे थे ऐसे चारों निकायके देव कुण्डपुर नगरमें आ पहुँचे ॥२७-२८॥ इन्द्र जिनके आगे-आगे चल रहा था ऐसे देवोंने नगरकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देव तथा उनके माता-पिताको नमस्कार किया ॥२९॥ विनयावनत इन्द्राणीने देवकृत मायासे सोयी हुई माताके समीप विक्रियासे एक दूसरा बालक रख, जिनेन्द्रदेवको उठा इन्द्रके लिए सौंप दिया ॥३०॥ इन्द्रने उन्हें दोनों हाथोंसे ले चिर काल तक उनकी पूजा की और विक्रिया निर्मित हजार नेत्ररूपी कमलवनमें उन्हें अर्चित किया ॥३१॥

तदनन्तर इन्द्रने भगवान्‌को उस अत्यन्त ऊँचे ऐरावत हाथीपर विराजमान किया जिसका कि शरीर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल था, जो सुमेरुके शिखरोंके समूहके समान जान पड़ता था और जो नीचेकी ओर मदके निर्झर छोड़ रहा था ॥३२॥ जिसके गण्डस्थलोंपर मदकी सुगन्धिके कारण भ्रमरोंके समूह मँडरा रहे थे और उनसे जो सुमेरुके उस शिखर-समूहके समान जान

१. गर्भकल्याणनायकम् । २. -रिक्ष -क. -ग. । ३. दिक्कुमारीकृतशोभां । ४. मातापितरौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गण्डस्थलमदामोदभ्रमद्भ्रमरमण्डलम् । तमिवाधित्यकावस्थतमालवनमण्डितम् ॥३३॥
कर्णान्तरततासक्तरक्तचामरसंहतिम् । तं यथाधित्यकाधीनरक्ताशोकमहावनम् ॥३४॥
[1]सुवर्णारिक्षया चार्च्या परिवेष्टितविग्रहम् । तमेव च यथोपात्तकनत्कनकमेखलम् ॥३५॥
[2]अनेकरदसंवृत्तनृत्यसंगीतयोषितम्[3] । तमिवोत्तुङ्गशृङ्गाग्रनृत्यद्गायत्सुराङ्गनम् ॥३६॥
सुवृत्तदीर्घसंचारिकररुद्धदिगन्तरम् । [4]तमिवात्यायतस्थूलस्फुरद्भोगभुजङ्गमम् ॥३७॥
ऐशानधारितस्फीतधवलातपवारणम् । तमिवोर्ध्वस्थिताभ्यर्णसंपूर्णशशिमण्डलम् ॥३८॥
चामरेन्द्रभुजोत्क्षिप्तचलच्चामरहारिणम् । तं यथा चमरीक्षिप्तबालव्यजनवीजितम् ॥३९॥
ऐरावतं समारोप्य जिनेन्द्रं तस्य मण्डनम् । देवैः सह गतः प्रांप मन्दरं स पुरन्दरः ॥४०॥ (नवभिः कुलकम्)
तं पाण्डुकवने रम्ये मन्दरस्य जिनं हरिः । पाण्डुकायां प्रसिद्धायां शिलायां सिंहविष्टरे ॥४१॥
संस्थाप्य विबुधानीतक्षीरसागरवारिभिः । शातकुम्भमयैः कुम्भैरभिषिच्य समं सुरैः ॥४२॥
वस्त्रालंकारमालाद्यैरलंकृत्य कृतस्तुतिः । आनीय मातुरुत्संगे जिनं कृत्वा कृतोचितः ॥४३॥
सिद्धार्थप्रियकारिण्योः सममानन्ददायकम् । वर्धमानाख्यया स्तुत्वा सदेवो वासवोऽगमत् ॥४४॥
मासान् पञ्चदशाऽऽजन्म द्युम्नधारा दिने दिने । याः पूर्वमापतंस्ताभिस्तर्पितोऽर्थी जनोऽखिलः ॥४५॥

पड़ता था जो कि ऊपरी भागपर स्थित तमाल वनसे मण्डित था ॥३३॥ जिसके कानोंके समीप लाल-लाल चमरोंके समूह लटक रहे थे और उनसे जो सुमेरुके उस शिखर-समूहके समान जान पड़ता था जिसके कि ऊपरी भागपर लाल-लाल अशोकोंका महावन फूल रहा था ॥३४॥ जिसका शरीर सुवर्णकी सुन्दर साँकलसे वेष्टित था और उससे जो सुमेरुके उस शिखर-समूहके समान जान पड़ता था जिसके कि समीप स्वर्णकी मेखला देदीप्यमान हो रही थी ॥३५॥ जो अनेक दाँतोंपर होनेवाले नृत्य और संगीतसे परिपुष्ट था और उससे जो उस सुमेरुके समान जान पड़ता था जिसकी कि अत्यन्त ऊँचे शिखरोंके अग्र भागपर देवांगनाएँ नृत्य-गायन कर रही थीं ॥३६॥ जिसने अपनी गोल लम्बी तथा चारों ओर घूमनेवाली सूँड़ोंसे दिशाओंके अन्तरालको व्याप्त कर रखा था और उनसे जो उस सुमेरुके समान जान पड़ता था जिसके कि समीप अत्यन्त लम्बे-मोटे और फणाओंसे युक्त साँप घूम रहे थे ॥३७॥ जिसके ऊपर ऐशानेन्द्रने बड़ा भारी सफेद छत्र धारण कर रखा था और उससे जो उस सुमेरुके समान जान पड़ता था जिसके कि ऊपर समीप ही पूर्ण चन्द्रमाका मण्डल विद्यमान था ॥३८॥ और जो चमरेन्द्रकी भुजाओंके द्वारा ढोरे हुए चंचल चमरों से सुन्दर था तथा उनसे उस सुमेरुके समूहके समान जान पड़ता था जो कि चमरी मृगोंके द्वारा उत्क्षिप्त पूँछोंसे सुशोभित था ॥३९॥ इस प्रकार वह इन्द्र आभरणस्वरूप श्री जिनेन्द्र देवको उस ऐरावत हाथीपर विराजमान कर देवोंके साथ सुमेरु पर्वतपर गया ॥४०॥

वहाँ जाकर इन्द्रने सुमेरु पर्वतके अत्यन्त रमणीय पाण्डुकवनमें पाण्डुक नामकी प्रसिद्ध शिलापर जो सिंहासन था उसपर श्री जिन बालकको विराजमान किया, स्वर्णमय कुम्भोंमें भरकर देवों द्वारा लाये हुए क्षीरसागरके जलसे देवोंके साथ उनका अभिषेक किया, वस्त्र, अलंकार तथा माला आदिसे उन्हें अलंकृत कर उनकी स्तुति की, तदनन्तर वापस लाकर माताकी गोदमें विराजमान किया, अन्य यथोचित कार्य किये और उनके माता-पिता राजा सिद्धार्थ तथा रानी प्रियकारिणी को समान आनन्द देनेवाले उन जिन बालककी वर्धमान इस नामसे स्तुति की तदनन्तर वह देवोंके साथ यथास्थान चला गया ॥४१-४४॥ भगवान्के जन्मसे पन्द्रह मास पूर्व प्रतिदिन जो रत्नोंकी धाराएँ बरसी थीं उनसे समस्त याचक सन्तुष्ट हो

---

१. सुवर्णक्षुद्रघण्टामालया । २. त्यायति म. । ३. अनेकरक्षसंछन्न ख. । ४. पोषितं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमानः सुरैः सेव्यो ववृधे स यथा यथा । पितृबन्धुत्रिलोकानामनुरागस्तथा तया ॥४६॥
सुरासुरनराधीशमौलिमालार्चितक्रमः । त्रिंशद्वर्षप्रमाणोऽभूद् वीरो भोगैः परिष्कृतः ॥४७॥
शुद्धवृत्तं न भोगेषु चित्तं तस्य चिरं स्थितम् । कुटिलेषु यथा सिंहनखरन्ध्रेषु मौक्तिकम् ॥४८॥
शान्तचित्तं कदाचित् तं स्वयंबुद्धमबोधयन् । नत्वा सारस्वतादित्यमुख्याः लौकान्तिकाः सुराः ॥४९॥
सौधर्माद्यैः सुरैरेत्य [1]कृताऽभिषवपूजनः । आरुह्य शिविकां दिव्यामुह्यमानां सुरेश्वरैः ॥५०॥
उत्तराफाल्गुनीष्वेव वर्तमाने निशाकरे । कृष्णस्य मार्गशीर्षस्य दशम्यामगमद्वनम् ॥५१॥
अपनीय तनोः सर्वं वस्त्रमाल्यविभूषणम् । पञ्चमुष्टिभिरुद्धृत्य मूर्धजानभवन्मुनिः ॥५२॥
केशकुण्डलसंघातं जिनस्य भ्रमरासितम् । प्रतिगृह्य सुराधीशो [2]निदधौ दुग्धवारिधौ ॥५३॥
इन्द्रनीलचयेनेव क्षिप्तेनेन्द्रेण चात्यमात् । जिनेन्द्रकेशपुञ्जेन रञ्जितः क्षीरसागरः ॥५४॥
जिननिष्क्रमणं दृष्ट्वा तुष्टाः सर्वे नरामराः । कृत्वा तृतीयकल्याणपूजां जग्मुर्यथायथम् ॥५५॥
मनःपर्ययपर्यन्तचतुर्ज्ञानमहेक्षणः । तपो द्वादशवर्षाणि चकार द्वादशात्मकम् ॥५६॥
विहरन्नथ नाथोऽसौ गुणग्रामपरिग्रहः । ऋजुकूलापगाकूले जृम्भिकग्राममीयिवान् ॥५७॥
तत्रातापनयोगस्थः [3]सालाभ्याशशिलातले । वैशाखशुक्लपक्षस्य दशम्यां [4]षष्ठमाश्रितः ॥५८॥

गये थे ॥४५॥ देवोंके द्वारा सेवनीय वर्धमान भगवान् जिस-जिस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे उसी-उसी प्रकार पिता, बन्धुजन तथा तीन लोकके जीवोंका अनुराग वृद्धिको प्राप्त हो रहा था—बढ़ता जाता था ॥४६॥

अथानन्तर सुर, असुर और राजाओंके मुकुटोंकी मालाओंसे जिनके चरण पूजित थे तथा जो देवोपनीत नाना प्रकारके भोगोंसे युक्त थे ऐसे भगवान् महावीर तीस वर्षके हो गये ॥४७॥ फिर भी जिस प्रकार सिंहके कुटिल नखोंके छिद्रोंमें मोती चिर काल तक नहीं ठहर पाते हैं उसी प्रकार उनका निर्मल चरित्रको धारण करनेवाला चित्त भोगोंमें चिरकाल तक नहीं ठहर सका ॥४८॥ किसी समय शान्त चित्तके धारक उन स्वयम्बुद्ध भगवान्को सारस्वत-आदित्य आदि प्रमुख लौकान्तिक देवोंने आकर तथा नमस्कार कर प्रतिबुद्ध किया ॥४९॥ प्रतिबुद्ध—विरक्त होते ही सौधर्मेन्द्र आदि देवोंने आकर उनका अभिषेक और पूजन किया। तदनन्तर देवोंके द्वारा उठायी जानेवाली दिव्य पालकीपर सवार होकर वे जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रपर ही विद्यमान था तब मगसिर वदी दशमीके दिन वनको चले गये ॥५०-५१॥ वहाँ जाकर उन्होंने शरीरसे समस्त वस्त्रमाला तथा आभूषण उतारकर अलग कर दिये और पंच-मुष्टियोंसे केश उखाड़कर वे मुनि हो गये ॥५२॥ भ्रमरोंके समूहके समान काले-काले भगवान्के घुँघराले बालोंके समूहको इन्द्रने उठाकर क्षीरसागरमें क्षेप दिया ॥५३॥ उस समय इन्द्रके द्वारा क्षेपे हुए जिनेन्द्र भगवान्के बालोंके समूहसे रँगा हुआ क्षीरसागर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इन्द्रनील मणियोंके समूहसे ही रँग गया हो ॥५४॥ जिनेन्द्र भगवान्की दीक्षा-कल्याणक देख सन्तोषको प्राप्त हुए समस्त मनुष्य और देव तृतीय कल्याणककी पूजा कर यथा-स्थान चले गये ॥५५॥

तदनन्तर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानरूपी महानेत्रों को धारण करने-वाले भगवान्ने बारह वर्ष तक अनशन आदिक बारह प्रकारका तप किया ॥५६॥ तत्पश्चात् गुण समूहरूपी परिग्रहको धारण करनेवाले श्री वर्धमान स्वामी विहार करते हुए ऋजुकूला नदीके तटपर स्थित जृम्भिक गाँवके समीप पहुँचे ॥५७॥ वहाँ वैशाख सुदी दशमीके दिन दो

---

१. कृतोऽभिषवपूजनः म.। २. निदध्यौ म.। ३. शालवृक्षनिकटस्थशिलोपरि। ४. दिनद्वयोपवासम् आश्रितः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराफाल्गुनीप्राप्ते[1] शुक्लध्यानी निशाकरे । निहत्य घातिसंघातं केवलज्ञानमाप्तवान् ॥५९॥
केवलस्य प्रभावेण सहसा चलितासनाः । आगत्य महिमां चक्रुस्तस्य सर्वे सुरासुराः ॥६०॥
षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः । आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥
आरुरोह गिरिं तत्र[2] विपुलं विपुलश्रियम् । प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥६२॥
ततः प्रबुद्धवृत्तान्तैरापतद्भिरितस्ततः । जगत्सुरासुरैर्व्याप्तं जिनेन्द्रस्य गुणैरिव ॥६३॥
सौधर्माद्यैस्तदा देवैः[3] परीतोऽभात् स भूधरः । नाभेयाधिष्ठितः पूर्वं यथाष्टापदपर्वतः[4] ॥६४॥
चतुराशामुखद्वारस्थितद्वादशगोपुरम् । कृतं रत्नमयं देवैः प्राकारवलयत्रयम् ॥६५॥
जाते योजनविस्तीर्णे सरणे समवादिके । विभागा द्वादशाभासन्नभःस्फाटिकभित्तयः ॥६६॥
प्रातिहार्यैर्युतोऽष्टाभिश्चतुस्त्रिंशन्महाद्भुतैः[5] । तत्र देवैर्वृतोऽभासीज्जिनश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥६७॥
इन्द्राग्निवायुभूत्याख्याः कौडिन्याख्याश्च पण्डिताः । इन्द्रनोदनयाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः ॥६८॥
प्रत्येकं सहिता सर्वे शिष्याणां पञ्चभिः शतैः । त्यक्ताम्बरादिसंबन्धाः संयमं प्रतिपेदिरे ॥६९॥
सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दना तदा । धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणां पुरःसरी ॥७०॥
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तः सेनया चतुरङ्गया । सिंहासनोपविष्टं तं प्रणनाम जिनेश्वरम् ॥७१॥
छत्रचामरभृङ्गारैः कलशध्वजदर्पणैः । व्यञ्जनैः सुप्रतीकैश्च प्रसिद्धैरष्टमङ्गलैः ॥७२॥

दिनके उपवासका नियम कर वे साल वृक्षके समीप स्थित शिलातलपर आतापन योगमें आरूढ़ हुए ॥५८॥ उसी समय जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें स्थित था तब शुक्लध्यानको धारण करनेवाले वर्धमान जिनेन्द्र घातिया कर्मोंके समूहको नष्ट कर केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥५९॥ केवलज्ञानके प्रभावसे सहसा जिनके आसन डोल उठे थे ऐसे समस्त सुर और असुरोंने आकर उनके केवलज्ञानकी महिमा की—ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया ॥६०॥ तदनन्तर छयासठ दिन तक मौनसे बिहार करते हुए श्री वर्धमान जिनेन्द्र जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये ॥६१॥ वहाँ जिस प्रकार सूर्य उदयाचलपर आरूढ़ होता है उसी प्रकार वे लोगोंको प्रतिबुद्ध करनेके लिए विपुल लक्ष्मीके धारक विपुलाचलपर आरूढ़ हुए ॥६२॥ तदनन्तर जिनेन्द्र भगवान्के आगमनका वृत्तान्त जान चारों ओरसे आनेवाले सुर और असुरोंसे जगत् इस प्रकार भर गया जिस प्रकार कि मानो जिनेन्द्रदेवके गुणोंसे ही भर गया हो ॥६३॥ उस समय सौधर्म आदि देवोंसे घिरा हुआ वह विपुलाचल ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि पहले श्री ऋषभ जिनेन्द्रसे अधिष्ठित कैलास पर्वत सुशोभित होता था ॥६४॥

अथानन्तर देवोंने रत्नमयी ऐसे तीन कोट बनाये जिनकी चारों दिशाओंमें एक-एक प्रमुख द्वार होनेसे बारह गोपुर थे ॥६५॥ एक योजन विस्तारवाला समवसरण बनाया जिसमें आकाश-स्फटिककी दीवालोंवाले बारह विभाग सुशोभित थे ॥६६॥ आठ प्रातिहार्यों और चौंतीस अतिशयोंसे सहित भगवान् उस समवसरणमें विराजमान हुए। वहाँ देवोंसे घिरे श्री वर्धमान ग्रहोंसे घिरे चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥६७॥ इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति तथा कौण्डिन्य आदि पण्डित इन्द्रकी प्रेरणासे श्री अरहन्तदेवके समवसरणमें आये ॥६८॥ वे सभी पण्डित अपने पाँच-पाँच सौ शिष्योंसे सहित थे तथा सभीने वस्त्रादिका सम्बन्ध त्यागकर संयम धारण कर लिया ॥६९॥ उसी समय राजा चेटककी पुत्री चन्दना कुमारी, एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आर्यिकाओंमें प्रमुख हो गयी ॥७०॥ राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिणी सेनाके साथ समवसरणमें पहुँचा और वहाँ सिंहासनपर विराजमान श्रीवर्धमान जिनेन्द्रको उसने नमस्कार किया ॥७१॥ जिनेन्द्र भगवान्की वह समवसरण

१. उत्तराफाल्गुनीं प्राप्ते म. । २. विपुलगिरिनामानम् । ३. परितो म. । ४. कैलासपर्वतः । ५. महातिशयैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]रूजचक्रदुकूलाब्जगजसिंहवृषध्वजैः । गरुडध्वजसंयुक्तैरष्टभेदैर्महाध्वजैः ॥७३॥
मानस्तम्भैस्तथा स्तूपैश्चतुर्भिश्च महावनैः । वाप्यम्भोरुहखण्डैश्च वल्लीवनलतागृहैः ॥७४॥
तैस्तैर्देवैः कृतैः सर्वैरन्यैश्चातिशयैस्तथा । यथास्थानस्थितैर्जैनी समवस्थानभूरभात् ॥७५॥
अथेन्दोरिव शुक्राद्या निषण्णा [2]गुर्वधिष्ठिताः । साधवोऽभाञ्जिनस्यान्ते जातरूपाच्छविग्रहाः[3] ॥७६॥
ततः कल्पनिवासिन्यो देव्यः कल्पलताभुजाः । मेरोरिव जिनस्यान्ते ता बभुर्भोगभूमयः ॥७७॥
ततोऽलंकृतनारीभिरार्यिकाततिराबभौ । स्फुरद्विद्युद्भिराश्लिष्टा शारदीव घनावली ॥७८॥
ज्योतिर्देवस्त्रियोऽतश्च रेजुरुज्ज्वलमूर्तयः । तास्तारा इव संक्रान्ताः समवस्थानसागरे ॥७९॥
कान्ता व्यन्तरदेवानां ततस्तत्र विरेजिरे । करकुड्मलहारिण्यः साक्षादिव वनश्रियः ॥८०॥
ततो नागकुमारादिदेव्यो नागफणोज्ज्वलाः । नागलोकसमायाता नागवल्ल्य इवाबभुः ॥८१॥
ततोऽप्यग्निकुमाराद्या देवाः पातालवासिनः । ज्वलितोज्ज्वलवेषास्ते दशभेदा बभासिरे ॥८२॥
ततः किन्नरगन्धर्वयक्षकिंपुरुषादयः । षोडशार्द्धविकल्पास्ते व्यन्तराश्च चकासिरे ॥८३॥
सप्रकीर्णकनक्षत्रसूर्याचन्द्रमसो ग्रहाः । पञ्चभेदास्तदाऽनल्पवपुषो ज्योतिषो बभुः ॥८४॥

भूमि, यथायोग्य स्थानोंपर रखे हुए छत्र, चामर, भृंगार, कलश, ध्वजा, दर्पण, पंखा और ठौना इन आठ प्रसिद्ध मंगल द्रव्योंसे, माला, चक्र, दुकूल, कमल, हाथी, सिंह, वृषभ और गरुड़के चिह्नोंसे युक्त आठ प्रकारकी महाध्वजाओंसे, मानस्तम्भों-स्तूपोंसे, चार महावनोंसे, वापिकाओंमें प्रफुल्लित कमल-समूहोंसे, लताओंके वनोंमें बने हुए लतागृहों—निकुंजोंसे तथा देवोंके द्वारा निर्मित अन्य सभी प्रकारके उन-उन प्रसिद्ध अतिशयोंसे सुशोभित हो रही थी ॥७२-७५॥

अथानन्तर जिस प्रकार चन्द्रमाके समीप गुरु अर्थात् बृहस्पतिसे अधिष्ठित शुक्रादि ग्रह सुशोभित होते हैं उसी प्रकार श्रीवर्धमान जिनेन्द्रके समीप प्रथम कोणमें गुरु अर्थात् अपने-अपने दीक्षागुरुओंसे अधिष्ठित, निर्दोष दिगम्बर मुद्राको धारण करनेवाले अनेक मुनि सुशोभित हो रहे थे ॥७६॥ तदनन्तर द्वितीय कोठामें कल्पलताओंके समान भुजाओंको धारण करनेवाली कल्पवासिनी देवियाँ स्थित थीं और वे जिनेन्द्रके समीप इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं जिस प्रकार कि सुमेरुके समीप भोगभूमियाँ सुशोभित होती हैं ॥७७॥ तदनन्तर तृतीय कोठामें नाना प्रकारके अलंकारोंसे अलंकृत स्त्रियोंके साथ आर्यिकाओंकी पंक्ति इस प्रकार सुशोभित हो रही थी जिस प्रकार कि चमकती हुई बिजलियोंसे आलिंगित शरद्ऋतुकी मेघपंक्ति सुशोभित होती है ॥७८॥ इनके बाद चतुर्थ कोठामें उज्ज्वल शरीरकी धारक ज्योतिष्क देवोंकी स्त्रियाँ सुशोभित हो रही थीं। वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो समवसरणरूपी सागरमें प्रतिबिम्बित तारा ही हों ॥७९॥ उनके बाद पंचम कोठामें हस्तरूपी कुण्डलोंको धारण करनेवाली व्यन्तर देवोंकी स्त्रियाँ साक्षात् वनकी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥८०॥ तत्पश्चात् षष्ठ कोठामें नागलोकसे आयी हुई नागवेलके समान उज्ज्वल फणाओंको धारण करनेवाली नागकुमार आदि भवनवासी देवोंकी देवियाँ सुशोभित हो रही थीं ॥८१॥ तदनन्तर सप्तम कोठामें पाताललोकमें रहनेवाले एवं उज्ज्वल वेषके धारक अग्निकुमार आदि दस प्रकारके भवनवासी देव सुशोभित हो रहे थे ॥८२॥ तत्पश्चात् अष्टम कोठामें किन्नर, गन्धर्व, यक्ष तथा किम्पुरुष आदि आठ प्रकारके व्यन्तर देव सुशोभित हो रहे थे ॥८३॥ उसके बाद नवम कोठामें प्रकीर्णक, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह ये पाँच प्रकारके विशाल शरीरके धारक ज्योतिषी देव सुशोभित हो रहे थे ॥८४॥

१. स्रजाचक्र ख. । २. गुरुभिराचार्यैरन्यत्र बृहस्पतिना । ३. जातरूपं यथा जातं अन्यत्र जातरूपं स्वर्णं तद्वदच्छा निर्मला विग्रहा येषां ते । ४. -राश्लिष्टशारदीव म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौलिकुण्डलकेयूरप्रालम्बकटिसूत्रिणः । हारिणः कल्पवृक्षाभास्ततोऽभून्[1] कल्पवासिनः ॥८५॥
[2]सपुत्रानमितानेकविद्याधरपुरस्सराः । न्यषीदन् मानुषा नानाभाषावेषरुचस्ततः ॥८६॥
ततोऽहिनकुलेभेन्द्रहर्यश्वमहिषादयः । जिनानुभावसंभूतविश्वासाः शमिनो बभुः ॥८७॥
इति द्वादशभेदेषु परीतिं विनुतिं नतिम् । गणेषु प्रथमं कृत्वा स्थितेषु परितो जिनम् ॥८८॥
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयम् । जिनेन्द्रं गौतमोऽपृच्छत् तीर्थार्थं पापनाशनम् ॥८९॥
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः । दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना ॥९०॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥९१॥
आचाराङ्गस्य तत्त्वार्थं तथा सूत्रकृतस्य च । जगाद भगवान् वीरः संस्थानसमवाययोः ॥९२॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिहृदयं ज्ञातृधर्मकथास्थितम् । श्रावकाध्ययनस्यार्थमन्तकृद्दशगोचरम् ॥९३॥
अनुत्तरदशस्यार्थं प्रश्नव्याकरणस्य च । तथा विपाकसूत्रस्य पवित्रार्थं ततः परम् ॥९४॥
त्रिषष्टिः त्रिशती यत्र दृष्टीनामभिधीयते । दृष्टिवादस्य यस्यार्थं पञ्चभेदस्य सर्वदृक् ॥९५॥
जगाद जगतां नाथः प्रथमं परिकर्मणः । सूत्रस्याद्यानुयोगस्य तथा पूर्वगतस्य च ॥९६॥
उत्पादपूर्वपूर्वस्य परमार्थं ततः परम् । अग्रायणीयपूर्वार्थमग्रणीरभणद्विदाम् ॥९७॥
वीर्यप्रवादपूर्वार्थमस्तिनास्तिप्रवादजम् । ज्ञानसत्यप्रवादार्थमात्मकर्मप्रवादयोः ॥९८॥
प्रत्याख्यानस्य विद्यानुवादकल्याणपूर्वयोः । प्राणावायस्य पूर्वस्य तत्त्वार्थं तदनन्तरम् ॥९९॥
क्रियाविशालपूर्वस्य विशालार्थमशेषवित् । सल्लोकबिन्दुसारार्थं चूलिकार्थं सवस्तुकम् ॥१००॥

तदनन्तर दशम कोठामें मुकुट, कुण्डल, केयूर, हार और कटिसूत्रको धारण करनेवाले कल्पवृक्षके समान कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे। तत्पश्चात् एकादश कोठामें पुत्र, स्त्री आदिसे सहित अनेक विद्याधरोंसे युक्त नाना प्रकारकी भाषा, वेष और कान्तिको धारण करनेवाले मनुष्य बैठे थे ॥८५-८६॥ और उनके बाद द्वादश कोठामें जिनेन्द्र भगवान्के प्रभावसे जिन्हें विश्वास उत्पन्न हुआ था तथा जो अत्यन्त शान्तचित्तके धारक थे ऐसे सर्प, नेवला, गजेन्द्र, सिंह, घोड़ा और भैंस आदि नाना प्रकारके तिर्यंच बैठे थे ॥८७॥ इस प्रकार जब बारह कोठोंमें बारह गण, जिनेन्द्र भगवान्के चारों ओर प्रदक्षिणा रूपसे परिक्रमा, स्तुति और नमस्कार कर विद्यमान थे तब समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले एवं राग, द्वेष और मोह इन तीनों दोषोंका क्षय करनेवाले पापनाशक श्रीजिनेन्द्र देवसे गौतम गणधरने तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए पूछा—प्रश्न किया ॥८८-८९॥

तदनन्तर श्रीवर्धमान प्रभुने श्रावण मासके कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके प्रातःकालके समय अभिजित् नक्षत्रमें समस्त संशयोंको छेदनेवाले, दुन्दुभिके शब्दके समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलनेवाली दिव्यध्वनिके द्वारा शासनकी परम्परा चलानेके लिए उपदेश दिया ॥९०-९१॥ प्रथम ही भगवान् महावीरने आचारांगका उपदेश दिया फिर सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, श्रावकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्नव्याकरणांग और पवित्र अर्थसे युक्त विपाकसूत्रांग इन ग्यारह अंगोंका उपदेश दिया ॥९२-९४॥ इसके बाद जिसमें तीन सौ त्रेसठ ऋषियोंका कथन है तथा जिसके पाँच भेद हैं ऐसे बारहवें दृष्टिवाद अंगका सर्वदर्शी भगवान्ने निरूपण किया ॥९५॥ जगत्के स्वामी तथा ज्ञानियोंमें अग्रसर श्रीवर्धमान जिनेन्द्रने प्रथम ही परिकर्म, सूत्रगत, प्रथमानुयोग और पूर्वगत भेदोंका वर्णन किया—फिर पूर्वगत भेदके उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय पूर्व, वीर्यप्रवाद पूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व इन चौदह पूर्वोंका तथा

---

१. अभुः, अभान् इति बहुवचने रूपद्वयम् । २. सपुत्रा आगतानेक ख., सपुत्रवनिता- म., ध. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अङ्गप्रविष्टतत्त्वार्थं प्रतिपाद्य जिनेश्वरः । अङ्गबाह्यमवोचत्तत्प्रतिपाद्यार्थरूपतः ॥१०१॥
सामायिकं यथार्थाख्यं सचतुर्विंशतिस्तवम् । वन्दनां च ततः पूतां प्रतिक्रमणमेव च ॥१०२॥
वैनयिकं [1]विनेयेभ्यः कृतिकर्म ततोऽवदत् । दशवैकालिकां पृथ्वीमुत्तराध्ययनं तथा ॥१०३॥
तं कल्पव्यवहारं च कल्पाकल्पं तथा महा—कल्पं च पुण्डरीकं च सुमहापुण्डरीककम् ॥१०४॥
तथा निषद्यकां प्रायः प्रायश्चित्तोपवर्णनम् । जगत्त्रयगुरुः प्राह प्रतिपाद्यं हितोद्यतः ॥१०५॥
मत्यादेः केवलान्तस्य स्वरूपं विषयं फलम् । अपरोक्षपरोक्षस्य ज्ञानस्योवाच संख्यया ॥१०६॥
मार्गणास्थानभेदैश्च गुणस्थानविकल्पनैः । जीवस्थानप्रभेदैश्च जीवद्रव्यमुपादिशत् ॥१०७॥
सत्संख्याद्यनुयोगैश्च सन्नामादिकमादिभिः । द्रव्यं स्वलक्षणैर्भिन्नं पुद्गलादि त्रिलक्षणम्[2] ॥१०८॥
द्विविधं कर्मबन्धं च सहेतुं सुखदुःखदम् । मोक्षं मोक्षस्य हेतुं च फलं चाष्टगुणात्मकम् ॥१०९॥
बन्धमोक्षफलं यत्र भुज्यते तत् त्रिधाकृतम् । अन्तःस्थितं जगौ लोकमलोकं च बहिःस्थितम् ॥११०॥
अथ सप्तर्द्धिसंपन्नः श्रुत्वार्थं जिनभाषितम् । द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धं सोपाङ्गं गौतमो व्यधात् ॥१११॥
त्रैलोक्यं संसदि स्पृष्टं जिनार्कवचनांशुभिः । मुक्तमोहमहानिद्रं सुप्तोत्थितमिवाबभौ ॥११२॥
जिनभाषाऽधरस्पन्दमन्तरेण विजृम्भिता । तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत्[3] ॥११३॥

वस्तुओंसे सहित चूलिकाओंका वर्णन किया ॥९६–१००॥ इस प्रकार श्रीजिनेन्द्रदेवने अंगप्रविष्ट तत्त्वका वर्णन कर अंगबाह्यके चौदह भेदोंका वास्तविक वर्णन किया। प्रथम ही उन्होंने सार्थक नामको धारण करनेवाले सामयिक प्रकीर्णकका वर्णन किया तदनन्तर चतुर्विंशति स्तवन, पवित्र वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा जिसमें प्रायः प्रायश्चित्तका वर्णन है ऐसी निषद्यका इन चौदह प्रकीर्णकोंका वर्णन हित करनेमें उद्यत तथा जगत् त्रयके गुरु श्रीवर्धमान जिनेन्द्रने किया ॥१०१–१०५॥ इसके बाद भगवान्ने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंका स्वरूप, विषय, फल तथा संख्या बतलायी और साथ ही यह भी बतलाया कि उक्त पाँच ज्ञानोंमें प्रारम्भके दो ज्ञान परोक्ष और अन्य तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ॥१०६॥ तदनन्तर चौदह मार्गणा स्थान, चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमासके द्वारा जीव द्रव्यका उपदेश दिया ॥१०७॥ तत्पश्चात् सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व इन आठ अनुयोग द्वारोंसे तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंसे द्रव्यका निरूपण किया। उन्होंने यह भी बताया कि पुद्गल आदिक द्रव्य अपने-अपने लक्षणोंसे भिन्न-भिन्न हैं और सामान्य रूपसे सभी उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप त्रिलक्षणसे युक्त हैं ॥१०८॥ शुभ-अशुभके भेदसे कर्मबन्धके दो भेद बतलाये, उनके पृथक्-पृथक् कारण समझाये, शुभबन्ध सुख देनेवाला है और अशुभबन्ध दुःख देनेवाला है यह बताया। मोक्षका स्वरूप, मोक्षका कारण और अनन्त ज्ञान आदि आठ गुणोंका प्रकट हो जाना मोक्षका फल है यह सब समझाया ॥१०९॥ जो अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें स्थित है तथा जहाँ बन्ध और मोक्षका फल भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। इस लोकके ऊर्ध्व-मध्य और पातालके भेदसे तीन भेद हैं। लोकके बाहरका जो आकाश है उसे अलोक कहते हैं ॥११०॥ अथानन्तर सप्तऋद्धियोंसे सम्पन्न गौतम गणधरने जिनभाषित पदार्थका श्रवण कर उपांगसहित द्वादशांगरूप श्रुतस्कन्धकी रचना की ॥१११॥ उस समय समवसरणमें जो तीनों लोकोंके जीव बैठे हुए थे वे जिनेन्द्ररूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंका स्पर्श पाकर सोयेसे उठे हुएके समान सुशोभित होने लगे और उनकी मोहरूपी महानिद्रा दूर भाग गयी ॥११२॥ ओठोंके

---

१. शिष्येभ्यः । २. उत्पादव्ययध्रौव्यरूपम् । ३. नाशयामास ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो जिनोक्ततत्त्वार्थमार्गश्रद्धानलक्षणम् । शङ्काकाङ्क्षानिदानादिकलङ्कविगमोज्ज्वलम् ॥११४॥
सम्यग्दर्शनसद्रत्नं ज्ञानालंकारनायकम् । स्वकर्णहृदयेष्वेकं पिनद्धमखिलाङ्गिभिः[1] ॥११५॥
कायेन्द्रियगुणस्थानजीवस्थानकुलायुषाम् । भेदान् योनिविकल्पांश्च निरूप्यागमचक्षुषा ॥११६॥
क्रियासु स्थानपूर्वासु वधादिपरिवर्जनम् । षण्णां जीवनिकायानामहिंसाद्यं महाव्रतम् ॥११७॥
यद्रागद्वेषमोहेभ्यः परतापकरं वचः । निवृत्तिस्तु ततः सत्यं तद् द्वितीयं महाव्रतम् ॥११८॥
अल्पस्य महतो वापि परद्रव्यस्य साधुना । अनादानमदत्तस्य तृतीयं तु महाव्रतम् ॥११९॥
स्त्रीपुंसंगपरित्यागः कृतानुमतकारितैः । ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं चतुर्थं तु महाव्रतम् ॥१२०॥
बाह्याभ्यन्तरवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो विरतिर्यतः । स्वपरिग्रहदोषेभ्यः पञ्चमं तु महाव्रतम् ॥१२१॥
चक्षुर्गोचरजीवौघान् परिहृत्य यतेर्यतः[2] । ईर्यासमितिराद्या सा व्रतशुद्धिकरी मता ॥१२२॥
त्यक्त्वा कार्कश्यपारुष्यं यतेर्यत्नवतः सदा । भाषणं धर्मकार्येषु भाषासमितिरिष्यते ॥१२३॥
पिण्डशुद्धिविधानेन शरीरस्थितये तु यत् । आहारग्रहणं सा स्यादेषणासमितिर्यतेः ॥१२४॥
निक्षेपणं यदादानमीक्षित्वा योग्यवस्तुनः । समितिः सा तु विज्ञेया निक्षेपादाननामिका ॥१२५॥
शरीरान्तर्मलत्यागः प्रगतासु सुभूमिषु । यत्तत्समितिरेषा तु प्रतिष्ठापनिका मता ॥१२६॥
एवं समितयः पञ्च गोप्यास्तिस्रस्तु गुप्तयः । वाङ्मनःकाययोगानां शुद्धरूपाः प्रवृत्तयः ॥१२७॥
चित्तेन्द्रियनिरोधश्च षडावश्यकसत्क्रियाः । लोचास्नानैकभक्तं च स्थितिभुक्तिरचेलता ॥१२८॥

बिना हिलाये ही निकली हुई भगवान्‌की वाणीने तिर्यंच, मनुष्य तथा देवोंका दृष्टिमोह नष्ट कर दिया था ॥११३॥ तदनन्तर जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कथित तत्त्वार्थ और मार्गका श्रद्धान करना ही जिसका लक्ष है, जो शंका, कांक्षा, निदान आदि दोषोंके अभावसे उज्ज्वल है तथा सम्यग्ज्ञान-रूपी अलंकारका स्वामी है ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी समीचीन रत्न को समस्त प्राणियोंने अपने कानों तथा हृदय में धारण किया ॥११४–११५॥ काय, इन्द्रियाँ, गुणस्थान, जीवस्थान, कुल और आयुके भेद तथा योनियोंके नाना विकल्पोंका आगमरूपी चक्षुके द्वारा अच्छी तरह अवलोकन कर बैठने-उठने आदि क्रियाओंमें छह कायके जीवोंके वध-बन्धनादिकका त्याग करना प्रथम अहिंसा महाव्रत कहलाता है ॥११६–११७॥ राग, द्वेष अथवा मोहके कारण दूसरोंके सन्ताप उत्पन्न करनेवाले जो वचन हैं उनसे निवृत्त होना सो द्वितीय सत्य महाव्रत है ॥११८॥ बिना दिया हुआ परद्रव्य चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत उसके ग्रहणका त्याग करना सो तृतीय अचौर्य महाव्रत है ॥११९॥ कृत, कारित और अनुमोदनासे स्त्री-पुरुषका त्याग करना सो चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा गया है ॥१२०॥ परिग्रह के दोषोंसे सहित समस्त बाह्याभ्यन्तरवर्ती परिग्रहोंसे विरक्त होना सो पंचम अपरिग्रह महाव्रत है ॥१२१॥ नेत्रगोचर जीवोंके समूहको बचाकर गमन करनेवाले मुनिके प्रथम ईर्यासमिति होती है। यह ईर्यासमिति व्रतोंमें शुद्धता उत्पन्न करनेवाली मानी गयी है ॥१२२॥ सदा कर्कश और कठोर वचन छोड़कर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने-वाले यतिका धर्मकार्योंमें बोलना भाषा समिति कहलाती है ॥१२३॥ शरीरकी स्थिरताके लिए पिण्डशुद्धिपूर्वक मुनिका जो आहार ग्रहण करना है वह एषणा समिति कहलाती है ॥१२४॥ देखकर योग्य वस्तुका रखना और उठाना सो आदाननिक्षेपण समिति है ॥१२५॥ प्रासुक भूमि पर शरीरके भीतरका मल छोड़ना सो प्रतिष्ठापन समिति है ॥१२६॥ इस प्रकार इन पाँच समितियोंका तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोगकी शुद्ध प्रवृत्तिरूप तीन गुप्तियोंका पालन करना चाहिए ॥१२७॥ मन और इन्द्रियोंका वश करना, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओंका पालन करना, केश लोंच करना, स्नान

---

१. सर्वप्राणिसभूहैः । २. गच्छतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिशय्याव्रतं दन्तमलमार्जनवर्जनम् । तपःसंयमचारित्रं परीषहजयः परः ॥१२९॥
अनुप्रेक्षाश्च धर्मश्च क्षमादिदशलक्षणः । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविनयसेवनम् ॥१३०॥
इति श्रमणधर्मोऽयं कर्मनिर्मोक्षहेतुकः । सुरासुरनरोध्यक्षं[1] जिनोक्तस्तं तदा नराः ॥१३१॥
संसारभीरवः शुद्धजातिरूपकुलादयः । सर्वसंगविनिर्मुक्ताः शतशः प्रतिपेदिरे ॥१३२॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः शुद्धैकवसनावृताः । सहस्रशो दधुः शुद्धा नार्यस्तत्रार्यिकाव्रतम् ॥१३३॥
पञ्चधाणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्रीपुरुषा दधुः ॥१३४॥
तिर्यञ्चोऽपि यथाशक्ति नियमेष्ववतस्थिरे । देवाः सद्दर्शनज्ञानजिनपूजासु रेमिरे ॥१३५॥
श्रेणिकेन तु यत्पूर्वं बह्वारम्भपरिग्रहात् । परस्थितिकमारब्धं[2] नरकायुस्तमस्तमे[3] ॥१३६॥
तत्तु क्षायिकसम्यक्त्वात् स्वस्थितिं प्रथमक्षितौ । प्रापद्वर्षसहस्राणामशीतिं चतुरुत्तराम् ॥१३७॥
त्रयस्त्रिंशत् समुद्राः क्व क्व चेयं मध्यमा स्थितिः । अहो क्षायिकसम्यक्त्वप्रभावोऽयमनुत्तरः ॥१३८॥
अक्रूरो वारिषेणो यो योऽभयः स तथा परे । कुमारा मातरश्चैषां पराश्चान्तःपुरस्त्रियः ॥१३९॥
सम्यक्त्वं शीलसद्दानं प्रोषधं जिनपूजनम् । प्रतिपद्य विनेमुस्तं जिनेन्द्रं त्रिजगद्गुरुम् ॥१४०॥
ततः प्रणम्य देवेन्द्रा जिनेन्द्रं स्तोत्रपूर्वकम् । यथायथं ययुर्युक्ता निजवर्गैर्निजास्पदम् ॥१४१॥
श्रेणिकोऽपि गुणश्रेणीमुच्चकैरभिरूढवान् । अभिष्टुत्य जिनं नत्वा प्रविष्टस्तुष्टधीः पुरम् ॥१४२॥
निःसरद्भिर्विशद्भिश्च सभा जैनी जनोर्मिभिः । चुक्षोभ क्षुभितैर्वेला नदीपूरैरिवाम्बुधेः ॥१४३॥

नहीं करना, एक बार भोजन करना, खड़े-खड़े भोजन करना, वस्त्र धारण नहीं करना, पृथ्वीपर शयन करना, दन्तमल दूर करनेका त्याग करना, बारह प्रकारका तप, बारह प्रकारका संयम, चारित्र, परीषह विजय, बारह अनुप्रेक्षाएँ, उत्तम क्षमादि दस धर्म, ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और तप विनयकी सेवा, इस प्रकार सुर, असुर और मनुष्योंके सम्मुख श्री जिनेन्द्र भगवान्‌ने कर्मक्षयके कारणभूत जिस मुनिधर्मका वर्णन किया था उसे उन सैकड़ों मनुष्योंने स्वीकृत किया था जो संसारसे भयभीत थे, शुद्ध जातिरूप और कुलको धारण करनेवाले थे तथा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित थे ॥१२८-१३२॥ सम्यग्दर्शनसे शुद्ध तथा एक पवित्र वस्त्रको धारण करनेवाली हजारों शुद्ध स्त्रियोंने आर्यिकाके व्रत धारण किये ॥१३३॥ कितने ही स्त्री-पुरुषोंने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत धारण किये ॥१३४॥ तिर्यंचोंने भी यथाशक्ति नियम धारण किये और देव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा जिन पूजामें लीन हुए ॥१३५॥ राजा श्रेणिकने पहले बहुत आरम्भ और परिग्रहके कारण तमस्तमः नामक सातवें नरकको जो उत्कृष्ट स्थिति बांध रखी थी उसे, क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्रभावसे प्रथम पृथ्वी सम्बन्धी चौरासी हजार वर्षकी मध्यम स्थितिरूप कर दिया ॥१३६-१३७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि कहाँ तो तैंतीस सागर और कहाँ यह जघन्य स्थिति ? अहो, क्षायिक सम्यग्दर्शनका यह अद्‌भुत लोकोत्तर माहात्म्य है ॥१३८॥ राजा श्रेणिकके अक्रूर, वारिषेण और अभयकुमार आदि पुत्रोंने, इनकी माताओंने तथा अन्तःपुरकी अन्य अनेक स्त्रियोंने सम्यग्दर्शन, शील, दान, प्रोषध और पूजनका नियम लेकर त्रिजगद्गुरु श्री वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार किया॥१३९-१४०॥

तदनन्तर इन्द्र, स्तुतिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर अपने परिवारके साथ यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१४१॥ भावों की उत्तम श्रेणीपर आरूढ़ हुआ राजा श्रेणिक भी श्री वर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति कर तथा नमस्कार कर सन्तुष्ट होता हुआ नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥१४२॥ जिस प्रकार समुद्रकी बेला क्षोभको प्राप्त हुए नदीके पूरोंसे सुशोभित हो जाती है उसी प्रकार

१. सुरासुरनरप्रत्यक्षम् । २. परा उत्कृष्टा ३३ सागरप्रतिमा स्थितिर्यस्य तत् परिस्थितिक-म. । ३. सप्तमनरके ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकीर्णमेव तैर्नित्यं सभामण्डलमर्हतः । ह्रीयते वा कदा स्फीतैर्भानुभिर्भानुमण्डलम् ॥१४४॥
नोदयास्तमितं तत्र ज्ञायते ध्वनमण्डलम्[2] । धर्मचक्रप्रभाचक्रभामण्डलरोचिषा ॥१४५॥
तत्र तीर्थकरः कुर्वन् प्रत्यहं धर्मदेशनम् । सेवितः श्रेणिकेनास्य न हि तृप्तिस्त्रिवर्गजा ॥१४६॥
गौतमं च समासाद्य तदा तदुपदेशतः । सर्वानुयोगमार्गेषु प्रवीणः स नृपोऽभवत् ॥१४७॥
ततो जिनगृहैस्तुङ्गैः राज्ञा राजगृहं पुरम् । कृतमन्तर्बहिर्व्याप्तमजस्रमहिमोत्सवैः ॥१४८॥
कृतः सामन्तसंघातैर्महामन्त्रिपुरोहितैः । प्रजाभिर्जिनगेहाढ्यो मगधो विषयोऽखिलः[3] ॥१४९॥
पुरेषु ग्रामघोषेषु पर्वताग्रेष्वदृश्यत । नदीतटवनान्तेषु तदा जिनगृहावली ॥१५०॥

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

तिष्ठन्नेव महोदये विघटयन् मोहान्धकारोन्नतिं
प्राग्देशप्रजया विधाय मगधादेशं प्रबुद्धप्रजम् ।
तद्भूत्या पृथुमध्यदेशमगमन्मध्यन्दिनश्रीधरं
मिथ्याज्ञानहिमान्तकृज्जिनरविर्बोधप्रभामण्डलः ॥१५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ धर्मतीर्थप्रवर्त्तनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

□

उस समय वह सभा भीतर प्रवेश करते तथा बाहर निकलते हुए जन-समूहोंसे क्षुभित हो रही थी ॥१४३॥ अर्हन्त भगवान्का वह सभामण्डल मनुष्योंसे सदा व्याप्त ही दिखाई देता था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यमण्डल अपनी विस्तृत किरणोंसे कब रहित होता है? अर्थात् कभी नहीं ॥१४४॥ वहाँ धर्मचक्र और भामण्डलकी कान्तिके कारण सूर्यबिम्बके उदय-अस्तका पता नहीं चलता था ॥१४५॥ वहाँ विपुलाचलपर धर्मोपदेश करनेवाले श्री तीर्थंकर भगवान्की राजा श्रेणिक प्रतिदिन सेवा करता था अर्थात् वह प्रतिदिन आकर उनका धर्मोपदेश श्रवण करता था सो ठीक ही है क्योंकि त्रिवर्गके सेवनसे किसीको तृप्ति नहीं होती ॥१४६॥ वह राजा श्रेणिक, गौतम गणधरको पाकर उनके उपदेशसे सब अनुयोगोंमें प्रवीण हो गया ॥१४७॥ तदनन्तर राजा श्रेणिकने जिनमें निरन्तर महिमा और उत्सव होते रहते थे ऐसे ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरोंसे उस राजगृह नगरको भीतर और बाहर व्याप्त कर दिया ॥१४८॥ राजाके भक्त सामन्त, महामन्त्री, पुरोहित तथा प्रजाके अन्य लोगोंने समस्त मगध देशको जिनमन्दिरोंसे युक्त कर दिया ॥१४९॥ वहाँ नगर, ग्राम, घोष, पर्वतोंके अग्रभाग, नदियोंके तट और वनोंके अन्त प्रदेशोंमें—सर्वत्र जिन मन्दिर ही जिनमन्दिर दिखाई देते थे ॥१५०॥ इस प्रकार जो महान् अभ्युदयमें स्थित थे, मोहरूपी अन्धकारको उन्नतिको नष्ट कर रहे थे, मिथ्याज्ञानरूपी हिमका अन्त करनेवाले थे तथा ज्ञानरूपी प्रभामण्डलसे सहित थे ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्ररूपी सूर्यने पूर्व देशकी प्रजाके साथ-साथ मगध देशकी प्रजाको प्रबुद्ध कर मध्याह्नकी शोभा धारण करनेवाले विशाल मध्य देशकी ओर उसी पूर्वोक्त विभूतिके साथ गमन किया ॥१५१॥

इस प्रकार जिसमें भगवान् अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे श्रीजिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें 'धर्मतीर्थ प्रवर्तन' नामका दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

□

---

१. किरणैः । २. सूर्यमण्डलम् । ३. देशः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयः सर्गः

मध्यदेशे जिनेशेन धर्मतीर्थे प्रवर्तिते । सर्वेष्वपि च देशेषु तीर्थमोहो न्यवर्तत ॥१॥
[1]आशयाः स्वच्छतां जग्मुर्जिनेन्द्रोदयदर्शनात् । लोकेऽगस्त्योदये यद्वत् कलुषाश्च जलाशयाः ॥२॥
काशिकौशलकौशल्यकुसंध्यास्वष्टनामकान् । साल्वत्रिगर्त्तपञ्चालभद्रकारपटच्चरान् ॥३॥
मौकमत्स्यकनीयांश्च सूरसेनवृकार्थपान् । मध्यदेशानिमान् मान्यान् कलिङ्गकुरुजाङ्गलान् ॥४॥
कैकेयाऽऽत्रेयकाम्बोजबाह्लीकयवनश्रुतीन् । सिन्धुगान्धारसौवीरसूरभीरुदशेरुकान् ॥५॥
वाडवानभरद्वाजकाथतोयान् समुद्रजान् । उत्तरांस्तार्णकार्णांश्च देशान् प्रच्छालनामकान् ॥६॥
धर्मेणायोजयद् वीरो विहरन् [2]विभवान्वितः । यथैव भगवान् पूर्वं वृषभो भव्यवत्सलः ॥७॥
द्योतमाने जिनादित्ये केवलोद्योतभास्करे । क्व लीना इति न ज्ञातास्तीर्थखद्योतसंपदः [3]॥८॥
सर्वज्ञवीतरागस्य वपुर्वचनवैभवम् । तदोपलभमानानां [4]सक्तिर्नाभूत्परोक्तिषु ॥९॥
नित्यं निर्मलनिःस्वेदं [5]गोक्षीरनिभशोणितम् । दिव्यसंहतिसंस्थानरूपसौरभलक्षणम् ॥१०॥
अनन्तवीर्यपर्याप्तं स्वहितप्रियभाषणम् । स्वाभाविकपवित्रात्मदशातिशयशोभितम् ॥११॥
निमेषोन्मेषविगमप्रशान्तायतलोचनम् । सुव्यवस्थितसुस्निग्धनखकेशोपशोभितम् ॥१२॥

अथानन्तर श्री वर्धमान जिनेन्द्रके द्वारा मध्यदेशके धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति होनेपर समस्त देशोंमें तीर्थ विषयक मोह दूर हो गया अर्थात् धर्मके विषयमें लोगोंका जो अज्ञान था वह दूर हो गया ॥१॥ जिस प्रकार संसारमें अगस्त्य नक्षत्रका उदय होनेपर मलिन तालाब स्वच्छताको प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवका उदय होनेपर लोगोंके कलुषित हृदय स्वच्छताको प्राप्त हो गये ॥२॥ जिस प्रकार पहले भव्यवत्सल भगवान् ऋषभदेवने अनेक देशोंमें विहार कर उन्हें धर्मसे युक्त किया था उसी प्रकार भगवान् महावीरने भी वैभवके साथ विहार कर मध्यके काशी, कौशल, कौशल्य, कुसन्ध्य, अस्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पंचाल, भद्रकार, पटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन और वृकार्थक, समुद्रतटके कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कम्बोज, बाह्लीक, यवन, सिन्ध, गान्धार, सौवीर, सूर, भीरु, दरोरुक, वाडवान, भरद्वाज और क्वाथतोष, तथा उत्तर दिशाके तार्ण, कार्ण और प्रच्छाल आदि देशोंको धर्मसे युक्त किया था ॥३-७॥ केवल ज्ञानरूपी प्रभाको फैलानेवाले श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्यके प्रकाशमान होनेपर नाना मिथ्याधर्मरूपी जुगनुओंके ठाट-बाट कहाँ विलीन हो गये थे यह नहीं जान पड़ता था ॥८॥ उस समय जिन लोगोंने श्री वर्धमान जिनेन्द्रके शरीरका साक्षात् दर्शन किया था, उनकी दिव्यध्वनिका साक्षात् श्रवण किया था तथा उनके वैभवका साक्षात् अवलोकन किया था तथा उनकी अन्य पुरुषोंके वचनोंमें आसक्ति नहीं रह गयी थी ॥९॥ निरन्तर मलमूत्रसे रहित शरीर, स्वेदका अभाव, गो दुग्धके समान सफेद रुधिर, वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अत्यन्त सुन्दर रूप, अतिशय सुगन्धता, एक हजार आठ लक्षण युक्त शरीर, अनन्त बल और हितमित प्रिय वचन इन पवित्र दस अतिशयोंसे तो वे जन्मसे ही सुशोभित थे, परन्तु केवलज्ञान होनेपर निमेष उन्मेषसे रहित अत्यन्त शान्त विशाल लोचन, अत्यन्त व्यवस्थित अर्थात् वृद्धिसे रहित कान्तिपूर्ण नख और केशोंसे शोभित होना, कवलाहारका अभाव, वृद्धावस्थाका न होना, शरीरकी छाया नहीं पड़ना, परम कान्तियुक्त मुखका एक होनेपर भी

१. चित्तानि । २. समवसरणलक्ष्मीयुक्तः । ३. मिथ्यात्वतीर्थखद्योतलक्ष्म्यः । ४. शक्ति क., म., ग. । ५. गो-दुग्धसदृशरक्तम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]त्यक्तभुक्ति जरातीतमच्छायं [2]छाययोर्जितम्[3] । एकतो मुखमप्यच्छचतुर्मुखमनोहरम् ॥१३॥
द्वियोजनशतक्षोणीसुभिक्षत्वोपपादकम् । उपसर्गासुमत्पीडाव्यपोहं गगनायनम्[4] ॥१४॥
सर्वविद्यास्पदं कर्मक्षयोद्भूतदशाद्भुतम् । दृष्टं श्रुतं वपुर्जैनं व्यधत्त जगतः सुखम् ॥१५॥ [कुलकम्]
अमृतस्येव धारां तां [5]भाषां सर्वार्धमागधीम्[6] । पिबन् कर्णपुटैर्जैनीं ततर्प त्रिजगज्जनः ॥१६॥
अन्योन्यगन्धमासोढुमक्षमाणामपि द्विषाम् । मैत्री बभूव सर्वत्र प्राणिनां धरणीतले ॥१७॥
[7]अहंयव इवाजस्रं फलपुष्पानतद्रुमाः । सहैव षडपि प्राप्ता ऋतवस्तं सिषेविरे ॥१८॥
स्वान्तःशुद्धिं जिनेशाय दर्शयन्तीव भूवधूः । सर्वरत्नमयी रेजे शुद्धादर्शतलोज्ज्वला ॥१९॥
जनिताङ्गसुखस्पर्शो ववौ विहरणानुगः । सेवामिव प्रकुर्वाणः श्रीवीरस्य समीरणः ॥२०॥
[8]विहरत्युपकाराय जिने परमबान्धवे । बभूव परमानन्दः सर्वस्य जगतस्तदा ॥२१॥
देवा वायुकुमारास्ते योजनान्तर्धरातलम् । चक्रुः कण्टकपाषाणकीटकादिविवर्जितम् ॥२२॥
तदनन्तरमेवोच्चैस्तनिताः[9] स्तनिताभिधाः[10] । कुमारा वव्रुषुर्मेघीभूता गन्धोदकं शुभम् ॥२३॥
पादपद्मं जिनेन्द्रस्य सप्तपद्मैः पदे पदे । भुवेव नभसाऽगच्छदुद्गच्छद्भिः प्रपूजितम् ॥२४॥
रेजे शाल्यादिसस्यौघैर्मेदिनी फलशालिभिः । जिनेन्द्रदर्शनानन्दप्रोद्भिन्नपुलकैरिव ॥२५॥

चारों ओर दिखाई देना, दो सौ योजन तककी पृथ्वीमें सुभिक्ष होना, उपसर्गका अभाव, प्राणिपीड़ा अर्थात् अदयाका अभाव, आकाशगमन और सब विद्याओंका स्वामित्वपना, कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानके इन दस अतिशयोंसे और भी अधिक आश्चर्य उत्पन्न कर रहे थे। उस समय देखा अथवा सुना गया जिनेन्द्र भगवान्का शरीर जगत्के जीवोंको सुख उत्पन्न कर रहा था ॥१०-१५॥ सर्वभाषारूप परिणमन करनेवाली अमृतकी धाराके समान भगवान्की अर्द्ध-मागधी भाषाका कर्णपुटोंसे पान करते हुए तीन लोकके जीव सन्तुष्ट हो गये ॥१६॥ जो परस्पर-की गन्ध सहन करनेमें भी असमर्थ थे ऐसे शत्रुरूप प्राणियोंमें पृथ्वीतलपर सर्वत्र गहरी मित्रता हो गयी ॥१७॥ जिनमें समस्त वृक्ष निरन्तर फल और फूलोंसे नम्रीभूत हो रहे थे ऐसी छहों ऋतुएँ 'मैं पहले पहुँचूँ, मैं पहले पहुँचूँ' इस भावनासे ही मानो एक साथ आकर उनकी सेवा कर रही थीं ॥१८॥ सर्वरत्नमयी तथा निर्मल दर्पणतलके समान उज्ज्वल पृथ्वीरूपी स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्के लिए अपने अन्तःकरणकी विशुद्धता ही दिखला रही हो ॥१९॥ शरीरमें सुखकर स्पर्श उत्पन्न करनेवाली विहारके अनुकूल- मन्द सुगन्धित वायु बह रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्की सेवा ही कर रही हो ॥२०॥ उस समय परोपकारके लिए उत्कृष्ट बन्धुस्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवान्के विहार करनेपर जगत्के समस्त जीवोंको परम आनन्द हो रहा था ॥२१॥ वायुकुमारके देव, एक योजनके भीतरकी पृथिवीको कण्टक, पाषाण तथा कीड़े-मकोड़े आदिसे रहित कर रहे थे ॥२२॥ उनके बाद ही जोरकी गर्जना करनेवाले स्तनितकुमार नामक देव मेघका रूप धारण कर शुभ सुगन्धित जलकी वर्षा कर रहे थे ॥२३॥ भगवान् पृथिवीके समान आकाशमार्गसे चल रहे थे तथा उनके चरण-कमल पद-पदपर खिले हुए सात-सात कमलोंसे पूजित हो रहे थे। **भावार्थ**—विहार करते समय भगवान्के चरण-कमलोंके आगे और पीछे सात-सात तथा चरणोंके नीचे एक इस प्रकार पन्द्रह कमलोंकी पन्द्रह श्रेणियाँ रची जाती थीं उनमें सब मिलाकर दो सौ पचीस कमल रहते थे ॥२४॥ फलोंसे सुशोभित शालि आदि धान्योंके समूहसे पृथिवी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र-दर्शनसे उत्पन्न हुए

---

१. कवलाहारादिरहितत्वम् । २. छायारहितम् । ३. छायया कान्त्या ऊर्जितम् । ४. गगन-गमनम् । ५. भाषा-सर्वार्ध-म. भाषां सर्वार्थ ख. । ६. परस्परगन्धमपि सोढुमसमर्थानां शत्रूणाम् । ७. अहं अग्रे गच्छामि अहमग्रे गच्छामीति भावनया युक्ता इव । ८. विहारं कुर्वति सति । ९. उच्चैर्गर्जनयुक्ताः । १०. मेघकुमाराः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेन्द्रकेवलज्ञानवैमल्यमनुकुर्वता । घनावरणमुक्तेन गगनेन विराजितम् ॥२६॥
नीरजोभिरहोरात्रं जनताभिरिवेश्वरः । [1]आशाभिरपि नैर्मल्यं बिभ्रतीभिरुपासितः ॥२७॥
धर्मदानं जिनेन्द्रस्य घोषयन्तः समन्ततः । आह्वानं चक्रिरेऽन्येषां देवा देवेन्द्रशासनात् ॥२८॥
सहस्रारं हसद्दीप्त्या [2]सहस्रकिरणद्युति । धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात् ॥२९॥
इति देवकृतैर्भूमौ चतुर्दशभिरद्भुतैः । विजहार जिनो युक्तः सध्वजैरष्टमङ्गलैः ॥३०॥
अशोकनगमाभासीदशोकानोकहश्रिया । नमद्भुवनमाकाशं महत्त्वं किमतः परम् ॥३१॥
पुष्पवृष्टिभिरानम्रशिरोभिरमरैः करैः । [4]आवर्जिताभिराकाशादाशाविश्वंभरा बभुः ॥३२॥
चतुर्दिक्षु चतुःषष्टिचमरैरमरैर्जिनः । वीजितोऽभात् पतद्गाङ्गतरङ्गैर्हिमवानिव ॥३३॥
अभिभूयाबभौ धाम्ना मण्डलं चण्डरोचिषः । प्रभामण्डलमीशस्य प्रध्वस्ताहर्निशान्तरम् ॥३४॥
[5]धीरमध्वनि देवानां जजृम्भे दुन्दुभिध्वनिः । कर्मशत्रुजयं जैनं घोषयन्निव त्रिष्टपे ॥३५॥
एकातपत्रमैश्वर्यं भुवि मुक्तवतोऽर्हतः । आतपत्रत्रयैश्वर्यमाबभौ भुवनत्रये ॥३६॥
सिंहासनं नरेन्द्रौघैर्वृतं त्यक्तवतो बभौ । सिंहासनं जिनस्यान्यत्सुरेन्द्रपरिवारितम् ॥३७॥
धर्मोक्तौ योजनव्यापी चेतःकर्णरसायनम् । दिव्यध्वनिर्जिनेन्द्रस्य पुनाति स्म जगत्त्रयम् ॥३८॥

हर्षसे उसके रोमांच ही निकल आये हों ॥२५॥ मेघोंके आवरणसे रहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानकी निर्मलताका ही अनुकरण कर रहा हो ॥२६॥ जिस प्रकार रजोधर्मसे रहित होनेके कारण निर्मलता—शुद्धताको धारण करनेवाली स्त्रियाँ रात-दिन अपने पतिकी उपासना करती हैं उसी प्रकार रज अर्थात् धूलिसे रहित होनेके कारण उज्ज्वलताको धारण करनेवाली दिशाएँ भगवान्‌की उपासना कर रही थीं ॥२७॥ इन्द्रकी आज्ञासे देव लोग, सब ओर जिनेन्द्रदेवके धर्मदानकी घोषणा करते हुए अन्य लोगोंको बुला रहे थे ॥२८॥ विहार करते हों चाहे खड़े हों प्रत्येक दशामें श्रीजिनेन्द्रके आगे, सूर्यके समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्तिसे हजार आरेवाले चक्रवर्तीके चक्ररत्नकी हँसी उड़ाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था ॥२९॥ इस प्रकार देवकृत चौदह अतिशयों और ध्वजाओं सहित अष्ट मंगल द्रव्योंसे युक्त श्रीमहावीर जिनेन्द्र पृथिवीपर विहार करते थे ॥३०॥

अष्ट प्रातिहार्योंमें प्रथम प्रातिहार्य अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अशोकवृक्षकी शोभाके बहाने समस्त संसार अथवा आकाश ही भगवान्‌को नमस्कार कर रहा हो इससे अधिक और महत्त्व क्या हो सकता है ? ॥३१॥ नम्रीभूत शिरको धारण करनेवाले देव लोग अपने हाथोंसे जो पुष्प-वृष्टियाँ छोड़ रहे थे उनसे समस्त दिशाओंकी भूमियाँ सुशोभित हो रही थीं ॥३२॥ चारों दिशाओंमें देवों द्वारा चौंसठ चमरोंसे वीजित भगवान् उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि पड़ती हुई गंगाकी तरंगोंसे हिमगिरि सुशोभित होता है ॥३३॥ जिसने रात-दिनका अन्तर दूर कर दिया था ऐसा भगवान्‌का भामण्डल, अपने तेजसे सूर्य मण्डलको अभिभूत कर—दबाकर सुशोभित हो रहा था ॥३४॥ देवोंके मार्ग अर्थात् आकाशमें दुन्दुभियोंका शब्द इस गम्भीरतासे फैल रहा था मानो वह संसारमें इस बातकी घोषणा ही कर रहा था कि श्रीजिनेन्द्रदेव कर्मरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुके हैं ॥३५॥ जिसमें एक छत्र लगाया जाता है ऐसे पृथिवीके ऐश्वर्यको त्याग करनेवाले भगवान्‌के छत्रत्रयसे युक्त तीन लोकका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जान पड़ता था ॥३६॥ यतश्च भगवान्‌ने राजाओंके समूहसे घिरा हुआ सिंहासन छोड़ दिया था इसलिए उन्हें इन्द्रोंसे घिरा हुआ दूसरा सिंहासन प्राप्त हुआ था ॥३७॥ जो धर्मका उपदेश देनेके लिए एक योजन तक फैल रही थी तथा जो चित्त और कानोंके लिए रसायनके

१. दिशाभिः । २. सूर्यसमान-कान्तियुक्तम् । ३. शोकानोकुहश्रिया-क., ख., ग. । ४. पातिताभिः । ५. आशा दिशा एव विश्वम्भराः पृथिव्यस्ताः । ६. सूर्यस्य । ७. धीरं गभीरं यथा भवति तथा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रातिहार्यादिविभवैर्विहृत्य विषयान्[1] बहून् । अर्च्यमानः सुरैरायान्मागधं विषयं विभुः ॥३९॥
प्राप्तसप्तर्द्धिसंपद्भिः समस्तश्रुतपारगैः । गणेन्द्रैरिन्द्रभूत्याद्यैरेकादशभिरन्वितः ॥४०॥
इन्द्रभूतिरिति प्रोक्तः प्रथमो गणधारिणाम् । अग्निभूतिर्द्वितीयश्च वायुभूतिस्तृतीयकः ॥४१॥
शुचिदत्तस्तुरीयस्तु सुधर्मः पञ्चमस्ततः । षष्ठो माण्डव्य इत्युक्तो मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः ॥४२॥
अष्टमोऽकम्पनाख्यातिरचलो नवमो मतः । मेदार्यो दशमोऽन्त्यस्तु प्रभासः सर्व एव ते ॥४३॥
तप्तदीप्तादितपसः सुचतुर्बुद्धिविक्रियाः । अक्षीणौषधिलब्धीशाः सद्रसर्द्धिबलर्द्धयः ॥४४॥
पञ्चानामानुपूर्व्येण गणसंख्या गणेशिनाम् । द्वे सहस्रे शतं त्रिंशत् प्रत्येकमृषयः स्मृताः ॥४५॥
ततः परं द्वयोर्ज्ञेयाः पञ्चविंशा चतुःशती । चतुर्णां षट्शती तेषां पञ्चविंशा तपोभृताम् ॥४६॥
तत्र पूर्वधराख्याणि शतानि नव वैक्रियाः । त्रयोदश शतान्यासन्नवधिज्ञानचक्षुषः ॥४७॥
शतानि सप्त कालेन केवलज्ञानलोचनाः । शतानि पञ्च संख्यातास्तथा विपुलबुद्धयः ॥४८॥
चतुःशतानि जेतारो वादिनः परवादिनाम् । शिक्षका नव विज्ञेयाः सहस्राणि शतानि च ॥४९॥
सैकादशगणाधीशश्चतुर्दशसहस्रकः । ऋषिसंघो जिनस्याभात् सनद्योघ इवाम्बुधिः ॥५०॥
युक्तः प्राप जिनो जैत्र्या जगद्विस्मयनीयया । लक्ष्म्या लक्ष्मीगृहं राजद्गृहं राजगृहं पुरम् ॥५१॥
पञ्चशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना । यत्परध्वजिनीदुर्गं[2] पञ्चशैलपरिष्कृतम् ॥५२॥
ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः । दिग्गजेन्द्रमिवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥५३॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः । दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥५४॥

समान थी ऐसी भगवान्‌की दिव्यध्वनि तीनों जगत्‌को पवित्र कर रही थी ॥३८॥ इस प्रकार प्रातिहार्य आदि विभवके साथ अनेक देशोंमें विहार कर देवोंके द्वारा पूजित होते हुए भगवान् महावीर फिरसे मगध देशमें आये ॥३९॥ वे भगवान् सप्त ऋद्धिरूपी सम्पदाको प्राप्त करनेवाले एवं समस्त श्रुतके पारगामी इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरोंसे सहित थे ॥४०॥ उन ग्यारह गणधरोंमें प्रथम गणधर इन्द्रभूति थे, द्वितीय अग्निभूति, तृतीय वायुभूति, चतुर्थ शुचिदत्त, पंचम सुधर्म, षष्ठ माण्डव्य, सप्तम मौर्यपुत्र, अष्टम अकम्पन, नवम अचल, दशम मेदार्य और अन्तिम प्रभास थे। ये सभी गणधर, तप्त दीप्त आदि तप, ऋद्धिके धारक तथा चार प्रकारकी बुद्धि ऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, अक्षीणऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और बलऋद्धिसे सम्पन्न थे ॥४१-४४॥ इनमें-से प्रारम्भके पाँच गणधरोंकी गण—शिष्य संख्या, प्रत्येककी दो हजार एक सौ तीस, उसके आगे छठे और सातवें गणधरकी गण संख्या प्रत्येककी चार सौ पचीस, तदनन्तर शेष चार गणधरोंकी गण संख्या प्रत्येककी छह सौ पचीस। इस प्रकार ग्यारह गणधरोंकी शिष्य संख्या चौदह हजार थी ॥४५-४६॥ इन चौदह हजार शिष्योंमें तीन सौ पूर्वके धारी, नौ सौ विक्रिया-ऋद्धिके धारक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके धारक, चार सौ परवादियोंको जीतनेवाले वादी और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र देवका, ग्यारह गणधरोंसे सहित चौदह हजार मुनियोंका संघ, नदियोंके प्रवाहसे सहित समुद्रके समान सुशोभित हो रहा था ॥४७-५०॥ इस तरह जगत्‌को विस्मयमें डालनेवाली आर्हन्त्य लक्ष्मीसे सहित श्रीवर्धमान जिनेन्द्र उस राजगृह नगरमें आये जो लक्ष्मीका मानो घर था और जिसमें अनेक उत्तमोत्तम घर सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ राजगृह नगरमें पाँच शैल हैं इसलिए उसका दूसरा नाम पंचशैलपुर भी है। यह श्री मुनिसुव्रत भगवान्‌के जन्मसे पवित्र है, शत्रु-सेनाओंके लिए दुर्गम है एवं पांच पर्वतोंसे सुशोभित है ॥५२॥ पाँचों पर्वतोंमें प्रथम पर्वतका नाम ऋषिगिरि है, यह चौकोर, झरते हुए निर्झरनोंसे सुशोभित है तथा ऐरावत हाथीके समान पूर्व दिशाको अत्यन्त सुशोभित कर रहा है ॥५३॥ वैभार नामका दूसरा पर्वत दक्षिण दिशामें है तथा त्रिकोण आकृतिका

१. देशान् । २. शत्रुसेनादुर्गमम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः । शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥५५॥
फलपुष्पभरानम्रलतापादपशोभिताः । पतन्निर्झरसंघातहारिणो गिरयस्तु ते ॥५६॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनाम् । सर्वेषां समवस्थानैः पावनोरुवनान्तराः ॥५७॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यसंघनिषेवितैः । नानातिशयसंबद्धैः सिद्धक्षेत्रैः [1]पवित्रिताः ॥५८॥
तत्र तस्थौ जिनः शैले विपुले विपुलेशितः[2] । शतक्रतुकृताशेषसमवस्थितिसंस्थितौ ॥५९॥
सौधर्मादिषु देवेषु मर्त्येषु श्रेणिकादिषु । संस्थितेषु तदा भूभृद् देवमर्त्यार्चितो बभौ ॥६०॥
ऋषयः प्राक्ततस्तस्थुर्जिनान्ते प्राप्तलब्धयः । यतयश्च कषायान्ता मुनयोऽतीन्द्रियेक्षिणः ॥६१॥
अनगारास्तथाऽन्ये ते संख्याताः संख्ययाऽखिलाः । चतुर्दशसहस्राणि साधिकानि गणाधिपैः ॥६२॥
पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि आर्यिकाणां गणस्थितिः । श्रावकास्त्वेकलक्षाश्च त्रिलक्षाः श्राविकास्तदा ॥६३॥
तेऽपि तस्थुर्यथास्थानं देव्यो देवाश्चतुर्विधाः । तिर्यञ्चोऽप्यावृतोऽभासीद् वीरो द्वादशभिर्गणैः ॥६४॥
ततस्त्रिभुवने तत्र धर्मशुश्रूषया स्थिते । बभाण भगवान् धर्मं गणेशप्रश्नपूर्वकम् ॥६५॥
सिद्धः सिद्धेतरश्च द्वौ सामान्यादुपयोगिनौ । जीवभेदौ विशेषात्तावनन्तानन्तभेदिनौ ॥६६॥
सद्दृग्बोधक्रियोपायसाधितोपेयसिद्धयः । सिद्धास्तत्र प्रसिद्धात्मसिद्धिक्षेत्रमधिष्ठिताः ॥६७॥

धारक है। तीसरा पर्वत विपुलाचल है यह दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यमें स्थित है और वैभारगिरिके समान त्रिकोण आकृतिवाला है ॥५४॥ चौथा पर्वत वलाहक है वह डोरीसहित धनुषके आकार है तथा तीन दिशाओंको व्याप्त कर स्थित है और पाँचवाँ पर्वत पाण्डुक है यह गोल है तथा पूर्व और उत्तर दिशाके अन्तरालमें सुशोभित है ॥५५॥ ये सभी पर्वत, फल और फूलोंके भारसे नम्रीभूत लताओंसे सुशोभित हैं और पड़ते हुए निर्झरोंके समूहसे मनोहर हैं ॥५६॥ केवल वासुपूज्य जिनेन्द्रको छोड़कर अन्य समस्त तीर्थंकरोंके समवसरणोंसे इन पाँचों पर्वतोंके बड़े-बड़े वन-प्रदेश पवित्र हुए हैं ॥५७॥ वे वन-प्रदेश तीर्थयात्राके लिए आये हुए अनेक भव्यजीवोंके समूहसे सेवित तथा नाना प्रकारके अतिशयोंसे सम्बद्ध सिद्धक्षेत्रोंसे पवित्र हैं ॥५८॥

अथानन्तर जहाँ इन्द्रने पहलेसे ही समवसरणकी सम्पूर्ण रचना कर रखी थी ऐसे विपुलाचल पर्वतपर विशाल ऐश्वर्यके धारक श्रीवर्धमान जिनेन्द्र जाकर विराजमान हुए ॥५९॥ उस समय सौधर्म आदि देव और श्रेणिक आदि मनुष्योंके सब ओर स्थित होनेपर देव और मनुष्योंसे व्याप्त हुआ वह पर्वत अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥६०॥ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले ऋषि श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के समीप सबसे पहले बैठे। उनके बाद कषायोंका अन्त करनेवाले यति, अतीन्द्रिय पदार्थोंका अवलोकन करनेवाले—प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनि और संख्यात अनगार बैठे, इस तरह ग्यारह गणधरोंके सहित चौदह हजार मुनि, पैंतीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक, तीस लाख श्राविकाएँ, चारों प्रकारके देव और देवियाँ तथा तिर्यंच ये सब यथास्थान बैठे। इन सब बारह सभाओंसे वेष्टित भगवान् अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥६१-६४॥

तदनन्तर जब धर्मश्रवण करनेकी इच्छासे तीनों लोकोंके जीव यथास्थान स्थित हो गये तब गणधरके प्रश्नपूर्वक श्रीतीर्थंकर भगवान्‌ने धर्मका उपदेश आरम्भ किया ॥६५॥ उन्होंने कहा कि सामान्य रूपसे सिद्ध और संसारीके भेदसे जीवके दो भेद हैं तथा दोनों ही भेद उपयोगरूप लक्षणसे युक्त हैं और विशेषकी अपेक्षा दोनों ही अनन्तानन्त भेदोंको धारण करनेवाले हैं ॥६६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी उपायके द्वारा जिन्होंने प्राप्त करने योग्य मुक्तिको प्राप्त कर लिया है तथा जो स्वरूपको प्राप्त कर सिद्धिक्षेत्र-लोकके अग्रभागपर तनुवात-वलयमें

१. प्रवर्त्तिताः घ. । २. विपुला ईशिता यस्य सः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षयात् पञ्चभेदस्य ज्ञानावरणस्य कर्मणः । दर्शनावरणस्यापि नवभेदस्य भेदनात् ॥६८॥
सातासातविकल्पस्य वेदनीयस्य नोदनात् । अष्टाविंशतिभेदस्य मोहनीयस्य हानितः ॥६९॥
चतुर्विधस्य निःशेषप्लोषणादायुषस्तथा । द्विचत्वारिंशतो नाशान्नाम्नो गोत्रद्वयस्य च ॥७०॥
पञ्चसंख्यस्य विध्वंसादन्तरायस्य कर्मणः । सिद्धानुपेत्य तिष्ठन्ति सिद्धास्त्रैलोक्यमूर्द्धनि ॥७१॥
सम्यक्त्वपरमानन्तकेवलज्ञानदर्शनाः । अनन्तवीर्यतात्यन्तसूक्ष्मत्वगुणलक्षिताः ॥७२॥
स्वभावगहनाहीनगुणावगाहनान्विताः । अव्याबाधात्मकानन्तसुखिनोऽगुरुलाघवाः ॥७३॥
प्रसिद्धाष्टगुणाः सिद्धा असंख्येयप्रदेशिनः । वर्णादिविंशतेर्नाशादमूर्त्तात्मतया स्थिताः ॥७४॥
ईषदूनसमाकारा वपुषश्चरमस्य ते । मूषापतितसद्व्योमस्वभावानुविधायिनः ॥७५॥
मृत्युजन्मजरानिष्टसंयोगेष्टवियोगजैः । क्षुत्तृष्णाव्याधिजैर्दुःखैरखिलैरखलीकृताः ॥७६॥
द्रव्यभावभवक्षेत्रकालभेदप्रपञ्चितैः । वियुक्ताः पञ्चभिर्मुक्ताः परिवर्त्तैः सुखात्मकाः ॥७७॥
असंयतचतुःस्थानात् संयतासंयतस्थितेः । नवधा संयतस्थानादसिद्धस्त्रिविधः स्मृतः ॥७८॥
मोहस्योदयतो जीवः क्षयोपशमतद्द्वयात् । पारिणामिकभावस्थो गुणस्थानेषु वर्तते ॥७९॥
मिथ्यादृष्टिर्यथार्थोऽन्यः सासादन इतीरितः । सम्यग्मिथ्यादृगन्योऽस्ति सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥८०॥
संयतासंयतोऽन्वर्थस्तत ऊर्ध्वमुदीरितः । प्रमत्तसंयतस्तस्मादप्रमत्तश्च संयतः ॥८१॥
उपशान्तकषायात् प्रागपूर्वकरणादिषु । क्षपकाः सोपशमकास्त्रिषु स्थानेषु वर्णिताः ॥८२॥
ऊर्ध्वं क्षीणकषायोऽस्मात् सयोगः केवली प्रभुः । अयोगकेवली चेति गुणस्थानक्रमस्थितिः ॥८३॥
नवस्थानेषु निर्ग्रन्थाः रूपभेदविवर्जिताः । अध्यात्मकृतनानात्वादुपर्युपरिशुद्धयः ॥८४॥

स्थित हो गये हैं वे सिद्ध कहलाते हैं ॥६७॥ ये पाँच प्रकारका ज्ञानावरण, नौ प्रकारका दर्शनावरण, साता-असाताके भेदसे दो प्रकारका वेदनीय, अट्ठाईस प्रकारका मोहनीय, चार आयु, बयालीस प्रकारका नाम, दो प्रकारका गोत्र और पाँच प्रकारका अन्तराय कर्म नष्ट कर अनन्त पूर्वसिद्धोंमें समाविष्ट हो तीन लोकके अग्रभागपर विराजमान रहते हैं ॥६८–७१॥ सम्यक्त्व, अनन्त केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अत्यन्त सूक्ष्मत्व, स्वाभाविक अवगाहनत्व, अव्याबाध अनन्तसुख और अगुरुलघु इन आठ प्रसिद्ध गुणोंसे सहित हैं, असंख्यात प्रदेशी हैं, पुद्गल सम्बन्धी वर्णादि बीस गुणोंके नष्ट होनेसे अमूर्तिक हैं, अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून आकारके धारक हैं, मोमके साँचेके भीतर स्थित आकाशके समान हैं, जन्म-जरा-मरण, अनिष्ट, संयोग, इष्ट वियोग तथा क्षुधा, तृष्णा, बीमारी आदिसे उत्पन्न समस्त दुःखोंसे रहित हैं तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पाँच प्रकारके परिवर्तनोंसे रहित होनेके कारण सुख स्वरूप हैं ॥७२–७७॥ असिद्ध अर्थात् संसारी जीव असंयत, संयतासंयत और संयतके भेदसे तीन प्रकारके माने गये हैं। इनमें-से असंयत अवस्था तो प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें है, संयतासंयत अवस्था पंचम गुणस्थानमें है और संयत अवस्था छठे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक नौ गुणस्थानोंमें है ॥७८॥ पारिणामिक भावोंमें स्थित रहनेवाला जीव मोहनीय कर्मके उदय, क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमके निमित्तसे गुणस्थानोंमें प्रवृत्त होता है ॥७९॥ गुणस्थान चौदह हैं, उनमें-से प्रथम गुणस्थान मिथ्यादृष्टि है जो कि सार्थक नामको धारण करनेवाला है, दूसरा सासादन, तीसरा मिश्र, चौथा असंयत सम्यग्दृष्टि, पाँचवाँ संयतासंयत, छठा प्रमत्त संयत, सातवाँ अप्रमत्त संयत, आठवाँ अपूर्वकरण, नौवाँ अनिवृत्तिकरण, दशवाँ सूक्ष्मसाम्पराय, ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय, बारहवाँ क्षीणमोह, तेरहवाँ सयोगकेवली और चौदहवाँ अयोगकेवली है। इनमें-से उपशान्त कषायके पूर्ववर्ती अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके होते हैं ॥८०–८३॥ छठेसे लेकर चौदहवें तक नौ गुणस्थानोंमें रहनेवाले मनुष्योंमें बाह्यरूपकी अपेक्षा कोई भेद नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयतासंयतान्तेषु गुणस्थानेषु पञ्चसु । रूपं प्रत्यभिभेदोऽस्ति यथाध्यात्मकृतस्तथा ॥८५॥
तत्र केवलिनां सौख्यं सयोगानामयोगिनाम् । लब्धक्षायिकलब्धीनामनन्तं नेन्द्रियार्थजम् ॥८६॥
कषायप्रशमोद्भूतं कषायक्षयजं तथा । अपूर्वकरणादीनामुभयेषां परं सुखम् ॥८७॥
निद्रेन्द्रियकषायारिविकथाप्रणयात्मकैः । प्रमादैरप्रमत्तानां सुखं प्रशमसद्रसम् ॥८८॥
हिंसानृतपरादत्तग्रहाब्रह्मपरिग्रहात् । निवृत्तानां प्रमत्तानामपि सौख्यं शमात्मकम् ॥८९॥
हिंसादिभ्यो यथाशक्ति देशतो विरतात्मनाम् । संयतासंयतानां च महातृष्णाजयात् सुखम् ॥९०॥
यद्यप्यविरता तृष्णाहिंसादेरपि देशतः । सत्सम्यग्दृष्टयोऽश्नन्ति तत्त्वश्रद्धानजं सुखम् ॥९१॥
परस्परविरुद्धात्मसम्यग्मिथ्यादृगङ्गिनाम् । सम्यग्मिथ्यादृशामन्तः सुखदुःखविमिश्रिताः ॥९२॥
सम्यक्त्वं [1]वमतामन्तर्भावः सासादनात्मनाम् । यथा क्षीरघृतोन्मिश्रशर्करोद्गारकारिणाम् ॥९३॥
सप्तप्रकृतिमिश्रेण मोहेन मतिभेदिना । राज्येनेव विमूढस्य मिथ्यादृष्टेः कुतः सुखम् ॥९४॥

है। सब निर्ग्रन्थमुद्राके धारक हैं परन्तु आत्माकी विशुद्धताकी अपेक्षासे उनमें भेद है। जैसे-जैसे ऊपर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे ही उनमें विशुद्धता बढ़ती जाती है ॥८४॥ प्रथमसे लेकर संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थान तक जिस प्रकार रूप—बाह्यवेषकी अपेक्षा भेद है उसी प्रकार आत्म-विशुद्धिकी अपेक्षा भी भेद है ॥८५॥ इन गुणस्थानोंमें-से सबसे अधिक सुख तो क्षायिक लब्धियोंको प्राप्त करनेवाले सयोगकेवली और अयोग केवलीके होता है। इनका सुख अन्त रहित होता है तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंसे उत्पन्न नहीं होता ॥८६॥ उनके बाद उपशमक अथवा क्षपक दोनों प्रकारके अपूर्वकरणादि जीवोंके, कषायोंके उपशमक अथवा क्षयसे उत्पन्न होनेवाला परम सुख होता है ॥८७॥ तदनन्तर उनसे कम एक निद्रा, पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, चार विकथा और एक स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे रहित अप्रमत्त संयत जीवोंके प्रशम रसरूप सुख होता है ॥८८॥ उनके बाद हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्त प्रमत्त संयत जीवोंके शान्तिरूप सुख होता है ॥८९॥ तदनन्तर हिंसा आदि पाँच पापोंसे यथाशक्ति एकदेश निवृत्त होनेवाले संयतासंयत जीवोंके महातृष्णापर विजय प्राप्त होनेके कारण सुख होता है ॥९०॥ उनके बाद अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि हिंसादि पापोंसे एकदेश भी विरत नहीं हैं तथापि तत्त्वश्रद्धान-से उत्पन्न सुखका उपभोग करते ही हैं ॥९१॥ उनके पश्चात् परस्पर विरुद्ध सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणामोंको धारण करनेवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके अन्तःकरण सुख और दुःख दोनोंसे मिश्रित रहते हैं ॥९२॥ सम्यग्दर्शनको उगलनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका अन्तर्भाव उस प्रकारका होता है जिस प्रकारका दूध और घीसे मिश्रित शक्कर खाकर उसकी डकार लेने-वालोंका होता है। भावार्थ—सम्यक्त्वके छूट जानेसे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंको सुख तो नहीं होता किन्तु सुखका कुछ आभास होता है जिस प्रकार कि दूध, घी, शक्कर आदि खानेवालोंको पीछेसे उसकी डकार द्वारा मधुर रसका आभास मिलता है। उसी प्रकार इनके सुखका आभास जानना चाहिए ॥९३॥ तदनन्तर जो स्वप्नके राज्यके समान बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले सप्तप्रकृतिक मोहसे अत्यन्त मूढ़ हो रहा है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवको सुख कहाँ प्राप्त हो सकता है ॥९४॥

विशेषार्थ—मोह और योगके निमित्तसे आत्माके परिणामोंमें जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थानके निम्न प्रकार १४ भेद हैं—१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ असंयत सम्यग्दृष्टि, ५ संयतासंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्त संयत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनि-वृत्तिकरण, १० सूक्ष्म साम्पराय, ११ उपशान्त मोह, १२ क्षीण मोह, १३ संयोगकेवली और १४ अयोगकेवली। इनमें-से प्रारम्भके १२ गुणस्थान मोहके निमित्तसे होते हैं और अन्तके

१. दूरीकुर्वताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२ गुणस्थान योगके निमित्तसे। मोह कर्मकी १ उदय, २ उपशम, ३ क्षय और ४ क्षयोपशम ऐसी चार अवस्थाएँ संक्षेपमें होती हैं। इन्हींके निमित्तसे जीवके परिणामोंमें तारतम्य उत्पन्न होता है। **उदय**—आबाधा पूर्ण होनेपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार कर्मोंके निषेकोंका अपना फल देने लगना उदय कहलाता है। **उपशम**—अन्तर्मुहूर्तके लिए कर्म निषेकोंके फल देनेकी शक्तिका अन्तर्हित हो जाना उपशम कहलाता है। जिस प्रकार निर्मली या फिटकिरीके सम्बन्धसे पानीकी कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्यक्षेत्रादिका अनुकूल निमित्त मिलनेपर कर्मके फल देनेकी शक्ति अन्तर्हित हो जाती है। **क्षय**—कर्म प्रकृतियोंका समूल नष्ट हो जाना क्षय है, जिस प्रकार मलिन पानीमें-से कीचड़के परमाणु बिलकुल दूर हो जानेपर उसमें स्थायी स्वच्छता आ जाती है उसी प्रकार कर्म परमाणुओंके बिलकुल निकल जानेपर आत्मामें स्थायी स्वच्छता उद्भूत हो जाती है। **क्षयोपशम**—वर्तमान कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती स्पर्द्धकोंको उदयाभावी क्षय और उन्हींके आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय रहना इसे क्षयोपशम कहते हैं। कर्म प्रकृतियोंकी उदयादि अवस्थाओंमें आत्माके जो भाव होते हैं उन्हें क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जिसमें कर्मोंकी उक्त अवस्थाएँ कारण नहीं होतीं उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। अब गुणस्थानोंके संक्षिप्त स्वरूपका निदर्शन किया जाता है—

१. **मिथ्यादृष्टि**—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उदयसे जिसकी आत्मामें अतत्त्वश्रद्धान उत्पन्न रहता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस जीवको न स्व-परका भेद ज्ञान होता है, न जिनप्रणीत तत्त्वका श्रद्धान होता है और न आप्त आगम तथा निर्ग्रन्थ गुरुपर विश्वास ही होता है।

२. **सासादन सम्यग्दृष्टि**—सम्यग्दर्शनके कालमें एक समयसे लेकर छह आवली तकका काल बाकी रहनेपर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमें-से किसी एकका उदय आ जानेके कारण जो चतुर्थ गुणस्थानसे नीचे आ पड़ता है परन्तु अभी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नहीं आ पाया है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण आसादन अर्थात् विराधनासे सहित हो जाता है।

३. **मिश्र**—सम्यग्दर्शनके कालमें यदि मिश्र अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आ जाता है तो यह चतुर्थ गुणस्थानसे गिरकर तीसरे मिश्र गुणस्थानमें आ सकता है। जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीवका परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे मिश्रित रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थानसे गिरकर ही तृतीय गुणस्थानमें आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानसे भी तृतीय गुणस्थानमें पहुँच जाता है।

४. **असंयत सम्यग्दृष्टि**—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन पाँच प्रकृतियोंके और सादि मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात अथवा पाँच प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर जिसकी आत्मामें तत्त्व श्रद्धान तो प्रकट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय रहनेमें संयम भाव जागृत नहीं हुआ है उसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

५. **संयतासंयत**—अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम होनेपर जिसके एकदेश चरित्र प्रकट हो जाता है उसे संयतासंयत कहते हैं। यह त्रस हिंसासे विरत हो जाता है इसलिए संयत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है और स्थावर हिंसासे विरत नहीं होता इसलिए असंयत कहलाता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम और प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें तारतम्य होनेसे दार्शनिक आदि ग्यारह अवान्तर भेद हैं।

६. **प्रमत्तसंयत**—प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम और संज्वलनका तीव्र उदय रहनेपर जिसकी आत्मामें प्रमाद सहित संयम प्रकट होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। इस गुणस्थानका धारक नग्न मुद्रामें रहता है। यद्यपि यह हिंसादि पापोंका सर्वदेश त्याग कर चुकता है तथापि संज्वलन चतुष्कका तीव्र उदय साथमें रहनेसे इसके चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा तथा स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे इसका आचरण चित्रल—दूषित बना रहता है।

७. **अप्रमत्तसंयत**—संज्वलनके तीव्र उदयकी अवस्था निकल जानेके कारण जिसकी आत्मासे ऊपर कहा हुआ पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नष्ट हो जाता है उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके स्वस्थान और सातिशयकी अपेक्षा दो भेद हैं जो छठे और सातवें गुणस्थानमें ही झूलता रहता है वह स्वस्थान कहलाता है और जो उपरितन गुणस्थानमें चढ़नेके लिए अधःकरणरूप परिणाम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्तसंयत कहलाता है। जिसमें समसमय अथवा भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकारके होते हैं उसे अधःकरण कहते हैं।

८. **अपूर्वकरण**—जहाँ प्रत्येक समयमें अपूर्व-अपूर्व—नवीन-नवीन ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें सम समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकारके होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं।

९. **अनिवृत्तिकरण**—जहाँ सम समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। ये अपूर्व करणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धताको लिये हुए होते हैं तथा संज्वलन चतुष्कके उदयकी मन्दतामें क्रमसे प्रकट होते हैं।

१०. **सूक्ष्म साम्पराय**—जहाँ केवल संज्वलन लोभका सूक्ष्म उदय रह जाता है उसे सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। अष्टम गुणस्थानसे उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियाँ प्रकट होती हैं। जो चारित्र मोहका उपशम करनेके लिए प्रयत्नशील हैं वे उपशम श्रेणीमें आरूढ़ होते हैं और जो चारित्र मोहका क्षय करनेके लिए प्रयत्नशील हैं वे क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ होते हैं। परिणामोंकी स्थितिके अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणीमें यह जीव स्वयं आरूढ़ हो जाता है, बुद्धिपूर्वक आरूढ़ नहीं होता। क्षपक श्रेणीपर क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही आरूढ़ हो सकता है पर उपशम श्रेणीपर औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दृष्टि आरूढ़ हो सकते हैं। यहाँ विशेषता इतनी है कि जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणीपर आरूढ़ होगा वह श्रेणीपर आरूढ़ होनेके पूर्व अनन्तानुबन्धी-की विसंयोजना कर उसे सत्तासे दूर कर द्वितीयौपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जायेगा। जो उपशम श्रेणी-पर आरूढ़ होता है वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानके अन्त तक चारित्र मोहका उपशम कर चुकता है और क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होता है वह चारित्र मोहका क्षय कर चुकता है।

११. **उपशान्तमोह**—उपशम श्रेणीवाला जीव दसवें गुणस्थानमें चारित्र मोहका पूर्ण उपशम कर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थानमें आता है। इसका मोह पूर्ण रूपमें शान्त हो चुकता है और शरद् ऋतुके सरोवरके समान इसकी सुन्दरता होती है। अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थानमें ठहरनेके बाद यह जीव नियमसे नीचे गिर जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पटप्रकृतिना सम्यग्बोधावृतिविधायिना । प्रतीहारात्मनान्येन ज्येष्ठदर्शनरोधिना ॥९५॥
मधुदिग्धोग्रखड्गाग्रधारामाधुर्यधारिणा । मद्येनेव परेणातिमतिविभ्रमकारिणा ॥९६॥
दृढेन निगडेनेव गतिधारणकारिणा । तथा चित्रकरेणेव विचित्राकारसर्गिणा ॥९७॥
कुलालेनेव चान्येन नीचैरुच्चैर्नियोगिना । [1]भाण्डाकरकरेणेव लभ्यविघ्नविधायिना ॥९८॥
कर्मणोऽष्टविधस्येवं भेदेन फलदायिना । मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने बाध्यन्ते जन्तवो भवे ॥९९॥
स्थानेषु नियमेनोर्ध्वं त्रयोदशसु भव्यता । जीवानां प्रथमस्थाने भव्यताऽभव्यताद्वयम् ॥१००॥

१२. **क्षीणमोह**—क्षपक श्रेणीवाला जीव दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहका पूर्ण क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें आता है यहाँ इसका मोह बिलकुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिकके भाजनमें रखे हुए स्वच्छ जलके समान इसकी स्वच्छता होती है।

१३. **सयोगकेवली**—बारहवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका युगपत् क्षय कर जीव तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है। यहाँ इसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है इसलिए केवली कहलाता है और योगोंकी प्रवृत्ति जारी रहनेसे सयोग कहा जाता है। दोनों विशेषताओंको लेकर इसका सयोगकेवली नाम प्रचलित है।

१४. **अयोगकेवली**—जिनकी योगोंकी प्रवृत्ति दूर हो जाती है उन्हें अयोगकेवली कहते हैं। यह जीव इस गुणस्थानमें 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने ही काल तक ठहरता है। अनन्तर शुक्लध्यानके चतुर्थ पादके प्रभावसे सत्तामें स्थित पचासी प्रकृतियोंका क्षय कर एक समयमें सिद्ध क्षेत्रमें पहुँच जाता है।

आचार्य जिनसेनने उक्त चौदह गुणस्थानोंमें सुखके तारतम्यका भी विचार किया है। सुख आत्माका गुण है और वह उसमें सदा विद्यमान रहता है परन्तु मोहके उदयसे उसका विभाव परिणमन होता रहता है अतः ज्यों-ज्यों मोहका सम्पर्क आत्मासे दूर होता जाता है त्यों-त्यों सुख गुण अपने स्वभावरूप परिणमन करने लगता है। मिथ्यादृष्टि जीवके मोहका पूर्ण उदय है इसलिए उसके सुखका बिलकुल अभाव बतलाया है। मिथ्यादृष्टि जीवके जो विषय सम्बन्धी सुख देखा जाता है वह सुखका स्वाभाविक रूप न होकर वैभाविक रूप ही है। बारहवें गुणस्थानमें मोहका सम्पर्क बिलकुल छूट जाता है इसलिए वहाँ सुख स्वभावरूपमें प्रकट हो जाता है परन्तु वहाँ उस सुखको वेदन करनेके लिए अनन्त ज्ञानका अभाव रहता है इसलिए उसे अनन्त सुख नहीं कहते। केवलज्ञान होनेपर वही सुख अनन्त सुख कहलाने लगता है।

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तरायके भेदसे कर्म आठ प्रकारके हैं। इनमें-से ज्ञानावरण कर्मपटके समान सम्यग्ज्ञानको ढकनेवाला है। दर्शनावरण कर्म द्वारपालके समान श्रेष्ठ दर्शनको रोकनेवाला है। वेदनीय कर्म मधुसे लिप्त तलवारकी तीक्ष्ण धाराके समान माधुर्यको धारण करनेवाला है। मोहकर्म मदिराके समान बुद्धिमें विभ्रम उत्पन्न करनेवाला है। आयुकर्म सुदृढ़ बेड़ीके समान किसी निश्चित गतिमें रोकनेवाला है। नामकर्म चित्रकारके समान विचित्र आकारोंकी सृष्टि करनेवाला है। गोत्रकर्म कुम्हारके समान उच्च-नीचका व्यवहार करनेवाला है और अन्तरायकर्म भाण्डारीके समान प्राप्त होने योग्य पदार्थोंमें विघ्न करनेवाला है। इस प्रकार फल देनेवाले आठ प्रकारके कर्मोंसे ये प्राणी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें निरन्तर बद्ध होते रहते हैं ॥९५-९९॥ दूसरे गुणस्थानसे लेकर अन्तिम गुणस्थान तकके तेरह गुणस्थानोंमें नियमसे जीवोंके भव्यपना ही रहता है और प्रथम गुणस्थानमें

१. भाण्डागार क., भाण्डाकार घ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिपुरःसराः । मोक्षप्राप्तिक्षमा भव्या अभव्यास्तद्विलक्षणाः ॥१०१॥
आसन्नभव्यता हेतोरर्वाग्दर्शिभिरुह्यते । विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रत्रयलक्षणात् ॥१०२॥
सदाप्तवचनादेव बोद्धव्या दूरभव्यता । अभव्यता च भूतानामहेतुविषया ततः ॥१०३॥
जीवस्वभावभावोऽयं भव्याभव्यत्वलक्षणः । [1]एकाधारचुटन्माषकङ्कटूकात्ममाषवत् ॥१०४॥
अनादिरन्तवान् भव्यव्यक्तीनां भवसागरः । भव्यसंतानसामान्यचिन्तनादन्तवर्जितः ॥१०५॥
अनादिरपि चानन्तः संतानाद् व्यक्तितोऽपि च । अभव्यजीवराशीनां भवव्यसनसागरः ॥१०६॥
भव्याभव्या भवेऽनन्ता जीवराशिद्वये स्थिताः । मिथ्यात्वाद् भुञ्जते दुःखं कालद्रव्यवदक्षयाः ॥१०७॥
द्रव्यपर्यायरूपत्वान्नित्यानित्योभयात्मकाः । मिथ्यात्वासंयमैर्योगैः कषायैः कलुषीकृताः ॥१०८॥
बध्नानाः सततं पाप-कर्म दुर्मोचबन्धनम् । जन्तवः परिवर्त्तन्ते चतुर्गतिषु दुःखिनः ॥१०९॥
रौद्रध्यानाविलात्मानो बह्वारम्भपरिग्रहाः । मिथ्यात्वाष्टमदक्लिष्टा विशिष्टानिष्टदृष्टयः ॥११०॥
स्वप्रशंसापरा निन्द्याः परनिन्दाभिनन्दिनः । परस्वहरणे लुब्धा भोगतृष्णातिरेकिणः ॥१११॥

भव्यपना तथा अभव्यपना दोनों ही सम्भव हैं ॥१००॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी प्राप्तिपूर्वक जो जीव मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ हैं वे भव्य कहलाते हैं और जो इनसे विपरीत हैं वे अभव्य कहे जाते हैं ॥१०१॥ जो विशुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूपी लक्षणसे युक्त हैं वे आसन्नभव्य हैं और उनकी आसन्नभव्यता आधुनिक पुरुषोंके द्वारा भी जानी जा सकती है। परन्तु दूर भव्यता और अभव्यता सदा आप्त भगवान्के वचनोंसे ही जानी जा सकती है क्योंकि वह साधारण प्राणियोंके हेतुका विषय नहीं है अर्थात् साधारण व्यक्ति उसे हेतु द्वारा जान नहीं सकते ॥१०२-१०३॥ यह भव्यत्व और अभव्यत्व भाव जीवका स्वाभाविक—पारिणामिक भाव है तथा एक बरतनमें भरकर सीजनेके लिए अग्निपर रखे हुए सीजनेवाले और न सीजनेवाले उड़दके समान हैं। भावार्थ—भव्यजीव निमित्त मिलनेपर सिद्ध पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं और अभव्य जीव बाह्य निमित्त मिलनेपर भी निजकी योग्यता न होनेसे सिद्ध पर्याय नहीं प्राप्त कर पाते ॥१०४॥ भव्य जीवोंका संसार-सागर अनादि और सान्त है तथा सामान्य भव्यजीवोंकी अपेक्षा अनादि अनन्त है ॥१०५॥ अभव्यजीव राशिका संसारसागर व्यक्ति तथा समूह दोनोंकी अपेक्षा अनादि अनन्त है ॥१०६॥

संसारमें जीवोंकी दो राशियाँ हैं—एक भव्य और दूसरी अभव्य। ये दोनों ही प्रकारकी राशियाँ अनन्त हैं, मिथ्यात्व कर्मके उदयसे दुःख भोगती रहती हैं और कालद्रव्यके समान अक्षय—अविनाशी हैं अर्थात् जिस प्रकार कालद्रव्यका कभी अन्त नहीं होता उसी प्रकार उन दोनों राशियोंका भी कभी अन्त नहीं होता ॥१०७॥ ये जीव द्रव्यकी अपेक्षा नित्य हैं पर्यायको अपेक्षा अनित्य हैं, तथा एक साथ दोनोंकी अपेक्षा उभयात्मक—नित्यानित्यात्मक हैं, मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषायके द्वारा कलुषित हो रहे हैं तथा जिसका छूटना कठिन है ऐसे पापकर्मका निरन्तर बन्ध करते हुए दुःखी हो चारों गतियोंमें घूमते रहते हैं ॥१०८-१०९॥

जिनकी आत्मा निरन्तर रौद्रध्यानसे मलिन है, जो बहुत आरम्भ और परिग्रहसे सहित हैं, मिथ्यादर्शन तथा ज्ञानमद, पूजामद आदि आठ मदोंसे क्लेश उठाते हैं, जिनकी दृष्टि अत्यन्त अनिष्टरूप है, जो आत्मप्रशंसामें तत्पर हैं, निन्दनीय हैं, दूसरेकी निन्दासे आनन्द मानते हैं,

१. चुटन्माषाश्च कङ्कटूकात्ममाषाश्चेति चुटन्माषकङ्कटूकात्ममाषाः, एकाधाराश्च ते चुटन्माषकङ्कटूकात्ममाषाश्च, ते तथोक्ताः तेषामिव तद्वत् । एकाधारे एकस्मिन् भाजने एके चुटन्माषाः निष्पन्नाः, अन्ये कङ्कटूकात्ममाषाः अनिष्पन्नाः तेषामिव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मधुमांससुराहारा मानुषाः कर्मभूमिजाः । तिर्यञ्चो व्याघ्रसिंहाद्या बन्धका नारकायुषः ॥११२॥
जायन्ते चातिशीतोष्णदह्यमानशरीरिषु । चण्डा नरककुण्डेषु नारकाः षण्डकात्मकाः[1] ॥११३॥
न तद् द्रव्यं न तत् क्षेत्रं न सा कालकलाऽपि च । स्वभावो यत्र दुःखस्य विश्रामो नरकौकसाम् ॥११४॥
लाभः साधारणस्तेषामकाले मरणं न यत् । वल्लभं जीवलोकस्य सुलभं चिरजीवितम् ॥११५॥
रत्नप्रभादिषु ज्ञेयं पृथिवीष्वथ सप्तसु । महातमःप्रभान्तासु प्रमाणमिदमायुषः ॥११६॥
एकसंख्यस्ततः सप्त दश सप्तदश क्रमात् । द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत् सागराः परमा स्थितिः ॥११७॥
पूर्वात्पूर्वादधोऽधः स्यात् जघन्या समयाधिका । दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां क्षितौ स्थितिः ॥११८॥
क्रोधमानमहामायालोभचिन्तावशीकृताः । आर्तध्यानमहावर्त्तसततभ्रान्तमानसाः ॥११९॥
तिर्यञ्चो मानुषा देवा नारका वा कुदृष्टयः । तिर्यग्गतिं प्रपद्यन्ते त्रसस्थावरसंकुलाम् ॥१२०॥
पृथिव्यप्कायभेदेषु ते तेजोऽनिलमूर्तिषु । वनस्पतिषु चाश्नन्ति जन्मदुःखं पुनः पुनः ॥१२१॥
कृम्यादिद्वीन्द्रियेष्वेके यूकादित्रीन्द्रियेष्वपि । चतुरिन्द्रियभेदेषु भ्रमन्ति भ्रमरादिषु ॥१२२॥
पञ्चेन्द्रियप्रकारेषु पक्षिमत्स्यमृगादिषु । ते भजन्ते चिरं दुःखं तिर्यग्जन्मनि जन्तवः ॥१२३॥
अन्तर्मुहूर्त्तकालज्ञातिरश्चामधरा स्थितिः । पूर्वकोटीः परा भोगभूमौ पल्योपमत्रयम् ॥१२४॥
स्वभावादार्जवोपेताः स्वभावान्मृदवो मताः । स्वभावाद् भद्रशीलाश्च स्वभावात् पापभीरवः ॥१२५॥

दूसरेका धन हरण करनेके लोभी हैं, जिन्हें भोगोंकी तृष्णा अत्यधिक है, जो मधु, मांस और मदिराका आहार करते हैं ऐसे कर्मभूमिके मनुष्य और व्याघ्र, सिंह आदि तिर्यंच नरकायुका बन्ध करते हैं ॥११०-११२॥ एवं जहाँ अत्यन्त शीत और उष्णतासे शरीर जल रहे हैं ऐसे नरककुण्डोंमें अत्यन्त क्रोधी नारकी उत्पन्न होते हैं। वहाँ इन नारकियोंके खण्ड-खण्ड हो जाते हैं ॥११३॥ वहाँ न वह द्रव्य है, न क्षेत्र है और न वह कालकी कला भी है जहाँ नारकी जीवोंके दुःखका स्वाभाविक विश्राम हो सके ॥११४॥ उन नारकियोंके यदि एक साधारण लाभ है, तो यही कि उनका अकालमें मरण नहीं होता। संसारके समस्त प्राणियोंको चिरकाल तक जीवित रहना प्रिय है सो यह चिरजीवन नारकियोंको सुलभ है ॥११५॥ रत्नप्रभाको आदि लेकर महातमःप्रभा पर्यन्त—सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी आयुका प्रमाण क्रमसे एकसागर, तीनसागर, सातसागर, दशसागर, सत्रहसागर, बाईससागर और तैंतीससागर जानना चाहिए। यह इनकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥११६-११७॥ पूर्व-पूर्व नरकोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वही एक समय अधिक होनेपर आगामी नरकोंकी जघन्य स्थिति कहलाती है। प्रथम नरककी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है ॥११८॥

जो क्रोध, मान, महामाया और लोभके कारण चिन्तातुर है तथा आर्तध्यानरूपी बड़ी भारी भँवरके कारण जिनका मन निरन्तर घूमता रहता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकी त्रसस्थावर जीवोंसे भरी हुई तिर्यंचगतिको प्राप्त होते हैं ॥११९-१२०॥ तिर्यंचगतिमें जन्म लेनेवाले प्राणी पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें बार-बार जन्म लेनेका दुःख भोगते रहते हैं ॥१२१॥ कितने ही कृमि आदि दो इन्द्रियोंमें, यूक आदि तीन इन्द्रियोंमें, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रियोंमें और पक्षी, मत्स्य, मृग आदि पंचेन्द्रियोंमें चिरकाल तक दुःख भोगते हैं ॥१२२-१२३॥ कर्मभूमिज तिर्यंचोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक करोड़ वर्ष पूर्वकी है तथा भोगभूमिज तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य एक पल्य प्रमाण है ॥१२४॥

जो मनुष्य स्वभावसे ही सरल हैं, स्वभावसे ही कोमल हैं, स्वभावसे ही भद्र हैं, स्वभावसे

---

१. खण्डकात्मकाः म. । २. कालस्य तिरश्चा—म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृत्या मधुमांसादिसावद्याहारवर्जिताः । अर्जयन्ति सुमानुष्यं कुमानुष्यं कुकर्मभिः ॥१२६॥
पापनिर्जरणात् कैश्चित् तिर्यग्नारकजन्तुभिः । प्राप्यते प्रियमानुष्यं देवैश्च शुभकर्मभिः ॥१२७॥
मनुष्यत्वेऽपि जन्तूनामार्यम्लेच्छकुलाकुले । दुःखमेवेप्सितालाभाद् विप्रयोगाप्रियैर्जनैः ॥१२८॥
नापि प्राप्तेप्सितार्थानां संयुक्तानां प्रियैर्जनैः । विषयेन्धनदीप्तेच्छापावकानां नृणां सुखम् ॥१२९॥
यदेव जायते नृत्वं केषांचिन्मोक्षकारणम् । आसन्नभव्यसत्त्वानां दर्शनादिनिषेविणाम् ॥१३०॥
तदेव जायतेऽन्येषां दीर्घसंसारकारणम् । सुदूरभव्यसत्त्वानां नरत्वं मुग्धचेतसाम् ॥१३१॥
कर्मभूमिषु सर्वासु भोगभूमिषु च स्थिती । तिरश्चामिव निश्चेये नृस्थिती च परावरे ॥१३२॥
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च मूलपत्रफलाशिनः । उपशान्तधियोऽभ्यस्तकषायेन्द्रियनिग्रहाः ॥१३३॥
तापसा बालतपसः कायक्लेशपरायणाः । अकामनिर्जरायुक्तास्तिर्यञ्चो बन्धरोधिनः ॥१३४॥
भावना व्यन्तरा देवा ज्योतिष्काः कल्पवासिनः । अल्पर्द्धयो हि जायन्ते ते मिथ्यात्वमलीमसाः ॥१३५॥
देवाः कन्दर्पनामानो नित्यं कन्दर्परञ्जिताः । आभियोग्याः सभाऽयोग्याः किल्बिषकादयः ॥१३६॥
ते महर्द्धिकदेवानां दृष्ट्वैश्वर्यं महोदयम् । देवदुर्गतिदुःखार्ता दुःखमश्नन्ति मानसम् ॥१३७॥
सम्यग्दर्शनलाभस्य दुर्लभत्वादभव्यवत् । भव्या अपि निमज्जन्ति भवदुःखमहोदधौ ॥१३८॥
भावनानां भवत्यब्धिः साधिकः परमा स्थितिः । भौमानां पल्यमन्या तु दशवर्षसहस्रिका ॥१३९॥
ज्योतिषां साधिकं पल्यं पल्याष्टांशोऽवरा परा । स्वर्गिणां सागराः पल्यं साधिकं ह्यपरा स्थितिः ॥१४०॥

ही पाप-भीरु हैं और स्वभावसे ही मधु-मांसादि सावद्य आहारके त्यागी हैं वे उत्तम मनुष्यपर्याय प्राप्त करते हैं तथा जो खोटे कर्म करते हैं वे खोटी मनुष्यपर्याय प्राप्त करते हैं ॥१२५-१२६॥ पाप कर्मोंकी निर्जरा होनेसे कितने ही तिर्यंच तथा नारकी और शुभ कर्म करनेवाले देव भी उत्तम पर्याय प्राप्त करते हैं ॥१२७॥ आर्य तथा म्लेच्छ कुलसे भरा हुआ मनुष्य जीवन प्राप्त होनेपर भी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होनेसे तथा प्रियजनोंके साथ वियोग होनेके कारण जीवोंको दुःख ही प्राप्त होता रहता है ॥१२८॥ कितने ही मनुष्योंको यद्यपि इच्छित पदार्थ प्राप्त होते रहते हैं और प्रियजनोंके साथ उनका समागम भी होता रहता है तथापि विषयरूपी ईंधनके द्वारा उनकी इच्छारूपी अग्नि निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है। इसलिए उन्हें सुख प्राप्त नहीं होता ॥१२९॥ जो मनुष्य भव, सम्यग्दर्शनादिको धारण करनेवाले किन्हीं निकट भव्य जीवोंको मोक्षका कारण होता है वही मनुष्य भव, मोहपूर्ण चित्तको धारण करनेवाले दूरानुदूर भव्य जीवोंको दीर्घ संसारका कारण है ॥१३०-१३१॥ समस्त कर्मभूमियों और भोगभूमियोंमें मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति तिर्यंचोंके समान जानना चाहिए ॥१३२॥

जो केवल जल, वायु अथवा वृक्षोंके मूल, पत्र तथा फलोंका भक्षण करते हैं, जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है, जिन्होंने कषाय तथा इन्द्रियोंके निग्रहका अभ्यास कर लिया है, जो बालतप करते हैं तथा जो कायक्लेश करनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे तापसी और अकामनिर्जरासे युक्त बन्धनबद्ध तिर्यंच, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा अल्प ऋद्धिके धारक कल्पवासी देव होते हैं। ये सब मिथ्यादर्शनसे मलिन होते हैं ॥१३३-१३५॥ इनमें जो कन्दर्प नामके देव हैं वे निरन्तर कामसे आकुलित रहते हैं, आभियोग्य जातिके देव सभामें बैठनेके अयोग्य होते हैं और किल्विषक देव सदा संक्लेशका अनुभव करते रहते हैं ॥१३६॥ ये बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देवोंके महाभ्युदयसे युक्त ऐश्वर्यको देखकर तथा देव होनेपर भी अपनी दुर्गतिका विचार कर दुःखसे पीड़ित होते हुए मानसिक दुःख उठाते रहते हैं ॥१३७॥ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति दुर्लभ होनेसे भव्य जीव भी अभव्यकी तरह संसारके दुःखरूपी महासागरमें गोता लगाते रहते हैं ॥१३८॥ भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक सागर है, व्यन्तर देवोंकी एक पल्य प्रमाण है और जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है ॥१३९॥ ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव्यसत्त्वैर्यदा कैश्चित् लभ्यन्ते पञ्च लब्धयः । क्षयोपशमसंशुद्धिक्रियाप्रायोग्यदेशनाः ॥१४१॥
अधःप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं तदा । तथाऽनिवृत्तिकरणं विधाय करणं त्रिधा ॥१४२॥
ततो दर्शनमोहस्य विधायोपशमं ततः । क्षयोपशमभावं च क्षयं चात्मविशुद्धितः ॥१४३॥
पूर्वमेवौपशमिकं क्षायोपशमिकं क्रमात् । क्षायिकं तैः समुत्पाद्य सम्यक्त्वमनुभूयते ॥१४४॥
तथा चारित्रमोहस्य क्षयोपशमलब्धितः । चारित्रं प्रतिपद्यामी क्षयं कुर्वन्ति कर्मणाम् ॥१४५॥
ततोऽनन्तसुखं मोक्षमनन्तज्ञानदर्शनम् । अनन्तवीर्यमध्यास्य तेऽधितिष्ठन्ति निर्वृताः ॥१४६॥
ये तु चारित्रमोहस्य नितान्तबलवत्तया । दर्शनादेव निष्कम्पा देवायुष्कस्य बन्धकाः ॥१४७॥
संयतासंयता ये च नराः कल्पेषु तेऽमराः । सौधर्माद्यच्युतान्तेषु संभवन्ति महर्द्धयः ॥१४८॥
सरागसंयमश्रेष्ठाः संयता ये तु तेऽनघाः । कल्पे सुरा भवन्त्येके कल्पातीतास्तथा परे ॥१४९॥
नवग्रैवेयकावासा नवानुदिशवासिनः । कल्पातीतास्तथा ज्ञेयाः पञ्चानुत्तरवासिनः ॥१५०॥
इन्द्राद्याः कल्पजा देवा अहमिन्द्राश्च सत्पथे । सुखं सुविहितस्यामी भुञ्जते तपसः फलम् ॥१५१॥
सौधर्मैशानयोरायुः साधिके सागरोपमे । सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त सागराः ॥१५२॥
[1]दशार्णवोपमायुष्का ब्रह्मब्रह्मोत्तरामराः । लान्तवेऽपि च कापिष्टे स्युश्चतुर्दश सागराः ॥१५३॥

अधिक एकपल्य है, जघन्य स्थिति पल्यके आठवे भाग प्रमाण है और स्वर्गवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर तथा जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है ॥१४०॥

जब कोई भव्य जीव, क्षयोपशम, विशुद्धि, प्रायोग्य, देशना तथा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन प्रकारकी करण लब्धि इन पंच लब्धियोंको प्राप्त करता है तब वह आत्म-विशुद्धिके अनुसार दर्शन-मोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय कर सर्वप्रथम औपशमिक, फिर क्षायोपशमिक और तदनन्तर क्रमसे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर उसका अनुभव करता है ॥१४१-१४४॥ सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद कितने ही भव्य जीव चारित्र मोहके क्षयोपशमसे चारित्र प्राप्त कर कर्मोंका क्षय करते हैं तदनन्तर निर्वाणको प्राप्त कर अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्यसे युक्त होते हुए मोक्षमें निवास करते हैं ॥१४५-१४६॥ जो भव्य जीव चारित्रमोहकी अत्यन्त प्रबलतासे चारित्र नहीं धारण कर पाते हैं वे निश्चल सम्यक्त्वके प्रभावसे ही देवायुका बन्ध कर लेते हैं ॥१४७॥ इसी प्रकार जो मनुष्य संयतासंयत अर्थात् देशचारित्रके धारक हैं वे सौधर्मसे लेकर अच्युत स्वर्ग तकके कल्पोंमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देव होते हैं ॥१४८॥

जो मनुष्य सराग संयमसे श्रेष्ठ तथा निर्दोष संयमके धारक हैं, उनमें-से कितने ही कल्पवासी देव होते हैं और कितने ही कल्पातीत देव ॥१४९॥ नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं ॥१५०॥ कल्पवासी देव इन्द्रादिकके भेदसे अनेक प्रकारके हैं और कल्पातीत देव केवल अहमिन्द्र कहलाते हैं—उनमें भेद नहीं होता। इन सभीने सन्मार्गमें चलकर जो उत्तम तप किया था वे देवगतिमें उसके फलस्वरूप सुखका उपभोग करते हैं॥१५१॥ सौधर्म-ऐशान स्वर्गमें देवोंकी आयु कुछ★ अधिक दो सागर, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गमें कुछ अधिक सात सागर, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें कुछ अधिक दश सागर, लान्तव-

---

१. दशसागरप्रमितायुष्काः । ★ कुछ अधिक आयु घातायुष्क जीवोंकी अपेक्षा है। इसका सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही रहता है, क्योंकि घातायुष्क जीवोंकी उत्पत्ति यहीं तक होती है। जो उपरितन स्वर्गोंकी आयु बाँधकर पीछे संक्लेशरूप परिणाम हो जानेके कारण नीचेके स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं वे घातायुष्क कहलाते हैं। इनकी आयु निश्चित आयुसे आधा सागर अधिक होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुः शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः षोडशाब्धयः । शतारे च सहस्रारे तथाऽष्टादश सागराः ॥१५४॥
विंशत्यब्धिसमायुष्का आनतप्राणतामराः । आरणाच्युतयोर्देवा द्वाविंशत्यब्धिजीविनः ॥१५५॥
एकोत्तरा तु वृद्धिः स्यान्नवग्रैवेयकेष्वियम् । उत्कृष्टस्थितिरेषोर्ध्वं साधिका त्वपरा स्थितिः ॥१५६॥
नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशत्सागरोपमा । परा स्थितिर्जघन्या स्यादेकत्रिंशत्पयोधयः ॥१५७॥
त्रयस्त्रिंशदुदन्वन्तः पराऽनुत्तरपञ्चके । सर्वार्थसिद्धितोऽन्यत्र द्वात्रिंशदधरा स्थितिः ॥१५८॥
पल्यानि पञ्च सौधर्मे देवीनां परमा स्थितिः । आसहस्रारकल्पात्तु तान्येव द्व्यधिकानि तु ॥१५९॥
ततः सप्तभिराधिक्ये पञ्च पञ्चाशदुच्यते । पल्यानि स्वल्पकालास्ताः परतस्तु न योषितः ॥१६०॥
उपपादश्च सर्वासां कर्मशक्तिनियोगतः । कल्पवासीसुरस्त्रीणामाद्ये कल्पद्वये सदा ॥१६१॥
ज्योतिषो भावना भौमाः सौधर्मैशानवासिनः । देवाः कायप्रवीचारास्तीव्रमोहोदयत्वतः ॥१६२॥
सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पद्वयसमुद्भवाः । देवाः स्पर्शप्रवीचाराः मध्यमोहोदयत्वतः ॥१६३॥
ब्रह्मब्रह्मोत्तरोद्भूताः कान्ताः लान्तवकल्पजाः । देवा रूपप्रवीचाराः कापिष्टप्रभवास्तथा ॥१६४॥
देवाः शुक्रमहाशुक्रशतारस्थितयस्तथा । सहस्रारोद्भवाः शब्दप्रवीचारा भवन्त्यमी ॥१६५॥
आनतप्राणतोद्भूता आरणाच्युतवासिनः । देवा मनःप्रवीचारा मन्दमोहोदयत्वतः ॥१६६॥
परतस्त्वप्रवीचारा यावत्सर्वार्थसिद्धिजाः । शमप्रधानशर्माढ्या मोहाव्यक्तोदयत्वतः ॥१६७॥

कापिष्ट स्वर्गमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र-महाशुक्र स्वर्गमें कुछ अधिक सोलह सागर, शतार-सहस्रारमें कुछ अधिक अठारह सागर, आनत-प्राणत स्वर्गमें बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्गमें बाईस सागर प्रमाण आयु है ॥१५२-१५५॥ नव ग्रैवेयकोंमें एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है अर्थात् प्रथम ग्रैवेयकमें बाईस सागरकी आयु है और आगेके ग्रैवेयकोंमें एक-एक सागरकी बढ़ती हुई नौवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी हो जाती है। पूर्व-पूर्व स्वर्गोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वही एक समय अधिक होनेपर आगे-आगेके स्वर्गोंकी जघन्य स्थिति होती है ॥१५६॥ नव अनुदिशोंमें बत्तीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है और एक समय अधिक इकतीस सागर जघन्य स्थिति है ॥१५७॥ पंच अनुत्तर विमानोंमें तैंतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थसिद्धिको छोड़कर बाकी चार अनुत्तरोंमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक बत्तीस सागर प्रमाण है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य स्थिति नहीं होती, वहाँ सब एक ही समान स्थितिके धारक होते हैं ॥१५८॥ सौधर्म स्वर्गमें देवियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पांच पल्य प्रमाण है। उसके आगे सहस्रार स्वर्ग तक प्रत्येक स्वर्गमें दो-दो सागर अधिक है। उसके आगे सात-सात सागर अधिक है। इस तरह सोलहवें स्वर्गमें पचपन पल्यकी आयु है। उसके आगे स्त्रियोंका सद्भाव नहीं है ॥१५९-१६०॥ कर्मोंकी सामर्थ्यसे समस्त कल्पवासिनी देवियोंका उत्पाद सदा पहले और दूसरे स्वर्गमें ही होता है ॥१६१॥ मोहका तीव्र उदय होनेसे ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्गके निवासी देव कायसे मैथुन करते हैं ॥१६२॥ मोहका मध्यम उदय होनेसे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव स्पर्श मात्रसे प्रवीचार करते हैं अर्थात् वहाँके देव-देवियोंकी कामबाधा परस्परके स्पर्श मात्रसे शान्त हो जाती है ॥१६३॥ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्गके देव, रूप मात्रसे प्रवीचार करते हैं अर्थात् वहाँके देव-देवियोंका रूप देखने मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥१६४॥ शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव शब्दसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् वहाँके देव-देवियोंके शब्द सुनने मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥१६५॥ मोहका उदय अत्यन्त मन्द होनेसे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देव मनसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् वहाँके देव मनमें देवियोंका ध्यान आने मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥१६६॥ उसके आगे सर्वार्थसिद्धि तकके देव मोहका उदय अव्यक्त होनेसे प्रवीचार रहित हैं अर्थात् उन्हें कामकी बाधा उत्पन्न ही नहीं होती। वहाँके अहमिन्द्र शान्ति प्रधान सुखसे युक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा स्थित्या तथा द्युत्या प्रभावेन सुखेन ते । विशुद्धचापि च लेश्यानामिन्द्रियावधिगोचरैः ॥१६८॥
[2]उपर्युपरि सौधर्मात् पूर्वतः पूर्वतोऽधिकाः । अल्पा गतितनूत्सेधैरभिमानपरिग्रहैः ॥१६९॥
मुक्तिमूलमहानर्घ्यरत्नस्यायत्नसाधनम् । ध्यानस्वाधीनसर्वार्थं भुक्त्वा ते वैबुधं सुखम् ॥१७०॥
दिवश्च्युता विदेहेषु भरतैरावतेषु वा । कर्मभूमिविभागेषु भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥१७१॥
षट्खण्डप्रभवः केचिन्निधिरत्नोपलक्षिताः । सिद्धिसौख्यानुसंधानसमर्थचरमक्रियाः ॥१७२॥
केचिद्द्वित्रिभवाश्चान्ये बलाः स्वर्गापवर्गिणः । निदानिनस्तु तत्रान्ये केशवप्रतिशत्रवः ॥१७३॥
केचित् पूर्वभवाभ्यस्तशुभषोडशकारणाः । [3]कीर्त्यास्तीर्थकृतो भूत्वा प्रभवन्ति जगत्त्रये ॥१७४॥
सम्यक्त्वस्थिरमूलस्य ज्ञानकाण्डधृतात्मनः । चारित्रस्कन्धबन्धस्य नयशाखोपशाखिनः ॥१७५॥
नृसुरश्रीप्रसूनस्य जिनशासनशाखिनः । सेवितस्य लभन्तेऽग्रे ते निर्वाणमहाफलम् ॥१७६॥ [युग्मम्]
परमानन्दरूपं ते निर्वाणफलसंभवम् । सारसौख्यरसं प्राप्ताः सिद्धाः तिष्ठन्ति निर्वृताः ॥१७७॥
इत्थमाकर्ण्य सा धर्मं भुवनत्रयपद्मिनी । मोक्षमार्गार्कसंपर्कात् चकासेति प्रमोदिनी ॥१७८॥
प्राक् प्रशस्तानुरागाढ्या धर्मश्रवणतो दधुः । लोकास्त्रयोऽग्निशुद्धाच्छरत्नजातिचयश्रियम् ॥१७९॥
सद्धर्मदेशना जैनी जगत्त्रयतनूभृताम् । भ्रान्तिशेषरजःशेषसंश्रेणीवाभ्यशीशमत्[6] ॥१८०॥

होते हैं ॥१६७॥ सौधर्म स्वर्गसे लेकर ऊपर-ऊपरके देव, पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा स्थिति, द्युति, प्रभाव, सुख, लेश्याओंकी विशुद्धता, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञानके विषयकी अपेक्षा अधिक-अधिक हैं तथा गति, शरीरकी ऊँचाई, अभिमान और परिग्रहकी अपेक्षा हीन-हीन हैं ॥१६८-१६९॥ मुक्तिके कारणभूत महा अमूल्य रत्नत्रयके प्रभावसे जिसकी सिद्धि अयत्न साध्य होती है तथा जहाँ इच्छा करते ही समस्त पदार्थोंकी सिद्धि हो जाती है ऐसे देवों सम्बन्धी सुख भोगकर वे देव स्वर्गसे च्युत हो विदेह, भरत और ऐरावत इन कर्मभूमियोंमें उत्तम पुरुष अथवा नारायण उत्पन्न होते हैं ॥१७०-१७१॥ कितने ही देव, नौ निधियों और चौदह रत्नोंसे सहित छह खण्डोंके प्रभु होते हैं अर्थात् चक्रवर्ती होते हैं। इनकी अन्तिम क्रियाएँ मोक्षसुख प्राप्त करनेमें समर्थ होती हैं ॥१७२॥ कितने ही दो-तीन भव धारण कर मोक्ष चले जाते हैं, कोई बलभद्र होते हैं, और वे स्वर्ग अथवा मोक्ष जाते हैं तथा पूर्व भवमें निदान बाँधनेवाले कितने ही लोग नारायण एवं प्रतिनारायण होते हैं ॥१७३॥ जिन्होंने पूर्व भवमें शुभ सोलह कारण भावनाओंका अभ्यास किया है ऐसे कितने ही लोग कीर्तिके धारक तीर्थंकर होते हैं और वे तीनों जगत्का प्रभुत्व प्राप्त करते हैं ॥१७४॥ सम्यग्दर्शन ही जिसकी स्थिर जड़ है, जो ज्ञानरूप पिण्डपर टिका हुआ है, चारित्ररूपी स्कन्धको धारण करनेवाला है, नयरूपी शाखाओं और उपशाखाओंसे सहित है तथा मनुष्य और देवोंकी लक्ष्मीरूप जिसमें फूल लग रहे हैं ऐसे जिनशासनरूपी वृक्षकी जो सेवा करते हैं वे उसके अग्रभाग-पर स्थित निर्वाणरूपी महाफलको प्राप्त होते हैं ॥१७५-१७६॥ निर्वाणरूपी फलमें उत्पन्न होनेवाले परमानन्दस्वरूप श्रेष्ठ सुखरूपी रसको प्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी निर्वाणको प्राप्त हो सिद्धालयमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥१७७॥ इस प्रकारका धर्मोपदेश सुनकर वह लोकत्रयरूपी कमलिनी, मोक्षमार्ग-रूपी सूर्यके संसर्गसे प्रमुदित हो सुशोभित हो उठी ॥१७८॥ जो पहलेसे ही प्रशस्त अनुरागसे सहित थे ऐसे तीनों लोकोंके जीव धर्म श्रवण कर अग्निसे शुद्ध हुए निर्मल जातिके रत्नसमूहकी शोभा धारण कर रहे थे ॥१७९॥ जिस प्रकार मेघमाला अवशिष्ट धूलिके समूहको शान्त कर देती है उसी

१. स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः त. सू. च. अ.। २. गतिशरीरपरिग्रहा-भिमानतो हीनाः त. सू. च. अ.। ३. कीर्तनीयाः प्रशस्ता इत्यर्थः। ४. बल—म.। ५ मेघमालेव। ६. शमयामास.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ दिव्यध्वनेरन्ते जैनस्य तदनन्तरम् । चक्रुस्तदनुसंधानं देवा दुन्दुभिनिःस्वनाः ॥१८१॥
पुष्पवृष्टिं प्रवर्षन्तो रत्नवृष्टिं च तुष्टुवुः । देवास्तत्र वनोद्देशे मुहुश्चैकं महामुनिम् ॥१८२॥
तं निशम्य मुनिश्रेष्ठं पूज्यमानं सुरेश्वरैः । श्रेणिको गौतमं नत्वा पप्रच्छ बहुविस्मयः ॥१८३॥
भगवन् ! ब्रूहि किंनामा मुनिः सुरगणैरयम् । पूज्यते पूज्य ! किंवंशः प्राप्तो वाऽद्य किमद्भुतम् ॥१८४॥
गदितस्म ततस्तस्मै विस्मिताय गतस्मयः[1] । आगमानुमितिज्ञाप्यविज्ञेयः श्रुतकेवली ॥१८५॥
श्रीमतोऽस्य महाराज ! शृणु श्रेणिक सन्मतेः । मुनेर्नाम च वंशं च माहात्म्यं च वदामि ते ॥१८६॥
जितशत्रुः क्षितौ ख्यातो धरित्रीपतिरत्र यः । प्राप्त एव धरित्रीश ! भवतः श्रोत्रगोचरम् ॥१८७॥
हरिवंशनभोभानुरभिभूतनृपस्थितिः । राज्यश्रियं परित्यज्य प्राव्राजीज्जिनसंनिधौ ॥१८८॥
तपो दुष्करमन्येषां बाह्यमाध्यात्मिकं च सः । कृत्वा प्राप्तोऽद्य घात्यन्ते[3] केवलज्ञानमद्भुतम् ॥१८९॥
तेनायममरैः सर्वैर्जनमार्गोपबृंहकैः । स पुनर्बोधिलाभार्थं भक्तितोऽत्यर्चितो यतिः ॥१९०॥
पुनः प्रणम्य भक्त्याऽसौ समुद्भूतकुतूहलः । पृच्छति स्म गणाधीशमिति श्रेणिकभूपतिः ॥१९१॥
क एष भगवान् ! वंशो हरिशब्दोपलक्षितः । जातः कदा क्व वा कीर्त्यः को वास्य प्रभवः पुमान् ॥१९२॥
केयन्तः समतिक्रान्ताः[4] प्रजारक्षणदक्षिणाः । धर्मार्थकाममोक्षाढ्या हरिवंशक्षितीश्वराः ॥१९३॥
इह भारतजातानां जिनानां चक्रवर्तिनाम् । हलिनां वासुदेवानां तथा चैषां प्रतिद्विषाम् ॥१९४॥

प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌की सद्धर्मदेशना जगत्त्रयके जीवोंकी समस्त भ्रान्तिको शान्त कर देती है ॥१८०॥ अथानन्तर जिनेन्द्र भगवान्‌की दिव्यध्वनिके बाद देवोंने उसका अनुसन्धान किया। तथा कुछ देव, दुन्दुभिके समान शब्द करते, पुष्पवृष्टि एवं रत्नवृष्टि करते हुए वनके एक देशमें स्थित एक महामुनिकी स्तुति करने लगे ॥१८१-१८२॥ इन्द्रोंके द्वारा पूजित उन श्रेष्ठ मुनिका नाम सुनकर अत्यधिक आश्चर्यसे युक्त राजा श्रेणिकने गौतम स्वामीको नमस्कार कर पूछा ॥१८३॥ कि हे भगवन् ! हे पूज्य ! कृपा कर कहिए कि देव लोग जिनकी पूजा कर रहे हैं ऐसे ये मुनि किस नामके धारक हैं ? इनका क्या वंश है ? और आज किस अतिशयको प्राप्त हुए हैं ? ॥१८४॥ तदनन्तर जिनका अहंकार नष्ट हो गया था और जिन्होंने आगम तथा अनुमानके द्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जान लिया था ऐसे श्रुतकेवली श्रीगौतम स्वामी, आश्चर्यसे भरे हुए राजा श्रेणिकसे कहने लगे कि ॥१८५॥ हे महाराज श्रेणिक ! मैं सद्बुद्धिके धारक इन श्रीमान् मुनिराजका नाम, वंश और माहात्म्य सब तुम्हारे लिए कहता हूँ सो श्रवण कर ॥१८६॥ हे पृथिवीपते ! इस पृथिवीपर जो जितशत्रु नामका प्रसिद्ध राजा था वह आपके कर्णगोचर हुआ होगा ॥१८७॥ जो हरिवंशरूपी आकाशका सूर्य था, जिसने अन्य राजाओंकी स्थितिको अभिभूत कर दिया था, जिसने राज्यलक्ष्मीका परित्याग कर जिनेन्द्रदेवके समीप प्रव्रज्या—दीक्षा धारण की थी तथा जिसने अन्य लोगोंके लिए कठिन बाह्य और आभ्यन्तर तप किया था आज वही राजा जितशत्रु घातिया कर्मोंको नष्ट कर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ॥१८८-१८९॥ इसीलिए जिनमार्गकी प्रभावना करनेवाले समस्त देवोंने मिलकर रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए भक्तिपूर्वक इन मुनिराजकी पूजा की है ॥१९०॥

तदनन्तर जिसे कुतूहल उत्पन्न हो रहा था ऐसे श्रेणिक राजाने भक्तिपूर्वक पुनः प्रणाम कर गणधरसे इस प्रकार पूछा कि हे भगवन् ! यह हरिवंश कौन है ? कब और कहाँ उत्पन्न हुआ है ? तथा इसका मूल कारण कौन पुरुष है ? ॥१९१-१९२॥ प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसे सहित ऐसे हरिवंशमें कितने राजा हो चुके हैं ? ॥१९३॥ यह कह

१. गतगर्वः । २. आगमानुमानेन ज्ञाप्यो ज्ञातव्यो ज्ञेयो यस्य स. । ३. घातिकर्मक्षयानन्तरम् । ४. उत्पद्योत्पद्य गताः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शृणोमि चरितं सर्वं वंशानां च समुद्भवम् । लोकालोकविभागोक्तिपूर्वकं वक्तुमर्हसि ॥१९५॥
जगाद गौतमः स्थाने[1] राजन्! प्रश्नस्त्वया कृतः । शृणु सर्वं यथावत्ते कथयामि यथायथम् ॥१९६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

त्रैलोक्यस्य सुखासुखानुभवनाधिष्ठानभूमेः स्थिरं,
संस्थानं प्रथमं तथैव विविधान् वंशावतारांस्तव ।
श्रव्यार्थं हरिवंशसंभवमतस्तद्वंशजान् भूपतीन्,
श्रीमच्छ्रेणिक! कीर्तयामि भवते शुश्रूषवे श्रूयताम् ॥१९७॥

स्रग्धरा

[2]भव्यत्वाद्विप्रकृष्टेष्वपि च तनुभृतो देशकालस्वभावै-
र्भावेष्वाप्तोपदेशाद्विदधति विधिवन्निश्चयं निश्चितार्थम् ।
सद्दृष्टीनां हि मोहः प्रभवति भुवने तावदेवार्थदृष्टौ
यावन्नात्राभ्युदेति प्रथितजिनरविर्ज्ञानभास्वन्मरीचिः ॥१९८॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ श्रेणिकप्रश्नवर्णनो
नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥



राजा श्रेणिकने पुनः कहा कि मैं इस भरत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणोंका समस्त चरित, वंशोंकी उत्पत्ति और लोकालोकका विभाग सुनना चाहता हूँ सो आप कहनेके योग्य हैं ॥१९४-१९५॥

यह सुन, गौतम स्वामीने कहा कि हे राजन्! तूने ठीक प्रश्न किया है तू सब ठीक-ठीक श्रवण कर। मैं यथायोग्य कहता हूँ ॥१९६॥ हे श्रीमन्! हे श्रेणिक! मैं सर्वप्रथम सुख-दुःख भोगनेके स्थानभूत तीन लोकका स्थिर आकार कहता हूँ। फिर विविध वंशोंके अवतारकी बात करूँगा। तदनन्तर मनोहर अर्थसे युक्त हरिवंशकी उत्पत्ति कहूँगा और तत्पश्चात् श्रवण करनेके इच्छुक तेरे लिए हरिवंशमें उत्पन्न हुए राजाओंका कीर्तन करूँगा ॥१९७॥ भव्य जीव, श्रीआप्त भगवान्-के उपदेशसे देश-काल और स्वभावसे दूरवर्ती पदार्थोंका भी विधिवत् यथार्थ निश्चय कर लेते हैं। यथार्थमें सम्यग्दृष्टि मनुष्योंका मोह, इस संसारमें पदार्थोंका ठीक-ठीक स्वरूप देखनेमें तभी तक अपना प्रभाव रख पाता है जबतक कि ज्ञानरूपी देदीप्यमान किरणोंसे युक्त श्रीजिनेन्द्र देवरूपी सूर्यका उदय नहीं होता ॥१९८॥

इस प्रकार जिसमें अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे श्रीजिनसेनाचार्य प्रणीत
हरिवंश पुराणमें श्रेणिकप्रश्न वर्णन नामका तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

---

१. युक्तः । २. भव्यत्वादिप्रकृष्टे—म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थः सर्गः

सर्वतोऽनन्तविस्तारमनन्तस्वप्रदेशकम् । द्रव्यान्तरविनिर्मुक्तमलोकाकाशमिष्यते ॥१॥
न लोक्यन्ते यतस्तस्मिन् जीवाजीवात्मकाः परे । भावास्ततस्तदुद्गीतमलोकाकाशसंज्ञया ॥२॥
न गतिर्न स्थितिस्तत्र जीवपुद्गलयोस्तयोः । निमित्तयोरभूतत्वाद्[2] धर्माधर्मास्तिकाययोः ॥३॥
अनाद्यनिधनस्तस्य मध्ये लोको व्यवस्थितः । असंख्येयप्रदेशात्मा लोकाकाशविमिश्रितः ॥४॥
कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाखिलाः । लोक्यन्ते येन तेनायं लोक इत्यभिलप्यते ॥५॥ [युग्मम्]
वेत्रासनमृदङ्गोरुझल्लरीसदृशाकृतिः । अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोग्यमिति त्रिधा ॥६॥
मुरजार्धमधोभागे तस्योर्ध्वं मुरजो यथा । आकारस्तस्य लोकस्य किं त्वेष चतुरस्रकः ॥७॥
कटिस्थकरयुग्मस्य वैशाखस्थानवर्तिनः[3] । बिभर्त्ति पुरुषस्यायं संस्थानमचलस्थितेः ॥८॥
अधोलोकस्य सप्ताधः स्वविस्तारेण रज्जवः । प्रदेशहानितो रज्जुस्तिर्यग्लोकेऽवशिष्यते ॥९॥
ऊर्ध्वं प्रदेशवृद्ध्यातः पञ्च ब्रह्मोत्तरान्तरे । ततः प्रदेशहान्योर्ध्वं रज्जुरेकावशिष्यते ॥१०॥
आयामस्तु त्रिलोकानां स्याच्चतुर्दशरज्जवः । सप्ताधो मन्दरादूर्ध्वं सार्द्धं तेनैव सप्त ताः ॥११॥
चित्राधोभागतो रज्जुर्द्वितीयान्ते समाप्यते । द्वितीयातस्तृतीयान्ते चतुर्थ्यन्ते ततोऽपरा ॥१२॥
पञ्चम्यन्ते चतुर्थी च षष्ठ्यन्ते पञ्चमी ततः । सप्तम्यन्ते च षष्ठी सा लोकान्ते सप्तमी स्थिता ॥१३॥

अथानन्तर सब ओरसे जिसका अनन्त विस्तार है, जिसके अपने प्रदेश भी अनन्त हैं तथा जो अन्य द्रव्योंसे रहित है वह अलोकाकाश कहलाता है ॥१॥ यतश्च उसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं इसलिए वह अलोकाकाश इस नामसे प्रसिद्ध है ॥२॥ गति और स्थितिमें निमित्तभूत धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायका अभाव होनेसे अलोकाकाशमें जीव और पुद्गलकी न गति ही है और न स्थिति ही है ॥३॥ उस अलोकाकाशके मध्यमें असंख्यातप्रदेशी तथा लोकाकाशसे मिश्रित अनादि लोक स्थित है ॥४॥ काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर विस्तारसे सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय यतश्च इसमें दिखाई देते हैं इसलिए यह लोक कहलाता है ॥५॥ यह लोक नीचे, ऊपर और मध्यमें वेत्रासन, मृदंग और बहुत बड़ी झालरके समान है अर्थात् अधोलोक वेत्रासन—मूँठाके समान है, ऊर्ध्वलोक मृदंगके तुल्य है और मध्यलोक जिसे तिर्यक् लोक भी कहते हैं झालरके समान है ॥६॥ नीचे आधा मृदंग रखकर उसपर यदि पूरा मृदंग रखा जाये तो जैसा आकार होता है वैसा ही लोकका आकार है किन्तु विशेषता यह है कि यह लोक चतुरस्र अर्थात् चौकोर है ॥७॥ अथवा कमरपर हाथ रख तथा पैर फैलाकर अचल-स्थिर खड़े हुए मनुष्यका जो आकार है उसी आकारको यह लोक धारण करता है ॥८॥ अपने विस्तारकी अपेक्षा अधोलोक नीचे सात रज्जु प्रमाण है, फिर क्रम-कमसे प्रदेशोंमें हानि होते-होते मध्यम लोकके यहाँ एक रज्जु विस्तृत रह जाता है ॥९॥ इसके ऊपर प्रदेशवृद्धि होते-होते ब्रह्मब्रह्मोत्तर स्वर्गके समीप पाँच रज्जु प्रमाण है। तदनन्तर उसके आगे प्रदेशहानि होते-होते लोकके अन्तमें एक रज्जु प्रमाण विस्तृत रह जाता है ॥१०॥ तीनों लोकोंकी लम्बाई चौदह रज्जु प्रमाण है। सात रज्जु सुमेरु पर्वतके नीचे और सात रज्जु उसके ऊपर है ॥११॥ चित्रा पृथिवीके अधोभागसे लेकर द्वितीय पृथिवीके अन्त तक एक रज्जु समाप्त होती है, इसके आगे तृतीय पृथिवीके अन्त तक द्वितीय रज्जु, चतुर्थ पृथिवीके

---

१. पदार्थाः । २. अविद्यमानत्वात् । ३. प्रसारितजङ्घाद्वयोर्ध्वस्थितस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्राधोदेशतस्तूर्ध्वं सार्धा रज्जुः समाप्यते । ऐशानान्ते ततः सार्द्धा माहेन्द्रान्ते तु तिष्ठति ॥१४॥
ततः कापिष्टकल्पाग्रे रज्जुरेकावतिष्ठते । सा सहस्रारकल्पाग्रे ततोऽप्येका समाप्यते ॥१५॥
आरणाच्युतकल्पान्तवर्तिनी सा ततोऽपरा । सप्तमी तु ततो रज्जुरूर्ध्वलोकान्तनिष्ठिता ॥१६॥
रज्जुः प्रथमरज्ज्वन्ते सा षड्भिः सप्तभागकैः । अधोलोकस्य विस्तारो लोकविद्भिरुदाहृतः ॥१७॥
रज्जू द्वितीयरज्ज्वन्ते पञ्चभिः सप्तभागकैः । तिस्रस्तृतीयरज्ज्वन्ते चतुर्भिः सप्तभागकैः ॥१८॥
चतस्रस्तुर्यरज्ज्वन्ते सप्तभागैस्त्रिभिर्युताः । पञ्च पञ्चमरज्ज्वन्ते सप्तभागद्वयेन ताः ॥१९॥
षडेताः सप्तभागेन षष्ठरज्ज्वन्तगोचरे । सप्त सप्तमरज्ज्वन्ते विस्तारो रज्जवः स्मृताः ॥२०॥
ऊर्ध्वं च सार्धरज्ज्वन्ते रज्जू द्वे सप्तभागकैः । पञ्चभिः सह विस्तारो लोकस्य परिकीर्त्तितः ॥२१॥
परतः सार्धरज्ज्वन्ते सप्तभागैस्त्रिभिर्युताः । चतस्रो रज्जवो ज्ञेयो विस्तारो जगतस्ततः ॥२२॥
ततोऽर्धरज्जुपर्यन्ते सब्रह्मोत्तरमूर्धनि । विस्तारो रज्जवः पञ्च भुवनस्य निरूपितः ॥२३॥
कापिष्टाग्रेऽर्धरज्ज्वन्ते सप्तभागैस्त्रिभिः सह । चतस्रो रज्जवो व्यासो जगतः प्रतिपादितः ॥२४॥

अन्त तक तृतीय रज्जु, पंचम पृथिवीके अन्त तक चतुर्थ रज्जु, षष्ठ पृथिवीके अन्त तक पंचम रज्जु, सप्तम पृथिवीके अन्त तक षष्ठ रज्जु और लोकके अन्त तक सप्तम रज्जु समाप्त होती है अर्थात् चित्रा पृथिवीके नीचे छह रज्जुकी लम्बाई तक सात पृथिवियाँ और उसके नीचे एक रज्जुके विस्तारमें निगोद तथा वातवलय हैं ॥१२-१३॥ यह तो चित्रा पृथिवीके नीचेका विस्तार बतलाया अब इसके ऊपर ऐशान स्वर्ग तक डेढ़ रज्जु, उसके आगे माहेन्द्र स्वर्गके अन्त तक फिर डेढ़ रज्जु, फिर कापिष्ट स्वर्ग तक एक रज्जु, तदनन्तर सहस्रार स्वर्ग तक एक रज्जु, उसके आगे आरण अच्युत स्वर्ग तक एक रज्जु और उसके ऊपर ऊर्ध्व लोकके अन्त तक एक रज्जु इस प्रकार कुल सप्त रज्जु समाप्त होती हैं ॥१४-१६॥

चित्रा पृथिवीके नीचे प्रथम रज्जुके अन्तमें जहाँ दूसरी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ लोकके जाननेवाले आचार्योंने अधोलोकका विस्तार एक रज्जु तथा द्वितीय रज्जुके सात भागोंमें-से छह भाग प्रमाण बतलाया है ॥१७॥ द्वितीय रज्जुके अन्तमें जहाँ तीसरी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार दो रज्जु पूर्ण और एक रज्जुके सात भागोंमें-से पाँच भाग प्रमाण बताया है। तृतीय रज्जुके अन्तमें जहाँ चौथी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से चार भाग प्रमाण बतलाया है ॥१८॥ चतुर्थ रज्जुके अन्तमें जहाँ पाँचवीं पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार चार रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से तीन भाग प्रमाण कहा गया है, पंचम रज्जुके अन्तमें जहाँ छठी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार पाँच रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से दो भाग प्रमाण बतलाया है, षष्ठ रज्जुके अन्तमें जहाँ सातवीं पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार छह रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है तथा सप्तम रज्जुके अन्तमें जहाँ लोक समाप्त होता है वहाँ अधोलोकका विस्तार सात रज्जु प्रमाण कहा गया है ॥१९-२०॥

चित्रा पृथिवीके ऊपर डेढ़ रज्जुकी ऊँचाईपर जहाँ दूसरा ऐशान स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार दो रज्जु पूर्ण और एक रज्जुके सात भागोंमें-से पाँच भाग प्रमाण कहा गया है ॥२१॥ उसके ऊपर डेढ़ रज्जु और चलकर जहाँ माहेन्द्र स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार चार रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से तीन भाग प्रमाण बताया गया है ॥२२॥ उसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहाँ ब्रह्मोत्तर स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार पाँच रज्जु प्रमाण कहा गया है ॥२३॥ उसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ कापिष्ट स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार चार रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से तीन भाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततोऽर्धरज्जुमानान्ते महाशुक्राग्रवर्तिनि । षट् सप्तभागसंयुक्तास्तिस्रो व्यासो जगद्गतः ॥२५॥
अर्धरज्ज्ववसानेऽतः सहस्रारान्तमिश्रिते । द्विसप्तभागसंयुक्ता व्यासस्तिस्रोऽस्य रज्जवः ॥२६॥
प्राणताग्रार्धरज्ज्वन्ते पञ्चसप्तांशमिश्रिते । द्वे रज्जू जगतो व्यासो व्यासविद्भिः प्रकाशितः ॥२७॥
अच्युतान्तार्धरज्ज्वन्ते सप्तभागेन संमिते । द्वे रज्जू रज्जुरेवान्तरज्ज्वन्ते लोकमस्तके ॥२८॥
अधोलोकोरुजङ्घादिस्तिर्यग्लोककटीतटः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरोरस्को माहेन्द्रान्तस्तु मध्यभाग् ॥२९॥
आरणाच्युतसुस्कन्धो द्विपर्यन्तमहाभुजः । नवग्रैवेयकग्रीवोऽनुदिशोद्धहनुरुयः ॥३०॥
पञ्चानुत्तरसद्वक्त्रः सिद्धक्षेत्रललाटभृत् । सिद्धजीवश्रिताकाशदेशविस्तीर्णमस्तकः ॥३१॥
स्वोदरस्थितनिःशेषपुरुषादिपदार्थकः । अपौरुषेय एवैष सल्लोकपुरुषः स्थितः ॥३२॥
घनोदधिरिमं लोकं घनवातश्च सर्वतः । तनुवातश्च तिष्ठन्ति त्रयोऽप्यावेष्ट्य वायवः ॥३३॥
आद्यो गोमूत्रवर्णोऽत्र मुद्गवर्णस्तु मध्यमः । संपृक्तानेकवर्णोऽन्त्यो बहिर्वलयमारुतः ॥३४॥
दण्डाकारा घनीभूता ऊर्ध्वाधोभागभागिनः । भङ्गुराकृतयो लोकपर्यन्तेषु प्रभञ्जनाः ॥३५॥
योजनानां सहस्राणि प्रत्येकं विंशतिः स्मृताः । अधोविस्तारतस्तूर्ध्वं त्रयोऽप्यूनैकयोजनाः ॥३६॥
दण्डाकारपरित्यागे यथाक्रममसौ पुनः । सप्तपञ्चचतुःसंख्या योजनानि वितन्वते ॥३७॥
प्रदेशहानितः पञ्च चत्वारि त्रीणि च क्रमात् । बाहुल्यं योजनान्येषां तिर्यग्लोके भवत्यतः ॥३८॥

प्रमाण बतलाया गया है ॥२४॥ उसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहाँ महाशुक्र स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से छह भाग प्रमाण कहा गया है ॥२५॥ इसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ सहस्रार स्वर्गका अन्त आता है वहाँ लोकका विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से दो भाग प्रमाण बतलाया गया है ॥२६॥ इसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहाँ प्राणत स्वर्गका अन्त आता है वहाँ लोकका विस्तार दो रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे पाँच भाग प्रमाण कहा गया है ॥२७॥ इसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ अच्युत स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार दो रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमें-से एक भाग प्रमाण बतलाया है और इसके आगे सातवीं रज्जुके अन्तमें जहाँ लोककी सीमा समाप्त होती है वहाँ लोकका विस्तार एक रज्जु प्रमाण कहा गया है ॥२८॥ तीनों लोकोंमें अधोलोक तो पुरुष की जंघा तथा नितम्बके समान है, तिर्यग्लोक कमरके सदृश है, माहेन्द्र स्वर्गका अन्त मध्य अर्थात् नाभिके समान है, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग छातीके समान है, तेरहवाँ, चौदहवाँ स्वर्ग भुजाके समान है, आरण-अच्युत स्वर्ग स्कन्धके समान है, नव ग्रैवेयक ग्रीवाके समान है, अनुदिश उन्नत डाँड़ीके समान है, पंचानुत्तर विमान मुखके समान है, सिद्ध क्षेत्र ललाटके समान है और जहाँ सिद्ध जीवोंका निवास है ऐसा आकाश प्रदेश मस्तकके समान है ॥२९-३१॥ जिसके मध्यमें जीवादि समस्त पदार्थ स्थित है ऐसा यह लोकरूपी पुरुष अपौरुषेय ही है—अकृत्रिम ही है ॥३२॥ घनोदधि, घनवात और तनुवात ये तीनों वातवलय इस लोकको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं ॥३३॥ आदिका घनोदधि वातवलय गोमूत्रके वर्णके समान है, बीचका घनवातवलय मूँगके समान वर्णवाला है और अन्तका तनुवातवलय परस्पर मिले हुए अनेक वर्णोंवाला है ॥३४॥ ये वातवलय दण्डके आकार लम्बे हैं, घनीभूत हैं, ऊपर-नीचे तथा चारों ओर स्थित हैं, चंचलाकृति हैं तथा लोकके अन्त तक वेष्टित हैं ॥३५॥ अधोलोकके नीचे तीनों वलयोंमें-से प्रत्येकका विस्तार बीस-बीस हजार योजन है और लोकके ऊपर तीनों वातवलय कुछ कम एक योजन विस्तारवाले हैं ॥३६॥ अधोलोकके नीचे तीनों वातवलय दण्डाकार हैं और ऊपर चलकर जब ये दण्डाकार का परित्याग करते हैं अर्थात् लोकके आजू-बाजूमें खड़े होते हैं तब क्रमशः सात, पाँच और चार योजन विस्तारवाले रह जाते हैं ॥३७॥ तदनन्तर प्रदेशोंमें हानि होते-होते मध्यम लोकके यहाँ इनका विस्तार क्रमसे पाँच,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशवृद्धितः सप्त पञ्च चत्वारि च क्रमात् । योजनान्युपनीयन्ते ब्रह्मब्रह्मोत्तरान्तिके ॥३९॥
पुनः प्रदेशहान्यैवं पञ्च चत्वारि च क्रमात् । त्रीणि चैव भवन्त्येषां योजनानि शिवान्तके ॥४०॥
अर्धयोजनबाहुल्यो मस्तकेषु घनोदधिः । घनवातस्तदर्धः स्यात्तनुवातस्तदूनकः ॥४१॥
भ्राजते वातवलयैः सर्वतस्त्रिभिरावृतः । कवचैरिव लोकस्तैर्महालोकजिगीषया ॥४२॥
अत्र रत्नप्रभाद्येयं द्वितीया शर्कराप्रभा । प्रथिता पृथिवी लोके तृतीया बालुकाप्रभा ॥४३॥
पङ्कप्रभा चतुर्थी तु पञ्चमी धूमिपृथिवी तथा । धूमप्रभा विनिर्दिष्टा षष्ठी चापि तमःप्रभा ॥४४॥
महातमःप्रभा भूमिः सप्तमी च घनोदधौ । वलयाधिष्ठिता ह्येताः सप्ताधोऽधो व्यवस्थिताः ॥४५॥
गोत्राख्यया तु ताः ख्याता घर्मा वंशा यथाक्रमम् । मेघाञ्जनाप्यरिष्टा च मघवी माघवीति च ॥४६॥
लक्षैका योजनानां स्यात् सहाशीतिसहस्रिका । त्रिभिर्भागैर्विभक्तं च बाहुल्यं प्रथमक्षितेः ॥४७॥
योजनानां सहस्राणि खरभागेऽत्र षोडश । अशीतिः पङ्कबहुले चतुर्भिरधिकानि तु ॥४८॥
तथैवाब्बहुले भागे बाहुल्यं सुविनिश्चितम् । शस्त्रेऽशीतिसहस्राणि योजनानि जिनेशिनाम् ॥४९॥
तं पङ्कबहुलं भागं भासयन्ति यथायथम् । रक्षोभामसुराणां च निवासा रत्नभासुराः ॥५०॥
खरभागं नवानां तु वासा भवनवासिनाम् । भूषयन्ति महाभासा बहुभेदाः स्वयंप्रभाः ॥५१॥
चित्राख्यं पटलं पूर्वं वज्राख्यं तु ततः परम् । वैडूर्याख्यं ततो ज्ञेयं लोहिताङ्काख्यमप्यतः ॥५२॥
मसारगल्वगोमेदप्रवालपटलान्यतः । ज्योती रसाञ्जनाख्ये च तथैवाञ्जनमूलकम् ॥५३॥
अङ्गस्फटिकसंज्ञे च चन्द्राभाख्यं च वर्चस्कम् । बहुशिलामयं चेति पटलानि हि षोडश ॥५४॥
एकैकस्य तु बाहुल्यं सहस्रगुणयोजनम् । पटलस्य तदात्मासौ खरभागः प्रभासुरः ॥५५॥

चार और तीन योजन रह जाता है ॥३८॥ तदनन्तर प्रदेशोंमें वृद्धि होनेसे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नामक पाँचवें स्वर्गके अन्तमें क्रमशः सात, पाँच और चार योजन विस्तृत हो जाते हैं ॥३९॥ पुनः प्रदेशोंमें हानि होनेसे मोक्ष स्थानके समीप क्रमसे पाँच, चार और तीन योजन विस्तृत रह जाते हैं ॥४०॥ तदनन्तर लोकके ऊपर पहुँचकर घनोदधि वातवलय आधा योजन अर्थात् दो कोस, घनवात वलय उससे आधा अर्थात् एक कोस और तनुवातवलय उससे कुछ कम अर्थात् पन्द्रहसे पचहत्तर धनुष प्रमाण विस्तृत है ॥४१॥ तीनों वातवलयोंसे घिरा हुआ यह लोक ऐसा जान पड़ता है मानो महालोक जीतनेकी इच्छासे कवचोंसे ही आवेष्टित हुआ हो ॥४२॥

इस लोकमें पहली रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा, तीसरी बालुकाप्रभा, चौथी पंकप्रभा, पाँचवीं धूमप्रभा, छठवीं तमःप्रभा और सातवीं महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं। ये सातों भूमियाँ तीनों वातवलयोंपर अधिष्ठित तथा क्रमसे नीचे-नीचे स्थित हैं। अन्तमें चलकर ये सभी अधोलोकके नीचे स्थित घनोदधिवातवलय पर अधिष्ठित हैं ॥४३-४५॥ इन पृथिवियोंके रूढ़ि नाम क्रमसे घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी भी हैं ॥४६॥ पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है तथा खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग इन तीन भागोंमें विभक्त है ॥४७॥ पहला खर भाग सोलह हजार योजन मोटा है, दूसरा पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और तीसरा अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है ॥४८-४९॥ पंक भागको राक्षसों तथा असुरकुमारोंके रत्नमयी देदीप्यमान भवन यथा क्रमसे सुशोभित कर रहे हैं ॥५०॥ तथा खर भागको नौ भवनवासियोंके महाकान्तिसे युक्त, स्वयं जगमगाते हुए नाना प्रकारके भवन अलंकृत कर रहे हैं ॥५१॥ खर भागके १ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्य, ४ लोहितांक, ५ मसारगल्व, ६ गोमेद, ७ प्रवाल, ८ ज्योति, ९ रस, १० अंजन, ११ अंजनमूल, १२ अंग, १३ स्फटिक, १४ चन्द्राभ, १५ वर्चस्क और १६ बहुशिलामय ये सोलह पटल हैं ॥५२-५४॥ इनमेंसे प्रत्येक पटलकी मोटाई एक-एक हजार योजन है तथा देदीप्यमान खर भाग इन सोलह पटल

१. गोमेध—क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञेयाः पङ्कबहुलाच्छेषाः षडपि भूमयः । स्वस्वबाहुल्यहीनैकरज्ज्वायामनिजान्तराः ॥५६॥
द्वात्रिंशदथ बाहुल्यमष्टाविंशतिरेव च । चतुर्विंशतिरप्यासां विंशतिः षोडशाष्ट च ॥५७॥
योजनानां सहस्राणि षण्णामपि यथाक्रमम् । पृथिवीनां विनिर्दिष्टं दृष्टतत्त्वैर्जिनेश्वरैः ॥५८॥
दशानामसुरादीनां प्रथमायां च सद्मनाम् । संख्या सा प्रतिपत्तव्या परिपाट्या व्यवस्थिता ॥५९॥
चतुःषष्टिः स्मृता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तरा । द्वासप्ततिस्तथा लक्षाः षण्णां षट्सप्ततिस्ततः ॥६०॥
भवनानां तथा लक्षा नवतिश्च षडुत्तरा । चैत्यालयाश्च विज्ञेयाः प्रत्येकं सद्मसंख्यया ॥६१॥
चतुर्दश सहस्राणि षोडशापि यथाक्रमम् । भूतानां राक्षसानां च सन्ति सद्मान्यधो भुवः ॥६२॥
असुरा नागनामानः सुपर्णतनयामराः । द्वीपोदधिकुमाराश्च तथैव स्तनितामराः ॥६३॥
विद्युत्कुमारनामानो दिक्कुमारास्तथापरे । देवा अग्निकुमाराश्च कुमारा वायुपूर्वकाः ॥६४॥
मणिद्युमणिनित्याभे पाताले निवसन्ति ते । यथायथं निवासेषु देवा भवनवासिनः ॥६५॥
असुराणां च तत्रायुः साधिकः सागरः स्मृतः । तथा नागकुमाराणां ज्ञेयं पल्योपमत्रयम् ॥६६॥
तत् सुपर्णकुमाराणां सार्धं पल्योपमद्वयम् । द्वयं द्वीपकुमाराणां शेषाणां पल्यमर्द्धभाक् ॥६७॥
असुराणां धनूंषि स्यादुत्सेधः पञ्चविंशतिः । मौमैर्दशैव शेषाणां ज्योतिषां सप्त तत्त्वतः ॥६८॥
सौधर्मैशानयोर्देवाः सप्तहस्तोच्छ्रयास्ततः । एकार्धहानौ सर्वार्थसिद्धौ हस्तोऽवशिष्यते ॥६९॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणु श्रेणिक ! लेशतः । सप्तानामपि भूमीनां क्रमेण नरकालयान् ॥७०॥

स्वरूप ही है ॥५५॥ पंक भागसे शेष छह भूमियोंका अपना-अपना अन्तर अपनी-अपनी मोटाईसे कम एक-एक रज्जु प्रमाण है ॥५६॥ समस्त तत्त्वोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले श्री जिनेन्द्र देवने द्वितीयादि पृथिवियोंकी मोटाई क्रमसे बत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन बतलायी है ॥५७-५८॥

प्रथम पृथिवीमें असुरकुमार आदि दसभवनवासी देवोंके भवनोंकी संख्या निम्न प्रकार जानना चाहिए—असुरकुमारोंके चौंसठ लाख, नागकुमारोंके चौरासी लाख, गरुड़कुमारोंके बहत्तर लाख, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, मेघकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और विद्युत्कुमार इन छह कुमारोंके छिहत्तर लाख तथा वायुकुमारोंके छियानबे लाख भवन हैं। ये सब भवन श्रेणि रूपसे स्थित हैं तथा प्रत्येकमें एक-एक चैत्यालय हैं ॥५९-६१॥ पृथिवीके नीचे भूतोंके चौदह हजार और राक्षसोंके सोलह हजार भवन यथाक्रमसे स्थित हैं ॥६२॥ जहाँ मणिरूपी सूर्यकी निरन्तर आभा फैली रहती है ऐसे पाताल लोकमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार ये दस प्रकारके भवनवासी देव यथायोग्य अपने-अपने भवनोंमें निवास करते हैं ॥६३-६५॥ उनमें असुरकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक सागर, नागकुमारोंकी तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंकी अढ़ाई पल्य, द्वीपकुमारोंकी दो पल्य और शेष छह कुमारोंकी डेढ़ पल्य प्रमाण है ॥६६-६७॥ असुरकुमारोंकी ऊँचाई पच्चीस धनुष, शेष नौ प्रकारके भवनवासियों तथा व्यन्तरोंकी दस धनुष और ज्योतिषी देवोंकी सात धनुष है ॥६८॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी ऊँचाई सात हाथ है। उसके आगे एक तथा आधा हाथ कम होते-होते सर्वार्थसिद्धिमें एक हाथकी ऊँचाई रह जाती है। भावार्थ—पहले दूसरे स्वर्गमें सात हाथ, तीसरे चौथे स्वर्गमें छह हाथ, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्गमें पाँच हाथ, नौवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें स्वर्गमें चार हाथ, तेरहवें, चौदहवेंमें साढ़े तीन हाथ, पन्द्रहवें-सोलहवें स्वर्गमें तीन हाथ, अधोग्रैवेयकोंमें अढ़ाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकोंमें दो हाथ, उपरि ग्रैवेयकोंमें तथा अनुदिश विमानोंमें डेढ़ हाथ और अनुत्तर विमानोंमें एक हाथ ऊँचाई है ॥६९॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब इसके आगे संक्षेपसे रत्नप्रभा आदि सातों भूमियोंके विलोंका यथाक्रमसे वर्णन करता हूँ सो सुन ॥७०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवन्त्यब्बहुले भागे घर्माणां नारकाश्रयाः । योजनानां सहस्रं तु मुक्त्वोर्ध्वाधोविभागयोः ॥७१॥
अयमेव क्रमो ज्ञेयः शेषास्वपि च भूमिषु । सप्तम्यां मध्यदेशेऽमी सत्रिंशे क्रोशपञ्चके ॥७२॥
लक्षा नरकभेदानां स्युस्त्रिंशत्पञ्चविंशतिः । तासु पञ्चदशैवैता दश तिस्रस्तथैव च ॥७३॥
पञ्चोनापि च लक्षैका पञ्च चैव यथाक्रमम् । लक्षाश्चतुरशीतिः स्युस्तेषां संग्रहसंख्यया ॥७४॥
त्रयोदश यथासंख्यमेकादश नवापि च । सप्त पञ्च त्रयश्चैकः प्रस्तारास्तासु भूमिषु ॥७५॥
सीमन्तको मतः पूर्वो नरको रौरुकस्ततः । भ्रान्तोद्भ्रान्तौ च संभ्रान्तः परोऽसंभ्रान्त एव च ॥७६॥
विभ्रान्तश्च तथा त्रस्तो घर्मायां त्रसितः परः । वक्रान्तश्चाप्यवक्रान्तो विक्रान्तश्चेन्द्रकाः स्मृताः ॥७७॥
स्तरक स्तनकश्चैव मनको वनकस्तथा । घाटसंघाटजामानौ जिह्वाख्यो जिह्विकाभिधः ॥७८॥
लोलश्च लोलुपश्चापि तथाऽन्यस्स्तनलोलुपः । वंशायामिन्द्रका ह्येते जिनैरेकादशोदिताः ॥७९॥
तप्तश्च तपितश्चान्यस्तपनस्तापनः परः । पञ्चमश्च निदाघाख्यः षष्ठः प्रज्वलितो मतः ॥८०॥
तथैवोज्ज्वलितो ज्ञेयस्ततः संज्वलितोऽष्टमः । संप्रज्वलित इत्यन्यस्तृतीयायां नवेन्द्रकाः ॥८१॥
आरस्तारश्च मारश्च वर्चस्कस्तमकस्तथा । खडः खडखडश्चेति चतुर्थ्यां सप्त वर्णिताः ॥८२॥
तमो भ्रमो झषोऽर्तश्च तामिस्रश्चेत्यमी स्मृताः । इन्द्रका नगराकाराः पञ्चम्यां पञ्च संहिताः ॥८३॥
हिमवर्दललल्लकास्त्रयः षष्ठ्यामपीन्द्रकाः । सप्तम्यामप्रतिष्ठानमेकमेवेन्द्रकं विदुः ॥८४॥
ज्ञेया ह्येकोनपञ्चाशदिन्द्रकाः संयुतास्त्वमी । अधोऽधो न्यूनका द्वाभ्यामुपर्युपरि वृद्धयः ॥८५॥
सीमन्तके चतुर्दिक्षु प्रत्येकं नारकालयाः । तिष्ठन्त्येकोनपञ्चाशत् श्रेणिबद्धा महान्तराः ॥८६॥
तावन्त एव चैकोनाः श्रेणिबद्धाः विदिक्षु च । प्रत्येकं बहवस्तेभ्यस्ताभ्योऽन्यत्र प्रकीर्णकाः ॥८७॥

घर्मा नामक पहली पृथिवीके अब्बहुल भागमें ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर नारकियोंके विल हैं। यही क्रम शेष पृथिवियोंमें भी समझना चाहिए, किन्तु सातवीं पृथिवीमें पैंतीस कोशके विस्तारवाले मध्य देशमें विल हैं ॥७१-७२॥ पहली पृथिवीमें तीस लाख, दूसरीमें पच्चीस लाख, तीसरीमें पन्द्रह लाख, चौथीमें दस लाख, पाँचवींमें तीन लाख, छठवींमें पाँच कम एक लाख, सातवींमें पाँच और सातोंमें सब मिलाकर चौरासी लाख विल हैं ॥७३-७४॥ उन पृथिवियोंमें क्रमसे तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन और एक प्रस्तार अर्थात् पटल हैं ॥७५॥ घर्मा पृथिवीके तेरह प्रस्तारोंमें क्रमसे निम्नलिखित तेरह इन्द्रक विल हैं—१ सीमन्तक, २ नारक, ३ रौरुक, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रान्त, ६ संभ्रान्त, ७ असम्भ्रान्त, ८ विभ्रान्त, ९ त्रस्त, १० त्रसित, ११ वक्रान्त, १२ अवक्रान्त और १३ विक्रान्त ॥७६-७७॥ श्री जिनेन्द्र देवने वंशा नामक दूसरी पृथिवीके ग्यारह प्रस्तारोंमें निम्नांकित ग्यारह इन्द्रक विल बतलाये हैं—१ स्तरक, २ स्तनक, ३ मनक, ४ वनक, ५ घाट, ६ संघाट, ७ जिह्वा, ८ जिह्विक, ९ लोल, १० लोलुप और ११ स्तनलोलुप ॥७८-७९॥ तीसरी मेघा पृथिवीके नौ प्रस्तारोंमें निम्न प्रकार नौ इन्द्रक विल बतलाये हैं—१ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ प्रज्वलित, ७ उज्ज्वलित, ८ संज्वलित और ९ संप्रज्वलित ॥८०-८१॥ चौथी पृथिवीके सात प्रस्तारोंमें क्रमसे निम्नलिखित सात इन्द्रक विल हैं—१ आर, २ तार, ३ मार, ४ वर्चस्क, ५ तमक, ६ खड और ७ खडखड ॥८२॥ पाँचवीं पृथिवीके पाँच प्रस्तारोंमें निम्नलिखित पाँच इन्द्रक विल हैं—१ तम, २ भ्रम, ३ झष, ४ अन्त और ५ तामिस्र। ये इन्द्रक विल नगरोंके आकार हैं ॥८३॥ छठवीं पृथिवीमें १ हिम, २ वर्दल और ३ लल्लक ये तीन इन्द्रक विल हैं ॥८४॥ सातों पृथिवियोंके सब इन्द्रक मिलकर उनचास हैं। ऊपरसे नीचेकी ओर प्रत्येक पृथिवीमें दो-दो कम होते जाते हैं और नीचेसे ऊपरकी ओर प्रत्येक पृथिवी में दो-दो अधिक होते जाते हैं ॥८५॥ प्रथम पृथिवीके प्रथम प्रस्तार सम्बन्धी सीमन्तक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें प्रत्येकमें उनचास-उनचास श्रेणिबद्ध विल हैं और ये परस्पर बहुत भारी अन्तरको लिये हुए हैं ॥८६॥ इसी सीमन्तक

१. सल्लका म., ख.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकैको हीयते चाधः सीमन्तनरकादिषु । चतुःश्रेषोऽप्रतिष्ठानो न श्रेणी न प्रकीर्णकाः ॥८८॥
शतं षण्णवतं दिक्षु चतुरूनं विदिक्षु तत् । सीमन्तकस्य तन्मिश्रमष्टाशीतं शतत्रयम् ॥८९॥
शतं द्वानवतं दिक्षु साष्टाशीति विदिक्षु तत् । कुण्डानां नरकस्यैतद् युक्त्वाशीत्या शतत्रयम् ॥९०॥
अष्टाशीतं शतं दिक्षु चतुरूनं विदिक्षु तत् । रौरुकस्य विमिश्रं तद् द्वासप्तत्या शतत्रयम् ॥९१॥
शतं चतुरशीतिश्च भ्रान्ते दिक्षु विदिक्षु तत् । साशीति नारकं मिश्रं चतुःषष्ट्या शतत्रयम् ॥९२॥
साशीतिकं शतं दिक्षु षट्सप्तत्या विदिक्षु तत् । षट्पञ्चाशद्विमिश्रं स्यादुद्भ्रान्तस्य शतत्रयम् ॥९३॥
षट्सप्तत्या शतं दिक्षु द्वासप्तत्या विदिक्षु तत् । द्व्यूनपञ्चाशता मिश्रं संभ्रान्तस्य शतत्रयम् ॥९४॥
द्वासप्तत्या शतं दिक्षु साष्टषष्ट्या विदिक्षु तत् । असंभ्रान्तस्य मिश्रं तच्चत्वारिंशं शतत्रयम् ॥९५॥
साष्टषष्टिशतं दिक्षु चतुःषष्ट्या विदिक्षु तत् । द्वात्रिंशं तद्द्वयं युक्तं विभ्रान्तस्य शतत्रयम् ॥९६॥
चतुःषष्ट्या शतं दिक्षु शतं षष्ट्या विदिक्षु च । त्रस्तस्य तद्द्वयं मिश्रं चतुर्विंशं शतत्रयम् ॥९७॥
शतं षष्ट्याधिकं दिक्षु षट्पञ्चाशं विदिक्षु तत् । त्रसितस्य समायुक्तं षोडशाग्रं शतत्रयम् ॥९८॥
षट्पञ्चाशं शतं दिक्षु द्वापञ्चाशं विदिक्षु तत् । वक्रान्तस्य समायुक्तमष्टोत्तरशतत्रयम् ॥९९॥
द्विपञ्चाशं शतं दिक्षु चत्वारिंशं सहाष्टभिः । विदिक्षु मिश्रितं तस्यादवक्रान्ते शतत्रयम् ॥१००॥

विलकी चार विदिशाओंमें प्रत्येकमें अड़तालीस-अड़तालीस श्रेणिबद्ध विल हैं। इन श्रेणियों तथा श्रेणिबद्ध विलोंके सिवाय बहुतसे प्रकीर्णक विल भी हैं ॥८७॥ इन सीमन्तक आदि नरकोंमें नीचे-नीचे क्रम-क्रमसे एक-एक विल कम होता जाता है। इस प्रकार सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक-एकके क्रमसे केवल चार विल हैं। वहाँ न श्रेणी है और न प्रकीर्णक विल ही हैं ॥८८॥ इस प्रकार प्रथम पृथिवीके प्रथम सीमन्तक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ छियानबे, चार विदिशाओंमें एक सौ बानबे और सब मिलाकर तीन सौ अठासी श्रेणीबद्ध विल हैं ॥८९॥ दूसरे प्रस्तारके नारक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ बानबे, चार विदिशाओंमें एक सौ अठासी और सब मिलाकर तीन सौ अस्सी श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९०॥ तीसरे प्रस्तारके रौरुक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ अठासी, चार विदिशाओंमें एक सौ चौरासी और सब मिलाकर तीन सौ बहत्तर श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९१॥ चौथे प्रस्तारके भ्रान्त नामक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ चौरासी, विदिशाओंमें एक सौ अस्सी और सब मिलाकर तीन सौ चौंसठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९२॥ पाँचवें प्रस्तारके उद्भ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी दिशाओंमें एक सौ अस्सी, विदिशाओंमें एक सौ छिहत्तर और सब मिलाकर तीन सौ छप्पन श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९३॥ छठवें प्रस्तारके सम्भ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ छिहत्तर, विदिशाओंमें एक सौ बहत्तर और सब मिलाकर तीन सौ अड़तालीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९४॥ सातवें प्रस्तारके असम्भ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ बहत्तर, विदिशाओंमें एक सौ अड़सठ और सब मिलाकर तीन सौ चालीस श्रेणीबद्ध विल हैं ॥९५॥ आठवें प्रस्तारके विभ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ अड़सठ, विदिशाओंमें एकसौ चौसठ और सब मिलाकर तीन सौ बत्तीस श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥९६॥ नौवें प्रस्तारके त्रस्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ चौसठ, विदिशाओंमें एक सौ साठ और सब मिलाकर तीन सौ चौबीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९७॥ दसवें प्रस्तारके त्रसित नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ साठ, विदिशाओंमें एक सौ छप्पन और सब मिलाकर तीन सौ सोलह श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९८॥ ग्यारहवें प्रस्तारके वक्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ छप्पन, विदिशाओंमें एक सौ बावन और सब मिलाकर तीन सौ आठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥९९॥ बारहवें प्रस्तारके अवक्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ बावन, विदिशाओंमें एक सौ अड़तालीस और सब मिलाकर तीन सौ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१००॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चत्वारिंशं शतं दिक्षु विक्रान्तस्य सहाष्टभिः । चत्वारिंशं चतुर्भिस्तद् विदिक्षु परिकीर्त्तितम् ॥१०१॥
द्वयं तच्च समायुक्तं द्वयं द्वानवतं शतम् । इन्द्रके नरकाणां स्यात् परिवारस्त्रयोदशे ॥१०२॥
श्रेणिबद्धान्यमूनि स्युः सहस्राणीन्द्रकैः सह । त्रयस्त्रिंशच्चतुःशत्या चत्वारि समुदायतः ॥१०३॥
ये लक्षाण्यिंशदेकोना नवतिः पञ्च पञ्चभिः । सहस्राणि शतैस्तेऽपि सप्तषष्ट्या प्रकीर्णकाः ॥१०४॥
चत्वारिंशं शतं दिक्षु चतुर्भिस्तरकस्य तत् । विदिक्षु चतुरूनं द्वे अशीत्या चतुरन्तया ॥१०५॥
चत्वारिंशं शतं दिक्षु षट्त्रिंशं तु विदिक्षु तत् । स्तनकस्य समस्तं तत् षट्सप्तत्या शतद्वयम् ॥१०६॥
षट्त्रिंशं हि शतं दिक्षु द्वात्रिंशं तु विदिक्षु तत् । मनकस्य समस्तं तत् साष्टषष्टि शतद्वयम् ॥१०७॥
द्वात्रिंशं हि शतं दिक्षु त्वष्टाविंशं विदिक्षु तत् । वनकस्य समन्तं तत् षष्ट्या युक्तं शतद्वयम् ॥१०८॥
अष्टाविंशं शतं दिक्षु चतुर्विंशं विदिक्षु तत् । घाटस्यापि समस्तं तत् द्वापञ्चाशं शतद्वयम् ॥१०९॥
चतुर्विंशं शतं दिक्षु विंशमेव विदिक्षु तत् । संघाटस्य चतुर्युक्तं चत्वारिंशं शतद्वयम् ॥११०॥
दिक्षु विंशं शतं ज्ञेयं षोडशाग्रं विदिक्षु तत् । जिह्वाख्यस्य समस्तं तत् षट्त्रिंशं हि शतद्वयम् ॥१११॥
षोडशाग्रं शतं दिक्षु द्वादशाग्रं विदिक्षु तत् । जिह्वकाख्यस्य युक्तं स्यादष्टाविंशं शतद्वयम् ॥११२॥
द्वादशाग्रं शतं दिक्षु विदिक्ष्वष्टोत्तरं शतम् । लोलस्यापि समस्तं तत् विंशत्यग्रं शतद्वयम् ॥११३॥
अष्टोत्तरशतं दिक्षु विदिक्षु चतुरुत्तरम् । लोलुपस्य समस्तं तत् द्वादशाग्रं शतद्वयम् ॥११४॥
चतुर्भिश्च शतं दिक्षु विदिक्षु शतमायतम् । तत्तनुलोलुपाख्यस्य चतुर्युक्तं शतद्वयम् ॥११५॥

और तेरहवें प्रस्तारके विक्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ अड़तालीस, विदिशाओंमें एक सौ चौवालीस और दोनोंके सब मिलाकर दो सौ बानबे श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१०१–१०२॥ इस प्रकार तेरहों प्रस्तारोंके समस्त श्रेणिबद्ध विल चार हजार चार सौ बीस, इन्द्रक विल तेरह और श्रेणिबद्ध तथा इन्द्रक दोनों मिलाकर चार हजार चार सौ तेंतीस विल हैं। इनके सिवाय उनतीस लाख पंचानवे हजार पाँच सौ सड़सठ प्रकीर्णक विल हैं। इस प्रकार सब मिलाकर प्रथम पृथिवीमें तीस लाख विल हैं ॥१०३–१०४॥ द्वितीय पृथिवीके प्रथम प्रस्तारके स्तरक नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ चौवालीस, विदिशाओंमें एक सौ चालीस और सब मिलाकर दो सौ चौरासी श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१०५॥ द्वितीय प्रस्तारके स्तनक नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ चालीस, विदिशाओंमें एक सौ छत्तीस और सब मिलाकर दो सौ छिहत्तर श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१०६॥ तृतीय प्रस्तारके मनक नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ छत्तीस, विदिशाओंमें एक सौ बत्तीस और सब मिलाकर दो सौ अड़सठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१०७॥ चतुर्थ प्रस्तारके वनक नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ बत्तीस, विदिशाओंमें एक सौ अट्ठाईस और सब मिलाकर दो सौ साठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१०८॥ पंचम प्रस्तारके घाट नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ अट्ठाईस, विदिशाओंमें एक सौ चौबीस और सब मिलाकर दो सौ बावन विल श्रेणिबद्ध हैं ॥१०९॥ षष्ठ प्रस्तारके संघाट नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ चौबीस, विदिशाओंमें एक सौ बीस और सब मिलाकर दो सौ चौवालीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११०॥ सप्तम प्रस्तारके जिह्व नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ बीस, विदिशाओंमें एक सौ सोलह और सब मिलाकर दो सौ छत्तीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१११॥ अष्टम प्रस्तारके जिह्वक नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ सोलह, विदिशाओंमें एक सौ बारह और सब मिलाकर दो सौ अट्ठाईस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११२॥ नवम प्रस्तारके लोल नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ बारह, विदिशाओंमें एक सौ आठ और सब मिलाकर दो सौ बीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११३॥ दशम प्रस्तारके लोलुप नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ आठ, विदिशाओंमें एक सौ चार और सब मिलाकर दो सौ बारह श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११४॥ और एकादश प्रस्तारके स्तन-लोलुप नामक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणिबद्धानि चैतानि द्वे सहस्रे च षट्शती । नवतिः पञ्चभिर्युक्ता भवन्ति नरकाणि तु ॥११६॥
चतुर्विंशतिलक्षाश्च नवतिः सप्तभिस्त्विह । सहस्रगुणिताः पञ्च त्रिशती च प्रकीर्णकाः ॥११७॥
तप्तस्यापि शतं दिक्षु नरकाणां विदिक्षु तत् । मता षण्णवतिर्युक्तं शतं षण्णवतं तु तत् ॥११८॥
दिक्षु षण्णवतिर्द्वाभ्यां विदिक्षु नवतिर्युता । तपितस्य तु तद् युक्तमष्टाशीतं शतं मतम् ॥११९॥
दिक्षु द्वानवतिः सा स्यादष्टाशीतिर्विदिक्षु तत् । तपनस्य तु तद्युक्तमशीत्या सहितं शतम् ॥१२०॥
अष्टाशीतिर्महादिक्षु विदिक्षु चतुरुत्तरा । अशीतिस्तापनस्यैतद् द्वासप्तत्या शतं युतम् ॥१२१॥
अशीतिश्चतुरूर्ध्वा स्याद् दिक्ष्वशीतिर्विदिक्षु तत् । निदाघस्यापि तद्युक्तं चतुःषष्टियुतं शतम् ॥१२२॥
दिक्ष्वशीतिर्विदिक्षु ज्ञैः षट्सप्ततिरुदाहृता । युक्तं प्रज्वलितस्यापि षट् पञ्चाशं शतं हि तत् ॥१२३॥
दिक्षु षट् सप्ततिर्ज्ञेया चतुरूना विदिक्षु सा । शतमुज्ज्वलितस्योभे चत्वारिंशं शतं मतम् ॥१२४॥
दिक्षु द्वासप्ततिः सा स्यादष्टाषष्टिर्विदिक्षु तत् । युक्तं संज्वलितस्यापि चत्वारिंशं शतं मतम् ॥१२५॥
अष्टाषष्टिर्महादिक्षु चतुःषष्टिर्विदिक्षु तत् । संप्रज्वलितसंज्ञस्य द्वात्रिंशत्संयुतं शतम् ॥१२६॥
श्रेणिबद्धानि चामूनि सहस्रं च चतुःशती । पञ्चाशीतिश्च जायन्ते नवस्वपि सहेन्द्रकैः ॥१२७॥
लक्षाश्चतुर्दशाष्टाभिर्नवतिश्च प्रकीर्णकाः । सहस्रताडिता पञ्च-शती पञ्चदशापि च ॥१२८॥

इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ चार, विदिशाओंमें सौ और सब मिलाकर दो सौ चार श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११५॥ इस प्रकार इन ग्यारह प्रस्तारोंके श्रेणिबद्ध विल दो हजार छह सौ चौरासी और इन्द्रक विल ग्यारह हैं तथा दोनों मिलाकर दो हजार छह सौ पंचानबे हैं ॥११६॥ तथा प्रकीर्णक विल चौबीस लाख सत्तानवे हजार तीन सौ पाँच है। इस तरह सब मिलकर पचीस लाख विल हैं ॥११७॥

तीसरी पृथिवीके पहले प्रस्तार सम्बन्धी तप्त नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें सौ, विदिशाओंमें छियानबे और सब मिलाकर एक सौ छियानबे श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११८॥ दूसरे प्रस्तारके तपित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें छियानबे, विदिशाओंमें बानबे और दोनोंके मिलाकर एक सौ अट्ठासी श्रेणिबद्ध विल हैं ॥११९॥ तीसरे प्रस्तारके तपन नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें बानबे, विदिशाओंमें अट्ठासी और दोनोंके मिलाकर एक सौ अस्सी श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२०॥ चौथे प्रस्तारके तापन नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें अट्ठासी, विदिशाओंमें चौरासी और दोनोंके मिलाकर एक सौ बहत्तर श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२१॥ पाँचवें प्रस्तारके निदाघ नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें चौरासी, विदिशाओंमें अस्सी और दोनोंके मिलाकर एक सौ चौंसठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२२॥ छठे प्रस्तारके प्रज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें अस्सी, विदिशाओंमें छिहत्तर और दोनोंके मिलाकर एक सौ छप्पन श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२३॥ सातवें प्रस्तारके उज्ज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें छिहत्तर, विदिशाओंमें बहत्तर और दोनोंके मिलाकर एक सौ अड़तालीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२४॥ आठवें संज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें बहत्तर, विदिशाओंमें अड़सठ और दोनोंको मिलाकर एक सौ चालीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२५॥ और नौवें प्रस्तारके संप्रज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें अड़सठ, विदिशाओंमें चौंसठ और दोनोंके सब मिलाकर एक सौ बत्तीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१२६॥ इस प्रकार नौ प्रस्तारोंके समस्त श्रेणिबद्ध विल एक हजार चार सौ छिहत्तर हैं। इनमें नौ इन्द्रक विलोंकी संख्या मिलानेपर एक हजार चार सौ पचासी विल होते हैं ॥१२७॥ तीसरी पृथिवीमें चौदह लाख, अंठानबे हजार पाँच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक हैं और सब मिलाकर पन्द्रह लाख विल हैं ॥१२८॥

१. न म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुःषष्टिर्महादिक्षु षष्टिरेव विदिक्षु च । आरस्यापि शतं मिश्रं चतुर्विंशतिसंमतम् ॥१२९॥
षष्टिरेव महादिक्षु षट्पञ्चाशद्विदिक्षु च । तारस्यापि च तन्मिश्रं षोडशाग्रं शतं मतम् ॥१३०॥
षट्पञ्चाशन्महादिक्षु द्वापञ्चाशद्विदिक्षु च । मारस्यापि च तन्मिश्रं मतमष्टोत्तरं शतम् ॥१३१॥
द्वापञ्चाशन्महादिक्षु चत्वारिंशत् सहाष्टभिः । वर्चस्कस्य विदिक्षु स्यात्तन्मिश्रं शतमेव तु ॥१३२॥
चत्वारिंशत् सहाष्टाभिर्महादिक्षु विदिक्षु तु । तमकस्य चतुर्भिश्च युतं वा नवतिर्द्वयम् ॥१३३॥
चत्वारिंशच्चतुर्भिश्च महादिक्षु विदिक्षु तु । चत्वारिंशत् खडस्येयमशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१३४॥
चत्वारिंशन्महादिक्षु षट्त्रिंशच्च विदिक्षु च । युता खडखडस्येव षट्सप्ततिरुदाहृता ॥१३५॥
इन्द्रकैः सह सप्त स्युः शतान्येतानि सप्त च । श्रेणीबद्धानि सर्वाणि नरकाण्यत्र संभवात् ॥१३६॥
लक्षा नवसहस्राणि नवतिर्नवभिः सह । नवतिश्च त्रिभिर्युक्ता द्विशती च प्रकीर्णकाः ॥१३७॥
षटत्रिंशच्च महादिक्षु द्वात्रिंशत्तु विदिक्षु तत् । तमःश्रुतेर्द्वयं मिश्रमष्टाषष्टिरुदाहृता ॥१३८॥
द्वात्रिंशच्च महादिक्षु भ्रमस्याष्टौ[1] च विंशतिः । विदिक्षु मिश्रितं तच्च षष्टिरिष्टा मनीषिभिः ॥१३९॥
अष्टाविंशतिरुद्दिष्टा महादिक्षु विदिक्षु तु । झषस्य चतुरूना स्याद्द्वापञ्चाशद्द्वयं युता ॥१४०॥
चतुर्विंशतिरन्ध्रस्य महादिक्षु विदिक्षु तु । विंशतिर्मिश्रितं तस्य चत्वारिंशच्चतुर्युता ॥१४१॥
विंशतिस्तु महादिक्षु विदिक्ष्वपि च षोडश । तमिस्रस्य विमिश्रं तत् षट् त्रिंशन्नरकाणि तु ॥१४२॥

चौथी पृथिवीके पहले प्रस्तार सम्बन्धी आर नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें चौंसठ, विदिशाओंमें साठ और दोनोंके मिलाकर एक सौ चौबीस श्रेद्धिबद्ध विल हैं ॥१२९॥ दूसरे प्रस्तारके तार नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें साठ, विदिशाओंमें छप्पन और दोनोंके मिलाकर एक सौ सोलह श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३०॥ तीसरे प्रस्तारके मार नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें छप्पन, विदिशाओंमें बावन और दोनोंके मिलाकर एक सौ आठ श्रेणिबद्ध विमान हैं ॥१३१॥ चौथे प्रस्तारके वर्चस्क नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें बावन, विदिशाओंमें अड़तालीस और दोनोंके मिलाकर एक सौ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३२॥ पाँचवें प्रस्तारके तमक नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें अड़तालीस, विदिशाओंमें चवालीस और दोनोंके मिलाकर बानबे श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३३॥ छठवें प्रस्तारके खड नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें चवालीस, विदिशाओंमें चालीस और दोनोंके मिलाकर चौरासी श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३४॥ और सातवें प्रस्तारके खड-खड नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें चालीस, विदिशाओंमें छत्तीस और दोनोंके मिलाकर छिहत्तर श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३५॥ इस प्रकार चौथी भूमिमें सात इन्द्रक विलोंकी संख्या मिलाकर सब इन्द्रक और श्रेणिबद्ध विलोंकी संख्या सात सौ सात है ॥१३६॥ इनके सिवाय नौ लाख निन्यानबे हजार दो सौ तिरानबे प्रकीर्णक विल हैं तथा सब मिलाकर दश लाख विल हैं ॥१३७॥

पाँचवीं पृथिवी सम्बन्धी प्रथम प्रस्तारके तम नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें छत्तीस, विदिशाओंमें बत्तीस और दोनोंके मिलाकर अड़सठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३८॥ दूसरे प्रस्तारमें भ्रम नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें बत्तीस, विदिशाओंमें अट्ठाईस और दोनोंके मिलाकर साठ श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१३९॥ तीसरे प्रस्तारके ऋषभ नामक इन्द्रकी चारों महादिशाओंमें अट्ठाईस, विदिशाओंमें चौबीस और दोनोंमें मिलाकर बावन श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१४०॥ चौथे प्रस्तारके अन्ध्र नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें चौबीस, विदिशाओंमें बीस और दोनोंके मिलाकर चवालीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१४१॥ और पाँचवें प्रस्तारके तमिस्र नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें बीस, विदिशाओंमें सोलह और दोनोंके मिलाकर छत्तीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१४२॥ इस

१. तमस्याष्टौ म. । २. ऋषभस्य म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रकैः सह सर्वाणि श्रेणीबद्धान्यमून्यपि । द्वे शते नरकाण्युक्ते पञ्चषष्टिविमिश्रिते ॥१४३॥
द्वे लक्षे च सहस्राणि नवभिर्नवतिस्तथा । शतानि सप्त कथ्यन्ते पञ्चत्रिंशत् प्रकीर्णकाः ॥१४४॥
षोडशैव महादिक्षु द्वादशैव विदिक्षु च । हिमस्यापि विमिश्रं स्यादष्टाविंशतिरेव तत् ॥१४५॥
द्वादशैव महादिक्षु विदिक्ष्वष्टौ तु तद्द्वयम् । सहितं नरकाणां स्याद् वर्दलस्य तु विंशतिः ॥१४६॥
अष्टावेव महादिक्षु चत्वार्येव विदिक्षु च । लल्लकस्य समेतं तु द्वादशैव तु तद्द्वयम् ॥१४७॥
त्रिषष्टिरिन्द्रकैः सार्धं श्रेणीबद्धान्यमून्यपि । नवतिश्च सहस्राणि नवभिः सहितानि तु ॥१४८॥
शतानि नव तत्रापि द्वात्रिंशच्च प्रकीर्णकाः । प्रकीर्णनारकाकीर्णाः प्रणीताः प्राणिदुःसहाः ॥१४९॥
एकमेव महादिक्षु विदिक्षु नरकं न हि । अप्रतिष्ठानयुक्तानि पञ्च स्युर्न प्रकीर्णकाः ॥१५०॥
काङ्क्षाख्यश्च महाकाङ्क्षः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोः । पिपासातिपिपासाख्यौ दक्षिणोत्तरयोस्तथा ॥१५१॥
सीमन्तकेन्द्रकस्यामी चत्वारोऽनन्तराः स्थिताः । दुर्वर्णनारकाकीर्णाः प्रसिद्धा नारकालयाः ॥१५२॥
अनिच्छाख्यो महानिच्छो निरयो विन्ध्यनामकः । महाविन्ध्याभिधानश्च तरकस्य तथा स्थिताः ॥१५३
दुःखाख्यश्च महादुःखो निरयो वेदनाभिधः । महावेदननामा च तप्तस्यामी तथा स्थिताः ॥१५४॥
निसृष्टातिनिसृष्टाख्यौ निरोधो निरयोऽपरः । महानिरोधमाला च तेऽप्यारस्य तथा स्थिताः ॥१५५॥
निरुद्धातिनिरुद्धाख्यौ तृतीयश्च विमर्दनः । महाविमर्दनाख्यश्च तमोनाम्ना तथा स्थिताः ॥१५६॥

प्रकार पाँचवीं पृथिवीमें पाँच इन्द्रक विल मिलाकर समस्त इन्द्रक और श्रेणिबद्ध विलोंकी संख्या दो सौ पैंसठ है। तथा दो लाख निन्यानबे हजार सात सौ पैंतीस प्रकीर्णक विल हैं और सब मिलकर तीन लाख विल हैं ॥१४३-१४४॥ छठवीं पृथिवी सम्बन्धी प्रथम प्रस्तारके हिम नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें सोलह, विदिशाओंमें बारह और दोनोंके मिलाकर अट्ठाईस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१४५॥ दूसरे प्रस्तारके वर्दल नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें बारह, विदिशाओंमें आठ और दोनोंके मिलाकर बीस श्रेणिबद्ध विल हैं ॥१४६॥ और तीसरे प्रस्तारके लल्लक नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें आठ, विदिशाओंमें चार और दोनोंके मिलाकर बारह श्रेणिबद्ध विल हैं॥१४७॥ इस प्रकार छठवीं पृथिवीके तीन प्रस्तारोंमें तीन इन्द्रकोंकी संख्या मिलाकर त्रेसठ इन्द्रक और श्रेणिबद्ध विल हैं तथा निन्यानबे हजार नौ सौ बत्तीस प्रकीर्णक विल हैं और सब मिलकर पाँच कम एक लाख विल हैं। ये सभी विल प्राणियोंके लिए दुःखसे सहन करनेके योग्य हैं ॥१४८-१४९॥

सातवीं पृथिवीमें एक ही प्रस्तार है और उसके बीचमें अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक है उसकी चारों दिशाओंमें चार श्रेणिबद्ध विल हैं। इसकी विदिशाओंमें विल नहीं हैं तथा प्रकीर्णक विल भी इस पृथिवीमें नहीं हैं। एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध दोनों मिलकर पाँच विल हैं ॥१५०॥

प्रथम पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो सीमन्तक नामका इन्द्रक विल है उसकी पूर्व दिशामें कांक्ष, पश्चिम दिशामें महाकांक्ष, दक्षिण दिशामें पिपास और उत्तर दिशामें अतिपिपास नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं। ये महानरक इन्द्रक विलके निकटमें स्थित हैं तथा दुर्वर्ण नारकियोंसे व्याप्त हैं ॥१५१-१५२॥ दूसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो तरक नामका इन्द्रक विल है उसकी पूर्व दिशामें अनिच्छ, पश्चिम दिशामें महानिच्छ, दक्षिण दिशामें विन्ध्य और उत्तर दिशामें महाविन्ध्य नामके प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं ॥१५३॥ तीसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो तप्त नामका इन्द्रक विल है उसकी पूर्व दिशामें दुःख, पश्चिम दिशामें महादुःख, दक्षिण दिशामें वेदना और पश्चिम दिशामें महावेदना नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं ॥१५४॥ चौथी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो आर नामका इन्द्रक विल है, उसकी पूर्व दिशामें निःसृष्ट, पश्चिम दिशामें अतिनिःसृष्ट, दक्षिण दिशामें निरोध और उत्तर दिशामें महानिरोध नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं ॥१५५॥ पाँचवीं पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो तम नामका इन्द्रक है उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीलाख्यश्च महानीलो निरयो मघवाक्षितो । दिक्षु पङ्कमहापङ्कौ हिमनाम्नस्तथा स्थितः ॥१५७॥
स्थिताः कालमहाकालरौरवा निरयास्तथा । महारौरवनामा च स्वाप्रतिष्ठानदिक्षु ते ॥१५८॥
नवतिश्च सहस्राणि त्रिशती च प्रकीर्णकाः । लक्षाश्चैव त्र्यशीतिः स्युश्चत्वारिंशच्च सप्तभिः ॥१५९॥
सहस्राणि नव श्रेणी-गतानां षट्शतीन्द्रकैः । त्रिभिः पञ्चाशता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१६०॥
तेषु संख्येयविस्ताराः षड्लक्षाः प्रथमक्षितौ । सन्त्यसंख्येयविस्ताराश्चतुर्विंशतिरेव ताः ॥१६१॥
सन्ति संख्येयविस्ताराः पञ्चलक्षास्तु विंशतिः । ततोऽसंख्येयविस्तारा नरकौघा ह्यधःक्षितौ ॥१६२॥
लक्षास्तिस्रस्तृतीयायां ख्याताः संख्येययोजनाः । असंख्येयास्तु विस्तारा लक्षा द्वादश तु क्षितौ ॥१६३॥
लक्षद्वयं चतुर्थ्यां तु नारकाणां क्षितौ ततः । संख्येययोजनानां स्यादन्येषामष्ट लक्षिताः ॥१६४॥
अधःपष्टिसहस्राणि संख्येया ध्वनितान्यतः । चत्वारिंशत्सहस्राणि द्विलक्षाण्यपराण्यपि ॥१६५॥
एकोनविंशतिः षष्ट्यां सहस्राणि नवोत्तरा । नवतिर्नवशत्यामा[1] संख्येया ध्वनितानि तु ॥१६६॥
सप्ततिश्च सहस्राणि नवासंख्येययोजनाः । शतानि नारकावासा नवषण्णवतिस्त्विह ॥१६७॥
एकं संख्येयविस्तारं सप्तम्यां नरकं मतम् । ततोऽसंख्येयविस्तारं नरकाणां चतुष्टयम् ॥१६८॥
तत्र संख्येयविस्तारा इन्द्रकाः सर्व एव ते । श्रेणीबद्धास्त्वसंख्येयविस्तारा नरकालयाः ॥१६९॥
केचित् संख्येयविस्ताराः सर्वभूमिप्रकीर्णकाः । केऽप्यसंख्येयविस्तारा इत्थं ते तूभयात्मकाः ॥१७०॥

पूर्व दिशामें निरुद्ध, पश्चिम दिशामें अतिनिरुद्ध, दक्षिणमें विमर्दन और उत्तरमें महाविमर्दन नामके चार प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं ॥१५६॥ छठवीं पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो हिम नामका इन्द्रक विल है उसकी पूर्व दिशामें नील, पश्चिम दिशामें महानील, दक्षिणमें पंक और उत्तरमें महापंक नामके चार प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं ॥१५७॥ और सातवीं पृथिवीमें जो अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक है उसकी पूर्व दिशामें काल, पश्चिम दिशामें महाकाल, दक्षिण दिशामें रौरव और उत्तर दिशामें महारौरव नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं ॥१५८॥ इस प्रकार सातों पृथिवियोंमें तेरासी लाख, नब्बे हजार, तीन सौ सैंतालिस प्रकीर्णक, नौ हजार छह सौ श्रेणिबद्ध, उनंचास इन्द्रक और सब मिलाकर चौरासी लाख विल हैं ॥१५९-१६०॥

प्रथम पृथिवीके तीस लाख विलोंमें छह लाख विल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और चौबीस लाख विल असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥१६१॥ उसके नीचे दूसरी पृथिवीमें पाँच लाख संख्यात योजन विस्तारवाले और बीस लाख असंख्यात योजन विस्तारवाले विल हैं ॥१६२॥ तीसरी पृथिवीमें तीन लाख संख्यात योजन विस्तारवाले और बारह लाख असंख्यात योजन विस्तारवाले विल हैं ॥१६३॥ चौथी पृथिवीमें दो लाख विल संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और आठ लाख असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥१६४॥ पाँचवीं पृथ्वीमें साठ हजार विल संख्यात योजन विस्तार-वाले हैं और दो लाख चालीस हजार विल असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥१६५॥ छठवीं पृथिवीमें उन्नीस हजार नौ सौ निन्यानबे विल संख्यातयोजन विस्तारवाले हैं और उन्यासी हजार नौ सौ छियानबे विल असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥१६६-१६७॥ सातवीं पृथिवीमें एक अर्थात् बीचका इन्द्रक विल संख्यात योजन विस्तारवाला है और चारों दिशाओंके चार विल असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥१६८॥ सातों पृथिवियोंमें जो इन्द्रक विल हैं वे सब संख्यात योजन विस्तारवाले हैं, तथा श्रेणिबद्ध विल असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं और प्रकीर्णक विलोंमें कितने ही संख्यात योजन विस्तारवाले तथा कितने ही असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं इस तरह उभय विस्तारवाले हैं ॥१६९-१७०॥

---

१. साकमित्यर्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोमन्तकस्य विस्तारो योजनानां मतं ततः । विद्वद्भिः प्रमितो लक्षाश्चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥१७१॥
चत्वारिंशच्चतस्रश्च लक्षाः साष्टसहस्रिकाः । त्रिशती च त्रयस्त्रिंशत् सत्र्यंशो नारकस्य सः ॥१७२॥
त्रिचत्वारिंशदिष्टास्ताः सहस्राणि च षोडश । षट्शतानि च षट्षष्टिर्द्वौ त्र्यंशौ रौरवस्य च ॥१७३॥
द्विचत्वारिंशदुक्तास्ताः सहस्राणि च विंशति । पञ्चोत्तराणि विस्तारो भ्रान्तस्यापि समन्ततः ॥१७४॥
चत्वारिंशच्च लक्षा सैकोद्भ्रान्तस्य शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्तु भागवान् ॥१७५॥
चत्वारिंशत्स संभ्रान्ते ततः षट्षष्टि षट्शती । चत्वारिंशत् सहस्राणि सैकानि द्वौ त्रिभागकौ ॥१७६॥
ताश्चत्वारिंशदेकोना असंभ्रान्तस्य विस्तृतिः । पञ्चाशच्च सहस्राणि योजनानां समन्ततः ॥१७७॥
अष्टात्रिंशत् स विभ्रान्ते ताः पञ्चाशत् सहस्रकैः । सह त्र्यंशत्रयस्त्रिंशत् त्रिंशताष्टसहस्रकैः ॥१७८॥
सप्तत्रिंशदतो लक्षा सषट्षष्टिसहस्रिकाः । शतानि षट् त्रिभागो द्वौ षट्षष्टिस्त्रस्तनामनि ॥१७९॥
षट्त्रिंशच्च तथा लक्षाः सहस्राणि च सप्ततिः । पञ्चोत्तराणि विस्तारस्त्रसितस्य परिस्फुटः ॥१८०॥
पञ्चत्रिंशदतो लक्षा वक्रान्तस्य त्रिभागवान् । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि त्रयत्रिंशच्छतत्रयम् ॥१८१॥
चतुस्त्रिंशदतो लक्षा नवत्येकसहस्रिका । षट्षष्टिः षट्शती त्र्यंशावक्रान्तस्य सर्वतः ॥१८२॥
चतुस्त्रिंशत्ततो लक्षा योजनानामवस्थिताः । विक्रान्तस्यापि विस्तारः समस्तो विस्तरेरितः ॥१८३॥
स्तरकस्य त्रयस्त्रिंशत् लक्षाः साष्टसहस्रिकाः । शतानि त्रीणि सत्र्यंशः त्रिंशच्च त्रीणि विस्तृतिः ॥१८४॥
स्तनकस्य तु विस्तारो लक्षा द्वात्रिंशदंशकौ । षोडशापि सहस्राणि षट्षष्टिः षट्शती मता ॥१८५॥
मनकस्यापि विस्तारो त्रिंशल्लक्षा सहैककाः । योजनानां सहस्राणि पञ्चविंशतिरेव च ॥१८६॥

अब सातों पृथिवियोंके उनंचास इन्द्रक विलोंका विस्तार कहते हैं—उनमेंसे प्रथम पृथिवीके सीमन्तक इन्द्रकका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है ॥१७१॥ दूसरे नारक इन्द्रकका विस्तार चवालीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन तथा एक योजनके तीन भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है ॥१७२॥ तीसरे रौरव इन्द्रकका विस्तार तैंतालीस लाख सोलह हजार छह सौ सड़सठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१७३॥ चौथे भ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार सब ओरसे बयालीस लाख पच्चीस हजार योजन है ॥१७४॥ पांचवें उद्भ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार इकतालीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है ॥१७५॥ छठवें सम्भ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार चालीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१७६॥ सातवें असम्भ्रान्त इन्द्रकका विस्तार सब ओरसे उनतालीस लाख पचास हजार योजन है ॥१७७॥ आठवें विभ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार अड़तीस लाख अठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है ॥१७८॥ नौवें त्रस्त नामक इन्द्रकका विस्तार सैंतीस लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१७९॥ दशवें त्रसित नामक इन्द्रकका विस्तार छत्तीस लाख पचहत्तर हजार योजन है ॥१८०॥ ग्यारहवें वक्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार पैंतीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है ॥१८१॥ बारहवें अवक्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार सब ओरसे चौंतीस लाख एकानबे हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें-से दो भाग प्रमाण है ॥१८२॥ और तेरहवें विक्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार चौंतीस लाख योजन है ॥१८३॥

द्वितीय पृथिवीके पहले स्तरक नामक इन्द्रकका विस्तार तैंतीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है ॥१८४॥ दूसरे स्तनक नामक इन्द्रकका विस्तार बत्तीस लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है ॥१८५॥ तीसरे मनक इन्द्रकका विस्तार इकतीस लाख पच्चीस हजार योजन है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनकस्यापि विस्तारः त्रिंशल्लक्षाः शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्त्रिभागवान् ॥१८७॥
घाटस्य विंशतिर्लक्षा नव षट्षष्टिश्च षट्शतम् । चत्वारिंशत्सहस्राणि सैकानि त्र्यंशकौ हि सः ॥१८८॥
अष्टाविंशतिलक्षास्तु विस्तारः परिकीर्तितः । स पञ्चाशत् सहस्राणि संघाटस्य निरन्तरः ॥१८९॥
सप्तविंशतिलक्षाः स त्रयस्त्रिंशं शतत्रयम् । पञ्चाशच्च सहस्राणि साष्टौ जिह्वस्त्रिभागवान् ॥१९०॥
लक्षाः षड्विंशतिः प्रोक्ताः सषट्षष्टिसहस्रिकाः । षट्षष्टिः षट्शती त्र्यंशौ विस्तारो जिह्विकाश्रयः ॥१९१॥
पञ्चविंशतिलक्षास्तु लोलस्य परिकीर्तितः । सहस्राणि च विस्तारः समस्तः पञ्चपञ्चतिः ॥१९२॥
चतुर्विंशतिलक्षाश्च लोलुपस्य त्रिभागवान् । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि त्रिंशती त्रिंशता त्रयम् ॥१९३॥
त्रयोविंशतिलक्षास्तु विस्तारः स्तनलोलुपे । सहस्राण्येकनवतिस्त्र्यंशौ षट्षष्टि षट्शतम् ॥१९४॥
त्रयोविंशतिलक्षास्तु तप्ते द्वाविंशतिः परे । त्रिभागोऽष्टौ सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥१९५॥
एकविंशतिलक्षा वै सहस्राणि च षोडश । तपनस्य त्रिभागौ च षट्षष्टिः षट्शतौ च सः ॥१९६॥
लक्षाः विंशतिरुद्दिष्टा मुनिभिः पञ्चविंशतिः । सहस्राणि च विस्तारस्तापनस्यापि सर्वतः ॥१९७॥
एकोनविंशतिर्लक्षा निदाघस्य शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रिभागस्त्रिंशता त्रयम् ॥१९८॥
स चाष्टादश लक्षास्ताः षट्षष्टिः षोडशात्मकम् । शतं प्रज्वलितस्यासौ चत्वारिंशत्सहस्रकैः ॥१९९॥
लक्षाः सप्तदश प्रोक्ता विस्तारस्तत्त्वदर्शिभिः । सहैवोज्ज्वलितस्यासौ चत्वारिंशत्सहस्रकैः ॥२००॥
लक्षाः षोडश विस्तारो ह्यष्टापञ्चाशदप्यतः । सहस्राणि त्रिंशत्यंशस्त्रिंशत्संज्वलिते त्रिभिः ॥२०१॥
लक्षाः पञ्चदश त्र्यंशो षट्षष्टिः षट्शती च सः । सहस्राणि च षट्षष्टिः संप्रज्वलितनामनि ॥२०२॥

॥१८६॥ चौथे वनक इन्द्रकका विस्तार तीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१८७॥ पाँचवें घाट नामक इन्द्रकका विस्तार उनतीस लाख इकतालीस हजार छः सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१८८॥ छठवें संघाट नामक इन्द्रकका विस्तार अट्ठाईस लाख पचास हजार योजन है ॥१८९॥ सातवें जिह्व नामक इन्द्रकका विस्तार सत्ताईस लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९०॥ आठवें जिह्विक इन्द्रकका विस्तार छब्बीस लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१९१॥ नौवें लोल इन्द्रकका विस्तार पच्चीस लाख पचहत्तर हजार योजन है ॥१९२॥ दसवें लोलुप नामक इन्द्रकका विस्तार चौबीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९३॥ और ग्यारहवें स्तनलोलुप इन्द्रकका विस्तार तेईस लाख एकानबे हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१९४॥

तीसरी पृथिवीके पहले तप्त नामक इन्द्रकका विस्तार तेईस लाख योजन है। दूसरे तपित इन्द्रकका विस्तार बाईस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९५॥ तीसरे तपन इन्द्रकका विस्तार एक्कीस लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१९६॥ चौथे तापन नामक इन्द्रकका विस्तार मुनियोंने सब ओर बीस लाख पच्चीस हजार योजन कहा है ॥१९७॥ पाँचवें निदाघ नामक इन्द्रकका विस्तार उन्नीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९८॥ छठवें प्रज्वलित इन्द्रकका विस्तार अठारह लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन है ॥१९९॥ सातवें उज्ज्वलित इन्द्रकका विस्तार तत्त्वदर्शी आचार्योंने सत्रह लाख चालीस हजार योजन बतलाया है ॥२००॥ आठवें संज्वलित इन्द्रकका विस्तार सोलह लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०१॥ और नौवें संप्रज्वलित इन्द्रकका विस्तार पन्द्रह लाख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षाश्चतुर्दशैवोक्ताः पञ्चसप्ततिरप्यतः । सहस्राणि स विस्तारस्तस्यारस्यापि सर्वतः ॥२०३॥
लक्षास्त्रयोदश त्र्यंशस्त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि विस्तारस्तारगोचरः ॥२०४॥
लक्षा द्वादश त्र्यंशौ च षट्षष्टिः षट्शती तथा । सहस्राण्येकनवतिर्विस्तारो मारगोचरः ॥२०५॥
लक्षा द्वादश वर्चस्के लक्षोनास्तनके तु ताः । त्र्यंशश्चाष्टसहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥२०६॥
लक्षा दश षडस्योक्ताः सहस्रं षोडशात्मकम् । षट्शती च त्रिभागौ च षट्षष्टिः स प्रकीर्तितः ॥२०७॥
लक्षा नव सहस्राणि पञ्चविंशतिरेव च । विस्तारो विस्तरेणोक्तस्तज्ज्ञैः खडखडस्य सः ॥२०८॥
लक्षास्तमःश्रुतेरष्टौ योजनानां शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्त्रयं च सः ॥२०९॥
लक्षाः सप्त भ्रमस्यासौ चत्वारिंशत्सहस्रकैः । शतानि षोडशांशौ च षट्षष्टिरपि भाषितः ॥२१०॥
लक्षाः षडेव विस्तारः सपञ्चाशत्सहस्रिकाः । योजनानां समन्तात्तु झषस्य परिभाषितः ॥२११॥
लक्षाः पञ्चैव चान्ध्रस्य त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् । त्र्यंशश्चाप्यष्टपञ्चाशत् सहस्राणि स वर्णितः ॥२१२॥
लक्षाश्चतस्र उद्दिष्टास्तमिस्रे त्र्यंशकद्वयम् । षट्षष्टिश्च सहस्राणि षट्षष्टिः षट्शती च सः ॥२१३॥
लक्षास्तिस्रो हिमस्यापि विस्तारः पञ्चसप्ततिः । सहस्राणि समादिष्टः शुद्धकेवलदृष्टिभिः ॥२१४॥
लक्षद्वयं विभागश्च विस्तारो वर्दलस्य तु । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥२१५॥
लल्लकस्य तु लक्षैका षट्षष्टिः षट्शती तथा । सहस्राण्येकनवतिर्विस्तारः त्र्यंशकद्वयम् ॥२१६॥

छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०२॥

चौथी पृथिवीके आर नामक पहले इन्द्रकका विस्तार सब ओर चौदह लाख पचहत्तर हजार योजन कहा है ॥२०३॥ दूसरे तार इन्द्रकका विस्तार तेरह लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०४॥ तीसरे मार नामक इन्द्रकका विस्तार बारह लाख एकानबे हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२०५॥ चौथे वर्चस्क इन्द्रकका विस्तार बारह लाख योजन है। पाँचवें तनक इन्द्रकका विस्तार ग्यारह लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०६॥ छठवें खड इन्द्रकका विस्तार दश लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है ॥२०७॥ और सातवें खडखड नामक इन्द्रकका विस्तार जानकार आचार्योंने नौ लाख पच्चीस हजार योजन कहा है ॥२०८॥

पाँचवीं पृथिवीके पहले तम नामक इन्द्रकका विस्तार आठ लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०९॥ दूसरे भ्रम इन्द्रकका विस्तार सात लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है ॥२१०॥ तीसरे झष इन्द्रकका विस्तार छह लाख पचास हजार योजन कहा गया है ॥२११॥ चौथे अन्ध्र नामक इन्द्रकका विस्तार पाँच लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण वर्णित है ॥२१२॥ और पाँचवें तमिस्र नामक इन्द्रकका विस्तार चार लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२१३॥

छठवीं पृथिवीके पहले हिम नामक इन्द्रकका विस्तार निर्मल केवलज्ञानके धारी अरहन्त भगवान्ने तीन लाख पचहत्तर हजार योजन बतलाया है ॥२१४॥ दूसरे वर्दल इन्द्रकका विस्तार दो लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२१५॥ और तीसरे लल्लक इन्द्रकका विस्तार एक लाख एकानबे हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलैव तु लक्षैका योजनानां प्रकीर्तितः । अप्रतिष्ठानविस्तारो वस्तुविस्तरवेदिभिः ॥२१७॥
इन्द्रकेषु च बाहुल्यं घर्मायां क्रोश एव च । श्रेणिबद्धेषु स सत्र्यंशो द्वौ सत्र्यंशौ प्रकीर्णके ॥२१८॥
क्रोशः सार्धस्तु वंशायामिन्द्रकेषु तदीरितम् । श्रेणीगतेषु तु क्रोशौ त्रयः सार्धाः प्रकीर्णके ॥२१९॥
मेघायामिन्द्रकेपूक्तं बाहुल्यं क्रोशयोर्द्वयम् । स द्विर्त्र्यंशं तु तच्छ्रेण्यां संयुक्तं तत्प्रकीर्णके ॥२२०॥
सार्धौ द्वाविन्द्रकेष्वेतौ चतुर्थ्यां त्र्यंशकस्त्रयः । श्रेण्यां प्रकीर्णकेष्वेते षड्भागैः पञ्च पञ्चभिः ॥२२१॥
इन्द्रकेषु त्रयः क्रोशाश्चत्वारः श्रेण्युपाश्रयः । सप्त प्रकीर्णकेष्वेते पञ्चम्यामुपवर्णिताः ॥२२२॥
सार्धाः षष्ठ्यां त्रयः क्रोशा इन्द्रके श्रेण्युपाश्रिताः । चत्वारस्त्र्यंशकाश्चाष्टौ ते षड्भागाः प्रकीर्णके ॥२२३॥
सप्तम्यामप्रतिष्ठाने चत्वारस्ते समुच्छ्रयाः । श्रेणिबद्धेषु पञ्चैव सत्रिभागाः प्रकीर्तिताः ॥२२४॥
योजनानां चतुःषष्टिः शतानि प्रथमक्षितौ । नवतिर्नवसंयुक्ता क्रोशश्चोक्तौ द्वयं तथा ॥२२५॥
क्रोशद्वादशभागाश्च तथैवैकादशापरे । इन्द्रकाणामिदं ज्ञेयमेकैकस्यान्तरं बुधैः ॥२२६॥
चतुःषष्टिशतान्येव नवतिश्च नवोत्तरा । श्रेणीगतान्तरं क्रोशौ द्वौ षडंशकाः ॥२२७॥
नवतिर्नव चैतानि चतुःषष्टिशतानि तत् । क्रोशाः सप्तदशान्येषां क्रोशषट्त्रिंशदंशकाः ॥२२८॥
इन्द्रकाणां द्वितीयायां पृथिव्यां तु पृथुश्रुताः । तद्योजनसहस्राण्याहुरेकान्नविंशदन्तरम् ॥२२९॥
नवभिश्च नवत्या च योजनैः सहितानि तु । चत्वारिंशच्छतैर्युक्ता तथा सप्तधनुःशती ॥२३०॥
तावन्त्येव च जायन्ते योजनान्यन्ययाऽनया । श्रेणिबद्धस्थितानां च या षट्त्रिंशद्धनुःशती ॥२३१॥

सातवीं पृथिवीमें केवल अप्रतिष्ठान नामका एक ही इन्द्रक है तथा वस्तुके विस्तारको जाननेवाले सर्वज्ञ देवने उसका विस्तार एक लाख योजन बतलाया है ॥२१७॥

घर्मा नामक पहली पृथिवीके इन्द्रक विलोंकी मुटाई एक कोश, श्रेणिबद्ध विलोंकी एक कोश तथा एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग और प्रकीर्णक विलोंकी दो कोश तथा एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२१८॥ दूसरी वंशा पृथिवीके इन्द्रक विलोंकी मुटाई डेढ़ कोश, श्रेणिबद्धोंकी दो कोश और प्रकीर्णकोंकी साढ़े तीन कोश है ॥२१९॥ तीसरी मेघा पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई दो कोश, श्रेणिबद्धोंकी दो कोश और एक कोशके तीन भागोंमें दो भाग, तथा प्रकीर्णकोंकी चार कोश और एक कोशके तीन भागोंमें दो भाग है ॥२२०॥ चौथी अंजना पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई अढ़ाई कोश, श्रेणिबद्धोंकी तीन कोश और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग तथा प्रकीर्णकोंकी पाँच कोश और एक कोशके छह भागोंमें पाँच भाग है ॥२२१॥ पाँचवीं अरिष्टा पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई तीन कोश, श्रेणिबद्धोंकी चार और प्रकीर्णकोंकी सात कोश है ॥२२२॥ छठी मघवी पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई साढ़े तीन कोश, श्रेणिबद्धोंकी चार कोश और एक कोशके तीन भागोंमें दो भाग तथा प्रकीर्णकोंकी आठ कोश और एक कोशके आठ भागोंमें छह भाग प्रमाण है ॥२२३॥ एवं माघवी नामक सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान इन्द्रककी मुटाई चार कोश, श्रेणिबद्धोंकी पाँच कोश और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग है। सातवीं पृथिवीमें प्रकीर्णक विल नहीं है॥२२४॥ अब विलोंका परस्पर अन्तर कहते हैं—प्रथम पृथिवीके इन्द्रक विलोंका अन्तर बुद्धिमान् पुरुषोंको चौंसठ सौ निन्यानबे योजन (छह हजार चार सौ निन्यानबे योजन) दो कोश और एक कोशके बारह भागोंमें-से ग्यारह भाग जानना चाहिए ॥२२५-२२६॥ श्रेणिबद्ध विलोंका चौंसठ सौ निन्यानबे योजन दो कोश और एक कोशके नौ भागोंमें पाँच भाग है ॥२२७॥ तथा प्रकीर्णक विलोंका अन्तर चौंसठ सौ निन्यानबे योजन दो कोश और एक कोशके छत्तीस भागोंमें सत्रह भाग प्रमाण है ॥२२८॥ द्वितीय पृथिवीके इन्द्रक विलोंका अन्तर बहुश्रुत विद्वानोंने दो हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और चार हजार सात सौ धनुष कहा है ॥२२९-२३०॥ श्रेणिबद्ध विलोंका अन्तर दो हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और तीन हजार छह सौ धनुष है ॥२३१॥ एवं प्रकीर्णक विलोंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तावन्त्येव पुनस्तानि योजनानि परस्परम् । प्रकीर्णकान्तरं तस्यां तृतीयं तु धनुःशतम् ॥२३२॥
विनैकेन तु पञ्चाशदिन्द्रकाणां शतान्यपि । द्वात्रिंशच्च तृतीयायां पञ्चत्रिंशद्धनुःशतैः ॥२३३॥
योजनानि हि यावन्ति द्विसहस्रधनूंषि च । श्रेणीगतान्तरं तस्यां लब्धवर्णैः प्रवर्णितम् ॥२३४॥
चत्वारिंशत्सहाष्टाभिर्द्वात्रिंशच्च शतानि वै । धनूंषि पञ्चपञ्चाशच्छतान्येतत्प्रकीर्णके ॥२३५॥
पञ्चषष्टिश्च षट्त्रिंशच्छतानीन्द्रकगोचरम् । धनुःशतानि तद्वेद्यं चतुर्थ्यां पञ्चसप्ततिः ॥२३६॥
योजनानि हि तावन्ति श्रेण्यां पञ्चनवांशकैः । धनूंषि पञ्चपञ्चाशत्तावन्त्येव शतानि तत् ॥२३७॥
चतुःषष्टिश्च षट्त्रिंशद् योजनानां शतानि तु । सप्तसप्ततिसंख्यानैस्तथा चापशतैरपि ॥२३८॥
द्वात्रिंशतिधनुर्भिश्च नवभागद्वयेन च । प्रकीर्णकान्तरं बोध्यं तस्यामेव प्रकीर्त्तितम् ॥२३९॥
सहस्राणि तु चत्वारि तच्चत्वारि शतानि च । योजनानि समस्तानि नवतिश्च नवोत्तरा ॥२४०॥
धनुःशतानि पञ्चैव पञ्चम्यामिन्द्रकेष्विदम् । भेदान्तरप्रपञ्चज्ञैरन्तरं प्रतिपादितम् ॥२४१॥
सहस्राणि च चत्वारि श्रेण्यां तावच्छतानि च । अष्टानवति नन्वेतत् षट्सहस्रधनूंषि च ॥२४२॥
तच्चत्वारि सहस्राणि शतान्यपि च सप्तभिः । नवतिः शेषके चापपञ्चषष्टिशतानि च ॥२४३॥
सहस्राणि च षट्षष्ट्यां शतानि नव चाष्टभिः । नवतिः पञ्चपञ्चाशद्धनुःशतवतीन्द्रके ॥२४४॥
तावन्त्येव भवन्त्यस्यां योजनानि तदन्तरम् । श्रेणीबद्धेषु वक्तव्यं द्विसहस्रधनुर्युतम् ॥२४५॥
सहस्राणि षडेवास्यां नवतिश्च षडुत्तरा । शतानि नव सप्तस्यां शेषे पञ्चधनुःशती ॥२४६॥
ऊर्ध्वाधस्त्रिसहस्राणि नवतिश्च नवोत्तरा । शतानि नव गव्यूतिः सप्तम्यामिन्द्रकान्तरम् ॥२४७॥
श्रेणीबद्धान्तरं चास्यां योजनानि भवन्ति हि । गव्यूतेश्च त्रिभागेन तावन्त्येवेति निश्चयः ॥२४८॥
दशवर्षसहस्राणि नारकाणां लघुस्थितिः । सीमन्तके विनिर्दिष्टा नवतिस्तु परा स्थितिः ॥२४९॥

भी पारस्परिक अन्तर उतना ही अर्थात् दो हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और तीन सौ धनुष है ॥२३२॥ तीसरी पृथिवीमें इन्द्रक विलोंका विस्तार बत्तीस सौ योजन और पैंतीस सौ धनुष प्रमाण है ॥२३३॥ श्रेणीगत विलोंका अन्तर विद्वानोंने बत्तीस सौ योजन और दो हजार धनुष बतलाया है ॥२३४॥ तथा प्रकीर्णकोंका अन्तर बत्तीस सौ अड़तालीस योजन और पचपन सौ धनुष कहा है ॥२३५॥ चौथी पृथिवीमें इन्द्रकविलोंका विस्तार छत्तीस सौ पैंसठ योजन और पचहत्तर सौ धनुष प्रमाण है ॥२३६॥ श्रेणिबद्ध विलोंका अन्तर छत्तीस सौ पैंसठ योजन, पचहत्तर सौ धनुष और एक धनुषके नौ भागोंमें-से पाँच भाग प्रमाण है ॥२३७॥ तथा प्रकीर्णक विलोंका विस्तार छत्तीस सौ चौंसठ योजन, सतहत्तर सौ बाईस धनुष और एक धनुषके नौ भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२३८-२३९॥ पाँचवीं पृथिवीके इन्द्रक विलोंका अन्तर भेद तथा अन्तरोंका विस्तार जाननेवाले आचार्योंने चार हजार चार सौ निन्यानबे योजन और पाँच सौ धनुष बतलाया है ॥२४०-२४१॥ श्रेणिबद्ध विलोंका अन्तर चार हजार चार सौ अंठानबे योजन और छह हजार धनुष है ॥२४२॥ तथा प्रकीर्णक विलोंका अन्तर चार हजार चार सौ सन्तानबे योजन और छह हजार पाँच सौ धनुष है ॥२४३॥ छठी पृथिवीके इन्द्रक विलोंका अन्तर छह हजार नौ सौ अंठानबे योजन और पचपन सौ धनुष प्रमाण है ॥२४४॥ श्रेणिबद्ध बिलोंका अन्तर छह हजार नौ सौ अंठानबे योजन और दो हजार धनुष है ॥२४५॥ तथा प्रकीर्णक विलोंका अन्तर छह हजार नौ सौ छियानबे योजन और सात हजार पाँच सौ धनुष है ॥२४६॥ सातवीं पृथिवीमें इन्द्रक विलका अन्तर ऊपर-नीचे तीन हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और एक गव्यूति अर्थात् दो कोश प्रमाण है ॥२४७॥ तथा इसी सातवीं पृथिवीमें श्रेणिबद्ध विलोंका अन्तर तीन हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ऐसा निश्चय है ॥२४८॥

अब सातों पृथिवियोंमें जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुका वर्णन करते हैं—पहली पृथिवीके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधिका तु परे चासाववरा स्थितिरिष्यते । इन्द्रके नारकाभिख्ये लक्षास्तु नवतिः परा ॥२५०॥
इयमेव जघन्या स्याद् रौरवे[1] समयाधिका । पूर्वकोट्यस्वसंख्येया परमा परिकीर्तिता ॥२५१॥
एषा चैवापरा भ्रान्ते स्थितिः स्यात् समयोत्तरा । सागरस्य पुनो भागो दशमोऽत्र परा स्थितिः ॥२५२॥
इयमेव जघन्या स्यादुद्भ्रान्ते परमा पुनः । द्वावेव दशमौ भागाविति तत्त्वविदां मतम् ॥२५३॥
संभ्रान्ते तु जघन्येयं दशभागास्त्रयः परा । अवराऽसावसंभ्रान्ते परा भागचतुष्टया ॥२५४॥
अवराऽसौ च विभ्रान्ते परा सैकांशवर्द्धिता । त्रस्ते त्ववरा सा स्यात् षट् परा तु दशांशका ॥२५५॥
त्रसिते त्वपरा प्रोक्ता परा सप्त तदंशका । वक्रान्ते साऽपरा प्रोक्ता परा चाष्टौ दशांशकाः ॥२५६॥
एषैवोक्ता विपश्चिद्भिरवक्रान्तेऽवरा स्थितिः । नवैते दशमा भागास्तत्रैव परमा स्थितिः ॥२५७॥
इयमेव तु विक्रान्ते जघन्या परमा दश । दश भागा स्थितिः सैषा घर्मायां सागरोपमा ॥२५८॥
सातिरेकाऽवरा सैव स्तरके सागरोपमा । सागरैकादशांशौ च सागरस्य परा स्थितिः ॥२५९॥

प्रथम सीमन्तक नामक प्रस्तारमें नारकियोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी और उत्कृष्ट नब्बे हजार वर्षकी कही गयी है ॥२४९॥ दूसरे नारक नामक इन्द्रकमें कुछ अधिक नब्बे हजार वर्षकी जघन्य स्थिति और नब्बे लाख वर्षकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५०॥ रौरव नामक तीसरे प्रस्तारमें एक समय अधिक नब्बे लाखकी जघन्य स्थिति और असंख्यात करोड़ वर्षकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५१॥ भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तारमें एक समय अधिक असंख्यात करोड़ वर्षकी जघन्य स्थिति और सागरके दसवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५२॥ उद्भ्रान्त नामक पाँचवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागरका दसवाँ भाग जघन्य स्थिति है और एक सागरके दश भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तत्त्वज्ञ पुरुषोंने मानी है ॥२५३॥ सम्भ्रान्त नामक छठे प्रस्तारमें एक सागरके दश भागोंमें दो भाग तथा एक समय जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें तीन भाग प्रमाण है। असम्भ्रान्त नामक सातवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति सागरके दश भागोंमें समयाधिक तीन भाग है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें चार भाग प्रमाण है ॥२५४॥ विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें चार भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें पाँच भाग प्रमाण है। त्रस्त नामक नौवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें पाँच भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है और सागरके दश भागोंमें छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५५॥ त्रसित नामक दसवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें छह भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें सात भाग प्रमाण है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें सात भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें आठ भाग प्रमाण है ॥२५६॥ अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें आठ भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है और एक सागरके दश भागोंमें नौ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति विद्वानोंने कही है। विक्रान्त नामक तेरहवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक सागरके दश भागोंमें समयाधिक नौ भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें दशों भाग अर्थात् एक सागर प्रमाण है। इस प्रकार घर्मा नामक पहली पृथिवीके तेरह प्रस्तारोंमें जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थितिका कथन किया। अब दूसरी पृथिवीके ग्यारह प्रस्तारोंमें स्थितिका वर्णन करते हैं ॥२५७-२५८॥

दूसरी पृथिवीके स्तरक नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंकी जघन्य आयु एक समय अधिक एक सागर और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर तथा एक सागरके ग्यारह अंशोंमें दो अंश प्रमाण

---

१. रौरुके म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितिरेषैव विज्ञेया स्तनकेऽनन्तरावरा । चतुरेकादशांशाश्च सागरश्च परा तथा ॥२६०॥
अनन्तरा विनिर्दिष्टा मुनिभिर्मनकेऽवरा । षडेकादशभागाश्च सागरश्च तथा परा ॥२६१॥
एषैवावादि विद्वद्भिर्वनके चावरा स्थितिः । अष्टैकादशभागाश्च सागरश्च परा तथा ॥२६२॥
सैषैवाद्या विघाटेऽपि पटुभिः प्रकटाऽवरा । दशैकादशभागाश्च सागरश्च परा तथा ॥२६३॥
इन्द्रके त्वियमेव स्यात् संघाटेऽनन्तराऽवरा । तत्रैकादशभागश्च सागरौ च परा स्थितिः ॥२६४॥
स्थितिरेषैव बोधव्या जिह्वाख्येऽपीन्द्रकेऽवरा । त्रयस्त्वेकादशांशास्ते सागरौ च तथा परा ॥२६५॥
असावेव समादिष्टा जिह्विकाख्येन्द्रकेऽवरा । पञ्चैकादशभागाश्च सागरौ च परा स्थितिः ॥२६६॥
एषैवानन्तरा वेद्या लोलनामेन्द्रकेऽवरा । सप्तैकादशभागाश्च सागरौ च परा तथा ॥२६७॥
भवत्यनन्तरैषैषा लोलुपेऽपीन्द्रकेऽवरा । नवैकादशभागाश्च सागरौ च परा तथा ॥२६८॥
अवरैषा परापीष्टा स्तनलोलुपनामनि । सागरत्रयमेतेषु वंशाया सागरास्त्रयः ॥२६९॥
सागरत्रयमेवासावावरा तप्तनामनि । चत्वारो नवभागाश्च परमा सागरास्त्रयः ॥२७०॥
इयमेवाऽवरा वर्ण्या तपितेऽपीन्द्रके स्थितिः । तथाऽष्टौ नवभागाश्च परमा सागरास्त्रयः ॥२७१॥
तपनेऽप्यवरैषैव नव भागास्त्रयोऽपि तु । चत्वारश्च समादिष्टा परमा सागराः स्थितिः ॥२७२॥
इयमेवोपगीता सा तापनेऽप्यवरा स्थितिः । सा सप्त नवभागास्तु चत्वारः सागराः परा ॥२७३॥

है ॥२५९॥ स्तनक नामक दूसरे प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है तथा एक सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६०॥ मनक नामक तीसरे प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और एक सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥ २६१ ॥ वनक नामक चौथे प्रस्तारमें विद्वानोंने यही जघन्य स्थिति तथा एक सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें आठ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही है ॥२६२॥ विघाट नामक पाँचवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति तथा एक सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति विज्ञ पुरुषोंने प्रकट की है—बतलायी है ॥२६३॥ संघाट नामक छठे इन्द्रक अथवा प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६४॥ जिह्व नामक सातवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६५॥ जिह्विक नामक आठवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६६॥ लोल नामक नौवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति तथा दो सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए ॥२६७॥ लोलुप नामक दसवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें नौ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६८॥ एवं स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति और तीन सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। इस तरह वंशा नामक दूसरी पृथिवीमें सामान्य रूपसे तीन सागर प्रमाण स्थिति प्रसिद्ध है ॥२६९॥

तीसरी पृथिवीके तप्त नामक प्रथम इन्द्रकमें तीन सागर जघन्य और तीन सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ भागोंमें चार भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है ॥२७०॥ तपित नामक दूसरे इन्द्रकमें यही जघन्य तथा तीन सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें आठ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वर्णन करने योग्य है ॥२७१॥ तपन नामक तीसरे इन्द्रकमें यही जघन्य और चार सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ भागोंमें तीन भाग पूर्ण उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है ॥२७२॥ तापन नामक चौथे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति और चार सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निदाघेऽप्यवरैषैव स्थितिः समुपवर्णिता । परा तु नवभागाभ्यां सागराः पञ्च संचिताः ॥२७४॥
अजघन्या निदाघे या सैव प्रज्वलितेऽन्यथा । षड्नवांशकसंमिश्रा परा पञ्च पयोधयः ॥२७५॥
परा प्रज्वलिते येयं सैव चोज्ज्वलितेऽपरा । तथा सनवभागास्ते षट्समुद्राः परा स्थितिः ॥२७६॥
उत्कृष्टोज्ज्वलिते येयं सैव संज्वलितेऽवरा । सपञ्चनवभागास्ते परमा षट् पयोधयः ॥२७७॥
सा संप्रज्वलिते हीना परा सागरसप्तकम् । तृतीयनरके तेऽमी प्रसिद्धाः सप्त सागराः ॥२७८॥
या संप्रज्वलिते दीर्घा ह्रस्वाऽऽरे सा प्रकीर्त्तिता । दीर्घा सप्त समुद्रास्ते सप्तभागास्तथा त्रयः ॥२७९॥
आरे या परमा प्रोक्ता तारे सैवापरा स्थितिः । परा सप्त समुद्रास्ते षड्भिः सप्तमभागकैः॥२८०॥
तारे या परमा प्रोक्ता सैव मारेऽवरा स्थितिः । सह सप्तमभागाभ्यां पराऽष्टौ पयोधयः ॥२८१॥
मारे तु या परा सैव वर्चस्के वर्णिताऽवरा । पञ्चसप्तमभागैस्तु पराष्ट जलराशयः ॥२८२॥
वर्चस्के परमा याऽसौ तमकेऽप्यवरा स्थितिः । परा सप्तमभागेन संयुक्ता नव सागराः ॥२८३॥
परा तु तमके याऽसौ जघन्या सा षडे मता । चतुर्भिः सप्तमैर्भागैः पराऽपि नव सागराः ॥२८४॥
षडे तु परमा याऽसौ हीना षडषडेऽप्यसौ । चतुर्थ्यां सुप्रसिद्धास्ते परा तु दश सागराः ॥२८५॥

भागोंमें सात भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गयी है ॥२७३॥ निदाघ नामक पाँचवें इन्द्रकमें यही जघन्य और पाँच सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वर्णन की गयी है ॥२७४॥ प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति तथा पाँच सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२७५॥ प्रज्वलित इन्द्रककी जो उत्कृष्ट स्थिति है वही उज्ज्वलित नामक सातवें इन्द्रककी जघन्य स्थिति है तथा छह सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२७६॥ उज्ज्वलित इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वही संज्वलित नामक आठवें इन्द्रककी जघन्य स्थिति है तथा छह सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२७७॥ संप्रज्वलित नामक नौवें इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति और सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। इस तरह तीसरे नरकमें सामान्य रूपसे सात सागरकी स्थिति प्रसिद्ध है ॥२७८॥

ऊपर संप्रज्वलित नामक इन्द्रकमें जो सात सागरकी उत्कृष्ट स्थिति बतलायी है वह चौथी पृथिवीके आर नामक प्रथम इन्द्रकमें जघन्य स्थिति कही गयी है तथा सात सागर पूर्ण और एक सागरके सात भागोंमें-से तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गयी है ॥२७९॥ और इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है वही तार नामक दूसरे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है, तथा सात सागर पूर्ण और एक सागरके सात भागोंमें-से छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है ॥२८०॥ तार इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है वही मार नामक तीसरे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है और आठ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है ॥२८१॥ मार इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है वही वर्चस्क नामक चौथे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है और आठ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है ॥२८२॥ वर्चस्क इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है वही तमक नामक पाँचवें इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है और नौ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है ॥२८३॥ तमक इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है वही षड नामक छठे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है और नौ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति प्रदर्शित की गयी है ॥२८४॥ षड इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है वही षडषड नामक सातवें इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है और दश सागर प्रमाण उत्कृष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशार्णवास्तमोनाम्नि जघन्या सा वडे मता । सह पञ्चमभागाभ्यामुत्कृष्टैकादशार्णवाः ॥२८६॥
इयमेव भ्रमे हस्वा स्थितिः संप्रतिपादिता । चतुर्भिः पञ्चमैर्भागैः परा द्वादशसागराः ॥२८७॥
एषैव हि झषे हीना स्थितिरुत्कर्षिणी पुनः । सार्कं पञ्चमभागेन चतुर्दशपयोधयः ॥२८८॥
इयमेवावरोऽन्ध्रे सा सत्यसंधैरुदीरिता । सत्रिपञ्चमभागास्तु परा पञ्चदशाब्धयः ॥२८९॥
एषैव च तमिस्रेऽपि जघन्या स्थितिरिष्यते । पञ्चम्यां सुप्रतीतास्ते परा सप्तदशार्णवाः ॥२९०॥
अवरा तु स्थितिः प्रोक्ता हिमे सप्तदशार्णवाः । परापि द्वित्रिभागाभ्यामष्टादश पयोधयः ॥२९१॥
वर्दले स्थितिरेषैव जघन्या समुदीरिता । परा त्रिभागसंमिश्राः विंशतिस्तु पयोधयः ॥२९२॥
ललके तु जघन्येयमजघन्या स्थितिः पुनः । षष्ठ्यां प्रोक्ता मुनिश्रेष्ठैर्द्वाविंशतिपयोधयः ॥२९३॥
इयमेवाप्रतिष्ठाने जघन्या स्थितिरुच्यते । योत्कृष्टा सा हि सप्तम्यां त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ॥२९४॥
नारकाणां तनूत्सेधो हस्ताः सीमन्तके त्रयः । तरके तु धनुर्हस्तः सार्धान्यष्टाङ्गुलान्यसौ ॥२९५॥
रौरुके धनुरुत्सेधस्त्रयो हस्ताः शरीरिणाम् । अङ्गुलान्यपि तत्रैव भवेत् सप्तदशैव सः ॥२९६॥

स्थिति कही गयी है। इस प्रकार चौथी पृथिवीमें सामान्य रूपसे दश सागर स्थिति प्रसिद्ध है ॥२८५॥ ऊपर जो स्थिति कही गयी है वही पाँचवीं पृथिवीके तम नामक प्रथम इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलायी गयी है। और ग्यारह सागर पूर्ण एक सागरके पाँच भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गयी है ॥२८६॥ भ्रम नामक दूसरे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति कही गयी है और बारह सागर पूर्ण तथा एक सागरके पाँच भागोंमें चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गयी है ॥२८७॥

झष नामक तीसरे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति कही गयी है और चौदह सागर पूर्ण तथा एक सागरके पाँच भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गयी है ॥२८८॥ अन्ध्र नामक चौथे इन्द्रकमें सत्यवादी जिनेन्द्र भगवान्‌ने यही जघन्य स्थिति कही है और पन्द्रह सागर पूर्ण तथा एक सागरके पाँच भागोंमें तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी है ॥२८९॥ तमिस्र नामक पाँचवें इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति मानी जाती है और सत्रह सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी जाती है। इस प्रकार पाँचवीं पृथिवीमें सामान्य रूपसे सत्रह सागरकी आयु प्रसिद्ध है ॥२९०॥

छठी पृथिवीके हिम नामक प्रथम इन्द्रकमें सत्रह सागर प्रमाण जघन्य स्थिति कही गयी है और अठारह सागर पूर्ण तथा एक सागरके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गयी है ॥२९१॥ वर्दल नामक दूसरे इन्द्रक विलमें यही जघन्य स्थिति कही गयी है और बीस सागर पूर्ण तथा तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गयी है ॥२९२॥ मुनियोंमें श्रेष्ठ गणधरादि देवोंने ललक नामक तीसरे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति कही है तथा बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलायी है। इस प्रकार छठी पृथिवीमें सामान्य रूपसे बाईस सागर प्रमाण आयु कही गयी है ॥२९३॥

सातवीं पृथिवीमें केवल एक अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक है सो उसमें यही जघन्य स्थिति बतलायी गयी है और जो उत्कृष्ट स्थिति है वह तैंतीस सागर प्रमाण है। इस प्रकार सातवीं पृथिवीमें सामान्य रूपसे तैंतीस सागर प्रमाण आयु प्रसिद्ध है ॥२९४॥ अब नारकियोंके शरीरकी ऊँचाईका वर्णन किया जाता है—

पहली पृथिवीके सीमन्तक नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है। तरक नामक दूसरे प्रस्तारमें एक धनुष एक हाथ तथा साढ़े आठ अंगुल है ॥२९५॥ रौरुक नामक तीसरे प्रस्तारमें एक धनुष तीन हाथ तथा सत्रह अंगुल है ॥२९६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रान्ते द्वे धनुषी हस्तावङ्गुलं सार्द्धमप्यसौ । उद्भ्रान्ते तु त्रयो दण्डाः सोऽङ्गुलानि दशोदितः ॥२९७॥
धनूंषि त्रीणि संभ्रान्ते द्वौ हस्तावङ्गुलान्यपि । अष्टादशैव सार्द्धानि नारकोत्सेध ईरितः ॥२९८॥
कार्मुकाणि तु चत्वारि हस्तस्त्रीण्यङ्गुलानि च । असंभ्रान्तेऽप्यसंभ्रान्तैरुत्सेधः साधु वर्णितः ॥२९९॥
चत्वारः खलु कोदण्डास्त्रयो हस्तास्तथोदिताः । विभ्रान्तेऽपि ह्यविभ्रान्तैः सार्द्धैरेकादशाङ्गुलैः ॥३००॥
चापपञ्चकमुत्सेधः तथा हस्तश्च विंशतिः । अङ्गुलानि समुद्दिष्टस्त्रस्तनामनि चेन्द्रके ॥३०१॥
धनूंषि च षडुत्सेधस्त्रसिते त्रासिताङ्गिनि । सार्द्धाङ्गुलचतुष्कं च चतुरैः प्रतिपादितः ॥३०२॥
वक्रान्ते धनुषां षट्कं सहस्तद्वितयं तथा । कथितं कविकैरुद्धैरङ्गुलानि त्रयोदश ॥३०३॥
धनुःसप्तकमुत्सेधः[1] सार्धमर्धाङ्गुलेन च । अवक्रान्ते बुधैरुक्तः सोऽङ्गुलान्येकविंशतिः ॥३०४॥
विक्रान्ते सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुली । स एष विहितः प्राज्ञैरुत्सेधः प्रथमावनौ ॥३०५॥
स्तरकेऽष्टौ धनूंषि द्वौ हस्तावङ्गुलयोर्द्वयोः । । द्वावेकादशभागौ च नारकोत्सेध इष्यते ॥३०६॥
स्तनके नवदण्डास्तु द्वात्रिंशत्यङ्गुलानि च । उत्सेधो वर्णितो युक्तश्चतुरेकादशांशकैः ॥३०७॥
मनके नवदण्डाश्च त्रयो हस्ताः सहाङ्गुलैः । अष्टादशभिरुत्सेधः षड्भिरेकादशांशकैः ॥३०८॥
वनके दश दण्डा द्वौ हस्तावुत्सेध इष्यते । साष्टैकादशभागानि सोऽङ्गुलानि चतुर्दश ॥३०९॥
घाटे स्वेकादशप्राज्ञैर्दण्डा हस्तो दशाङ्गुलैः । दशैकादशभागाश्च दैर्घोत्सेधः प्रकीर्तितः ॥३१०॥
संघाटे द्वादशोत्सेधो दण्डः सप्ताङ्गुलान्यपि । तथैकादशभागाश्च नारकाणामुदाहृतः ॥३११॥

भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तारमें दो धनुष दो हाथ और डेढ़ अंगुल है। उद्भ्रान्त नामक पाँचवें प्रस्तारमें तीन धनुष और दश अंगुल है ॥२९७॥ संभ्रान्त नामक छठवें प्रस्तारमें तीन धनुष दो हाथ और साढ़े अठारह अंगुल है ॥२९८॥ असंभ्रान्त नामक सातवें प्रस्तारमें विशद ज्ञानके धारी आचार्योंने नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई चार धनुष, एक हाथ और तीन अंगुल बतलायी है ॥२९९॥ भ्रान्ति रहित आचार्योंने विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरका उत्सेध चार धनुष तीन हाथ और साढ़े ग्यारह अंगुल प्रमाण कहा है ॥३००॥ त्रस्त नामक नौवें प्रस्तारमें पाँच धनुष एक हाथ और बीस अंगुल ऊँचाई कही गयी है ॥३०१॥ जहाँ प्राणी भयभीत हो रहे हैं ऐसे त्रसित नामक दसवें प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई चतुर आचार्योंने छह धनुष और साढ़े चार अंगुल प्रमाण बतलायी है ॥३०२॥ वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें श्रेष्ठ वक्ताओंने नारकियोंका शरीर छः धनुष दो हाथ और तेरह अंगुल प्रमाण कहा है ॥३०३॥ अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तारमें विद्वान् आचार्योंने नारकियोंकी ऊँचाई सात धनुष और साढ़े इक्कीस अंगुल कही है ॥३०४॥ और विक्रान्त नामक तेरहवें प्रस्तारमें सात धनुष तीन हाथ तथा छः अंगुल प्रमाण ऊँचाई है। इस प्रकार बुद्धिमान् आचार्योंने प्रथम पृथिवीमें ऊँचाईका वर्णन किया है ॥३०५॥

दूसरी पृथिवीके स्तरक नामक पहले प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई आठ धनुष, दो हाथ, दो अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें दो भाग प्रमाण मानी जाती है ॥३०६॥ स्तनक नामक दूसरे प्रस्तारमें नारकियोंका उत्सेध नौ धनुष बाईस अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें चार भाग प्रमाण कहा गया है ॥३०७॥ मनक नामक तीसरे प्रस्तारमें नौ धनुष तीन हाथ अठारह अंगुल तथा एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण ऊँचाई बतलायी है ॥३०८॥ वनक नामक चौथे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई दश धनुष दो हाथ चौदह अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें आठ भाग मानी जाती है ॥३०९॥ घाट नामक पाँचवें प्रस्तारमें ग्यारह धनुष, एक हाथ, दश अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें दश भाग शरीरकी ऊँचाई कही गयी है ॥३१०॥ संघाट नामक छठवें प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई बारह धनुष सात अंगुल और एक अंगुलके

१. -मुद्देशः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिह्वाख्ये द्वादशैवोक्ता दण्डा हस्तास्त्रयस्तथा । अङ्गुलानि च सप्तैव त्रयश्चैकादशांशकाः ॥३१२॥
दण्डा हस्तोऽङ्गुलान्येषु जिह्विकाख्ये त्रयोदश । एकपञ्चोक्तभागैश्च त्रयोविंशतिरिष्यते ॥३१३॥
लोले चतुर्दशैवासौ दण्डास्त्वेकोनविंशतिः । अङ्गुलानि विनिर्दिष्टा सप्तैकादशभागकैः ॥३१४॥
त्रयो हस्ता धनूंष्येष लोलुपे च चतुर्दश । नवैकादशभागश्च तथा पञ्चदशाङ्गुली ॥३१५॥
दण्डाः पञ्चदशैवासौ हस्तौ च स्तनलोलुपे । द्वादशाङ्गुलमानं च द्वितीयायां च इष्यते ॥३१६॥
तप्ते सप्तदशोत्सेधो दण्डा हस्तो दशाङ्गुली । द्वित्रिभागसमेतोऽसौ नारकाणां समीरितः ॥३१७॥
एकोनविंशतिर्दण्डास्तपितेऽसौ जवाङ्गुली । त्रिभागश्च समादिष्टः स्पष्टज्ञानेष्टदृष्टिभिः ॥३१८॥
तपने विंशतिर्दण्डास्त्रयो हस्तास्तथैव सः । अङ्गुलानि समुद्दिष्टः शिष्टैरष्टौ प्रकृष्टतः ॥३१९॥
द्वाविंशतिधनूंषि द्वौ हस्तावुक्तः षडङ्गुलैः । उत्सेधस्तापने ज्ञेयशो नारकाङ्गसमुद्भवः ॥३२०॥
चतुर्विंशतिचापानि हस्तः पञ्चाङ्गुलानि च । त्रिभागश्च निदाघेऽसावुत्सेधो बोधितो बुधैः ॥३२१॥
षड्विंशतिधनूंष्येष प्रोक्तः प्रोज्ज्वलितेन्द्रके । अङ्गुलानि च चत्वारि ज्ञानप्रज्वलितात्मभिः ॥३२२॥
सप्तविंशतिचापानि त्रयो हस्ता स वर्णितः । आगमोज्ज्वलितप्राज्ञैस्त्र्यंशावुज्ज्वलितेऽङ्गुली ॥३२३॥
एकान्नत्रिंशदुत्सेधः कोदण्डा हस्तयोर्द्वयम् । अङ्गुलं च त्रिभागश्च बोध्यः संज्वलिते बुधैः ॥३२४॥
एकत्रिंशत्तु कोदण्डा हस्तश्चोत्सेध इष्यते । संप्रज्वलितसंज्ञे च तृतीये यः स भाष्यते ॥३२५॥

ग्यारह भागोंमें एक भाग प्रमाण कही गयी है ॥३११॥

जिह्वा नामक सातवें प्रस्तारमें बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण ऊँचाई है ॥३१२॥ जिह्विक नामक आठवें प्रस्तारमें तेरह धनुष, एक हाथ, तेईस अंगुल और एक अंगुलके पाँच भागोंमें एक भाग प्रमाण ऊँचाई इष्ट है ॥३१३॥ लोल नामक नौवें प्रस्तारमें चौदह धनुष, उन्नीस अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें सात भाग प्रमाण ऊँचाई है ॥३१४॥ लोलुप नामक दसवें प्रस्तारमें चौदह धनुष तीन हाथ पन्द्रह अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें नौ भाग प्रमाण ऊँचाई है ॥३१५॥ और स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल ऊँचाई इष्ट है। इस प्रकार दूसरी पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाईका वर्णन किया ॥३१६॥

तीसरी पृथिवीके तप्त नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सत्रह धनुष, एक हाथ, दश अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण कही गयी है ॥३१७॥ स्पष्ट ज्ञान रूपी इष्ट दृष्टिको धारण करनेवाले तपित नामक दूसरे प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई उन्नीस धनुष नौ अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण बतलायी है ॥३१८॥ शिष्टजनोंने तपन नामक तीसरे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरका उत्सेध बीस धनुष तीन हाथ और आठ अंगुल प्रमाण बतलाया है ॥३१९॥ तापन नामक चौथे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई बाईस धनुष दो हाथ छः अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण कही गयी है ॥ २०॥ निदाघ नामक पाँचवें प्रस्तारमें चौबीस धनुष, एक हाथ, पाँच अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण ऊँचाई विद्वानोंने बतलायी है ॥३२१॥ जिनकी आत्मा ज्ञानके द्वारा देदीप्यमान है ऐसे आचार्योंने प्रोज्ज्वलिन नामक छठवें प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई छब्बीस धनुष और चार अंगुल प्रमाण बतलायी है ॥३२२॥ आगमज्ञानसे सुशोभित विद्वज्जनोंने उज्ज्वलित नामक सातवें प्रस्तारमें नारकियोंका शरीर सत्ताईस धनुष, तीन हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण ऊँचा कहा है ॥३२३॥ विद्वानोंको संज्वलित नामक आठवें प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई उन्तीस धनुष, दो हाथ एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण जानना चाहिए ॥३२४॥ और संप्रज्वलित नामक नौवें प्रस्तारमें ऊँचाईका प्रमाण एकतीस धनुष तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चत्रिंशद्धनूंष्यारे द्वौ हस्तावङ्गुलान्यपि । विंशतिः सप्तभागाश्च चत्वारः संप्रकीर्तितः ॥३२६॥
चत्वारिंशत्तथा तारे दण्डा सप्तदशाङ्गुली । एकः सप्तमभागः स्यादुत्सेधो नारकाश्रयः ॥३२७॥
चत्वारिंशच्चतुर्भिश्च दण्डा हस्तौ त्रयोदश । अङ्गुलानि मतो मारे सप्तभागैः स पञ्चभिः ॥३२८॥
धनूंष्येकोनपञ्चाशदुत्सेधः स दशाङ्गुली । द्वौ च सप्तमभागौ तौ वर्चस्के वर्णितो बुधैः ॥३२९॥
धनूंषि सत्रिपञ्चाशद्धस्तौ चापि षडङ्गुली । षट् च सप्तमभागास्ते तमके परिकीर्तितः ॥३३०॥
अष्टापञ्चाशदुत्सेधो धनूंषि त्र्यङ्गुलानि च । त्रयः सप्तमभागाश्च षडेऽपि प्रकटस्थितः ॥३३१॥
द्विषष्टिस्तु धनूंषि द्वौ हस्तौ षडषडे मतः । उत्सेधः सुप्रसिद्धो यश्चतुर्थे नरके सताम् ॥३३२॥
तमोनामनि चोत्सेधः कोदण्डाः पञ्चसप्ततिः । सप्तशीतिरसौ दण्डा द्वौ हस्तौ भवति भ्रमे ॥३३३॥
वपुषो नारकोयस्य झषे शतधनूंषि सः । अन्धे द्वादशमिश्राणि तानि हस्तद्वयं मतम् ॥३३४॥
तमिस्रेऽपि च तान्येव पञ्चविंशतिदण्डकैः । उत्सेधो वर्णितो योऽसौ पञ्चमे नरके बुधैः ॥३३५॥
षट्षष्टया शतकोदण्डा द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुली । उत्सेधो वर्णितः पूर्णो हिमनामनि चेन्द्रके ॥३३६॥
द्विशत्यष्टौ च कोदण्डा हस्तोऽष्टावङ्गुलान्यपि । उत्सेधः शास्त्रनेत्राढ्यैर्वर्दलेऽपि विलोकितः ॥३३७॥
शतद्वयं च पञ्चाशद्धनूंष्येव स भासितः । लल्लके नरके षष्ठे निष्ठितार्थैर्यं इष्यते ॥३३८॥

एक हाथ प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार तीसरी पृथिवीमें नारकियोंकी ऊँचाईका वर्णन किया ॥३२५॥

चौथी पृथिवीके आर नामक प्रथम प्रस्तारमें पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें चार भाग प्रमाण ऊँचाई कही गयी है ॥३२६॥ तार नामक दूसरे प्रस्तारमें चालीस धनुष, सत्रह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें एक भाग प्रमाण नारकियोंकी ऊँचाई है ॥३२७॥ मार नामक तीसरे प्रस्तारमें चवालीस धनुष, दो हाथ, तेरह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें पाँच भाग प्रमाण ऊँचाई मानी गयी है ॥३२८॥ वर्चस्क नामक चौथे प्रस्तारमें विद्वानोंने शरीरकी ऊँचाई उनचास धनुष, दश अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें दो भाग प्रमाण बतलायी है ॥३२९॥ तमक नामक पाँचवें प्रस्तारमें त्रेपन धनुष, दो हाथ, छः अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें छः भाग प्रमाण ऊँचाई कही गयी है ॥३३०॥ षड नामक छठवें प्रस्तारमें अठावन धनुष, तीन अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें तीन प्रमाण ऊँचाई प्रकट की गयी है ॥३३१॥ और षडषड नामक सातवें प्रस्तारमें बासठ धनुष, दो हाथ ऊँचाई प्रसिद्ध है। इस प्रकार चौथी पृथिवीमें विद्यमान नारकियोंकी ऊँचाईका वर्णन किया है ॥३३२॥

पाँचवीं पृथिवीके तम नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई पचहत्तर धनुष बतलायी है। भ्रम नामक दूसरे प्रस्तारमें सत्तासी धनुष और दो हाथ है ॥३३३॥ झष नामक तीसरे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सौ धनुष कही गयी है। अन्ध नामक चौथे प्रस्तारमें एक सौ बारह धनुष तथा दो हाथ है ॥३३४॥ और तमिस्र नामक पाँचवें प्रस्तारमें एक सौ पच्चीस धनुष है। इस प्रकार पाँचवीं पृथिवीमें विद्वानोंने ऊँचाईका वर्णन किया है ॥३३५॥

छठवीं पृथिवीके हिम नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ तथा सोलह अंगुल बतलायी है ॥३३६॥ वर्दल नामक दूसरे प्रस्तारमें शास्त्ररूपी नेत्रोंके धारक विद्वानोंने नारकियोंकी ऊँचाई दो सौ आठ धनुष, एक हाथ और छः अंगुल प्रमाण देखी है ॥३३७॥ और ललक नामक तीसरे प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई दो सौ पचास धनुष बतलायी है। इस प्रकार कृतकृत्य सर्वज्ञ देवने छठवीं पृथिवीमें ऊँचाईका वर्णन किया ॥३३८॥ सातवीं

---

१. शती म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्सेधश्चाप्रतिष्ठाने पञ्चचापशतानि सः । निश्चितो निश्चितज्ञानैः सप्तमे नरके च यः ॥३३९॥
सप्तसु प्रतिबोद्धव्यः प्रथितः प्रथमादिषु । अवधेर्विषयस्तासु पृथिवीषु यथाक्रमम् ॥३४०॥
योजनं तु त्रयः क्रोशाः सार्धा क्रोशत्रयं तथा । सार्धौ तौ तद्द्वयं सार्धः क्रोशः क्रोशश्च निश्चितः ॥३४१॥
क्रोशार्द्धं मृत्तिकागन्धः प्रथमे पटले व्रजेत् । तदधोऽधः क्रोशस्यार्द्धं वर्द्धते पटलं प्रति ॥३४२॥
पृथिव्योराद्ययोर्युक्ता जीवाः कापोतलेश्यया । तृतीयायां तयैवोर्ध्वमधस्तान्नीललेश्यया ॥३४३॥
अधश्चोर्ध्वं च संबद्धाश्चतुर्थ्यां नीललेश्यया । तयैवोपरि पञ्चम्यामधस्ते कृष्णलेश्यया ॥३४४॥
षष्ठ्यां च कृष्णयैवोर्ध्वमधः परमकृष्णया । सप्तम्यामुभयत्रामी किलिष्टाः परमकृष्णया ॥३४५॥
स्पर्शेनोष्णेन बाध्यन्ते नारका भूचतुष्टये । पञ्चम्यामुष्णशीताभ्यां शीतेनैवान्त्ययोर्भुवोः ॥३४६॥
आकारेणोष्ट्रिकाकुम्भीकुस्थलीमुद्गरोपमाः । मृदङ्गनाडिकाकारा निगोदा पृथिवीत्रये ॥३४७॥
गोगजाश्वादिमस्त्राम्बुद्रोण्यब्जपुटसंनिभाः । ते चतुर्थ्यां च पञ्चम्यां नारकोत्पत्तिभूमयः ॥३४८॥
केदाराकृतयः केचित्झल्लरीमल्लकोपमाः । केचिन्मयूरकाकारा निगोदास्तेऽन्ययोर्भुवोः ॥३४९॥
एकद्वित्रिकगव्यूतियोजनव्याससंगताः । शतयोजनविस्तीर्णास्तेषूत्कृष्टास्तु वर्णिताः ॥३५०॥
उच्छ्रायो वस्तुतस्तेषां विस्तारः पञ्चताडितः । निगोदानां समस्तानामिति वस्तुविदो विदुः ॥३५१॥

पृथिवीमें एक ही अप्रतिष्ठान नामका प्रस्तार है तो उसमें सन्देहरहित ज्ञानके धारक आचार्योंने नारकियोंकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण निश्चित की है ॥३३९॥

प्रथम पृथिवीको आदि लेकर उन सातों पृथिवियोंमें यथाक्रमसे अवधिज्ञानका विषय इस प्रकार जानना चाहिए ॥३४०॥ पहली पृथिवीमें अवधिज्ञानका विषय एक योजन अर्थात् चार कोश, दूसरीमें साढ़े तीन कोश, तीसरीमें तीन कोश, चौथीमें अढ़ाई कोश, पाँचवींमें दो कोश, छठवींमें डेढ़ कोश और सातवींमें एक कोश प्रमाण है ॥३४१॥ प्रथम पृथिवी सम्बन्धी पहले पटलकी मिट्टीकी दुर्गन्ध आध कोश तक जाती है और उसके नीचे प्रत्येक पटलके प्रति आधा-आधा कोश अधिक बढ़ती जाती है ॥३४२॥ पहली और दूसरी पृथिवीमें रहनेवाले नारकी कापोत लेश्यासे युक्त हैं। तीसरी पृथिवीके ऊर्ध्व भागमें रहनेवाले कापोत लेश्यासे और अधोभागमें रहनेवाले नील लेश्यासे सहित हैं ॥३४३॥ चौथी पृथिवीके ऊपर-नीचे दोनों स्थानोंपर तथा पाँचवीं पृथिवीके ऊपरी भागमें नील लेश्यासे युक्त हैं और अधोभागमें कृष्ण लेश्यासे सहित हैं ॥३४४॥ छठवीं पृथिवीके ऊर्ध्वभागमें कृष्ण लेश्यासे, अधोभागमें परमकृष्ण लेश्यासे और सातवीं पृथिवीके ऊपर-नीचे दोनों ही जगह रहनेवाले परमकृष्ण लेश्यासे संक्लिष्ट हैं अर्थात् संक्लेशको प्राप्त होते रहते हैं ॥३४५॥ प्रारम्भकी चार भूमियोंमें रहनेवाले नारकी उष्ण स्पर्शसे, पाँचवीं भूमिमें रहनेवाले उष्ण और शीत दोनों स्पर्शोंसे तथा अन्तकी दो भूमियोंमें रहनेवाले केवल शीत स्पर्शसे ही पीड़ित रहते हैं ॥३४६॥ प्रारम्भकी तीन पृथिवियोंमें नारकियोंके उत्पत्ति-स्थान कुछ तो ऊँटके आकार हैं, कुछ कुम्भी (घड़िया), कुछ कुस्थली, मुद्गर, मृदंग और नाडीके आकार हैं ॥३४७॥ चौथी और पाँचवीं पृथिवीमें नारकियोंके जन्मस्थान अनेक तो गौके आकार हैं, अनेक हाथी, घोड़े आदि जन्तुओं तथा धोंकनी, नाव और कमलपुटके समान हैं ॥३४८॥ अन्तिम दो भूमियोंमें कितने ही खेतके समान, कितने ही झालर और कटोरोंके समान, और कितने ही मयूरोंके आकारवाले हैं ॥३४९॥ वे जन्मस्थान एक कोश, दो कोश, तीन कोश और एक योजन विस्तारसे सहित हैं। उनमें जो उत्कृष्ट स्थान हैं वे सौ योजन तक चौड़े कहे गये हैं ॥३५०॥ उन समस्त उत्पत्ति स्थानोंकी ऊँचाई अपने विस्तारसे पँचगुनी है ऐसा वस्तु स्वरूपको जाननेवाले आचार्य जानते हैं ॥३५१॥ समस्त इन्द्रक विल तीन द्वारोंसे युक्त तथा तीन कोणोंवाले हैं। इनके सिवाय जो श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक निगोद हैं उनमें कितने ही दो द्वारवाले

---

१. नारकोत्पत्तिस्थानानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वेन्द्रकनिगोदास्ते त्रिद्वाराश्च त्रिकोणकाः । द्वित्र्येकपञ्चसप्तात्मद्वारकोणास्ततः परे ॥३५२॥
संख्येयव्यासयुक्तानां निगोदानां निजान्तरम् । गव्यूतयः षडल्पं स्यादनल्पं द्वादशैव ताः ॥३५३॥
असंख्येयप्रमाणानामसंख्यं महदन्तरम् । योजनानां सहस्राणि सप्तैवात्यल्पमन्तरम्[1] ॥३५४॥
[2]त्रिगव्यूतिश्चतुर्भागसप्तयोजनमात्रकम् । घर्मानिगोदजा जीवा खमुत्पत्य पतन्त्यधः ॥३५५॥
[3]गव्यूतिद्वितयं सार्धं सपञ्चदशयोजनम् । वंशानिगोदजन्मानः खमुत्पत्य पतन्त्यधः ॥३५६॥
एकत्रिंशत्तु गव्यूत्या योजनानि नभस्तले । मेघानिगोदजा जीवाः खमुल्लंघ्य पतन्त्यधः ॥३५७॥
द्विषष्टियोजनान्यूर्ध्वं गव्यूतिद्वयमुद्गताः । निपतन्त्युग्रदुःखार्त्तास्तेऽञ्जनाजनिगोदजाः ॥३५८॥
पञ्चविंशतिसन्मिश्रशतयोजनमातुराः । खमुत्पत्य पतन्त्येव पञ्चमीस्था निगोदजाः ॥३५९॥
पञ्चाशता विमिश्रं तु योजनानां शतद्वयम् । वियदुत्पत्य षष्ठीस्थनिगोदोत्थाः पतन्त्यधः ॥३६०॥
सप्तमीस्थनिगोदोत्थाः सपञ्चशतयोजनम् । अध्वानमूर्ध्वमुत्पत्य पतन्ति वसुधातले ॥३६१॥
असुरा आतृतीयान्तं योधयन्ति परस्परम् । प्रयुध्यते स्वयं तेऽपि ज्ञात्वा वैरं पुरातनम् ॥३६२॥
कुन्तक्रकचशूलाद्यैर्नानाशस्त्रैस्तनूद्भवैः । खण्डं खण्डं विधीयन्ते पीड्यन्ते परस्परम् ॥३६३॥
[4]सूतकस्येव संघातः शरीरस्य प्रजायते । यावदायुःस्थितिस्तेषां न तावन्मरणं भवेत् ॥३६४॥
शारीरं मानसं दुःखमन्योऽन्योदीरितं खलु । सहन्ते नारका नित्यं पूर्वपापविपाकतः ॥३६५॥

दुकोने, कितने ही तीन द्वारवाले तिकोने, कितने ही पाँच द्वारवाले पँचकोने और कितने ही सात द्वारवाले सतकोने हैं ॥३५२॥ इनमें संख्यात योजन विस्तारवाले विलोंका अपना जघन्य अन्तर छः कोश और उत्कृष्ट अन्तर बारह कोश है ॥३५३॥ एवं असंख्यात योजन विस्तारवाले विलोंका उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात योजन तथा जघन्य अन्तर सात हजार योजन है ॥३५४॥

घर्मा नामक पहली पृथिवीके उत्पत्ति-स्थानोंमें उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव जन्मकालमें जब नीचे गिरते हैं तब सात योजन सवा तीन कोश ऊपर आकाशमें उछलकर पुनः नीचे गिरते हैं ॥३५५॥ दूसरी वंशा पृथिवीके निगोदोंमें जन्म लेनेवाले नारकी पन्द्रह योजन अढ़ाई कोश आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३५६॥ तीसरी मेघा पृथिवीमें जन्म लेनेवाले जीव इकतीस योजन एक कोश आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३५७॥ चौथी अंजना पृथिवीके निगोदोंमें जन्म लेनेवाले जीव बासठ योजन दो कोश उछलकर नीचे गिरते हैं और तीव्र दुःखसे दुःखी होते हैं ॥३५८॥ पाँचवीं पृथिवीके निगोदोंमें जन्म लेनेवाले नारकी अत्यन्त दुःखी हो एकसौ पच्चीस योजन आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३५९॥ छठवीं पृथिवीमें स्थित निगोदोंमें जन्म लेनेवाले जीव दो सौ योजन आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३६०॥ और सप्तमी पृथिवीमें स्थित निगोदोंमें उत्पन्न हुए जीव पाँच सौ धनुष ऊँचे उछलकर पृथिवी तलपर नीचे गिरते हैं ॥३६१॥ तीसरी पृथिवी तक असुरकुमार देव नारकियोंको परस्पर लड़ाते हैं। इसके सिवाय वे नारकी पुराने वैर भावको जानकर स्वयं भी लड़ते रहते हैं ॥३६२॥ विक्रिया शक्तिके द्वारा अपने शरीरसे ही उत्पन्न होनेवाले भाले, करोंत तथा शूल आदि नाना शस्त्रोंसे उन नारकियोंके खण्ड-खण्ड कर दिये जाते हैं और परस्पर एक दूसरेको पीड़ा पहुँचाते हैं ॥३६३॥ खण्ड-खण्ड होनेपर भी पारेके समान उनके शरीरके टुकड़ोंका पुनः समूह बन जाता है और जब तक उनकी आयुकी स्थिति रहती है तब तक उनका मरण नहीं होता ॥३६४॥ ये नारकी पूर्व कृत पाप कर्मके उदयसे निरन्तर एक

१. अतः परं म. ख. पुस्तकयोः अयं श्लोकोऽधिकोऽस्ति—"क्रोशत्रयं सतुर्यांशं योजनानां च सप्तकम् । समुत्पतन्ति घर्मायां शेषास्तु द्विगुणोत्तरम् ।" २. एष श्लोकः ड. पुस्तके नास्ति । ३. मपुस्तके एतस्य श्लोकस्य स्थाने निम्नांकितः श्लोकोऽस्ति—'यजिनं पंचदशकं सार्धक्रोशद्वयं तथा । समुच्छलन्ति वंशायां पतन्ति च निगोदजाः । ४. पारदस्येव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षारोष्णतीव्रसद्भावनदीवैतरणीजलात् । [1]दुर्गन्धान्मृन्मयाहा[2]राद्दुःखं भुञ्जन्ति दुःसहम् ॥३६५॥
अक्ष्णोर्निमीलनं यावन्नास्ति सौख्यं च जातुचिद् । नरके पच्यमानानां नारकाणामहर्निशम् ॥३६७॥
स्युस्तेषामशुभतराः परिणामाः शरीरिणाम् । लिङ्गं नपुंसकाख्यं स्यात् संस्थानं हुण्डसंज्ञकम् ॥३६८॥
आगामितीर्थकर्तॄणां तथैवोपशमैनसाम् । उपसर्गाहतिं भक्त्या कुर्वन्त्यन्यायने[3] सुराः ॥३६९॥
चत्वारिंशत्सहाष्टाभिर्घटिकाः प्रथमक्षितौ । अन्तरं नारकोत्पत्तेरन्तरज्ञैः स्फुटीकृतम् ॥३७०॥
सप्ताहश्चैव पक्षः स्यान्मासो मासौ यथाक्रमम् । चत्वारोऽपि च षण्मासा विरहः षट्सु भूमिषु ॥३७१॥
तीव्रमिथ्यात्वसंबद्धा बह्वारम्भपरिग्रहाः । पृथिवीस्ताः प्रपद्यन्ते तिर्यञ्चो मानुषास्तथा ॥३७२॥
आद्यामसंज्ञिनो यान्ति द्वितीयां च सरीसृपाः । पक्षिणश्च तृतीयायां चतुर्थ्यां च भुजंगमाः ॥३७३॥
पञ्चमीमपि सिंहास्तु षष्ठीमपि च योषितः । प्रयान्ति प्राणिनः पापाः सप्तमीं मत्स्यमानुषाः ॥३७४॥
सप्तम्युद्वर्तितो यायात्तामेवानन्तरं सकृत् । षष्ठीतो निर्गतो द्विस्तां पञ्चमीं त्रिष्वथ व्रजेत् ॥३७५॥
चतुर्थीं च चतुर्वारान् प्रपद्येत ततश्च्युतः । तृतीयां पञ्चकृत्वोऽपि तस्या एव समागतः ॥३७६॥
द्वितीयायां च षट्कृत्वः सप्तकृत्वस्तथाऽसुमान् । प्रथमाया विनिर्यातः प्रथमायां प्रजायते ॥३७७॥
सप्तमीतो विनिर्यातः संज्ञितिर्यक्त्वभाक् पुनः । संख्येयायुर्वृतो याति नरकं तनुमद्गणः[4] ॥३७८॥
षष्ठीतस्तु विनिर्यातो लभते नैव संयमम् । तं लभेतापि पञ्चभ्या निर्वाणं न तु तद्भवे ॥३७९॥
लभेतापि च निर्वाणं चतुर्थीनिःसृतः पुनः । निश्चयेनैव नैवाङ्गी तीर्थकृत्वं प्रपद्यते ॥३८०॥

दूसरेके द्वारा दिये हुए शारीरिक एवं मानसिक दुःखको सहते रहते हैं ॥३६५॥ वे खारा गरम तथा अत्यन्त तीक्ष्ण वैतरणी नदीका जल पीते हैं और दुर्गन्धि युक्त मिट्टीका आहार करते हैं इसलिए निरन्तर असह्य दुःख भोगते रहते हैं ॥३६६॥ रातदिन नरकमें पचनेवाले नारकियोंको निमेष मात्र भी कभी सुख नहीं होता ॥३६७॥ उन नारकियोंके निरन्तर अत्यन्त अशुभ परिणाम रहते हैं। तथा नपुंसक लिंग और हुण्डक संस्थान होता है ॥३६८॥ जो आगामी कालमें तीर्थंकर होनेवाले हैं तथा जिनके पापकर्मोंका उपशम हो चुका है। देव लोग भक्तिवश छः माह पहलेसे उनके उपसर्ग दूर कर देते हैं ॥३६९॥ अन्तरके जाननेवाले आचार्योंने प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तर अड़तालीस घड़ी बतलाया है ॥३७०॥ और नीचेकी छह भूमियोंमें क्रमसे एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मासका विरह—अन्तरकाल कहा है ॥३७१॥ जो तीव्र मिथ्यात्वसे युक्त हैं तथा बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहके धारक हैं ऐसे तिर्यंच और मनुष्य उन पृथिवियोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनमें उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पहली पृथिवी तक जाते हैं, सरकनेवाले दूसरी पृथिवी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पाँचवीं तक, स्त्रियां छठवीं तक और तीव्र पाप करनेवाले मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं पृथिवी तक जाते हैं ॥३७३-३७४॥ सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ जीव यदि पुनः अव्यवहित रूपसे सातवींमें जावे तो एक बार, छठवींसे निकला हुआ छठवींमें दो बार, पाँचवींसे निकला हुआ पाँचवींमें तीन बार, चौथीसे निकला हुआ चौथीमें चार बार, तीसरीसे निकला हुआ तीसरीमें पाँच बार, दूसरीसे निकला हुआ दूसरीमें छः बार और पहलीसे निकला हुआ पहलीमें सात बार तक उत्पन्न हो सकता है ॥३७५-३७७॥ सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ प्राणी नियमसे संज्ञी तिर्यंच होता है तथा संख्यात वर्षकी आयुका धारक हो फिरसे नरक जाता है ॥३७८॥ छठवीं पृथिवीसे निकला हुआ जीव संयमको प्राप्त नहीं होता। और पाँचवीं पृथिवीसे निकला जीव तो संयमको प्राप्त हो सकता है पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता ॥३७९॥ चौथी पृथिवीसे निकला हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु निश्चयसे तीर्थंकर नहीं हो सकता ॥३८०॥ तीसरी दूसरी और पहली पृथिवीसे निकला

१. दुर्गन्धा म., २. मृन्मयाहाराः म. । ३. अन्तिमषण्मासेषु । ४. प्राणिसमूहः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयायाः द्वितीयाया प्रथमायाश्च निःसृतः । तीर्थकृत्त्वं लभेतापि देही दर्शनशुद्धितः ॥३८१॥
बलकेशवचक्रित्वं परिहृत्यैव जन्तवः । नरत्वं प्रतिपद्येरन् नरकेभ्यो विनिर्गताः ॥३८२॥
अधोलोकविभागस्ते संक्षेपेण मयोदितः । तिर्यग्लोकविभागस्य शृणु श्रेणिक ! संग्रहम् ॥३८३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सूर्याचन्द्रमसामगोचरमधोलोकान्धकारं बुधाः[1]
[2]प्रध्वंस्याऽऽप्तवचःप्रदीपविभवैः सर्वत्रगैः सर्वदा ।
पश्यन्तः प्रभवन्ति तत्त्वमिति किं चित्रं त्रिलोक्याकृता-[3]
वालोके जिनभानुना विरचिते ध्वान्तस्य वा क्व स्थितिः ॥३८४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ अधोलोकसंस्थानवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

□

हुआ जीव सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकता है ॥३८१॥ नरकोंसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती पद छोड़कर ही मनुष्य पर्याय प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् मनुष्य तो होते हैं पर बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नहीं हो सकते ॥३८२॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तेरे लिए अधो लोकके विभागका वर्णन किया । अब तू तिर्यग्लोक—मध्यम लोकके विभागका वर्णन सुन ॥३८३॥

बुद्धिमान् मनुष्य सब समय, सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले, जिनेन्द्र भगवान्के वचन रूपी उत्तम दीपकोंकी सामर्थ्यसे सूर्य और चन्द्रमाके अगोचर अधोलोकके अन्धकारको नष्टकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखते हुए प्रभुत्वको प्राप्त होते हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि तीन लोकमें जिनेन्द्र रूपी सूर्यके द्वारा प्रकाशके उत्पन्न होनेपर अन्धकारका सद्भाव कहाँ रह सकता है ? ॥३८४॥

इस प्रकार जिसमें अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे जिनसेनाचार्य प्रणीत हरिवंशपुराणमें अधोलोकका वर्णन करनेवाला चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

□

१. बुधः म. । २. प्रध्वस्ताप्त । ३. त्रिलोकाकृता-म., विलोक्याकृता-ख., घ. ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चमः सर्गः

तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थितः । लक्षितावधिरूर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया ॥१॥
तत्रैवास्मिन्नसंख्येयसागरद्वीपवेष्टितः । जम्बूद्वीपः स्थितो वृत्तो जम्बूपादपलक्षितः ॥२॥
विस्तारेणार्णवस्पर्शी[1] वज्रवेदिकयाऽऽवृतः । महामेरुमहानाभिर्लक्ष्ययोजनलक्षया[2] ॥३॥
[3]तिस्रो लक्षाः परिक्षेपः स्यात्सहस्राणि षोडश । योजनानि त्रिगव्यूतिर्द्विशती सप्तविंशतिः ॥४॥
अष्टविंशतिसन्मिश्रं तथैवान्यं धनुःशतम् । त्रयोदशाङ्गुलानि स्युः साधिकार्धाङ्गुलानि तु ॥५॥
कोटीशतानि सप्त स्युः कोटयो नवतिः स्फुटाः । षट्पञ्चाशत्तथा लक्षा नवतिश्चतुरुत्तरा ॥६॥
सहस्रगुणिता द्वीपे शतं पञ्चाशताधिकम् । योजनानि विभक्तेऽस्मिन् गणितस्य पदं विदुः ॥७॥
क्षेत्राणि सन्ति सप्ताऽत्र मेरुरेकः कुरुद्वयम् । जम्बूश्च शाल्मलीवृक्षौ षडेव कुलपर्वताः ॥८॥
महासरांसि षट् तेषु महानद्यश्चतुर्दश । द्विषड्विभङ्गनद्यश्च[4] वक्षारागाश्च विंशतिः ॥९॥
राजधान्यश्चतुस्त्रिंशद्रौप्याद्रिवृषभाद्रयः । अष्टाषष्टिर्गुहा वृत्तविजयार्द्धचतुष्टयम् ॥१०॥
तथा त्रीणि सहस्राणि पुनः सप्तशतान्यपि । चत्वारिंशत्पुराणि स्युर्विद्याधरमहीभृताम् ॥११॥
एतैः सर्वैरयं द्वीपो दीप्यते द्विगुणैरिमैः । यथाऽसौ धातकीखण्डः पुष्करार्धश्च सर्वतः ॥१२॥
भारतं दक्षिणं तत्र क्षेत्रं हैमवतं परम् । हरिक्षेत्रं विदेहं च रम्यकं च तथा परम् ॥१३॥

तनुवातवलयके अन्त भाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसी मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोककी अवधि निश्चित है। भावार्थ—मेरु पर्वत कुल एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसमें एक हजार योजन तो पृथिवीतलसे नीचे है और निन्यानबे हजार योजन पृथिवीतलसे ऊपर है। तिर्यग्लोककी सीमा इसी मेरु पर्वतसे निश्चित है अर्थात् तिर्यग्लोक पृथिवीतलके एक हजार योजन नीचेसे लेकर निन्यानबे हजार योजन ऊँचाई तक है ॥१॥ इसी मध्यम लोकमें असंख्यात द्वीप-समुद्रोंसे वेष्टित गोल तथा जम्बू वृक्षसे युक्त जम्बू द्वीप स्थित है ॥२॥ यह जम्बू द्वीप लवण समुद्रका स्पर्श करनेवाला है, वज्रमयी वेदिकासे घिरा हुआ है, महामेरु रूपी नाभिसे युक्त है अर्थात् महामेरु इसके मध्यभागमें अवस्थित है तथा एक लाख योजन विस्तारवाला है ॥३॥ जम्बू द्वीपकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोश एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल है ॥४-५॥ विभाग करनेपर गणितज्ञ मनुष्य इस जम्बू-द्वीपका घनाकार क्षेत्र सात सौ नब्बे करोड़ छप्पन लाख, चौरानबे हजार एक सौ पचास योजन बतलाते हैं ॥६-७॥ इस जम्बू द्वीपमें सात क्षेत्र, एक मेरु, दो कुरु, जम्बू और शाल्मली नामक दो वृक्ष, छह कुलाचल, कुलाचलोंपर स्थित छह महासरोवर, चौदह महानदियाँ, बारह विभंगा नदियाँ, बीस वक्षार गिरि, चौंतीस राजधानी, चौंतीस रूप्याचल, चौंतीस वृषभाचल, अड़सठ गुहाएँ, चार गोलाकार नाभि गिरि और तीन हजार सात सौ चालीस विद्याधर राजाओंके नगर हैं। ऊपर कही हुई इन सभी चीजोंसे यह जम्बू द्वीप अत्यधिक सुशोभित है। जम्बू द्वीपसे दूने क्षेत्र तथा मेरु आदिसे दूसरा धातकीखण्ड द्वीप देदीप्यमान है और पुष्करार्ध भी धातकीखण्डके समान समस्त क्षेत्रों तथा पर्वतों आदिसे युक्त

---

१. स्पर्धि म.। २. -नाभिलक्षयोजन -म.। ३. जम्बूद्वीपस्य सूक्ष्मपरिधिः ३१६२२७ योजनानां कोशाः १२८ धनूंषि १३½ अङ्गुलानि च वर्तते। ४. वक्षागाराश्च म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैरण्यवतमित्यन्यत् स्यादैरावतमुत्तरम्[1] । विस्तारेणाविदेहान्तं क्षेत्रं क्षेत्राच्चतुर्गुणम् ॥१४॥
प्रथमो हिमवानन्यो महाहिमवदाह्वयः । पर्वतो निषधो नीलो रुक्मी च शिखरी गिरिः ॥१५॥
पूर्वस्मादुत्तरो भूभृद् विस्तारेण चतुर्गुणः । निषधं[2] यावदाख्याता दक्षिणैरुत्तराः समाः ॥१६॥
क्षेत्रस्याद्यस्य विस्तारः सपञ्चशतयोजनः । षड्विंशतिस्तथा भागः षड् चाप्येकोनविंशतेः ॥१७॥
जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भे नवत्या च शतेन च । विभक्ते भारतस्यायं विस्तारो भवति स्फुटः ॥१८॥
क्षेत्राद् द्विगुणविस्तारः पर्वतः क्षेत्रमप्यतः । आविदेहमतस्तस्य वृद्धिश्च परिक्षयः ॥१९॥
मध्येभारतमन्योऽद्रिरन्तप्राप्ताम्बुधिद्वयः । भाति विद्याधरावासो विजयार्द्ध इति श्रुतः ॥२०॥
पञ्चविंशतिरुत्सेधः षट् सपादान्यधः स्थितः । योजनान्यस्य पञ्चाशद्विस्तारो रजतात्मनः ॥२१॥

है ॥८-१२॥ जम्बू द्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। इनमें भरत क्षेत्र सबसे दक्षिणमें है और ऐरावत क्षेत्र उत्तरमें है। प्रारम्भसे लेकर विदेह क्षेत्र तकके क्षेत्र विस्तारकी अपेक्षा पूर्व क्षेत्रसे चौगुने-चौगुने विस्तारवाले हैं। भावार्थ—भरत क्षेत्रसे चौगुना विस्तार हैमवत क्षेत्रका है, हैमवत क्षेत्रसे चौगुना विस्तार हरि क्षेत्रका है और हरि क्षेत्रसे चौगुना विस्तार विदेह क्षेत्रका है। विदेह क्षेत्रसे आगेके क्षेत्रोंका विस्तार चौथा भाग है अर्थात् विदेह क्षेत्रके विस्तारसे चौथा भाग विस्तार रम्यक क्षेत्रका है, रम्यक क्षेत्रसे चौथा भाग विस्तार हैरण्यवतका है और उससे चौथा भाग विस्तार ऐरावत क्षेत्रका है ॥१३-१४॥ हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह कुलाचल हैं। इनमें आगे-आगेका कुलाचल पूर्व-पूर्व कुलाचलसे चौगुने-चौगुने विस्तार वाला है। यह क्रम निषध कुलाचल तक ही चलता है। इसके आगे उत्तरके तीन कुलाचल दक्षिणके कुलाचलोंके समान कहे गये हैं ॥१५-१६॥ प्रथम भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग प्रमाण है ॥१७॥ जम्बू द्वीपकी चौड़ाई एक लाख योजनमें यदि एक सौ नब्बे योजनका भाग दिया जाय तो भरत क्षेत्रका उक्त विस्तार स्पष्ट हो जाता है। भावार्थ—भरत क्षेत्रका जो विस्तार ५२६$\frac{६}{१९०}$ योजन बतलाया है। वह जम्बू द्वीपके विस्तारका एक सौ नब्बेवाँ भाग है ॥१८॥ क्षेत्रसे पर्वत दूने विस्तारवाला है। और पर्वतसे क्षेत्र दूने विस्तारवाला है। दूने विस्तारका यह क्रम विदेह क्षेत्र तक चलता है। उसके आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार ह्रासको लिये हुए है अर्थात् आगेके क्षेत्र और पर्वत अर्ध-अर्ध विस्तारवाले हैं ॥१९॥ ★ भरत क्षेत्रके ठीक मध्य भागमें विजयार्ध नामसे प्रसिद्ध एक दूसरा पर्वत सुशोभित है। इसके दोनों अन्तभाग पूर्व और पश्चिमके दोनों समुद्रोंको प्राप्त हैं तथा इसपर विद्याधरोंका निवास है ॥२०॥ यह पर्वत पृथिवीसे पचीस योजन ऊँचा है, सवा छह योजन पृथिवीके नीचे स्थित है, पचास योजन चौड़ा है और

---

१. मुत्तमं म.। २. निषधो म.।

★ क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार निम्नलिखित है—

१ भरत क्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$ योजन	२ हिमवत् पर्वत	१०१२$\frac{१२}{१९}$ योजन
३ हैमवत क्षेत्र	२१०५$\frac{१}{१९}$ योजन	४ महाहिमवत् पर्वत	४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन
५ हरिक्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन	६ निषध पर्वत	१६८४२$\frac{२}{१९}$ योजन
७ विदेह क्षेत्र	३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन	८ नील पर्वत	१६८४२$\frac{२}{१९}$ योजन
९ रम्यक क्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन	१० रुक्मी पर्वत	४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन
११ हैरण्यवत क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$ योजन	१२ शिखरी पर्वत	१०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन
१३ ऐरावत क्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$ योजन		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजनानि क्षितेरूर्ध्वं दशोत्पत्य दशोपरि । विस्तीर्णे पर्वतायामे श्रेण्यौ विद्याधराश्रिते ॥२२॥
दक्षिणस्यां महाश्रेण्यां पञ्चाशन्नगराणि च । उत्तरस्यां[1] पुरः षष्टिस्त्रिविष्टपपुरोपमाः[2] ॥२३॥
योजनानि दशातीत्य पुनः सन्ति पुराण्यतः । सुराणामाभियोग्यानां क्रीडायोग्यान्यनेकशः ॥२४॥
पुनरुत्पत्य पञ्चोर्ध्वं दशयोजनविस्तृता । श्रेणी तु पूर्णभद्राख्या विजयार्द्धसुराश्रिता ॥२५॥
सिद्धायतनकूटं प्राक् दक्षिणार्द्धकमेव च । खण्डकादिप्रपातं च पूर्णभद्रं ततः परम् ॥२६॥
विजयार्द्धकुमाराख्यं मणिभद्रं ततः परम् । तामिस्रगुहकं चान्यदुत्तरार्द्धं च नामतः ॥२७॥
अन्ते वैश्रवणाख्यं तु भान्ति तानि दधन्ति तम् । नगाग्रे नवकूटानि क्रोशषड्योजनोच्छ्रितिम् ॥२८॥
मूले तन्मात्रमेवैषां मध्येऽप्यूनानि पञ्च तु । साधिकान्युपरि त्रीणि विस्तारस्तेषु भाषितः ॥२९॥
सिद्धायतनकूटे च सिद्धकूटमितीरितम् । पूर्वाभिमुखमाभाति जिनायतनमुज्ज्वलम् ॥३०॥
उच्छ्रायस्तस्य पादोनः क्रोशः क्रोशार्द्धविस्तृतिः । आयामः क्रोश एव स्यात्प्रासादस्याविनाशिनः ॥३१॥
ज्याऽसौ नवसहस्राणि सप्तशत्यपि चाष्टभिः । चत्वारिंशत्तु कला द्विःषट् भारतार्द्धे तु दक्षिणा ॥३२॥
धनुःपृष्ठं पुनस्तस्या षट्षष्टिः सप्तशत्यपि । सहस्राणि नव ज्यायाः साधिका च कलोदितम् ॥३३॥
योजनानां शते द्वे तु सार्द्धत्रिंशत्कलात्रयम् । धनुषोऽनन्तरस्येयमिषुर्भवति पुष्कला ॥३४॥
सहस्राणि दशामीषां सप्तशत्यपि विंशतिः । एकादशकला ज्यासौ विजयार्द्धनगोत्तरा ॥३५॥
ज्याया दशसहस्राणि धनुःसप्तशतीरितम् । त्रिचत्वारिंशदप्यस्याः कलाः पञ्चदशाधिकाः ॥३६॥
योजनानां प्रसिद्धेषुरष्टार्कतिशतद्वयम् । उत्तरा विजयार्द्धस्य तिस्रश्चापि कलाः कलाः ॥३७॥
चूलिका विजयार्द्धस्य योजनानां चतुःशती । षडशीतिर्मनागूना जिनेशेन प्रकीर्तिता[3] ॥३८॥

चाँदीके समान सफेद वर्णवाला है ॥२१॥ पृथिवीसे दश योजन ऊपर चलकर इस पर्वतकी दो श्रेणियाँ हैं जो पर्वतके ही समान लम्बी हैं तथा जिनमें अनेक विद्याधरोंका निवास है ॥२२॥ दक्षिण महाश्रेणीमें पचास और उत्तर महाश्रेणीमें साठ नगर हैं, ये सब नगर स्वर्गपुरीके समान हैं ॥२३॥ यहाँसे दश योजन और ऊपर चलकर आभियोग्य जातिके देवोंकी क्रीड़ाके योग्य अनेक नगर स्थित हैं ॥२४॥ यहाँसे पाँच योजन और ऊपर चढ़कर एक पूर्णभद्र नामकी श्रेणी है जो दश योजन चौड़ी है तथा विजयार्ध नामक देवसे आश्रित है अर्थात् जहाँ विजयार्ध देवका निवास है ॥२५॥ इस विजयार्ध पर्वतपर नौ कूट हैं जिनमें पहला सिद्धायतन, दूसरा दक्षिणार्धक, तीसरा खण्डकप्रपात, चौथा पूर्णभद्र, पाँचवाँ विजयार्धकुमार, छठवाँ मणिभद्र, सातवाँ तामिस्रगुहक, आठवाँ उत्तरार्ध और नौवाँ वैश्रवण कूट है। ये नौ कूट पर्वतके अग्रभागपर सुशोभित हैं तथा सवा छह योजन ऊँचाईको धारण करते हैं ॥२६-२८॥ इन पर्वतोंका विस्तार मूलमें सवा छह योजन, मध्यमें कुछ कम पाँच योजन और ऊपर कुछ अधिक तीन योजन कहा गया है ॥२९॥ सिद्धायतन कूट-पर पूर्व दिशाकी ओर सिद्धकूट नामसे प्रसिद्ध अत्यन्त उज्ज्वल जिनमन्दिर सुशोभित है ॥३०॥ इस अविनाशी जिनमन्दिरकी ऊँचाई पौन कोश, चौड़ाई आध कोश और लम्बाई एक कोश है ॥३१॥ भरत क्षेत्रके अर्ध भागमें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण प्रत्यञ्चा नौ हजार सात सौ अड़तालीस योजन और बारह कला प्रमाण विस्तृत है ॥३२॥ प्रत्यंचा के धनुःपृष्ठका विस्तार नौ हजार सात सौ छयासठ योजन तथा कुछ अधिक एक कला प्रमाण कहा गया है ॥३३॥ इस निकटस्थ धनुषका बाण दो सौ अड़तीस योजन और तीन कला प्रमाण है ॥३४॥ विजयार्ध पर्वतकी उत्तर प्रत्यंचा दश हजार सात सौ सत्ताईस योजन तथा ग्यारह कला प्रमाण है ॥३५॥ इस उत्तर प्रत्यंचाका धनुःपृष्ठ दश हजार सात सौ तैंतालीस योजन तथा कुछ अधिक पन्द्रह कला प्रमाण है ॥३६॥ विजयार्धके इस उत्तर धनुःपृष्ठका बाण दो सौ अठासी योजन तथा तीन कला प्रमाण है ॥३७॥ जिनेन्द्रदेवने विजयार्ध पर्वतकी चूलिका कुछ कम चार सौ छयासी योजन

१. पुनः म., क. । २. स्वर्गपुरीसन्निभाः । ३. भागा द्वादश कीर्तिताः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वापरान्तयोरद्रेरष्टाशीति चतुःशती । प्रमाणं भुजयोरस्य भागाः षोडश चाधिकाः ॥३९॥
षट्कला भरतज्योना सैका सप्ततिरोरिता । चतुःशतीविमिश्राणि सहस्राणि चतुर्दश ॥४०॥
चतुर्दशसहस्राणि पञ्चशत्या तु विंशतिः । अष्टाभिर्भारतं भागा धनुरेकादशाधिकाः ॥४१॥
शतानि पञ्चविंशत्या सह षड्भिश्च षट् कलाः । प्रसिद्धेयमिषुर्मौर्व्या धनुषस्तस्य भारती ॥४२॥
अष्टादशशती प्रोक्ता चूलिका पञ्चसप्ततिः । अर्धसप्तममागाश्च साधिका भरतक्षितेः ॥४३॥
सहस्रमेकमष्टौ च शतानि नवतिर्द्वयम् । साधिकार्धाष्टमांशाश्च पूर्वापरभुजप्रभा ॥४४॥
शतयोजनमानः स्यादुच्छ्रायो हिमवद्गिरेः । अवगाहस्तु तस्यैव पञ्चविंशतियोजनः ॥४५॥
योजनानां सहस्रं तु द्वापञ्चाशत्समन्वितम् । द्वादशापि कलाः प्रोक्ता विस्तारो हिमवद्गिरेः ॥४६॥
चतुर्विंशतिरस्याद्रेः सहस्राणि शतान्यपि । नव द्वात्रिंशता ज्या स्यादीषदूनकलोत्तरा ॥४७॥
पञ्चविंशतिरस्यैव सहस्राणि शतद्वयम् । योजनानि धनुस्त्रिंशच्चतस्रः साधिका कलाः ॥४८॥
सहस्रं पञ्चशत्येकमष्टासप्ततिरेव च । कला चाष्टादशैवाद्रेरिषुरेषाऽस्य भाषिता ॥४९॥
योजनानां सहस्राणि पञ्च तानि शतद्वयम् । त्रिंशच्चूलिकाऽस्याद्रेर्भागाः सप्त च साधिकाः ॥५०॥
पञ्चैवास्य सहस्राणि पञ्चाशच्च शतत्रयम् । साधिकार्द्धेन तौ बाहू भागाः पञ्चदशाधिकाः ॥५१॥
भान्त्येकादश कूटानि हैमस्य हिमवद्गिरेः । शिखरेऽस्य निविष्टानि पङ्क्त्या पूर्वपरात्मना ॥५२॥
सिद्धायतनकूटं प्राक् हिमवत्कूटमप्यतः । कूटं भरतसंज्ञं स्यादिलाकूटं ततः परम् ॥५३॥
गङ्गाकूटं श्रियः कूटं रोहितास्यादिकं च तत् । सिन्धुकूटं सुरादेवीकूटं हैमवतं च यत् ॥५४॥
कूटं वैश्रवणाख्यं तु पाश्चात्यं परिकीर्तितम् । पञ्चविंशतिरुच्छ्रायः सर्वेषां योजनानि तु ॥५५॥
पञ्चविंशतिरेव स्याद् विस्तारो मूलगोचरः । अर्द्धत्रयोदशाग्रेऽन्तः[1] पादोनैकोनविंशतिः ॥५६॥

बतलायी है ॥३८॥ विजयार्ध पर्वतकी पूर्व-पश्चिम भुजाओंका विस्तार चार सौ अठासी योजन तथा कुछ अधिक सोलह कला प्रमाण है ॥३९॥ भरत क्षेत्रकी प्रत्यंचा चौदह हजार चार सौ इकहत्तर योजन और कुछ कम छह कला है ॥४०॥ इसका धनुःपृष्ठ चौदह हजार पाँच सौ अट्ठाईस योजन तथा ग्यारह कला प्रमाण है ॥४१॥ भरतक्षेत्र सम्बन्धी धनुःपृष्ठके बाणका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और छह कला प्रमाण प्रसिद्ध है ॥४२॥ भरत क्षेत्रकी चूलिका अठारह सौ पचहत्तर योजन तथा कुछ अधिक साढ़े छह भाग बतलायी है ॥४३॥ इसकी पूर्व-पश्चिम भुजाओंका विस्तार एक हजार आठ सौ बानबे योजन तथा कुछ अधिक साढ़े सात भाग है ॥४४॥ हिमवान् कुलाचलकी ऊँचाई सौ योजन, गहराई पचीस योजन और चौड़ाई एक हजार बावन योजन तथा बारह कला प्रमाण कही गयी है ॥४५-४६॥ इस हिमवत् कुलाचलकी प्रत्यंचाका प्रमाण चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन तथा कुछ कम एक कला प्रमाण बतलाया है ॥४७-४८॥ इसका बाण एक हजार पाँच सौ अठहत्तर योजन तथा अठारह कला प्रमाण कहा है ॥४९॥ हिमवत्कुलाचलकी चूलिकाका विस्तार पाँच हजार दो सौ तीस योजन तथा कुछ अधिक सात कला है ॥५०॥ इसकी पूर्व-पश्चिम दोनों भुजाओंका विस्तार पाँच हजार तीन सौ पचास योजन साढ़े पन्द्रह भाग है ॥५१॥ इस सुवर्णमय हिमवत् कुलाचलके शिखरपर पूर्वसे पश्चिम तक पंक्ति रूपसे स्थित ग्यारह कूट सुशोभित हो रहे हैं ॥५२॥ उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१. सिद्धायतनकूट, २. हिमवत्कूट, ३. भरतकूट, ४. इलाकूट, ५. गंगाकूट, ६. श्रीकूट, ७. रोहितकूट, ८. सिन्धुकूट, ९. सुरादेवीकूट, १०. हैमवतकूट और ११. वैश्रवणकूट। इन सभी कूटोंकी ऊँचाई पचीस योजन प्रमाण है ॥५३-५५॥ इन सबका मूलमें पचीस योजन, मध्यमें पौने उन्नीस योजन और ऊपर साढ़े बारह योजन विस्तार है ॥५६॥

१. दशाग्रे तु म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वे सहस्रे शतं पञ्च योजनानि तु पञ्चभिः । भागे हैमवतस्यापि विष्कम्भः पुष्कलो मतः ॥५७॥
सप्तत्रिंशत्सहस्राणि चतुःसप्तति षट्शती । ज्यापि हैमवतस्यान्ते न्यूनाः षोडश ताः कलाः ॥५८॥
साष्टत्रिंशत्सहस्राणि सप्तशत्यपि नोदिता । चत्वारिंशद्धनुर्ज्यायां दशास्याः साधिकाः कलाः[1] ॥५९॥
षट्त्रिंशच्च शतानि स्यादशीतिश्चतुरुत्तरा । योजनानि कलाश्चास्य चतस्रो धनुषस्त्विषुः ॥६०॥
चूलिका चैकसप्तत्या त्रिषष्टिशतयोजना । साधिकैः सप्तभिर्भागैः क्षेत्रस्यास्योपवर्णिता ॥६१॥
सप्तषष्टिशतान्यस्याः पञ्चपञ्चाशता भुवः । योजनानि भुजामानं साधिकाश्च त्रयोंऽशकाः ॥६२॥
सहस्राणि तु चत्वारि दशोत्तरशतद्वयम् । दशभागाश्च विस्तारो महाहिमवतो गिरेः ॥६३॥
ऊर्ध्वं च पुनरुद्यातो योजनानां शतद्वयम् । पञ्चाशतमधो यातो धरिण्यां धरिणीधरः ॥६४॥
त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि योजनानि शतानि च । नवैकत्रिंशदेतस्य ज्या षट् भागाश्च साधिकाः ॥६५॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि सप्तास्य द्विशती धनुः । त्रिनवत्या सह ज्यायाः साधिकाश्च[2] दशांशकाः ॥६६॥
धनुषोऽस्य सहस्राणि सप्त साष्टशतानि तु । चतुर्नवतियुक्तानि भागाश्चेषुश्चतुर्दश ॥६७॥
एकाशीतिशतानि स्यादष्टाविंशतिरेव च । चत्वारोऽर्द्धाधिका भागाश्चूलिकाऽस्य महीभृतः ॥६८॥
सहस्राणि नव द्वे तु शते षट्सप्ततिर्नव । भागा भुजद्वयं तस्य साधिकार्द्धकलाधिकाः ॥६९॥
अष्टार्जुनमयस्यास्य कूटानि शिखरे गिरेः । रत्नरञ्जितसानूनि नित्यानि सन्ति भान्ति च ॥७०॥
सिद्धायतनकूटं स्यान्महाहिमवदादिकम् । कूटं हैमवतं कूटं रोहिता कूटमप्यतः ॥७१॥
ह्रीकूटं हरिकान्तादि हरिवर्षादिकं हि तत् । वैडूर्यकूटमप्येषां पञ्चाशद्योजनोच्छ्रितिः ॥७२॥
पञ्चाशद्योजनो मौलौ[3] विष्कम्भो मध्यगोचरः । सप्तत्रिंशत्तथार्द्धं च मस्तके पञ्चविंशतिः ॥७३॥

इसके आगे दूसरा हैमवत क्षेत्र है इसका विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन तथा पाँच कला प्रमाण माना गया है ॥५७॥ इसकी प्रत्यंचा सैंतीस हजार छह सौ चौहत्तर योजन तथा कुछ कम सोलह कला प्रमाण है ॥५८॥ इस प्रत्यंचाका धनुषपृष्ठ अड़तीस हजार सात सौ चालीस योजन तथा कुछ अधिक दश कला प्रमाण है ॥५९॥ और इसका बाण तीन हजार छह सौ चौरासी योजन तथा चार कला है ॥६०॥ इसकी चूलिका छह हजार तीन सौ इकहत्तर योजन तथा कुछ अधिक सात कला है ॥६१॥ पूर्व-पश्चिम भुजाओंका मान छह हजार सात सौ पचपन योजन और कुछ अधिक तीन भाग है ॥६२॥

इसके आगे महाहिमवान् कुलाचल है इसका विस्तार चार हजार दो सौ दश योजन तथा दश कला है ॥६३॥ यह पर्वत पृथिवीसे दो सौ योजन ऊपर उठा है तथा पचास योजन पृथिवीके नीचे गया है ॥६४॥ इसकी प्रत्यंचाका विस्तार तिरपन हजार नौ सौ इकतीस योजन तथा कुछ अधिक छह कला है ॥६५॥ इस प्रत्यंचाके धनुःपृष्ठका विस्तार सत्तावन हजार दो सौ तिरानबे योजन तथा कुछ अधिक दश अंश है ॥६६॥ इसके बाणकी चौड़ाई सात हजार आठ सौ चौरानबे योजन तथा चौदह भाग है ॥६७॥ इस महाहिमवान् पर्वतकी चूलिका आठ हजार एक सौ अट्ठाईस योजन तथा साढ़े चार कला है ॥६८॥ इसकी दोनों भुजाएँ नौ हजार दो सौ छिहत्तर योजन तथा साढ़े नौ कला प्रमाण हैं ॥६९॥ चाँदीके समान श्वेतवर्णवाले इस पर्वतके शिखरपर रत्नोंसे शिखरोंको अनुरंजित करनेवाले उत्तम एवं स्थायी आठ कूट सुशोभित हो रहे हैं ॥७०॥ उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१. सिद्धायतनकूट, २. महाहिमवत्कूट, ३. हैमवत कूट, ४. रोहिता कूट, ५. ह्री कूट, ६. हरिकान्त कूट, ७. हरिवर्ष कूट और ८. वैडूर्य कूट। सब कूटोंकी ऊँचाई पचास योजन प्रमाण है ॥७१-७२॥ मूलमें इन कूटोंका विस्तार पचास योजन, मध्यमें साढ़े सैंतीस योजन और ऊपर पचीस योजन है ॥७३॥

---

१. सकलाः कलाः ख. । २. दशान्तकाः म. । ३. मूले भवो मौलः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यादष्टौ हि सहस्राणि चतुःशत्येकविंशतिः । हरिवर्षस्य विस्तारो भागश्चैकोनविंशतेः ॥७४॥
शतानि नव सैकानि सहस्राणि त्रिसप्ततिः । ज्यापि चास्य विशेषेण भागाः सप्तदशाधिकाः ॥७५॥
अस्याश्चतुरशीतिश्च सहस्राणि पुनर्भवेत् । षोडशापि धनुर्ज्यायाश्चतस्रः साधिकाः कलाः ॥७६॥
षोडशास्य सहस्राणि योजनानां शतत्रयम् । इषुः पञ्चदश ज्ञेया सह पञ्चदशांशकैः ॥७७॥
सहस्राणि नवान्यानि शतानि नव चूलिका । पञ्चाशीतिश्च पञ्चांशाः सहार्द्धकलया तु सा ॥७८॥
त्रयोदशसहस्राणि त्रिंशतो षष्टिरेककम् । साधिकार्धाधिकार्धाः षड् भागास्तत्र भुजप्रमा ॥७९॥
द्वाचत्वारिंशदष्टौ च शतान्यन्यानि षोडश । सहस्राणि च भागौ द्वौ विष्कम्भो निषधस्य च ॥८०॥
उच्छ्रायः पुनरस्य स्याद् योजनानां चतुःशती । अवगाहस्त्वधो भूमेः शतयोजनमात्रकः[1] ॥८१॥
चतुर्नवतिसंख्यानि सहस्राणि शतं तथा । षट्पञ्चाशद्द्विभागौ च साधिकौ ज्यास्य भूभृतः ॥८२॥
लक्षैकात्र सहस्राणि चतुर्विंशतिरंशकाः । साधिका नव चापं षट्चत्वारिंशच्छतत्रयम् ॥८३॥
धनुषोऽस्य त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि शतं तथा । सप्तपञ्चाशदेव स्यादिषुः सप्तदशांशकाः ॥८४॥
तथा दशसहस्राणि शतं स्यात्सप्तविंशतिः । साधिकौ च परौ भागौ चूलिका निषधस्य सा ॥८५॥
विंशतिश्च सहस्राणि पञ्चषष्ट्युतं शतम् । साधिकार्धाधिकौ भागौ प्रमाणं भुजयोरिह ॥८६॥
तपनीयमयस्यास्य निषधस्यापि मूर्धनि । भासन्ते नवकूटानि सर्वरत्नमरीचिभिः॥ ८७॥
सिद्धायतनकूटं च कूटं तन्निषधादिकम् । हरिवर्षादिकं पूर्वविदेहादिकमेव तत् ॥८८॥
ह्रीकूटं धृतिकूटं च शीतोदाकूटमेव च । विदेहकूटमित्येकं रुचकं नवमं मतम् ॥८९॥
उच्छ्रायो योजनशतं विष्कम्भश्चापि मूलजः । पञ्चाशन्मस्तकेऽमीषां मध्येऽसौ पञ्चसप्ततिः ॥९०॥

इसके आगे हरिवर्ष क्षेत्र है इसका विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें-से एक भाग प्रमाण है ॥७४॥ इसकी प्रत्यंचाका विस्तार तिहत्तर हजार नौ सौ एक योजन और सत्रह कला है ॥७५॥ इस प्रत्यंचाका धनुःपृष्ठ आठ हजार चार सौ सोलह योजन तथा कुछ अधिक चार कला है ॥७६॥ इसके बाणका विस्तार सोलह हजार तीन सौ पन्द्रह योजन तथा पन्द्रह कला है ॥७७॥ इसकी चूलिका नौ हजार नौ सौ पचासी योजन तथा साढ़े पाँच कला है ॥७८॥ और इसकी भुजाओंका प्रमाण तेरह हजार तीन सौ इकसठ योजन साढ़े छह कला है ॥७९॥

इसके आगे निषध पर्वत है इसका विस्तार सोलह हजार आठ सौ बयालीस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥८०॥ इसकी ऊँचाई चार सौ योजन है और पृथिवीके नीचे गहराई सौ योजन प्रमाण है ॥८१॥ इस पर्वतकी प्रत्यंचा चौरानबे हजार एक सौ छप्पन योजन तथा अधिक दो कला है ॥८२॥ इसका धनुःपृष्ठ एक लाख चौबीस हजार तीन सौ छियालीस योजन तथा कुछ अधिक नौ कला है ॥८३॥ इस धनुःपृष्ठके बाणका विस्तार तैंतीस हजार एक सौ सन्तावन योजन तथा सत्रह कला है ॥८४॥ इस निषध कुलाचलकी चूलिका दश हजार एक सौ सत्ताईस योजन तथा कुछ अधिक दो कला है ॥८५॥ इसकी भुजाओंका प्रमाण बीस हजार एक सौ पैंसठ योजन तथा कुछ अधिक अढ़ाई कला है ॥८६॥ इस स्वर्णमय निषधाचलके मस्तकपर नौ कूट हैं जो कि सब प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे सुशोभित हो रहे हैं ॥८७॥ उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ निषध कूट, ३ हरिवर्ष कूट, ४ पूर्व विदेह कूट, ५ ह्री कूट, ६ धृति कूट, ७ सीतोदा कूट, ८ विदेह कूट और ९ रुचक कूट ॥८८-८९॥ इन सबकी ऊँचाई और मूलकी चौड़ाई सौ योजन है। बीचकी चौड़ाई पचहत्तर योजन और मस्तक—ऊर्ध्व भागकी चौड़ाई पचास योजन है ॥९०॥

१. मात्रकाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि विदेहस्य च षट्शती । तथा चतुरशीतिश्च विस्तारश्चतुरंशकाः ॥९१॥
ज्या स्याच्छतसहस्राणि योजनानि प्रमाणतः । जम्बूद्वीपप्रमाणेन कृतस्पर्द्धेन साम्यतः ॥९२॥
अष्टापञ्चाशदिष्टानि सहस्राणि शतं धनुः । त्रयोदशैकलक्षांशाः साधिकार्धेन षोडश ॥९३॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि योजनानीषुरिष्यते । महतो धनुषस्तस्य महती[1] युज्यते हि सा ॥९४॥
द्वे सहस्रे शतैर्युक्ते नवभिश्चैकविंशतिः । साधिकाष्टादशांशाश्च विदेहार्द्धस्य चूलिका ॥९५॥
त्र्यशीतिश्च शतान्यष्टौ सहस्राणीहि षोडश । त्रयोदशांशकाः पादः साधिकश्च भुजाद्वयम् ॥९६॥
प्रमाणं दक्षिणार्द्धे यद् द्वीपस्य प्रतिपादितम् । बोध्यं तदुत्तरार्धेऽपि क्षेत्रपर्वतगोचरम् ॥९७॥
ज्यायां ज्यायां विशुद्धायां शेषार्द्धं चूलिका स्मृता । चापे चापे विशुद्धेऽर्द्धं तथा पार्श्वभुजा हि सा ॥९८॥
वैडूर्यमयनीलस्य सिद्धायतननामकम् । नीलकूटं च तत्पूर्वविदेहाद्युपरि स्थितम् ॥९९॥
सीताकूटं चतुर्थं स्यात्कीर्तिकूटं च पञ्चमम् । नरकान्तादिकं षष्ठं ततोऽपरविदेहकम् ॥१००॥
रम्यकाद्यष्टमं कूटमपदर्शनकं त्विह । उच्छ्रायमूलमध्यान्तविष्कम्भो निषधेषु यः ॥१०१॥
रौक्मस्य रुक्मिणोऽप्यग्रे सिद्धायतनमादितः । रुक्मिकूटं द्वितीयं स्यात् तृतीयं रम्यकादिकम् ॥१०२॥
नारीकूटं तुरीयं तु बुद्धिकूटं तु पञ्चमम् । रूप्यकूटं परं कूटं हैरण्यवतपूर्वकम् ॥१०३॥
मणिकाञ्चनकूटं च सामान्योच्छ्रायतस्तु ते । मूलमध्याग्रविस्तारैर्महाहिमवति स्थितैः ॥१०४॥
कूटान्येकादशैवाग्रे हैमस्य शिखरिश्रुतेः । सिद्धायतनमाद्यं स्यात् कूटं शिखरिपूर्वकम् ॥१०५॥
हैरण्यवतकूटं च सुरदेवीपुरःसरम् । रक्तालक्ष्मीसुवर्णादिकूटानि च यथाक्रमम् ॥१०६॥
तथा रक्तवतो कूटं गन्धदेव्यास्ततः परम् । तथैरावतकूटं च पाश्चात्यं मणिकाञ्चनम् ॥१०७॥

इसके आगे विदेह क्षेत्र है इसका विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें चार भाग प्रमाण है ॥९१॥ इसकी प्रत्यंचाका प्रमाण मानो समानताके कारण स्पर्धा करनेवाले जम्बू द्वीपके बराबर एक लाख योजन है ॥९२॥ इसके धनुःपृष्ठका विस्तार एक लाख अंठावन हजार एक सौ तेरह योजन तथा कुछ अधिक साढ़े सोलह कला है ॥९३॥ बाणका विस्तार पचास हजार योजन है सो ठीक ही है क्योंकि उतने बड़े धनुषका उतना बड़ा बाण होना उचित ही है ॥९४॥ विदेहार्धकी चूलिका दो हजार नौ सौ इक्कीस योजन तथा कुछ अधिक अठारह कला है ॥९५॥ इसकी दोनों भुजाओंका विस्तार सोलह हजार आठ सौ तिरासी योजन तथा सवा तेरह कलासे कुछ अधिक है ॥९६॥ जम्बू द्वीपके दक्षिणार्ध भागमें क्षेत्र तथा पर्वत आदिका जो प्रमाण बतलाया है वही उत्तरार्ध भागमें भी जानना चाहिए ॥९७॥ प्रत्यंचा, धनुःपृष्ठ, बाण, भुजा तथा चूलिकाका जो विस्तार दक्षिणार्धमें बतलाया गया है वही शेषार्धमें भी है ॥९८॥ उत्तरार्धके पर्वतोंमें जो विशेषता है उसे बतलाते हैं—विदेह क्षेत्रके आगे जो वैडूर्यमणिमय नील पर्वत है उसके ऊपर निम्नलिखित नौ कूट हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ नील कूट, ३ पूर्व विदेह कूट, ४ सीताकूट, ५ कीर्ति कूट, ६ नरकान्तककूट, ७ अपर विदेह कूट, ८ रम्यक कूट और ९ अपदर्शन कूट। इन सब कूटोंकी ऊँचाई तथा मूल मध्य और ऊर्ध्व भागकी चौड़ाई निषधाचलके कूटोंके समान है ॥९९-१०१॥ रुक्मी पर्वत चाँदीका है उसके अग्रभागपर निम्नलिखित आठ कूट हैं—पहला सिद्धायतन कूट, दूसरा रुक्मि कूट, तीसरा रम्यक कूट, चौथा नारी कूट, पाँचवाँ बुद्धि कूट, छठा रूप्य कूट, सातवाँ हैरण्यवत कूट और आठवाँ मणिकांचनकूट। इन सबकी सामान्य ऊँचाई मूल मध्य तथा अग्र भागका विस्तार महाहिमवान् पर्वतके कूटोंके समान जानना चाहिए ॥१०२-१०४॥ शिखरी पर्वत सुवर्णमय है उसके अग्रभागपर निम्नलिखित ग्यारह कूट हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ शिखरी कूट, ३ हैरण्यवत कूट, ४ सुरदेवी कूट, ५ खत्ता कूट, ६ लक्ष्मी कूट, ७ सुवर्ण कूट,

---

१. महिती म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिमवत्कूटतुल्यानि तानि कूटानि शोभया । आदिमध्यान्तविस्तारैरुच्छ्रायेण च चारुणा ॥१०८॥
तथैरावतमध्यस्थविजयार्द्धस्य मूर्धनि । हठन्ते[1] नवकूटानि सुरत्नमणिसंकटैः ॥१०९॥
सिद्धायतनकूटं स्यादुत्तरार्धाभिधानकम् । तामिस्रगुहकूटं च मणिभद्रमतः परम् ॥११०॥
विजयार्धकुमाराख्यं पूर्णभद्राख्यमप्यतः । खण्डकादिप्रपातं च दक्षिणार्धं च नामतः ॥१११॥
नवमं तु तथाख्यातं कूटं वैश्रवणश्रुतिः । तानि सर्वाणि तुल्यानि मारतीयैः प्रमाणतः ॥११२॥
पूर्वापरायतानां हि षण्णां तत्कुलभूभृताम् । सप्तक्षेत्रविभक्तृणामेकैकस्योभयान्तयोः ॥११३॥
सर्वर्तुकुसुमाकीर्णफलभारनतद्रुमैः । हारिणौ[2] पक्षिसंघातमधुकृन्मधुरस्वनैः[3] ॥११४॥
अर्द्धयोजनविस्तीर्णौ विचित्रमणिवेदिकौ । भवतो वनखण्डौ द्वौ पर्वतायामसम्मितौ ॥११५॥
अर्धयोजनमानस्तु वेदिकोत्सेध इष्यते । वेदकैर्व्यासतत्त्वस्य व्यासः पञ्चधनुःशती ॥११६॥
[4]सुरत्नपरिणामानि नानावर्णानि सर्वतः । वेदिकोचितदेशेषु तोरणानि भवन्ति च ॥११७॥
भूभृतामुपरि ज्ञेया सर्वतः पद्मवेदिका । मणिरत्नमयी दिव्या गव्यूतिद्वयमुच्छ्रिता ॥११८॥
गृहद्वीपसमुद्राणां भूनदीह्रदभूभृताम् । वेदिकोत्सेधविस्तारौ तिर्यग्लोके स्थिताविमौ ॥११९॥
तेषां तु मध्यदेशेषु पूर्वापरसमायताः । षण्महाकुलशैलानां षड् महान्तो ह्रदाः स्थिताः ॥१२०॥
पद्मश्चापि महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी ह्रदः । सुमहापुण्डरीकश्च पुण्डरीकश्च नामतः ॥१२१॥
चतुर्दश विनिर्गत्य सरितः पूर्वसागरम् । तेभ्यो विशन्ति सप्तैव सप्तैवापरसागरम् ॥१२२॥

८ रक्तवती कूट, ९ गन्धदेवी कूट, १० ऐरावत कूट और ११ मणिकांचन कूट। ये सब कूट शोभा, मूल-मध्य और अन्त सम्बन्धी विस्तार तथा सुन्दर ऊँचाईसे हिमवत् पर्वतके कूटोंके समान हैं ॥१०५-१०८॥ ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें जो विजयार्ध पर्वत है उसके अग्रभाग पर भी नौ कूट हैं जो कि उत्तमोत्तम रत्न तथा मणियोंके समूहसे देदीप्यमान हो रहे हैं। उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ उत्तरार्ध कूट, ३ तामिस्रगुह कूट, ४ मणिभद्र कूट, ५ विजयार्ध कुमार कूट, ६ पूर्णभद्र कूट, ७ खण्डकप्रपात कूट, ८ दक्षिणार्ध कूट और ९ वैश्रवण कूट। ये सब कूट प्रमाणकी अपेक्षा भरत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्धपर स्थित कूटोंके तुल्य हैं ॥१०९-११२॥ सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले तथा पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे जिन छह कुलाचलोंका वर्णन पहले कर आये हैं उनमें-से प्रत्येकके दोनों अन्त भागमें वनखण्ड सुशोभित हैं। ये वनखण्ड समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरे तथा फलोंके भारसे नम्रीभूत वृक्षों और पक्षिसमूह तथा भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे मनोहर हैं, आधा योजन विस्तृत हैं, चित्र-विचित्र मणियोंकी वेदिकाओंसे सहित हैं और पर्वतकी लम्बाईके बराबर हैं ॥११३-११५॥ व्यास—विस्तारके रहस्यको जाननेवाले आचार्योंने इन वनखण्डोंकी वेदिकाकी ऊँचाई आधा योजन और चौड़ाई पाँच सौ धनुष बतलायी है ॥११६॥ वेदिकाओंके ऊपर योग्य स्थानों पर चारों ओर उत्तमोत्तम रत्नोंसे निर्मित नाना रंगके तोरण हैं ॥११७॥ कुलाचलोंके ऊपर चारों ओर मणि तथा रत्नोंसे बनी हुई दिव्य तथा दो कोश ऊँची पद्म-वेदिका है ॥११८॥ मध्य लोकमें गृह, द्वीप, समुद्र, पृथिवी, नदी, ह्रद और पर्वतोंकी जो वेदिकाएँ हैं उनकी ऊँचाई और विस्तार भी इसी प्रकार समझना चाहिए अर्थात् सबकी ऊँचाई आधा योजन और चौड़ाई पाँच सौ धनुष हैं ॥११९॥

उक्त छह महाकुलाचलोंके मध्यभागमें पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे छह विशाल सरोवर हैं ॥१२०॥ उनके नाम इस प्रकार हैं—१ पद्म, २ महापद्म, ३ तिगिंछ, ४ केसरी, ५ महापुण्डरीक और ६ पुण्डरीक ॥१२१॥ उन सरोवरोंसे चौदह नदियाँ निकली हैं जिनमें सात तो पूर्व

१. हठन्ति ख., म.। उत्तिष्ठन्ति-इत्यर्थः, 'हठ' प्लुतिशठत्वयोः। २. मनोहरौ। ३. मधुपस्वनैः म.। ४. उत्तमरत्ननिर्मितानि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गङ्गा सिन्धुश्च रोह्या[1] च रोहितास्या हरित् सरित् । हरिकान्ता च सीता च सीतोदापि च नामतः ॥१२३॥
नारी च नरकान्ता च तथैव परिवर्णिता । सुवर्णकूलया साकं रूप्यकूला परापगा ॥१२४॥
रक्तया सह रक्तोदा ताश्च सर्वा यथायथम् । नदीबहुसहस्रैस्तु भवन्ति सहिताः क्षितौ ॥१२५॥
सहस्रयोजनायामः पद्मः पञ्चशतानि च । योजनानि स विस्तीर्णो दश स्यादवगाहतः ॥१२६॥
हिमवद्वेदिकातुल्या परिक्षिपति वेदिका । समन्ततस्तमापूर्णं शुभशीतलवारिणा ॥१२७॥
योजनादूर्ध्वतो[2]विष्कम्भं पुष्करं पुष्करेऽम्भसः । निष्क्रम्य योजनार्धं तु काशते क्रोशकर्णिकम् ॥१२८॥
द्विगुणद्विगुणायामविष्कम्भादौ ह्रदान्तरे । दक्षिणोत्तरभागस्थे पुष्कराणि चकासते ॥१२९॥
पुष्करेषु वसन्त्युच्चैः प्रासादेषु यथाक्रमम् । श्रीह्रियौ धृतिकीर्त्यौ च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः ॥१३०॥
ताश्च पल्योपमायुष्काः सौधर्मेन्द्रस्य दक्षिणाः । ऐशानस्योत्तरा देव्यः ससामानिकसंसदः ॥१३१॥
गङ्गा पूर्वेण पद्मस्य द्वारेणानुनगं गता । सिन्धुरप्यपरेणास्य रोहितास्योत्तरेण तु ॥१३२॥
महापद्मह्रदाद् रोह्या हरिकान्ता च निःसृता । हरिता सह सीतोदा तिगिञ्छह्रदतस्तथा ॥१३३॥
केशरीह्रदतः सीता नरकान्ता च निर्गता । नारी च रूप्यकूला च सा महापुण्डरीकतः ॥१३४॥
सुवर्णकूलया रक्ता रक्तोदा पुण्डरीकतः । द्वारेण तोरणोद्भासा विनिःक्रान्ता महानदी ॥१३५॥
षड् योजनानि गव्यूतं व्यासो वज्रमुखस्य सः । अवगाहोऽर्द्धगव्यूतं गङ्गाया निर्गमे स्मृतम् ॥१३६॥
योजनानि नवोद्विद्धमष्टांशत्रितयं तथा । तोरणं तत्र विज्ञेयं विचित्रमणिभास्वरम् ॥१३७॥

सागरमें प्रवेश करती हैं और सात पश्चिम सागरमें ॥१२२॥ उन नदियोंके नाम इस प्रकार हैं— १ गंगा, २ सिन्धु, ३ रोह्या (रोहित्), ४ रोहितास्या, ५ हरित्, ६ हरिकान्ता, ७ सीता, ८ सीतोदा, ९ नारी, १० नरकान्ता, ११ सुवर्णकूला, १२ रूप्यकूला, १३ रक्ता और १४ रक्तोदा। ये सब नदियाँ पृथिवीतलपर हजारों सहायक नदियोंसे युक्त हैं ॥१२३–१२५॥ पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा और दश योजन गहरा है ॥१२६॥ शुभ एवं शीतल जलसे भरे हुए इस सरोवरको हिमवत्कुलाचलकी वेदिकाके तुल्य एक वेदिका चारों ओरसे घेरे हुए है ॥१२७॥ इस पद्म सरोवरमें एक योजन विस्तारवाला कमल है। यह कमल पानीसे निकलकर आधा योजन ऊपर उठा हुआ है, तथा एक कोशकी उसकी कर्णिका सुशोभित है ॥१२८॥ दक्षिण तथा उत्तर भागमें जो अन्य सरोवर हैं उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि पूर्व-पूर्वके सरोवरोंसे दुगुनी-दुगुनी है तथा उन सब सरोवरोंमें कमल सुशोभित हैं ॥१२९॥ कमलोंपर जो ऊँचे-ऊँचे भवन बने हुए हैं उनमें यथाक्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियाँ निवास करती हैं ॥१३०॥ ये सब देवियाँ एक पल्यकी आयुवाली हैं। इनमें दक्षिण भागकी देवियाँ सौधर्मेन्द्रकी और उत्तर भागकी देवियाँ ऐशानेन्द्रकी आज्ञाकारिणी हैं। ये सब सामानिक देवोंकी सभासे सहित हैं ॥१३१॥

पद्म सरोवरके पूर्व द्वारसे गंगा, पश्चिम द्वारसे सिन्धु और उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकली है। ये नदियाँ सरोवरसे निकलकर कुछ दूर तक पर्वतपर ही बहती हैं ॥१३२॥ महापद्मसरोवरसे रोह्या और हरिकान्ता, तिगिंछसे हरित् और सीतोदा, केशरी सरोवरसे सीता और नरकान्ता, महापुण्डरीक सरोवरसे नारी और रूप्यकूला और पुण्डरीक सरोवरसे सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदी निकली हैं। इन नदियोंके निकलनेके द्वार तोरणोंसे सुशोभित हैं ॥१३३–१३५॥ जिस वज्रमुख द्वारसे गंगा निकलती है उसका विस्तार छह योजन और एक कोश है तथा उसकी गहराई आधे कोशकी है ॥१३६॥ उस द्वारपर चित्र-विचित्र मणियोंसे देदीप्यमान एक तोरण बना हुआ है जो नौ योजन तथा एक योजनके आठ भागोंमें

---

१. रोहिच्च ख., म. । २. योजनोच्छ्रित-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्य पञ्चशतीं प्राचीमावर्तेन निवर्त्य च । गङ्गाकूटादपाचीं सा भारतव्यासमागता ॥१३८॥
शतयोजनमाकाशं चाधिकं चातिलङ्घ्य सा । न्यपतत्पर्वताद्दूरे पञ्चविंशतियोजने ॥१३९॥
[1]षड्योजनी सगव्यूता विस्तीर्णा वृषभाकृतिः । जिह्विका [2]योजनार्द्धा तु बाहुल्यायामतो गिरौ [3] ॥१४०॥
तयैत्य पतिता गङ्गा गोशृङ्गाकारधारिणी । श्रीगृहाग्रेऽभवद् भूमौ दशयोजनविस्तृता ॥१४१॥
षष्टियोजनविस्तीर्णं वज्रकुण्डमुखं भुवि । अवगाहो दशास्यापि मध्ये द्वीपो व्यवस्थितः ॥१४२॥
अष्टयोजनविष्कम्भः सोऽम्भसः क्रोशयोर्द्वयम् । [4]उत्थितस्तस्य चान्योऽस्ति मूर्ध्नि वज्रमयोऽचलः ॥१४३॥
चत्वारि च गिरिर्द्वे च तथैकं च दशोन्नतिः । योजनानि स विस्तीर्णो मूले मध्ये च मूर्धनि ॥१४४॥
शिखरे च गिरेस्तस्य मूले मध्ये च मस्तके । त्रीणि द्वे च सहस्रं च विस्तारेण धनूंषि तु ॥१४५॥
अन्तः पञ्चशतायामं तदर्द्धं चापि विस्तृतम् । द्विसहस्रधनुस्तुङ्गं भाति वज्रमयं गृहम् ॥१४६॥
अशीतिधनुरुद्विद्धं चत्वारिंशच्च विस्तृतम् । तत्र वज्रकपाटाख्यं द्वारं वज्रमयं गृहे ॥१४७॥
यात्वा दक्षिणतः कुण्डात् क्वचित् कुण्डलगामिनी । गुहायां विजयार्द्धस्य विस्तृता [5]साष्टयोजनीम् ॥१४८॥
चतुर्दशसहस्रैस्तु प्रवेशे सरितामसौ । सार्द्धद्विषष्टिविष्कम्भा प्रविष्टा पूर्वसागरम् ॥१४९॥

तीन भाग प्रमाण ऊँचा है ॥१३७॥ गंगा नदी अपने निर्गम स्थानसे निकलकर पाँच सौ योजन तो पूर्व दिशाकी ओर बही है फिर वलखाती हुई गंगा कूटसे लौटकर दक्षिणकी ओर भरत क्षेत्रमें आयी है ॥१३८॥ वह गंगा कुछ अधिक सौ योजन आकाशसे उलंघकर पर्वतसे पचीस योजनकी दूरीपर गिरी है ॥१३९॥

हिमवत् पर्वतके दक्षिण तटपर एक जिह्विका नामकी प्रणाली है जो छह योजन तथा एक कोश चौड़ी है, दो कोश ऊँची तथा उतनी ही लम्बी है और वृषभाकार अर्थात् गोमुखके आकारकी है ॥१४०॥ इस प्रणाली द्वारा गंगा, गोशृंगका आकार धारण करती हुई श्रीदेवीके भवनके आगे गिरी है और वहाँ भूमिपर इसका विस्तार दश योजन हो गया है ॥१४१॥ भूमिपर साठ योजन चौड़ा तथा दश योजन गहरा एक वज्रमुख नामका कुण्ड है इस कुण्डके मध्यमें एक द्वीप है जो आठ योजन चौड़ा है तथा पानीसे दो कोश ऊँचा है। इस द्वीपके ऊपर एक वज्रमय पर्वत है जो मूलमें चार योजन, मध्यमें दो योजन, तथा अन्तमें एक योजन चौड़ा एवं दश योजन ऊँचा है ॥१४२-१४४॥ उस पर्वतके शिखरपर एक सुशोभित वज्रमय भवन है जो मूलमें तीन हजार, मध्यमें दो हजार और अन्तमें एक हजार धनुष विस्तृत है। तथा भीतर पाँच सौ धनुष लम्बा, दो सौ पचास धनुष चौड़ा और दो हजार धनुष ऊँचा है ॥१४५-१४६॥ उस भवनका अस्सी योजन ऊँचा तथा चालीस योजन चौड़ा वज्रकपाट नामका वज्रमय द्वार है ॥१४७॥ वज्रमुख कुण्डसे दक्षिणकी ओर जाकर कहीं कुण्डलके आकार गमन करती हुई गंगा विजयार्ध पर्वतकी गुफामें आठ योजन चौड़ी हो गयी है ॥१४८॥ चौदह हजार नदियोंके साथ जहाँ यह गंगा पूर्व लवण समुद्रमें प्रवेश करती है वहाँ इसकी चौड़ाई साढ़े बासठ योजनकी हो गयी है ॥१४९॥ गंगा

---

१. षड्योजनीं सगव्यूतां म. । २. योजनार्ध ।
३. कोसदुगदीहवहला वसहायारा य जिदिया संघ ।
छज्जोयणं सकोसं तिस्से गंतूण पडिदा सा ॥५८४॥ —त्रिलोकसार
हिमवन्त अन्त मणिमय वरकूड मुहम्मि वसह रूवम्मि ।
पविसित्तु पडह धारा सय जोयण तुंग ससि धवला ॥१४९॥
छज्जोयण सक्कोशा पणालिया वित्थडा मुणेयव्वा ।
आयामेण य णेया वे कोसातेत्तिया वहला ॥१५०॥ —जम्बू. प्रज्ञप्ति
४. ऊर्जितः म. । ५. याष्टयोजनी क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजनानि त्रिनवति त्रिगव्यूतानि चोच्छ्रितम् । गाधतो योजनार्द्धं स्यात् सरिद्विस्तारतोरणम् ॥१५०॥
सर्वप्रकारतः सिन्धुः समाना गङ्गया ततः । आविदेहाच्च सरितां द्विगुणं जिह्विकादिकम् ॥१५१॥
तोरणान्यवगाहेन समस्तानि समानि तु । वसन्ति तेषु सर्वेषु दिक्कुमार्यो यथायथम् ॥१५२॥
षट्सप्तति कलाषट्कं योजनानां शतद्वयम् । गत्वाऽद्रौ रोहितास्यातो[1] निपत्य श्रीगृहेऽगमत् ॥१५३॥
शतानि षोडशाद्रौ तु रोह्या पञ्चयुतानि सा । कलाश्चागम्य पञ्चाग्राद् गिरेः पञ्चाशदन्तरम् ॥१५४॥
तावदेव गता शैले हरिकान्तोत्तरां दिशम् । समुद्रं पश्चिमं याता प्राप्य कुण्डं शतान्तरम्[2] ॥१५५॥
चतुःसप्ततिसंख्यानि शतानि कलया हरित् । एकविंशतिमागम्य निषधे ह्यपतच्छते ॥१५६॥
सीतोदापि गिरिं गत्वा तावदेव चतुःशती । उल्लङ्घ्यापतदद्रेः सा योजनानां शतद्वये ॥१५७॥
तावदेव समागत्य सीतासौ नीलपर्वते । तावत्येव समापत्य प्राग्विदेहान् विभेद च ॥१५८॥
दक्षिणाभिः समा नद्यः षड्भिस्ताश्च षडुत्तराः । यथायोग्यं प्रपाताद्यैः प्रतिपाद्याः प्रतिद्विकम् ॥१५९॥
गङ्गा चैव नदी रोह्या हरित् सीता च पूर्वगाः । नारी सुवर्णकूला च सरक्ताः परगाः पराः ॥१६०॥
श्रद्धावान् विजयावांश्च पद्मवांश्चापि गन्धवान् । मध्ये हैमवतादीनां विजयार्द्धास्तु वर्तुलाः ॥१६१॥
योजनानां सहस्रं स्यान्मूले विस्तृतिरुच्छ्रितिः । तदर्धं मस्तके मध्ये पञ्चाशत् सप्तशत्यपि ॥१६२॥
योजनार्द्धेन न प्राप्ता नद्यो नाभिगिरीनिमान् । गता प्रदक्षिणा सीतासीतोदे मन्दरं यथा ॥१६३॥

जिस तोरण द्वारसे लवण समुद्रमें प्रवेश करती है वह तेरानबे योजन तीन कोश ऊँचा है तथा आधा योजन गहरा है ॥१५०॥

सिन्धु नदी सब प्रकारसे गंगा नदीके समान है केवल विशेषता यह है कि यह पश्चिम लवण समुद्रमें मिली है। गंगा-सिन्धुसे लेकर विदेह क्षेत्र तककी समस्त नदियोंकी जिह्विका आदिका विस्तार दूना-दूना जानना चाहिए ॥१५१॥ समस्त नदियोंके तोरण गहराईकी अपेक्षा समान हैं तथा उन समस्त तोरणोंमें यथायोग्य दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं ॥१५२॥ रोहितास्या नदी दो सौ छिहत्तर योजन छह कला पर्वतपर बहती है। तदनन्तर पर्वतसे गिरकर श्री देवीके भवनकी ओर गयी है ॥१५३॥ रोह्या नदी एक हजार छह सौ पाँच योजन पाँच कला पर्वतपर बहकर उससे पचास योजन दूर गिरी है ॥१५४॥ इसी प्रकार हरिकान्ता नदी भी महाहिमवान् पर्वतपर एक हजार छह सौ पचास योजन पाँच कला उत्तर दिशाकी ओर बहकर सौ योजन दूर कुण्डमें गिरी है और वहाँसे पश्चिम समुद्रकी ओर गयी है ॥१५५॥ हरित् नदी सात हजार चार सौ इक्कीस योजन एक कला निषध पर्वतपर बहकर सौ योजन दूरपर गिरी है ॥१५६॥ सीतोदा नदी भी इतनी ही दूर पर्वतपर बहती है। तदनन्तर चार सौ योजन ऊँचे आकाशको उल्लंघ कर पर्वतसे दो सौ योजन दूर गिरती है ॥१५७॥ सीता नदी भी इतनी ही दूर नील पर्वतपर बहती है और इतनी ही दूर आकाशमें उछलकर पूर्व विदेह क्षेत्रको भेदन करती है ॥१५८॥ उत्तर दिशाकी छह नदियाँ दक्षिण दिशाकी छह नदियोंके समान हैं इसलिए उनके प्रपात आदिका वर्णन दो-दो नदियोंके युगल रूपमें यथायोग्य करना चाहिए ॥१५९॥ गंगा, रोह्या, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूर्व समुद्रकी ओर जाती हैं और शेष सात नदियाँ पश्चिम समुद्रकी ओर ॥१६०॥ हैमवत आदि चार क्षेत्रोंके मध्यमें क्रमसे श्रद्धावान्, विजयावान्, पद्मवान् और गन्धवान् नामके चार गोलाकार विजयार्ध पर्वत हैं ॥१६१॥ ये पर्वत मूलमें एक हजार योजन, मध्यमें सात सौ पचास योजन और मस्तकपर पाँच सौ योजन चौड़े हैं तथा एक हजार योजन ऊँचे हैं ॥१६२॥ इन पर्वतोंका दूसरा नाम नाभि गिरि है जिस प्रकार सीता, सीतोदा नदी मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देती हुई गयी है इसी प्रकार रोह्या, रोहितास्या आदि नदियाँ भी आधा योजन

१. तस्यान्तो भ. । २. शतयोजनानन्तरे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासादेषु शिरस्येषां स्वातिरप्यरुणः परः । पद्मश्चापि प्रभासश्च व्यन्तरा निवसन्ति ते ॥१६४॥
क्षेत्रपर्वतनद्याद्या येऽत्र द्वीपे प्रकीर्तिताः । द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च ते स्थिताः ॥१६५॥
[1]द्वीपानतीत्य संख्यातान् जम्बूद्वीपः परः [2]स्थितः । सन्ति तत्र पुरोऽमीषामत्र ये गदिताः सुराः ॥१६६॥
नीलमन्दरमध्यस्था उत्तराः कुरवो मताः । स्थितास्तु देवकुरवः सुमेरुनिषधान्तरे ॥१६७॥
द्वाचत्वारिंशदष्टौ च शतानि व्यासतो मताः । एकादशसहस्राणि कुरवस्ते कलाद्वयम् ॥१६८॥
ज्या च तेषां त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि धनुः पुनः । षष्टिश्चतुःशती चाष्टौ दशांशा द्वादशाधिकाः ॥१६९॥
त्रिचत्वारिंशतं सैकसहस्राणि च सप्ततिः । चतुरंशा नवांशाश्च कुरुवृत्तं प्रकीर्त्तितम् ॥१७०॥
सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत् षट्शती चतुरंशकाः । अशीतिश्चतुरग्राऽसौ विदेहक्षेत्रविस्तृतिः ॥१७१॥
मेरोः पूर्वोत्तराशायां सीतायाः पूर्वतः स्थितम् । समीपं नीलशैलस्य जम्बूस्थलमुदीरितम् ॥१७२॥
पञ्चचापशतव्यासा गव्यूतिद्वयमुद्धृता । स्थलस्योपरि पर्येति सर्वतो रत्नवेदिका ॥१७३॥
तस्य पञ्चशती व्यासो मध्ये बाहुल्यमष्ट तु । गव्यूतिद्वितयं चान्ते स्थलस्य परिकीर्तितम् ॥१७४॥
जम्बूनदमये तत्र पीठिकाष्टोच्छ्रया स्थिता । मूलमध्याग्रविस्तारैर्द्वादशाष्टचतुर्मिता ॥१७५॥
अधोऽधोऽन्या षडेतस्याः परितो मणिवेदिकाः । प्रत्येकमुपरि द्वे द्वे तासां ता पद्मवेदिकाः ॥१७६॥
मूले गव्यूतिविस्तीर्णः स्कन्धोच्छ्रायद्वियोजनः । अवगाहद्विगव्यूतिः शाखाव्याप्ताष्टयोजनः ॥१७७॥

दूर रहकर इन पर्वतोंकी प्रदक्षिणा देती हुई गयी हैं ॥१६३॥ इन पर्वतोंके शिखरोंपर निर्मित भवनोंमें क्रमसे स्वाति, अरुण, पद्म और प्रभास नामके व्यन्तर देव निवास करते हैं ॥१६४॥

जम्बू द्वीपमें जिन क्षेत्र, पर्वत तथा नदी आदिका वर्णन किया है, धातकीखण्ड तथा पुष्करार्धमें वे सब दूने-दूने हैं ॥१६५॥ संख्यात द्वीप समुद्रोंको उल्लंघकर एक दूसरा जम्बू द्वीप भी है। इस जम्बू द्वीपमें जिन देवोंका कथन किया है उस दूसरे जम्बू द्वीपमें भी इन देवोंके नगर हैं ॥१६६॥ नील कुलाचल और सुमेरु पर्वतके मध्यमें जो प्रदेश स्थित हैं वे उत्तरकुरु माने जाते हैं और सुमेरु तथा निषध कुलाचलके बीचके प्रदेश देवकुरु कहे जाते हैं ॥१६७॥ ये दोनों कुरु विस्तार-की अपेक्षा ग्यारह हजार आठ सौ योजन दो कला प्रमाण माने गये हैं ॥१६८॥ इनकी प्रत्यंचा त्रेपन हजार और धनुःपृष्ठ छह हजार चार सौ अठारह योजन बारह कला है ॥१६९॥ इन कुरु प्रदेशोंका वृत्तक्षेत्र इकहत्तर हजार एक सौ तैंतालीस योजन तथा एक योजनके नौ अंशोंमें चार अंश प्रमाण है ॥१७०॥

विदेह क्षेत्रका समस्त विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन चार कला है ॥१७१॥ मेरु पर्वतकी पूर्वोत्तर (ऐशान) दिशामें, सीता नदीके पूर्व तटपर नील कुलाचलके समीप जम्बू स्थल कहा गया है ॥१७२॥ पाँच सौ धनुष चौड़ी और दो कोश ऊँची रत्नमयी वेदिका इस स्थलको चारों ओरसे घेरे हुए है ॥१७३॥ इस स्थलकी चौड़ाई मूलमें पाँच सौ कोश, मध्यमें आठ कोश और अन्तमें दो कोश कही गयी है ॥१७४॥ इस स्वर्णमय स्थलमें आठ कोश ऊँची एक पीठिका स्थित है जो मूलमें बारह कोश, मध्यमें आठ कोश और अन्तमें चार कोश चौड़ी है ॥१७५॥ इस पीठिकाके नीचे-नीचे चारों ओर रत्ननिर्मित छह वेदिकाएँ और हैं तथा उन प्रत्येक वेदिकाओंपर दो-दो रत्नमयी वेदिकाएँ हैं। उन छहों वेदिकाओंपर जो लघु वेदिकाएँ हैं वे पद्मवेदिका कहलाती हैं ॥१७६॥

इस पूर्वोक्त पीठिकाके ऊपर जम्बू वृक्ष सुशोभित है। वह जम्बू वृक्ष मूलमें एक कोश चौड़ा है, उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है, उसकी गहराई दो कोश है, उसकी शाखाएँ आठ योजन

---

१. द्वीपानतीतसंख्यातान् म.। २. जम्बूद्वीपनामान्यो द्वीपः स्थितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]अश्मगर्भमहास्कन्धो [2]वज्रशाखोपशोभितः । [3]राजद्राजतपत्राढ्यो मणिपुष्पफलाङ्कुरः ॥१७८॥
रक्तपल्लवसंतानरञ्जितान्तदिगन्तरः । पीठिकायां पुरोक्तायां जम्बूवृक्षः प्रकाशते ॥१७९॥
पृथिवीपरिणामस्य नानाशाखोपशोभिनः । महादिक्षु चतस्रोऽस्य महाशाखा महातरोः ॥१८०॥
तत्र चोत्तरशाखायां सिद्धायतनमद्भुतम् । आदरानादरावासाः प्रासादास्तिसृषु स्थिताः ॥१८१॥
जम्बूवृक्षस्य तस्याधस्त्रिंशद्योजनविस्तृताः । पञ्चाशद्योजनोच्छ्रायाः प्रासादा देवयोस्तयोः ॥१८२॥
वेदिकान्तरदेशेषु चक्रवालेषु सप्तसु । प्रधानैकद्रुमोपेताः परिवारोऽस्य [4]पादपाः ॥१८३॥
चत्वारोऽनन्तरं तस्य ततश्चाष्टोत्तरं शतम् । चत्वारि च सहस्राणि सहस्राणि च षोडश ॥१८४॥
द्वात्रिंशच्च सहस्राणि चत्वारिंशत्तु तान्यतः । चत्वारिंशत् सहाष्टाभिः प्रधानैः सप्तभिर्युताः ॥१८५॥
मिश्राः शतसहस्रं तु चत्वारिंशत्सहस्रकैः । संजायन्ते [5]समस्तास्ते शतमेकोनविंशतिः ॥१८६॥
दक्षिणापरतो मेरोः सीतोदायास्तटे परे । निषधस्य समीपस्थं राजतं शाल्मलीस्थलम् ॥१८७॥
जम्बूस्थलं[6]समे तत्र शाल्मलीवृक्ष इष्यते । वक्तव्या तस्य निःशेषा जम्बूवृक्षस्य वर्णना ॥१८८॥
तत्र दक्षिणशाखायां सिद्धायतनमक्षयम् । प्रासादास्तु त्रिशाखासु तत्र देवाविमौ मतौ ॥१८९॥
वेणुश्च वेणुदारी तावादरानादरौ यथा । उत्तरेषु कुरुष्विष्टौ तथा देवकुरुष्विमौ ॥१९०॥
नीलाद्रेर्दक्षिणाशायां योजनैकसहस्रके । सीता पूर्वतटे चित्रं विचित्रं कूटमप्यतः ॥१९१॥
निषधस्योत्तराशायां सीतोदातटयोस्तथा । यमकूटं मतं पूर्वं मेघकूटमतः परम् ॥१९२॥

तक फैली हुई हैं, उसका महास्कन्ध नीलमणिका बना हुआ है, वह हीराकी शाखाओंसे शोभित है, चाँदीके सुन्दर पत्तोंसे युक्त है, उसके फूल-फल तथा अंकुर मणिमय हैं, और उसने अपने लाल-लाल पल्लवोंके समूहसे समस्त दिशाओंके अन्तरालको लाल-लाल कर दिया है ॥१७७-१७९॥ पृथिवीकाय रूप तथा नाना शाखाओंसे सुशोभित इस महावृक्षकी चारों दिशाओं-में चार महाशाखाएँ हैं ॥१८०॥ इनमें उत्तर दिशाकी शाखापर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला जिनमन्दिर है और शेष तीन दिशाओंकी शाखाओंपर भवन बने हुए हैं जिनमें आदर-अनादरका निवास है ॥१८१॥ उस जम्बू वृक्षके नीचे उन दोनों देवोंके तीस योजन चौड़े और पचास योजन ऊँचे अनेक भवन बने हुए हैं ॥१८२॥ वेदिकाओंके सात अन्तरालोंमें एक-एक प्रधान वृक्षसे सहित जो अनेक वृक्ष हैं वे ही इस जम्बू वृक्षके परिवार-वृक्ष कहलाते हैं ॥१८३॥ प्रथम वृक्षके परिवार-वृक्ष चार हैं, दूसरेके एक सौ आठ, तीसरेके चार हजार, चौथेके सोलह हजार, पाँचवेंके बत्तीस हजार, छठेके चालीस हजार और सातवेंके अड़तालीस हजार हैं। सात प्रधान वृक्षोंको साथ मिलानेपर इन समस्त वृक्षोंकी संख्या एक लाख चालीस हजार एक सौ उन्नीस होती है ॥१८४-१८६॥

मेरु पर्वतकी दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य) दिशामें सीतोदा नदीके दूसरे तटपर निषधाचलके समीप रजतमय एक शाल्मली स्थल है ॥१८७॥ जम्बू स्थलकी समानता रखनेवाले इस शाल्मली स्थलमें शाल्मली वृक्ष है। उसका सब वर्णन जम्बू वृक्षके वर्णनके समान जानना चाहिए ॥१८८॥ शाल्मली वृक्षकी दक्षिण शाखापर अविनाशी जिन-मन्दिर है और शेष तीन शाखाओंपर जो भवन बने हुए हैं उनमें वेणु और वेणुदारी देव निवास करते हैं। जिस प्रकार उत्तरकुरुमें आदर और अनादर देव इष्ट माने गये हैं उसी प्रकार देवकुरुमें वेणुदारी देव इष्ट माने गये हैं ॥१८९-१९०॥

नील पर्वतकी दक्षिण दिशामें सीता नदीके पूर्व तटपर एक हजार योजन विस्तारवाले चित्र और विचित्र नामके दो कूट हैं ॥१९१॥ इसी प्रकार निषध पर्वतकी उत्तर दिशामें सीतोदा नदीके

---

१. नीलमणिमयमहास्कन्धः । २. हीरकशाखोपशोभितः । ३. शोभमानरजतमयपत्रसहितः । ४. परिवारद्रुमा मताः ख. । ५. संजायते म. । ६. जम्बूस्थलसमस्तत्र म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाभिपर्वतमानानि[1] तानि कूटानि तेषु तु । देवाः स्वकूटनामानः क्रीडन्ति निजयेच्छया ॥१९३॥
अध्यर्द्धे हि सहस्रार्द्धे नीलतो नीलवान् ह्रदः । तथोत्तरकुरुर्नाम्ना चन्द्रश्चैरावणोऽपरः ॥१९४॥
माल्यवांश्च नदीमध्ये सर्वे पञ्चशतान्तराः । ते दक्षिणोत्तरायामाः पद्मह्रदसमा[2] मताः ॥१९५॥
निषधादुत्तरो नद्यां निषधो नामतो ह्रदः । नाम्ना देवकुरुः सूर्यः सुलसश्च तडित्प्रभः ॥१९६॥
रत्नचित्रतटाः सर्वे वज्रमूला महाह्रदाः । तेषु नागकुमाराः स्युः पद्मप्रासादवासिनः ॥१९७॥
जलाद् द्विकोशमुद्विद्धं योजनोच्छ्रितिविस्तृतम् । पद्मं प्रतिह्रदं क्रोशविस्तृतोच्छ्रितकर्णिकम् ॥१९८॥
पद्माः शतसहस्रं हि चत्वारिंशत्सहस्रकैः । शतं सप्तदशाग्रं स्यात् प्रतिपद्म परिच्छदः ॥१९९॥
एकैकस्य ह्रदस्यात्र पर्वता दश सद्मुखाः । भान्ति काञ्चनकूटाख्याः सीतासीतोदयोस्तटे ॥२००॥
उच्छ्रायमूलविस्तारैः शतयोजनकाः समाः । पञ्चसप्ततिका मध्ये पञ्चाशद्विस्तृताग्रकाः ॥२०१॥
तेषामुपरि प्रत्येकमेकैकाकृत्रिमाः शुभाः । प्रतिमाश्च निरालम्बाः मोक्षमार्गैकदीपिकाः ॥२०२॥
धनुःपञ्चशतीतुङ्गा मणिकाञ्चनरत्नगाः । पञ्चमेरुषु विख्यातं सहस्रोत्तरकूटकम् ॥२०३॥
आक्रीडनगृहेष्वेषां शिखरेषु महास्विषः । देवाः काञ्चनकामिख्याः संक्रीडन्ते समन्ततः ॥२०४॥
सीतोत्तरतटे कूटं पद्मोत्तरमनुत्तरे । तटे तु नीलवत्कूटं पूर्वतो मेरुपर्वतात् ॥२०५॥
शीतोदापूर्वतीरे तु कूटं स्वस्तिकमस्ति तत् । तदञ्जनगिरिप्रख्यं पश्चात्ते मेर्वनुत्तरे ॥२०६॥
तटे तु दक्षिणे तस्याः कुमुदं कूटमुत्तरे । पलाशमपराशायां ते तु मन्दरतो मते ॥२०७॥

दोनों तटोंपर यम कूट और मेघ कूट नामके दो कूट हैं ॥१९२॥ ये कूट नाभि पर्वतोंके समान विस्तारवाले हैं तथा इन कूटोंपर कूटोंके ही समान नामवाले देव अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं ॥१९३॥ नील पर्वतसे साढ़े पाँच सौ योजन दूरीपर नदीके मध्यमें नीलवान्, उत्तरकुरु, चन्द्र, ऐरावण और माल्यवान् नामके पाँच ह्रद हैं। ये समस्त ह्रद पाँच-पाँच सौ योजनके अन्तरसे हैं तथा इनकी दक्षिणोत्तर लम्बाई पद्म ह्रदके समान मानी गयी है ॥१९४-१९५॥ इसी प्रकार निषध पर्वतसे उत्तरकी ओर नदीके बीच निषध, देवकुरु, सूर्य, सुलस और तडित्प्रभ नामके पाँच महाह्रद हैं। इन सबके तट रत्नोंसे चित्र-विचित्र हैं तथा सबके मूल भाग वज्रमय हैं। इन महाह्रदोंमें कमलोंपर जो भवन बने हैं उनमें नागकुमार देव निवास करते हैं ॥१९६-१९७॥ प्रत्येक महाह्रदमें एक-एक प्रधान कमल है जो जलसे दो कोश ऊँचा है, एक योजन विस्तृत है और एक कोश विस्तृत कर्णिकासे युक्त है ॥१९८॥ प्रत्येक प्रधान कमलके साथ परिवार रूपमें एक लाख चालीस हजार एक सौ सत्रह कमल और भी हैं ॥१९९॥ तथा एक-एक महाह्रदके सम्मुख सीता, सीतोदा नदियोंके तटपर कांचनकूट नामके दश-दश पर्वत हैं ॥२००॥ इन पर्वतोंकी ऊँचाई सौ योजन है तथा विस्तार मूलमें सौ योजन, मध्यमें पचहत्तर योजन और अग्रभागमें पचास योजन है ॥२०१॥ उन कांचनकूटोंमें प्रत्येकके ऊपर एक-एक अकृत्रिम शुभ जिन-प्रतिमाएँ हैं जो निराधार हैं, मोक्ष मार्गको प्रकाशित करनेवाली हैं, पाँच सौ धनुष ऊँची हैं, मणिमयी, सुवर्णमयी तथा रत्नमयी हैं। एक-एक मेरुपर दो-दो सौ कूट हैं और पाँचों मेरुओंके एक हजार कूट प्रसिद्ध हैं ॥२०२-२०३॥ इन पर्वतोंके शिखरोंपर अनेक क्रीड़ागृह बने हुए हैं उनमें महाकान्तिके धारक कांचनक नामके देव सब ओर क्रीड़ा करते रहते हैं ॥२०४॥ मेरु पर्वतसे पूर्वकी ओर सीता नदीके उत्तर तटपर पद्मोत्तर और दक्षिण तटपर नीलवान् नामका कूट है ॥२०५॥ मेरु पर्वतसे दक्षिणकी ओर सीतोदा नदीके पूर्व तटपर स्वस्तिक और पश्चिम तटपर अंजनगिरि कूट है ॥२०६॥ इसी सीतोदा नदीके दक्षिण तटपर कुमुद कूट और उत्तर तटपर पलाश कूट है। ये दोनों ही कूट

---

१. नामानि म. । २. मिताः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात्तटेऽस्ति सीताया वतंसं कूटमुत्कटम् । रोचनाख्यं पुरस्तात्तु मेरोरुत्तरतश्च ते ॥२०८॥
भद्रशालवने भान्ति समान्येतानि काञ्चनैः । वसन्ति तेषु देवास्ते दिग्गजेन्द्रा इति श्रुताः ॥२०९॥
अपरोत्तरदिग्भागे मन्दराद् गन्धमादनः । ख्यातः काञ्चनकायोऽसौ सर्वतः पर्वतः स्थितः ॥२१०॥
मेरोः पूर्वोत्तराशायां माल्यवानिति विश्रुतः । वैडूर्यमयमूर्तिः [1]स्यात् प्रियं भाति स्वयंप्रभः ॥२११॥
मेरोः प्राग्दक्षिणाशायां सौमनस्यस्तु राजतः । विद्युत्प्रभोऽपरे कोणे तपनीयमयः स्थितः ॥२१२॥
ते नीलनिषधप्राप्तौ चतुःशतनिजोच्छ्रयाः । मेरुपर्वतसंप्राप्तौ प्रोक्ताः पञ्चशतोच्छ्रयाः ॥२१३॥
निजोच्छ्रितचतुर्भागैस्त्रोभयान्तावगाहनाः । देवोत्तरकुरुप्राप्तौ स्युः पञ्चशतविस्तृताः ॥२१४॥
सहस्राणि पुनस्त्रिंशन्नवाधिकशतद्वयम् । आयामः षट् कलाश्चैषां चतुर्णामपि वर्णितः ॥२१५॥
मेरोः प्रभृति कूटानि चतुर्ष्वपि यथाक्रमम् । सन्ति सप्त नवैतेषु पुनः सप्त [3]नवाद्रिषु ॥२१६॥
सिद्धायतनकूटं स्याद् गन्धमादननामकम् । तथोत्तरकुरुप्रख्यं गन्धमालिनिकाह्वयम् ॥२१७॥
कूटं च लोहिताक्षं च स्फुटिकानन्दनामनी । गन्धमादनशैलेषु सप्तैतानि भवन्ति तु ॥२१८॥
सिद्धाख्यं माल्यवत्कूटं तथोत्तरकुरूत्तिकम् । कच्छाकूटं विनिर्दिष्टं तथा सागरकं परम् ॥२१९॥
रजतं पूर्णभद्राख्यं सीताकूटं ततः परम् । कूटं हरिसहाभिख्यं नवमं माल्यवत्स्वपि ॥२२०॥
सिद्धं सौमनसाभिख्यं कूटं देवकुरुध्वनि । मङ्गलं विमलं चैव काञ्चनाख्यं विशिष्टकम् ॥२२१॥
सिद्धं विद्युत्प्रभाभिख्यं पुनर्देवकुरुश्रुति । पद्मकं तपनं चैव स्वस्तिकं च शतज्वलम् ॥२२२॥
सीतोदाकूटमन्यत्तु कूटं हरिसहश्रुति । विद्युत्प्रभेष्वशेषेषु नवैतानि भवन्ति तु ॥२२३॥

मेरुसे पश्चिम दिशामें माने गये हैं ॥२०७॥ सीता नदीके पश्चिम तटपर वतंस कूट और पूर्व तटपर रोचन नामका विशाल कूट है। ये दोनों कूट मेरु पर्वतसे उत्तरकी ओर हैं। ये समस्त कूट भद्रशाल वनमें सुशोभित हैं, कांचन कूटोंके समान हैं तथा इनमें दिग्गजेन्द्र नामके देव निवास करते हैं ॥२०८-२०९॥ मेरु पर्वतको पश्चिमोत्तर दिशामें गन्धमादन नामका प्रसिद्ध पर्वत है। यह पर्वत सब ओरसे सुवर्णमय है ॥२१०॥ मेरुकी पूर्वोत्तर दिशामें माल्यवान् नामका प्रसिद्ध पर्वत है। यह पर्वत वैडूर्यमणिमय है तथा स्वयं देदीप्यमान होता हुआ अतिशय प्रिय मालूम होता है ॥२११॥ मेरुकी पूर्व-दक्षिण दिशामें रजतमय सौमनस्य पर्वत और दक्षिण-पश्चिम कोणमें सुवर्णमय विद्युत्प्रभ नामका पर्वत है ॥२१२॥ ये चारों पर्वत नील और निषध पर्वतके समीप चार सौ योजन तथा मेरु पर्वतके समीप पाँच सौ योजन ऊँचे कहे गये हैं ॥२१३॥ इनकी गहराई अपनी ऊँचाईसे चतुर्थभाग है, तथा देवकुरु और उत्तरकुरुके समीप इनकी चौड़ाई पाँच सौ योजन है ॥२१४॥ इन चारोंकी लम्बाई तीस हजार दो सौ नौ योजन तथा छह कला प्रमाण कही गयी है ॥२१५॥ इन चारों पर्वतोंपर मेरु पर्वतसे लेकर अन्त तक क्रमसे सात, नौ, सात और नौ कूट हैं अर्थात् गन्धमादनपर सात, माल्यवान्पर नौ, सौमनस्यपर सात और विद्युत्प्रभपर नौ कूट हैं ॥२१६॥ १ सिद्धायतन कूट, २ गन्धमादन कूट, ३ उत्तरकुरु कूट, ४ गन्धमालिनिका कूट, ५ लोहिताक्ष कूट, ६ स्फटिक कूट और ७ आनन्द कूट ये सात कूट गन्धमादन पर्वतपर हैं ॥२१७-२१८॥ १ सिद्ध कूट, २ माल्यवत्कूट, ३ उत्तरकुरु कूट, ४ कच्छा कूट, ५ सागर कूट, ६ रजत कूट, ७ पूर्णभद्र कूट, ८ सीता कूट और ९ हरिसह कूट ये नौ कूट माल्यवान् पर्वतपर हैं ॥२१९-२२०॥ १ सिद्ध कूट, २ सौमनस कूट, ३ देवकुरु कूट, ४ मंगल कूट, ५ विमल कूट, ६ कांचन कूट और ७ विशिष्टक कूट ये सात कूट सौमनस्य पर्वतपर हैं ॥२२१॥ १ सिद्ध कूट, २ विद्युत्प्रभ कूट, ३ देवकुरु कूट, ४ पद्मक कूट, ५ तपन कूट, ६ स्वस्तिक कूट, ७ शतज्वल कूट, ८ सीतोदा कूट और ९ हरिसह कूट ये नौ कूट विद्युत्प्रभ पर्वत-

१. स प्रियं म. । २. -र्भागाः म. । ३. नवादिषु म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्छ्रायोऽपि हि सर्वेषां कूटानां च यथायथम्। आत्माधारावगाहस्य समानस्तु प्रभाषितः॥२२४
सिद्धायतनकूटेषु तेषु सर्वेषु ये गृहाः। सिद्धबिम्बसनाथास्ते विभ्राजन्ते यथायथम् ॥२२५॥
शेषोभयान्तकूटेषु रमन्ते व्यन्तरामराः। मध्ये च दिक्कुमार्यस्तु क्रीडागारेषु चारुषु ॥२२६॥
भोगङ्करा भोगवती सुभोगा भोगमालिनी। वत्समित्रा सुमित्राऽन्या वारिषेणा[2] चलावती ॥२२७॥
विदेहे चित्रकूटाख्यः पद्मकूटश्च पर्वतः। नलिनश्चैकशैलश्च नीलसीतान्तरायताः ॥२२८॥
पूर्वाद्यास्तु त्रिकूटश्च शैलो वैश्रवणोऽञ्जनः। आत्माञ्जनश्च सर्वेऽपि ते सीतानिषधस्पृशः ॥२२९॥
श्रद्धावान् सुप्रसिद्धोऽद्रिर्विजयावांस्तथैव च। आशीर्विषस्तदन्यस्तु सुखावह इतीरितः ॥२३०॥
विदेहेष्वपरेष्वेते चत्वारो देशभेदकाः। स्वायामेन प्रसिद्धेन सीतोदानिषधस्पृशः ॥२३१॥
चन्द्रसूर्यौ च मालास्तौ नागमालस्तथाचलः। मेघमालश्च ते मध्ये नीलसीतोदयोः स्थिताः ॥२३२॥
सरित्तटेषु चोच्छ्रायस्तेषां वक्षारभूभृताम्। शतानि पञ्चशेषं तु पूर्ववक्षारवर्णितम् ॥२३३॥
प्रत्येकं षोडशस्वेषु मूर्ध्नि कूटचतुष्टयम्। कुलाचलान्तकूटेषु दिक्कुमार्यो वसन्ति ताः ॥२३४॥
नदीसमीपकूटेषु जिनेन्द्रायतनानि तु। तथा मध्यमकूटेषु[3] व्यन्ताराक्रीडनालयाः ॥२३५॥
भद्रशालवनं मेरोः पूर्वापरदिगायतम्। नानाद्रुमलताकीर्णं वर्णनीयं यथाक्रमम् ॥२३६॥
आयामो मागयोस्तस्य द्वाविंशतिसहस्रकः। प्रत्येकं द्विशती सार्द्धा दक्षिणोत्तरविस्तृतिः ॥२३७॥

पर हैं ॥२२२-२२३॥ इन सब कूटोंकी ऊँचाई यथायोग्य अपनी-अपनी गहराईके समान कही गयी है ॥२२४॥ इन चारों पर्वतोंके सिद्धायतन कूटोंपर जो मन्दिर हैं वे श्री सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाओं-से सहित हैं तथा यथायोग्य सुशोभित हो रहे हैं ॥२२५॥ शेष तीन पर्वतोंके अन्तिम दो कूटोंमें व्यन्तर देव क्रीड़ा करते हैं और मध्यमें बने हुए सुन्दर क्रीड़ा-भवनोंमें दिक्कुमारी देवियाँ रमण करती हैं ॥२२६॥ चारों पर्वतोंके बीच-बीचके दो-दो कूट मिलकर आठ कूट होते हैं उनमें क्रमसे १ भोगंकरा, २ भोगवती, ३ सुभोगा, ४ भोगमालिनी, ५ वत्समित्रा, ६ सुमित्रा, ७ वारिषेणा और ८ अचलावती ये आठ देवियाँ क्रीड़ा करती हैं ॥२२७॥

विदेह क्षेत्रमें सोलह वक्षार गिरि हैं, उनमें १ चित्रकूट, २ पद्मकूट, ३ नलिन और ४ एकशैल ये चार पर्वत पूर्व विदेहमें हैं तथा नील पर्वत और सीता नदीके मध्य लम्बे हैं ॥२२८॥ १ त्रिकूट, २ वैश्रवण, ३ अंजन और ४ आत्मांजन ये चार भी पूर्व विदेहमें हैं तथा सीता नदी और निषध कुलाचलका स्पर्श करनेवाले हैं अर्थात् उनके मध्य लम्बे हैं ॥२२९॥ १ श्रद्धावान्, २ विजयावान्, ३ आशीर्विष और ४ सुखावह ये चार पश्चिम विदेह क्षेत्रमें हैं। ये चारों देशोंका भेद करनेवाले हैं और अपनी प्रसिद्ध लम्बाईसे सीतोदा नदी तथा निषध पर्वतका स्पर्श करनेवाले हैं ॥२३०-२३१॥ १ चन्द्रमाल, २ सूर्यमाल, ३ नागमाल और ४ मेघमाल ये चार पश्चिम विदेहक्षेत्रमें हैं तथा नील और सीतोदाके मध्यमें स्थित हैं ॥२३२॥ इन समस्त वक्षार पर्वतोंकी ऊँचाई नदी तटपर पाँच सौ योजनकी और अन्यत्र सब जगह पूर्व वर्णित वक्षारोंके समान चार सौ योजन है ॥२३३॥ इन सोलह वक्षार पर्वतोंमें प्रत्येकके शिखरपर चार-चार कूट हैं उनमें कुलाचलोंके समीपवर्ती कूटोंपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। नदीके समीपवर्ती कूटोंपर जिनेन्द्र भगवान्‌के चैत्यालय हैं और बीचके कूटोंपर व्यन्तर देवोंके क्रीडागृह बने हुए हैं ॥२३४-२३५॥

मेरुकी पूर्व-पश्चिम दिशामें लम्बा तथा नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त एक सुन्दर भद्रशाल वन है। यहाँ क्रमसे उसका वर्णन किया जाता है ॥२३६॥ उसकी पूर्व-पश्चिम भागकी लम्बाई बाईस हजार योजन और दक्षिण-उत्तर चौड़ाई ढाई सौ योजन है ॥२३७॥ वनके

---

१. सुवत्सान्या म.। २. बलाचिता म.। ३. व्यन्तराः क्रीडनालयाः म., क.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनात् पूर्वापरान्तस्था वेदिका योजनोच्छ्रितिः । क्रोशावगाहिनी ज्ञेया विस्तृता क्रोशयोर्द्वयम् ॥२३८॥
नीलाद् ग्राहवती सीतां वाहिनी ह्रदवत्यपि । पङ्कवत्यपि यान्तीमा वक्षाराभ्यन्तरे स्थिताः ॥२३९॥
नदी तप्तजला पूर्वा सीतामेवैति नैषधी । ततो मत्तजला नाम्ना तथोन्मत्तजलाऽपरा ॥२४०॥
क्षीरोदाऽन्या च सीतोदा स्रोतोऽन्तर्वाहिनी नदी । विशन्ति नैषधोत्पन्नाः सीतोदां सुमहानदीम् ॥२४१॥
तामुत्तरविदेहेषु पश्चिमा गन्धमादिनी । सा फेनमालिनी नीलात् संप्राप्ता चोर्मिमालिनी ॥२४२॥
नाम्ना विभङ्गनद्यस्ताः प्रमाणे रोह्यया समाः । तोरणेषु वसन्त्यासां संगमे दिक्कुमारिकाः ॥२४३॥
वक्षाराणां च तासां च मध्ये नद्योस्तटद्वये । स्युः पूर्वापरयोर्मेरोर्विदेहाश्चतुरष्टकाः ॥२४४॥
कच्छा सुकच्छा महाकच्छा चतुर्थी कच्छकावती । आवर्त्ता लाङ्गलावर्ता पुष्कला पुष्कलावती ॥२४५॥
अपराद्यास्त्वमी वेद्याः षट्खण्डा विषयाः स्थिताः । सीतानीलान्तराले स्युः प्रादक्षिण्येन वर्णिताः ॥२४६॥
वत्सा सुवत्सा महावत्सा चतुर्थी वत्सकावती । रम्या रम्यका रमणीयाष्टमी मङ्गलावती ॥२४७॥
पूर्वादयस्त्वमी वेद्या विषयाश्चक्रवर्तिनाम् । सीतानिषधयोर्मध्ये ध्यायता दक्षिणोत्तराः ॥२४८॥
पद्मा सुपद्मा महापद्मा चतुर्थी पद्मकावती । शङ्खा च नलिनी चैव कुमुदा सरिता तथा ॥२४९॥
पूर्वतः प्रभृति प्रोक्ताः दक्षिणोत्तरमायताः । अष्टाविमे निविष्टास्तु सीतोदानिषधान्तरे ॥२५०॥
वप्रा सुवप्रा महावप्रा चतुर्थी वप्रकावती । गन्धा चापि सुगन्धा च गन्धिला गन्धमालिनी ॥२५१॥
अपराद्यास्त्विमे प्रोक्ताः विषयाश्चक्रपाणिनाम्[1] । नीलसीतोदयोर्मध्ये निविष्टास्तावदायताः ॥२५२॥

पूर्व-पश्चिम भागमें एक वेदिका है। यह वेदिका एक योजन ऊँचो, एक कोश गहरी और दो कोश चौड़ी जानना चाहिए ॥२३८॥ १ ग्राहवती, २ ह्रदवती और ३ पंकवती ये तीन नदियाँ नील पर्वतसे निकलकर सीता नदीकी ओर जाती हैं तथा वक्षार पर्वतोंके मध्यमें स्थित हैं ॥२३९॥ १ तप्तजला, २ मत्तजला, ३ उन्मत्तजला ये तीन नदियाँ निषध पर्वतसे निकलकर सीता नदीकी ओर जाती हैं ॥२४०॥ १ क्षीरोदा, २ सीतोदा और ३ स्रोतोऽन्तर्वाहिनी ये तीन नदियाँ निषध पर्वतसे निकलकर सीतोदा नामक महानदीमें प्रवेश करती हैं ॥२४१॥ उत्तर विदेह क्षेत्रमें १ गन्धमादिनी, २ फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये तीन नदियाँ नीलाचलसे निकलकर सीतोदा नदीमें मिली हैं ॥२४२॥ ऊपर कही हुईं बारह नदियाँ विभंगा नदी कहलाती हैं। ये प्रमाणमें रोह्या नदीके समान हैं तथा इनके संगम स्थानोंमें जो तोरण द्वार हैं उनमें दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं ॥२४३॥

वक्षारगिरि और विभंगा नदियोंके मध्यमें सीता-सीतोदा नदियोंके दोनों तटोंपर मेरुकी पूर्व और पश्चिम दिशामें बत्तीस विदेह हैं ॥२४४॥ उनमें १ कक्षा, २ सुकच्छा, ३ महाकच्छा, ४ कच्छकावती, ५ आवर्ता, ६ लांगलावर्ता, ७ पुष्कला और ८ पुष्कलावती ये आठ देश पश्चिम विदेह क्षेत्रमें सीता नदी और नील कुलाचलके मध्य प्रदक्षिणा रूपसे स्थित हैं तथा प्रत्येक देशके छह खण्ड हैं ॥२४५-२४६॥ १ वत्सा, २ सुवत्सा, ३ महावत्सा, ४ वत्सकावती, ५ रम्या, ६ रम्यका, ७ रमणीया और ८ मंगलावती ये आठ देश पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदी और निषध पर्वतके मध्य स्थित हैं। ये चक्रवर्तियोंके देश हैं और दक्षिणोत्तर लम्बे हैं ॥२४७-२४८॥ १ पद्मा, २ सुपद्मा, ३ महापद्मा, ४ पद्मकावती, ५ शंखा, ६ नलिनी, ७ कुमुदा और ८ सरिता ये आठ देश पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीतोदा नदी और निषध पर्वतके मध्य स्थित हैं तथा दक्षिणोत्तर लम्बे हैं ॥२४९-२५०॥ १ वप्रा, २ सुवप्रा, ३ महावप्रा, ४ वप्रकावती, ५ गन्धा, ६ सुगन्धा, ७ गन्धिका और ८ गन्धमालिनी ये आठ देश पश्चिम विदेह क्षेत्रमें नील पर्वत और सीतोदा नदीके मध्य स्थित हैं तथा दक्षिणोत्तर लम्बे हैं। ये चक्रवर्तियोंके क्षेत्र कहे गये हैं अर्थात् इनमें चक्रवर्तियोंका निवास रहता

---

१. चक्रपाणिनामिति प्रयोगश्चिन्त्यः 'चक्रपाणीना' मिति भवितव्यम्, तत्र च कृते छन्दोभङ्गः स्यात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्रद्वितयं तेषां द्विशती च त्रयोदश । योजनाष्टमभागोना सा पूर्वापरविस्तृतिः ॥२५३॥
नदीविस्तारहीनस्य विदेहस्यार्धविस्तृतिः । आयामो देशवक्षारविभङ्गसरितामसौ ॥२५४॥
तद्देशविस्तरायामास्तन्मध्ये रजताद्रयः । द्वात्रिंशद्वारतेनामी समाना नवकूटकाः ॥२५५॥
श्रेण्योः स्युर्नगराण्येषां पञ्चपञ्चाशदेकशः । विद्याधराः वसन्त्येषु परे द्वीपद्वये यथा ॥२५६॥
क्षेमा क्षेमपुरी ख्याता रिष्टा रिष्टपुरी परा । खड्गा मञ्जूषया सार्द्धमौषधी पुण्डरीकिणी ॥२५७॥
कच्छादिषु यथासंख्यमष्टास्वष्टाविमाः पुरः । राजधान्यः समादिष्टाः शलाकापुरुषोद्भवाः ॥२५८॥
सुसीमा कुण्डलाभिख्या पुरी चान्या पराजिता । प्रभङ्करा चतुर्थी तु [1]पञ्चम्यङ्कावतीरिता ॥२५९॥
पद्मावती शुभाभिख्या साष्टमी रत्नसंचया । राजधान्यस्त्विमा मान्या वत्सादिषु यथाक्रमम् ॥२६०॥
तथैवाश्वपुरी ज्ञेया परा सिंहपुरीति च । महापुरी तथैवान्या विजया च पुरी पुनः ॥२६१॥
अरजा विरजा वासावशोका वीतशोकया । राजधान्यः प्रसिद्धास्ताः पद्मादिषु यथाक्रमम् ॥२६२॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चाऽपराजिता । [2]चक्रा खड्गा च वप्रादिष्वयोध्यावध्यया समम् ॥२६३॥
दक्षिणोत्तरतो दैर्घ्यात् पुर्यो द्वादशयोजनाः । नवयोजनविस्तारा हेमप्राकारतोरणाः ॥२६४॥
अल्पैः पञ्चशतैर्द्वारैर्बृहद्भिस्ताः सहस्रकैः । रत्नचित्रकपाटाढ्यैर्दर्भैः[3] सप्तशतैर्युताः ॥२६५॥
द्वादश स्युः सहस्राणि रथ्यानां तु यथायथम् । सहस्रं तु चतुष्काणां नगरीष्वक्षयात्मसु ॥२६६॥

है ॥२५१-२५२॥ इन सबका पूर्वापर विस्तार योजनके आठ भागोंमें-से एक भाग कम दो हजार दो सौ तेरह योजन है ॥२५३॥ समस्त विदेह क्षेत्रके विस्तारमें-से नदीका विस्तार घटा देनेपर जो शेष रहे उसका आधा भाग किया जाये। यही देश, वक्षारगिरि और विभंगा नदियोंकी लम्बाई है। भावार्थ—समस्त विदेह क्षेत्रका विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन चार कला है, उसमें सीता नदीका पाँच सौ योजनका विस्तार घटा देनेपर तैंतीस हजार एक सौ चौरासी योजन चार कलाका विस्तार शेष रहता है। इसका आधा करनेपर सोलह हजार पाँच सौ बानबे योजन दो कला क्षेत्र बचता है। यही कच्छा आदि देश वक्षार गिरि और विभंगा नदियोंकी लम्बाईका है ॥२५४॥ इन बत्तीस विदेहोंमें बत्तीस विजयार्ध पर्वत हैं। इनकी लम्बाई कच्छादि देशोंकी चौड़ाईके समान है अर्थात् ये कुलाचलसे लेकर नदी तक लम्बे हैं। प्रत्येक विजयार्धपर नौ-नौ कूट हैं और इन सबका वर्णन भरत क्षेत्रके विजयार्धके समान है ॥२५५॥ इन विजयार्धोंकी दो-दो श्रेणियाँ हैं, प्रत्येक श्रेणीमें पचपन-पचपन नगर हैं और उन नगरोंमें भरत तथा ऐरावत क्षेत्रके समान विद्याधर निवास करते हैं ॥२५६॥ १ क्षेमा, २ क्षेमपुरी, ३ रिष्टा, ४ रिष्टपुरी, ५ खड्गा, ६ मंजूषा, ७ औषधी और ८ पुण्डरीकिणी ये आठ नगरियाँ क्रमसे कच्छा आदि देशोंकी राजधानियाँ कही गयी हैं। इनमें शलाका पुरुषोंकी उत्पत्ति होती है ॥२५७-२५८॥ १ सुसीमा, २ कुण्डला, ३ अपराजिता, ४ प्रभंकरा, ५ अंकावती, ६ पद्मावती, ७ शुभा और ८ रत्नसंचया ये आठ क्रमसे वत्सा आदि देशोंकी राजधानियाँ जानना चाहिए ॥२५९-२६०॥ १ अश्वपुरी, २ सिंहपुरी, ३ महापुरी, ४ विजयापुरी, ५ अरजा, ६ विरजा, ७ अशोका और ८ वीतशोका ये आठ नगरियाँ क्रमसे पद्मा आदि देशोंकी राजधानियाँ प्रसिद्ध हैं ॥२६१-२६२॥ १ विजया, २ वैजयन्ती, ३ जयन्ती, ४ अपराजिता, ५ चक्रा, ६ खड्गा, ७ अयोध्या और ८ अवध्या ये आठ वप्रा आदि देशोंकी राजधानियाँ हैं। ये सभी नगरियाँ दक्षिणोत्तर दिशामें बारह योजन लम्बी हैं, पूर्व-पश्चिममें नौ योजन चौड़ी हैं, सुवर्णमयी कोट और तोरणोंसे युक्त हैं। रत्नमयी चित्र-विचित्र किवाड़ोंसे युक्त पाँच सौ छोटे और एक हजार बड़े दरवाजों तथा सात सौ झरोखोंसे सहित हैं ॥२६३-२६५॥ इन अविनाशी नगरियोंमें बारह हजार गलियाँ और एक हजार चौक हैं ॥२६६॥

१. पञ्चम्यङ्कवती म.। २. वक्रा म.। ३. गवाक्षैः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गङ्गासिन्धू प्रतिक्षेत्रं कच्छादौ नीलतः स्रुते[1] । सीतां प्रविशतोऽतीत्य विजयार्द्धगुहाद्वयम् ॥२६७॥
गिरिव्याससमायामे योजनाष्टकमुच्छ्रिते । गुहे द्वादशविस्तारे द्वे द्वे स्यातां गिरौ गिरौ ॥२६८॥
नद्यः षोडश गङ्गाद्याः समा भरतगङ्गया । ता रक्तारक्तवत्योस्तु तावन्त्यो निषधस्रुताः ॥२६९॥
निषधधान्नीलतस्तावत्संख्यास्तन्नामिकाः श्रुताः । नद्योऽपरविदेहेषु सीतोदां तु व्रजन्ति ताः ॥२७०॥
नाम्ना साधारणेनोक्तास्ता[2] एता रतिनिम्नगाः । चतुर्दशसहस्रैस्तु प्रत्येकं सरितां युताः ॥२७१॥
अशीतिश्चापि चत्वारि सहस्राणि कुरुद्वये । प्रत्येकं निम्नगा नद्योरर्धमर्धतटद्वये ॥२७२॥
पञ्चलक्षाः सहस्राणि द्वात्रिंशत्त्रिंशदष्टभिः । प्रत्येकमुभयोर्नद्यः सीतासीतोदयोर्युताः ॥२७३॥
दशलक्षाः चतुःषष्टिसहस्राण्यष्टसप्ततिः । सर्वा एवापगाः प्रोक्ता पूर्वापरविदेहयोः ॥२७४॥
चतुर्दशसहस्राणि प्रत्येकं सरितो मताः । गङ्गासिन्ध्वोः पतन्त्यस्ताः रक्तारक्तोदयोश्च ताः ॥२७५॥
रोह्यायां रोहितास्यायां सहस्राणि पतन्ति ताः । सुवर्णरूप्यकूलयोरष्टाविंशतिरेकशः ॥२७६॥
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि ता हरिद्धरिकान्तयोः । पतन्ति सिन्धवो यद्वत् सनारीनरकान्तयोः ॥२७७॥
संगताश्च समस्तास्ता गङ्गासिन्ध्वादिसिन्धवः । तिस्रो लक्षा नवत्या द्वे सहस्रे द्वादशापि च ॥२७८॥
स्युश्चतुर्दशलक्षास्तु वैदेह्यस्ताश्च संख्यया । षट्पञ्चाशत्सहस्राणि नवतिश्च समुद्रगाः ॥२७९॥
द्वीपेऽस्मिन् काञ्चनैस्तुल्या वैडूर्यमयमूर्त्तयः । चतुस्त्रिंशत्सुरैः सेव्या[3] वृषैर्वृषभपर्वताः ॥२८०॥
पूर्वापरविदेहान्ताः समुद्रतटसंगताः । देवारण्यवनाभोगाश्चत्वारः सरितोस्तटे ॥२८१॥

कच्छा आदि प्रत्येक क्षेत्रमें गंगा-सिन्धु नामकी दो नदियाँ हैं जो नील पर्वतसे निकलकर विजयार्ध पर्वतकी दोनों गुफाओंको उल्लंघन करती हुई सीता नदीमें प्रवेश करती हैं ॥२६७॥ प्रत्येक विजयार्ध पर्वतमें उसकी चौड़ाईके समान लम्बी, आठ योजन ऊँची और बारह योजन चौड़ी दो-दो गुफाएँ हैं ॥२६८॥ ये गंगा आदि सोलह नदियाँ, भरत क्षेत्रकी गंगा नदीके समान हैं। इसी प्रकार निषधाचलसे निकली हुई सोलह रक्ता, रक्तोदा नदियाँ भी ऐरावतकी रक्ता-रक्तोदाके समान हैं ॥२६९॥ पश्चिम विदेह क्षेत्रमें भी इसी प्रकार गंगा, सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नामकी सोलह-सोलह नदियाँ निषधाचल और नीलाचलसे निकलकर सीतोदा नदीकी ओर जाती हैं ॥२७०॥ समान नामसे जिनका कथन किया गया है ऐसी ये समस्त नदियाँ अत्यन्त प्रीतिको बढ़ानेवाली हैं तथा प्रत्येक नदियाँ चौदह हजार नदियोंसे युक्त हैं ॥२७१॥ सीता और सीतोदा नदियोंका परिवार देवकुरु और उत्तरकुरुमें चौरासी हजार नदियोंका है। दोनों नदियोंमें प्रत्येक नदीके तटसे व्यालीस हजार नदियोंका प्रवेश होता है ॥२७२॥ सीता, सीतोदा नामक उक्त नदियोंमें-से प्रत्येक नदीमें पाँच लाख बत्तीस हजार अड़तीस नदियाँ मिली हैं ॥२७३॥ पूर्व और पश्चिम विदेहमें इन समस्त नदियोंका प्रमाण दश लाख चौंसठ हजार अठहत्तर कहा गया है ॥२७४॥ गंगा, सिन्धु एवं रक्ता-रक्तोदा नदियोंमें प्रत्येकका परिवार चौदह-चौदह हजार नदियोंका है ॥२७५॥ रोह्या, रोहितास्या और सुवर्णकूला, रूप्यकूलामें प्रत्येकका अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार नदियोंका परिवार है ॥२७६॥ हरित्, हरिकान्ता और नारी, नरकान्तामें प्रत्येक नदीका परिवार छप्पन हजार नदियोंका है ॥२७७॥ विदेह क्षेत्रको छोड़ अन्य क्षेत्रोंकी गंगा, सिन्धु आदि नदियोंकी समस्त परिवार-नदियाँ मिलकर तीन लाख बानबे हजार बारह हैं ॥२७८॥ विदेह क्षेत्रकी समुद्र तक जानेवाली समस्त नदियोंकी संख्या चौदह लाख छप्पन हजार नब्बे है ॥२७९॥

जम्बू द्वीपमें कांचन कूटोंके समान वैडूर्य मणिमय तथा श्रेष्ठ देवोंके द्वारा सेवनीय चौंतीस वृषभाचल हैं ॥२८०॥ सीता और सीतोदा दोनों नदियोंके तटपर पूर्व-पश्चिम विदेहपर्यन्त लम्बे

१. निर्गते । श्रुते म. । २. एवाराति-म., क. । ३. प्रधानदेवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वाविंशति सहस्रे द्वे शतानि नव विस्तृताः । योजनानि पुनस्तेषां वेदिका भद्रशालवत् ॥२८२॥
विदेहक्षेत्रमध्यस्थः कुरुक्षेत्रद्वयावधिः । योजनानां सहस्राणि नवतिर्नव चोद्धृतः[1] ॥२८३॥
मेखलात्रयसंयुक्तः ख्यातो मेरुमहीधरः । ऊर्ध्वं चूलिकयोद्भासी सचत्वारिंशदुच्छ्रयः ॥२८४॥
सहस्रमवगाहोऽस्य सहस्राणि दशाऽत्र च । विष्कम्भो नवतिश्च स्याद् दशैकादशभागकाः ॥२८५॥
सैकाङ्किशत्सहस्राणि शतानि नव वै दश । योजनानि तथा भागौ साधिकौ परिधिर्गिरेः ॥२८६॥
तलात् सहस्रमुद्गत्य सहस्राणि दशोपरि । योजनानि स विष्कम्भो भूमौ भवति भूभृतः ॥२८७॥
सैकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शती विंशतिद्वयम् । योजनानि त्रयः क्रोशाः शते द्वादश दण्डकाः ॥२८८॥
हस्ताश्चयस्तथैव स्यादङ्गुलानि त्रयोदश । साधिकानि परिक्षेपो भद्रशालेऽद्रिगोचरः ॥२८९॥
गत्वा पञ्चशतीमूर्ध्वं मेखलायां तु नन्दनः । स्यात्पञ्चशतविष्कम्भं मन्दरं परितो वनम् ॥२९०॥
नव तत्र सहस्राणि शतानि नव षट्कलाः । चतुःपञ्चाशदप्यस्य विष्कम्भः पुष्कलो गिरेः ॥२९१॥
एकत्रिंशत्सहस्राणि तथा तत्र चतुःशती । गिरेर्बाह्यपरिक्षेपः साधिका नवसप्ततिः ॥२९२॥
स एव च सहस्रोनो विष्कम्भोऽभ्यन्तरः स्फुटः । नन्दने मन्दरस्य स्यात् परिक्षेपोऽपि वक्ष्यते ॥२९३॥
अष्टाविंशतिरेष स्यात् सहस्राणि शतत्रयम् । षोडशाग्राः कलाश्चाष्टौ परिधिः साधिका गिरेः ॥२९४॥
सहस्राणि द्विषष्टिं च गत्वा पञ्चशतीं ततः । नन्दनेन समानं तद् वनं सौमनसं भवेत् ॥२९५॥
चत्वारि च सहस्राणि शते द्वे च द्विसप्ततिः । अष्टौ भागाश्च विष्कम्भो बाह्यस्तत्र भवेद् गिरेः ॥२९६॥
परिक्षेपः पुनस्तस्य सहस्राणि त्रयोदश । शतं पञ्चतयं ज्ञेयमेकादश च षट् कलाः ॥२९७॥
बाह्यो यो गिरिविष्कम्भः सहस्रेण स वर्जितः । स्यादभ्यन्तरविष्कम्भस्तस्येति मुनयो विदुः ॥२९८॥

तथा समुद्र तटसे मिले हुए चार देवारण्य [दो देवारण्य, दो भूतारण्य] वनके प्रदेश हैं ॥२८१॥ इन वनोंकी वेदिकाएँ भद्रशाल वनके समान बाईस हजार दो सौ नौ योजन विस्तृत हैं ॥२८२॥ विदेह क्षेत्रके मध्यमें प्रसिद्ध मेरु पर्वत स्थित है, उसकी सीमा देवकुरु और उत्तरकुरु तक फैली हुई है, वह निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है, तीन मेखलाओंसे युक्त है, चालीस योजन ऊँची चूलिकासे सुशोभित है, उसकी गहराई एक हजार योजन है और पृथिवी तलपर चौड़ाई दश हजार नब्बे योजन तथा एक योजनके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण है ॥२८३-२८५॥ उसकी परिधि इकतीस हजार नौ सौ दश योजन तथा कुछ अधिक दो भाग प्रमाण है ॥२८६॥ तल भागसे एक हजार योजन ऊपर चलकर पृथिवीपर इस पर्वतकी चौड़ाई दश हजार योजन है ॥२८७॥ भद्रशाल वनके समीप इसकी परिधि इकतीस हजार छह सौ बाईस योजन तीन कोश बारह धनुष तीन हाथ और कुछ अधिक तेरह अंगुल है ॥२८८-२८९॥ भद्रशाल वनसे पाँच सौ योजन ऊपर चलकर मेरु पर्वतकी चारों ओर मेखलापर पाँच सौ योजन चौड़ा दूसरा नन्दन वन है ॥२९०॥ वहाँ इस पर्वतकी चौड़ाई नौ हजार नौ सौ चौवन योजन छह कला है ॥२९१॥ नन्दन वनके समीप इस पर्वतकी बाह्य परिधि इकतीस हजार चार सौ उन्यासी योजनसे कुछ अधिक है ॥२९२॥ भीतरी चौड़ाई आठ हजार नौ सौ चौवन योजन छह कला है। अब इसकी अभ्यन्तर परिधि कहते हैं ॥२९३॥ नन्दन वनके समीप मेरुकी अभ्यन्तर परिधि अट्ठाईस हजार तीन सौ सोलह योजन तथा कुछ अधिक आठ कला है ॥२९४॥ नन्दन वनसे साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर चलकर तीसरा सौमनस वन है। यह वन नन्दन वनके ही समान है ॥२९५॥ सौमनस वनमें पर्वतकी बाह्य चौड़ाई चार हजार दो सौ बहत्तर योजन आठ कला है ॥२९६॥ और बाह्य परिधि तेरह हजार पाँच सौ ग्यारह योजन छह कला है ॥२९७॥ पर्वतकी जो बाह्य चौड़ाई बतलायी है उसमें एक हजार योजन कम करनेपर भीतरी चौड़ाई निकलती है ऐसा मुनिगण कहते हैं ॥२९८॥

१. चोच्छ्रिता म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईषदूनपरिक्षेपः सहस्राणि दश स्मृतः । त्रिंशत्येकोनपञ्चाशत्त्रयश्चैकादशांशकाः ॥२९९॥
स्यात् षट्त्रिंशत्सहस्राणि गत्वादौ पाण्डुकं वनम् । चतुर्नवतिसंयुक्ता तद्विस्तारश्चतुःशती ॥३००॥
द्विषष्टियोजनान्यत्र सहस्रत्रितयं शतम् । गव्यूतं साधिकं मेरोः परिधिः परिकीर्तितः ॥३०१॥
चत्वारिंशत्समुद्विद्धा मूर्ध्नि वैडूर्यचूलिका । मूलमध्यान्तविस्तारैर्द्वादशाष्टचतुर्विधा ॥३०२॥
सप्तत्रिंशद् भवेन्मूले मध्ये स्यात् पञ्चविंशतिः । चूलिकायाः परिक्षेपो द्वादशाग्रे च साधिकाः ॥३०३॥
पार्थिवाः षट्परिक्षेपाश्चूलिकायाः प्रभृत्यधः । एकादशप्रकारोऽन्यः सप्तमोऽपि वनैः कृतः ॥३०४॥
लोहिताक्षमयः पूर्वः पद्मरागमयः परः । तथा वज्रमयः सर्वरत्नो वैडूर्यविग्रहः ॥३०५॥
हरितालमयः षष्ठस्तेषां प्रत्येकमिष्यते । पञ्चशत्यपि विस्तारः सहस्राण्यपि षोडश ॥३०६॥
भद्रशालवनं भूमौ मानुषोत्तरमेव च । सदेवनागभूतानां रमणानि वनानि च ॥३०७॥
परिक्षेपो वनं चान्यन्नन्दनं चोपनन्दनम् । वनं सौमनसं चान्यदुपसौमनसं तथा ॥३०८॥
पाण्डुकं दशमं प्रोक्तमुपपाण्डुकमन्त्यजम् । मेरोरेकादश ज्ञेयाः परिक्षेपाः परीक्षकैः ॥३०९॥
देशेष्वेकादशानां तु पूरणेषु हि मन्दरः । मौलविष्कम्भभागानामेकैकेन प्रहीयते ॥३१०॥
सर्वत्राङ्गुलमानादौ यावद् योजनमानकम् । हानिवृद्धी इति ग्राह्ये मेरुविस्तारगोचरे ॥३११॥

पर्वतकी भीतरी परिधि दश हजार तीन सौ उनचास योजन तथा एक योजनके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण है ॥२९९॥ यहाँसे छत्तीस हजार योजन ऊपर चलकर पर्वतके ऊपर चौथा पाण्डुक वन है, यहाँ पर्वत चार सौ चौरानबे योजन चौड़ा है ॥३००॥ यहाँ पर्वतकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ योजन कुछ अधिक एक कोश है ॥३०१॥ मेरु पर्वतके मस्तकपर चालीस योजन ऊँची वैडूर्य मणिमयी चूलिका है। यह चूलिका मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन और अन्तमें चार योजन चौड़ी है ॥३०२॥ चूलिकाकी परिधि मूलमें सैंतीस योजन, मध्यमें पचीस योजन और अग्र भागमें कुछ अधिक बारह योजन है ॥३०३॥ मेरु पर्वतकी चूलिकासे लेकर नीचे तक १ लोहिताक्ष-मय, २ पद्मरागमय, ३ वज्रमय, ४ सर्वरत्नमय, ५ वैडूर्यमय और ६ हरितालमय ये छह पृथिवीकाय रूप परिधियाँ हैं। इन परिधियोंमें प्रत्येकका विस्तार सोलह हजार पाँच सौ योजन है। *इनके सिवाय वनोंके द्वारा की हुई एक सातवीं परिधि और भी है। तथा उसके नीचे लिखे अनुसार ग्यारह भाग परीक्षकोंके द्वारा जानने योग्य हैं—१ भद्रशाल वन, २ मानुषोत्तर, ३ देवरमण, ४ नागरमण, ५ भूतरमण, ६ नन्दन, ७ उपनन्दन, ८ सौमनस, ९ उपसौमनस, १० पाण्डुक और ११ उपपाण्डुक। इनमें-से पृथिवीपर जो भद्रशाल वन है उसमें भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण ये पाँच वन हैं। उससे ऊपर चलकर नन्दन वनमें नन्दन और उपनन्दन, सौमनस वनमें सौमनस और उपसौमनस तथा पाण्डुक वनमें पाण्डुक और उपपाण्डुक वन हैं ॥३०४-३०९॥ इन भागोंमें यदि ग्यारह भाग मेरुपर चढ़ा जाये तो वहाँ मूल भागकी चौड़ाईसे एक भाग कम चौड़ाई हो जाती है। इसी प्रकार सब जगह योजन पर्यन्त अंगुल हाथ आदि प्रमाणोंमें भी मेरुके विस्तारमें हानि तथा वृद्धि समझना चाहिए। भावार्थ—ऊपर जो ग्यारह भाग बतलाये हैं उनमें प्रथम भागसे यदि ग्यारह योजन ऊँचा चढ़ा जाये तो मेरुकी चौड़ाई मूलभागकी चौड़ाईसे एक योजन कम हो जाती है और यदि ग्यारह हाथ या ग्यारह अंगुल चढ़ा जाये तो वहाँकी चौड़ाई मूलभागकी चौड़ाईसे एक हाथ या एक अंगुल कम हो जाती है। इसी प्रकार यदि ऊपरसे नीचेकी ओर आया

---

* मेरु पर्वत निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है। उसके सोलह हजार पाँच सौ योजन २ विस्तारवाले ६ खण्ड चूलिकासे लेकर नीचे तक हैं। उनकी रचना लोहिताक्ष आदि मणियोंकी है इसलिए उनके नाम भी उन्हींके अनुसार प्रतिपादन किये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकादश सहस्राणि योजनानि तु मन्दरः । समरुन्द्रौ नन्दनादूर्ध्वं वनात्सौमनसात्तथा ॥३१२॥
पञ्चमेषु प्रदेशेषु चूलिकैकेन हीयते । तथाऽङ्गुलादिमानेषु योजनान्तेष्वयं क्रमः ॥३१३॥
साधिकैकादशांशाभ्यां लक्षस्यास्युत्तरं शतम् । दैर्घ्यं योजनलक्षस्य मेरोः पार्श्वभुजाद्वयम् ॥३१४॥
पण्याख्यं दिशि पूर्वस्यां दक्षिणस्यां च चारणम् । गन्धर्वमपरस्यां स्यादुत्तरस्यां च चित्रकम् ॥३१५॥
भवनं नन्दने तेषां त्रिंशत्स्यान्मुखविस्तृतिः । पञ्चाशद्योजनोच्छ्रायः परिधिर्नवतिः स्मृता ॥३१६॥
पण्याख्ये रमते सोमश्चारणाख्ये यमस्तथा । गान्धर्वे वरुणश्चित्रे कुबेरः सपरिच्छदः ॥३१७॥
चत्वारोऽपि ते दिक्षु लोकपालाः पृथक् पृथक् । सार्द्धाभिस्तु त्रिकोटीभिः स्त्रीणां क्रीडन्ति संततम् ॥३१८॥
वज्रं वज्रप्रभं नाम्ना सुवर्णभवनं भवेत् । सुवर्णप्रममप्येकं दिक्षु सौमनसे वने ॥३१९॥
भवनानां परिक्षेपमुखव्यासोच्छ्रया इह । त एवार्धीकृता बोध्या नन्दनस्थितसद्मनाम् ॥३२०॥
लोकपालास्त एवात्र देवाः सोमयमादयः । क्रीडन्ति स्वेच्छया स्त्रीभिस्तावतीभिर्यथायथम् ॥३२१॥
लोहिताञ्जनहारिद्रपाण्डुराख्यानि पाण्डुके । वेश्मान्यूर्ध्वस्वनामानि तावत्कन्यानि तान्यपि ॥३२२॥
स्वयंप्रभविमानेशः सोमोऽसौ पूर्वदिक्प्रभुः । रक्तवाहननेपथ्यः सार्द्धपल्यद्वयस्थितिः ॥३२३॥
स षट्षष्टिसहस्राणां विमानानां प्रभावताम् । षट्षष्टिषट्शतानां च षड्लक्षाणां च भोजकः ॥३२४॥
तथाऽरिष्टविमानेशो यमो दक्षिणदिक्प्रभुः । सार्द्धपल्यद्वयायुष्कः कृष्णनेपथ्यवाहनः ॥३२५॥

जाये तो वहाँ उसकी चौड़ाई वृद्धिगत हो जाती है ॥३१०-३११॥ परन्तु विशेषता यह है कि यदि नन्दन वन और सौमनस वनसे ग्यारह योजन ऊँचा चढ़ा जाये तो वहाँकी चौड़ाई मूलभागकी चौड़ाईसे कम नहीं होती किन्तु बराबर रही आती है ॥३१२॥ चूलिकासे पाँच योजन ऊपर चढ़ने-पर एक योजन चौड़ाई कम हो जाती है और पाँच अंगुल अथवा पाँच हाथ चढ़नेपर एक अंगुल वा एक हाथ चौड़ाई घट जाती है ॥३१३॥ एक लाख योजन विस्तारवाले मेरु पर्वतकी दोनों पार्श्व भुजाओंकी लम्बाई एक लाख सौ योजन तथा ग्यारह भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥३१४॥ नन्दन वनकी पूर्व दिशामें पण्य नामका, दक्षिण दिशामें चारण नामका, पश्चिम दिशामें गन्धर्व नामका और उत्तर दिशामें चित्रक नामका भवन है। इन भवनोंकी चौड़ाई तीस योजन, ऊँचाई पचास योजन और परिधि नब्बे योजन है ॥३१५-३१६॥ इनमें पण्य नामक भवनमें सोम, चारण नामक भवनमें यम, गान्धर्व नामक भवनमें वरुण और चित्रक नामक भवनमें कुबेर सपरिवार क्रीड़ा करता है ॥३१७॥ ये चारों लोकपाल पृथक्-पृथक् दिशाओंमें साढ़े तीन करोड़ साढ़े तीन करोड़ स्त्रियोंके साथ निरन्तर क्रीड़ा करते हैं ॥३१८॥

सौमनस वनकी चारों दिशाओंमें क्रमसे वज्र, वज्रप्रभ, सुवर्णभवन और सुवर्णप्रभ नामके चार भवन हैं ॥३१९॥ इन भवनोंकी परिधि तथा अग्रभागकी चौड़ाई और ऊँचाई नन्दनवनके भवनोंसे आधी समझनी चाहिए ॥३२०॥ इन भवनोंमें भी वे ही सोम, यम आदि लोकपाल अपनी इच्छानुसार उतनी ही स्त्रियोंके साथ यथायोग्य क्रीड़ा करते हैं ॥३२१॥ पाण्डुक वनकी चारों दिशाओंमें लोहित, अंजन, हारिद्र और पाण्डु नामके चार भवन हैं। इन भवनोंकी ऊँचाई आदि सौमनस वनके भवनोंके समान है तथा इनमें वे ही लोकपाल उतनी ही स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥३२२॥ इन लोकपालोंमें सोम नामका लोकपाल पूर्व दिशाका स्वामी तथा स्वयम्प्रभ विमानका अधिपति है। इसके वाहन तथा वस्त्राभूषण आदि सब लाल रंगके हैं और इसकी आयु अढ़ाई पल्य प्रमाण है। यह छह लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ देदीप्यमान भवनोंका भोग करनेवाला है अर्थात् इतने भवनोंका यह स्वामी है ॥३२३-३२४॥ यम दक्षिण दिशाका राजा तथा अरिष्ट

१. वारणं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलप्रभविमानेशो वरुणो वारुणीप्रभुः । तथैव पीतनेपथ्यः त्रिभागोनत्रिपल्यकः ॥३२६॥
वल्गुप्रभविमानेशः कौबेरीप्रभुरिष्यते । कुबेरः शुक्लनेपथ्यः सत्रिपल्योपमस्थितिः ॥३२७॥
मेरोरुत्तरपूर्वस्यां नन्दने बलभद्रके । कूटे काञ्चनकैस्तुल्ये कूटनाम्नामरो भवेत् ॥३२८॥
नन्दनं मन्दरं कूटं निषधं हिमवच्च तत् । रजतं रजकं नाम्ना तथा सागरचित्रकम् ॥३२९॥
वज्रकूटं विनिर्दिष्टमष्टमं तु मनीषिभिः । दिशं दिशं प्रति द्वे द्वे स्यातां कूटे यथाक्रमम् ॥३३०॥
उच्छ्रायो मूलविस्तारस्तेषां पञ्चशतानि तु । तदर्धं मस्तके मध्ये त्रिशतो पञ्चसप्ततिः ॥३३१॥
दिक्कुमार्यस्तु कूटेषु तेष्विमाः प्रतिपादिताः । मेघङ्करा तु पूर्वा स्यात् तथा मेघवती परा ॥३३२॥
ततः परं प्रसिद्धान्या सुमेघा मेघमालिनी । तोयधारा विचित्रा स्यात् पुष्पमाला त्वनिन्दिता ॥३३३॥
पूर्वदक्षिणदिग्भागे वाप्यो मेरुमहीभृतः । पूर्वा तूत्पलगुल्माख्या नलिना चोत्पला परा ॥३३४॥
उत्पलोज्ज्वलसंज्ञा स्यात् तासां पञ्चाशदायतिः । अवगाहो दश ज्ञेयो विस्तारः पञ्चविंशतिः ॥३३५॥
आसां मध्ये च शक्रस्य प्रासादः समवस्थितः । योजनान्यस्य गव्यूत्या सैकत्रिंशत्तु विस्तृतिः ॥३३६॥
उच्छ्रायः पुनरुद्दिष्टो द्वाषष्टिश्चार्द्धयोजनः । अवगाहः प्रमाणेन प्रासादस्यार्द्धयोजनः ॥३३७॥
सिंहासनं सुरेन्द्रस्य तस्य मध्येऽवतिष्ठते । स्वदिक्षु लोकपालानामासनानि भवन्ति च ॥३३८॥
तस्यैवोत्तरपूर्वस्यामपरोत्तरतोऽपि च । तत्र सामानिकानां तु भान्ति भद्रासनानि तु ॥३३९॥
पुरोऽप्यष्टाग्रदेवीनां तत्र भद्रासनानि हि । सासनाः परिषण्मुख्याः पूर्वदक्षिणतस्तथा ॥३४०॥
मध्यमा दक्षिणस्यां स्याद् बाह्याश्चापरदक्षिणा । त्रायस्त्रिंशाश्च तत्र स्युः पश्चात्सैन्यमहत्तराः ॥३४१॥
चतसृष्वात्मरक्षाणां दिक्षु भद्रासनान्यपि । आसेव्यतेऽत्र तैरिन्द्रः पूर्वाभिमुखमास्थितः ॥३४२॥

विमानका स्वामी है। इसके वाहन तथा वस्त्राभूषण आदि काले रंगके हैं और इसकी आयु ढाई पल्य प्रमाण है ॥३२५॥ वरुण पश्चिम दिशाका राजा है तथा जलप्रभ विमानका स्वामी है। उसकी वेषभूषा पीले रंगकी है और वह तीन भाग कम तीन पल्यकी आयुवाला है ॥३२६॥ कुबेर उत्तर दिशाका राज्य तथा वल्गुप्रभ विमानका स्वामी है। इसकी वेषभूषा शुक्ल रंगकी है तथा आयु तीन पल्य प्रमाण है ॥३२७॥ मेरुकी पूर्वोत्तर दिशामें नन्दनवनके बीच कांचन कूटके समान एक बलभद्रक नामका कूट है और उसमें कूट नामधारी बलभद्रक देवका निवास है ॥३२८॥ वहींपर १ नन्दन, २ मन्दर, ३ निषध, ४ हिमवत्, ५ रजत, ६ रजक, ७ सागर और ८ चित्रक नामके आठ कूट और हैं। ये प्रत्येक दिशामें क्रमसे दो-दो हैं ॥३२९-३३०॥ इन कूटोंकी ऊँचाई पाँच सौ योजन है तथा मूल भागकी चौड़ाई पांच सौ योजन, मध्यभागकी तीन सौ पचहत्तर योजन और ऊर्ध्व-भागकी ढाई सौ योजन है ॥३३१॥ इन कूटोंमें क्रमसे १ मेघंकरा, २ मेघवती, ३ सुमेघा, ४ मेघमालिनी, ५ तोयधारा, ६ विचित्रा, ७ पुष्पमाला और ८ अनिन्दिता ये आठ प्रसिद्ध दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं ॥३३२-३३३॥ मेरु पर्वतकी पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) दिशामें १ उत्पलगुल्मा, २ नलिना, ३ उत्पला और ४ उत्पलोज्ज्वला ये चार वापिकाएँ हैं। इनकी लम्बाई पचास योजन, गहराई दश योजन और चौड़ाई पचीस योजन है ॥३३४-३३५॥ इन वापिकाओंके मध्यमें इन्द्रका भवन स्थित है। इस भवनकी चौड़ाई इकतीस योजन एक कोश, ऊँचाई साढ़े बासठ योजन और गहराई अर्धयोजन प्रमाण है ॥३३६-३३७॥ उस भवनके मध्यमें इन्द्रका सिंहासन है तथा चारों दिशाओंमें चार लोकपालोंके आसन हैं ॥३३८॥ इन्द्रासनसे उत्तर-पूर्व तथा पश्चिमोत्तर दिशामें सामानिक देवोंके भद्रासन हैं ॥३३९॥ आगे आठ पट्टरानियोंके भद्रासन हैं, पूर्व-दक्षिण दिशामें सभाके मुख्य-मुख्य अधिकारी देव बैठते हैं, दक्षिणमें मध्यम अधिकारी, दक्षिण-पश्चिममें सामान्य अधिकारी एवं त्रायस्त्रिंश देव तथा उनके पीछे सैन्यके महत्तर देव आसन ग्रहण करते हैं ॥३४०-३४१॥ चार दिशाओंमें आत्मरक्ष देवोंके भद्रासन हैं। इन्द्र अपने आसनपर पूर्वाभिमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भृङ्गाभृङ्गनिभाप्यन्या कज्जला कज्जलप्रभा । पुष्करिण्यश्च वापीनां समास्त्वपरदक्षिणाः ॥३४३॥
श्रीकान्ता प्रथमा वापी श्रीचन्द्रा चापरोत्तरा । तथा श्रीमहितैशानमोग्या श्रीनिलया ततः ॥३४४॥
तथा चोत्तरपूर्वस्यां वापी तु नलिनाभिधा । ततो नलिनगुल्मापि कुमुदा कुमुदप्रभा ॥३४५॥
प्रासादादिकमत्राऽपि पूर्ववत्सर्वमिष्यते । यथैतन्नन्दने वेद्यं तथा सौमनसे वने ॥३४६॥
दिशि चोत्तरपूर्वस्यां पाण्डुके पाण्डुका शिला । पाण्डुकम्बलया सार्द्धं रक्तया रक्तकम्बला ॥३४७॥
विदिक्षु सक्रमा हैमी राजती तापनीयिका । लोहिताक्षमयी चार्द्धचन्द्राकाराश्च ताः शिलाः ॥३४८॥
अष्टोच्छ्रयाः शतायामाः पञ्चाशद्विस्तृताश्च ताः । यत्रार्हन्तोऽभिषिच्यन्ते जम्बूद्वीपसमुद्भवाः ॥३४९॥
रक्तापाण्डुकयोर्दैर्घ्यं दक्षिणोत्तरतः स्थितम् । तत्पूर्वापरतः शेषशिलयोस्तु विशालयोः ॥३५०॥
चापं पञ्चशतोच्छ्रायं मूलव्यासोऽपि यस्य सः । प्रत्येकं तन्महारत्नं तत्र सिंहासनत्रयम् ॥३५१॥
ऐन्द्रं दक्षिणमेतेषामैशानं तूत्तरं मतम् । मध्यस्थितं तु जैनेन्द्रं प्राङ्मुखानि च तान्यपि ॥३५२॥
भारतापरवैदेहा ऐरावतविदेहजाः । जिना बाल्ये सुरस्नाप्यास्तासु तेषु यथाक्रमम्[1] ॥३५३॥

बैठता है और आत्मरक्ष उसकी सेवा करते हैं ॥३४२॥ पश्चिम-दक्षिण (नैऋत्य) दिशामें उक्त वापिकाओंके समान १ भृंगा, २ भृंगनिभा, ३ कज्जला और ४ कज्जलप्रभा ये चार वापिकाएँ हैं ॥३४३॥ पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशामें १ श्रीकान्ता, २ श्रीचन्द्रा, ३ श्रीमहिता और ४ श्रीनिलया ये चार वापिकाएँ हैं ।* इनमें ऐशानेन्द्र क्रीड़ा करता है ॥३४४॥ उत्तर-पूर्व (ऐशान) दिशामें १ नलिना, २ नलिनगुल्मा, ३ कुमुदा और ४ कुमुदप्रभा ये चार वापिकाएँ हैं। इनमें भवन आदिकी समस्त रचना पूर्ववत् जाननी चाहिए। जिस प्रकार नन्दन वनमें इन सबकी रचना है उसी प्रकार सौमनस वनमें भी जानना चाहिए ॥३४५-३४६॥

पाण्डुक वनकी उत्तर-पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे १ पाण्डुक, २ पाण्डुकम्बला, ३ रक्ता और ४ रक्तकम्बला ये चार शिलाएँ हैं। ये शिलाएँ विदिशाओंमें हैं तथा क्रमसे सुवर्णमयी, रजतमयी, सन्तप्त स्वर्णमयी और लोहिताक्ष मणिमयी हैं। एवं इनका अर्धचन्द्रके समान आकार है ॥३४७-३४८॥ ये शिलाएँ आठ योजन ऊँची, सौ योजन लम्बी और पचास योजन चौड़ी हैं तथा इनपर जम्बू द्वीपमें उत्पन्न हुए तीर्थंकरोंका अभिषेक होता है ॥३४९॥ इनमें रक्ता और पाण्डुक शिलाकी लम्बाई दक्षिणोत्तर दिशामें है तथा रक्ता और रक्तकम्बलाकी लम्बाई पूर्व-पश्चिम दिशामें है ॥३५०॥ उन शिलाओंपर रत्नमयी तीन-तीन सिंहासन हैं जो पाँच सौ धनुष ऊँचे तथा उतने ही चौड़े हैं ॥३५१॥ तीन सिंहासनोंमें दक्षिण सिंहासन सौधर्मेन्द्रका, उत्तर सिंहासन ऐशानेन्द्रका तथा मध्य स्थित सिंहासन जिनेन्द्र देवका है। इन सब सिंहासनोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर होता है। भावार्थ—मध्यके सिंहासनपर श्री जिनेन्द्र देव विराजमान होते हैं और दक्षिण तथा उत्तरके सिंहासनोंपर क्रमसे सौधर्मेन्द्र और ऐशानेन्द्र खड़े होकर उनका अभिषेक करते हैं ॥३५२॥ उन पाण्डुक आदि शिलाओंके सिंहासनोंपर क्रमसे भरत, पश्चिम विदेह, ऐरावत और पूर्व विदेह क्षेत्रमें

---

१. ईसाण दिसाभागे भरह जिणिंदाण दिव्वदेहाणं ।
पंडुक सिलातले तह जम्मण महिमा समुद्दिट्ठा ॥१४८॥
अवर विदेहाण तहा वरपंडुयकंबलम्मि धूमदिसे ।
वररत्तकंबलम्मि दु णेरदि एरावदाणं तु ॥१४९॥
वाऊदिसे रत्तसिला पुव्वविदेहाण जिणवरिंदाणं ।
जम्मण महिमा मेरुप्पदाहिणेणं तु गंतूणं ॥१५०॥ ज. प्र. ४ उद्देश्य ।

* नैऋत्य और आग्नेय दिशाकी आठ वापिकाओंमें सौधर्म तथा वायव्य और ऐशान दिशाकी वापिकाओंमें ऐशानेन्द्रके भवन हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाण्डुके सन्ति चत्वारो महादिक्षु जिनालयाः । सर्वरत्नमयी[1] दिव्या नित्या ह्यकृतकत्वतः ॥३५४॥
पञ्चविंशतिरायामः सार्द्धाः द्वादश विस्तृतिः । अर्द्धक्रोशोऽवगाहः स्यादुच्छ्रायोऽष्टादश त्रिपाद् ॥३५५॥
द्वारस्य चोच्छ्रयस्तेषां चतुर्योजनसंमितः । द्वे तु विस्तृतिरस्यार्द्धमणुद्वारद्वयस्य हि ॥३५६॥
वने सौमनसे तेषां तदेव द्विगुणं भवेत् । कुलवक्षारशैलेषु मानं सौमनसोदितम् ॥३५७॥
नन्दने भद्रशाले च जिनायतनगोचरम् । प्रत्येकं द्विगुणं मानं तद् यत्सौमनसे वने ॥३५८॥
विजयार्द्धेषु सर्वेषु सिद्धायतनगोचरम् । मानं तदेव बोद्धव्यं विजयार्द्धे भरते तु यत् ॥३५९॥
अष्टायामो द्विविस्तारः सर्वेषु[2] चतुरुच्छ्रितः । [3]देवच्छन्दोऽवगाढश्च गव्यूतिस्तेषु वेश्मसु ॥३६०॥
शुम्भद्रत्नमहास्तम्भशातकुम्भात्ममित्तिभिः । चन्द्रादित्योत्पतत्पक्षिमृगयुग्माद्यलंकृतः ॥३६१॥
रत्नकाञ्चननिर्माणाः पञ्चचापशतोच्छ्रिताः । अष्टोत्तरशतं तत्र जिनानां प्रतिमा मताः ॥३६२॥
नागयक्षयुगे तासां प्रत्येकं सप्रकीर्णके[4] । सनत्कुमारसर्वाह्ण[5]निर्वृत्तिश्रुतमूर्तिभिः ॥३६३॥

उत्पन्न हुए तीर्थंकर बाल्यकालमें देवोंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—भरत क्षेत्रके तीर्थंकरोंका पाण्डुक शिलापर, पश्चिम विदेह क्षेत्रके तीर्थंकरोंका रक्तापर और पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंका रक्तकम्बला शिलापर जन्माभिषेक होता है ॥३५३॥

पाण्डुक वनकी चारों महादिशाओंमें चार जिनालय हैं जो सर्वरत्नमय हैं, दिव्य हैं तथा अकृत्रिम होनेसे नित्य हैं ॥३५४॥ इनकी पचीस योजन लम्बाई, साढ़े बारह योजन चौड़ाई, आधा कोश गहराई और पौने उन्नीस योजन ऊँचाई है ॥३५५॥ प्रत्येक मन्दिरमें एक बड़ा तथा आजू-बाजूमें दो लघु द्वार हैं। इनमें बड़े द्वारकी ऊँचाई चार योजन और चौड़ाई दो योजन है। तथा लघु द्वारोंकी ऊँचाई और चौड़ाई इससे आधी है ॥३५६॥ पाण्डुक वनके समान सौमनस वनकी चारों दिशाओंमें भी चार जिनालय हैं और उनके द्वारोंकी लम्बाई-चौड़ाई आदि पाण्डुक वनके चैत्यालयोंसे दूनी है। कुलाचल तथा वक्षार गिरियोंपर जो जिनालय हैं उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि भी सौमनस वनके चैत्यालयोंके समान कही गयी है ॥३५७॥ इसी प्रकार नन्दन वन और भद्रशाल वनमें भी चार-चार जिनालय हैं उनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई आदिका प्रमाण सौमनस वनके जिनालयोंसे दूना है ॥३५८॥ समस्त विजयार्ध पर्वतोंपर जो सिद्धायतन-जिनमन्दिर हैं उनका प्रमाण वही जानना चाहिए जो कि भरत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्धके जिन-मन्दिरोंका है ॥३५९॥ उन समस्त जिनालयोंमें आठ योजन लम्बा, दो योजन चौड़ा, चार योजन ऊँचा और एक कोश गहरा देवच्छन्द नामका एक गर्भगृह है ॥३६०॥ वह गर्भगृह, देदीप्यमान रत्नोंसे बने हुए विशाल स्तम्भों, सुवर्णमयी दीवालों तथा उनमें खिचे हुए चन्द्र, सूर्य, उड़ते हुए पक्षी एवं हरिण-हरिणियोंके जोड़ोंसे अलंकृत है ॥३६१॥ उस गर्भगृहमें सुवर्ण तथा रत्नोंसे निर्मित पाँच सौ धनुष ऊँची एक सौ आठ जिन-प्रतिमाएँ विद्यमान हैं ॥३६२॥ उन प्रतिमाओंके समीप चमर लिये हुए नागकुमार और

१. सर्वरत्नमहादिव्या म.। २. ततुरुच्छ्रितः म.। ३. त्रिलोकप्रज्ञप्तौ देवच्छन्दस्य प्रमाणं भिन्नप्रकारं वर्तते—वसहीऐ गब्भगिहे देवच्छन्दो दुजोयणच्छेहो। इगिजोयणवित्थारो चउजोयण दीहसंजुत्तो ॥१८५५॥
सोलस कोसुच्छेहं समचउरस्सं तदद्धवित्थारं।
लोयविणिच्छायकत्ता देवच्छन्दं परूवेई ॥१८६६॥ (पाठान्तरम्)
४. सचामरे। ५. सदृशे म.। सर्वाणि ग., ङ., ख. सर्वाण क.।
सिरि सुददेवीण तहा सव्वाह्णं सणक्कुमार जक्खाणं।
रूवाणि पत्तेकं पडि वररयणाह रइदाणि ॥१८८१॥ —त्रै. प्र.
सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण सणक्कुमार जक्खाणं।
रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदि ॥९८८॥ —त्रिलोकसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भृङ्गारकलशादर्शपात्रीशंखाः समुद्गकाः । पालिकाधूपनीदीपकूर्चाः पाटलिकादयः ॥३६४॥
अष्टोत्तरशतं तेऽपि कंसतालनकादयः । परिवारोऽत्र विज्ञेयः प्रतिमानां यथायथम् ॥३६५॥
गवाक्षगेहजालानि मुक्ताजालानि भान्ति वै । मणिविद्रुमरूपाब्जकिंकिणीजालकानि च ॥३६६॥
षट् च चत्वारि च द्वे च मूले मध्ये च मस्तके । विस्तृतश्चतुरुच्छ्रायः सौवर्णः क्रोशगाहकः ॥३६७॥
अष्टोच्छ्रायश्चतुर्व्यासश्चतुस्तोरणदिङ्मुखः । प्राकारः प्रतिवेश्म स्यात् पञ्चाशत्तुङ्गगोपुरः ॥३६८॥
सिंहहंसगजाम्भोजदुकूलवृषभध्वजैः । मयूरगरुडाकीर्णश्चक्रमालामहाध्वजैः ॥३६९॥
दशार्द्धवर्णमासङ्ख्यैर्दशभेदैर्दिशो दश । साशीतिकसहस्रान्तैर्भान्ति पल्लविता इव ॥३७०॥
उदग्रो मण्डपोऽप्यग्रे ततः प्रेक्षागृहं बृहत् । स्तूपाश्चैत्यद्रुमाश्चान्ये पर्यङ्कप्रतिमोज्ज्वलाः ॥३७१॥
मत्स्यकूर्मविमुक्तश्च प्रसन्नसलिलः शुभः । दिशि नन्दो ह्रदः प्राच्यां सिद्धायतनतो भवेत् ॥३७२॥
[1]वज्रमूलः सवैडूर्यचूलिको मणिभिश्चितः । विचित्राश्चर्यसंकीर्णः स्वर्णमध्यः सुरालयः ॥३७३॥
मेरुश्चैव सुमेरुश्च महामेरुः सुदर्शनः । मन्दरः शैलराजश्च वसन्तः प्रियदर्शनः ॥३७४॥
रत्नोच्चयो दिशामादिर्लोकनाभिर्मनोरमः । लोकमध्यो दिशामन्त्यो दिशामुत्तर एव च ॥३७५॥
सूर्याचरणविख्यातिः सूर्यावर्तः स्वयंप्रभः । इत्थं सुरगिरिश्चेति लब्धवर्णैः स वर्णितः ॥३७६॥
इति व्यावर्णितं द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः । पर्यन्तावयवत्वेन सास्यैव जगती स्थिता ॥३७७॥
मूले द्वादश मध्येऽष्टौ चत्वार्यग्रे च विस्तृता । अष्टोच्छ्रयाऽवगाढा तु योजनार्द्धमधो भुवः ॥३७८॥

यक्षोंके युगल खड़े हुए हैं तथा समस्त प्रतिमाएँ सनत्कुमार और सर्वाह्ण यक्ष तथा निर्वृत्ति और श्रुत देवी की मूर्तियोंसे युक्त हैं ॥३६३॥ झारी, कलश, दर्पण, पात्री, शंख, सुप्रतिष्ठक, ध्वजा, धूपनी, दीप, कूर्च, पाटलिका आदि तथा झाँझ-मंजीरा आदि एक सौ आठ-एक सौ आठ उपकरण उन प्रतिमाओंके परिवारस्वरूप जानना चाहिए अर्थात् ये सब उनके समीप यथायोग्य विद्यमान रहते हैं ॥३६४-३६५॥ उन जिनालयोंमें झरोखे, गृहजाली, मोतियोंकी झालर, रतन तथा मूँगारूप कमल और छोटी-छोटी घण्टियोंके समूह सुशोभित रहते हैं ॥३६६॥ प्रत्येक जिनमन्दिरमें एक-एक प्राकार—कोट है जो मूलमें छह योजन, मध्यमें चार योजन और मस्तकपर दो योजन चौड़ा है। चार योजन ऊँचा है, एक कोश गहरा है तथा सुवर्ण निर्मित है ॥३६७॥ इसकी चारों दिशाओंमें आठ योजन ऊँचे, तथा चार योजन चौड़े चार तोरण द्वार हैं और पचास योजन ऊँचा इसका गोपुर है ॥३६८॥ सिंह, हंस, गज, कमल, वस्त्र, वृषभ, मयूर, गरुड़, चक्र और मालाके चिह्नोंसे सुशोभित दश प्रकारकी पंचवर्णी महाध्वजाओंसे उन चैत्यालयोंकी दशों दिशाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो लहलहाते हुए नूतन पत्तोंसे ही युक्त हों। वे ध्वजाएँ एक-एक जातिकी एक सौ आठ-एक सौ आठ तथा दशों दिशाओंकी मिलाकर एक हजार अस्सी होती हैं ॥३६९-३७०॥ चैत्यालयोंके आगे विशाल सभामण्डप, उसके आगे लम्बा-चौड़ा प्रेक्षा-गृह, उसके आगे स्तूप और स्तूपोंके आगे पद्मासनसे विराजमान प्रतिमाओंसे सुशोभित चैत्यवृक्ष हैं ॥३७१॥ जिनालयोंसे पूर्व दिशामें मच्छ तथा कछुआ आदि जल-जन्तुओंसे रहित, एवं स्वच्छ जलसे भरा हुआ नन्द नामका सरोवर है ॥३७२॥ वज्रमूल, सवैडूर्यचूलिक, मणिचित, विचित्राश्चर्यकीर्ण, स्वर्णमध्य, सुरालय, मेरु, सुमेरु, महामेरु, सुदर्शन, मन्दर, शैलराज, वसन्त, प्रियदर्शन, रत्नोच्चय, दिशामादि, लोकनाभि, मनोरम, लोकमध्य, दिशामन्त्य, दिशामुत्तर, सूर्याचरण, सूर्यावर्त, स्वयम्प्रभ और सुरगिरि····इस प्रकार विद्वानोंने अनेक नामोंके द्वारा सुमेरु पर्वतका वर्णन किया है ॥३७३-३७६॥

इस प्रकारसे वर्णित जम्बू द्वीपको चारों ओरसे जगती घेरे हुए है। यह जगती इसी जम्बू द्वीपका अन्तिम अवयव—भाग है ॥३७७॥ वह मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन,

---

१. मेरुपर्वतस्य पर्यायनामानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वरत्नात्ममध्या सा वैडूर्यमयमस्तका । मूले वज्रमयी भासा भासयन्ती दिशः स्थिता ॥३७९॥
पञ्च चापशतव्यासमूलाग्रे चापि वेदिका । गव्यूतिद्वितयोच्छ्रायाः जगत्या मध्यमाश्रिता ॥३८०॥
वेदिकाभ्यन्तरे कान्तं देवारण्यं वनं बहिः । सत्सौवर्णशिलापट्टं वापी प्रासादशोभितम् ॥३८१॥
धनुःशतं श्रुतं सार्द्धं विस्तृताश्च शतद्वयम् । न्यूनमध्योत्तमा वाप्यो गाधाः स्वं स्वं दशांशकम् ॥३८२॥
पञ्चाशच्चापविस्ताराः शतचापसमायताः । पञ्चसप्ततिमुच्चैस्तु प्रासादास्तत्र चाल्पकाः ॥३८३॥
षट् चापविस्तृतान्येषां द्वादशोच्छ्रायवन्ति च । चत्वारि चापगाढानि द्वाराणि लघुवेश्मनाम् ॥३८४॥
द्विगुणास्त्रिगुणाश्च स्युर्व्यासायामोच्छ्रयैरतः । मध्यमाश्चोत्तमास्तेषां द्विर्द्विर्द्वारावगाहनम् ॥३८५॥
मालावलीकदल्याद्याः प्रेक्षागृहसभागृहाः । वीणागर्भलताचित्रप्रसाधनमहागृहाः ॥३८६॥
मोहनास्थानसंज्ञाश्च रम्या रत्नमया गृहाः । सर्वतस्तत्र शोभन्ते व्यन्तरामरसेविताः ॥३८७॥
[1]हंसक्रौञ्चासनैर्मुण्डैर्मृगेन्द्रमकरासनैः । स्फाटिकैरुन्नतैर्नम्रैः प्रबालगरुडासनैः ॥३८८॥
दीर्घस्वस्तिकवृत्तैस्तैर्विपुलेन्द्रासनैरपि । गन्धासनैश्च रत्नाढ्यैर्युक्ताः सुरमनोरमैः ॥३८९॥
विजयं [2]वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् । द्वाराण्यस्यां जगत्यां स्युः प्राच्यादौ दिक्चतुष्टये ॥३९०॥
अष्टोच्छ्रायं चतुर्व्यासं नानारत्नांशुरञ्जितम् । द्वारमेकैकमत्र स्याद् भास्वद्वज्रकवाटकम् ॥३९१॥
दश सप्तशतो चान्या सहस्राणि च सप्ततिः । त्रयः क्रोशाश्चतुर्विंशाश्चतुर्दशशती युगैः ॥३९२॥

और अग्रभागमें चार योजन चौड़ी है, आठ योजन ऊँची है तथा पृथिवीके नीचे आधा योजन गहरी है ॥३७८॥ उसका मूल भाग वज्रमय है, मध्य भाग सब प्रकारके रत्नोंसे निर्मित है और मस्तक—अग्रभाग वैडूर्य मणियोंका बना है। वह जगती अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको देदीप्यमान करती हुई स्थित है ॥३७९॥ जगतीके मध्यमें एक वेदिका है जो मूल और अग्र भागमें पाँच सौ धनुष चौड़ी है तथा दो कोश ऊँची है ॥३८०॥ वेदिकाके आभ्यन्तर तथा बाह्य—दोनों भागोंमें सुवर्णमय उत्तम शिलापट्टोंसे युक्त, एवं वापिकाओं और भवनोंसे सुशोभित देवारण्य नामका सुन्दर वन है ॥३८१॥ इनमें निम्न श्रेणीकी वापियाँ सौ धनुष, मध्यम श्रेणीकी डेढ़ सौ धनुष और उत्तम श्रेणीकी दो सौ धनुष चौड़ी हैं। इन सबकी गहराई अपनी-अपनी चौड़ाईके दशवें भाग हैं ॥३८२॥ देवारण्य वनमें जो लघु प्रासाद हैं वे पचास धनुष चौड़े, सौ धनुष लम्बे और पचहत्तर धनुष ऊँचे हैं ॥३८३॥ इन प्रासादोंके द्वार छह धनुष चौड़े, बारह धनुष ऊँचे और चार धनुष गहरे हैं ॥३८४॥ मध्यम और उत्तम प्रासादों तथा उनके द्वारोंकी लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई लघु प्रासादोंसे क्रमशः दूनी और तिगुनी है। किन्तु द्वारोंकी गहराई दूनी-दूनी है ॥३८५॥ उस वनमें मालाओंकी पंक्ति कदली आदि वृक्ष, प्रेक्षागृह, सभागृह, वीणागृह, गर्भगृह, लतागृह, चित्रगृह, प्रसाधनगृह तथा मोहना स्थान नामके अनेक रत्नमयी सुन्दर-सुन्दर गृह सब ओर सुशोभित हैं। ये सब स्थान व्यन्तर देवोंके द्वारा सेवित हैं ॥३८६-३८७॥ ये भवन देवोंके मनको हर्षित करनेवाले रत्नखचित हंसासन, क्रौंचासन, मुण्डासन, मृगेन्द्रासन, मकरासन, प्रबालासन, गरुडासन, विशाल इन्द्रासन और गन्धासन आदि अनेक आसनोंसे युक्त हैं। ये आसन स्फटिक मणिके बने हैं, इनमें कितने ही आसन ऊँचे हैं, कितने ही नीचे हैं, कितने ही लम्बे हैं, कितने ही स्वस्तिकके समान हैं और कितने ही गोल हैं ॥३८८-३८९॥ जगतीकी पूर्व आदि दिशाओंमें क्रमसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार द्वार हैं ॥३९०॥ इनमें प्रत्येक द्वार आठ योजन ऊँचा, चार योजन चौड़ा, नाना रत्नोंकी किरणोंसे अनुरंजित और वज्रमयी देदीप्यमान किवाड़ोंसे युक्त है ॥३९१॥ जगतीके अभ्यन्तर भागमें उन द्वारोंकी अन्तरव्याका प्रमाण सत्तर हजार सात सौ दश

१. आसनानां नामानि । २. विजयन्तं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हस्तास्त्रयोऽङ्गुलानि स्यादेकविंशतिरेकशः । तेषां दिशान्तरज्यासौ द्वाराणां तु प्रमाणतः ॥३९३॥
अस्या ज्यायाः सहस्राणि सप्ततिर्नव चोदितम् । सह षड्भिश्च पञ्चाशद् गव्यूतित्रितयं तथा ॥३९४॥
धनुःसहस्रमेकं च पुनः पञ्चशतानि तु । द्वात्रिंशच्च धनुःपृष्ठमङ्गुलानां च सप्तकम् ॥३९५॥
चतुर्योजनहीनं तु तदेव परिनिश्चितम् । द्वाराणामन्तरं तेषामन्तरज्ञैः परस्परम् ॥३९६॥
संख्येयद्वीपपर्यन्तो जम्बूद्वीपसमोऽपरः । विजयस्य पुरं तत्र पूर्वस्यां दिशि शोभते ॥३९७॥
तद् द्वादशसहस्राणि विस्तृतं वेदिकायुतम् । चतुस्तोरणसंयुक्तं रुचिरं सर्वतोऽद्भुतम् ॥३९८॥
साष्टभागं त्रिकं चाग्रे मूले तत्तु चतुर्गुणम् । तत्प्राकारस्य विस्तारस्तस्य गाहोऽर्द्धयोजनम् ॥३९९॥
प्राकारस्योच्छ्रयस्तस्य सप्तत्रिंशत्तथार्धकम् । गोपुराणि चतुर्दिक्षु प्रत्येकं पञ्चविंशतिः ॥४००॥
एकत्रिंशत्सगव्यूतिविस्तारो गोपुरस्य च । उच्छ्रायो द्विगुणस्तस्माद् गाहः स्यादर्धयोजनम् ॥४०१॥
भूमिभिः सप्तदशभिः प्रासादा गोपुरेषु तु । सर्वरत्नसमाकीर्णा जाम्बूनदमयाश्च ते ॥४०२॥
गोपुराणां तु मध्ये स्यादौपपादिकालेणकम् । गव्यूतिवहलं व्यासः शतानि द्वादशास्य च ॥४०३॥
पञ्चचापशतव्यासा गव्यूतिद्वयमुच्छ्रिता । चतुस्तोरणसंयुक्ता वेदिका तस्य सर्वतः ॥४०४॥
गोपुरेण समो मानैः प्रासादः पुरमध्यगः । अष्टोच्छ्रायश्चतुर्व्यासो द्वारो विजयसेवितः ॥४०५॥
सवज्रद्वारवंशश्च हेमरत्नकपाटकः । चतुर्दिक्षु पुनस्तस्य प्रासादास्तत्समानकाः ॥४०६॥
तेषामन्ये महादिक्षु चत्वारस्तत्समानकाः । द्वितीयमण्डले ज्ञेयाः प्रासादा रत्नभास्वराः ॥४०७॥

योजन तीन कोश, चौदह सौ चौबीस धनुष, तीन हाथ और इक्कीस अंगुल है ॥३९२-३९३॥ इस ज्याके धनुष पृष्ठका परिमाण, उन्यासी हजार छप्पन योजन, तीन कोश, एक हजार पाँच सौ बत्तीस धनुष तथा सात अंगुल है ॥३९४-३९५॥ अन्तरके जाननेवाले आचार्योंने उन द्वारोंका पारस्परिक अन्तर धनुःपृष्ठके प्रमाणसे चार योजन कम निश्चित किया है ॥३९६॥

संख्यात द्वीपोंके अनन्तर जम्बू द्वीपके समान एक दूसरा जम्बू द्वीप है उसकी पूर्व दिशामें विजय द्वारके रक्षक विजय देवका नगर सुशोभित है ॥३९७॥ वेदिकासे युक्त वह नगर बारह योजन चौड़ा है, चारों दिशाओंके चार तोरणोंसे विभूषित, सब ओरसे सुन्दर और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है ॥३९८॥

उस नगरके चारों ओर एक प्राकार है, उसका विस्तार अग्र भागमें एक धनुषके आठ भागोंमें तीन भाग तथा मूलमें उससे चौगुना है। इस प्राकारकी गहराई आधा योजन है ॥३९९॥ ऊँचाई साढ़े सैंतीस योजन है और इसकी प्रत्येक दिशामें पचीस-पचीस गोपुर हैं ॥४००॥ प्रत्येक गोपुरकी ऊँचाई इकतीस योजन एक कोश है, चौड़ाई उससे दूनी है और गहराई आधा योजन प्रमाण है ॥४०१॥ उन गोपुरोंपर सत्रह-सत्रह खण्डके भवन बने हुए हैं। ये भवन सब प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त तथा स्वर्णमय हैं ॥४०२॥ गोपुरोंके मध्यमें देवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है जो एक कोश मोटा और बारह योजन चौड़ा है ॥४०३॥ उस उत्पत्ति स्थानके चारों ओर एक वेदिका है जो पाँच सौ धनुष चौड़ी, दो कोश ऊँची और चार तोरणोंसे युक्त है ॥४०४॥

उस नगरके मध्यमें एक विशाल भवन है जो प्रमाणमें गोपुरके समान है। और उसका दरवाजा आठ योजन ऊँचा, चार योजन चौड़ा तथा विजय नामक देवके द्वारा सेवित है ॥४०५॥ उस भवनके द्वारका तोरण हीरेका बना है तथा स्वर्ण और रत्नमय उसके किवाड़ हैं। उसकी चारों दिशाओंमें उसीके समान विस्तारवाले और भी अनेक भवन बने हुए हैं ॥४०६॥ दूसरे मण्डलमें उन भवनोंकी चारों दिशाओंमें उन्हींके समान विस्तारवाले, रत्नोंके

१. देवीनामुत्पादस्थानम् । २. तत्स्वामी देवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वमानार्द्धमानाश्च तृतीये मण्डले स्थिताः । तत्समानाश्चतुर्थे तु प्रत्येकं दिक्चतुष्टये ॥४०८॥
चतुर्थेभ्योऽर्द्धहीनाश्च पञ्चमे मण्डले स्थिताः । षष्ठे तु तत्समानैस्ते प्रत्येकं दिक्चतुष्टये ॥४०९॥
लेणवेदिकया तुल्या वेदिका मण्डलद्वये । अर्धार्धमाना सा वेद्या मण्डलस्य द्वये द्वये ॥४१०॥
प्रासादे विजयस्यात्र सिंहासनमनुत्तरम् । सचामरसितच्छत्रं तत्र पूर्वमुखोऽमरः ॥४११॥
उत्तरस्यां सहस्राणि षट् सामानिकसंज्ञिनः । [1]विदिशोश्च पुरः षट् स्युरग्रदेव्यश्च [2]सासनाः ॥४१२॥
आसन्नष्टौ सहस्राणि परिषत्पूर्वदक्षिणा । मध्यमा दश[3] बोधव्या दक्षिणस्यां दिशि स्थिताः ॥४१३॥
द्वादशैव सहस्राणि बाह्या साऽपरदक्षिणा । आसनेष्वपरस्यां च सप्तसैन्यमहत्तराः ॥४१४॥
अष्टादश सहस्राणि चतुर्दिक्ष्वात्मरक्षकाः । भद्रासनानि तेषां च दिक्षु तावन्ति तासु च ॥४१५॥
अष्टादश सहस्राणि देवाश्च परिवारिकाः । विजयः सेव्यमा[4]नस्तैः पल्यं जीवति[5] साधिकम् ॥४१६॥
विजयादुत्तराशायां सुधर्माख्या तु तत्सभा । दीर्घा षड् विस्तृता त्रीणि नवोच्चैः क्रोशगाहिनी ॥४१७॥
ततोऽप्युत्तरदिग्भागे तावन्मानो जिनालयः । अपरोत्तरतश्चास्मादुपपार्श्वा सभा भवेत् ॥४१८॥
अभिषेकसभा तत्प्रागलङ्कारसभाप्यतः । व्यवसायसभा तस्मात् संसमानाः सुधर्मया ॥४१९॥
पञ्चैव च सहस्राणि चत्वारोऽपि शतानि च । सप्तषष्टिश्च ते सर्वे प्रासादा विजयास्पदे ॥४२०॥
बहिर्विजयपुर्यास्तु पञ्चविंशतियोजनीम् । गत्वा वनानि चत्वारि स्युः प्राच्या दिक्चतुष्टये ॥४२१॥

देदीप्यमान भवन बने हुए हैं ॥४०७॥ तीसरे मण्डलमें भी इसी प्रकार भवनोंकी रचना है परन्तु उनका प्रमाण पूर्व प्रमाणसे आधा है। चौथे मण्डलकी चारों दिशाओंमें जो भवन-रचना है वह तीसरे मण्डलकी भवन-रचनाके समान है ॥४०८॥ पाँचवें मण्डलमें जो भवन हैं वे चौथे मण्डलके भवनोंसे अर्ध प्रमाण हैं और छठे मण्डलके भवन पाँचवें मण्डलके भवनोंके समान हैं ॥४०९॥ आदिके दो मण्डलोंमें उत्पत्ति स्थानकी वेदिकाके तुल्य वेदिका है और उसके आगे दो-दो मण्डलोंकी वेदिकाएँ पूर्व-पूर्व वेदिकाके प्रमाणसे आधी-आधी विस्तारवाली जानना चाहिए ॥४१०॥

बीचके भवनमें चमर और सफेद छत्रोंसे युक्त विजयदेवका उत्तम सिंहासन है। उसपर वह विजयदेव पूर्वाभिमुख होकर बैठता है ॥४११॥ उसकी उत्तर दिशामें छह हजार सामानिक देव बैठते हैं। तथा आगे और दो दिशाओंमें छह पट्टदेवियाँ आसन ग्रहण करती हैं ॥४१२॥ पूर्व-दक्षिण—आग्नेय दिशामें आठ हजार उत्तम पारिषद देव बैठते हैं। मध्यम परिषद्के दश हजार देव दक्षिण दिशामें स्थित होते हैं। बाह्य परिषद्के बारह हजार देव, पश्चिम-दक्षिण—नैऋत्य दिशामें आसनारूढ़ होते हैं और सात सेनाओंके महत्तर देव पश्चिम दिशामें आसन ग्रहण करते हैं ॥४१३-४१४॥ चारों दिशाओंमें अठारह हजार अंग-रक्षक रहते हैं और चारों दिशाओंमें उतने ही उनके भद्रासन हैं ॥४१५॥ विजयदेवके अठारह हजार परिवार देव हैं। इन सबके द्वारा सेवित होता हुआ वह कुछ अधिक एक पल्य तक जीवित रहता है ॥४१६॥ विजयदेवके भवनसे उत्तर दिशामें एक सुधर्मा नामकी सभा है जो छह योजन लम्बी, तीन योजन चौड़ी, नौ योजन ऊँची और एक कोश गहरी है ॥४१७॥ सुधर्मा सभासे उत्तर दिशामें एक जिनालय है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई आदिका विस्तार सुधर्मा सभाके समान है। पश्चिमोत्तर दिशामें उपपार्श्व सभा है ॥४१८॥ उसके आगे अभिषेक सभा, उसके आगे अलंकार सभा, और उसके आगे व्यवसाय सभा है। ये सब सभाएँ सुधर्मा सभाके समान हैं ॥४१९॥ विजयदेवके नगरमें सब मिलाकर पाँच हजार चार सौ सड़सठ भवन हैं ॥४२०॥

विजयदेवके नगरसे बाहर पचीस योजन चलकर पूर्वादि दिशाओंमें चार वन

१. विदिशोऽस्य म.। २. आसनैः सह विद्यमाना सासनाः म.। विदिशि षट् महादेवीनामासनानि। ३. दशसहस्राणि। ४. सेव्यमानैस्तैः म.। ५. जीवन्ति म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशोकवनमादौ च सप्तपर्णवनं ततः । स्याच्चम्पकवनं नाम्ना तथा चूतवनं ततः ॥४२२॥
योजनानां सहस्राणि द्वादशायाम इष्यते । शतानि पञ्चविस्तारास्तेषां मध्ये तु पादपाः ॥४२३॥
अशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकश्चूतपादपः । जम्बूपीठार्द्धमानाश्च पीठा जम्ब्वर्द्धमानकाः ॥४२४॥
चतस्रः प्रतिमास्तेषु चतुर्दिक्षु यथायथम् । अशोकादिसुरैरर्च्या जिनानां रत्नमूर्तयः ॥४२५॥
वनस्योत्तरपूर्वस्यामशोकपुरमत्र च । मानेन विजयस्येव प्रासादोऽशोकनामकः ॥४२६॥
सप्तपर्णपुरं पूर्वदक्षिणस्यां वनस्य तु । सप्तपर्णपुरस्यात्र प्रासादः पूर्वमानकः ॥४२७॥
दक्षिणापरदिग्भागे चम्पकस्य पुरं वनात् । अपरोत्तरदिग्भागे पुरं चूतस्य च ॥४२८॥
वैजयन्तादयो देवा विजयस्य समाश्रयः । दक्षिणादिपुराधीशाः स्वालयायुःपरिच्छदैः ॥४२९॥
योजनानां तु लक्षे द्वे विस्तीर्णो लवणार्णवः । परिक्षिप्य स्थितो द्वीपं परिखेव सवेदिकः ॥४३०॥
लक्षाः पञ्चदशाशीत्या सहस्रं च शतं तथा । त्रिंशन्नव च देशोना परिधिर्लवणाम्बुधेः ॥४३१॥
अष्टादश सहस्राणि कोट्या नवशतान्यपि । त्रिसप्ततिश्च निश्चेया लक्षाः षट्षष्टिरेव च ॥४३२॥
सहस्राणि च पञ्चाशन्नव तानि च षट्शती । गणितस्य पदं वेद्यं प्रकीर्णं लवणार्णवे ॥४३३॥
दशैवोपरि मूले च सहस्राणि दश स्मृतः । सहस्रमवगाढोऽधो ध्रुवाण्येकादशोच्छ्रितः ॥४३४॥
तटान्तात्पञ्चनवतिं देशान् गत्वाऽवगाहते । देशमेकमधश्चैवमङ्गुलादि सयोजनम् ॥४३५॥
स गत्वा पञ्चनवतिं देशान् देशांश्च षोडश । उच्छ्रितोऽङ्गुलहस्तादीन् योजनानि च सागरः ॥४३६॥

हैं ॥४२१॥ उनमें पहला अशोकवन, दूसरा सप्तपर्णवन, तीसरा चम्पकवन और चौथा आम्रवन है ॥४२२॥ ये वन बारह योजन लम्बे और पाँच सौ योजन चौड़े हैं। इन वनोंके मध्यमें क्रमसे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आमके प्रधान वृक्ष हैं। इन वृक्षोंकी पोठिका जम्बू वृक्षकी पीठिकासे आधी है तथा इनका निजका विस्तार जम्बू वृक्षसे आधा है ॥४२३-४२४॥ उन चारों वनोंकी चारों दिशाओंमें यथायोग्य अशोकादि देवोंके द्वारा पूजित जिनेन्द्र देवकी रत्नमयी चार प्रतिमाएँ हैं ॥४२५॥ अशोक वनकी उत्तर-पूर्व दिशामें अशोकपुर नामका नगर है इसमें अशोक नामक देवका भवन है जिसका विस्तार विजयदेवके भवनके समान है ॥४२६॥ सप्तपर्ण वनकी पूर्व-दक्षिण दिशामें सप्तपर्णपुर है उसमें पूर्व प्रमाणको धारण करनेवाला सप्तपर्ण देवका भवन है ॥४२७॥ चम्पक वनकी दक्षिण-पश्चिम दिशामें चम्पक देवका चम्पकपुर और आम्रवनकी पश्चिमोत्तर दिशामें आम्रदेवका आम्र नगर है ॥४२८॥ वैजयन्त आदि तीन देव दक्षिणादि दिशाओंमें बने हुए नगरोंके स्वामी हैं तथा अपने भवन वायु और परिवार आदिकी अपेक्षा विजयदेवके समान हैं ॥४२९॥ इस प्रकार जम्बू द्वीपका वर्णन किया। अब लवणसमुद्रका वर्णन करते हैं—

वेदिकासे सहित लवणसमुद्र, दो लाख योजन विस्तारवाला है और वह परिखाके समान जम्बू द्वीपको घेरकर स्थित है ॥४३०॥ इसकी परिधि पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उनतालीस योजनमें कुछ कम है ॥४३१॥ तथा इसके गणितका प्रकीर्णक पद (क्षेत्रफल) अठारह हजार नौ सौ तिहत्तर करोड़, छयासठ लाख, उनसठ हजार छह सौ योजन है ॥४३२-४३३॥ इसकी ऊपर-नीचे चौड़ाई दश हजार योजन, गहराई एक हजार योजन और अवस्थित रूपसे ऊँचाई ग्यारह योजन प्रमाण है ॥४३४॥ वह लवणसमुद्र, तटान्तसे पंचानबे हाथ जानेपर एक हाथ, पंचानबे अंगुल जानेपर एक अंगुल और पंचानबे योजन जानेपर एक योजन गहरा है ॥४३५॥ और पंचानबे अंगुल, पंचानबे हाथ या पंचानबे योजन जानेपर यह समुद्र सोलह अंगुल, सोलह हाथ या सोलह योजन ऊँचा है अर्थात् तटान्तसे पंचानबे अंगुल जानेपर सोलह अंगुल ऊँचा है, पंचानबे हाथ जानेपर सोलह हाथ ऊँचा है और पंचानबे योजन जानेपर सोलह योजन ऊँचा

१. जम्बूर्द्ध- म. । २. भूतामरस्य च म. । ३. १८९७३६६५९६०० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्ले पञ्चसहस्राणि यावत्तावत् प्रवर्धते । पक्षे प्रहीयते कृष्णे यावदेकादशैव सः ॥४३७॥
त्रिशतो च त्रयस्त्रिंशद् योजनानि दिने दिने । त्रिभागं वर्धते वार्धिः शुक्ले कृष्णे च हीयते ॥४३८॥
मक्षिकापक्ष्मसूक्ष्मान्तो वेदिकान्ते पयोनिधिः । स चोर्ध्वं मानतोयस्तु योजनार्द्धं प्रवर्द्धते ॥४३९॥
षट्षष्टि द्वे शते दण्डा द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुली । शुक्ले कृष्णे च ते स्यातां वृद्धिहानी दिने दिने ॥४४०॥
अधः संक्षेपणी द्रोणी विस्तीर्णोर्ध्वं क्षितौ दिवि । अन्यथा नौपुटाम्भोधिः समो वा यवराशिना ॥४४१॥
जगत्याः पञ्चनवतिं सहस्राणि प्रविश्य तु । मध्ये स्युर्दिक्षु चत्वारि पातालविवराण्यधः ॥४४२॥
प्राच्यां पातालमाशायां प्रतीच्यां बडवामुखम् । कदम्बुकमपाच्यां स्यादुदीच्यां यूपकेसरम् ॥४४३॥
तन्मूलमुखविस्तारः सहस्राणि दश स्मृतः । गाहस्वमध्यविस्तारावेका लक्षेति लक्षितौ ॥४४४॥
अलञ्जलसमानानि पातालानि समन्ततः । बाहुल्यं वज्रकुड्यानां तेषां पञ्च शतानि तु ॥४४५॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् । एकैकोऽत्र विभागः स्याद् योजनानां तु भागवान् ॥४४६॥
ऊर्ध्वभागे जलं तेषां तृतीये केवलं सदा । मूले च बलवान् वायुर्मध्यभागे क्रमेण तौ ॥४४७॥
वायोरुच्छ्वासनिश्वासौ पातालेषु स्वभावजौ । तद्वशादुदकस्योर्ध्वमधश्च परिवर्त्तनम् ॥४४८॥
भागः पञ्चदशः शुक्ले वायुभिः पूर्यते शनैः । पातालानां जलैः कृष्णे स्थितिः स्यात्पक्षसंधिषु ॥४४९॥

है ॥४३६॥ शुक्ल पक्षमें समुद्रका जल पाँच हजार योजन तक ऊँचा बढ़ जाता है और कृष्ण पक्षमें स्वाभाविक ऊँचाई जो ग्यारह हजार योजन है वहाँ तक घट जाता है ॥४३७॥ शुक्ल पक्षमें समुद्र प्रतिदिन तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भाग बढ़ता है तथा कृष्ण पक्षमें उतना ही घटता है ॥४३८॥ वेदिकाके अन्तमें समुद्र मक्षिकाके पंखके समान अत्यन्त सूक्ष्म है परन्तु जब उसके जलमें वृद्धि होती है तब आधा योजन तक बढ़ जाता है ॥४३९॥ शुक्लपक्षमें वेदिकाके अन्तमें प्रतिदिन समुद्रकी वृद्धि दो सौ छयासठ धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल होती है और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन उतनी ही हानि होती है ॥४४०॥ संकुचित होता हुआ समुद्र नीचे भागमें नावके समान रह जाता है और ऊपर पृथिवीपर विस्तीर्ण हो जाता है तथा आकाशमें इसके विपरीत जुड़ी हुई दो नौकाओंके पुटके समान अथवा जौकी राशिके समान नीचे चौड़ा और ऊपर संकीर्ण हो जाता है ॥४४१॥

वेदीसे पंचानबे हजार योजन भीतर प्रवेश करनेपर चारों दिशाओंमें नीचे चार पाताल-विवर हैं ॥४४२॥ उनमें पूर्व दिशामें पाताल, दक्षिणमें बडवामुख, पश्चिममें कदम्बुक और उत्तरमें यूपकेसर नामका पाताल है ॥४४३॥ इन चारों पातालोंके मूल और अग्रभागका विस्तार दश हजार योजन है तथा गहराई और अपने मध्य भागका विस्तार एक-एक लाख योजन प्रमाण माना गया है ॥४४४॥ ये पाताल-विवर गोलीके समान हैं अर्थात् इनका तल और ऊपरका विस्तार अल्प है तथा मध्यका अधिक है। इनकी वज्रमयी दीवालोंकी मोटाई सब ओरसे पाँच-पाँच सौ योजन है ॥४४५॥ इन विवरोंके तीन-तीन भाग हैं उनमें-से एक भाग तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक कला प्रमाण है ॥४४६॥ इनके तीसरे ऊर्ध्व भागमें केवल जल रहता है, नीचेके भागमें बलवान् वायु रहती है और बीचके भागमें क्रमसे जल तथा वायु दोनों रहते हैं ॥४४७॥ पातालोंमें जो वायु है उसका उच्छ्वास—ऊँचा उठना और निःश्वास—नीचे आना स्वाभाविक है उसीके कारण उनमें जलका ऊँचा-नीचा परिवर्तन होता रहता है अर्थात् जब वायु ऊपर उठती है तब जल ऊपर उठ जाता है और जब वायु नीचे बैठती है तब जल नीचे बैठ जाता है ॥४४८॥ पातालोंका पन्द्रहवाँ भाग शुक्लपक्षमें धीरे-धीरे वायुसे भरता रहता है और कृष्णपक्षमें जलसे। अमावस्या और पूर्णिमाके दिन उनकी स्वाभाविक स्थिति हो जाती है ॥४४९॥ इन पाताल-विवरोंका पृथक्-पृथक् अन्तर

१. स्थितिं स्यात्पञ्चसन्धिषु म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षद्वयं सहस्राणि सप्तविंशतिरन्तरम् । शतं सप्ततिरेषां[1] स्यात् पादोनं योजनं पृथक् ॥४५०॥
विदिक्षु क्षुद्रपातालचतुष्कं मुखमूलयोः । सहस्रं विस्तृतं दैर्घ्यमध्यविस्तारतो दश ॥४५१॥
चतुर्णामपि तेषां स्यात्पञ्चाशत्कुड्यविस्तृतिः । एकैकस्य त्रिभागेषु प्रागिवाम्भःप्रभञ्जनौ ॥४५२॥
त्रियोजनसहस्राणि त्रयस्त्रिंशं शतत्रयम् । सत्रिभागं त्रिभागानां प्रत्येकं योजनस्थितिः ॥४५३॥
एकलक्षा सहस्राणि त्रयोदश निजान्तरम् । पञ्चाशीति त्रयोऽष्टांशाः कुण्डानां दिग्विदिक्स्थितम् ॥४५४॥
मुक्तावलीवदेतेषामन्तरालेषु चाष्टसु । समुद्रे क्षुद्रपातालसहस्रमवतिष्ठते ॥४५५॥
सहस्रमवगाहश्च मध्यविष्कम्भ एव च । योजनानां शतं तेषां विस्तारो मुखमूलयोः ॥४५६॥
पञ्चविंशशतं तानि प्रत्येकं चान्तरेऽन्तरे । द्विहीनाष्टशती क्रोशः सविशेषस्तदन्तरम्[2] ॥४५७॥
यथायोगपरावृत्तसलिलाप्लवविप्लवाः । पातालौघाः समस्तास्ते क्षुद्राश्च परिकीर्त्तिताः ॥४५८॥
तटाद् गत्वा सहस्राणि द्वाचत्वारिंशतं समौ । चतुर्दिक्षु सहस्रोच्चैः द्वौ द्वौ स्यातां तु पर्वतौ ॥४५९॥
कौस्तुभः कौस्तुभासश्च पातालस्योभयान्तयोः । राजतावर्द्धकुम्भाभौ तत्सुरौ विजयश्रियौ ॥४६०॥
उदकश्चोदवासश्च कदम्बुकसमीपगौ । शिवश्च शिवदेवश्च तयोर्देवौ यथाक्रमम् ॥४६१॥
नगौ शङ्खमहाशङ्खौ वडवामुखपार्श्वगौ । शङ्खाभावुदकश्च स्यादुदवासश्च तत्सुरौ ॥४६२॥
उदकोऽप्युदवासोऽपि यूपकेसरपार्श्वगौ । रोहितो लोहिताङ्कश्च तत्सुरौ परिकीर्तितौ ॥४६३॥

दो लाख सत्ताईस हजार एक सौ पौने इकहत्तर योजन है ॥४५०॥

चारों विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल-विवर हैं इनका ऊपर और नीचे एक-एक हजार तथा मध्यमें दश हजार योजन विस्तार है एवं उनकी ऊँचाई भी दश हजार योजन है ॥४५१॥ इन चारोंकी दीवालोंकी चौड़ाई पचास योजन है तथा प्रत्येकके तीन-तीन भाग हैं और उनमें पूर्वकी भाँति जल तथा वायुका सद्भाव है ॥४५२॥ तीनों भागोंमें प्रत्येक भाग तीन हजार तीन सौ तीस योजन तथा एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥४५३॥ दिशाओं और विदिशाओंके पाताल-विवरोंका परस्पर अन्तर एक लाख तेरह हजार पचासी योजन है ॥४५४॥ लवण समुद्रमें इन आठ पाताल-विवरोंके आठ अन्तरालोंमें एक हजार क्षुद्र पाताल और भी हैं जो मोतियोंकी मालाके समान सुन्दर जान पड़ते हैं ॥४५५॥ इन क्षुद्र पाताल-विवरोंकी गहराई एक हजार योजन है और विस्तार मध्यमें एक हजार योजन तथा ऊपर-नीचे सौ-सौ योजन है ॥४५६॥ ये क्षुद्र पाताल विवर एक-एक अन्तरालके बीचमें एक सौ पचीस-एक सौ पचीस हैं तथा इनका पारस्परिक अन्तर सात सौ अंठानबे योजन एवं कुछ अधिक एक कोश है ॥४५७॥ जिनमें यथायोग्य पानीका प्रवेश तथा निर्गम होता रहता है, ऐसे ये समस्त पाताल-विवरोंके समूह क्षुद्र पाताल कहे गये हैं ॥४५८॥

तटसे बयालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओंमें एक-एक हजार योजन ऊँचे दो-दो पर्वत हैं ॥४५९॥ पूर्व दिशाके पाताल-विवरकी दोनों ओर कौस्तुभ और कौस्तुभास नामके अर्धकुम्भाकार चाँदीके दो पर्वत हैं इनके अधिष्ठाता (उदक और उदवास) देव विजयदेव के समान वैभवको धारण करनेवाले हैं ॥४६०॥ दक्षिण दिशाके कदम्बुक पातालविवरके समीप उदक और उदवास नामके दो पर्वत हैं। क्रमसे शिव तथा शिवदेव उनके अधिष्ठाता देव हैं ॥४६१॥ पश्चिम दिशाके बडवामुख पातालविवरके समीप शंख और महाशंख नामके दो पर्वत हैं तथा शंखके समान आभावाले शिव और शिवदेव नामक देव अधिष्ठाता हैं ॥४६२॥ उत्तर दिशाके भूपकेसर पाताल-विवरके समीप उदक और उदवास ये दो पर्वत हैं तथा रोहित और लोहितांक उनके अधिष्ठाता देव

---

१. -रेव ख. । २. तदनन्तरं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजनानां तु लक्षैका सहस्राणि च षोडश । अन्तरं पर्वतानां स्यान्निजपातालमूर्त्तिभिः ॥४६४॥
नागवेलन्धराधीशा गिरिमस्तकवर्त्तिषु । वसन्ति नगरेष्वेते नागैर्वेलन्धरैः सह ॥४६५॥
नागानां च सहस्राणि द्विचत्वारिंशदम्बुधौ । लवणाभ्यन्तरां वेलां धारयन्ति नियोगतः ॥४६६॥
द्वासप्ततिसहस्राणि बाह्यं वेलां जलाकुलाम् । धारयन्ति सदा नागा जलक्रीडादृढादराः ॥४६७॥
अष्टाविंशतिसंख्यानि सहस्राणि यथायथम् । अग्रोदकमुदग्रं[1] तु नागानां धारयन्ति च ॥४६८॥
द्वादशैव सहस्राणि वारिधावपरोत्तरम् । तावत्यैव सहस्राणि विस्तृतः सर्वतः समः ॥४६९॥
गोतमो नामतो द्वीपो गोतमस्तस्य चामरः । सोऽपि कौस्तुभदेवेन परिवारादिभिः समः ॥४७०॥
मर्त्यास्त्वेकोरुकाः पूर्वे दक्षिणे तु विषाणिनः । लाङ्गूलिनोऽपरे च स्युरुत्तरेऽभाषकास्तथा ॥४७१॥
विदिक्षु शशकर्णास्तु चतसृष्वपि भाषिताः । एकोरुकोत्तरापाच्योरश्वसिंहमुखाः क्रमात् ॥४७२॥
शष्कुलीकर्णनामानः पार्श्वयोस्तु विषाणिनाम् । श्वमुखा वानरास्या ये ते लाङ्गूलिकपार्श्वयोः ॥४७३॥
अभाषकान्तयोश्चापि शष्कुलीकर्णमानुषाः । गोमुखा मेषवक्त्राः स्युर्विजयार्धोभयान्तयोः ॥४७४॥
हिमवत्प्राक्प्रतीच्योः स्युरुल्काकालमुखा नराः । मेघविद्युन्मुखाः प्राच्यप्रतीच्योः शिखरिश्रुतेः ॥४७५॥
आदर्शगजवक्त्राख्या विजयार्द्धान्तयोर्मताः । चतुर्विंशतिरेव स्युर्द्वीपाश्चापि तदाश्रयाः ॥४७६॥
गत्वा पञ्चशतीं दिक्षु विदिक्ष्वन्तरदिक्षु च । पञ्चाशत च ते द्वीपाः षट्शती मुखपर्वताः ॥४७७॥
दिग्गताः शतरुन्द्राः स्युः पञ्चविंशतिमद्रिजाः । रुन्द्रा पञ्चशतं द्वीपा विदिक्ष्वन्तरदिक्षु च ॥४७८॥

हैं ॥४६३॥ इन पर्वतोंका अपने-अपने पाताल-विवरोंसे एक लाख सोलह हजार योजन अन्तर है ॥४६४॥ इन पर्वतोंके ऊपर अनेक नगर बने हुए हैं उनमें वेलन्धर जातिके नागकुमार देवोंके साथ उनके स्वामी निवास करते हैं ॥४६५॥ लवण समुद्रमें बयालीस हजार नागकुमार अपने नियोगके अनुसार उसकी आभ्यन्तर वेलाको धारण करते हैं और बहत्तर हजार नागकुमार जलसे भरी बाह्य वेलाको सदा धारण करते हैं। ये नागकुमार जलक्रीडा करनेमें दृढ़ आदर रखते हैं ॥४६६-४६७॥ अट्ठाईस हजार नागकुमार लवण समुद्रकी उन्नत अग्रशिखाको धारण करते हैं ॥४६८॥ लवण समुद्रकी पश्चिमोत्तर दिशामें बारह योजन दूर चलकर बारह हजार योजन विस्तारवाला एक गोतम नामका द्वीप है। यह द्वीप सब ओरसे सम है तथा गोतम नामका देव उसका अधिष्ठाता है। परिवार आदिकी अपेक्षा गोतम देव कौस्तुभ देवके समान हैं ॥४६९-४७०॥ लवण समुद्रकी पूर्व दिशामें एक टाँगवाले, दक्षिणमें सींगवाले, पश्चिममें पूँछवाले और उत्तरमें गूँगे मनुष्य रहते हैं ॥४७१॥ चारों विदिशाओंमें खरगोशके समान कानवाले मनुष्य कहे गये हैं। एक टाँगवालोंकी उत्तर और दक्षिण दिशामें क्रमसे घोड़े और सिंहके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं ॥४७२॥ सींगवाले मनुष्योंकी दोनों ओर शष्कुलीके समान कानवाले और पूँछवालोंको दोनों ओर क्रमसे कुत्ते और वानरके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं ॥४७३॥ गूँगे मनुष्योंकी दोनों ओर शष्कुलीके समान कानवाले रहते हैं। विजयार्ध पर्वतके दोनों किनारोंपर जो कि पूर्व-पश्चिम समुद्रमें निकले हुए हैं क्रमसे गौ और भेड़के समान मुखवाले रहते हैं ॥४७४॥ हिमवत् पर्वतके पूर्व और पश्चिम कोणोंपर क्रमसे उल्कामुख और कृष्णमुख तथा शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम कोणोंपर मेघमुख और विद्युन्मुख मनुष्य रहते हैं ॥४७५॥ और ऐरावत क्षेत्रमें जो विजयार्ध है उसके दोनों कोणोंपर दर्पण तथा हाथीके समान मुखवाले मनुष्य माने गये हैं। इस प्रकार उक्त चौबीस द्वीप ही ऊपर कहे हुए मनुष्योंके आश्रय हैं ॥४७६॥ दिशाओं और विदिशाओंके अन्तरद्वीप समुद्रतटसे पाँच सौ योजन, अन्तरदिशाओंके साढ़े पाँच सौ योजन और पर्वतोंके कोणवर्ती द्वीप छह सौ योजन आगे चलकर हैं इन द्वीपोंके अग्रभागमें एक-एक पर्वत हैं ॥४७७॥ दिशाओंके द्वीप

१. -मुदग्रे ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ते पञ्चनवतं भागं[1] स्वप्रदेशस्य चाप्लुताः । जलाद्योजनमुद्विद्धवेदिकापरिवारिताः ॥४७९॥
तेनैव षोडशाभ्यस्तमुपरिष्टाज्जलावृताः । संकलय्याधरं वोर्ध्वं क्षेत्रं वाच्यं जलावृतम्[2] ॥४८०॥
जम्बूद्वीपस्य यावन्तो द्वीपाः निकटवर्तिनः । तावन्तो धातकीखण्ड-द्वीपस्य लवणोदजाः ॥४८१॥
अष्टादशकुलास्तेषु पल्यायुष्काः कुमानुषाः । एकोरुगाः गुहावासाः मृष्टमृद्भोजनास्तु ते ॥४८२॥
शेषपुष्पफलाहाराः वृक्षमूलनिवासिनः । एकान्तराशनाः मृत्वा जायन्ते भौमभावनाः[3] ॥४८३॥
जम्बूद्वीपजगत्या च समुद्रजगती समा । अभ्यन्तरे शिलापट्टं बहिस्तु वनमालिका ॥४८४॥
चतुर्गुणस्तु विस्तारो द्वीपस्य जलधेस्तथा । सूची भवेत्त्रिभिर्न्यूनः तदन्ते मण्डलेऽखिले ॥४८५॥
विस्ताररहिता सूची चतुर्व्यासगुणा तु या । तावन्तस्तु भवन्त्यस्य जम्बूद्वीपसमांशकाः ॥४८६॥
स्युश्चतुर्विंशतिर्भागा लवणद्वीपसंमिताः । षड्गुणास्ते परद्वीपे काले सप्तचतुर्गुणाः ॥४८७॥

सौ योजन, विदिशाओं तथा अन्तरदिशाओंके पाँच सौ योजन और पर्वतोंके तटान्तवर्ती द्वीप पचीस योजन विस्तारवाले हैं ॥४७८॥ इनका पंचानबेवाँ भाग जलमें डूबा है तथा ये एक योजन जलसे ऊपर उठी हुई वेदिकाओंसे घिरे हुए हैं ॥४७९॥ पंचानबेवें भागको सोलहसे गुणा करनेपर गुणित भागोंके बराबर इनके ऊपर-नीचेका क्षेत्र जलसे आवृत कहना चाहिए ॥४८०॥ लवण समुद्रके जितने अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीपके निकटवर्ती हैं उतने ही धातकी खण्डके निकटवर्ती हैं। भावार्थ—दिशाओंमें चार, विदिशाओंमें चार, अन्तरालोंमें आठ और हिमवत् शिखरी तथा दोनों विजयार्ध पर्वतोंके आठ इस प्रकार चौबीस अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीपके निकटवर्ती लवणसमुद्रमें हैं तथा चौबीस धातकीखण्डके निकटवर्ती लवण समुद्रमें। सब मिलाकर लवण समुद्रमें ४८ अन्तर्द्वीप हैं ॥४८१॥ उनमें अठारह कुल कुभोगभूमिया जीवोंकी है और वे एक पल्यकी आयुवाले हैं।

एक टाँगवाले मनुष्य गुफाओंमें रहते हैं तथा मधुर मिट्टीका भोजन करते हैं ॥४८२॥ शेष मनुष्य फूल और फलोंका आहार करते हैं तथा वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं। ये सब एक दिनके अन्तरसे भोजन करते हैं और मरकर व्यन्तर तथा भवनवासी देव होते हैं ॥४८३॥ लवण समुद्रकी जगती (वेदी) जम्बू द्वीपकी जगतीके समान हैं उसके भीतरी भागमें शिलापट्ट हैं और बाहरी भागमें वन-पंक्तियाँ हैं ॥४८४॥ किसी भी द्वीप अथवा समुद्रका जितना विस्तार है उसे चौगुना कर उसमें-से तीन घटा देनेपर उसके अन्तिम मण्डलकी सूचीका प्रमाण निकलता है ॥४८५॥ इस करणसूत्रके अनुसार लवण समुद्रकी सूची पाँच लाख है उसमें-से विस्तार-के दो लाख घटा देनेपर तीन लाख रहे। उसमें चारका गुणा करनेपर बारह लाख हुए और उसमें विस्तारका प्रमाण जो दो लाख है उसका गुणा करनेपर चौबीस लाख हुए। इस तरह लवण

---

१. क्वप्रवेशस्य म.।
२. इगिगमणे पणणउदिग तुंगो सोलगुणमुवरि किं पयदे ।
दुगजोगे दीउदयो सवेदिया जोयणुग्गया जलदो ॥९१५॥ —त्रिलोकसारस्य
३. भवण वइवाण विन्तर जोइस भवणेसु ताण उप्पत्ती ।
ण य अण्णु त्थुपपत्ती बोधव्वा होई णियमेण ॥८५॥
सम्मद्दंसणरयणं जेहिं सुगहियं णरेहिं णारीहिं ।
ते सव्वे मरिऊणं सोहम्माईसु जायंति ॥८६॥ —जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, १० उद्देश
४. दीपस्स समुद्दस्स य विक्खंभं चदुहि संगुणं णियमा ।
तिहि सदसहस्स ऊणा सा सूची सव्वकरणेसु ॥९५॥ —ज. प्र., १० उद्देश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वे सहस्रे शतान्यष्टावशीतिरपि चोत्तराः । जम्बूद्वीपसमा भागाः पुष्करद्वीपभाविनः ॥४८८॥
द्वीपोऽपि धातकीखण्डः पर्येति लवणोदधिम् । योजनानां चतुर्लक्षविस्तीर्णो वलयाकृतिः ॥४८९॥
सूचिरभ्यन्तरा पञ्च-लक्षा नव तु मध्यमा । बाह्या त्रयोदश द्वीपे धातकीखण्डमण्डिते ॥४९०॥
परिधिः पूर्वसूच्यास्तु लक्षाः पञ्चदशोदिताः । एकाशीतिसहस्राणि शतं त्रिंशन्नवाधिकम् ॥४९१॥
स चाष्टाविंशतिर्लक्षाः मध्यायाः षट्सहस्रकैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चाशद् योजनानि च ॥४९२॥
बाह्यसूच्यास्त्वसौ लक्षाश्चत्वारिंशत्सहैकया । शतानि नव षष्ट्यैकं सहस्राणि दशापि च ॥४९३॥
पूर्वापरौ महामेरोर्द्वौ मेरू भवतोऽस्य च । इष्वाकारौ विभक्तारौ पर्वतौ दक्षिणोत्तरौ ॥४९४॥
सहस्रयोजनव्यासौ द्वीपव्याससमायतौ । उच्छ्रायेणावगाहेन निषधेन समौ च तौ ॥४९५॥
क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त षट् कुलपर्वताः । हिमवत्पूर्वका द्वीपे तत्रापि प्रतिमन्दरम् ॥४९६॥
पूर्वैः सहैकनामानः सर्वे नगनदीह्रदाः । समोच्छ्रायावगाहाः स्युस्तेभ्यो द्विगुणविस्तृताः ॥४९७॥
अररन्ध्राकृतीन्यङ्गमुखान्यभ्यन्तरे बहिः । क्षुरप्राकृतवन्ति स्युः शैलक्षेत्राणि तानि च ॥४९८॥
लक्षया पर्वतै रुद्धं[2] सहस्राण्यष्टसप्ततिः । द्विचत्वारिंशदष्टौ च शतानि क्षेत्रमत्र च ॥४९९॥
षड् योजनसहस्राणि षट् शतानि चतुर्दश । भरतान्तरविष्कम्भः शतं विंशं नवांशकाः ॥५००॥

समुद्रके जम्बू द्वीपके बराबर चौबीस खण्ड हैं। धातकी खण्डमें इससे छह गुने—एक सौ चालीस हैं। कालोदधिमें धातकीखण्डके खण्डोंसे सतगुने—छह सौ बहत्तर हैं और पुष्करार्धमें कालोदधिके खण्डोंसे चौगुने—दो हजार आठ सौ अस्सी हैं ॥४८६-४८८॥ इस प्रकार लवण समुद्रका वर्णन हुआ। अब धातकीखण्डका वर्णन करते हैं—

चार लाख योजन विस्तारवाला चूड़ीके आकार दूसरा धातकीखण्ड द्वीप भी चारों ओरसे लवणसमुद्रको घेरे हुए है ॥४८९॥ धातकी अर्थात् आँवलेके वृक्षोंसे सुशोभित इस धातकीखण्ड द्वीपकी आभ्यन्तर सूची पाँच लाख, मध्यम सूची नौ लाख और बाह्य सूची तेरह लाख योजनकी है ॥४९०॥ इनमें पूर्व—आभ्यन्तर सूचीकी परिधि पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उनतालीस योजन है ॥४९१॥ मध्यम सूचीकी परिधि अट्ठाईस लाख छियालीस हजार पचास योजनकी है ॥४९२॥ और बाह्य सूचीकी परिधि इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसठ योजनकी है ॥४९३॥

इस द्वीपमें जम्बू द्वीपके महामेरुसे पूर्व और पश्चिम दिशामें दो मेरु पर्वत हैं तथा दक्षिण और उत्तरके भेदसे दो इष्वाकार पर्वत इसका विभाग करनेवाले हैं ॥४९४॥ वे दोनों इष्वाकार पर्वत एक हजार योजन चौड़े, द्वीपकी चौड़ाई बराबर चार लाख योजन लम्बे तथा ऊँचाई और गहराईकी अपेक्षा निषध पर्वतके समान (चार सौ योजन ऊँचे और सौ योजन गहरे) हैं ॥४९५॥ द्वीपके समान इस धातकीखण्डमें भी प्रत्येक मेरुकी अपेक्षा भरतको आदि लेकर सात क्षेत्र तथा हिमवान् आदि छह कुलाचल हैं ॥४९६॥ यहाँके समस्त पर्वत, नदी और सरोवर जम्बू द्वीपके पर्वत, नदी और सरोवरके समान नामवाले हैं तथा उन्हींके समान ऊँचाई और गहराईसे युक्त हैं केवल विस्तार उनका दूना-दूना है ॥४९७॥ इस द्वीपके पर्वत और क्षेत्र भीतरकी ओर नौ गाड़ीके पहियेमें लगे आरों तथा उनके बीचके अन्तरके समान हैं और बाहरकी ओर क्षुराके समान हैं अर्थात् इनका आभ्यन्तर भाग संक्षिप्त और बाह्य भाग विस्तृत है ॥४९८॥ इस धातकीखण्डमें एक लाख अठहत्तर हजार आठ सौ बयालीस योजन प्रमाण क्षेत्र पर्वतोंसे रुका हुआ है ॥४९९॥ भरत क्षेत्रका आभ्यन्तर विस्तार छह हजार छह सौ चौदह योजन तथा

१. परमन्दर म. । २. -रूर्ध्वं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्राणां च भवेच्छेदो द्विशती द्वादशोत्तरा । एकोनविंशतिस्तत्र छेदः पर्वतगोचरः[1] ॥५०१॥
द्वादशैव सहस्राणि तथा पञ्च शतानि च । एकाशीतिश्च षट्त्रिंशत्कला मध्यमविस्तृतिः ॥५०२॥
अष्टादश सहस्राणि पञ्चशत्यपि सप्त तु । चत्वारिंशद्बहिर्भागाः पञ्च पञ्चाशता शतम् ॥५०३॥
विष्कम्भत्रितयं ज्ञेयमाविदेहं चतुर्गुणम् । क्रमेण परतो हानिर्यावदैरावतक्षितिः ॥५०४॥
पूर्वस्माद् द्विगुणो व्यासो हिमवत्पूर्वकाद्रिषु । द्वादशस्वपि च द्वीपे तेभ्यः पुष्करनामनि ॥ ०५॥
भूभृतोऽर्द्धतृतीयेषु वृक्षावक्षारवेदिकाः । मेरुवर्ज्यं[2] विगाहन्ते चतुर्भागं निजोच्छ्रितेः ॥५०६॥
षड्गुणः स्वावगाहस्तु कुण्डानां विस्तृतिर्भवेत् । नदीह्रदावगाहोऽपि पञ्चाशद्गुणितश्च सा ॥५०७॥
उच्छ्रायश्चैत्यगेहस्य सार्द्धो ज्ञेयः शताहतः । जम्बूप्रभृतयस्तुल्या महावृक्षा दशापि ते ॥५०८॥
नद्यः सरांस्यरण्यानि कुण्डपद्मा नगा ह्रदाः । अवगाहैः समाः पूर्वैर्विस्तारैर्द्विगुणाः परे[3] ॥५०९॥
चैत्यचैत्यालया ये ते वृषभा नाभिपर्वताः । चित्रकूटादयश्चापि तथा काञ्चनकाद्रयः ॥५१०॥
दिग्गजेन्द्रकूटानि यथास्वं वेदिकादयः । व्यासावगाहनोच्छ्रायैः सर्वे द्वीपत्रये समाः ॥५११॥
अर्धयोजनमुद्विद्धं व्यस्तं पञ्चधनुःशतीम् । प्रत्येकं सर्वकूटानां विदितं रत्नतोरणम् ॥५१२॥
अशीतिश्च सहस्राणि चत्वारि च समुच्छ्रयः । चतुर्णामपि मेरूणां परयोर्द्वीपयोर्भवेत् ॥५१३॥
सहस्रमवगाढाश्च मेदिनीं ते तु मेरवः । सहस्राणि नवव्यस्ता मूले पञ्च शतानि च ॥५१४॥
त्रिंशदेव सहस्राणि द्वाचत्वारिंशता सह । तेषामेव विनिर्दिष्टः परिधिर्मूलगोचरः ॥५१५॥

एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें एक सौ उनतीस भाग प्रमाण है ॥५००॥ धातकीखण्ड द्वीपमें पर्वत रहित क्षेत्रोंके दो सौ बारह खण्ड और पर्वतावरुद्ध क्षेत्रके एक सौ उन्नीस खण्ड होते हैं ॥५०१॥ भरत क्षेत्रके मध्यम भागका विस्तार बारह हजार पाँच सौ इक्यासी योजन छत्तीस भाग है ॥५०२॥ और बाह्य विस्तार अठारह हजार पाँच सौ सैंतालीस योजन एक सौ पचपन भाग है ॥५०३॥ यह तीनों प्रकारका विस्तार विदेह क्षेत्र तकके क्षेत्रोंमें भरत क्षेत्रके विस्तारसे आगे-आगे चौगुना-चौगुना अधिक है और उसके आगे ऐरावत क्षेत्र तक क्रमसे चौगुना-चौगुना कम होता गया है ॥५०४॥ धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदि बारहों पर्वतोंका विस्तार जम्बू द्वीपके पर्वतोंसे दूना-दूना है। इसी प्रकार पुष्करवर द्वीपमें भी उनसे दूना-दूना विस्तार है ॥५०५॥ अढ़ाई द्वीपमें मेरु पर्वतको छोड़कर कुलाचल, वृक्ष, वक्षार पर्वत और वेदिकाओंकी गहराई अपनी ऊँचाईसे चौथा भाग है ॥५०६॥ धातकीखण्डके कुण्डोंका विस्तार उनकी गहराईसे छह गुना, और नदी-सरोवरोंका विस्तार उनकी गहराईसे पचास गुना है ॥५०७॥ धातकीखण्डके चैत्यालयोंकी ऊँचाई डेढ़ सौ योजन है और जम्बू आदि दशों महावृक्ष एक समान विस्तारवाले हैं ॥५०८॥ नदी, सरोवर, वन, कुण्ड, पद्म, पर्वत और सरोवर गहराईकी अपेक्षा जम्बू द्वीपकी नदी आदिके समान हैं तथा विस्तारकी अपेक्षा दूने-दूने हैं ॥५०९॥ चैत्य, चैत्यालय, वृषभाचल, नाभिपर्वत, चित्रकूट आदि कांचनगिरि आदि पर्वत, दिग्गजेन्द्रोंके कूट, तथा वेदिका आदि हैं वे सब विस्तार, गहराई तथा ऊँचाईकी अपेक्षा तीनों द्वीपोंमें समान हैं ॥५१०-५११॥ धातकीखण्डमें समस्त कूटोंके रत्नमयी तोरण आधा योजन ऊँचे और पाँच सौ धनुष चौड़े हैं ॥५१२॥ धातकीखण्ड और पुष्कर इन दोनों द्वीपोंके चारों मेरु पर्वतोंकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है ॥५१३॥ वे मेरु पर्वत एक हजार योजन नीचे तो पृथिवीमें गहरे हैं और नौ हजार पाँच सौ योजन उनके मूलका विस्तार है ॥५१४॥ उनके मूल भागकी परिधि तीस हजार बयालीस योजन है ॥५१५॥

१. वंसधर विरहिदं खलु जं खेत्तं हवदि धातकीखण्डे ।
तस्स दु छेदाणियमा वे चेव सदाणि वाराणि ॥१४॥ —ज. प्र. ११ उद्देश

२. -मेरुं वर्ज्य म. । ३. परैः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नव चैव सहस्राणि चतुःशतयुतानि तु । चतुर्णामपि मेरूणां भूमौ विष्कम्भ इष्यते ॥५१६॥
एकोनत्रिंशदेव स्युः सहस्राणि शतानि च । पञ्चविंशति सप्तैव परिधिर्वसुधातले ॥५१७॥
सहस्रार्धं च गत्वोर्ध्वं नन्दनं त्वेतिविस्तृतम् । पञ्च पञ्चाशतं पञ्चशतीं सौमनसं वनम् ॥५१८॥
पाण्डुकं च सहस्राणि गत्वाष्टाविंशतिः पृथु । चतुर्णवतिसंयुक्ता योजनानां चतुःशती ॥५१९॥
शतान्यर्द्धचतुर्थानि सहस्राणि नवापि च । नन्दने मन्दरस्यायं विष्कम्भः परिभाषितः ॥५२०॥
सप्तषष्टिसहस्रार्द्धमेकोनत्रिंशदेव च । सहस्राणि परिक्षेपो नन्दने मन्दराद् बहिः ॥५२१॥
शतान्यर्द्धचतुर्थानि सहस्राण्यष्ट नन्दनात् । विना मन्दरविष्कम्भः स चाभ्यन्तर ईरितः ॥५२२॥
षड्विंशतिसहस्राणि पञ्चाग्रा च चतुःशती । परिधिर्मन्दरस्यैष नन्दनान्तरगोचरः ॥५२३॥
बाह्यस्त्रीणि सहस्राणि विष्कम्भोऽष्टौ शतानि च । मेरोः सौमनसे सान्तः सहस्रेण विवर्जितः ॥५२४॥
बाह्यस्तस्य सहस्राणि द्वादशैव हि षोडश । मन्दरस्य परिक्षेपो वने सौमनसे स्थितः ॥५२५॥
अष्टौ चैव सहस्राणि तथैवाष्टौ शतानि च । चतुःपञ्चाशदप्यन्तः परिधिस्तस्य तद्वने ॥५२६॥
द्वाषष्टचैकं शतं त्रीणि सहस्राणि च पाण्डुके । गव्यूतं साधिकं बोध्यः परिधिर्मेरुभूभृतः ॥५२७॥
नन्दनात् समरुन्द्रोऽद्रिः सहस्राणि दशोपरि । हानिस्तत्र क्रमादेवं वनात्सौमनसादपि ॥५२८॥
दशमो दशमो भागो मूलात्प्रभृति हीयते । प्रदेशाङ्गुलहस्तादिश्चतुर्णां मेरुभूभृताम् ॥५२९॥
पुष्करिण्यः शिलाकूटप्रासादाश्चैत्यचूलिकाः । समानाः पञ्चमेरूणां व्यासावगाहनोच्छ्रयैः ॥५३०॥
शतानि द्वादशैव स्यात्पञ्चविंशति विस्तृतिः । भद्रशालवनस्यैषा धातकीखण्डवर्तिनः ॥५३१॥
लक्षा सप्त सहस्राणि शतान्यष्टौ च दीर्घता । नवसप्ततिरप्यस्य भद्रशालवनस्य तु ॥५३२॥

तथा पृथिवीपरका विस्तार नौ हजार चार सौ योजन है ॥ ५१६ ॥ पृथिवीतलपर उनकी परिधि उनतीस हजार सात सौ पच्चीस योजन है ॥५१७॥ भूमितलसे पाँच सौ योजन ऊपर चलकर अत्यन्त विस्तृत नन्दन वन है तथा पचपन हजार पाँच सौ योजन ऊपर सौमनस वन है ॥५१८॥ सौमनस वनसे अट्ठाईस हजार चार सौ चौरानबे योजनपर जाकर विशाल पाण्डुक वन है ॥५१९॥ नन्दन वनमें मेरुका विस्तार नौ हजार तीन सौ पचास योजन कहा गया है ॥५२०॥ इसी वनमें मेरुकी बाह्य परिधिका विस्तार उनतीस हजार पाँच सौ सड़सठ योजन है ॥५२१॥ नन्दन वनको छोड़कर मेरु पर्वतका भीतरी विस्तार आठ हजार तीन सौ पचास योजन है ॥५२२॥ मेरु पर्वतकी नन्दन वन सम्बन्धी परिधि छब्बीस हजार चार सौ पाँच योजन है ॥५२३॥ सौमनस वनमें मेरु पर्वतका बाह्य विस्तार तीन हजार आठ सौ योजन है और आभ्यन्तर विस्तार इससे एक हजार योजन कम है ॥५२४॥ सौमनस वनमें मेरु पर्वतकी बाह्य परिधि बारह हजार सोलह योजन है ॥५२५॥ और आभ्यन्तर परिधि आठ हजार आठ सौ चौवन योजन है ॥५२६॥ पाण्डुक वनमें मेरु पर्वतकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ योजन तथा कुछ अधिक एक कोश जानना चाहिए ॥५२७॥ ये चारों मेरु पर्वत नन्दन वनसे दश हजार ऊपर तक जो समरुन्द्र हैं अर्थात् समान चौड़ाईवाले हैं और उसके बाद क्रमसे कम-कम होते जाते हैं। यह क्रम सौमनस वनके आगे भी जानना चाहिए। क्रम यह है कि मूलसे लेकर दश हजार योजनकी वृद्धि होनेपर अंगुल हस्त तथा योजनका दसवाँ-दसवाँ भाग कम होता जाता है। अर्थात् दश हजार योजन की ऊँचाईपर एक हजार योजन, दश हाथकी ऊँचाई पर एक हाथ और दश अंगुलकी ऊँचाईपर एक अंगुल विस्तार कम हो जाता है ॥५२८-५२९॥ पाँचों मेरुओंकी वापियाँ, शिला, कूट, प्रासाद, चैत्य और चूलिकाएँ, चौड़ाई, गहराई और ऊँचाईकी अपेक्षा एक समान हैं ॥५३०॥ धातकीखण्डके भद्रशाल वनकी चौड़ाई बारह सौ पचीस योजन है ॥५३१॥ और इसकी लम्बाई एक लाख सात हजार आठ सौ उन्यासी योजन

१. भूति विस्तृतं म., ङ. । भूमि- ग. । २. शिलाः कूटः प्रासादा—म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्पञ्चाशत्सहस्राणि तिस्रो लक्षा शतद्वयम् । सप्तविंशतिरायामो गन्धमादनविद्युतोः ॥५३३॥
नवषष्टिसहस्राणि लक्षाः पञ्च शतद्वयम् । एकोनषष्टिरायामो माल्यवत्सौमनस्यगः ॥५३४॥
द्वे लक्षे च सहस्राणि त्रयोविंशतिरेव च । [1]कुलाद्र्यन्ते कुरुव्यासः शतं पञ्चाशदष्ट च ॥५३५॥
तिस्रो लक्षाः सहस्राणि नवतिः सप्त चाष्ट तु । शतानि सप्त नवतिर्भागा द्वानवतिस्त्रयम् ॥५३६॥
वक्रायामः कुरूणां स्यादामेरोरागकुलाचलात् । पूर्वार्धेऽपि च पश्चार्द्धे धातकीखण्डमण्डले ॥५३७॥
तिस्रो लक्षाः सहस्राणि षट्षष्टिः षट् शतान्यथम् । ऋज्वायामः कुरूणां स्यादशीतिश्चोभयान्तयोः।५३८।
प्रतिमेरु विदेहाश्च द्वात्रिंशत्पूर्ववन्मताः । पूर्वे पूर्वविदेहाख्या अपरे त्वपरे स्थिताः ॥५३९॥
पूर्वस्मान्मन्दरात्पूर्वः कच्छाजनपदोऽवधिः । अपरादपरः सूच्या विजयो गन्धमालिनी ॥५४०॥
एकादशैव लक्षा हि सा सूचिः पञ्चविंशतिः । सहस्राणि शतं [2]तस्मादष्टपञ्चाशता सह ॥५४१॥
लक्षाश्चास्याः परिक्षेपः पञ्चत्रिंशत्प्रकाशितः । द्वाषष्टिश्चाष्टपञ्चाशत्सहस्राणि प्रमाणतः ॥५४२॥
पद्मादिर्गृह्यते सूचीमङ्गलावत्यधिष्ठिता । सा पूर्वापरयोर्मेर्वोरन्तराले तु या स्थिता ॥५४३॥
लक्षाः षट् च सहस्राणि चतुःसप्ततिरष्ट च । शतानि योजनानां सा द्वाचत्वारिंशता सह ॥५४४॥
एकविंशतिलक्षाश्च चतुस्त्रिंशत्सहस्रकैः । त्रिंशदष्टौ पुनस्तस्याः सूच्या परिधिरिष्यते ॥५४५॥
व्यापी विजयविस्तारः सहस्राणि नवात्र हि । षट्शता त्रितयं च स्यादष्टभागास्त्रयस्तथा ॥५४६॥
स्वायामः क्षेत्रवक्षारविभङ्गसरितां त्रिधा । सदेवरमणानां स्यादादिमध्यान्तभेदतः ॥५४७॥
कच्छाख्यविजयायामः पञ्चलक्षाः सहस्रकैः । नवभिः पञ्चशत्याद्यः सप्तत्या द्विशतांशकैः ॥५४८॥
विजयायामवृद्ध्यार्धो युक्तो मध्योऽस्य जायते । मध्येऽपि च तयायामो युक्तोऽन्त्योऽद्र्यादिकेष्वपि॥५४९॥

है ॥५३२॥ धातकीखण्डके गन्धमादन और विद्युद् गजदन्त पर्वतोंकी लम्बाई तीन लाख छप्पन हजार दो सौ सत्ताईस योजन है ॥५३३॥ तथा माल्यवान् और सौमनस्य गजदन्तोंकी लम्बाई पाँच लाख उनहत्तर हजार दो सौ उनसठ योजन है ॥५३४॥ कुलाचलोंके समीप कुरुक्षेत्रका विस्तार दो लाख तेईस हजार एक सौ अंठावन योजन है ॥५३५॥ धातकी खण्ड द्वीपके पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दोनों भागोंमें मेरु पर्वतसे लेकर कुलाचलों तक कुरु प्रदेशोंकी वक्र लम्बाई तीन लाख सत्तानबे हजार आठ सौ सत्तानबे योजन और बानबे भाग है ॥५३६-५३७॥ और दोनों ओर सीधी लम्बाई तीन लाख छयासठ हजार छह सौ अस्सी योजन है ॥५३८॥ जिस प्रकार जम्बू द्वीपमें एक मेरु पर्वतके बत्तीस विदेह हैं उसी प्रकार धातकी खण्डमें भी प्रत्येक मेरुकी अपेक्षा बत्तीस-बत्तीस विदेह हैं। इनमें पूर्वकी ओर पूर्व विदेह और पश्चिमकी ओर पश्चिम विदेह स्थित हैं ॥५३९॥ मेरु पर्वतसे पूर्वमें कच्छा नामका देश है और पश्चिममें सूचीसे युक्त गन्धमालिनी देश है। वह सूची ग्यारह लाख पचीस हजार एक सौ अंठावन योजन है ॥५४०-५४१॥ इस सूचीकी परिधि पैंतीस लाख अंठावन हजार बासठ योजन प्रमाण है ॥५४२॥ पद्मा देशको आदि लेकर मंगलावती देश तक वह सूची ली जाती है जो पूर्व-पश्चिम मेरु पर्वतोंके अन्तरालमें स्थित है ॥५४३॥ यह सूची छह लाख चौहत्तर हजार आठ सौ बयालीस योजन प्रमाण है ॥५४४॥ इस सूचीकी परिधिका प्रमाण इक्कीस लाख चौंतीस हजार अड़तीस योजन है ॥५४५॥ इसके देशका विस्तार नौ हजार छह सौ तीस योजन तथा एक योजनके आठ भागोंमें तीन भाग प्रमाण है ॥५४६॥ क्षेत्र, वक्षारगिरि, विभंगा नदी और देवारण्य इनकी लम्बाई आदि, मध्य और अन्तके भेदसे तीन-तीन प्रकारकी है ॥५४७॥ कच्छा देशकी आदि लम्बाई पाँच लाख नौ हजार पाँच सौ सत्तर योजन तथा एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें दो सौ भाग है ॥५४८॥ इसकी आदि

१. कुलाद्यन्ते म. । २. शते म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वस्य विजयस्याद्रेरायामः सरितोऽपि वा । अन्त्यो यः स परस्याद्यो विजयादेर्व्यवस्थितः ॥५५०॥
विजयायामवृद्धिश्च सहस्रं तु चतुर्गुणम् । शतानि पञ्च चाशीतिश्चत्वारि च समीरिता ॥५५१॥
वक्षारायामवृद्धिस्तु सप्तसप्ततिसंयुता । चतुःशतीतिसंख्याता षष्टिश्च सकला कलाः ॥५५२॥
सा विभङ्गनदीवृद्धिः शतमेकोनविंशतिः । कलाश्चैव द्विपञ्चाशदिति वृद्धिविदो विदुः ॥५५३॥
सप्तशत्या सहस्रे द्वे तथाशीतिर्नवाधिका । देवारण्यायते वृद्धिर्वर्ण्या द्वानवतिः कलाः ॥५५४॥
स्थानक्रमास्त्रिकं द्वे च षट् चत्वारि नवद्विकम् । पद्माजनपदायामः शतं षण्णवतिः कलाः ॥५५५॥
आद्यो यो वृद्धिहीनोऽसौ मध्यो मध्योऽन्त एव हि । वक्षारक्षेत्रनद्यादा वेद्यमेवं यथाक्रमम् ॥५५६॥
अन्योन्याभिमुखा देशा वक्षारनगसिन्धवः । तटयोः सदृशायामाः सीतासीतोदयोः स्थिताः ॥५५७॥
पूर्वान्मन्दरतः पूर्वैर्विदेहैरपरैरिमैः । पाश्चात्यादपरे पूर्वे ते समाः स्युर्यथाक्रमम् ।.५५८॥
चत्वारिंशच्च चत्वारस्तद्द्वीपे शतमेव च । जम्बूद्वीपसमाः खण्डा गणितस्य समं पुनः ॥५५९॥
कोटीनामेकलक्षा स्यात्सहस्राणि त्रयोदश । शतान्यष्टौ तथैका सा चत्वारिंशच्च कोटयः ॥५६०॥
नवभिर्नवतिर्लक्षा पञ्चाशत्सप्तभिः सह । सहस्राणि शतैः षड्भिरेकषष्ट्युत्तरैस्तथा ॥५६१॥
द्वीपं च धातकीखण्डं परिक्षिपति सर्वतः । द्वीपद्विगुणविस्तारः कालः कालोदसागरः ॥५६२॥
तस्यैकनवतिर्लक्षाः सहस्राणि च सप्ततिः । षट्शतो साधिका पञ्च पर्यन्तपरिधिर्मतः ॥५६३॥
षट् शतानि च कालोदे द्वासप्ततिरितस्ततः । जम्बूद्वीपसमाः खण्डाः पण्डितैरिह पिण्डिताः ॥५६४॥
पञ्च लक्षास्तु कोटीनामेकत्रिंशत्सहस्रकैः । शतद्वयं द्विषष्टिश्च कोटयः प्रकटाः स्थिताः ॥५६५॥
लक्षाश्चैव चतुःषष्टिर्नवषष्टिसहस्रकैः । कालोदधावशीतिश्च गणितस्य पदं मतम् ॥५६६॥

लम्बाईमें देशकी लम्बाई मिला देनेपर मध्य लम्बाई हो जाती है और मध्य लम्बाईमें देशकी लम्बाई मिल जानेपर अन्त लम्बाई हो जाती है। यही क्रम पर्वतादिकमें जानना चाहिए ॥५४९॥ पूर्वमें देश, वक्षार पर्वत और विभंग नदीकी जो अन्त्य लम्बाई है वही आगेके देश, वक्षार पर्वत और विभंग नदीकी आदि लम्बाई है ॥५५०॥ देशकी आयामवृद्धि चार हजार पाँच सौ चौरासी योजन कही गयी है ॥५५१॥ वक्षार गिरियोंकी आयामवृद्धि चार सौ सतहत्तर योजन साठ कला है ॥५५२॥ विभंग नदियोंकी आयामवृद्धि एक सौ उन्तीस योजन बावन कला है ऐसा वृद्धिके जाननेवाले आचार्य कहते हैं ॥५५३॥ और देवारण्यकी वृद्धि दो हजार सात सौ नवासी योजन बानबे कला है ॥५५४॥ पद्मा देशकी लम्बाई दो लाख चौरानबे हजार छह सौ तेईस योजन एक सौ छियानबे कला है ॥५५५॥ यहाँके वक्षार पर्वत, क्षेत्र तथा नदी आदिकी आयामवृद्धि हीन जो आदि लम्बाई है वही इनकी मध्य लम्बाई है और आयामवृद्धि हीन जो मध्य लम्बाई है वही इनकी अन्त्य लम्बाई यथाक्रमसे जानने योग्य है ॥५५६॥ देश, वक्षारगिरि और विभंग नदियाँ सीता, सीतोदा नदियोंके दोनों तटोंपर आमने-सामने स्थित हैं तथा एक समान आयामके धारक हैं ॥५५७॥ पश्चिम मेरुसे पूर्व और पश्चिममें जो विदेह हैं वे क्रमशः पूर्व मेरुसे पूर्व तथा पश्चिमके विदेहोंके समान हैं ॥५५८॥ इस धातकीखण्डमें जम्बूद्वीपके समान एक-एक लाख विस्तारवाले एक सौ चौवालीस खण्ड हैं और समस्त धातकीखण्ड द्वीपका क्षेत्रफल एक लाख तेरह हजार आठ सौ इकतालीस करोड़ निन्यानबे लाख संतावन हजार छह सौ इकसठ योजन है ॥५५९-५६१॥ इस प्रकार धातकी खण्डका वर्णन किया। अब कालोदधिका वर्णन करते हैं—

धातकीखण्ड द्वीपसे दूने विस्तारवाला काले रंगका कालोदधि सागर धातकीखण्ड द्वीपको सब ओरसे घेरे हुए है ॥५६२॥ इसकी परिधि एकानबे लाख सत्तर हजार छह सौ पाँच योजनसे कुछ अधिक मानी गयी है ॥५६३॥ विद्वानोंने कालोदधि समुद्रमें जहाँ-तहाँ जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन विस्तारवाले छह सौ बहत्तर खण्ड संकलित किये हैं ॥५६४॥ कालोदधि समुद्रका समस्त क्षेत्रफल पाँच लाख उनहत्तर हजार अस्सी योजन है ॥५६५-५६६॥ कालोदधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालोदे दिशि निश्चेयाः प्राच्यामुदकमानुषाः । अपाच्यामश्वकर्णास्तु प्रतीच्यां पक्षिमानुषाः ॥५६७॥
उदीच्यां गजकर्णाश्च शूकरास्या विदिक्षु तु । उष्ट्रकर्णाश्च गोकर्णाः प्राच्येभ्यो दक्षिणोत्तराः ॥५६८॥
गजकर्णाश्वकर्णानां मार्जारास्यास्तु पार्श्वयोः । पक्षिणां गजवक्त्राश्च कर्णप्रावरणाः स्थिताः ॥५६९॥
शिशुमारमुखाश्चैव मकराभमुखास्तथा । विजयार्द्धद्वयोपान्त्ये कालोदजलधौ स्थिताः ॥५७०॥
मत्स्या हिमवतोरग्रे वृकव्याघ्रमुखाः स्थिताः । शृगालर्क्षमुखाश्चाग्रे शिखरिश्रुतिभूभृतोः ॥५७१॥
स्थिता द्वीपिमुखाश्चाग्रे भृङ्गाराराजतागयोः । बाह्याभ्यन्तरयोरन्तर्जगत्योर्द्वैप्यमानवाः ॥५७२॥
आयुर्वर्णगृहाहारैः समा गत्यापि लावणैः । सहस्रमवगाढास्ते द्वीपाश्छिन्नतटाम्बुधौ ॥५७३॥
कालोदस्थाः प्रवेशेन द्वीपाः पञ्चशताधिकाः । मता द्विगुणविस्तारा लावणेभ्यः कुमानुषैः ॥५७४॥
चतुर्विंशतिरन्तःस्थास्तावन्तश्च बहिः स्थिताः । लवणोदस्थितैः सर्वैः द्वीपाः षण्णवतिस्तु ते ॥५७५॥
कालोदं पुष्करद्वीपः परिष्कृत्य द्विमन्दरः । स्थितो द्विगुणविष्कम्भः पृथुपुष्करलाञ्छनः ॥५७६॥
मानुषक्षेत्रमर्यादा मानुषोत्तरभूभृता । परिश्लिष्टस्तु तस्यार्द्धः पुष्करार्द्धस्ततो मतः ॥५७७॥

समुद्रकी पूर्व दिशामें पानीके समान मुखवाले, दक्षिण दिशामें घोड़ेके समान कानवाले, पश्चिम दिशामें पक्षियोंके समान मुखवाले और विदिशाओंमें शूकरके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं। पूर्व दिशामें जो पानीके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं उनके दक्षिण और उत्तरमें—दोनों ओर क्रमसे ऊँट तथा गौके समान कानवाले मनुष्य रहते हैं। गजकर्ण और अश्वकर्ण मनुष्योंकी दोनों ओर बिल्लीके समान मुखवाले तथा पक्षियोंके समान मुखवालोंकी दोनों ओर हाथीके समान मुखवाले मनुष्य स्थित हैं। इन मनुष्योंके कान इतने लम्बे होते हैं कि ये उन्हींको ओढ़-बिछाकर सो जाते हैं ॥५६७-५६९॥ कालोदधि समुद्रमें विजयार्ध पर्वतके जो दो छोर निकले हुए हैं उनपर शिशुमारके समान तथा मगरके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं ॥५७०॥ हिमवान् पर्वतके दोनों छोरोंपर भेड़िया और व्याघ्रके समान मुखवाले तथा शिखरी पर्वतके दोनों भागोंपर शृगाल और भालूके समान मुखवाले मनुष्य स्थित हैं ॥५७१॥ ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतके दोनों भागोंपर चीता तथा भृंगार (झारी) के समान मुखवाले और बाह्य एवं आभ्यन्तर जगतीपर चीतेके समान मुखवाले मनुष्य निवास करते हैं। ये समस्त मनुष्य आयु, वर्ण, गृह, आहार और गतिकी अपेक्षा लवण समुद्रके मनुष्योंके समान हैं, ये द्वीप एक हजार योजन गहरे हैं तथा जहाँ स्थित हैं वहाँ समुद्रका तट कटा हुआ है ॥५७२-५७३॥ कालोदधिमें स्थित रहनेवाले ये द्वीप प्रवेशकी अपेक्षा पाँच सौ योजनसे अधिक हैं अर्थात् दिशाओंके द्वीप समुद्रतटसे पाँच सौ योजन प्रवेश करनेपर, विदिशाओंके द्वीप पाँच सौ पचास योजन प्रवेश करनेपर और अन्तर्दिशाओंके द्वीप छह सौ योजन प्रवेश करनेपर स्थित हैं। इन सभीका विस्तार लवण समुद्रके द्वीपोंसे दूना माना गया है तथा कुमानुष कुभोग भूमिया जीव इनमें रहते हैं ॥५७४॥ चौबीस द्वीप कालोदधिकी आभ्यन्तर (धातकीखण्डकी समीपवर्ती) सीमामें और चौबीस द्वीप बाह्य (पुष्करार्द्धकी समीपवर्ती) सीमामें स्थित हैं। इस प्रकार कालोदधिमें अड़तालीस हैं। लवण समुद्रके अड़तालीस द्वीपोंके साथ मिलकर सब अन्तर्द्वीप छियानबे हो जाते हैं ॥५७५॥ इस प्रकार कालोदधिका वर्णन किया। अब पुष्कर द्वीपका वर्णन करते हैं—

जिसकी पूर्व-पश्चिम दिशाओंमें दो मेरु हैं, कालोदधिकी अपेक्षा जिसका दूना विस्तार है और जो पुष्कर अर्थात् कमलके विशाल चिह्नसे युक्त है ऐसा पुष्करवर द्वीप कालोदधिको चारों ओरसे घेरकर स्थित है ॥५७६॥ पुष्करवर द्वीपका अर्धभाग, मनुष्य क्षेत्रकी सीमा निश्चित करनेवाले

१. शृगालाक्ष म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इष्वाकाराद्रिणाप्येष दक्षिणेनोत्तरेण च । विभक्तो भिद्यते द्वेधा स पूर्वश्चापि पश्चिमः ॥५७८॥
प्रत्येकं मेरुमध्यौ तौ धातकीखण्डखण्डवत् । क्षेत्रपर्वतनद्याद्यैः पूर्वनाममिरन्वितौ ॥५७९॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि सहस्रं पञ्चशत्यपि । सप्ततिर्नव चांशास्तु त्रिसप्तत्युत्तरं शतम् ॥५८०॥
भरतान्तरविष्कम्भो मध्यो द्वादशयोजनैः । त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि शतैः पञ्चभिरेव च ॥५८१॥
भागाश्चास्य शतं प्रोक्ता नवतिश्च नवापि च । बाह्योऽपि भाष्यते तस्य विष्कम्भो भरतस्य तु ॥५८२॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनानि चतुःशतैः । षट् चत्वारिंशदेतानि भागाश्चासौ त्रयोदश ॥५८३॥
आविदेहं च विष्कम्भाद् वर्षाद् वर्षं चतुर्गुणम् । गणितज्ञैर्विनिर्दिष्टं पर्वतादपि पर्वतः ॥५८४॥
एका कोटिः पुनर्लक्षा द्वाचत्वारिंशदेव ताः । त्रिंशच्चापि सहस्राणि योजनानां शतद्वयम् ॥५८५॥
साधिकैकाग्रपञ्चाशद् योजनानि बहिर्भवः । पुष्करार्धस्य सर्वस्य परिधिः परिभाषितः ॥५८६॥
तिस्रो लक्षाः सहस्राणि पञ्च पञ्चाशदद्रिभिः । रुद्धं क्षेत्रं शतैः षड्भिरशीत्या चतुरन्तया ॥५८७॥
वैताढ्यवृत्तवैताढ्यास्तथा वर्षधरादयः । निजोत्सेधावगाहाभ्यां तैर्जम्बूद्वीपजैः समाः ॥५८८॥
धातकीखण्डजेभ्यस्तु विष्कम्भा द्विगुणा मताः । पुष्करार्द्धे समौ प्राग्भ्यामिष्वाकारौ च मन्दरौ ॥५८९॥
मानुषक्षेत्रविष्कम्भश्चत्वारिंशच्च पञ्च च । लक्ष्यास्त्वर्धतृतीयौ तौ द्वीपौ वार्धिद्वयान्वितौ ॥५९०॥
योजनानां सहस्रं तु सप्तशत्येकविंशतिः । उच्छ्रायः सच्छ्रियस्तस्य मानुषोत्तरभूभृतः ॥५९१॥
सक्रोशोऽपि च त्रिंशदवगाहश्चतुःशती । द्वाविंशत्या सहस्रं तु मूलविस्तार इष्यते ॥५९२॥
त्रयोविंशतियुक्तानि मध्ये सप्त शतानि तु । विस्तारोऽस्योपरि प्रोक्तश्चतुर्विंशाश्चतुःशती ॥५९३॥
कोटी तु परिधिर्लक्षा द्विचत्वारिंशदस्य च । षट्त्रिंशच्च सहस्राणि सप्तशत्या त्रयोदश ॥५९४॥

मानुषोत्तर पर्वतसे घिरा हुआ है इसलिए पुष्करार्ध माना गया है ॥५७७॥ यह द्वीप उत्तर और दक्षिण दिशामें पड़े हुए इष्वाकार पर्वतोंसे विभक्त है इसलिए इसके पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध इस प्रकार दो भेद हो जाते हैं ॥५७८॥ इन दोनों ही खण्डोंके मध्यमें धातकीखण्डके समान मेरु पर्वत है तथा पहलेके ही समान नामवाले क्षेत्र पर्वत तथा नदी आदिसे दोनों खण्डयुक्त हैं ॥५७९॥ पुष्करार्धके भरत क्षेत्रका आभ्यन्तर विस्तार इकतालीस हजार पाँच सौ उन्यासी योजन तथा एक सौ तेहत्तर भाग है। मध्य विस्तार त्रेपन हजार पाँच सौ बारह योजन एक सौ निन्यानबे भाग है और बाह्य विस्तार पैंसठ हजार चार सौ छियालीस योजन तेरह भाग कहा जाता है ॥५८०-५८३॥ गणितज्ञ आचार्योंने विदेह क्षेत्र तक पूर्व क्षेत्रसे आगेके क्षेत्रका और पूर्व भवनसे आगेके पर्वतका चौगुना विस्तार बतलाया है ॥५८४॥ समस्त पुष्करार्धकी बाह्य परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजनसे कुछ अधिक कही गयी है ॥५८५-५८६॥ पुष्करार्धका तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी योजन प्रमाण क्षेत्र पर्वतोंसे रुका हुआ है ॥५८७॥ पुष्करार्धके विजयार्ध नाभिगिरि तथा कुलाचल आदि अपनी-अपनी ऊँचाई और गहराईकी अपेक्षा जम्बू द्वीपके विजयार्ध आदिके समान हैं ॥५८८॥ परन्तु विस्तारकी अपेक्षा धातकीखण्डके विजयार्ध आदिके दूने-दूने हैं। पुष्करार्धके दोनों इष्वाकार तथा दोनों मेरु धातकीखण्डके इष्वाकार और मेरुओंके समान हैं ॥५८९॥ अढ़ाई द्वीप तथा लवणोदधि और कालोदधि ये दो समुद्र मनुष्यक्षेत्र कहलाते हैं। इसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है ॥५९०॥ उत्तम शोभासे सम्पन्न मानुषोत्तर पर्वतकी ऊँचाई एक हजार सात सौ इक्कीस योजन है ॥५९१॥ गहराई चार सौ तीस योजन एक कोश है। मूल विस्तार एक हजार बाईस योजन, मध्य विस्तार सात सौ तेईस योजन और उपरितन भागका विस्तार चार सौ चौबीस योजन है ॥५९२-५९३॥ मानुषोत्तरकी परिधिका विस्तार एक करोड़ बयालीस लाख छत्तीस हजार सात

१. वृत्तवेदाढ्या म. । २. खण्डकेभ्यस्तु क., म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तश्छिन्नतटो भाति बहिर्वृद्धिक्रमोन्नतिः । सोऽभ्यन्तरमुखासीनमृगाधिपतिविक्रमः ॥५९५॥
चतुर्दशगुहाद्वारदत्तनिर्गमनो गिरिः । पुष्करोदं नयत्येष पूर्वापरनदीवधूः ॥५९६॥
पञ्चाशद्योजनायामास्तदर्द्धव्याससंगताः । अर्धयोजनसंवृद्धसप्तत्रिंशत्समुच्छ्रिताः ॥५९७॥
अष्टोच्छ्रायचतुर्व्यासगृहद्वारोपशोभिताः । चत्वारो मूर्ध्नि तस्याद्रेश्चतुर्दिक्षु जिनालयाः ॥५९८॥
तस्मदक्षिणवृत्तानि प्राच्यादिषु दिशासु च । इष्टदेशनिविष्टानि कूटान्यष्टादशाचले ॥५९९॥
तानि पञ्चशतोत्सेधमूलविस्तारवन्ति तु । शते चार्द्धतृतीये द्वे विस्तृतान्यपि चोपरि ॥६००॥
त्रीणि त्रीणि हि कूटानि चतुर्दिक्षु विदिक्षु तु । चत्वारि वज्रमैशान्यामाग्नेय्यां तपनीयकम् ॥६०१॥
प्राच्यां दिशि तु वैडूर्ये यशस्वान् वसति प्रभुः । अश्मगर्भे यशस्कान्तः सुपर्णानां यशोधरः ॥६०२॥
सौगन्धिके ततोऽपाच्यां रुचके नन्दनस्तथा । लोहिताक्षे पुनः कूटे नन्दोत्तर इतीरितः ॥६०३॥
तस्यामशनिघोषोऽपि वसत्यञ्जनके दिशि । सिद्धश्चाञ्जनमूले तु प्रतीच्यां कनके पुनः ॥६०४॥
क्रमणे मानुषाख्यस्तु कूटे रजतनामनि । उदीच्यां स्फटिके कूटे सुदर्शन इति श्रुतः ॥६०५॥
अङ्के मोघः प्रवालेऽस्यां सुप्रबुद्धो वसत्यसौ । तपनीये सुरः स्वातिर्वज्रे तु हनुमानपि ॥६०६॥
निषधस्पृष्टभागस्थे रत्नाख्ये पूर्वदक्षिणे । वेणुदेव इति ख्यातः पन्नगेन्द्रो वसत्यसौ ॥६०७॥

सौ तेरह है ॥५९४॥ यह मानुषोत्तर भीतरकी ओर छिन्नतट टाँकीसे कटे हुएके समान एक सदृश है और इसका बाह्य भाग पिछली ओरसे क्रमसे ऊँचा उठता गया है अतः भीतरकी ओर मुख कर बैठे हुए सिंहके समान उसका आकार जान पड़ता है ॥५९५॥ यह पर्वत चौदह गुफारूपी दरवाजोंके द्वारा निकलनेका मार्ग देकर पूर्व-पश्चिमकी नदीरूपी स्त्रियोंको पुष्करोदधिके पास भेजता रहता है ॥५९६॥ जिन गुफाओंसे नदियाँ निकलती हैं वे पचास योजन लम्बी, पचीस योजन चौड़ी और साढ़े सैंतीस योजन ऊँची हैं ॥५९७॥ मानुषोत्तर पर्वतके उपरितन भागपर चारों दिशाओंमें आठ योजन ऊँचे और चार योजन चौड़े गृह-द्वारोंसे सुशोभित चार जिनालय हैं ॥५९८॥ इसी मानुषोत्तर पर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें प्रदक्षिणा रूपसे इष्ट स्थानोंपर बने हुए अठारह कूट हैं ॥५९९॥ ये कूट पाँच सौ योजन ऊँचे हैं। इनके मूल भागका विस्तार पाँच सौ योजन और ऊर्ध्वभागका ढाई सौ योजन है ॥६००॥ मानुषोत्तर पर्वतकी चारों दिशाओंमें तीन-तीन तथा विदिशाओंमें चार* कूट हैं। इन चारके सिवाय ऐशान दिशामें वज्रकूट और आग्नेय दिशामें तपनीयक कूट और भी हैं ॥६०१॥ पूर्व दिशाके वैडूर्य नामक पहले कूटपर यशस्वान् देव, दूसरे अश्मगर्भ कूटपर यशस्कान्त और तीसरे सौगन्धिक कूटपर सुपर्णकुमारोंका स्वामी यशोधर देव रहता है। तदनन्तर दक्षिण दिशाके रुचक कूटपर नन्दन, लोहिताक्ष कूटपर नन्दोत्तर और अंजन कूटपर अशनिघोष देव रहता है। पश्चिम दिशाके अंजनमूल कूटपर सिद्धदेव, कनक कूटपर क्रमण देव और रजत कूटपर मानुष नामका देव रहता है। उत्तर दिशाके स्फटिक कूटपर सुदर्शन, अंक कूटपर मोघ और प्रवाल नामक कूटपर सुप्रबुद्ध देव रहता है। आग्नेय विदिशाके पूर्वोक्त तपनीयक कूटपर स्वाति देव तथा ऐशान दिशाके वज्रक कूटपर हनुमान् नामका देव रहता है। मानुषोत्तर पर्वतके पूर्व-दक्षिण कोणमें निषधाचलसे स्पृष्ट भागमें रत्न नामका कूट है और उसपर नागकुमारोंका स्वामी वेणुदेव रहता है। पूर्वोत्तर कोणमें नीलाचलसे स्पृष्ट भागमें सर्वरत्न नामका कूट है उसपर

१. सुखासीन म.। २. पुष्करो नन्दयत्येष म.।

★ ऐशान और आग्नेय विदिशामें दो-दो तथा नैर्ऋत्य और वायव्यमें एक-एक इस प्रकार विदिशाओंमें ६ तथा दिशाओंमें १२ कुल मिलाकर १८ कूट बताये हैं। इनमें चार सिद्धायतन कूट और मिला देनेपर २२ कूट होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीलाद्रिस्पृष्टभागस्थे पूर्वोत्तरदिगाश्रिते । सर्वरत्ने सुपर्णेन्द्रो वेणुदारी वसत्यसौ ॥६०८॥
निषधस्पृष्टभागस्थं दक्षिणापरदिग्गतम् । वेलम्बं चातिवेलम्बो [1]वरुणोऽधिवसत्यसौ ॥६०९॥
नीलाद्रिस्पृष्टभागस्थमपरोत्तरदिग्गतम् । प्रभञ्जनं तु तन्नामा वातेन्द्रोऽधिवसत्यसौ ॥६१०॥
इत्यनेकाद्भुताकीर्णः सौवर्णो मानुषक्षितेः । प्राकार इव भात्येष मानुषोत्तरपर्वतः ॥६११॥
विद्याधरा न गच्छन्ति नर्षयः प्राप्तलब्धयः । समुद्घातोपपादाभ्यां विनास्मादुत्तरं गिरेः ॥६१२॥
जम्बूद्वीपं यथा क्षारः कालोदोऽब्धिः परं यथा । द्वीपं तथैव पर्येति पुष्करोदोऽपि पुष्करम् ॥६१३॥
वारुणीवरनामानं वारुणीवरसागरः । ततः क्षीरवरद्वीपं ख्यातः क्षीरोदसागरः ॥६१४॥
ततो घृतवरद्वीपं षष्ठं घृतवरोदधिः । ततश्चेक्षुवरद्वीपं पर्येतीक्षुरसोदधिः ॥६१५॥
नन्दीश्वरवरद्वीपं नन्दीश्वरवरोदधिः । अष्टमं चाष्टमः ख्यातः परिक्षिपति सर्वतः ॥६१६॥
अरुणं नवमं द्वीपं सागरोऽरुणसंज्ञकः । अरुणोद्भासनामानमरुणोद्भाससागरः ॥६१७॥
द्वीपं तु कुण्डलवरं स कुण्डलवरोदधिः । ततः शङ्खवरद्वीपं स शङ्खवरसागरः ॥६१८॥
रुचकादिवरद्वीपं रुचकादिवरोदधिः । भुजगादिवरद्वीपं भुजगादिवरोदधिः ॥६१९॥
द्वीपं कुशवरं नाम्ना ख्यातः कुशवरोदधिः । द्वीपं क्रौञ्चवरं चापि स क्रौञ्चवरसागरः ॥६२०॥
द्विगुणद्विगुणव्यासा यथैते द्वीपसागराः । नामभिः षोडश ख्याताः असंख्येयास्ततः परे ॥६२१॥
आषोडशादतस्त्यान्यानसंख्यान् द्वीपसागरान् । द्वीपो [2]मनःशिलाभिख्यो हरितालस्ततः परः ॥६२२॥
सिन्दूरः श्यामको द्वीपस्तथैवाञ्जनसंज्ञकः । द्वीपो हिङ्गुलकाभिख्यस्ततो रूपवरः परः ॥६२३॥
सुवर्णवरनामाऽतो द्वीपो वज्रवरस्ततः । वैडूर्यवरसंज्ञश्च परो नागवरस्तथा ॥६२४॥
द्वीपो भूतवरश्चान्यस्ततो यक्षवरस्ततः । ख्यातो देववरो द्वीपः परश्चेन्दुवरस्ततः ॥६२५॥

गरुडकुमारोंका इन्द्र वेणुदारी रहता है। दक्षिण-पश्चिम कोणमें निषधाचलसे स्पृष्ट भागमें वेलम्ब नामका कूट है उसपर वरुणकुमारोंका अधिपति अतिवेलम्ब देव रहता है। तथा पश्चिमोत्तर दिशामें नीलाचलसे स्पृष्ट भागमें प्रभंजन नामका कूट है और उसके ऊपर वायुकुमारोंका इन्द्र प्रभंजन नामका देव रहता है ॥६०२–६१०॥ इस प्रकार अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ यह सुवर्णमय मानुषोत्तर पर्वत मनुष्य क्षेत्रके कोटके समान जान पड़ता है ॥६११॥ समुद्घात और उपपादके सिवाय विद्याधर तथा ऋद्धि प्राप्त मुनि भी इस पर्वतके आगे नहीं जा सकते ॥६१२॥

जिस प्रकार जम्बूद्वीपको लवण समुद्र घेरे हुए है उसी प्रकार पुष्करवर द्वीपको पुष्करवर समुद्र घेरे हुए है ॥६१३॥ उसके आगे वारुणीवर द्वीपको वारुणीवर सागर, क्षीरवर द्वीपको क्षीरोद-सागर, घृतवर द्वीपको घृतवर सागर, इक्षुवर द्वीपको इक्षुवर सागर, आठवें नन्दीश्वर द्वीपको नन्दीश्वरवर सागर, नौवें अरुण द्वीपको अरुणसागर, अरुणोद्भास द्वीपको अरुणोद्भास सागर, कुण्डलवर द्वीपको कुण्डलवर सागर, शंखवर द्वीपको शंखवर सागर, रुचकवर द्वीपको रुचकवर सागर, भुजगवर द्वीपको भुजगवर सागर, कुशवर द्वीपको कुशवर सागर, और क्रौंचवर द्वीपको क्रौंचवर सागर ये सब ओरसे घेरे हुए हैं। जिस प्रकार दूने-दूने विस्तारवाले इन सोलह द्वीप-सागरोंका नामोल्लेख पूर्वक वर्णन किया है उसी प्रकार दूने-दूने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप-सागर इनके आगे और हैं ॥६१४–६२१॥

सोलहवें द्वीप सागरके आगे असंख्यात द्वीप सागरोंका उल्लंघन कर १ मनःशिल नामका द्वीप है उसके बाद २ हरिताल, ३ सिन्दूर, ४ श्यामक, ५ अंजन, ६ हिंगुलक, ७ रूपवर, ८ सुवर्णवर, ९ वज्रवर, १० वैडूर्यवर, ११ नागवर, १२ भूतवर, १३ यक्षवर, १४ देववर

---

१. वरुणेन्द्रो वसत्यसौ म. । २. मतः शिलोऽभिख्यो म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयंभूरमणाभिख्यौ सर्वान्त्यौ द्वीपसागरौ । षोडशैतेऽब्धिभिः सार्द्धं स्वनामसमनामभिः ॥६२६॥
राशिद्वयान्तराले स्युरसंख्या द्वीपसागराः । अनादिशुभनामानः सान्तरस्थितमूर्त्तयः ॥६२७॥
लवणो लवणस्वादस्तन्नामा वारुणीरसः । घृतक्षीररसौ द्वौ च कालोदान्त्यौ शुभोदकौ ॥६२८॥
मधूदकोभयास्वादः पुष्करोदः स्वभावतः । शेषास्त्विक्षुरसास्वादाः सर्वेऽपि जलराशयः ॥६२९॥
लवणोदे महामत्स्याः संमूर्च्छनजमूर्त्तयः । नवयोजनदीर्घाः स्युस्तीरे मध्ये द्विरायताः ॥६३०॥
नदीमुखेषु कालोदे ते त्वष्टादशयोजनाः । षट्त्रिंशद्योजना मध्ये गर्भजास्तु तदर्धकाः ॥६३१॥
[1]स्वयंभूरमणेऽप्यादौ ते पञ्चशतयोजनाः । सहस्रयोजना मध्ये मत्स्याद्या नान्यसिन्धुषु ॥६३२॥
मानुषोत्तरपर्यन्ता जन्तवो विकलेन्द्रियाः । अन्त्यद्वीपार्द्धतः सन्ति परस्तात्ते यथा परे ॥६३३॥
द्वीपो वापि समुद्रो वा विस्तारेणैकलक्षया । सर्वेभ्यः समतीतेभ्यः परस्तेभ्योऽतिरिच्यते ॥६३४॥
अर्धमन्दरविष्कम्भात् स्वयंभूरमणाम्बुधेः । अन्तः प्राप्य स्थितायास्तु रज्ज्वा मध्यमिदं विदुः ॥६३५॥
गुणितं पञ्चसप्तत्या सहस्रमवगाह्य तु । स्वयंभूरमणाम्भोधिं रज्जुमध्यमवस्थितम् ॥६३६॥

१५ इन्दुवर तथा सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमण द्वीप तथा स्वयम्भूरमण सागर है। ये सभी द्वीप अपने समान नामवाले सागरोंसे वेष्टित हैं ॥६२२-६२६॥ आदिके सोलह और अन्तके सोलह इन दोनों राशियोंके बीच अनादि कालिक शुभ नामोंको धारण करनेवाले असंख्यात द्वीप और असंख्यात सागर हैं। इनमें द्वीपोंके बीच सागरका और सागरोंके बीच द्वीपका अन्तर विद्यमान है अर्थात् द्वीपके बाद सागर और सागरके बाद द्वीप इस क्रमसे इनका सद्भाव है ॥६२७॥ इन समुद्रोंमें लवणसमुद्रके जलका स्वाद नमकके समान है, वारुणीवर समुद्रके जलका स्वाद वारुणी—शराबके तुल्य है, घृतवर और क्षीर समुद्रका जल क्रमसे घृत और दूधके समान है। कालोदधि और अन्तिम-स्वयम्भूरमणका जल पानीके समान है। पुष्करवर समुद्र मधु और पानी दोनोंके स्वादसे युक्त है तथा बाकी समस्त समुद्र इक्षुरसके समान स्वादवाले हैं ॥६२८-६२९॥ लवण समुद्रके तीरपर सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न हुए महामच्छ नौ योजन लम्बे हैं तथा मध्यमें इससे दूने अर्थात् अठारह योजन लम्बे हैं। कालोदधि समुद्रमें नदियोंके प्रवेशस्थानपर अठारह योजन और मध्यमें छत्तीस योजन लम्बे हैं। गर्भजन्मसे उत्पन्न होनेवाले मच्छोंकी लम्बाई सम्मूर्च्छनज मत्स्योंसे आधी है ॥६३०-६३१॥ स्वयम्भूरमण समुद्रके तीरपर मच्छोंकी लम्बाई पाँच सौ योजन और मध्यमें एक हजार योजन है। लवण समुद्र, कालोदधि और स्वयम्भूरमण इन तीन समुद्रोंके सिवाय अन्य समुद्रोंमें मच्छ आदि जलचर जीव नहीं हैं ॥६३२॥ इस ओर विकलेन्द्रिय जीव (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) मानुषोत्तर पर्वत तक ही रहते हैं। उस ओर स्वयम्भूरमण द्वीपके अर्ध भागसे लेकर अन्त तक पाये जाते हैं ॥६३३॥ यदि किसी द्वीप या सागरका विस्तार जानना है तो उसके पहले जो भी द्वीप और सागर निकल चुके हैं उन सबके विस्तारको इकट्ठा कर लीजिए उससे एक लाख योजन अधिक विस्तार उस विवक्षित द्वीप या सागरका होता है ॥६३४॥ मेरु पर्वतकी अर्ध चौड़ाईसे लेकर स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्त तक आधी राजू होती है। इस आधी राजूका मध्य स्वयम्भूरमण समुद्रमें पचहत्तर हजार योजन प्रवेश करनेपर होता है। भावार्थ—समस्त मध्यम लोकका विस्तार एक राजू है। मेरु पर्वतकी जो चौड़ाई है उसके अर्ध भागसे लेकर स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्त तक आधी राजू होती है। आधी राजूके आधे भागमें आधा जम्बूद्वीप तथा असंख्यात द्वीप सागर और अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्रके पचहत्तर हजार योजन तकका प्रदेश आता है, बाकी आधी राजूमें

१. जलयरजीवा लवणे काले यंतिम सयंभुरमणे य ।
कम्म महीं पडिवद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥ —त्रिलोकसारस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनावृत्तप्रभुर्यक्षो जम्बूद्वीपस्य रक्षकः । सुस्थितो लवणाम्भोधेरधिपः प्रतिपादितः ॥६३७॥
धातकीखण्डनाथौ तु प्रभासप्रियदर्शनौ । कालश्चापि महाकालः कालोदजलधीश्वरौ ॥६३८॥
पद्मश्च पुण्डरीकश्च पुष्करद्वीपनामकौ[1] । चतुष्मांश्च सुचक्षुश्च मानुषोत्तरशैलयोः[2] ॥६३९॥
श्रीप्रभश्रीधरौ नाथौ पुष्करोदस्य वारिधेः । वारुणीवरभूमीशौ वरुणो वरुणप्रभः ॥६४०॥
वारुणीवरवार्धीशौ मध्यमध्यमसंज्ञकौ । पाण्डुरः पुष्पदन्तश्च तौ क्षीरवरभूमिपौ ॥६४१॥
वार्धेः क्षीरवरस्येशौ विमलो विमलप्रभः । प्रभू घृतवरद्वीपे सुप्रभश्च महाप्रभः ॥६४२॥
कनकः कनकाभश्च नाथौ घृतवरोदधेः । तथैवेक्षुरसद्वीपे पूर्णपूर्णप्रभौ सुरौ ॥६४३॥
देवौ गन्धमहागन्धौ नाथाविक्षुरसोदधेः । नन्दीश्वरवरद्वीपे नन्दिनन्दिप्रभौ तथा ॥६४४॥
प्रभू भद्रसुभद्रौ तु नन्दीश्वरवरोदधेः । अरुणद्वीपपौ देवावरुणश्चारुणप्रभः ॥६४५॥
सुगन्धसर्वगन्धाख्यावरुणाब्धेरधीश्वरौ । द्वौ द्वौ द्वीपाधिपावेवं परतो दक्षिणोत्तरौ ॥६४६॥
कोटीशतं त्रिषष्टयप्रमशीतिश्चतुरुत्तराः । लक्षा नन्दीश्वरद्वीपो विस्तीर्णो वर्णितो जिनैः ॥६४७॥
षट्त्रिंशच्च सहस्रं च कोटयो नियुतानि[3] च । द्वादशैव सहस्रे द्वे तथा सप्त शतानि च ॥६४८॥
योजनानि त्रिपञ्चाशदान्तरः परिधिः स च । नदीश्वरवरद्वीपसंभवो परिभाषितः ॥६४९॥
द्वासप्तत्युत्तरं कोटी सहस्रद्वितयं[4] तथा । नियुतानि त्रयस्त्रिंशन्नवत्या सहितं शतम् ॥६५०॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि चतुर्भिरधिकानि च । बहिः परिधिरेष स्यादष्टमद्वीपसंभवी ॥६५१॥
मध्ये तस्य चतुर्दिक्षु चत्वारोऽञ्जनपर्वताः । तुङ्गाश्चतुरशीतिं ते व्यस्ताश्चाधःसहस्रगाः ॥६५२॥
पटहाकृतयश्चित्रा वज्रमूलाः प्रभोज्ज्वलाः । भ्राजन्ते पर्वताः सर्वे सर्वतस्ते मनोहराः ॥६५३॥
सुकृष्णशिखराः शैलास्ते जाम्बूनदमूर्त्तयः । विकिरन्ति परां कान्तिं दिङ्मुखेषु यथायथम् ॥६५४॥
गत्वा योजनलक्षाः स्युर्महादिक्षु महीभृताम् । चतस्रस्तु चतुष्कोणा वाप्यः प्रत्येकमक्षयाः ॥६५५॥

स्वयम्भूरमण समुद्रका अवशिष्ट भाग है ॥६३५-६३६॥ जम्बू द्वीपका रक्षक अनावृत्त यक्ष है, लवण समुद्रका स्वामी सुस्थित देव कहा गया है ॥६३७॥ धातकीखण्डके स्वामी प्रभास और प्रियदर्शन, कालोदधिके काल और महाकाल, पुष्करवर द्वीपके पद्म और पुण्डरीक, मानुषोत्तर पर्वतके चक्षुष्मान् और सुचक्षु, पुष्करवर समुद्रके श्रीप्रभ और श्रीधर, वारुणीवर द्वीपके वरुण और वरुणप्रभ, वारुणीवर समुद्रके मध्य और मध्यम, क्षीरवर द्वीपके पाण्डुर और पुष्पदन्त, क्षीरवर समुद्रके विमल और विमलप्रभ, घृतवर द्वीपके सुप्रभ और महाप्रभ, घृतवर समुद्रके कनक और कनकाभ, इक्षुवर द्वीपके पूर्ण और पूर्णप्रभ, इक्षुवर समुद्रके गन्ध और महागन्ध, नन्दीश्वर द्वीपके नन्दी और नन्दिप्रभ, नन्दीश्वर समुद्रके भद्र और सुभद्र, अरुण द्वीपके अरुण और अरुणप्रभ और अरुण समुद्रके सुगन्ध और सर्वगन्ध देव स्वामी हैं। इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक द्वीप और सागरके दो-दो देव स्वामी हैं। उनमें एक दक्षिणका ओर दूसरा उत्तरका स्वामी है ॥६३८-६४६॥

जिनेन्द्र भगवान्‌ने आठवें नन्दीश्वर द्वीपका विस्तार एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन कहा है ॥६४७॥ नन्दीश्वर द्वीपकी आभ्यन्तर परिधि एक हजार छत्तीस करोड़ बारह लाख दो हजार सात सौ योजन है तथा बाह्य परिधि दो हजार बहत्तर करोड़ तैंतीस लाख चौवन हजार एक सौ नबे योजन है ॥६४८-६५१॥ नन्दीश्वर द्वीपके मध्यमें चारों दिशाओंमें चार अंजनगिरि हैं। ये पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचे, उतने ही चौड़े और एक हजार योजन गहरे हैं ॥६५२॥ ये सभी पर्वत ढोलके आकार हैं, चित्र-विचित्र हैं, वज्रमय मूलके धारक हैं, प्रभासे उज्ज्वल हैं और सब ओरसे मनको हरण करते हुए देदीप्यमान हैं ॥६५३॥ सुन्दर काले शिखरोंसे युक्त वे सुवर्णमयी पर्वत, दिशाओंमें सब ओर उत्तम कान्ति बिखेरते रहते हैं ॥६५४॥ एक लाख योजन आगे चलकर

१. नामको म. । २. शैलयोः म. । ३. लक्षाणि । ४. सहस्रं द्वितयं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्रपत्रसञ्छन्नाः स्फटिकस्वच्छवारयः । विचित्रमणिसोपाना [1]विनक्राद्याः सवेदिकाः ॥६५६॥
अवगाहः पुनस्तासां योजनानां सहस्रकम् । आयामोऽपि च विष्कम्भो जम्बूद्वीपप्रमाणकः ॥६५७॥
नन्दा नन्दवती चान्या वापी नन्दोत्तरा परा । नन्दीघोषा च पूर्वाद्रेर्दिक्षु प्राच्यादिषु स्थिताः ॥६५८॥
सौधर्मेन्द्रस्य भोग्याद्या द्वितीयैशानभोगिनः । तृतीया चमरेन्द्रस्य चतुर्थी तु बलेरसौ ॥६५९॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता । दक्षिणाञ्जनशैलस्य दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात् ॥६६०॥
शक्रस्य लोकपालानां पूर्वा तु वरुणस्य सा । क्रमाद् यमस्य सोमस्य भोग्या वैश्रवणस्य च ॥६६१॥
पाश्चात्याञ्जनशैलस्य पूर्वादिदिगवस्थिताः । अशोका सुप्रबुद्धा च कुमुदा पुण्डरीकिणी ॥६६२॥
भोग्याद्या वेणुदेवस्य वेणुतालेरतः परा । धरणस्य तृतीया तु भूतानन्दस्य चोत्तरा ॥६६३॥
उदीच्याञ्जनशैलस्य प्राच्याद्या सुप्रभंकरा । सुमनाश्च दिशासु स्यादानन्दा च सुदर्शना ॥६६४॥
ऐशानलोकपालस्य वरुणस्य यमस्य च । सोमस्य च कुबेरस्य भोग्यास्तास्तु यथाक्रमम् ॥६६५॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि चत्वारिंशच्च पञ्च च । अन्तरं षोडशानां स्यादान्तरं योजनानि तु ॥६६६॥
मध्यान्तराणि लक्षैका चत्वारि च सहस्रकैः । द्वियोजनाधिकानि स्युस्तासां वै षट्शतानि च ॥६६७॥
बाह्यान्तराणि लक्षे द्वे त्रयोविंशतिरेव च । सहस्राणि तथैव स्युरेकषष्ट्या च षट्शती ॥६६८॥
तासां मध्येषु वापीनां जाम्बूनदमयाः स्थिताः । षोडशार्जुनमूर्धानो नाम्ना दधिमुखाद्रयः ॥६६९॥
सहस्रमवगाढास्तु तदेव दशसंगुणम् । पटहाकृतयो व्यस्ता व्यायताश्च समुच्छ्रिताः ॥६७०॥
परितस्ताश्चतस्रोऽपि वापीर्वनचतुष्टयम् । प्रत्येकं तत्समायामं तदर्द्धव्याससंगतम् ॥६७१॥

इन पर्वतोंकी चारों दिशाओंमें चार चौकोर अविनाशी वापियाँ हैं ॥६५५॥ ये वापियाँ कमलोंसे आच्छादित हैं, स्फटिकके समान स्वच्छ जलसे युक्त हैं, मगरमच्छादिसे रहित और वेदिकाओंसे युक्त हैं ॥६५६॥ इनकी गहराई एक हजार योजन तथा लम्बाई और चौड़ाई जम्बू द्वीपके बराबर एक-एक लाख योजनकी है ॥६५७॥ पूर्व दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दीघोषा नामकी वापिकाएँ स्थित हैं ॥६५८॥ इनमें पहली नन्दा नामकी वापी सौधर्मेन्द्रकी, दूसरी नन्दवती ऐशानेन्द्रकी, तीसरी नन्दोत्तरा चमरेन्द्रकी और चौथी नन्दीघोषा वैरोचनको भोग्य है—क्रीड़ाका स्थान है ॥६५९॥ दक्षिण दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये चार वापिकाएँ हैं ॥६६०॥ इनमें-से पहली वापिकामें वरुण, दूसरीमें यम, तीसरीमें सोम, चौथीमें वैश्रवण क्रीड़ा करता है। ये चारों सौधर्मेन्द्रके लोकपाल हैं ॥६६१॥ पश्चिम दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरीकिणी ये चार वापिकाएँ हैं। इनमें-से पहली वापी वेणुदेवकी, दूसरी वेणुतालिकी, तीसरी धरणकी और चौथी भूतानन्दकी क्रीड़ा-भूमि है ॥६६२-६६३॥ उत्तर दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे सुप्रभंकरा, सुमना, आनन्दा और सुदर्शना ये चार वापिकाएँ हैं। इनमें ऐशानेन्द्रके लोकपाल, वरुण, यम, सोम और कुबेर क्रमसे क्रीड़ा करते हैं ॥६६४-६६५॥ इन सोलह वापिकाओंका भीतरी अन्तर पैंसठ हजार पैंतालिस योजन है। मध्य अन्तर एक लाख चार हजार छह सौ दो योजन है और बाहरी अन्तर दो लाख तेईस हजार छह सौ इकसठ योजन है ॥६६६-६६८॥ उन वापिकाओंके मध्यमें रूपामयी सफेद शिखरोंसे युक्त सुवर्णमय सोलह दधिमुख पर्वत हैं ॥६६९॥ ये सभी पर्वत एक-एक हजार योजन गहरे, दश-दश हजार योजन चौड़े, लम्बे तथा ऊँचे एवं ढोलके आकार हैं ॥६७०॥ चारों वापिकाओंकी चारों ओर चार वन हैं जो वापिकाओंके समान एक लाख योजन लम्बे और उनसे आधे अर्थात्

१. नक्रमकरादिजन्तुरहिताः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रागशोकवनं तत्र सप्तपर्णवनं त्वपाक् । स्याच्चम्पकवनं प्रत्यक् चूतवृक्षवनं ह्युदक् ॥६७२॥
वापीकोणसमीपस्था नगा रतिकराभिधाः । स्युः प्रत्येकं तु चत्वारः सौवर्णाः पटहोपमाः ॥६७३॥
गाढाश्चार्द्धतृतीयं ते योजनानां शतद्वयम् । सहस्रोत्सेधविस्तारव्यायामा[1] व्ययवर्जिताः ॥६७४॥
तत्राभ्यन्तरकोणस्था द्वात्रिंशत्सेविताः सुरैः । द्वात्रिंशद्बाह्यकोणस्थाः प्रत्येकं त्वेकचैत्यकाः ॥६७५॥
तथैवाञ्जनका ज्ञेया नगा[3] दधिमुखास्तथा । एकैकजिनगेहेन पवित्रीकृतमस्तकाः ॥६७६॥
प्राङ्मुखास्ते शतायामाः पञ्चाशद् व्यासयोगिनः । उत्सेधेन गृहा जैनाः पञ्चसप्ततियोजनाः ॥६७७॥
अष्टोत्सेधचतुर्व्यासगाहत्रिद्वारभास्वराः । ते द्विपञ्चाशदाभान्ति नन्दीश्वरजिनालयाः ॥६७८॥
पञ्चचापशतोत्सेधा रत्नकाञ्चनमूर्त्तयः । प्रतिमास्तेषु राजन्ते जिनानां जितजन्मनाम् ॥६७९॥
फाल्गुनाष्टाह्निकाद्येषु प्रतिवर्षं[4] तु पर्वसु । शक्राद्याः कुर्वते पूजां गीर्वाणास्तेषु वेश्मसु ॥६८०॥
पूर्वाख्यातचतुःषष्टिवनखण्डान्तरस्थिताः । प्रासादास्तु चतुःषष्टिर्वननामसुराश्रिताः ॥६८१॥
द्विषष्टियोजनोत्सेधा एकत्रिंशतमायताः । विस्तृताश्च पुरोद्दिष्टप्रमाणद्वारकाः पुनः ॥६८२॥
परौ नन्दीश्वराम्भोधेररुणद्वीपसागरौ । अन्धकारः पुनः सिन्धोर्ब्रह्मलोकान्तमाश्रितः ॥६८३॥
मृदङ्गसदृशाकाराः कृष्णराज्यो विजृम्भिताः । अष्टौ ताश्च घनाकारा बाह्यस्तस्यै व्यवस्थिताः ॥६८४॥

पचास हजार योजन चौड़े हैं ॥६७१॥ उनमें पूर्व दिशामें अशोकवन है, दक्षिणमें सप्तपर्णवन है, पश्चिममें चम्पकवन है और उत्तरमें आम्रवन है ॥६७२॥ वापिकाओंके कोणोंके समीप रतिकर नामके पर्वत हैं। ये पर्वत प्रत्येक वापिकाके प्रति चार-चार हैं, सुवर्णमय हैं तथा ढोलके आकार हैं ॥६७३॥ ढाई सौ योजन गहरे हैं, एक हजार योजन ऊँचे-चौड़े तथा लम्बे हैं और विनाशसे रहित हैं ॥६७४॥ इनमें बत्तीस रतिकर आभ्यन्तर कोणोंमें हैं और बत्तीस बाह्य कोणोंमें। ये सभी देवोंके द्वारा सेवित हैं तथा प्रत्येकपर एक-एक चैत्यालय है ॥६७५॥* रतिकरोंकी भाँति अंजनगिरि तथा दीर्घमुख पर्वतोंके मस्तक भी एक-एक जिन-मन्दिरसे पवित्र हैं अर्थात् उन सबपर एक-एक चैत्यालय है ॥६७६॥ ये समस्त चैत्यालय पूर्वाभिमुख, सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े और पचहत्तर योजन ऊँचे हैं ॥६७७॥

आठ योजन ऊँचे, चार योजन चौड़े तथा गहरे तीन-तीन द्वारोंसे देदीप्यमान नन्दीश्वर द्वीपके ये पावन चैत्यालय अतिशय शोभायमान हैं ॥६७८॥ उन चैत्यालयोंमें संसारको जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌की पाँच सौ धनुष ऊँची रत्न एवं स्वर्ण निर्मित मूर्तियाँ विराजमान हैं ॥६७९॥ प्रतिवर्ष फाल्गुन, आषाढ़ और कार्तिकके आष्टाह्निक पर्वोंमें सौधर्मेन्द्र आदि देव उन चैत्यालयोंमें पूजा करते हैं ॥६८०॥ पहले जिन चौंसठ वनखण्डोंका वर्णन किया गया है उनमें चौंसठ प्रासाद है तथा उन प्रासादोंमें वनोंके नामवाले देव रहते हैं ॥६८१॥ वे प्रासाद बासठ योजन ऊँचे, इकतीस योजन लम्बे, इतने ही चौड़े तथा पूर्वोक्त प्रमाणवाले द्वारोंसे सहित हैं ॥६८२॥

नन्दीश्वर समुद्रसे आगे अरुण द्वीप तथा अरुण सागर है वहाँ समुद्रसे लेकर ब्रह्मलोकके अन्त तक अन्धकार ही अन्धकार है ॥६८३॥ अरुण समुद्रके बाहर मृदंगके समान आकारवाली

---

१. व्यायामैश्चाववर्णिताः ख. । २. अत्राभ्यन्तरकोणेषु रतिकरवर्णनं चिन्त्यम् । ३. गृहमुखा-म. । ४. तस्या म. ।

* रतिकरोंका यह वर्णन भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि रतिकर वापिकाओंके बाह्य कोणोंपर है। आभ्यन्तर कोणोंपर नहीं। इस तरह एक दिशाकी चार बावड़ी सम्बन्धी आठ-आठ रतिकर होते हैं, चारों दिशाओंको मिलाकर बत्तीस होते हैं। यहाँ आभ्यन्तर और बाह्य दोनों कोणोंमें बत्तीस-बत्तीसका वर्णन किया है इससे चौंसठ रतिकर हो जाते हैं। नन्दीश्वर द्वीपकी चारों दिशाओंमें ४ अंजनगिरि, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर इस तरह सब मिलकर ५२ चैत्यालय सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्मिन्नल्पर्द्धयो देवा दिग्मूढाश्चिरमासते । महर्द्धिकसुरैः सार्धं कुर्युस्तद्वार्धिलङ्घनम् ॥६८५॥
यत्कुण्डलवरो द्वीपस्तन्मध्ये कुण्डलो गिरिः । वलयाकृतिराभाति संपूर्णयवराशिवत् ॥६८६॥
सहस्रमवगाहोऽस्य द्विचत्वारिंशदुच्छ्रितिः । योजनानां सहस्राणि मणिप्रकरभासिनः ॥६८७॥
सहस्रं विस्तृतिस्त्रेधा दशसप्तचतुर्गुणम् । द्वाविंशं च त्रयोविंशं चतुर्विंशं प्रभृत्यधः ॥६८८॥
प्रत्येकं तस्य चत्वारि पूर्वाद्याशासु मूर्धनि । भान्ति षोडश कूटानि सेवितानि सुरैः सदा ॥६८९॥
पूर्वस्यां त्रिशिरा वज्रे दिशि पञ्चशिराः सुरः । कूटे वज्रप्रभेज्ञेयः कनके च महाशिराः ॥६९०॥
महाभुजोऽपि तस्यां स्यात् कूटे तु कनकप्रभे । पद्मपद्मोत्तरौऽपाच्यां रजते रजतप्रभे ॥६९१॥
सुप्रभे तु महापद्मो वासुकिश्च महाप्रभे । अपाच्यामेव वाच्यौ तौ प्रतीच्यां तु सुरा इमे ॥६९२॥
हृदयान्तस्थिरौऽप्यङ्के महानङ्कप्रभेऽप्यसौ । श्रीवृक्षो मणिकूटे तु स्वस्तिकश्च मणिप्रभे ॥६९३॥
सुन्दरश्च विशालाक्षः स्फटिके स्फटिकप्रभे । महेन्द्रे पाण्डुकस्तुर्यः पाण्डुरो हिमवत्युदक् ॥६९४॥
येऽमी षोडश नागेन्द्राः सर्वे पल्योपमायुषः । यथायथं स्वकूटेषु प्रासादेषु वसन्ति ते ॥६९५॥
दिशि प्राच्यां प्रतीच्यां च कुण्डलाचलमस्तके । तद्द्वीपाधिपतेर्वासौ द्वे कूटे प्रकटे तयोः ॥६९६॥
उच्छ्रायो मूलविस्तारो योजनानां सहस्रकम् । अग्रे पञ्चशती मध्ये पञ्चाशत् सप्तशत्यपि ॥६९७॥
तस्यैवोपरि शैलस्य महादिक्षु जिनालयाः । चत्वारः सदृशा मानैरञ्जनाद्रिजिनालयैः ॥६९८॥
त्रयोदशस्तु यो द्वीपो रुचकादिवरोत्तरः । तन्नामा तस्य मध्यस्थः पर्वतो वलयाकृतिः ॥६९९॥

घनाकार आठ काली पंक्तियाँ फैली हुई हैं ॥६८४॥ अल्प ऋद्धिके धारी देव इस अन्धकारमें दिशामूढ़ हो चिरकाल तक भटकते रहते हैं। वे बड़ी ऋद्धिके धारक देवोंके साथ ही इस समुद्रको लाँघ सकते हैं ॥६८५॥ कुण्डलवर द्वीपके मध्यमें चूड़ीके आकारका एक कुण्डलगिरि पर्वत है जो सम्पूर्ण यवोंकी राशिके समान सुशोभित है ॥६८६॥ मणियोंके समूहसे सुशोभित रहनेवाले इस पर्वतकी गहराई एक हजार योजन और ऊँचाई बयालीस हजार योजन है ॥६८७॥ उस पर्वतकी मूलमें दश हजार दो सौ बीस योजन, मध्यमें सात हजार एक सौ इकसठ योजन और अन्तमें चार हजार छियानबे योजन चौड़ाई है ॥६८८॥ उसके मूर्धभागपर पूर्वादि दिशाओंमें चार-चार कूट हैं। चारों दिशाओंके ये सोलह कूट सदा देवोंके द्वारा सेवित हैं तथा अत्यन्त सुशोभित हैं ॥६८९॥ पूर्व दिशाके वज्र नामक पहले कूटपर त्रिशिरस्, वज्रप्रभ नामक दूसरे कूटपर पंचशिरस्, कनक नामक तीसरे कूटपर महाशिरस् और कनकप्रभ नामक चौथे कूटपर महाभुज नामका देव रहता है। दक्षिण दिशाके रजतकूटपर पद्म, रजतप्रभ कूटपर पद्मोत्तर, सुप्रभ कूटपर महापद्म और महाप्रभ कूटपर वासुकि देव रहता है। पश्चिम दिशाके अंक कूटपर स्थिरहृदय, अंकप्रभ कूटपर महाहृदय, मणि कूटपर श्रीवृक्ष और मणिप्रभ कूटपर स्वस्तिक देव रहता है। उत्तर दिशाके स्फटिक कूटपर सुन्दर, स्फटिकप्रभ कूटपर विशालाक्ष, महेन्द्र कूटपर पाण्डुक और हिमवत् कूटपर पाण्डुर देव रहता है ॥६९०-६९४॥ ये सोलह देव नागकुमार देवोंके इन्द्र हैं, सबकी एक पल्य प्रमाण आयु है और सब यथायोग्य अपने-अपने कूटोंपर बने हुए प्रासादोंमें निवास करते हैं ॥६९५॥ कुण्डलगिरिके ऊपर पूर्व-पश्चिम दिशामें कुण्डलवर द्वीपके स्वामीके दो कूट प्रकट हैं। उन कूटोंकी ऊँचाई एक हजार योजन है, मूल विस्तार एक हजार योजन, मध्य विस्तार सात सौ पचास योजन और उपरितन विस्तार पाँच सौ योजन है ॥६९६-६९७॥ उसी कुण्डलगिरिके ऊपर चारों महादिशाओंमें चार जिनालय हैं जो प्रमाणकी अपेक्षा अंजनगिरिके जिनालयोंके समान हैं ॥६९८॥

रुचकवर नामका जो तेरहवाँ द्वीप है उसके मध्यमें चूड़ीके आकारका रुचकवर नामका

१. -मवगाढोऽस्य म., क. । २. सर्वतो म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्रमवगाहः स्यादशीतिश्चतुरुत्तरा । सहस्राण्युच्छ्रितिर्व्यासो द्विचत्वारिंशदस्य तु ॥७००॥
सहस्रयोजनव्यासं दिक्षु पञ्चशतोच्छ्रितम् । शिखरे तस्य शैलस्य भाति कूटचतुष्टयम् ॥७०१॥
नन्द्यावर्त्तेऽमरः प्राच्यां पद्मोत्तर इतीरितः । स्वहस्ती स्वस्तिकेऽपाच्यां[1] श्रीवृक्षे नीलकोऽपरे ॥७०२॥
उत्तरे च सुरः प्रोक्तो वर्धमानेऽञ्जनागिरिः । चत्वारो दिग्गजेन्द्राख्यास्तेऽपि पल्योपमायुषः ॥७०३॥
तस्यैवोपरि पूर्वस्यां कूटानामष्टकं दिशि । पूर्वोक्तकूटतुल्यं तु दिक्कुमारीभिराश्रितम् ॥७०४॥
वैडूर्ये विजया देवी वैजयन्ती च काञ्चने । जयन्ती कनके कूटे प्राच्यरिष्टेऽपराजिता ॥७०५॥
नन्दा नन्दोत्तरा चोभे ते दिक्स्वस्तिकनन्दने । आनन्दाप्यञ्जने नान्दीवर्धनाञ्जनमूलके ॥७०६॥
एतास्तीर्थकरोत्पत्तौ दिक्कुमार्यः सपर्यया । मातुरन्तेऽवतिष्ठन्ते भास्वद्भृङ्गारपाणयः ॥७०७॥
अमोघे[3] स्वस्थिताऽपाच्यां सुप्रबुद्धे सुपूर्विका । प्रणिधिः सुप्रबुद्धाऽपि मन्दरे परिकीर्तिता ॥७०८॥
दिक्कुमारी तथा ज्ञेया विमलेऽपि यशोधरा । लक्ष्मीमतीति रुचके कीर्तिमत्यपि कीर्तिता ॥७०९॥
दिक्कुमारी प्रसिद्धाऽसौ रुचकोत्तरवासिनी । चन्द्रे वसुंधरा चित्रा सुप्रतिष्टे प्रतिष्ठिता ॥७१०॥
अष्टौ तीर्थकरोत्पत्तावेतास्तुष्टाः समागताः । मणिदर्पणधारिण्यस्तन्मातरमुपासते ॥७११॥
अपरस्यामिलादेवी लोहिताख्ये सुरा पुनः । जगत्कुसुमकूटे स्यात् पृथिवी नलिने[4] तथा ॥७१२॥
पद्मे पद्मावती ज्ञेया कुमुदे काञ्चनापि च । कूटे सौमनसाभिख्ये देवी नवमिका श्रुतिः ॥७१३॥
शीतापि च यशःकूटे भद्रकूटे च भद्रिका । इमा शुभ्रातपत्राणि धारयन्त्यश्चकासते ॥७१४॥

पर्वत है ॥६९९॥ इसकी गहराई एक हजार योजन, ऊँचाई चौरासी हजार योजन और चौड़ाई बयालीस हजार योजन है ॥७००॥ उस पर्वतके शिखरपर चारों दिशाओंमें एक हजार योजन चौड़े और पाँच सौ योजन ऊँचे चार कूट सुशोभित हैं ॥७०१॥ उनमें पूर्व दिशाके नन्द्यावर्त कूटपर पद्मोत्तर देव रहता है, दक्षिण दिशाके स्वस्तिक कूटपर स्वहस्ती देव रहता है। पश्चिम दिशाके श्रीवृक्ष कूटपर नीलक देव रहता है और उत्तर दिशाके वर्धमानक कूटपर अंजनगिरि देव रहता है। ये चारों देव दिग्गजेन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा एक पल्यकी आयुवाले हैं ॥७०२-७०३॥ इसी पर्वतकी पूर्व दिशामें पहले कहे हुए अन्य कूटोंके समान आठ कूट हैं और वे दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित हैं ॥७०४॥ उनमें पहले वैडूर्य कूटपर विजया, दूसरे कांचन कूटपर वैजयन्ती, तीसरे कनक कूटपर जयन्ती, चौथे अरिष्ट कूटपर अपराजिता, पाँचवें दिक्नन्दन कूटपर नन्दा, छठे स्वस्तिकनन्दन कूटपर नन्दोत्तरा, सातवें अंजनकूटपर आनन्दा और आठवें अंजनमूलक कूटपर नान्दीवर्धना देवी निवास करती हैं ॥७०५-७०६॥ ये दिक्कुमारियाँ तीर्थंकरके जन्मकालमें पूजाके निमित्त हाथमें देदीप्यमान झारियाँ लिये हुए तीर्थंकरकी माताके समीप रहती हैं ॥७०७॥ दक्षिण दिशामें भी आठ कूट हैं और उनमें पहले अमोघ कूटपर स्वस्थिता, दूसरे सुप्रबुद्ध कूटपर सुप्रणिधि, तीसरे मन्दर कूटपर सुप्रबुद्धा, चौथे विमल कूटपर यशोधरा, पाँचवें रुचक कूटपर लक्ष्मीमती, छठे रुचकोत्तर कूटपर कीर्तिमती, सातवें चन्द्र कूटपर वसुन्धरा और आठवें सुप्रतिष्ठ कूटपर चित्रादेवी निवास करती हैं ॥७०८-७१०॥ ये देवियाँ तीर्थंकरकी उत्पत्तिके समय सन्तुष्ट होकर आती हैं और मणिमय दर्पण धारण कर तीर्थंकरकी माताकी सेवा करती हैं ॥७११॥ पश्चिम दिशामें भी आठ कूट हैं उनमें पहले लोहिताख्य कूटपर इलादेवी, दूसरे जगत्कुसुम कूटपर सुरा देवी, तीसरे नलिन कूटपर पृथिवी देवी, चौथे पद्मकूटपर पद्मावती देवी, पाँचवें कुमुद कूटपर कांचना देवी, छठे सौमनस कूटपर नवमिका देवी, सातवें यशःकूटपर शीता देवी और आठवें भद्र कूटपर भद्रिका देवीका निवास है। ये देवियाँ तीर्थंकरकी उत्पत्तिके समय शुक्ल छत्र धारण करती हुई सुशोभित होती हैं ॥७१२-७१४॥

१. नन्द्यावर्त्तामरः म. । २. हस्तिकेऽ -म. । ३. सुस्थिता म. । ४. नलिनी म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्फटिके लम्बुसा त्वङ्के मिश्रकेशी व्यवस्थिता । तथैवाञ्जनके ज्ञेया कुमारी पुण्डरीकिणी ॥७१५॥
वारुणी काञ्चनाख्ये स्याद्दाशाख्या रजते तथा । कुण्डले ह्रीरिति ज्ञाता रुचके श्रीरितीरिता ॥७१६॥
धृतिः सुदर्शने देवो दिक्कुमार्य इमाः पुनः । गृहीतचमरा जैनीं मातरं पर्युपासते ॥७१७॥
दिक्षु चत्वारि कूटानि पुनरन्यानि दीप्तिभिः । दीपिताशान्तराणि स्युः पूर्वादिषु यथाक्रमम् ॥७१८॥
पूर्वस्यां विमले चित्रा दक्षिणस्यां तथा दिशि । देवी कनकचित्राख्या नित्यालोकेऽवतिष्ठते ॥७१९॥
त्रिशिरा इति देवी स्यादपरस्यां स्वयंप्रभे । सूत्रामणिरुदीच्यां च नित्योद्योते वसत्यसौ ॥७२०॥
विद्युत्कुमार्य एतास्तु जिनमातृसमीपगाः । तिष्ठन्त्युद्योतकारिण्यो भानुदीधितयस्तथा ॥७२१॥
पूर्वोत्तरस्यां वैडूर्ये रुचका विदिशोरिता । तथा दक्षिणपूर्वस्यां रुचके रुचकोज्ज्वला ॥७२२॥
दक्षिणापरदिश्यन्ते रुचकाभा मणिप्रभे । रुचकोत्तमकेऽन्यस्यां दिशि स्याद् रुचकप्रभा ॥७२३॥
एतास्तु दिक्कुमारीणां स्युर्महत्तरिका वराः । विदिक्षु पुनरन्यानि चतुःकूटान्यमूनि च ॥७२४॥
पूर्वोत्तरे तु विजया रत्ने रत्नप्रभे पुनः । दिशि दक्षिणपूर्वस्यां वैजयन्ती प्रभाषिता ॥७२५॥
जयन्ती सर्वरत्ने तु दक्षिणापरदिग्गते । रत्नोच्चयेऽपि शेषायां दिशि स्यादपराजिता ॥७२६॥
एता विद्युत्कुमारीणां स्युर्महत्तरिका इमाः । तीर्थकृज्जातकर्माणि कुर्वन्त्यष्टाविहागताः ॥७२७॥
चतुर्दिक्षु नगस्योर्ध्वं चत्वार्यायतनानि च । अञ्जनालयतुल्यानि प्राङ्मुखानि जिनेशिनाम् ॥७२८॥
सविदिक्दिक्कुमारीणां वासकूटैर्जिनालयैः । नित्यालंकृतमूर्धासौ राजते रुचकालयः ॥७२९॥

इसी प्रकार उत्तर दिशामें भी आठ कूट हैं और उनमें पहले स्फटिक कूटपर लम्बुसा, दूसरे अंक कूटपर मिश्रकेशी, तीसरे अंजनक कूटपर पुण्डरीकिणी, चौथे कांचन कूटपर वारुणी, पाँचवें रजत कूटपर आशा, छठवें कुण्डल कूटपर ह्री, सातवें रुचक कूटपर श्री और आठवें सुदर्शन कूटपर धृति नामकी देवी रहती है। देवियाँ हाथमें चमर लेकर जिनमाताकी सेवा करती हैं ॥७१५-७१७॥ इनके सिवाय पूर्वादि दिशाओंमें दीप्तिसे दिशाओंके अन्तरालको देदीप्यमान करनेवाले चार कूट और हैं जो यथाक्रमसे इस प्रकार हैं—पूर्व दिशामें विमल नामक कूट है और उसपर चित्रा देवी रहती है। दक्षिण दिशामें नित्यालोक नामका कूट है और उसपर कनकचित्रा देवीका निवास है। पश्चिम दिशामें स्वयंप्रभ नामका कूट है और उसपर त्रिशिरस् देवी निवास करती है तथा उत्तर दिशामें नित्योद्योत नामका कूट है और उसपर सूत्रामणि देवी रहती है। ये विद्युत्कुमारी देवियाँ सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाश करती हुई जिनमाताके समीप स्थिर रहती हैं ॥७१८-७२१॥ पूर्वोत्तर—ऐशान विदिशामें वैडूर्य नामका कूट है उसपर रुचका देवी रहती है, दक्षिणपूर्वा—आग्नेयविदिशामें रुचक नामका कूट है उसपर रुचकोज्ज्वला देवी रहती है, दक्षिण-पश्चिम – नैऋत्य विदिशामें मणिप्रभ कूट है उसपर रुचकाभा देवी निवास करती है और पश्चिमोत्तर—वायव्य दिशामें रुचकोत्तम कूट है उसपर रुचकप्रभा देवीका निवास है ॥७२२-७२३॥ ये चारों दिक्कुमारी देवियोंकी उत्कृष्ट महत्तरिका (प्रधान) देवियाँ हैं। इनके सिवाय विदिशाओंमें निम्नलिखित चार कूट और हैं ॥७२४॥ उनमें ऐशान दिशामें रत्न कूटपर विजया देवीका निवास है, आग्नेय दिशामें रत्नप्रभ कूटपर वैजयन्ती देवी निवास करती है; नैऋत्य दिशामें सर्वरत्न कूटपर जयन्ती देवी रहती है और वायव्य दिशामें रत्नोच्चय कूटपर अपराजिता देवी निवास करती है। ये चार देवियाँ विद्युत्कुमारी देवियोंकी महत्तरिका हैं। ऊपर कही हुई चार विद्युत्कुमारियाँ तथा चार ये इस प्रकार आठों देवियाँ यहाँ आकर तीर्थंकरका जातकर्म करती हैं ॥७२५-७२७॥ रुचिकगिरिके ऊपर चारों दिशाओंमें, चार जिनमन्दिर हैं। ये अंजनगिरियोंके समान विस्तारवाले हैं तथा पूर्वकी ओर इनका मुख है ॥७२८॥ दिशाओं एवं विदिशाओंमें रहनेवाली देवियोंके निवास-कूटों तथा जिन-मन्दिरोंसे जिसका मस्तक सदा अलंकृत रहता है ऐसा यह रुचकगिरि अतिशय सुशोभित है ॥७२९॥

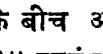
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयम्भूरमणद्वीपमध्यदेशस्थितो गिरिः । स्वयंप्रभ इति ख्यातो भ्राजते वलयाकृतः ॥७३०॥
मानुषोत्तरशैलस्य मध्ये तस्य च भूभृतः । भोगभूमिप्रतीभागास्तिरश्चां द्वीपवासिनाम् ॥७३१॥
परस्तात्तु गिरेस्तस्य तिर्यञ्चः कर्मभूमिवत् । असङ्ख्येया यतस्तत्र संयतासंयताश्च ते ॥७३२॥
उक्तद्वीपसमुद्रेषु पर्वतेष्वपि हारिषु । वसन्ति व्यन्तरा देवाः किन्नराद्यां यथायथम् ॥७३३॥
प्रज्ञप्तिः श्रेणिक ज्ञाता द्वीपसागरगोचरा । प्रज्ञप्तिं शृणु संक्षेपाज्ज्योतिर्लोकोर्ध्वलोकयोः ॥७३४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जम्बूद्वीपतदम्बुधिप्रभृतिसद्वीपावलीसागर-
प्रज्ञप्तिस्फुटसंग्रहं मुनिमतं भव्यस्य संशृण्वतः ।
संशीतिः प्रलयं प्रयाति सकला भूलोकसंबन्धिनी
किं ध्वान्तस्य कृतोदये मुनिरवौ संतिष्ठते संहतिः ॥७३५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ द्वीपसागरवर्णनो
नाम पञ्चमः सर्गः समाप्तः ।



स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित, चूड़ीके आकारवाला एक स्वयंप्रभ नामका पर्वत सुशोभित है ॥७३०॥ मानुषोत्तर और स्वयंप्रभ पर्वतके बीच असंख्यात द्वीपोंमें जो तिर्यंच रहते हैं उनकी जघन्य भोगभूमि तिर्यंचोंकी सदृशता है ॥७३१॥ स्वयंप्रभ पर्वतके आगे जो तिर्यंच हैं वे कर्मभूमिज तिर्यंचोंके समान हैं क्योंकि उनमें असंख्यात तिर्यंच संयतासंयत—देशव्रती भी होते हैं ॥७३२॥ ऊपर कहे हुए द्वीप समुद्रोंमें तथा मनोहारी पर्वतोंपर किन्नर आदि व्यन्तर देव यथायोग्य निवास करते हैं ॥७३३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि श्रेणिक ! इस प्रकार तूने द्वीपसागर सम्बन्धी प्रज्ञप्ति जानी अब इसके आगे संक्षेपमें ज्योतिर्लोक तथा ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी प्रज्ञप्तिका श्रवण कर ॥७३४॥ जम्बू द्वीप तथा लवणसमुद्रको आदि लेकर उत्तमोत्तम द्वीप तथा सागर सम्बन्धी प्रज्ञप्तिके इस मुनि सम्मत स्पष्ट संग्रहको जो भव्य सुनता है उसका पृथिवी लोक सम्बन्धी समस्त संशय नष्ट हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि मुनि रूपी सूर्यके उदित होनेपर क्या अन्धकारका समूह कहीं ठहर सकता है ? अर्थात् नहीं ॥७३५॥

इस प्रकार जिसमें अरिष्टनेमि पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे जिनसेनाचार्यरचित
हरिवंश पुराणमें द्वीप सागरोंका वर्णन करनेवाला पंचमं सर्ग समाप्त हूआ ।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठः सर्गः

शतानि सप्त गत्वोर्ध्वं योजनानि भुवस्तलात् । नवतिं च स्थितास्ताराः सर्वाधस्तान्नभस्तले ॥१॥
शतानि नव गत्वोर्ध्वं योजनानि धरातलात् । स्थितं व्योमतले ज्योतिः सर्वेषामुपरि स्थितम् ॥२॥
ज्योतिःपटलमेतद्धि बहलं दशभिः सह । योजनानि शतं प्राप्तं सर्वतश्च घनोदधिम् ॥३॥
तारकापटलाद् गत्वा योजनानि दशोपरि । सूर्याणां पटलं तस्मादशीतिं शीतरोचिषाम् ॥४॥
चत्वारि च ततो गत्वा नक्षत्रपटलं स्थितम् । चत्वार्येव ततो गत्वा पटलं बुधगोचरम् ॥५॥
त्रीणि त्रीणि तु शुक्राणां गुर्वङ्गारकसंज्ञिनाम् । ग्रहाणां तद्यथासंख्यं स्यात् शनैश्चरसङ्गिनाम्[1] ॥६॥
सूर्याश्चन्द्राश्च तत्रस्था नक्षत्रग्रहतारकाः । ज्योतिष्काः पञ्चधा देवाः स्वस्थानसमनामकाः ॥७॥
पल्यं जीवन्ति चन्द्राख्यास्तेऽधिकं वर्षलक्षया । सूर्या वर्षसहस्रेण शुक्रदेवाः शतेन तत् ॥८॥
पल्यमूनं तु जीवन्ति गुरवोऽर्द्धं ग्रहाः परे । पल्यं पादं तु ताराख्याः पादार्धं ते जघन्यतः ॥९॥
एकषष्टिकृता भागा शुद्ध्या ये योजनस्य ते । षट्पञ्चाशत्तु विष्कम्भश्चन्द्रमण्डलगोचरः[2] ॥१०॥
ते चत्वारिंशदष्टाभिः सूर्यमण्डलविस्तृतिः[3] । क्रोशः शुक्रस्य विस्तारो देशोनः स बृहस्पतेः ॥११॥
अर्द्धगव्यूतिविस्तारः सर्वतः परिभाषितः । ग्रहाणां परिशेषाणां सर्वेषामपि मण्डलम् ॥१२॥
[4]तारामण्डलमत्यल्पं पादं क्रोशस्य विस्तृतम् । मध्यमं साधिकं पादं क्रोधार्द्धं तु बृहत्तरम् ॥१३॥

पृथिवीतलसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर चलकर आकाशमें सबसे नीचे तारा स्थित है ॥१॥ और पृथिवी तलसे नौ सौ योजन ऊपर चलकर आकाशमें सबसे ऊपर ज्योतिष्पटल स्थित है। भावार्थ—आकाशमें ज्योतिष्पटल सात सौ नब्बे योजनकी ऊँचाईमें शुरू होकर नौ सौ योजन तक है ॥२॥ यह ज्योतिष्पटल एक सौ दश योजन मोटा है तथा आकाशमें घनोदधिवातवलय पर्यन्त सब ओर फैला है ॥३॥ ताराओंके पटलसे दश योजन ऊपर जाकर सूर्योंका पटल है और उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमाओंका पटल है ॥४॥ उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्रोंका पटल है और उससे चार योजन ऊपर चलकर बुधका पटल है ॥५॥ उससे तीन-तीन योजन ऊपर चलकर क्रमसे शुक्र, गुरु, मंगल और शनैश्चर ग्रहोंके पटल हैं ॥६॥ सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह और तारा ये पाँच प्रकारके ज्योतिर्विमान हैं। इनमें रहनेवाले देव भी इन्हींके समान नामवाले हैं तथा इन्हींके समान पाँच प्रकारके हैं ॥७॥ इनमें चन्द्र एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य तक, सूर्य एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य तक, शुक्र सौ वर्ष अधिक एक पल्य तक, बृहस्पति पौन पल्य तक, मंगल, बुध और शनैश्चर आधा पल्य तक और तारा चौथाई पल्य तक, जीवित रहते हैं। यह सबकी उत्कृष्ट आयु है। जघन्य आयु पल्यके आठवें भाग प्रमाण है ॥८-९॥ बुद्धि द्वारा योजनके जो इकसठ भाग किये जाते हैं उनमें छप्पन भाग प्रमाण चन्द्र मण्डलका विस्तार है ॥१०॥ और अड़तालीस भाग प्रमाण सूर्यका विस्तार है। शुक्रका विस्तार एक कोश, बृहस्पतिका कुछ कम एक कोश, और शेष समस्त ग्रहोंका विस्तार आधा कोश प्रमाण है। जघन्य तारा मण्डल पाव कोश, मध्यम तारा मण्डल कुछ अधिक पाव कोश और उत्कृष्ट तारामण्डल आधाकोश

१. णउदुत्तर सत्तसए दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के।
तारिण ससि रिक्ख बुहा सुक्क गुरूंगार मन्दगदी ॥३३२॥ —त्रिलोकसारस्य
२. ५६ ÷ ६१ योजनप्रमाणं चन्द्रविमानम्। ३. ४८ ÷ ६१ योजनप्रमाणं सूर्यविमानम्।
४. तारंतरं जहण्णं णायव्वा सत्त भाग गाउदियं।
पण्णासा मज्झिमया उक्कस्सं जोयणसहस्सा ॥१०॥ —त्रै. प्र. सौ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोशस्य सप्तमो भागस्ताराणामल्पमन्तरम् । पञ्चाशन्मध्यमं दूरं सहस्रं योजनानि तत् ॥१४॥
भान्ति सूर्यविमानानि लोहिताक्षमयानि तु । अर्द्धगोलकवृत्तानि प्रतप्ततपनीयवत् ॥१५॥
[1]तथार्कमणिमूर्त्तीनि मृणालधवलानि तु । भान्ति चन्द्रविमानानि कान्तिसंतानवन्ति वै ॥१६॥
अरिष्टमणिमूर्त्तीनि समान्यञ्जनपुञ्जकैः । भान्ति राहुविमानानि चन्द्रार्काधःस्थितानि तु ॥१७॥
एकयोजनविष्कम्भव्यायामानि तु तान्यपि । शते त्वर्द्धतृतीये द्वे धनुषी बहलानि च ॥१८॥
त्विषा राजतमूर्तीनि जयन्ति नवमालिकाम् । तथा शुक्रविमानानि प्रकाशन्ते समन्ततः ॥१९॥
जात्यमुक्ताफलाभानि विभान्त्यर्कमणित्विषा । बृहस्पतिविमानानि बुधानां कनकानि तु ॥२०॥
शनैश्चरविमानानि तपनीयमयानि तु । अङ्गारकविमानानि लोहिताक्षमयानि हि ॥२१॥
ज्योतिर्लोकविमानानामियं वर्णविकल्पना । अरुणद्वीपवार्धेस्तु केवलं कृष्णवर्णता ॥२२॥
मानुषोत्तरतः पूर्वमुदयास्तव्यवस्थितिः । परतस्तु समस्तानां स्थितिरेव नभस्थले ॥२३॥
सूर्याचन्द्रमसस्तेषां ज्योतिषां तु यथायथम् । सङ्ख्येयानामसङ्ख्यानामिन्द्रास्तावत्प्रमाणकाः ॥२४॥
तत्रैकादशभिर्मेरुमेकविंशैः शतैश्चलाः । ज्योतिष्कास्त्वनवाप्यैव प्रभ्रमन्ति प्रदक्षिणम् ॥२५॥
द्वीपे तु द्वौ मतौ सूर्यौ द्वौ च चन्द्रमसाविह । चत्वारो लवणोदेऽमी द्वीपे द्वादश तत्परे ॥२६॥
द्वाचत्वारिंशदादित्याः कालोदे शशिनस्तथा । पुष्करार्द्धे तु विज्ञेया द्वासप्ततिरमी पुनः ॥२७॥
षट् च षष्टिसहस्राणि तथा नवशतानि च । कोटीकोट्यस्तु ताः सर्वाः पञ्चसप्ततिरेव च ॥२८॥
एकैकस्यैव चन्द्रस्य परिवारस्तु तारकाः । अष्टाविंशतिनक्षत्रास्तेऽष्टाशीतिर्महाग्रहाः ॥२९॥
परस्तात्पुष्करार्द्धे तु द्वासप्ततिरिति स्थिताः । निश्चलाः सर्वदादित्यास्तावन्तः शशिनस्तथा ॥३०॥

विस्तृत है ॥११-१३॥ ताराओंका जघन्य अन्तर कोशका सातवाँ, मध्यम अन्तर पचास योजन और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है ॥१४॥ सूर्यके विमान लोहिताक्षमणिके हैं, अर्ध गोलकके समान गोल तथा तपाये हुए सुवर्णके समान सुशोभित हैं ॥१५॥ चन्द्रमाके विमान स्फटिक मणिमय हैं, मृणालके समान सफेद हैं तथा कान्तिके समूहसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुशोभित हैं ॥१६॥ राहुके विमान अरिष्टमणिमय हैं, अंजनकी राशिके समान श्याम हैं तथा चन्द्रमा और सूर्य विमानके नीचे स्थित हैं ॥१७॥ राहुके विमान एक योजन चौड़े, एक योजन लम्बे, तथा ढाई सौ धनुष मोटे हैं ॥१८॥ शुक्रके विमान रजतमय हैं, अपनी कान्तिसे नूतन मालतीकी मालाको जीतते हैं तथा सब ओरसे प्रकाशमान हैं ॥१९॥ जिनकी आभा उत्तम मुक्ताफलके समान है, ऐसे बृहस्पतिके विमान स्फटिक मणिसदृश कान्तिसे सुशोभित हैं। बुधके विमान सुवर्णमय हैं, शनैश्चरके विमान तप्त स्वर्णमय हैं, और अंगारक—मंगलके विमान लोहिताक्षमणिमय हैं ॥२०-२१॥ यह वर्णोंकी विविधरूपता ज्योतिर्लोक गत विमानोंकी है किन्तु अरुण समुद्रके ऊपर जो ज्योतिर्विमान हैं उनका केवल श्यामवर्ण ही है ॥२२॥ ज्योतिर्विमानोंके उदय और अस्तकी व्यवस्था मानुषोत्तर पर्वतके इसी ओर है उसके आगेके समस्त विमान आकाशमें स्थित ही हैं उनमें संचार नहीं होता ॥२३॥ मानुषोत्तर पर्वत तकके ज्योतिषी संख्यात हैं और उसके आगेके असंख्यात। उन दोनों प्रकारके ज्योतिषियोंके इन्द्र, सूर्य और चन्द्रमा हैं। संख्यात ज्योतिषियोंके इन्द्र संख्यात सूर्य चन्द्रमा हैं और असंख्यात ज्योतिषियोंके इन्द्र असंख्यात सूर्य चन्द्रमा हैं ॥२४॥ उनमें जो गतिशील ज्योतिषी हैं वे ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर हटकर मेरुकी प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण करते हैं ॥२५॥ जम्बू द्वीपमें दो सूर्य, दो चन्द्रमा, लवण समुद्रमें चार सूर्य, चार चन्द्रमा, धातकीखण्डमें बारह सूर्य, बारह चन्द्रमा, कालोदधिमें बयालीस सूर्य, बयालीस चन्द्रमा और पुष्करार्धमें बहत्तर सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं ॥२६-२७॥ एक-एक चन्द्रमाके छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ा-कोड़ी तारा, अट्ठाईस नक्षत्र और अठासी महाग्रह हैं ॥२८-२९॥ मानुषोत्तरके आगे पुष्करार्धमें बहत्तर

१. तथांक म., क.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्राणि तु पञ्चाशत् सर्वतो मानुषोत्तरात् । प्रगत्यादित्यचन्द्राद्याश्चक्रवालैर्व्यवस्थिताः ॥३१॥
नियुतं नियुतं गत्वा परितः[1] परितः स्थिताः । चतुरभ्यधिकं शश्वदन्योन्यान्मिश्ररश्मयः ॥३२॥
धातक्यादिषु चन्द्रार्काः क्रमेण त्रिगुणाः पुनः । व्यतिक्रान्तैर्युतास्ते स्युर्द्वीपे च जलधौ परे ॥३३॥
ज्योतिर्लोकविभागस्य संक्षेपोऽयमुदीरितः । ऊर्ध्वलोकविभागस्य संक्षेपः प्रतिपाद्यते ॥३४॥
मेरुचूलिकया सार्द्धमूर्ध्वलोकः समीरितः । उपर्युपरि तस्याः स्युः कल्पा ग्रैवेयकादयः ॥३५॥
सौधर्मः प्रथमः कल्पः परश्चैशाननामकः । सनत्कुमारमाहेन्द्रौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ ततः ॥३६॥
कल्पौ लान्तवकापिष्ठौ तथैव कथितौ ततः । पुनः शुक्रमहाशुक्रौ दक्षिणोत्तरदिग्गतौ ॥३७॥
शतारश्च सहस्रार आनतः प्राणतस्ततः । आरणश्चाच्युतश्चेति कल्पाः षोडश भाषिताः ॥३८॥
ग्रैवेयकास्त्रिधैव स्युरधोमध्योपरि स्थिताः । प्रत्येकं त्रिविधास्ते स्युरधोमध्योर्ध्वभेदतः ॥३९॥
नवानुदिशनामानि ततोऽनुत्तरपञ्चकम् । ईषत्प्राग्भारभूम्यन्त ऊर्ध्वलोकः प्रतिष्ठितः ॥४०॥

सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं, ये सदा निश्चल रहते हैं ॥३०॥ मानुषोत्तर पर्वतसे पचास हजार योजन आगे चलकर सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी-वलयके रूपमें स्थित हैं। भावार्थ—मानुषोत्तरसे पचास हजार योजन चलकर ज्योतिषियोंका पहला वलय है ॥३१॥ उसके आगे एक-एक लाख योजन चलकर ज्योतिषियोंके वलय हैं। प्रत्येक वलयमें चार-चार सूर्य और चार-चार चन्द्रमा अधिक हैं एवं एक दूसरेकी किरणें निरन्तर परस्परमें मिली हुई हैं ॥३२॥ धातकीखण्ड आदि द्वीप-समुद्रोंमें सूर्य-चन्द्रमा क्रमसे तिगुने-तिगुने हैं। विशेषता यह है कि उनमें पिछले द्वीप-समुद्रोंके सूर्य-चन्द्रमाओंकी संख्या भी मिलानी पड़ती है। जैसे, कालोदधि समुद्रके सूर्य-चन्द्रमाओंकी संख्या बयालीस है, वह इस प्रकार निकलती है—कालोदधिसे पिछला द्वीप धातकीखण्ड है इसके सूर्य-चन्द्रमाओंकी संख्या बारह है, इससे तिगुनी संख्या छत्तीस हुई, उसमें लवण समुद्र तथा जम्बूद्वीपके सूर्य-चन्द्रमाओंकी छह संख्या जोड़ देनेसे कालोदधिके सूर्य-चन्द्रमाओंकी संख्या बयालीस निकल आती है। पुष्करवर द्वीपके मानुषोत्तर तक बहत्तर और उसके आगे बहत्तर दोनों मिलाकर एक सौ चौवालीस सूर्य-चन्द्रमा हैं। उनके निकालनेकी विधि यह है कि पुष्कर द्वीपसे पूर्ववर्ती कालोदधिकी संख्या बयालीसको तिगुना किया तो एक सौ छब्बीस हुए, उनमें कालोदधिके बारह, लवण समुद्रके चार और जम्बूद्वीपके दो इस प्रकार अठारह और मिलाये जिससे एक सौ चौवालीस सिद्ध हुए। इसी प्रकार आगे-आगेके द्वीप-समुद्रोंमें जानना चाहिए ॥३३॥ इस प्रकार यह ज्योतिर्लोकके विभागका संक्षेपसे वर्णन किया। अब ऊर्ध्वलोकके विभागका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है ॥३४॥

मेरु पर्वतकी चूलिकाके साथ ऊर्ध्वलोक शुरू होता है अर्थात् चूलिकासे ऊपर ऊर्ध्वलोक है। चूलिकाके ऊपर-ऊपर स्वर्ग तथा ग्रैवेयक आदि हैं ॥३५॥ १ सौधर्म, २ ऐशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ ब्रह्मोत्तर, ७ लान्तव, ८ कापिष्ठ, ९ शुक्र, १० महाशुक्र, ११ शतार, १२ सहस्रार, १३ आनत, १४ प्राणत, १५ आरण और १६ अच्युत ये सोलह कल्प कहे गये हैं। इनकी रचना दक्षिण और उत्तरके भेदसे दो-दोके जोड़के रूपमें है ॥३६-३८॥ उनके ऊपर अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकके भेदसे तीन प्रकारके ग्रैवेयक हैं। इन तीनों ग्रैवेयकोंके भी आदि, मध्य और ऊर्ध्वके भेदसे तीन-तीन भेद होते हैं। इन ग्रैवेयकोंके नौ पटल★ हैं ॥३९॥ उसके आगे

१. लक्षं लक्षम् ।

★ नव-ग्रैवेयक—१ सुदर्शन, २ अमोघ, ३ सुप्रबुद्ध, ४ यशोधर, ५ सुभद्र, ६ विशाल, ७ सुमन, ८ सौमनस, ९ प्रीतिकर ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षाः स्वर्गविमानानामशीतिश्चतुरुत्तरा । नवत्या च सहस्राणि सप्त[1] त्रिंशदेव च ॥४१॥
त्रिषष्टिपटलानि स्युः त्रिषष्टीन्द्रकसंहतिः । पटलानां तु मध्येऽसावूर्ध्वावल्या व्यवस्थिता ॥४२॥
[2]ऋतुमादीन्द्रकं प्राहुस्त्रिषष्टिस्तस्य दिक्षु च । विमाना न्यूनता तेषामेकैकस्योत्तरेषु च ॥४३॥
तेषामृतुविमानं स्याद् विमलं चन्द्रनामकम् । वल्गुवीराभिधानं च तथैवारुणसंज्ञकम् ॥४४॥
नन्दनं नलिनं चैव काञ्चनं रोहितं ततः । चञ्चन्मारुतमृद्धीशं वैडूर्यं रुचकं तथा ॥४५॥
रुचिरं च तथार्कं च स्फटिकं तपनीयकम् । मेघं भद्रं च हारिद्रं पद्मसंज्ञं ततः परम् ॥४६॥
लोहिताक्षं च वज्रं च नन्द्यावर्तं प्रभङ्करम् । प्रष्टकं च जगन्मित्रं प्रभाख्यं चाष्टकल्पयोः ॥४७॥
अञ्जनं वनमालं च नागं गरुडसंज्ञकम् । लाङ्गलं बलभद्रं च चक्रं च परकल्पयोः ॥४८॥
अरिष्टदेवसंगीतं ब्रह्मब्रह्मोत्तरद्वयम् । ब्रह्मलोकेऽपि चत्वारि लक्षयेदिन्द्रकाणि तु ॥४९॥
लान्तवे ब्रह्महृदयं लान्तवं च द्वयं विदुः । शुक्रमेकं महाशुक्रे सहस्रारे शतारकम् ॥५०॥
आनतं प्राणताख्यं च पुष्पकं चानते त्रयम् । अच्युते सानुकारं स्यादारणं चाच्युतं त्रयम् ॥५१॥
सुदर्शनममोघं च सुप्रबुद्धमधस्त्रयम् । यशोधरं सुभद्रं च सुविशालं च मध्यमे ॥५२॥
सुमनः सौमनस्यं च प्रीतिंकरमितीरितम् । ऊर्ध्वग्रैवेयकेऽप्येवमिन्द्रकत्रितयं तथा ॥५३॥
मध्ये चानुदिशाख्यानामादित्यमिति चेन्द्रकम् । सर्वार्थसिद्धिसंज्ञं तु पञ्चानुत्तरमध्यमम् ॥५४॥
सौधर्मे च विमानानां लक्षा द्वात्रिंशदीरिताः । अष्टाविंशतिरैशाने तृतीये द्वादशैव ताः ॥५५॥

नौ अनुदिश* और अनुदिशोंके आगे पाँच अनुत्तर† विमान हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानोंका एक-एक पटल है। अन्तमें ईषत्प्राग्भार भूमि है। उसीके अन्त तक ऊर्ध्वलोक कहलाता है ॥४०॥ स्वर्गोंके समस्त विमान चौरासी लाख सत्तानबे हजार तेईस हैं ॥४१॥ इनमें त्रेसठ पटल और त्रेसठ ही इन्द्रक विमान हैं। इन्द्रक विमानोंका समूह पटलोंके मध्यमें ऊर्ध्व रूपसे स्थित है ॥४२॥ आदि इन्द्रकका नाम ऋतु है उसकी चारों दिशाओंमें त्रेसठ-त्रेसठ श्रेणीबद्ध विमान हैं और आगे प्रत्येक इन्द्रकमें एक-एक विमान कम होता जाता है ॥४३॥ सौधर्म और ऐशान नामक प्रारम्भके दो स्वर्गोंमें १ ऋतु, २ विमल, ३ चन्द्र, ४ वल्गु, ५ वीर, ६ अरुण, ७ नन्दन, ८ नलिन, ९ कांचन, १० रोहित, ११ चंचल, १२ मारुत, १३ ऋद्धीश, १४ वैडूर्य, १५ रुचक, १६ रुचिर, १७ अर्क, १८ स्फटिक, १९ तपनीयक, २० मेघ, २१ भद्र, २२ हारिद्र, २३ पद्म, २४ लोहिताक्ष, २५ वज्र, २६ नन्द्यावर्त, २७ प्रभंकर, २८ प्रष्टक, २९ जग, ३० मित्र और ३१ प्रभा ये इकतीस पटल हैं ॥४४-४७॥ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें १ अंजन, २ वनमाल, ३ नाग, ४ गरुड़, ५ लांगल, ६ बलभद्र और ७ चक्र ये सात इन्द्रक विमान हैं ॥४८॥ ब्रह्म लोकमें १ अरिष्ट, २ देवसंगीत, ३ ब्रह्म और ४ ब्रह्मोतर ये चार इन्द्रक विमान हैं ॥४९॥ लान्तवमें १ ब्रह्महृदय और २ लान्तव ये दो इन्द्रक विमान हैं। महाशुक्रमें १ शुक्र, सहस्रारमें १ शताख्य, आनतमें १ आनत, २ प्राणत और ३ पुष्पक ये तीन, अच्युतमें १ सानुकार, २ आरण और ३ अच्युत ये तीन इन्द्रक विमान हैं ॥५०-५१॥ अधोग्रैवेयकमें १ सुदर्शन, २ अमोघ और ३ सुप्रबुद्ध ये तीन, मध्य ग्रैवेयकमें १ यशोधर, २ सुभद्र और ३ सुविशाल ये तीन और ऊर्ध्व-ग्रैवेयकमें १ सुमन, २ सौमनस्य और ३ प्रीतिंकर ये तीन इन्द्रक विमान हैं ॥५२-५३॥ नौ अनुदिशोंके मध्यमें आदित्य नामका एक इन्द्रक विमान है और पाँच अनुत्तरोंमें सर्वार्थसिद्धि नामका एक इन्द्रक विमान है ॥५४॥ सौधर्म स्वर्गमें बत्तीस लाख, ऐशानमें अट्ठाईस लाख,

---

१. ८४९७०२३ विमानानि । २. ऋतुम् + आदि + इन्द्रकम् इतिच्छेदः ।

* नव-अनुदिश—१ आदित्य, २ अर्चि, ३ अर्चिमाली, ४ वैरोचन, ५ प्रभास, ६ अर्चि-प्रभ, ७ अर्चिर्मध्य, ८ अर्चिरावर्त, ९ अर्चि-विशिष्ट ।

† अनुत्तर विमान—१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त, ४ अपराजित, ५ सर्वार्थ-सिद्धि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माहेन्द्रेऽष्टौ तु लक्षे द्वे षण्णवत्या च पञ्चमे । ब्रह्मोत्तरे च लक्षैका सहस्रं च चतुर्गुणम् ॥५६॥
पञ्चविंशतिसंख्यानि सहस्राणि भवन्ति तु । द्विचत्वारिंशता साकं विमानानि हि लान्तवे ॥५७॥
चतुर्विंशतिसंख्यानि सहस्राणि शतान्यपि । नवपञ्चाशदष्टौ च कल्पे कापिष्ठनामनि ॥५८॥
शुक्रे विंशतियुक्तानि सहस्राणि तु विंशतिः । परेऽशीतिर्नवशती तानि चैकान्नविंशतिः ॥५९॥
त्रिसहस्री शतारे स्यात्तथैवैकान्नविंशतिः । त्रिसहस्री सहस्रारे वर्जितैकान्नविंशतिः ॥६०॥
आनतप्राणतस्था च चत्वारिंशच्चतुःशती । द्विशती च विमानानां षष्टिः स्यादारणाच्युते ॥६१॥
एकादश त्रिके पूर्वे शतं सप्तोत्तरं परे । शुद्धैकनवतिश्चोर्ध्वे नवैवानुदिशेष्वपि ॥६२॥
अर्चिराद्यं परं ख्यातमर्चिमालिन्यभिख्यया । वज्रं वैरोचनं चैव सौम्यं स्यात्सौम्यरूप्यकम् ॥६३॥
अङ्कं च स्फुटिकं चेति दिशास्वनुदिशानि तु । आदित्याख्यस्य वर्तन्ते प्राच्याः प्रभृति सक्रमम् ॥६४॥
विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् । दिक्षु सर्वार्थसिद्धेस्तु विमानानि स्थितानि वै ॥६५॥
शतेनाष्टसहस्राणि सप्तविंशतिरेव च । श्रेणीगतानि सर्वाणि विमानानि भवन्ति वै ॥६६॥
चत्वारि स्युः सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च । श्रेणीगतानि सौधर्मे नवतिः पञ्चभिस्तथा ॥६७॥
अष्टाशीत्या सहैशाने सहस्रं तु चतुःशती । सनत्कुमारकल्पे तु षट्शती षोडशाधिका ॥६८॥
आवलिस्थविमानानां माहेन्द्रे त्र्युत्तरे शते । ब्रह्मलोकस्थितानां तु षडशीत्या शतद्वयम् ॥६९॥
चतुर्णवतिरेव स्युस्तानि ब्रह्मोत्तरेऽपि च । शतं लान्तवकल्पे च पञ्चविंशतिमिश्रितम् ॥७०॥
चत्वारिंशत्तथैकं च कापिष्ठे शुक्रनामनि । अष्टापञ्चाशदेकोना महाशुक्रे तु विंशतिः ॥७१॥
शतारे पञ्चपञ्चाशत् सहस्रारे दशाष्टभिः । आनते शतमुद्दिष्टं चत्वारिंशच्च सप्तभिः ॥७२॥
प्राणते पुनरष्टाभिश्चत्वारिंशत्तथारणे । शतं विंशं ततस्त्रिंशन्नवभिः पुनरच्युते ॥७३॥
चत्वारिंशत्तु पञ्चाग्रा सैवैकाग्रा प्रकीर्णके । सप्तत्रिंशद् यथासंख्यमधोग्रैवेयकत्रिके ॥७४॥
विमानानि त्रयस्त्रिंशदेकान्नत्रिंशदेव च । पञ्चविंशतिरावल्यां मध्यग्रैवेयकत्रिके ॥७५॥

सनत्कुमारमें बारह लाख, माहेन्द्रमें आठ लाख, ब्रह्म-स्वर्गमें दो लाख छियानबे हजार, ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें एक लाख चार हजार, लान्तवमें पचीस हजार बयालीस, कापिष्ठमें चौबीस हजार नौ सौ अंठावन, शुक्रमें बीस हजार बीस, महाशुक्रमें उन्नीस हजार नौ सौ अस्सी, शतारमें तीन हजार उन्नीस, सहस्रारमें उन्नीस कम तीन हजार, आनत-प्राणतमें चार सौ चालीस, तथा आरण-अच्युतमें दो सौ साठ विमान हैं ॥५५–६१॥ ग्रैवेयकोंके पहले त्रिकमें एक सौ ग्यारह, दूसरे त्रिकमें एक सौ सात, तीसरे त्रिकमें एकानबे और अनुदिशोंमें नौ विमान हैं ॥६२॥ अनुदिशोंमें आदित्य नामका विमान बीचमें है और उसकी पूर्व आदि दिशाओं तथा विदिशाओंमें क्रमसे १ अर्चि, २ अर्चि-मालिनी, ३ वज्र, ४ वैरोचन, ५ सौम्य, ६ सौम्य-रूपक, ७ अंक और ८ स्फुटिक ये आठ विमान हैं ॥६३–६४॥ अनुत्तर विमानोंमें सर्वार्थ-सिद्धि विमान बीचमें है और उसकी पूर्वादि चार दिशाओंमें १ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार विमान स्थित हैं ॥६५॥

सब श्रेणी-बद्ध विमान मिलकर आठ हजार एक सौ सत्ताईस हैं ॥६६॥ उनमें सौधर्म स्वर्ग-में श्रेणीबद्ध विमान चार हजार चार सौ पंचानबे, ऐशानमें एक हजार चार सौ अट्ठासी, सनत्-कुमारमें छह सौ सोलह, माहेन्द्रमें दो सौ तीन, ब्रह्मलोकमें दो सौ छियासी, ब्रह्मोत्तरमें चौरानबे, लान्तवमें एक सौ पचीस, कापिष्ठमें इकतालीस, शुक्रमें अंठावन, महाशुक्रमें उन्नीस, शतारमें पचपन, सहस्रारमें अठारह, आनतमें एक सौ सैंतालीस, प्राणतमें अड़तालीस, आरणमें एक सौ बीस और अच्युतमें उनतालीस कहे जाते हैं ॥६७–७३॥ अधोग्रैवेयकके तीन विमानोंमें क्रमसे पैंतालीस, इकतालीस और सैंतीस, मध्यमग्रैवेयकके तीन विमानोंमें क्रमसे तैंतीस, उनतीस और पचीस तथा ऊर्ध्व-ग्रैवेयकके तीन विमानोंमें क्रमसे इक्कीस, सत्तरह और तेरह, अनुत्तरोंमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकविंशतिरूर्ध्वं तु त्रिके सप्तदशत्रिभिः । दशश्रेणीगतान्येव नवपञ्चकतत्परम् ॥७६॥
एतेषु तु विशुद्धेषु यथास्वं मूलराशिषु । प्रकीर्णकविमानानि शेषाणीति बुधा विदुः ॥७७॥
तेषु संख्येयविस्तारा विमानव्यक्तयः पुनः । चत्वारिंशत्सहस्राणि [1]सौधर्मे नियुतानि षट् ॥७८॥
पञ्चैव नियुतानि स्युः कल्पे [2]चैशाननामनि । सह षष्टिसहस्रैस्तु संयुतानि तु तानि वै ॥७९॥
सनत्कुमारकल्पे [3] तु नियतं नियुतद्वयम् । चत्वारिंशत्सहस्रैस्तु सहितं तदिति स्मृतिः ॥८०॥
[4]माहेन्द्रे नियुतं प्रोक्तं सह षष्टिसहस्रकैः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरेऽशीतिसहस्राणि [5] सहैव तु ॥८१॥
लान्तवेऽपि च [6]कापिष्ठे सहस्राणि दशैव तु । चत्वारि [7] तु सहस्राणि चतुर्भिः शुक्रनामनि ॥८२॥
षण्णवत्या नवशती त्रिसहस्री महत्यपि । शतारे [8] च सहस्रारे द्वादशैव शतानि तु ॥८३॥
अष्टाशीतिः सहैव स्यादानतप्राणताख्ययोः । द्विपञ्चाशत्सहैव स्यादारणाच्युतकल्पयोः ॥८४॥
सर्वत्रैवात्र संख्येयविस्तारास्तु चतुर्गुणाः । असंख्येयात्मविस्तारा विमानव्यक्तयः स्मृताः ॥८५॥
यथास्वमिन्द्रकैर्हीना नवग्रैवेयकादिषु । स्युरसंख्येयविस्तारा श्रेणीष्वन्यास्तु [9] ता द्विधा ॥८६॥
लक्षाः षोडशसंख्येयविस्तृता नवतिर्नव । सहस्राणि सहाशीत्या त्रिशती पिण्डितास्तु ताः ॥८७॥
षट्शतैकान्न[10]पञ्चाशत् सप्तभिर्नवतिः [11] पुनः । सहस्राणीतरा लक्षाः सप्तषष्टिरुदीरिताः ॥८८॥
प्राग्भारभूर्नरक्षेत्रमृतुः सीमन्तकः समम् । विस्तारेण तु [12] संप्राप्तो बालमात्रेण चूलिकाम् ॥८९॥
जम्बूद्वीपाप्रतिष्ठानक्षेत्रसर्वार्थसिद्धयः । त्रयोऽपि समविस्ताराः प्रोक्ता विस्तारवेदिभिः ॥९०॥

पाँच श्रेणी-बद्ध विमान हैं। विमान संख्याकी मूल राशिमें-से इन इन्द्रक और श्रेणी-बद्ध विमानोंकी संख्या घटा देनेपर जो शेष बचते हैं वे प्रकीर्णक विमान हैं ऐसा विद्वज्जन जानते हैं ॥७४–७७॥

उन विमानोंमें संख्यात योजन विस्तारवाले विमानोंकी संख्या सौधर्म स्वर्गमें छह लाख चालीस हजार है। ऐशान स्वर्गमें पाँच लाख साठ हजार, सनत्कुमार स्वर्गमें दो लाख चालीस हजार, माहेन्द्र स्वर्गमें एक लाख साठ हजार, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें अस्सी हजार, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें दश हजार, शुक्र स्वर्गमें चार हजार चार, महाशुक्र स्वर्गमें तीन हजार नौ सौ छियानबे, शतार-सहस्रार स्वर्गमें बारह सौ, आनत-प्राणत स्वर्गमें अठासी, और आरण-अच्युत स्वर्गमें बावन हैं ॥७८–८४॥ इन सभी स्वर्गोंमें संख्यात योजन विस्तारवाले विमानोंकी जो संख्या है उससे चौगुने असंख्यात योजन विस्तारवाले विमान हैं ॥८५॥ नव-ग्रैवेयकादिकमें इन्द्रक विमानोंको छोड़कर श्रेणी-बद्ध विमानोंमें संख्यात योजन विस्तारवाले और असंख्यात योजन विस्तारवाले—दोनों प्रकारके विमान हैं। इन्द्रक विमान संख्यात योजन विस्तारवाले ही हैं ॥८६॥ संख्यात योजन विस्तारवाले सब विमान मिलाकर सोलह लाख निन्यानबे हजार तीन सौ अस्सी हैं और असंख्यात योजन विस्तारवाले विमान सड़सठ लाख सत्तानबे हजार, छह सौ उनचास कहे गये हैं ॥८७–८८॥ प्राग्भार-भूमि (सिद्धशिला), ढाई द्वीप, प्रथम स्वर्गका ऋतु विमान, प्रथम नरकका सीमन्तक इन्द्रक बिल और सिद्धालय ये पाँच विस्तारकी अपेक्षा समान हैं अर्थात् सब पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाले हैं। इनमें ऋतु विमान बाल मात्रका अन्तर देकर मेरुकी चूलिकाको प्राप्त है अर्थात् चूलिका और ऋतु विमानमें बालमात्रका अन्तर है ॥८९॥ जम्बूद्वीप, सातवें नरकका अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक बिल और सर्वार्थसिद्धि ये तीनों विस्तारके जाननेवाले आचार्योंने समान विस्तारसे युक्त कहे हैं अर्थात् इन सबका एक-एक

---

१. ६४०००० । २. ५६०००० । ३. २४०००० । ४. १६०००० । ५. ८०००० । ६. १०००० । ७. ४००४ । ८. ३९९६ । ९. 'श्रेणीष्वन्याकृता द्विधा म० । १०. ६४९ । ११. ९७००० । १२. तु शब्दान् मुक्तालयोऽपि, इति क प्रतिटिप्पण्याम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वश्रेणीविमानानामर्द्धमूर्ध्वमितोऽपरम् । अन्येषां स्वविमानार्धं स्वयंभूरमणोदधेः ॥९१॥
वेश्ममूलशिलापीठबाहुल्यं पूर्वकल्पयोः । योजनान्येकविंशत्या त्वेकादश शतानि च ॥९२॥
ऊर्ध्वं नवनवत्यास्तु युग्मे युग्मे[1] परिक्षयः । एकैकत्र त्रिके तुल्यश्चतुर्दशसु चोपरि ॥९३॥
आद्ये विंश[2] शतं व्यासः कल्पयुग्मे तु वेश्मनाम् । परे[3] शतं दशोनोऽतश्चतुर्दशसु पञ्च[4] तु ॥९४॥
उच्छ्रायः षट् शतान्याद्ये पञ्च[5] कल्पयुगे परे । शतार्द्धेनोनमूनोऽस्मात्पञ्चविंशतिमात्रकाः ॥९५॥
पष्टिराद्येऽवगाहोऽपि पञ्चाशद्युगले परे । पञ्चोनोऽस्मात्परेषु द्वे चतुर्दशसु सार्धके ॥९६॥
कृष्णा नीलाश्च रक्ताश्च पीताः श्वेताश्च वर्णिताः । प्रासादाः पञ्चवर्णास्ते सौधर्मैशानकल्पयोः ॥९७॥
नीलाद्याः परयोश्चोर्ध्वं रक्ताद्यास्तु चतुर्ष्वपि । सहस्रारावसानेषु पीताः श्वेताश्च नेतरे ॥९८॥
आनतप्राणतादौ च श्वेतवर्णाः प्रवर्णिताः । वैमानिकविमानेषु प्रासादाः प्रस्फुरत्प्रभाः ॥९९॥
द्वयोर्द्वयोर्विमानानि कल्पाष्टकपरेषु च । जले वाते द्वयोर्व्योम्नि संस्थितादि यथाक्रमम् ॥१००॥
षड्युगलेषु शेषेषु कल्पेषु चरमेन्द्रकात्[6] । श्रेणीबद्धे निजावासे वसन्त्यष्टादशे तथा ॥१०१॥

लाख योजन विस्तार है ॥९०॥ समस्त श्रेणी-बद्ध विमानोंकी जो संख्या है उसका आधा भाग तो स्वयंभू-रमण समुद्रके ऊपर है और आधा अन्य समस्त द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैला हुआ है ॥९१॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें भवनोंके मूल शिलापीठकी मोटाई ग्यारह सौ इक्कीस योजन है ॥९२॥ ऊपर प्रत्येक कल्प युगलमें निन्यानबे-निन्यानबे योजन मोटाई कम होती है। ग्रैवेयकोंके तीनों त्रिक तथा अनुदिश और अनुत्तर विमानोंके चौदह विमानोंमें समान मोटाई होती है ॥९३॥ प्रथम कल्प युगल—सौधर्म, ऐशान स्वर्गमें भवनोंकी चौड़ाई एक सौ बीस योजन, दूसरे कल्प युगल—सानत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्गमें सौ योजन और इसके आगे प्रत्येक कल्प युगल तथा ग्रैवेयकोंके प्रत्येक त्रिकोंमें दश-दश योजन कम होती जाती है। अनुदिशों और अनुत्तरोंके चौदह विमानोंमें केवल पाँच योजन चौड़ाई रह जाती है ॥९४॥ प्रथम कल्प युगलमें भवनोंकी ऊँचाई छह सौ योजन है, दूसरे कल्प युगलमें पाँच सौ योजन है और आगेके युगलोंमें पचास-पचास योजन ऊँचाई कम होती जाती है। इसके आगे अनुदिश और अनुत्तरोंके भवन मात्र पचीस योजन ऊँचे हैं ॥९५॥ प्रथम कल्प युगलमें भवनोंकी गहराई साठ योजन है, दूसरे कल्प युगलमें पचास योजन है और इसके आगेके कल्पोंमें पाँच-पाँच योजन कम होती जाती है। अनुदिश और अनुत्तर सम्बन्धी चौदह विमानोंमें मात्र ढाई योजन गहराई है ॥९६॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके भवन काले, नीले, लाल, पीले और सफेदके भेदसे पाँच रंगके कहे गये हैं ॥९७॥ आगेके युगल—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें नीलेको आदि लेकर चार रंगके हैं, उसके आगे चार स्वर्गोंमें लालको आदि लेकर तीन रंगके हैं, उसके आगे सहस्रार स्वर्ग तकके चार स्वर्गोंमें पीले और सफेद दो रंगके हैं अन्य रंगके नहीं हैं ॥९८॥ उसके आगे आनत-प्राणतको आदि लेकर समस्त स्वर्ग, ग्रैवेयक, अनुदिश तथा अनुत्तरविमानोंके भवन मात्र सफेद वर्णके हैं। वैमानिक देवोंके ये भवन जगमगाती हुई प्रभासे युक्त हैं ॥९९॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके विमान घनोदधिके आधार हैं, सानत्कुमार और माहेन्द्रके विमान घनवातवलयके आधार हैं, आगे आठ कल्प अर्थात् सहस्रार स्वर्ग तकके विमान घनोदधि और घनवात दोनोंके आधार हैं और शेष विमान आकाशके आधार हैं ॥१००॥ छह युगलों तथा शेष कल्पोंमें अपने-अपने निवासके योग्य अन्तिम इन्द्रकके श्रेणी-बद्ध

१. सौधर्मयुग्मे ११२१, सानत्कुमारयुग्मे १०२२, ब्रह्मयुग्मे ९२३ इत्यादि नवनवतिहीनक्रमम् । २. १२० । ३. १००, ९०, ८०, ७०, ६०, ५०, ४०, ३०, २०, १० । ४. अनुदिशानुत्तरेषु । ५. ५०० । ६. पञ्चाशदूनक्रमम् । ७. छज्जुगल सेसकप्पे अट्ठारसमम्हि सेढि वद्धम्मि । दोहीण कमं दक्खिण उत्तर भागम्हि देविंदा ॥४८३॥—त्रिलोकसारस्य । ८. चमरेन्द्रकाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विहानिक्रमतोऽतोऽग्रे दक्षिणोत्तरसंभवाः । सुराधीशाः सुखाम्भोधिमध्यगा गतविद्विषः ॥१०२॥
आज्योतिर्लोकमुत्पादस्तापसानां तपस्विनाम् । ब्रह्मलोकावधिर्ज्ञेयः परिव्राजकयोगिनाम् ॥१०३॥
सदृगाजीवकानां च सहस्राराविधिर्भवः । न जिनेतरदृष्टेन लिङ्गेन तु ततः परम् ॥१०४॥
कल्पानच्युतपर्यन्तान् सौधर्मप्रभृतीन् पुनः । व्रजन्ति श्रावकास्तेभ्यः श्रमणाः परतोऽपि च ॥१०५॥
उपपादोऽस्त्यभव्यानामग्रग्रैवेयकेष्वपि । स च निर्ग्रन्थलिङ्गेन संगतोऽग्रतपःश्रिया ॥१०६॥
रत्नत्रयसमृद्धस्य भव्यस्यैव ततः परम् । यावत्सर्वार्थसिद्धिं[1] स्यादुपपादस्तपस्विनः ॥१०७॥
कृष्णा नीला च कापोता लेश्याश्च द्रव्यभावतः । तेजोलेश्या जघन्या च ज्योतिषान्तेषु भाषिताः ॥१०८॥
सौधर्मैशानदेवानां तेजोलेश्या तु मध्यमा । सैवोत्कृष्टोत्तरद्वन्द्वे पद्मलेश्या जघन्यतः ॥१०९॥
मध्यमा पद्मलेश्या तु परस्मिन् युगलत्रये । उत्कृष्टा पद्मलेश्या च युग्मे शुक्लावरापरे ॥११०॥
अच्युतान्तचतुष्के च नवग्रैवेयकेषु च । सर्वेषामेव देवानां शुक्ललेश्या तु मध्यमा ॥१११॥
अहमिन्द्रविमानेषु चतुर्दशसु संस्थिताः । लेश्या परमशुक्लोर्ध्वं संक्लेशरहितात्मनाम् ॥११२॥

विमानोंमें इन्द्रोंका निवास है । पहले युगलके अन्तिम इन्द्रक सम्बन्धी अठारहवें श्रेणीबद्ध विमानमें इन्द्रका निवास है और आगे दो-दो श्रेणीबद्ध विमानोंकी क्रमिक हानि है । १ सौधर्म, २ सनत्कुमार, ३ ब्रह्म, ४ शुक्र, ५ आनत और ६ आरण कल्पोंमें रहनेवाले इन्द्र दक्षिण दिशामें रहते हैं और १ ऐशान, २ माहेन्द्र, ३ लान्तव, ४ शतार, ५ प्राणत और ६ अच्युत इन छह कल्पोंमें रहनेवाले उत्तर दिशामें रहते हैं । ये इन्द्र सुखरूपी सागरके मध्यमें स्थित हैं तथा प्रतिद्वन्द्वियोंसे रहित हैं—भावार्थ—सौधर्म स्वर्गके अन्तिम पटलके इन्द्रक विमानसे दक्षिण दिशामें जो अठारहवाँ श्रेणीबद्ध विमान है उसमें सौधर्मेन्द्र रहता है और उत्तर दिशामें जो अठारहवाँ श्रेणीबद्ध विमान है उसमें ऐशानेन्द्र रहता है । सनत्कुमार इन्द्र अपने स्वर्गके अन्तिम पटल सम्बन्धी इन्द्रकसे दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणीबद्ध विमानमें रहता है और माहेन्द्र उत्तर दिशा सम्बन्धी । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए ॥१०१-१०२॥ पंचाग्नि आदि तप तपनेवाले तपस्वियोंकी उत्पत्ति भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें होती है, परिव्राजक—संन्यासियोंकी उत्पत्ति ब्रह्मलोक तक और सम्यग्दृष्टि आजीवकोंकी उत्पत्ति सहस्रार स्वर्ग तक हो सकती है । जिन-लिंगके सिवाय अन्य लिंगके द्वारा जीव सहस्रार स्वर्गके आगे नहीं जा सकते यह नियम है ॥१०३-१०४॥ श्रावक सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं और मुनि उसके आगे भी जा सकते हैं ॥१०५॥ अभव्य जीवोंका उपपाद अग्रिम ग्रैवेयक तक हो सकता है, परन्तु यह नियम है कि ग्रैवेयकोंमें उपपाद निर्ग्रन्थ लिंगके द्वारा उग्र तपश्चरण करनेसे ही हो सकता है ॥१०६॥ इसके सर्वार्थ-सिद्धि तक रत्नत्रय तपस्वी भव्य जीवकी ही उत्पत्ति होती है ॥१०७॥

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें द्रव्य तथा भावकी अपेक्षा कृष्ण, नील और कापोतलेश्या तथा जघन्य पीतलेश्या होती है ॥१०८॥ सौधर्म और स्वर्गके देवोंके मध्यम पीत-लेश्या होती है । माहेन्द्र स्वर्गके देवोंके उत्कृष्ट पीतलेश्या और जघन्य पद्मलेश्या होती है ॥१०९॥ इसके आगे तीन युगलोंमें मध्यम पद्मलेश्या होती है । उसके आगे दो युगलोंमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ललेश्या होती है । तदनन्तर अच्युत स्वर्ग तकके चार स्वर्गों और नौ ग्रैवेयकोंके समस्त देवोंके मध्यम शुक्ललेश्या होती है और उसके आगे अनुदिश और अनुत्तर सम्बन्धी अहमिन्द्रोंके चौदह विमानोंमें परम शुक्ललेश्या होती है । यहाँके निवासी अहमिन्द्र संक्लेशसे रहित होते हैं ॥११०-११२॥

१. सर्वार्थसिद्धिः क., ख., ग., ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आघर्मायास्तु देवानामाद्ययोर्विषयोऽवधिः । कल्पयोः परयोश्चासावावंशाया व्यवस्थितः ॥११३॥
आऽसौ मेघावनेरुक्तश्चतुःकल्पे तु तत्परम् । आचतुर्थपृथिव्यास्तु परे कल्पचतुष्टये ॥११४॥
आनतादिचतुष्केऽसावापञ्चम्याः समीरितः । नवग्रैवेयकस्थानामषष्ठ्या विषयोऽवधिः ॥११५॥
नवानुदिशदेवानामासप्तम्या समाश्रितः । लोकनाडीसमस्तासु पञ्चानुत्तरवासिनाम् ॥११६॥
स्वविमानावधिस्तूर्ध्वं विषयोऽवधिचक्षुषः । विश्वेषामेव देवानामिति विश्वविदो विदुः ॥११७॥
स्थित्युत्सेधप्रवीचारा जिनेन्द्रप्रतिभाषिताः । चतुर्देवनिकायानां वेदितव्यं यथायथम् ॥११८॥
दक्षिणाशाऽऽरणान्तानां देव्यः सौधर्म एव तु । निजागारेषु जायन्ते नीयन्ते च निजास्पदम् ॥११९॥
उत्तराशाच्युतान्तानां देवानां दिव्यमूर्त्तयः । ऐशानकल्पसंभूता देव्यो यान्ति निजाश्रयम् ॥१२०॥
शुद्धदेवीयुतान्याहुर्विमानानि मुनीश्वराः षड्लक्षास्तु चतुर्लक्षाः सौधर्मैशानकल्पयोः ॥१२१॥
दिव्यवस्त्रविभूषाभिः शुभविक्रियमूर्तिभिः । [1]चित्तनेत्रहरोदाररूपविभ्रमवृत्तिभिः ॥१२२॥
हावभावविदग्धाभिर्निसर्गप्रेमभूमिभिः । नैकपल्योपमायुर्भिर्देवीभिर्बहुभिः सुखम् ॥१२३॥
इन्द्राः सामानिका देवास्त्रायस्त्रिंशादयोऽखिलाः । कल्पोपपन्नपर्यन्ताः श्रयन्ते दीर्घजीविनः ॥१२४॥
अहमिन्द्रास्ततोऽनन्तं भजन्ते भव[2]र्जं सुखम् । तत्सातावेदनीयोत्थमस्त्रीकं प्रशमात्मजम् ॥१२५॥
सिद्धानां तु परं स्थानं परं द्वादशयोजनम् । सर्वार्थसिद्धितो गत्वा स्थितं त्रैलोक्यमूर्धनि ॥१२६॥
ईषत्प्राग्भारसंज्ञाऽसावष्टमी पृथिवी श्रु[3]ता । अष्टयोजनबाहुल्या मध्ये हीना क्रमात्ततः ॥१२७॥

प्रथम दो स्वर्गके देवोंके अवधिज्ञानका विषय घर्मा पृथिवी तक है, उसके आगेके दो स्वर्गों सम्बन्धी देवोंका विषय वंशा पृथिवी तक है। उसके आगे चार स्वर्गों सम्बन्धी देवोंका विषय मेघा पृथिवी तक है, उनके आगे चार स्वर्गों सम्बन्धी देवोंका विषय अंजना नामक चौथी पृथिवी तक है। उसके आगे आनतादि चार स्वर्गोंके देवोंका विषय अरिष्टा नामकी पांचवीं पृथिवी तक है। नव ग्रैवेयकवासियोंका छठवीं पृथिवी तक है। नवानुदिशवासियोंका सातवीं पृथिवीके अन्त तक है और पञ्चानुत्तरवासियोंका समस्त लोकनाडी तक है। समस्त देवोंके अवधिज्ञान रूपी नेत्रका ऊपर-की ओरका विषय अपने-अपने विमानके अन्त भाग तक है ऐसा सर्वज्ञ देव जानते हैं ॥११३-११७॥ चारों निकायके देवोंकी स्थिति, ऊँचाई तथा प्रवीचार—कामसेवनका वर्णन जैसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने किया है वैसा यथायोग्य जानना चाहिए ॥११८॥ आरण स्वर्ग पर्यन्त दक्षिण दिशाके देवोंकी देवियाँ सौधर्म स्वर्गमें ही अपने-अपने उपपाद स्थानोंमें उत्पन्न होती हैं और नियोगी देवोंके द्वारा यथास्थान ले जायी जाती हैं ॥११९॥ तथा अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तर दिशाके देवोंकी सुन्दर देवियां ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होती हैं एवं अपने-अपने नियोगी देवोंके स्थानपर जाती हैं ॥१२०॥ मुनियोंके ईश्वर गणधर देवने सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें शुद्ध देवियोंसे युक्त विमानोंकी संख्या क्रमसे छह लाख और चार लाख बतलायी है अर्थात् सौधर्म ऐशान स्वर्गमें केवल देवियोंके उत्पत्ति स्थान छह लाख और चार लाख प्रमाण हैं ॥१२१॥ सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न एवं दीर्घ आयुको धारण करनेवाले इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव, दिव्य वस्त्रालंकारोंसे विभूषित, शुभ विक्रिया करनेवाली हृदय तथा नेत्रोंको हरण करनेवाली उत्कृष्ट रूप और विभ्रमसे सहित, हाव-भाव दिखलानेमें चतुर स्वाभाविक प्रेमकी भूमि एवं अनेक पल्य-प्रमाण आयुवाली अनेक देवियोंके साथ सुखको प्राप्त होते हैं ॥१२२-१२४॥ सोलहवें स्वर्गके आगेके अहमिन्द्र, साता वेदनीयके उदयसे उत्पन्न, स्त्री रहित, शान्तिरूप आत्मासे उत्पन्न होनेवाले, देव पर्यायजन्य अपरिमित सुखका उपभोग करते हैं ॥१२५॥ सर्वार्थसिद्धिसे बारह योजन आगे जाकर तीन लोकके मस्तकपर सिद्ध भगवान्‌का उत्कृष्ट स्थान है ॥१२६॥ सिद्धोंका यह स्थान (सिद्धशिला) ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथिवी

१. चित्तस्ववृत्तिभिः म., ख. । २. भवनं म. । ३. स्तुता म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यन्तेऽङ्गुलसंख्येयभागमात्रतनुस्थितिः । सोत्तानितमहावृत्तश्वेतच्छत्रोपमाकृतिः॥१२८॥
चत्वारिंशत्तु विस्तारो लक्षाः पञ्चभिरर्चिताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिरभिधीयते ॥१२९॥
कोटी तु परिधिर्लक्षा द्विचत्वारिंशदिष्यते । द्विशत्येकान्नपञ्चाशत् त्रिसहस्री दशाहता ॥१३०॥
ऊर्ध्वं तस्याः पुरा प्रोक्तं यद्वातवलयत्रयम् । तत्र त्रिक्रोशबाहुल्यमतीत्य वलयद्वयम् ॥१३१॥
धनुषां पञ्चशत्यामा पञ्चसप्ततियुक्तया । धनुःसहस्रमेकं हि बहलं वलयं तु यत् ॥१३२॥
तनुवातस्य तस्यान्ते पञ्चविंशतिसंयुताम् । विगाह्योत्कर्षतः सिद्धाः स्थिताः पञ्चधनुःशतीम् ॥१३३॥
सार्द्धहस्तत्रयं पूर्वं कृत्वान्तेऽनन्तरोच्छ्रितिम् । सिद्धावगाहनाकाशदेशो देशोन इष्यते ॥१३४॥
एकोऽवतिष्ठते यत्र सिद्धः सिद्धप्रयोजनः । तत्रानन्ताश्च तिष्ठन्ति सिद्धास्ते स्वावगाहतः ॥१३५॥
अशरीराः सुखात्मानः सिद्धा जीवघनायुताः । साकारेणोपयोगेन निराकारेण चात्मनः ॥१३६॥
सर्वलोकमलोकं च संततानन्तपर्ययम् । जानन्तः सह पश्यन्तस्तिष्ठन्ति सुखिनः सदा ॥१३७॥
सिद्धाः शुद्धाः प्रबुद्धार्था विजन्मानोऽजरामराः । शाश्वताः [1]शाश्वतं स्थानमधितिष्ठन्त्यबन्धनाः ॥१३८॥

मन्दाक्रान्ता

[2]ज्योतिर्लोकप्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्ध्वलोक-
प्रज्ञप्त्युक्तं नरवर मया संग्रहा[3]त्क्षेत्रमेवम् ।
संप्रोक्तं ते श्रवणसुभगं श्रेणिक श्रेयसेऽतः
शृण्वायुष्मन्नवहितमतिर्वच्मि कालोपदेशम् ॥१३९॥

कहलाती है। यह पृथिवी मध्यमें आठ योजन मोटी है उसके आगे क्रमसे कम-कम होती हुई अन्त भागमें अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म रह जाती है, वह ऊपरकी ओर उठे हुए विशाल गोल सफेद छत्रके आकार है ॥१२७-१२८॥ विद्वज्जन उस पृथिवीका विस्तार पैंतालीस लाख योजन बतलाते हैं ॥१२९॥ उसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन है ॥१३०॥ उस पृथिवीके ऊपर पहले कहे हुए तीन वातवलय हैं, उनमें तीन कोश विस्तारवाले दो वलयोंका उल्लंघन कर एक हजार पाँच सौ पचहत्तर धनुष विस्तारवाला जो तीसरा तनुवातवलय है। उसके पाँच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भागको अपनी उत्कृष्ट अवगाहनासे व्याप्तकर सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। जिन सिद्ध भगवान्का अनन्तर पूर्व शरीर साढ़े तीन हाथ ऊँचा रहता है उनकी अवगाहना सम्बन्धी आकाशका प्रदेश साढ़े तीन हाथसे कुछ कम माना जाता है ॥१३१-१३४॥ जहाँ कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त हुए एक सिद्ध भगवान् विराजमान हैं वहाँ अपनी अवगाहनासे अनन्त सिद्ध परमेष्ठी स्थित है। भावार्थ—अवगाह दानकी सामर्थ्य होनेसे सिद्ध परमेष्ठी एक दूसरेको बाधा नहीं पहुँचाते इसलिए जहाँ एक सिद्ध है वहीं अनन्त सिद्ध विराजमान रहते हैं ॥१३५॥ ये सिद्ध परमेष्ठी शरीररहित हैं, सुख रूप हैं, जीवके घन प्रदेशोंसे युक्त हैं और अपने ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोगके द्वारा अनन्त पर्यायोंसे युक्त समस्त लोक और अलोकको एक साथ जानते हुए सदा सुखसे स्थिर रहते हैं ॥१३६-१३७॥ जो कर्म कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं, अनन्त ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण जिन्होंने समस्त पदार्थोंको जान लिया है, जो आयुकर्मसे रहित होनेके कारण नूतन जन्मसे रहित हैं, शरीर रहित होनेके कारण अजर-अमर हैं, मोहजन्य विकारसे रहित होनेके कारण जो कर्मबन्धनसे दूर हैं और स्वाश्रित होनेसे शाश्वत हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी उस शाश्वत—अविनश्वर स्थानपर सदा विद्यमान रहते हैं ॥१३८॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे नररत्न श्रेणिक! इस प्रकार हमने तेरे कल्याणके लिए

१. निश्चलं ख. । २. 'ज्योतिर्लोकः प्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्ध्वलोकः म. । ३. संग्रहाक्षेपमेवं ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मध्यानं धवलमुदितं मोक्षहेतुर्जिनेन्द्रै-
राज्ञापायप्रभृतिविचयैश्चित्तवृत्तेर्निरोधः ।
यत्तत्कार्या समितकरणैर्लोकसंस्थानचिन्ता
मन्दाक्रान्ता न हृदयमदेभेन्द्रियाश्वा[1] विधेयाः ॥१४०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ज्योतिर्लोकोर्ध्वलोकवर्णनो
नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥



ज्योतिर्लोक और अनेक पटलोंसे युक्त स्वर्ग एवं मोक्षसे सहित ऊर्ध्व लोकका कथन करनेवाले इस क्षेत्रका संक्षेपसे कर्णप्रिय वर्णन किया है। अब हे आयुष्मन्! हम कालद्रव्यका कथन करते हैं सो एकाग्रचित्तसे श्रवण कर ॥१३९॥ श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके द्वारा चित्तवृत्तिके निरोध करनेको उज्ज्वल धर्मध्यान कहा है और चूँकि धर्मध्यान मोक्षका कारण है इसलिए इन्द्रियोंको वश करनेवाले पुरुषोंको लोकके संस्थान—आकारका चिन्तन करना चाहिए। आचार्योंने ठीक ही कहा है कि इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथी और इन्द्रिय-रूपी घोड़े मन्द आक्रमण होनेपर वशमें नहीं रहते। भावार्थ—मोक्षाभिलाषी पुरुषोंको मन और इन्द्रियोंको स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए ॥१४०॥

इस प्रकार जिसमें श्रीअरिष्टनेमि जिनेन्द्रके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे
जिनसेनाचार्यरचित हरिवंश पुराणमें ज्योतिर्लोक तथा ऊर्ध्वलोकका
वर्णन करनेवाला छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥



१. भेदेन्द्रियास्वाविधेयाः क., ख., ग., घ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तमः सर्गः

वर्णगन्धरसस्पर्शमुक्तोऽगौरवलाघवः । वर्त्तनालक्षणः कालो मुख्यो गौणश्च स द्विधा ॥१॥
गतिस्थित्यवगाहानां धर्माधर्माम्बराणि च । निमित्तं सर्वभावानां वर्त्तनस्यात्र निश्चयः ॥२॥
धर्माधर्मनभोद्रव्यं यथैवागमदृष्टितः । तथा निश्चयकालोऽपि निश्चेतव्यो विपश्चिता ॥३॥
जीवानां पुद्गलानां च परिवृत्तिरनेकधा । गौणकालप्रवृत्तिश्च मुख्यकालनिबन्धना ॥४॥
सर्वेषामेव भावानां परिणामादिवृत्तयः । स्वान्तर्बहिर्निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते समन्ततः ॥५॥
निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता । बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥६॥
अन्योन्यानुप्रवेशेन विना कालाणवः पृथक् । लोकाकाशमशेषं तु व्याप्य तिष्ठन्ति संचिताः ॥७॥
द्रव्यार्थान्निर्विकारत्वादुदयव्ययवर्जिताः । नित्या एव कथंचित्ते स्वरूपसमवस्थिताः ॥८॥
अगुरुत्वलघुत्वात्मपरिणामसमन्विताः । परोपाधिविकारित्वादनित्यास्तु कथंचन ॥९॥
त्रिधा समयवृत्तीनां हेतुत्वात्ते त्रिधा स्मृताः । अनन्तसमयोत्पादादनन्तव्यपदेशिनः ॥१०॥
तेभ्यः कारणभूतेभ्यः समयस्य समुद्भवः । कारणेन विना कार्यं न कदाचित् प्रजायते ॥११॥
स्वत एवाऽसतो जन्म कार्यस्य यदि जायते । स्वत एव हि किं न स्यात् खरशृङ्गस्य संभवः ॥१२॥
न कालादन्यतो हेतोः कालकार्यसमुद्भवः । न हि संजायते जातु शालिबीजाद् यवाङ्कुरः ॥१३॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित व हलका व भारी और वर्तना लक्षणसे युक्त कालद्रव्य है। वह मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है ॥१॥ जिस प्रकार जीव और पुद्गलके गमन करनेमें धर्म द्रव्य, ठहरनेमें अधर्म द्रव्य और समस्त द्रव्योंको अवगाह देनेमें आकाश द्रव्य निमित्त है उसी प्रकार समस्त द्रव्योंकी वर्तना--षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमनमें निश्चय कालद्रव्य निमित्त है ॥२॥ जिस प्रकार धर्म-अधर्म और आकाशद्रव्यका आगमदृष्टिसे निश्चय किया जाता है उसी प्रकार विद्वानोंको काल द्रव्यका भी निश्चय करना चाहिए ॥३॥ जीव और पुद्गलोंका परिणमन नाना प्रकारका होता है और गौण कालकी प्रवृत्ति मुख्य कालके कारण है ॥४॥ समस्त पदार्थोंमें जो परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्वरूप परिणमन होते हैं वे अपने-अपने अन्तरंग तथा बहिरंग निमित्तोंसे ही सब ओर प्रवृत्त होते हैं ॥५॥ उन अन्तरंग, बहिरंग निमित्तोंमें अन्तरंग निमित्त तो वस्तुकी अपनी योग्यता है जो सदा उसमें स्थित रहती है और बाह्य निमित्त निश्चय कालद्रव्य है ऐसा तत्त्वदर्शी आचार्योंने निश्चित किया है ॥६॥ परस्परके प्रवेशसे रहित कालाणु पृथक्-पृथक् समस्त लोकको व्याप्त कर राशिरूपमें स्थित हैं ॥७॥ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कालाणुओंमें विकार नहीं होता इसलिए उत्पाद-व्ययसे रहित होनेके कारण वे कथंचित् नित्य हैं और अपने स्वरूपमें स्थित हैं ॥८॥ अगुरु लघु गुणके कारण उन कालाणुओंमें प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है तथा परपदार्थके सम्बन्धसे वे विकारी हो जाते हैं इसलिए पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् अनित्य भी है ॥९॥ भूत, भविष्य और वर्तमानरूप तीन प्रकारके समयका कारण होनेसे वे कालाणु तीन प्रकारके माने गये हैं और अनन्त समयोंके उत्पादक होनेसे अनन्त भी कहे जाते हैं ॥१०॥ उन कारणभूत कालाणुओंसे समयकी उत्पत्ति होती है सो ठीक ही है क्योंकि कारणके बिना कभी कार्य उत्पन्न नहीं होता ॥११॥ यदि असद्भूत कार्यकी उत्पत्ति कारणके बिना स्वयं ही होती है तो फिर गधेके सींगकी उत्पत्ति स्वयं ही क्यों नहीं हो जाती ? ॥१२॥ कालके सिवाय अन्य कारणसे कालरूप कार्यकी उत्पति नहीं होती क्योंकि धानके बीजसे कभी जौका अंकुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायते भिन्नजातीयो हेतुर्यत्राऽपि कार्यकृत् । तत्राऽसौ सहकारी स्यात् मुख्योपादानकारणः ॥१४॥
[1]युक्त्यागमबलादेवमनतीन्द्रियदर्शिनः । सद्भावं मुख्यकालस्य अतिपद्य व्यवस्थितः ॥१५॥
समयावलिकोच्छ्वा[2]सप्राणस्तोकलवादिकः । व्यवहारस्तु विज्ञेयः कालः कालज्ञवर्णितः ॥१६॥
परिणामं प्रपन्नस्य गत्या सर्वजघन्यया । परमाणोर्निजागाढस्वप्रदेशव्यतिक्रमः ॥१७॥
कालेन यावतैव स्यादविभागः स भाषितः । समयः समयाभिज्ञैर्नि[3]रुद्धैपरमान्यतः ॥१८॥
तैरेवावलिकासंख्यैः संख्याताभिस्तु भाषितौ । ताभिरुच्छ्वासनिश्वासौ तावुभौ प्राण इष्यते ॥१९॥
प्राणाः सप्त पुनः स्तोकः सप्तस्तोका भवेल्लवः । ते सप्त सप्ततिः सन्तो मुहूर्त्तास्त्रिंशदेव ते ॥२०॥
अहोरात्रं भवेत्पक्षस्तानि पञ्चदशैव तौ । मासो मासावृतुस्तेषां त्रितयं स्वयनं तथा ॥२१॥
अयनद्वयमब्दं स्यात् पञ्चाब्दानि युगं पुनः । युगद्वयं दशाब्दानि शतं तानि दशाहतौ ॥२२॥
भवेद्वर्षसहस्रं तु शतं चापि दशाहतम् । दशवर्षसहस्राणि तदेव दशताडितम् ॥२३॥
ज्ञेयं वर्षसहस्रं तु तच्चापि दशसंगुणम् । पूर्वाङ्गं तु तदभ्यस्तमशीत्या चतुरग्रया ॥२४॥
तत्तद्गुणं च पूर्वाङ्गं पूर्वं भवति निश्चितम् । पूर्वाङ्गं तद्गुणं तच्च पूर्वसंज्ञं तु तद्गुणम् ॥२५॥
नियुताङ्गं परं तस्मान्नियुतं च ततः परम् । कुमुदाङ्गं ततश्च स्याद् कुमुदं तु ततः परम् ॥२६॥
पद्माङ्गं पद्ममप्यस्माद् नलिनाङ्गं तथैव च । नलिनं कमलाङ्गं च कमलं चाप्यतः परम् ॥२७॥
तुट्याङ्गं तुट्यमप्यस्मादटटाङ्गं ततोऽपि च । अटटं चाममाङ्गं स्यादममं चाप्यतः परम् ॥२८॥

उत्पन्न नहीं होता ॥१३॥ जहाँ कहीं भिन्न जातीय कारण कार्य उत्पादक होता है वहाँ वह सहकारी कारण ही होता है। कार्यकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण उपादान है और सहकारी कारण उसका सहायक होता है ॥१४॥ इस प्रकार जो अतीन्द्रियदर्शी नहीं हैं अर्थात् स्थूल पदार्थको ही जानते हैं उनके लिए युक्ति और आगमके बलसे मुख्यकालका सद्भाव बताकर उसे व्यवस्थित किया है ॥१५॥ समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक और लव आदिको व्यवहार-काल जानना चाहिए ऐसा समयके ज्ञाता आचार्योंने वर्णन किया है ॥१६॥ सर्वजघन्य गतिसे परिणामको प्राप्त हुआ परमाणु जितने समयमें अपने द्वारा प्राप्त स्वर्गीय प्रदेशका उल्लंघन करता है उतने समयको समय-शास्त्रके ज्ञाता आचार्योंने समय कहा है। यह समय अविभागी होता है तथा परकी मान्यताको रोकनेवाला है ॥१७-१८॥ असंख्यात समयकी एक आवली होती है, संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास निश्वास होता है, दो उच्छ्वास निश्वासोंका एक प्राण होता है। सात प्राणोंका एक स्तोक होता है, सात स्तोकोंका एक लव होता है, सत्तर लवोंका एक मुहूर्त होता है, तीस मुहूर्त्तोंका एक दिन-रात होता है, पन्द्रह दिन-रातका एक पक्ष होता है, दो पक्षका एक मास होता है, दो मासकी एक ऋतु होती है, तीन ऋतुओंका एक अयन होता है, दो अयनोंका एक वर्ष होता है, पाँच वर्षोंका एक युग होता है, दो युगोंके दश वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर सौ वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर हजार वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर दश हजार वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर एक लाख वर्ष होते हैं, इसमें चौरासीका गुणा करनेपर एक पूर्वांग होता है, चौरासी लाख पूर्वांगोंका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वोंका एक नियुतांग, चौरासी लाख नियुतांगोंका एक नियुत, चौरासी लाख नियुतोंका एक कुमुदांग, चौरासी लाख कुमुदांगोंका एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदोंका एक पद्मांग, चौरासी लाख पद्मांगोंका एक पद्म, चौरासी लाख पद्मोंका एक नलिनांग, चौरासी लाख नलिनांगोंका एक नलिन, चौरासी लाख नलिनोंका एक कमलांग, चौरासी लाख कमलांगोंका एक कमल, चौरासी लाख कमलोंका एक तुट्यांग, चौरासी लाख तुट्यांगोंका एक तुट्य, चौरासी लाख तुट्योंका एक अटटांग, चौरासी लाख

१. युक्तागम- म., क.। २. -कोच्छ्वासः प्राण म.। ३. निरुद्धः परमास्थितः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊहाङ्गमूहमप्यस्मालुताङ्गं च लताह्वयम् । महालताङ्गसंज्ञं स्यात् कालवस्तुमहालता ॥२९॥
शिरःप्रकम्पितं प्रोक्तं ततो हस्तप्रहेलिका । चर्चिकेत्यादिकः कालः संख्येयः परिभाषितः ॥३०॥
वर्षसंख्याव्यतिक्रान्तः कालोऽसंख्येय इष्यते । पल्यसागरसंख्यानं कल्पानन्तादिभेदवान् ॥३१॥
[1]आदिमध्यान्तनिर्मुक्तं निर्विभागमतीन्द्रियम् । मूर्त्तमप्यप्रदेशं च परमाणुं प्रचक्षते ॥३२॥
एकदैकं रसं वर्णं गन्धं स्पर्शावबाधकौ । दधत् स वर्ततेऽभेद्यः शब्दहेतुरशब्दकः ॥३३॥
आशङ्क्या नार्थतत्त्वज्ञैर्नभोंऽशानां समन्ततः । षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता ॥३४॥
स्वल्पाकाशषडंशाश्च परमाणुश्च संहताः । सप्तांशाः स्युः कुतस्तु स्यात्परमाणोः षडंशता ॥३५॥
वर्णगन्धरसस्पर्शैः पूरणं गलनं च यत् । कुर्वन्ति स्कन्धवत्तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः ॥३६॥
[2]अनन्तानन्तसंख्यानपरमाणुसमुच्चयः । अवसंज्ञादिकासंज्ञा स्कन्धजातिस्तु जायते ॥३७॥
ताभिरष्टाभिरप्युक्ता संज्ञासंज्ञादिका तथा । ताभिरप्यष्ट संज्ञाभिस्तुटिरेणुः स्फुटीकृतः ॥३८॥

अटटांगोंका एक अटट, चौरासी लाख अटटोंका एक अममांग, चौरासी लाख अममांगोंका एक अमम, चौरासी लाख अममोंका एक ऊहांग, चौरासी लाख ऊहांगोंका एक ऊह, चौरासी लाख ऊहोंका एक लतांग, चौरासी लाख लतांगोंकी एक लता, चौरासी लाख लतांगोंका एक महालतांग, चौरासी लाख महालतांगोंकी एक महालता, चौरासी लाख महालताओंका एक शिरःप्रकम्पित, चौरासी लाख शिरःप्रकम्पितोंकी एक हस्त प्रहेलिका और चौरासी लाख हस्त प्रहेलिकाओंकी एक चर्चिका होती है। इस प्रकार चर्चिका आदिको लेकर संख्यात काल कहा गया है ॥१९-३०॥ जो वर्षोंकी संख्यासे रहित है वह असंख्येय काल माना जाता है। इसके पल्य, सागर, कल्प तथा अनन्त आदि अनेक भेद हैं ॥३१॥

जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित है, निर्विभाग है, अतीन्द्रिय है और मूर्त होनेपर भी अप्रदेश—द्वितीयादिक प्रदेशोंसे रहित है उसे परमाणु कहते हैं ॥३२॥ वह परमाणु एक कालमें एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और परस्परमें बाधा नहीं करनेवाले दो स्पर्शोंको धारण करता है, अभेद्य है, शब्दका कारण है और स्वयं शब्दसे रहित है ॥३३॥ पदार्थके स्वरूपको जाननेवाले लोगोंको ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि सब ओरसे एक समय आकाशके छह अंशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे परमाणुमें षडंशता है ॥३४॥ क्योंकि ऐसा माननेपर आकाशके छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब मिलकर सप्तमांश हो जाते हैं। अब परमाणुमें षडंशता कैसे हो सकती है ? ॥३५॥ क्योंकि परमाणु रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके द्वारा पूरण तथा गलन करते रहते हैं इसलिए स्कन्धके समान परमाणु पुद्गल द्रव्य हैं ॥३६॥ अनन्तानन्त परमाणुओंके समूहको अवसंज्ञ कहते हैं। ये अवसंज्ञ आदि स्कन्धकी ही जातियाँ हैं ॥३७॥ आठ अवसंज्ञाओंकी

१. अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदियेहिं णहु गेज्झं ।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं वदंति जिणा ॥९८॥ —त्रै. प्र.

२. परमाणूहिं अणंताणंतेहिं बहुविहेहिं दव्वेहिं ।
अवसण्णासण्णोत्ति सो खंधो होइ णामेण ॥१०२॥
उवसण्णासण्णो वि य गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण ।
सण्णासण्णो त्ति तदो दु इदि खंधो पमाणट्ठं ॥१०३॥
अट्ठेहिं गुणिदेहिं सण्णासण्णेहिं होदि तुडिरेणु ।
तित्तियमेत्तहदेहिं तुडिरेणूहिं पि तसरेणु ॥१०४॥
तसरेणू रथरेणू उत्तमभोगावणीए बालग्गं ।
मज्झिमभोगखिदीएं घोलं पि जहण्ण भोगखिदिबालं ॥१०५॥ इत्यादि —त्रै. प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतैरप्यष्टबालाग्रैरेकमेकाग्रमानसैः । कर्मभूमिमनुष्याणां बालाग्रमिति भाषितम् ॥३९॥
तैरष्टाभिर्भवेल्लिक्षा तामिर्यूका तथाष्टभिः । यूकाभिस्तु यवोऽष्टाभिर्यवैरष्टाभिरङ्गुलम् ॥४०॥
उत्सेधाङ्गुलमेतत्स्यादुत्सेधोऽनेन देहिनाम् । अल्पावस्थितवस्तूनां प्रमाणं च प्रगृह्यते ॥४१॥
प्रमाणाङ्गुलमेकं स्यात् तत्पञ्चशतसंगुणम् । प्रथमस्यावसर्पिण्यामङ्गुलं चक्रवर्त्तिनः ॥४२॥
बोध्यं यथास्वमुत्सेधव्यासादि महतः पुनः । द्वीपसागरशैलादेः प्रमाणाङ्गुलसंमितम् ॥४३॥
स्वे स्वे काले मनुष्याणामङ्गुलं स्वाङ्गुलं मतम् । मीयते तेन तच्छत्रभृङ्गारनगरादिकम् ॥४४॥
त्रिविधाङ्गुलषट्कः स्यात् पादः पादद्वयं पुनः । वितस्तिस्तद्द्वयं हस्तस्तद्द्वयं किष्कुरिष्यते ॥४५॥
दण्डः किष्कुद्वयं दण्डः धनुर्नाड्या समा मताः । अष्टौ दण्डसहस्राणि योजनं परिभाषितम् ॥४६॥
प्रमाणयोजनव्यासस्त्रावगाहं विशेषवत् । त्रिगुणं परिवेषेण क्षेत्रं पर्यन्तभित्तिकम् ॥४७॥
सप्ताहान्ताविरोमाग्रैरापूर्यं कठिनीकृतम् । तदुद्धार्यमिदं पल्यं व्यवहाराख्यमिष्यते ॥४८॥
एकैकस्मिंस्ततो रोम्नि प्रत्यब्दशतमुद्धृते । यावताऽस्य क्षयः कालः पल्यं व्युत्पत्तिमात्रकृत् ॥४९॥
असंख्येयाब्दकोटीनां समयै रोमखण्डितम् । प्रत्येकं पूर्वकं तस्यात्पल्यमुद्धारसंज्ञकम् ॥५०॥

एक संज्ञा-संज्ञा कही गयी है, आठ संज्ञा-संज्ञाओंका एक त्रुटिरेणु प्रकट किया गया है ॥३८॥ [आठ★ त्रुटिरेणुओंका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओंका एक रथरेणु, आठ रथरेणुओंका एक उत्तम भोग-भूमिज मनुष्यके बालका अग्रभाग, उत्तमभोगभूमिज मनुष्यके आठ बालाग्रभागोंका एक मध्यमभोग-भूमिज मनुष्यका बालाग्र और आठ मध्यमभोगभूमिज मनुष्यके बालाग्रोंका एक जघन्य भोगभूमिज मनुष्यका बालाग्र होता है] जघन्य भोगभूमिज मनुष्योंके आठ बालाग्रोंका एक कर्मभूमिज मनुष्यका बालाग्र होता है, इन आठ बालाग्रोंकी एक लीख, आठ लीखोंका एक जूँआ, आठ जुँओंका एक जौ और आठ जौ का एक उत्सेधांगुल होता है। इस उत्सेधांगुलसे जीवोंके शरीरकी ऊँचाई और छोटी वस्तुओंका प्रमाण ग्रहण किया जाता है ॥३९-४१॥ उत्सेधांगुलमें पाँच सौका गुणा करनेपर एक प्रमाणांगुल होता है। यह प्रमाणांगुल अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीका अंगुल है ॥४२॥ इस अंगुलसे बड़े-बड़े द्वीप, समुद्र आदिकी ऊँचाई, चौड़ाई आदि यथायोग्य जानी जाती है ॥४३॥ अपने-अपने समयमें मनुष्योंका जो अंगुल है वह स्वांगुल माना गया है। इसके द्वारा छत्र, कलश तथा नगर आदिका विस्तार नापा जाता है ॥४४॥ छह अंगुलोंका एक पाद होता है, दो पादोंकी एक वितस्ति, दो वितस्तियोंका एक हाथ और दो हाथोंका एक किष्कु होता है ॥४५॥ दो किष्कुओंका एक दण्ड, धनुष अथवा नाड़ी होती है, आठ हजार दण्डोंका एक योजन कहा गया है ॥४६॥

एक ऐसा क्षेत्र (गर्त) बनाया जाये जो एक प्रमाण योजन बराबर लम्बा-चौड़ा तथा गहरा हो, जिसकी परिधि इससे कुछ अधिक तिगुनी हो तथा जिसके चारों तरफ दीवालें बनायी गयी हों ॥४७॥ इस क्षेत्रको एकसे लेकर सात दिन तककी भेड़के बालोंके ऐसे टुकड़ोंसे जिनके कि दूसरे टूकड़े न हो सकें ऊपर तक कूट-कूटकर भरा जाये। इस गर्तको व्यवहारपल्य कहते हैं ॥४८॥ सौ-सौ वर्षके बाद एक-एक बालका टुकड़ा उस गर्तसे निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो जाये उतने समयको व्यवहारपल्योपम काल कहते हैं ॥४९॥ तदनन्तर उन्हीं बालके टुकड़ोंमें प्रत्येक टुकड़ेके, असंख्यात करोड़ वर्षोंमें जितने समय हैं उतने टुकड़े बुद्धिसे कल्पित टुकड़ोंसे पूर्वोक्त प्रमाणवाले गर्तको भरा जाये। इस भरे हुए गर्तको उद्धारपल्य कहते हैं और

१. रोमखण्डितैः म., ग.।

★ कोष्ठकान्तर्गत भागको सूचित करनेवाले श्लोक सम्पादनके लिए प्राप्त चारों हस्तलिखित तथा एक मुद्रित पाँचों प्रतियोंमें नहीं हैं परन्तु हैं आवश्यक। इसलिए उनका प्रासंगिक अनुवाद दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोटीकोट्यो दशामीषां पल्यानां सागरोपमा । ताभ्यामर्द्धतृतीयाभ्यां द्वीपसागरसंमितिः ॥५१॥
सोऽध्वा द्विगुणितो रज्जुस्तनुवातोभयान्तभाग् । निष्पद्यते त्रयो लोकाः प्रमीयन्ते बुधैस्तथा ॥५२॥
असंख्यवर्षकोटीनां समयै रोमखण्डितैः । उद्धारपल्यमद्धाख्यं स्यात्कालोऽद्धाभिधीयते ॥५३॥
कालः पल्योपमाख्योऽसौ समयं समयं प्रति । क्षीयमाणः प्रमाणार्थमायुषो विनियुज्यते ॥५४॥
कोटीकोट्यो दशामीषां जायते सागरोपमा । मेया संसारिणां चामिरायुःकर्मभवस्थितिः ॥५५॥
कोटीकोट्यो दशैतासां प्रत्येकमवसर्पिणी । उत्सर्पिणी च कालाः षट् प्रत्येकमनयोः समाः ॥५६॥
अवसर्पति वस्तूनां शक्तिर्यत्र क्रमेण सा । प्रोक्ताऽवसर्पिणी सार्था सान्यथोत्सर्पिणी तथा ॥५७॥
सुषमासुषमाऽऽद्या स्यात् द्वितीया सुषमा समा । दुःषमासुषमाऽऽद्या स्यात् सुषमादुःषमादिका ॥५८॥
दुःषमा चावसर्पिण्यामतिदुःषमया सह । ता एव प्रतिलोमाः स्युरुत्सर्पिण्यां च षट् समा ॥५९॥
कोटीकोट्यश्चतस्रश्च तिस्रो द्वे च यथाक्रमम् । आदितस्तिसृणां तासां प्रमाणं सागरोपमाः ॥६०॥
द्वाचत्वारिंशदब्दानां सहस्रैः परिवर्जिता । कोटीकोटीसमुद्राणां तुरीयस्य यथाक्रमम् ॥६१॥
तानि वर्षसहस्राणि विभक्तानि समं भवेत् । पञ्चमस्य च षष्ठस्य प्रमाणं कालवस्तुनः ॥६२॥
कल्पस्ते द्वे तथार्थानां वृद्धिहानिमती स्थितिः । भरतैरावतक्षेत्रेष्वन्येष्वपि ततोऽन्यथा ॥६३॥

एक-एक समयमें एक-एक टुकड़ा निकालनेपर जितने समयमें वह गर्त खाली हो जाये उतने समयको उद्धारपल्योपम काल कहते हैं ॥५०॥ दश कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धार सागर होता है और ढाई उद्धार सागरोपम काल अथवा पचीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंके बालोंके जितने टुकड़े हों उतने द्वीपसागरोंका प्रमाण है ॥५१॥ द्वीपसागरोंका जो अध्वा अर्थात् एक दिशाका विस्तार है उसे दुगुना करनेपर रज्जुका प्रमाण निकलता है। यह रज्जु दोनों दिशाओंके तनुवातवलयके अन्त भागको स्पर्श करती है। विद्वान् लोग इसके द्वारा तीन लोकोंका प्रमाण निकालते हैं ॥५२॥ उद्धार पल्यके रोम खण्डोंके असंख्यात करोड़ वर्षोंके समय बराबर बुद्धि द्वारा खण्ड कल्पित किये जावें और उनसे पूर्वोक्त गर्तको भरा जाये। इस गर्तको अद्धा पल्य कहते हैं। उनमें-से एक-एक समयके बाद एक-एक टुकड़ाके निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो जाये उतने समयको अद्धापल्योपम काल कहते हैं। आयुका प्रमाण बतलानेके लिए इसका उपयोग होता है ॥५३-५४॥ दश कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका अद्धासागर होता है, इसके द्वारा संसारी जीवोंकी आयु, कर्म तथा संसारकी स्थिति जानी जाती है ॥५५॥ दश कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोंकी एक अवसर्पिणी तथा उतने ही सागरोंकी एक उत्सर्पिणी होती है। इनमें प्रत्येकके छह-छह भेद हैं ॥५६॥ जिसमें वस्तुओंकी शक्ति क्रमसे घटती जाती है उसे अवसर्पिणी और जिसमें बढ़ती जाती है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं। इनका अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम सार्थक है ॥५७॥ १ सुषमासुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमादुःषमा ये अवसर्पिणीके छह भेद हैं और इससे उलटे अर्थात् १ दुःषमादुःषमा, २ दुःषमा, ३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ये छह उत्सर्पिणीके भेद हैं ॥५८-५९॥ प्रारम्भके तीन कालोंका प्रमाण क्रमसे चार कोड़ाकोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर और दो कोड़ाकोड़ी सागर है ॥६०॥ चौथे कालका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर है और पाँचवें तथा छठे कालका प्रमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है ॥६१-६२॥ जिस प्रकार दश कोड़ाकोड़ी सागरका अवसर्पिणी काल है उसी प्रकार दश कोड़ाकोड़ी सागरका उत्सर्पिणी काल है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों

१. दशैतेषां क. । २. द्वीपसागरप्रमाणम् । ३. द्वीपसाराणामेकस्मिन् दिशि मर्यादामार्गः अध्वा कथ्यते । ४. निष्पद्यन्ते म., ग., ङ., क. । ५. द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि विभक्तानि द्विधाकृतानि अर्थात् एकविंशति-वर्षसहस्राणि । ६. उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आद्येषु त्रिषु कालेषु कल्पवृक्षविभूषिता । भोगभूमिरियं भूमिर्भोगभूमिस्तु भारती ॥६४॥
युग्मधर्मभुजो मूत्वा तेषामादौ जगत्प्रजाः । षट्चतुर्द्विसहस्राणि धनूंषि वपुषोच्छ्रिताः ॥६५॥
आयुस्त्रिद्व्येकपल्यैस्तु तुल्यं तासां यथाक्रमम् । देवोत्तरकुरुक्षेत्रहरिहैमवतेष्विव ॥६६॥
प्रोद्यदादित्यवर्णाभाः पूर्णचन्द्रसमप्रभाः । प्रियङ्गुश्यामवर्णाश्च तेषु स्त्रीपुरुषास्त्रिषु ॥६७॥
[1]पृष्ठकाण्डकसंख्यानं षट्पञ्चाशं शतद्वयम् । अष्टाविंशं शतं तेषां चतुःषष्टिर्यथाक्रमम् ॥६८॥
दिव्यं बदरतन्मात्रमक्षमात्रं च भोजनम् । तथाऽमलकमात्रं च चतुस्त्रिद्विदिनैस्त्रिषु ॥६९॥
तत्त्रिकालनियोगेन धरित्रीयं नियन्त्रिता । त्रिभेदानां तदादत्ते नित्यभोगभुवां स्थितिम् ॥७०॥
रत्नप्रभा यथा भाति पृथिवीयमवस्थितैः । एषा तथा स्फुरद्रत्नपटलैरुपरिस्थितैः ॥७१॥
इन्द्रनीलादिभिर्नीलैः कृष्णैर्जात्यञ्जनादिभिः । पद्मरागादिकैः रक्तैः पीतैर्हैमादिभिः परैः ॥७२॥
श्वेतैर्मुक्तादिभिर्भूमिर्मयूखाक्रान्तदिङ्मुखैः । पञ्चवर्णैश्चिता रत्नैः स्वर्गभूरिव शोभते ॥७३॥
चन्द्रकान्तशिलाऽस्योर्वी विद्रुमाधरपल्लवा । ललनेव तदाऽऽभाति रत्नकाञ्चनकञ्चुका ॥७४॥
चन्द्रकान्तांशवः शीताः सूर्यकान्तांशवोऽन्यथा । विश्लिष्यन्त्यत्र नाश्लिष्टाः शीतोष्णव्यथिता इव ॥७५॥

मिलकर कल्प काल कहलाते हैं। इन दोनों कालोंके समय भरत-ऐरावत क्षेत्रमें पदार्थोंकी स्थिति हानि और वृद्धिको लिये हुए होती है। इन दो क्षेत्रोंके सिवाय अन्य क्षेत्रोंमें पदार्थोंकी स्थिति हानिवृद्धिसे रहित—अवस्थित है ॥६३॥ प्रारम्भके तीन कालोंमें भरत क्षेत्रकी यह भूमि भोग-भूमि कहलाती है जो कि यथार्थमें नाना प्रकारके भोगोंकी भूमि—स्थान भी है ॥६४॥ उन तीनों कालोंके प्रारम्भमें मनुष्य क्रमसे छह हजार, चार हजार और दो हजार धनुष ऊँचे रहते थे तथा स्त्री-पुरुषोंकी उत्पत्ति युगल रूपमें—साथ ही साथ होती थी ॥६५॥ उस समय उनकी आयु देवकुरु, उत्तरकुरु, हरिवर्ष तथा हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंके समान क्रमसे तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्यके तुल्य होती थी ॥६६॥ उन तीन कालोंमें स्त्री-पुरुष क्रमसे उदित होते हुए सूर्यके समान, पूर्णचन्द्रके समान और प्रियंगु पुष्पके समान आभावाले होते थे ॥६७॥ उनकी पीठकी हड्डियोंकी संख्या पहले कालमें दो सौ छप्पन, दूसरे कालमें एक सौ अट्ठाईस और तीसरे कालमें चौसठ थी ॥६८॥ उनका पहले कालमें चार दिनके अन्तरसे बेरके बराबर, दूसरे कालमें दो दिनके अन्तरसे बहेड़ाके बराबर और तीसरे कालमें दो दिनके अन्तरसे आँवलेके बराबर दिव्य—कल्पवृक्षोत्पन्न आहार होता था ॥६९॥ उन तीन कालोंके नियोगसे नियन्त्रित यह भारतवर्षकी भूमि उस समय क्रमशः तीन प्रकारकी स्थायी भोगभूमियोंकी रीतिको ग्रहण करती थी अर्थात् उस समय यहाँकी व्यवस्था शाश्वती उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियोंके समान थी ॥७०॥ जिस प्रकार रत्नप्रभा पृथिवी, स्थायी लगे हुए रत्नोंके पटलोंसे सुशोभित है उसी प्रकार भरत क्षेत्रकी यह भूमि भी उस समय ऊपर स्थित देदीप्यमान रत्नोंके पटलोंसे सुशोभित होती है ॥७१॥ अपनी किरणोंसे दिशाओंको व्याप्त करनेवाले इन्द्रनील आदि नीलमणि, जात्यंजन आदि कृष्णमणि, पद्मराग आदि लालमणि, हैम आदि पीले मणि और मुक्ता आदि सफेद मणि इस प्रकार पाँच वर्णके मणियोंसे व्याप्त हुई यह भूमि उस समय स्वर्गभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥७२-७३॥ चन्द्रकान्तमणि जिसका मुख था, मूँगा जिसके ओठ थे तथा रत्न और स्वर्ण जिसकी चोली थे ऐसी यह भूमि उस समय किसी स्त्रीके समान सुशोभित होती थी ॥७४॥ चन्द्र-कान्त मणिकी किरणें शीतल होती हैं और सूर्यकान्त मणिकी उष्ण। परन्तु यहाँ दोनों ही एक दूसरेसे मिलकर अलग-अलग नहीं होती थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रकान्तकी किरणें ठण्डसे पीड़ित थीं इसलिए सूर्यकान्तकी उष्ण किरणोंको नहीं छोड़ना चाहती थीं और

१. पृष्ठास्थिचयानां संख्या एतेन पदेन वेदितव्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्परकराश्लेषरागमूर्च्छितमूर्त्तिभिः । मणिजातिविशेषैर्भूर्भाति प्रेमवशैरिव ॥७६॥
पञ्चवर्णसुखस्पर्शसुगन्धरसशब्दकैः । संच्छन्ना राजते क्षोणी तृणैश्च चतुरङ्गुलैः ॥७७॥
पूर्णैर्दधिमधुक्षीरघृतेक्षुरससज्जलैः । रत्ननिर्धोभिरुर्व्याऽभाद् दिव्यवापीसरोवरैः ॥७८॥
नानावर्णमणिच्छन्नैः सौवर्णैः प्राणिसौख्यदैः । रम्यैः क्षोणीधरैः क्षोणी भ्राजते नितरां सदा ॥७९॥
ज्योतिर्गृहप्रदीपाङ्गैस्तूर्यभोजनभाजनैः । वस्त्रमाल्याङ्गभूषाङ्गैर्मद्याङ्गैश्च द्रुमैरभात् ॥८०॥
ज्योतिरङ्गद्रुमा ज्योतिश्छन्नचन्द्रार्कमण्डलाः । अहोरात्रकृतं भेदं भिन्दन्तो भान्ति संततम् ॥८१॥
सोद्यानभूमयश्चित्राः प्रासादाः बहुभूमयः । गृहाङ्गद्रुमखण्डोत्था मण्डयन्ति नभोऽङ्गणम् ॥८२॥
विशालायतशाखाभिः पद्मकुड्मलपल्लवान् । धारयन्ति प्रदीपाभान् प्रदीपाङ्गमहीरुहाः ॥८३॥
चतुर्विधं शुभं वाद्यं ततं च विततं घनम् । सुषिरं च सृजन्त्यत्र तूर्याङ्गद्रुमजातयः ॥८४॥
षड्रसान्यतिमृष्टानि चतुर्भेदानि भोगिनाम् । भोजनाङ्गद्रुमा नानाभोजनानि सृजन्ति ते ॥८५॥
पात्राणि स्थालकं चोलसौवर्णादीन्यनेकशः । भाजनानि विचित्राणि भाजनाङ्गाः सृजन्त्यलम् ॥८६॥
पट्टचीनदुकूलानि वस्त्राणि विविधानि वै । बिभ्राणाः स्कन्धशाखासु भान्ति वस्त्राङ्गपादपाः ॥८७॥

सूर्यकान्तकी किरणें गर्मीसे पीड़ित हैं इसलिए चन्द्रकान्तकी शीतल किरणोंको नहीं छोड़ना चाहती थीं ॥७५॥ जिस प्रकार प्रेमके वशीभूत हुए मनुष्य परस्पर कराश्लेष अर्थात् हाथोंका आलिंगन करते हैं और राग अर्थात् प्रेमसे उनके शरीर मूर्च्छित रहते हैं, उसी प्रकार यहाँके नाना प्रकारके मणि भी परस्पर कराश्लेष अर्थात् किरणोंका आलिंगन करते हैं और राग अर्थात् रंगसे उनकी आकृति मूर्च्छित—वृद्धिगत होती रहती है। इस प्रकार जो प्रेमके वशीभूतके समान जान पड़ते थे ऐसे मणियोंसे यह भूमि अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥७६॥ जिनका वर्ण पाँच प्रकारका था, स्पर्श सुखकारी था तथा गन्ध, रस और शब्द जिनके उत्तम थे ऐसे चार अंगुल प्रमाण तृणोंसे ढकी हुई यहाँकी भूमि सुशोभित हो रही थी ॥७७॥ जो दही, मधु, दूध, घी और ईखके समान स्वादवाले उत्तम जलसे भरे हुए थे तथा जिनके तट रत्ननिर्मित थे ऐसी सुन्दर-सुन्दर बावड़ियों और सरोवरोंसे वह भूमि अत्यधिक सुशोभित थी ॥७८॥ रंग-बिरंगे मणियोंसे आच्छादित एवं प्राणियोंको सुख देनेवाले सुवर्णमय सुन्दर पर्वतोंसे यह भूमि सदा अत्यधिक सुशोभित रहती थी ॥७९॥ १ ज्योतिरंग, २ गृहांग, ३ प्रदीपांग, ४ तूर्यांग, ५ भोजनांग, ६ भाजनांग, ७ वस्त्रांग, ८ माल्यांग, ९ भूषणांग और १० मद्यांग जातिके कल्पवृक्षोंसे वह भूमि सदा सुशोभित रहती थी ॥८०॥ जिन्होंने अपनी कान्तिसे चन्द्रमा और सूर्यके मण्डलको आच्छादित कर रखा था ऐसे ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्ष दिन-रातका भेद दूर करते हुए सदा सुशोभित रहते थे ॥८१॥ जो बाग-बगीचोंसे सहित थे तथा जिनमें अनेक खण्ड थे ऐसे गृहांग जातिके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्ष आकाशरूपी आँगनको सुशोभित कर रहे थे ॥८२॥ प्रदीपांग जातिके कल्पवृक्ष अपनी लम्बी-चौड़ी शाखाओंसे दीपकके समान आभावाले कमलकी बोड़ियोंके आकार नये-नये पत्तोंको धारण कर रहे थे ॥८३॥ यहाँ जो तूर्यांग जातिके कल्पवृक्ष थे वे तत, वितत, घन और सुषिरके भेदसे चार प्रकारके शुभ बाजोंको सदा उत्पन्न करते रहते थे ॥८४॥ भोजनांग जातिके कल्पवृक्ष भोगी मनुष्योंके लिए छह प्रकारके रसोंसे परिपूर्ण, अत्यन्त स्वादिष्ट तथा अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार भेदवाले नाना प्रकारके भोजनको उत्पन्न करते रहते थे ॥८५॥ भाजनांग जातिके कल्पवृक्ष मणि एवं सुवर्णादिसे निर्मित थाली, कटोरा आदि अनेक प्रकारके बर्तन उत्पन्न करते थे ॥८६॥ वस्त्रांग जातिके कल्पवृक्ष अपनी पींड तथा शाखाओंपर पाट, चीनी तथा रेशम आदिके बने हुए नाना प्रकारके वस्त्र धारण करते हुए

१. रत्नभासुराः क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मालतीमल्लिकाद्युद्यत्कुसुमग्रथितानि तु । भान्ति माल्यानि बिभ्राणा माल्याङ्गधरणीरुहाः ॥८८॥
हारकुण्डलकेयूरकटिसूत्रादिभिश्चिताः । भूषणैर्भूषिताङ्गाश्च भान्ति स्त्रीपुरुषोचितैः ॥८९॥
मद्यभेदाः प्रसन्नाद्या मदशक्तेर्विधायकाः । संपाद्यन्ते नरस्त्रीणां हृद्या मद्याङ्गपादपैः ॥९०॥
दशधाकल्पवृक्षोत्थं भोगं युग्मानि भुञ्जते । दशाङ्गभोगचक्रेशभोगतोऽभ्यधिकं तदा ॥९१॥
तदा स्त्रीपुंसयुग्मानां गर्भान्निर्लुठितात्मनाम् । दिनानि सप्त गच्छन्ति निजाङ्गुष्ठावलेहनैः ॥९२॥
रंगतामपि सप्तैव सप्तास्थिरपराक्रमैः । स्थिरैश्च सप्त तैः सप्त कलासु च गुणेषु च ॥९३॥
कालेन तावता तेषां प्राप्तयौवनसंपदाम् । सम्यक्त्वग्रहणेऽपि स्याद् योग्यता सप्तभिर्दिनैः ॥९४॥
स्त्रीपुंसलक्षणैः पूर्णा विशुद्धेन्द्रियबुद्धयः । कलागुणविदग्धास्ता रमन्ते नीरुजाः प्रजाः ॥९५॥
नरा देवकुमाराभा नार्यो देवाङ्गनोपमाः । वर्णगन्धरसस्पर्शशब्दवेषमनोरमाः ॥९६॥
श्रोत्रं गीतरवे रूपे चक्षुर्घ्राणं सुसौरभे । जिह्वा मुखरसास्वादे सुस्पर्शे स्पर्शनं तनोः ॥९७॥
अन्योन्यस्य तदाशक्तं दम्पतीनां निरन्तरम् । स्तोकमपि न संतृप्तं मनोऽधिष्ठितमिन्द्रियम् ॥९८॥
मिथुनानि यथा नृणां रमन्ते प्रेमनिर्भरम् । तथा कल्पद्रुमाहारैरितरश्चां तृप्तचेतसाम् ॥९९॥
क्वचित्सैंहं क्वचिच्चैभं क्वचिदौष्ट्रं च शौकरम् । क्वचित् क्रीडन्ति वैयाघ्रं मिथुनं मदमन्थरम् ॥१००॥
गवाश्वमहिषादीनां मिथुनानि मिथस्तदा । मर्त्यायुःप्रमितायूंषि रंरम्यन्ते निजेच्छया ॥१०१॥
आर्यामाह नरो नारीमार्यं नारी नरं निजम् । भोगभूमिनरस्त्रीणां नाम साधारणं हि तत् ॥१०२॥
उत्तमा जातिरेकैव चातुर्वर्ण्यं न षट्क्रियाः । न स्वस्वामिकृतः पुंसां संबन्धो न च लिङ्गिनः ॥१०३॥

सुशोभित होते थे ॥८७॥ माल्यांग जातिके कल्पवृक्ष मालती, मल्लिका आदिके ताजे फूलोंसे गुँथी हुई मालाओंको धारण करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥८८॥ भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष स्त्री-पुरुषोंके योग्य हार, कुण्डल, बाजूबन्द तथा मेखला आदि आभूषणोंसे व्याप्त हो सुशोभित थे ॥८९॥ और मद्यांग जातिके कल्पवृक्षोंके द्वारा स्त्री-पुरुषोंके लिए प्रिय तथा उनकी मदशक्तिको उत्पन्न करनेवाले प्रसन्ना आदि नाना प्रकारके मद्य उत्पन्न किये जाते थे ॥९०॥ उस समय यहाँ स्त्री-पुरुषोंके युगल दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न चक्रवर्तीके दशांग भोगोंसे भी अधिक भोगोंका उपभोग करते थे ॥९१॥ उस समय गर्भसे उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुषों (युगलियों) के सात दिन तो अपना अँगूठा चूसते-चूसते व्यतीत हो जाते थे, तदनन्तर सात दिन रेंगते, सात दिन लड़खड़ाती हुई गतिसे, सात दिन स्थिर गतिसे, सात दिन कला तथा अनेक गुणोंके अभ्याससे और सात दिन यौवनरूप सम्पदाके प्राप्त करनेमें व्यतीत होते थे। उसके सातवें सप्ताहमें उन्हें सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेकी योग्यता आती थी ॥९२-९४॥ स्त्री-पुरुषोंके उत्तमोत्तम लक्षणोंसे युक्त, विशुद्ध इन्द्रिय और बुद्धिके धारक, कला और गुणोंमें चतुर एवं रोगोंसे रहित उस समयके लोग आनन्दसे क्रीड़ा करते थे ॥९५॥ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और वेषके द्वारा मनको आनन्दित करनेवाले वहाँके लोग देवकुमारोंके समान तथा वहाँकी स्त्रियाँ देवांगनाओंके समान जान पड़ती थीं ॥९६॥ उस समय स्त्री-पुरुषोंके कान परस्परके संगीत शब्दोंमें, चक्षु रूपके देखनेमें, घ्राण सुगन्धिके ग्रहण करनेमें, जिह्वा मुखके रसास्वादमें और स्पर्शन शरीरके उत्तम स्पर्शके ग्रहण करनेमें निरन्तर आसक्त रहते थे। उनके मन तथा इन्द्रियाँ रंचमात्र भी सन्तुष्ट नहीं होती थीं ॥९७-९८॥ जिस प्रकार मनुष्योंके जोड़े कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारोंसे सन्तुष्ट हो प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार सन्तुष्ट चित्तके धारक तिर्यंचोंके जोड़े भी प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते थे ॥९९॥ उस समय कहीं सिंहोंके युगल, कहीं हाथियोंके युगल, कहीं ऊँटोंके युगल, कहीं शूकरोंके युगल, और कहीं मदसे धीमी चाल चलनेवाले व्याघ्रोंके युगल क्रीड़ा करते थे ॥१००॥ कहीं मनुष्योंके बराबर आयुको धारण करनेवाले गाय, घोड़े और भैंसोंके जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते थे॥१०१॥ वह पुरुष स्त्रीको आर्या और स्त्री पुरुषको आर्य कहती थी। यथार्थमें भोगभूमिज स्त्री-पुरुषोंका वह साधारण नाम है॥१०२॥ उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यस्था एव सर्वत्र न मित्राणि न शत्रवः । प्रकृत्याल्पकषायित्वाद्यान्ति चायुःक्षये दिवम् ॥१०४॥
सुखमृत्युः क्षुतेः पुंसो जृम्भारम्भेण च स्त्रियाः । जन्मबद्धस्य प्रेमस्य युगलस्य सहैव सः ॥१०५॥
अथ ज्ञात्वा गणाधीशः श्रेणिकस्य मनोगतम् । भोगभूमिसमुत्पत्तिनिमित्तमभणीदिति ॥१०६॥
कर्मभूमिगता मर्त्याः प्रकृत्याल्पकषायिणः । अत्र ते पात्रदानात् स्युर्भोगभूमिषु मानुषाः ॥१०७॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपःशुद्धिपवित्रिताः । मध्यस्थाः शत्रुमित्रेषु सन्तो हि पात्रमुत्तमम् ॥१०८॥
मध्यमं तु भवेत्पात्रं संयतासंयता जनाः । जघन्यमुदितं पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥१०९॥
त्रिविधेऽपि बुधः पात्रे दानं दत्त्वा यथोचितम् । भोगभूमिसुखं दिव्यं भुङ्क्ते भूत्वा तु मानुषः ॥११०॥
सुक्षेत्रे विधिवत्क्षिप्तं बीजमल्पमपि व्रजेत् । वृद्धिं यथा तथा पात्रे दानमाहारपूर्वकम् ॥१११॥
शालीक्षुक्षेत्रनिक्षिप्तं यथा मिष्टं पयो भवेत् । धेनुभिश्च यथा पीतं क्षीरत्वं प्रतिपद्यते ॥११२॥
तथैवाल्परसास्वादमन्नपानौषधादिकम् । पात्रदत्तं परत्र स्यादमृतास्वादमक्षयम् ॥११३॥
निवृत्ताः स्थूलहिंसादेर्मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तयः । कुपात्रमिति विज्ञेयमपात्रमनिवृत्तयः ॥११४॥
कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु । संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा ॥११५॥
असत्क्षेत्रे यथा क्षिप्तं बीजमल्पफलं फलेत् । कुपात्रेऽपि तथा दत्तं दानं दात्रे कुभोगभाक् ॥११६॥
ऊषरक्षेत्रनिक्षिप्तशालिर्नश्यति मूलतः । यथात्र विफलं दानं कुपात्रपतितं तथा ॥११७॥

समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है, वहाँ न ब्राह्मणादि चार वर्ण होते हैं व असि, मषी आदि छह कर्म होते हैं, न सेवक और स्वामीका सम्बन्ध होता है और न वेषधारी ही होते हैं ॥१०३॥ वहाँके मनुष्य सब विषयोंमें मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं और न शत्रु। एवं स्वभावसे ही अल्पकषायी होनेके कारण आयु समाप्त होनेपर सब नियमसे देव पर्यायको ही प्राप्त होते हैं ॥१०४॥ जन्मसे ही जिसका प्रेमभाव परस्परमें निबद्ध रहता था ऐसे पुरुषकी मृत्यु छींक आनेसे तथा स्त्रीकी मृत्यु जिमहाई लेने मात्रसे सुखपूर्वक हो जाती थी ॥१०५॥

अथानन्तर गणधर देव श्रेणिकका मनोभिप्राय जानकर भोगभूमिमें उत्पन्न होनेके कारण इस प्रकार कहने लगे ॥१०६॥ कर्म-भूमिके जो मनुष्य स्वभावसे ही मन्दकषाय होते हैं वे पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिमें मनुष्य होते हैं ॥१०७॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपकी शुद्धिसे पवित्र हैं तथा शत्रु और मित्रोंपर मध्यस्थ भाव रखते हैं ऐसे साधु उत्तम पात्र कहलाते हैं ॥१०८॥ संयमासंयमको धारण करनेवाले श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहे जाते हैं ॥१०९॥ उक्त तीनों प्रकारके पात्रोंमें यथायोग्य दान देकर बुद्धिमान् मनुष्य भोगभूमिमें आर्य होकर वहाँका दिव्य सुख भोगता है ॥११०॥ जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमें विधि-पूर्वक बोया हुआ छोटा भी बीज वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार पात्रके लिए दिया हुआ आहार आदि दान भी वृद्धिको प्राप्त होता है ॥१११॥ जिस प्रकार धान और ईखके खेतमें पड़ा हुआ जल मीठा हो जाता है और गायोंके द्वारा पीया हुआ पानी दूध पर्यायको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार पात्रके लिए दिया हुआ अल्प रसवाला अन्न, पान तथा औषध्यादिकका दान परभवमें अविनाशी तथा अमृतके समान स्वादसे युक्त हो जाता है ॥११२-११३॥ जो स्थूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके धारक हैं वे कुपात्र कहलाते हैं और जो स्थूल हिंसा आदिसे भी निवृत्त नहीं हैं उन्हें अपात्र जानना चाहिए ॥११४॥ कुपात्र दानके प्रभावसे मनुष्य, भोगभूमियोंमें तिर्यंच होते हैं अथवा कुमानुष कुलोंमें उत्पन्न होकर अन्तर द्वीपोंका उपभोग करते हैं ॥११५॥ जिस प्रकार खराब खेतमें बोया हुआ बीज अल्प फलवाला होता है उसी प्रकार कुपात्रके लिए दिया हुआ दान भी दाताको कुभोग प्राप्त करानेवाला होता है ॥११६॥ जिस प्रकार ऊषर क्षेत्रमें बोया हुआ धान समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कुपात्रके लिए दिया हुआ दान भी निष्फल हो जाता है ॥११७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृद् यथा । विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा ॥११८॥
सुपात्रे सुफलं दानं कुपात्रे कुफलं भवेत् । अपात्रे दुःखदं तस्मात्पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥११९॥
याल्युपाधिवशाद् भेदं निर्मलः स्फटिकोपलः । यथा तथा च दानार्घं प्रतिग्राहकभेदतः ॥१२०॥
सम्यग्दृष्टिः पुनः पात्रे स्वपरानुग्रहेच्छया । दानं दत्त्वा विशुद्धात्मा स्वर्गमेव गृही व्रजेत् ॥१२१॥
अथ कालद्वयेऽतीते क्रमेण सुखकारणे । पल्याष्टमागशेषे च तृतीये समवस्थिते ॥१२२॥
क्रमेण क्षीयमाणेषु कल्पवृक्षेषु भूरिषु । क्षेत्रे कुलकरोत्पत्तिं शृणु श्रेणिक ! सांप्रतम् ॥१२३॥
गङ्गासिन्धुमहानद्योर्मध्ये दक्षिणभारते । चतुर्दश यथोत्पन्नाः क्रमेण कुलकारिणः ॥१२४॥
प्रतिश्रुतिरभूदाद्यस्तेषां कुलकरप्रभुः । महाप्रभावसंपन्नः स्वभवस्मरणान्वितः ॥१२५॥
तस्य काले प्रजा दृष्ट्वा पौर्णमास्यां सहैव खे । आकाशगजघण्टाभे द्वे चन्द्रादित्यमण्डले ॥१२६॥
आकस्मिकभयोद्विग्नाः स्वमहोत्पातशङ्किताः । प्रजाः संभूय पप्रच्छुस्तं प्रभुं शरणागताः ॥१२७॥
नरप्रधान ! कावेतावपूर्वौ गगनान्तयोः । [2]दृश्येते मण्डलाकारावकाण्डे नो भयंकरौ ॥१२८॥
अहो दुःसहमस्माकमकस्माद् भयमुद्गतम् । किं महाप्रलयः प्राप्तः प्रजानामेव दुस्तरः ॥१२९॥
इति पृष्टः प्रभुः प्राह शुचं मुञ्चत हे प्रजाः । न किंचिद् भयमस्माकं स्वस्था भवत कथ्यते ॥१३०॥
प्रभामण्डलसंवीतमेतदादित्यमण्डलम् । प्रतीच्यां वीक्षते भद्रा ! प्राच्यां मोश्चन्द्रमण्डलम् ॥१३१॥

जिस प्रकार नीमके वृक्षमें पड़ा हुआ पानी कड़ुआ हो जाता है, कोदोंमें दिया हुआ पानी मदकारक हो जाता है और सर्पके मुखमें पड़ा हुआ दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्रके लिए दिया हुआ दान विपरीत फलको करनेवाला हो जाता है ॥११८॥ चूँकि सुपात्रके लिए दिया हुआ दान सुफलको देनेवाला है, कुपात्रके लिए दिया हुआ दान कुफलको देनेवाला है और अपात्रके लिए दिया हुआ दान दुःख देनेवाला है अतः पात्रके लिए ही दान देना चाहिए ॥११९॥ जिस प्रकार निर्मल स्फटिकमणि उपाधिके वशसे भेदको प्राप्त होता है उसी प्रकार पात्रके भेदसे दानका फल भी भेदको प्राप्त हो जाता है ॥१२०॥ निर्मल अभिप्रायको धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ यदि पात्रके लिए दान देता है तो वह नियमसे स्वर्ग ही जाता है ॥१२१॥

अथानन्तर सुखके कारणभूत जब प्रारम्भके दो काल बीत गये और पल्यके आठवें भाग बराबर तीसरा काल बाकी रह गया तथा कल्पवृक्ष जो पहले अधिक मात्रामें थे क्रम-क्रमसे कम होने लगे तब इस क्षेत्रमें कुलकरोंकी उत्पत्ति हुई। हे श्रेणिक ! मैं इस समय उन्हीं कुलकरोंकी उत्पत्ति कहता हूँ तू श्रवण कर ॥१२२-१२३॥ गंगा और सिन्धु महानदियोंके बीच दक्षिण भरत क्षेत्रमें क्रमसे चौदह कुलकर उत्पन्न हुए थे ॥१२४॥ उन कुलकरोंमें पहला कुलकर प्रतिश्रुति था। वह महाप्रभावसे सम्पन्न था तथा अपने पूर्वभवके स्मरणसे सहित था ॥१२५॥ उसके समय प्रजाके लोग पौर्णमासीके दिन आकाशमें एक साथ, आकाशरूपी हाथीके दो घंटाओंके समान आभावाले चन्द्र और सूर्य-मण्डलको देखकर अपने ऊपर आनेवाले किसी महान् उत्पातसे शंकित हो आकस्मिक भयसे उद्विग्न हो उठे तथा सब एकत्रित हो प्रतिश्रुति कुलकरकी शरणमें जाकर उससे पूछने लगे ॥१२६-१२७॥ कि हे नररत्न ! आकाशके दोनों छोरोंपर, मण्डलाकार तथा असमयमें हम लोगोंको भय उत्पन्न करनेवाले ये दो कौन अपूर्व पदार्थ दीख रहे हैं ? ॥१२८॥ अहो ? हम लोगोंके लिए यह अकस्मात् ही दुःसह भय प्राप्त हुआ है। क्या यह प्रजाके लिए दुस्तर महाप्रलय ही आ पहुँचा है ?॥१२९॥ इस प्रकार पूछे जानेपर स्वामी प्रतिश्रुतिने कहा कि हे प्रजाजनो ! भय छोड़ो, हमारे लिए कुछ भी भय प्राप्त नहीं हुआ है। आप लोग स्वस्थ रहिए। ये जो दिखाई दे रहे हैं मैं उनका कथन करता हूँ ॥१३०॥ हे भद्रपुरुषो ! यह पश्चिममें प्रभाके समूहसे व्याप्त सूर्य-मण्डल

---

१. अम्बु निम्बुद्रुमे क., ख. । २. दृश्यते म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिश्चक्राधिपावेतौ सूर्याचन्द्रमसौ स्थितौ[1] । मेरुप्रदक्षिणौ[2] नित्यं भ्रमन्तौ भ्रमणात्मकौ ॥१३२॥
चतुर्विधेषु देवेषु ज्योतिर्देवकदम्बकम् । खे करोत्यनयोर्नित्यमनुभ्रमणमीशयोः ॥१३३॥
ज्योतिरङ्गमहावृक्षप्रभाच्छादितविग्रहौ । प्रागन्यत्रविदेहेभ्यो न गतौ दृष्टिगोचरम् ॥१३४॥
तेजोहीनेऽधुना लोके ज्योतिरङ्गप्रभाक्षये । जिगीषयेव चन्द्रार्कौ स्थितौ प्रकटविग्रहौ ॥१३५॥
अहोरात्रादिको भेदो भवत्यर्कवशादिह । अधुनेन्दुवशाद् व्यक्तिः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ॥१३६॥
शीतदीधितिरस्तामो घर्मदीधितिना दिवा । न स्पष्टः स्पष्टतामेति ज्योतिश्चक्रसखो निशि ॥१३७॥
पूर्वजन्मनि युष्माभिर्दृष्टपूर्वाविमौ स्फुटम् । विदेहेषु यतस्तस्मान्नाद्य वोऽपूर्वदर्शनौ ॥१३८॥
दृष्टश्रुतानुभूतस्य वस्तुनः सति दर्शने । माभूदुत्पातशङ्का वो निर्भया भवत प्रजाः ॥१३९॥
कालस्वभावभेदेन स्वभावो भिद्यते[3] ततः । द्रव्यक्षेत्रप्रजावृत्तवैपरीत्यं प्रजायते ॥१४०॥
अव्यवस्थानिवृत्त्यर्थमतः परमतः प्रजाः । हा मा धिक्कारतो भूताः तिस्रो वै दण्डनीतयः ॥१४१॥
मर्यादोल्लङ्घनेच्छस्य कथंचित्कालदोषतः । दोषानुरूपमायोज्याः स्वजनस्य परस्य वा ॥१४२॥
नियन्त्रितो जनः सर्वस्तिसृभिर्दण्डनीतिभिः । दृष्टदोषभयत्रस्तो दोषेभ्यो विनिवर्त्तते ॥१४३॥
रक्षणार्थमनर्थेभ्यः प्रजानामर्थसिद्धये[4] । प्रमाणमिह कर्त्तव्याः प्रणीता दण्डनीतयः ॥१४४॥
प्रासादेषु यथास्थानं मिथुनान्यकुतोभयम् । अनुस्मृत्यावतिष्ठन्त्वस्मदीयमनुशासनम् ॥१४५॥
[5]इत्युक्ता प्रतिपद्याऽऽशु वचस्तस्य प्रजापतेः । श्रुत्वा तस्थुर्यथास्थानं प्रजातप्रमदाः प्रजाः ॥१४६॥

और यह पूर्व दिशामें चन्द्र-मण्डल दिखाई दे रहा है ॥१३१॥ ये सूर्य और चन्द्रमा समस्त ज्योतिश्चक्रके स्वामी हैं, भ्रमणशील हैं और निरन्तर मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए घूमते रहते हैं ॥१३२॥ चार प्रकारके देवोंमें जो ज्योतिषी देवोंका समूह है वह आकाशमें निरन्तर अपने इन दोनों स्वामियोंके पीछे-पीछे भ्रमण करता है ॥१३३॥ पहले इनका आकार ज्योतिरंग जातिके महावृक्षोंकी प्रभासे आच्छादित था इसलिए ये विदेह क्षेत्रको छोड़ अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं थे ॥१३४॥ इस समय लोक, ज्योतिरंग वृक्षोंकी प्रभा क्षीण हो जानेसे तेजरहित हो गया है इसलिए उसे जीतनेकी इच्छासे ही मानो चन्द्रमा और सूर्य अपने शरीरको प्रकट कर स्थित हैं ॥१३५॥ अब पृथिवीपर सूर्यके भेदसे दिन-रातका भेद होगा और चन्द्रमाके द्वारा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष प्रकट होंगे ॥१३६॥ दिनके समय चन्द्रमा सूर्यके द्वारा अस्त-जैसा हो जाता है, स्पष्ट नहीं दिखाई देता और रात्रिके समय स्पष्टताको प्राप्त हो जाता है। यह चन्द्रमा समस्त ज्योतिश्चक्रका सखा है ॥१३७॥ तुम लोगोंने पूर्व जन्मके समय विदेह क्षेत्रमें इन्हें अच्छी तरह देखा है इसलिए आज इनका दिखना तुम्हारे लिए अपूर्व नहीं है ॥१३८॥ पहले देखी-सुनी और अनुभवमें आयी वस्तुका दर्शन होनेपर आप लोगोंको उत्पातकी आशंका नहीं होनी चाहिए। हे प्रजाजनो ! तुम सब निर्भय होओ—उत्पातका भय छोड़ो ॥१३९॥ कालके स्वभावमें भेद होनेसे पदार्थोंका स्वभाव भिन्न रूप हो जाता है और उसीसे द्रव्य-क्षेत्र तथा प्रजाके व्यवहारमें विपरीतता आ जाती है ॥१४०॥ इसलिए हे प्रजाजनो ! अब इसके आगे अव्यवस्था दूर करनेके लिए हा, मा और धिक् ये तीन दण्डकी धाराएँ स्थापित की जाती हैं ॥१४१॥ यदि कोई स्वजन या परजन कालदोषसे मर्यादाके लाँघनेकी इच्छा करता है तो उसके साथ दोषोंके अनुरूप उक्त तीन धाराओंका प्रयोग करना चाहिए ॥१४२॥ तीन धाराओंसे नियन्त्रणको प्राप्त हुए समस्त मनुष्य इस भयसे त्रस्त रहते हैं कि हमारा कोई दोष दृष्टिमें न आ जाये। और इसी भयसे वे दोषोंसे दूर हटते रहते हैं ॥१४३॥ अनर्थोंसे बचनेके लिए तथा प्रजाकी भलाईके लिए आप लोगोंको ये निश्चित की हुई दण्डकी धाराएँ स्वीकृत करनी चाहिए ॥१४४॥ हमारी आज्ञाका स्मरण कर अब सब युगल निर्भय हो यथास्थान महलोंमें निवास करें ॥१४५॥ इस प्रकार कहने-

१. स्थितं म. । २. प्रदक्षिणां म. । ३. विद्यते म. । ४. हितसिद्धये । ५. इत्युक्त्वा म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिश्रुतं वचस्तामिर्यतस्तस्य गुरोर्यथा । प्रथमं प्रथितस्तस्मात्स पृथिव्यां प्रतिश्रुतिः ॥१४७॥
पल्यस्य दशमं भागं जीवित्वाऽसौ प्रतिश्रुतिः । पुत्रं सन्मतिमुत्पाद्य जीवितान्ते दिवं [1]सृतः ॥१४८॥
स रक्षन् पितृमर्यादां प्रजानां संमतो यतः । ततः सन्मतिनामायं कुलकारी कलालयः ॥१४९॥
पल्यस्य शतमं (?) भागं स प्रतिजीव्य निजस्थितिम् । पुत्रं क्षेमंकराभिख्यमुत्पाद्य त्रिदिवं गतः ॥१५०॥
प्रजानां च तदा जाताः सिंहव्याघ्रविभीषिकाः[2] । सोऽपि क्षेमं ततः कृत्वा प्राप्तः क्षेमंकरश्रुतिम् ॥१५१॥
सहस्रभागमाजीव्य पल्यस्यासौ प्रजाप्रभुः[3] । पुत्रं क्षेमंधराभिख्यं जनयित्वा गतो दिवम् ॥१५२॥
क्षेमंधरः स मत्वार्यस्थितिं कुलकरो गुरोः । सहस्रभागमाजीव्य पल्यस्य दशसंगुणम् ॥१५३॥
सूनुं सीमंकरं नाम्ना समुत्पाद्य ययौ दिवम् । वृक्षलुब्धप्रजानां च स सीमामकरोत् प्रभुः ॥१५४॥
लक्षभागं स पल्यस्य जीवित्वा स्वर्गगोऽभवत् । सीमंधरो यथार्थाख्यस्तत्सुतो दशताडितम् ॥१५५॥
तत्पुत्रो वाहनीकृत्य चिक्रीड विपुलद्विपान् । यत्तत्ख्यातः स भूम्नाऽभूद् नाम्ना विपुलवाहनः ॥१५६॥
कोटीभागं स पल्यस्य जीवित्वा स्वर्गमाश्रितः । चक्षुष्मानिति तत्सूनुरजनिष्ट जनप्रभुः ॥१५७॥
पुत्रचक्षुर्मुखालोकाच्चक्षुर्मत्वा भियाऽनया । आयुष्मत्प्रजया गीतश्चक्षुष्मानित्यसौ प्रभुः ॥१५८॥
कोटीभागं स पल्यस्य दशताडितमोडितः । भुक्त्वा भोगमुदात्तोऽपि[4] स्वरितोऽभूत्स्थितिक्षये[5] ॥१५९॥

पर सब लोगोंने प्रतिश्रुति कुलकरके वचन शीघ्र ही स्वीकृत किये और सब बड़ी प्रसन्नतासे यथा-स्थान महलोंमें रहने लगे ॥१४६॥ जिस प्रकार गुरुके वचन स्वीकृत किये जाते हैं उसी प्रकार प्रजाने चूँकि उसके वचन स्वीकृत किये थे इसलिए वह पृथिवीपर सर्वप्रथम प्रतिश्रुति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥१४७॥ यह प्रतिश्रुति कुलकर, पल्यके दशवें भाग तक जीवित रहकर तथा सन्मति नामके पुत्रको उत्पन्न कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गया ॥१४८॥ सन्मति कुलकर पिताकी मर्यादाकी रक्षा करता था, प्रजाको अतिशय मान्य था और अनेक कलाओंका घर था इसलिए सन्मति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥१४९॥ वह सन्मति पल्यके सौवें भाग जीवित रहकर तथा क्षेमंकर नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१५०॥ उसके समयमें प्रजाको सिंह तथा व्याघ्रोंसे भय उत्पन्न होने लगा था उससे उनका कल्याण कर वह क्षेमंकर इस नामको प्राप्त हुआ था ॥१५१॥ यह प्रजाका स्वामी पल्यके हजारवें भाग जीवित रहकर तथा क्षेमन्धर नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१५२॥ वह क्षेमन्धर पिताकी आर्य मर्यादाकी रक्षा करनेवाला था और पल्यके दश हजारवें भाग जीवित रहकर तथा सीमङ्कर नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया। इसके समयमें कल्पवृक्षोंकी संख्या कम हो गयी थी इसलिए उनकी लोभी प्रजामें परस्पर कलह होने लगी थी। इसने उनकी सीमा निर्धारित की थी इसलिए यह सीमंकर इस सार्थक नामको धारण करता था। यह पल्यके लाखवें भाग जीवित रहकर स्वर्गगामी हुआ और इसके सीमन्धर इस सार्थक नामको धारण करनेवाला पुत्र हुआ। वह पल्यके दश लाखवें भाग जीवित रहकर स्वर्ग गया। इसके विपुलवाहन नामका पुत्र हुआ, यह बड़े-बड़े हाथियोंको वाहन बनाकर उनपर अत्यधिक क्रीड़ा करता था इसलिए विपुलवाहन इस नामका धारी हुआ था ॥१५३-१५६॥ वह पल्यके करोड़वें भाग जीवित रहकर स्वर्ग गया और उसके चक्षुष्मान् नामका पुत्र हुआ ॥१५७॥ पहले माता-पिता पुत्रका मुख तथा चक्षु देखे बिना ही मर जाते थे पर इसके समय पुत्रका मुख और चक्षु देखकर मरने लगे इससे प्रजाको कुछ भय उत्पन्न हुआ परन्तु इसने उन सबके भयको दूर किया इसलिए कुछ अधिक काल तक जीवित रहनेवाली प्रजाने इसे 'चक्षुष्मान्' इस नामसे सम्बोधित किया ॥१५८॥ स्तुतिको प्राप्त हुआ वह चक्षुष्मान् पल्यके दश करोड़वें भाग तक भोग

---

१. स्मृतः म.। २. व्याघ्रादिभीषिकाः म.। ३. प्रजां प्रभुः म.। ४. उदात्तो महान् अन्यत्र उदात्तः स्वर उच्यते। ५. स्वर् इतः = स्वर्गं गतः, अन्यत्र स्वरितस्वर उच्यते शब्दच्छलेन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदपत्यं यशस्वीति स्वकालेऽपत्यमाख्यया । प्रजयायोजयत्प्रायो योजितो [1]यशसोरुणा ॥१६०॥
कोटीभागं स पल्यस्य शतसंगुणितं प्रभुः । जीवित्वोत्पाद्य सत्पुत्रमभिचन्द्रं दिवं गतः ॥१६१॥
तत्कालेऽपत्यमुत्क्षिप्य प्रजा रमयति स्म यत् । अभिचन्द्रमतः प्रापत्सोऽभिचन्द्र इति श्रुतिम् ॥१६२॥
कोटीभागं स पल्यस्य सहस्रगुणितं गुणी । संजीव्योत्पाद्य चन्द्राभं तनयं प्रययौ दिवम् ॥१६३॥
कोटीभागं सहस्रं तु तस्यायुर्दशसंगुणम् । पल्यस्य मरुदेवं स मासं पुत्रमलालयत् ॥१६४॥
मरुदेवस्य काले च मातः पितरिति ध्वनिम् । शुश्राव शिशुयुग्मस्य प्रथमं मिथुनं कलम् ॥१६५॥
एकमेवासृजत्पुत्रं प्रसेनजितमत्र सः । युग्मसृष्टेरिहैवोर्ध्वमितो व्यपनिनीषया ॥१६६॥
प्रसेनजितमायोज्य प्रस्वेदलवभूषितम्[2] । विवाहविधिना वीरः प्रधानकुलकन्यया ॥१६७॥
कोटीभागसहस्रं स पल्यस्य शतसंगुणम् । संजीव्य मरुदेवोऽपि महतां लोकमुद्ययौ ॥१६८॥
पूर्वकोट्यायुषं नाभिं प्रसेनजिदजीजनत् । नाभिच्छेदव्यवस्थायाः कर्त्तारं स्वर्गगामिनम् ॥१६९॥
दशानां कोटिलक्षाणां पल्यांशानामथांशकम् । जीवित्वा कालधर्मेण प्रसेनजिदितो दिवम् ॥१७०॥
शतान्यष्टादशोत्सेधो धनूंष्यासन् प्रतिश्रुतेः । त्रयोदश तु पुत्रस्य पौत्रस्याष्टशतान्यतः ॥१७१॥
परतः क्रमहानिस्तु धनुषां पञ्चविंशतेः । स पञ्चविंशतिः शेषा नाभेः पञ्चधनुःशतो ॥१७२॥
आद्यसंस्थानसंघातगम्भीरोदारमूर्त्तयः । स्वपूर्वभवविज्ञाना मनवस्ते चतुर्दश ॥१७३॥

भोगकर आयु समाप्त होनेपर स्वर्ग गया। वह यद्यपि उदात्त=उदात्त नामका स्वर था तो भी स्वरित=स्वरित नामका स्वर हुआ था यह विरोध है। परिहार पक्षमें वह उदात्त-महान् था और स्वरितः=स्वर् इतः—स्वर्ग गया था ॥१५९॥ चक्षुष्मान्का पुत्र यशस्वी हुआ। इसने अपने समयमें प्रजाको पुत्रका नाम रखना सिखाया इसलिए प्रजाने इसे विस्तृत यशसे युक्त किया अर्थात् इसका यशस्वी यह नाम रखा ॥१६०॥ वह पल्यके सौ करोड़वें भाग जीवित रहकर तथा अभिचन्द्र नामक उत्तम पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१६१॥ उसके समयमें प्रजा अपनी सन्तानको ऊपर उठा चन्द्रमाके सामने क्रीड़ा कराती थी इसलिए वह अभिचन्द्र इस नामको प्राप्त हुआ ॥१६२॥ वह गुणवान् कुलकर पल्यके हजार करोड़वें भाग जीवित रहकर तथा चन्द्राभ नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१६३॥ चन्द्राभने पल्यके दश हजार करोड़वें भाग तक जीवित रहकर मरुदेवको उत्पन्न किया। वह अपने मरुदेव पुत्रको एक मास तक खिलाता रहा अनन्तर स्वर्गको प्राप्त हुआ ॥१६४॥॥ मरुदेवके समय स्त्री-पुरुष अपनी सन्तानके मुखसे 'हे माँ', 'हे पिता' इस प्रकारके मनोहर शब्द सुनने लगे थे ॥१६५॥ पहले यहाँ युगल सन्तान उत्पन्न होती थी परन्तु इसके आगे युगल सन्तानकी उत्पत्तिको दूर करनेकी इच्छासे ही मानो मरुदेवने प्रसेनजित् नामक अकेले पुत्रको उत्पन्न किया था ॥१६६॥ इसके पूर्व भोगभूमिज मनुष्योंके शरीरमें पसीना नहीं आता था परन्तु प्रसेनजित्का शरीर जब कभी पसीनाके कणोंसे सुशोभित हो उठता था। वीर मरुदेवने अपने पुत्र प्रसेनजित्को विवाह-विधिके द्वारा किसी प्रधान कुलकी कन्याके साथ मिलाया था ॥१६७॥ अन्तमें मरुदेव पल्यके लाख करोड़वें भाग तक जीवित रहकर स्वर्ग गया ॥१६८॥ तदनन्तर प्रसेनजित्ने एक करोड़ पूर्वकी आयुवाले, जन्मकालमें बालकोंकी नाल काटनेकी व्यवस्था करनेवाले थे, तथा स्वर्गगामी नाभिराज पुत्रको उत्पन्न किया ॥१६९॥ पल्यके दश लाख करोड़वें भाग तक जीवित रहकर आयु समाप्त होनेपर प्रसेनजित् स्वर्ग गया ॥१७०॥

प्रथम कुलकर प्रतिश्रुतिकी ऊँचाई अठारह सौ धनुष थी, इसके पुत्र दूसरे कुलकर सन्मतिकी तेरह सौ धनुष थी, प्रतिश्रुतिके पौत्र—तीसरे कुलकर क्षेमंकरकी आठ सौ धनुष थी और इसके आगे प्रत्येककी पचीस-पचीस धनुष कम होती गयी है। इस तरह अन्तिम कुलकर नाभिराजकी ऊँचाई पाँच सौ पचीस धनुष थी ॥१७१-१७२॥ ये चौदह कुलकर समचतुरस्र संस्थान

१. यशसा उरुणा = विशालेन । यशसाऽरुणा म. । २. प्रस्वेदमलभूषितम् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्षुष्मांश्च यशस्वी च तथैवासौ प्रसेनजित् । त्रयः कुलकराः प्रोक्ताः प्रियङ्गुश्यामरोचिषः ॥१७४॥
चन्द्राभश्चन्द्रगौरामस्तथैव प्रथितः प्रभुः । कथिता दश शेषास्ते संतप्तकनकप्रभाः ॥१७५॥
मर्यादारक्षणोपायहामाधिक्कारनीतयः । प्रजानां जनकाभास्ते प्रभवः प्रतिभाधिकाः ॥१७६॥
इत्थं कुलकरोत्पत्तिः सकला कथिता नृप । नाभेयस्याधुनोत्पत्तिं शृणु पापविनाशिनीम् ॥१७७॥

शिखरिणीवृत्तम्

जगत्षड्भिर्द्रव्यैरनुपचरितैर्व्याप्तमखिलं
तदप्यर्हज्ज्ञानादधिकमभियुक्तैरधिगतम् ॥
यतः कालाद्यर्थे घनमपि धुनात्यन्धतमसं
जिनादित्यालोकः स्थिरपरिणतः श्रीमदुदयः ॥१७८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कालकुलकरोत्पत्तिवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः समाप्तः ।



और वज्रवृषभ नाराचसंहननसे युक्त गम्भीर तथा उदार शरीरके धारक थे, इनको अपने पूर्व-भवका स्मरण था तथा इनकी मनुसंज्ञा थी ॥१७३॥ इन कुलकरोंमें चक्षुष्मान्, यशस्वी और प्रसेनजित् ये तीन कुलकर प्रियंगु पुष्पके समान श्याम कान्तिके धारक थे, चन्द्राभ चन्द्रमाके समान गौरवर्ण था, और बाकी दश तपाये हुए स्वर्णके समान प्रभासे युक्त थे ॥१७४-१७५॥ ये चौदहों राजा मर्यादाकी रक्षाके उपायभूत 'हा', 'मा' और 'धिक्' इन तीन प्रकारकी दण्डनीतियों-को अपनाते थे, प्रजाके पिताके तुल्य थे और अत्यधिक प्रतिभाशाली थे ॥१७६॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! इस तरह मैंने समस्त कुलकरोंकी उत्पत्ति कही । अब नाभिराजाके पुत्र भगवान् आदिनाथकी पापनाशिनी कथा सुन ॥१७७॥ यद्यपि यह समस्त संसार छह अकृत्रिम द्रव्योंसे व्याप्त है तो भी उद्यमशील आचार्योंने उसे अरहन्त भगवान्के दिव्य ज्ञानके प्रभावसे जान लिया है सो ठीक ही है क्योंकि नित्य और श्रीसम्पन्न उदयको धारण करनेवाला जिनेन्द्ररूपी सूर्यका प्रकाश, काल आदि द्रव्योंके विषयमें जो गाढ़ अन्धकार है उसे भी क्षण-भरमें नष्ट कर देता है ॥१७८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें कालद्रव्य तथा कुलकरोंकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



१. तदप्यर्हत्ज्ञाना- ख. । २. ऋषीश्वरैः ज्ञातम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टमः सर्गः

श्रीमतामनुरूपं यः परिणाममनुश्रितः । मननात् मनुजार्थस्य मनुसंज्ञामनुश्रितः ॥१॥
प्रक्षीणः कल्पवृक्षात्मा मध्येदक्षिणभारतम् । नाभेरपि स एवाभूत् प्रासादः पृथिवीमयः ॥२॥
शातकुम्भमयस्तम्भो विचित्रमणिभित्तिकः । पुष्पविद्रुममुक्तादिमालाभिरुपशोभितः ॥३॥
सर्वतोभद्रसंज्ञोऽसौ प्रासादः सर्वतो मतः । सैकाशीतिपदः शालवाप्युद्यानाद्यलंकृतः ॥४॥
स्वस्थानमेककोऽनल्पकल्पवृक्षैर्वृतः क्षितौ । अध्यतिष्ठदधिष्ठातुः स नाभेरनुभावतः ॥५॥
अथ नाभेरभूद्देवी[1] मरुदेवीति वल्लभा । देवी शचीव शक्रस्य शुद्धसंतानसंभवा ॥६॥
अभ्युन्नतौ पदाङ्गुष्ठौ प्रोल्लसन्नखमण्डलौ । यस्या रेजतुरुच्चैव ललाटस्य दिदृक्षया ॥७॥
उन्नताग्रसमस्निग्धतनुताम्रनखांशुभिः । कुट्मिले कुरुतां यस्याः क्रमौ कुरवकश्रियम् ॥८॥
श्लिष्टाङ्गुलिदलौ गूढगुल्फौ कान्तिजलप्लवम्[2] । समौ कूर्मोन्नतौ यस्याः पादपद्मौ प्रचक्रतुः ॥९॥
यस्याश्च चरणौ चारुमत्स्यशङ्खादिलक्षणौ । क्रीडास्वेव प्रियस्पर्शात्स्वेदसंबन्धसंगिनौ ॥१०॥
आनुपूर्व्यसुवृत्ते च जङ्घे रोमशिरोज्झिते । लावण्यरसवर्णाढ्ये शरधी पुष्पधन्वनः ॥११॥
जानुनी मृदुनी यस्या गूढसंधानवर्त्तिनी । ददतुः प्रियगात्राणां मृदुस्पर्शकृतं सुखम् ॥१२॥
असाराः कदलीस्तम्भाः कर्कशाः करिणां कराः । परिणाहगुणत्वेऽपि यदूर्वोः सदृशा न ते ॥१३॥

अथानन्तर ऊपर जिन नाभिराजका कथन किया गया है वे श्रीमान् पुरुषोंके अनुरूप परिणामको प्राप्त थे तथा समस्त पुरुषार्थोंका मनन करनेसे मनु कहलाते थे ॥१॥ उस समय दक्षिण भरत क्षेत्रमें कल्पवृक्षरूप प्रासाद अन्यत्र नष्ट हो गये थे परन्तु राजा नाभिराजका जो कल्पवृक्षरूप प्रासाद था वही पृथिवी निर्मित प्रासाद बन गया था ॥२॥ राजा नाभिराजके उस प्रासादका नाम सर्वतोभद्र था, उसके खम्भे स्वर्णमय थे, दीवालें नाना प्रकारकी मणियोंसे निर्मित थीं, वह पुखराज, मूँगा तथा मोती आदिकी मालाओंसे सुशोभित था, इक्यासी खण्डसे युक्त था और कोट, वापिका तथा बाग-बगीचोंसे अलंकृत था ॥३-४॥ वह अधिष्ठाता नाभिराजके प्रभावसे अकेला ही अनेक कल्पवृक्षोंसे आवृत था तथा पृथिवीके मध्य अपने स्थानपर अधिष्ठित था ॥५॥

अथानन्तर राजा नाभिराजकी मरुदेवी नामकी पटरानी थी। यह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुई थी तथा जिस प्रकार इन्द्रको इन्द्राणी प्रिय होती है उसी प्रकार राजा नाभिराजको प्रिय थी ॥६॥ जिनके नख अत्यन्त चमकदार थे ऐसे उसके उठे हुए दोनों पैरोंके अँगूठे ऐसे जान पड़ते थे मानो ललाटके देखनेकी इच्छासे ही ऊपरकी ओर उठ रहे हों ॥७॥ उसके दोनों चरण, उन्नत अग्रभागसे युक्त, सम, स्निग्ध, पतले और लाल-लाल नखोंकी किरणोंसे फर्शपर कुरवककी शोभा उत्पन्न कर रहे थे ॥८॥ जिनकी अंगुलियाँरूपी कलिकाएँ परस्परमें सटी हुई थीं, जिनकी गाँठें छिपी हुई थीं और जो कछुओंके समान उन्नत थे, ऐसे उसके दोनों चरणकमल कान्तिरूपी जलमें मानो तैर ही रहे थे ॥९॥ सुन्दर मच्छ तथा शंख आदिके लक्षणोंसे युक्त जिसके चरण, क्रीड़ाओंके समय ही पतिका स्पर्श पाकर पसीनाके सम्बन्धसे युक्त होते थे अन्य समय नहीं ॥१०॥ अनुक्रमिक गोलाईसे युक्त, तथा रोम एवं नसोंसे रहित उसकी दोनों जंघाएँ सौन्दर्य रससे भरे हुए मानो कामदेवके दो तरकश ही हैं ॥११॥ गूढ़ सन्धिसे युक्त जिसके दोनों कोमल घुटने पतिके अवयवोंको कोमल स्पर्शजन्य सुख प्रदान करते थे ॥१२॥ केलेके स्तम्भ

---

१. महादेवीति म. । २. जलप्लवौ म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊरुसन्धिर्नितम्बश्च कुकुन्दरमनोहरः । गुरुर्जघनभारश्च यस्याः सादृश्यमत्यगात् ॥१४॥
प्रदक्षिणकृतावर्त्तं गम्भीरं नाभिमण्डलम् । रोमराजिकृतासङ्गं यस्या नाभेरभून्मुदे ॥१५॥
अरोमशं कृशं मध्यं यस्यास्त्रिवलिभङ्गुरम् । बभौ वृत्तसमोत्तुङ्गघनस्तनभरादिव ॥१६॥
कठिनस्तनचक्राभ्यां यस्या मृदुभियोरसा । प्रक्रीडच्चक्रवाकाभ्यां सरितेव विराधितम् ॥१७॥
रक्तहस्ततलौ श्रेष्ठप्रकोष्ठमणिबन्धनौ । स्वंसौ मृदुभुजौ यस्याः कामपाशौ बभूवतुः ॥१८॥
शङ्खावर्त्तसमग्रीवा प्रवालाधरपल्लवा । दन्तमुक्ताफलोद्योता सिन्धोर्वेलेव या बभौ ॥१९॥
संरक्ततालुजिह्वाग्रमन्तरास्यमराजत । [2]यस्या वाचि प्रवृत्तायां कोकिलस्वननिस्वनम् ॥२०॥
प्रियामुखमिवात्मीयं दिदृक्षोः प्रेयसो मुखम् । संमुखौ भवतो यस्याः कपोलाविव दर्पणौ ॥२१॥
सन्नासिकाऽतिमध्यस्था [3]समा समपुटाभ्यभात् । स्पर्द्धिन्योर्वारयन्तीव दृशोरन्योन्यदर्शनम् ॥२२॥
त्रिवर्णाब्जनिभे यस्या दर्शने दीर्घदर्शने । मन्त्रस्य मन्त्रणायेव कर्णमूलमुपाश्रिते ॥२३॥
तनुरेखभ्रुवौ यस्या न दूरे न च संहते । समारोपितचापाभे शुशुभाते शुभावहे ॥२४॥
न नतस्य न तुङ्गस्य सादृश्यस्य [4]सिसृक्षया[5] । यस्या ललाटपट्टस्य [6]नार्धेन्दोरभवत् स्थितिः ॥२५॥
कुण्डलोज्ज्वलगण्डस्य यत्कर्णयुगलस्य तु । नोपमा मांसलस्यासीत् कोमलस्य समस्य तु ॥२६॥

सार रहित हैं और हाथीके शुण्डादण्ड कठोर स्पर्शसे युक्त हैं अतः विस्तारूपी गुणोंसे युक्त होनेपर भी दोनों मरु देवीकी जाँघोंके समान नहीं थे ॥१३॥ जिसके कूल्हे, गर्तविशेषसे मनोहर नितम्ब और स्थूल जघन सादृश्यसे परे थे अर्थात् अनुपम थे ॥१४॥ जिसकी आवर्त—जलभँवरके समान गोल, गहरी एवं रोमराजिसे युक्त नाभि, राजा नाभिराजके हर्षका कारण थी ॥१५॥ जिसकी रोम रहित, पतली एवं त्रिवलिसे युक्त कमर ऐसी जान पड़ती थी मानो गोल, सम, ऊँचे और स्थूल स्तनोंके भारसे ही झुक रही हो ॥१६॥ जिस प्रकार मन्द भयके साथ क्रीड़ा करते हुए चकवा-चकवियोंके युगलसे नदी सुशोभित होती है उसी प्रकार जिसका वक्षःस्थल कठोर स्तनोंके मण्डलसे सुशोभित हो रहा था ॥१७॥ जिनकी हथेलियाँ लाल-लाल थीं, जिनकी कोहनी और कलाई उत्तम थीं और जिनके कन्धे शोभास्पद थे ऐसी उसकी दोनों कोमल भुजाएँ कामपाशके समान जान पड़ती थीं ॥१८॥ उसकी ग्रीवा शंखके आवर्तके समान थी, अधर पल्लव मूँगाके समान थे और दाँत मोतियोंके समान प्रकाशमान थे इसलिए वह समुद्रकी वेलाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१९॥ जिसका तालु और जिह्वाका अग्रभाग अत्यन्त लाल था ऐसा उसका अन्तर्मुख सुशोभित था और जब उसके शब्द निकलते थे तब वह कोकिलाके शब्दको भी अशब्द कर देता था—फीका बना देता था ॥२०॥ प्रियाके मुखके समान जब नाभिराज अपना मुख देखनेकी इच्छा करते थे तब सामने स्थित मरुदेवीके दोनों कपोल दर्पणके समान हो जाते थे ॥२१॥ ठीक बीचमें स्थित सम और समान पुटवाली उसकी नासिका ऐसी जान पड़ती थी मानो स्पर्धा करनेवाले दोनों नेत्रोंके पारस्परिक दर्शनको रोक ही रही थी ॥२२॥ सफेद, काले और लाल इन तीन वर्णके कमलोंके समान जिसके बड़े-बड़े नेत्र किसी मन्त्रकी सलाह करनेके लिए ही मानो कानोंके समीप तक गये थे ॥२३॥ जिसकी पतली भौंहें न दूर थीं और न पास ही थीं। शुभ लक्षणोंसे युक्त थीं तथा चढ़ाये हुए धनुषके समान सुशोभित थीं ॥२४॥ जिसका ललाटपट्ट न अधिक नीचा था और न अधिक ऊँचा था इसलिए उसका सादृश्य प्राप्त करनेके लिए अर्धचन्द्रकी सामर्थ्य नहीं थी ॥२५॥ जिसके कानोंका युगल अपने कुण्डलोंसे गालोंको उज्ज्वल बना रहा था, स्थूल था, कोमल था और समान था अतः उसकी कहीं भी उपमा नहीं थी ॥२६॥

१. 'कूरकौ तु नितम्बस्थौ द्वयहीने कुकुन्दरे' इत्यमरः । २. यस्यां म. । ३. -भिमध्यस्था म. । ४. सादृश्य-सिसृक्षया म. । ५. स्रष्टुमिच्छा सिसृक्षा तया । ६. नार्धेन्दु- म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीलकुञ्चितसुस्निग्धसूक्ष्मकेशकलापिनः । समस्य शिरसो यस्याः शोभा वाक्पथमत्यगात् ॥२७॥
अखण्डमण्डलश्चन्द्रो मुखमण्डलशोभया । यस्याः पराजितः प्रापदाधिनेवाति पाण्डुताम् ॥२८॥
षोडशाल्पकलावस्था द्वासप्ततिकलोज्ज्वला । इन्दुमूर्त्योपमीयेत सा कथं सकलङ्कया ॥२९॥
चतुःषष्टिगुणोत्कृष्टा मार्दवातिशया कथम् । सा चतुर्गुणया तुल्या पृथिव्या कठिनात्मना ॥३०॥
स्निग्धाभिरपि सुस्निग्धा सौष्ठवात्मा जलात्मभिः । कथं साऽन्यप्रणेयाभिरद्भिरप्युपमीयते ॥३१॥
तद्वन्नासुररूपापि कथं वा दहनात्मिका । भेजे[1] तेजोमयी मूर्त्तिस्तन्मूर्त्तेरुपमानताम् ॥३२॥
दर्शनस्पर्शनाभ्यां या नाभेरतिसुखावहा । स्पर्शमात्रसुखाहर्त्र्या वायुमूर्त्या कथं समा ॥३३॥
अशून्यहृदयस्पर्शा मर्त्तुर्या स्पर्शशून्यया । साऽकाशात्मिकया शक्त्या शुद्धयाऽपि कथं समा ॥३४॥
चतुर्दशविधं यस्याः कल्पपादपकल्पितम् । अङ्गप्रत्यङ्गसङ्गेन भूषणं भूष्यतां गतम् ॥३५॥
भुञ्जानस्य तया नाभेर्भोगं स्वर्लोकसंनिभम् । वक्तुं शक्तौ यदि व्यक्तं वक्ता [2]शुक्रो बृहस्पतिः ॥३६॥
अथ तीर्थकृतामाद्ये स्वर्गात् सर्वार्थसिद्धितः । तयोः प्रागेव षण्मासान् वृषभेऽवतरिष्यति ॥३७॥
दिवः पतितुमारब्धा वसुधारा गृहाङ्गणे । प्रत्यहं धनदोन्मुक्ता पुरुहूतनिदेशतः ॥३८॥
श्रीलक्ष्मीधृतिकीर्त्याद्या नवतिर्नव चाययुः । प्राग्विद्युद्दिक्कुमार्योऽपि दिग्विदिग्भ्यः ससंभ्रमाः ॥३९॥

काले घुँघराले चिकने और महीन केशोंके समूहसे युक्त जिसके सुन्दर शिरकी शोभा वचन मार्गको उल्लंघन कर गयी थी ॥२७॥ जिसके मुख-मण्डलकी शोभासे पराजित हुआ पूर्णचन्द्र मानसिक व्यथासे ही मानो अत्यन्त सफेदीको प्राप्त हो गया था ॥२८॥ चन्द्रमाकी मूर्ति सोलह कलाओंसे युक्त है और मरुदेवी बहत्तर कलाओंसे सहित थी, चन्द्रमाकी मूर्ति कलंक सहित है और मरुदेवी अत्यन्त उज्ज्वल थी अतः चन्द्रमाकी मूर्तिसे उसकी तुलना कैसे हो सकती है ? ॥२९॥ मरुदेवी चौंसठ गुणोंसे युक्त थी और पृथिवी मात्र चार गुणोंको धारण करनेवाली है। मरुदेवी कोमलताके अतिशयको प्राप्त थी और पृथिवी अत्यन्त कठिन है अतः यह उसके तुल्य कैसे हो सकती है ? ॥३०॥ यद्यपि जल स्निग्ध है—कुछ-कुछ चिकनाईसे युक्त है पर मरुदेवी सुस्निग्धा—अत्यधिक चिकनाईसे युक्त थी (पक्षमें पति-विषयक स्नेहसे सहित थी), जल जड़रूप है, मूर्ख है—(पक्षमें पानीरूप है) और मरुदेवी कलाओंमें निपुण थी, जल, अन्यप्रणेया—दूसरेके द्वारा ले जाने योग्य है और मरुदेवी अन्यप्रणेया नहीं थी—स्वावलम्बी थी अतः उसकी जलके साथ उपमा कैसे हो सकती है ? ॥३१॥ यद्यपि अग्नि मरुदेवीके समान भास्वर रूप है परन्तु साथ ही दाहमयी भी है अतः वह मरुदेवीके शरीरकी उपमाको कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥३२॥ मरुदेवी, दर्शन और स्पर्श दोनोंके द्वारा नाभिराजको अतिशय सुख देनेवाली थी परन्तु वायु मात्र स्पर्शके द्वारा सुख पहुँचाती थी अतः वह वायुके समान कैसे हो सकती थी ? ॥३३॥ मरुदेवी पतिके हृदयका स्पर्श करनेवाली थी जबकि आकाश स्पर्शसे शून्य है अतः वह शुद्ध होनेपर भी आकाशरूपी शक्तिके सदृश कैसे हो सकती है ? ॥३४॥ कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए चौदह प्रकारके आभूषण जिसके अंग-प्रत्यंगका सम्बन्ध पाकर भूष्यताको प्राप्त हुए थे। भावार्थ—आभूषणोंने उसके शरीरको विभूषित नहीं किया था किन्तु उसके शरीरने ही आभूषणोंको विभूषित किया था ॥३५॥ उस मरुदेवीके साथ स्वर्ग लोकके समान भोग भोगनेवाले राजा नाभिका यदि स्पष्ट वर्णन करनेके लिए कोई समर्थ है तो वक्ता शुक्र और बृहस्पति ही समर्थ हैं अन्य नहीं ॥३६॥

अथानन्तर जब प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत हो राजा नाभिराज और मरुदेवीके यहाँ अवतार लेंगे उसके छह माह पूर्वसे ही उनके घरके आँगनमें इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरके द्वारा छोड़ी हुई रत्नोंकी धारा आकाशमें पड़ने लगी ॥३७-३८॥ श्री, लक्ष्मी,

१. मेने म. । २. शुक्रबृहपति म., क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुज्य प्रणतिं तुष्टा जिनपित्रोर्भविष्यतोः । स्वर्निवेद्यागमं स्वं च पाकशासनशासनात् ॥४०॥
प्रत्येकं शासनं देव्यो मरुदेव्या महादरात् । प्रतीषुर्देवि ! देह्याज्ञां नन्दं जीवेति सद्गिरः ॥४१॥
रूपयौवनलावण्यसौभाग्यादिगुणार्णवम् । वर्णयन्ति तदा काश्चिदाश्चर्यं परमं श्रिताः ॥४२॥
अक्षरालेख्यगन्धर्वगणितागमपूर्वकम् । कलाकौशलमन्यास्तु प्रशंसन्ति समन्ततः ॥४३॥
दर्शयन्ति स्वयं काश्चित् तन्त्रीवीणादिकौशलम् । गायन्ति मधुरं गेयं काश्चित्कर्णरसायनम् ॥४४॥
शोभनाभिनयं काश्चित् शृङ्गारादिरसोत्कटम् । हावभावविलासिन्यो नृत्यन्ति नयनामृतम् ॥४५॥
हस्तसंवाहने काश्चित् पादसंवाहने पराः । अङ्गसंवाहने काश्चिद् व्यावृत्ता मृदुपाणयः ॥४६॥
अङ्गाभ्यङ्गविधौ काश्चिद् काश्चिदुद्वर्त्तने पराः । काश्चिन्मज्जनके[1] काश्चित्स्नानवस्त्रनिपीलने[2] ॥४७॥
सद्गन्धानयने काश्चित् तत्समालभने पराः । काश्चिच्चित्राम्बराधाने परिधानविधौ पराः ॥४८॥
काश्चिद्भूषास्रगाधाने काश्चिद्देहप्रसाधने । दिव्यान्नानयने काश्चित् काश्चिद्भोजनकर्मणि ॥४९॥
शय्यासनविधौ काश्चित् काश्चित्ताम्बूलढौकने । काश्चित्पतद्ग्रहे व्यग्राः काश्चिच्च गृहकर्मणि ॥५०॥
दर्पणग्रहणे काश्चिच्चामरग्रहणे पराः । छत्रस्य ग्रहणे काश्चिद् व्यजनग्रहणे पराः ॥५१॥
अङ्गरक्षापरा देव्यः खड्गव्यग्रापाणयः । ग्रहरक्षःपिशाचेभ्यो रक्षन्त्यः प्रतिजाग्रति ॥५२॥
अभ्यन्तरगृहद्वारे काश्चित्काश्चिद्बहिर्भुवः[3] । असिचक्रगदाशक्तिहेमवेत्रकराः स्थिताः ॥५३॥

धृति, कीर्ति आदि नित्यानबे विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियाँ भी छह माह पहलेसे बड़े हर्षके साथ दिशाओं और विदिशाओंसे आ गयीं ॥३९॥ उन्होंने आकर बड़े सन्तोषसे जिनेन्द्र भगवान्के होनहार माता-पिताको नमस्कार किया और हम इन्द्रकी आज्ञासे स्वर्गलोकसे यहाँ आयी हैं, इस प्रकार अपना परिचय दिया ॥४०॥ 'हे देवि ! आज्ञा दो, समृद्धिसम्पन्न होओ, और चिर काल तक जीवित रहो' इस प्रकारकी उत्तम वाणीको बोलती हुई वे देवियाँ महान् आदरके साथ मरुदेवीके आदेशकी प्रतीक्षा करने लगीं ॥४१॥ उस समय परम आश्चर्यको प्राप्त हुईं कितनी ही देवियाँ मरुदेवीके रूप, यौवन, सौन्दर्य और सौभाग्य आदि गुणोंके सागरका वर्णन करती थीं ॥४२॥ कितनी ही देवियाँ मरुदेवीके अक्षर-विज्ञान, चित्र-विज्ञान, संगीत-विज्ञान, गणित-विज्ञान और आगम-विज्ञानको आदि लेकर उसके कला-कौशलकी प्रशंसा करती थीं ॥४३॥ कितनी ही देवियाँ स्वयं अपनी तन्त्री तथा वीणा आदि विषयक चतुराई दिखलाती थीं। कितनी ही कानोंके लिए रसायन-स्वरूप मधुर गान गाती थीं ॥४४॥ हाव, भाव और विलाससे भरी हुई कितनी ही देवियाँ सुन्दर अभिनयसे युक्त, शृंगारादि रसोंसे उत्कट और नेत्रोंके लिए अमृतस्वरूप मनोहर नृत्य करती थीं ॥४५॥ कोमल हाथोंको धारण करनेवाली कितनी ही देवियाँ मरुदेवीके हाथ दाबनेमें, कितनी ही पैर दाबनेमें तथा कितनी ही अन्य अंगोंके दाबनेमें लग गयी थीं ॥४६॥ कितनी ही शरीरपर तेलका मर्दन करनेमें, कितनी ही उबटन लगानेमें, कितनी ही स्नान करानेमें और कितनी ही स्नानके वस्त्र निचोड़नेमें तत्पर थीं ॥४७॥ कोई उत्तम गन्धके लानेमें, कोई उसका लेप लगानेमें, कोई चित्र-विचित्र वस्त्र सँभालनेमें, और कोई वस्त्र पहनानेमें लग गयी ॥४८॥ कोई आभूषण तथा मालाओंके लानेमें, कोई शरीरकी सजावटमें, कोई दिव्य भोजनके लानेमें और कोई भोजन करानेमें व्यग्र थी ॥४९॥ कोई बिस्तर तथा आसनके बिछानेमें, कोई पान लगानेमें, कोई पीकदान रखनेमें, कोई गृह-सम्बन्धी कार्यमें, कोई दर्पण उठानेमें, कोई चमर ग्रहण करनेमें, कोई छत्र लगानेमें और कोई पंखा झलनेमें तत्पर थी ॥५०-५१॥ कितनी ही देवियाँ हाथमें तलवार ले अंग-रक्षा करनेमें तत्पर रहती थीं एवं ग्रह, राक्षस और पिशाचोंसे रक्षा करती हुई जागृत रहती थीं ॥५२॥ कितनी ही देवियाँ घरके भीतरी द्वारपर और कितनी ही बाह्य द्वारपर तलवार, चक्र,

१. इन्द्राज्ञया । २. निपीडने । ३. -र्बभुः म., क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति नक्तंदिवं दृष्ट्वा देवताभिरनुष्ठितम् । आत्मनः शासनं लोके परेषामतिदुर्लभम् ॥५४॥
निश्चितश्चापि षण्मासान् पतन्त्या वसुधारया । नाभिना मरुदेव्या च प्रार्थ्यस्तीर्थकरोद्भवः ॥५५॥
अथासौ सौम्यतारामिरभितः कृतसेवना । मरुदेवी सुरस्त्रीभिश्चन्द्रलेखेव हारिणी ॥५६॥
शरदभ्रावलीशुभ्रे प्रासादेऽगुरुधूपिते । नानोपधानकाधाने शयाना शयने विधौ ॥५७॥
निधीनिव निशाशेषे ददर्श शुभसूचकान् । क्रमेण षोडशस्वप्नानिमान् दुर्लभदर्शनान् ॥५८॥
प्रभूतदानधारार्द्रकरपुष्करधारिणम् । गीयमानं शुचिं भृङ्गैर्दानार्थिभिरिवेश्वरम् ॥५९॥
सुप्रतिध्वनिविक्षिप्तप्रतिपक्षं शुभोदयम् । शुभं भद्राकृतिं धीरं वृषं वृषमिवोन्नतम् ॥६०॥
मत्तेभं तमिवान्वेष्टुं मदगन्धेन सूचितम् । सिंहमुत्थितमद्राक्षीन्नखदंष्ट्रासटोत्कटम् ॥६१॥
चित्ररत्नघटाटोपघनघोषवनाघनैः[1] । श्रियोऽभिषेकमम्भोजे नवाम्भोभिरिवावनेः ॥६२॥
नानापुष्पवने दीर्घे श्रीमाले सौरभोत्कटे । संभूतेव च सर्वर्तुश्रीभिः सेवार्थमुद्यृते ॥६३॥

गदा, शक्ति और स्वर्णमय छड़ी हाथमें लेकर खड़ी थीं ॥५३॥ इस प्रकार लोकमें जो दूसरोंके लिए दुर्लभ थी, ऐसी देवियों द्वारा अपनी आज्ञाकी पूर्ति देखकर तथा लगातार छह माहसे पड़ती हुई रत्नधारासे राजा नाभिराज और मरुदेवीने निश्चय कर लिया कि हमारे यहाँ सबके द्वारा प्रार्थनीय तीर्थंकरका जन्म होगा ॥५४-५५॥

अथानन्तर मनोहर ताराओंसे सेवित चन्द्रकलाके समान अनेक देवियोंसे सेवित मनोहरांगी मरुदेवी, शरद् ऋतुकी मेघावलीके समान सफेद एवं अगुरु चन्दनसे सुवासित राजभवनमें नाना गद्दा-तकियोंसे युक्त चन्द्रतुल्य शय्यापर शयन कर रही थी कि उसने रात्रिके पश्चिम भागमें निधियोंके समान शुभसूचक, इन दुर्लभ सोलह स्वप्नोंको क्रमसे देखा ॥५६-५८॥ प्रथम ही उसने सफेद हाथी देखा, ऐसा हाथी कि जो अत्यधिक मदकी धारासे गीली सूँड़ और उसके अग्रभागको धारण कर रहा था तथा मदके अर्थी भ्रमर जिसके आस-पास गुंजार कर रहे थे। वह हाथी किसी राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार राजाके कर पुष्कर—हस्त कमल अत्यधिक दानके संकल्पके लिए गृहीत जलकी धारासे गीले रहते हैं उसी प्रकार उस हाथीके कर पुष्कर—सूँड़ और उसके नथने अत्यधिक दान —मद जलकी धारासे गीले थे और जिस प्रकार राजाके समीप खड़े दानके अर्थीजन उसकी स्तुति किया करते हैं उसी प्रकार दान—मदके अर्थी भ्रमर उसके समीप गुंजार कर रहे थे ॥५९॥ दूसरी बार उसने भद्र आकृतिको धारण करनेवाला एक धीर-वीर बैल देखा। वह बैल ठीक धर्मके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार धर्म अपनी मधुर देशनासे एकान्तवादी प्रतिपक्षियोंको पराजित कर देता है उसी प्रकार वह बैल भी अपनी हुम्बाध्वनिसे प्रतिपक्षी बैलोंको पराजित कर रहा था, जिस प्रकार धर्म शुभ अभ्युदयको देता है उसी प्रकार वह बैल भी शुभ अभ्युदयको सूचित करनेवाला था। जिस प्रकार धर्म भद्राकृति—मंगलकारी होता है उसी प्रकार वह बैल भी भद्राकृति—उत्तम आकृतिका धारक था, जिस प्रकार धर्म धीर-धी बुद्धिको प्रेरणा करनेवाला है उसी प्रकार वह बैल भी धीर-गम्भीर था और जिस प्रकार धर्म उन्नत—उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार वह बैल भी उन्नत—ऊँचा था ॥६०॥ तीसरी बार तीक्ष्ण नख, दंष्ट्रा और सटा (गरदनके बालों) से युक्त एक सिंह देखा। वह सिंह ऐसा जान पड़ता था मानो पहले स्वप्नमें दिखे हाथीके मदकी गन्ध पा उसे ढूँढ़नेके लिए ही तैयार खड़ा हो ॥६१॥ चौथी बार उसने नाना रत्नमयी घड़ोंके विशाल शब्दसे युक्त मदोन्मत्त हाथियोंके द्वारा कमलपर बैठी लक्ष्मीका अभिषेक देखा। लक्ष्मीका वह अभिषेक ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुषसे उपलक्षित एवं घनघोर गर्जना करनेवाले मेघ नूतन जलसे पृथिवीका ही अभिषेक कर रहे हों ॥६२॥ पाँचवीं बार उसने नाना पुष्पोंसे व्याप्त तथा अत्यन्त

१. घनाघना मत्तगजा मेघाश्च (इति क. प्रतिटिप्पण्याम्) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधोमुखमयूखोघदण्डमातपवारणम् । ताराभरणयोक्षिप्तं श्यामयेवेन्दुमण्डलम् ॥६४॥
संध्यारागाङ्गरागाढ्यं पूर्वाशाङ्गनयारुणम् । सिन्दूरारुणितं कुम्भं मङ्गलार्थमिवोद्धृतम् ॥६५॥
मीनौ कृतजलक्रीडौ हृतात्मोदरशोभयोः । नेत्रयोश्चलयोर्दातुमुपालम्भमिवागतौ ॥६६॥
हारिणौ वारिणा पूर्णौ विशालौ कलशौ घनौ । सौवर्णौ स्वोपमौ द्रष्टुं स्तनमाराविवोद्धृतौ ॥६७॥
[2]सोद्दण्डपुण्डरीकौघं राजहंसमनोहरम् । [3]रथपादातिनादाढ्यं सरः सैन्यमिवोर्जितम् ॥६८॥
[4]प्रमीनमिथुनोन्मेषमकराद्युरुराशिभिः । प्रपूर्णितमिवाकाशं वर्द्धमानं महार्णवम् ॥६९॥
सावष्टम्भभुजस्तम्भैः प्रौढदृष्टिभिरुन्मुखैः । सिंहैर्हेमासनं व्यूढं मनुराजैर्जगद् यथा ॥७०॥
स्वर्गसौन्दर्यसंदर्भमिव दर्शयितुं नृणाम् । विमानं कलगीताभिर्देवकन्याभिराहृतम् ॥७१॥

सुगन्धित दो बड़ी-बड़ी मालाएँ देखीं। वे मालाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो समस्त ऋतुओंकी लक्ष्मीने मिलकर मरुदेवीकी सेवाके लिए उन मालाओंको बनाकर ऊपर उठा रखा हो ॥६३॥ छठवीं बार उसने चन्द्रमण्डलको देखा। वह चन्द्रमण्डल ऐसा जान पड़ता था मानो तारारूपी आभूषणोंसे युक्त रात्रिरूपी स्त्रीके द्वारा ऊपर उठाया हुआ छत्र ही हो। ऐसा छत्र कि जिसकी नीचेकी ओर आनेवाली किरणोंका समूह ही दण्डका काम दे रहा था ॥६४॥ सातवीं बार उसने सन्ध्याकी लालिमा-रूपी अंगरागसे युक्त उदित होता हुआ सूर्य देखा। वह सूर्य ऐसा जान पड़ता था मानो पूर्व दिशा-रूपी स्त्रीने मंगलके लिए सिन्दूरसे रँगा हुआ कलश ही ऊपर उठाया हो ॥६५॥ आठवीं बार उसने जलके भीतर क्रीड़ा करते हुए दो मीन देखे। वे मीन ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने उदरकी शोभा-को हरनेवाले चंचल नेत्रोंका उलाहना देनेके लिए ही मरुदेवीके पास आये हों ॥६६॥ नौवीं बार उसने जलसे भरे हुए दो स्वर्णमय विशाल कलश देखे। वे कलश ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी उपमा धारण करनेवाले माताके स्तनोंको देखनेके लिए ही ऊपर उठे हों ॥६७॥ दशवीं बार उसने एक ऐसा सरोवर देखा जो किसी बलिष्ठ सेनाके समान जान पड़ता था। क्योंकि जिस प्रकार सेना, सोद्दण्डपुण्डरीकौघ—ऊपर उठे दण्डोंसे युक्त छत्रोंके समूहसे सहित होती है उसी प्रकार वह सरोवर भी सोद्दण्डपुण्डरीकौघ—ऊँचे-ऊँचे डण्ठलोंसे युक्त श्वेत कमलोंके समूहसे सहित था। जिस प्रकार सेना, राजहंस मनोहर—उत्तम राजाओंसे मनोहर होती है उसी प्रकार वह सरोवर भी राजहंस मनोहर—हंस* विशेषोंसे सुन्दर था। और जिस प्रकार सेना, रथपादातिनादाढ्य—रथके पहियोंकी विशाल चीत्कारसे युक्त होती है उसी प्रकार वह सरोवर भी रथपादातिनादाढ्य—चक्रवाक पक्षियोंके अत्यधिक शब्दके युक्त था ॥६८॥ ग्यारहवीं बार उसने बढ़ता हुआ एक ऐसा महासमुद्र देखा जो ठीक आकाशके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार आकाश मीन, मिथुन, मकर आदि राशियोंसे युक्त होता है—उसी प्रकार महासमुद्र भी उत्तम मीन युगलोंकी उछल-कूद तथा मगर-मच्छ आदिकी विशाल राशिसे पूर्ण था ॥६९॥ बारहवीं बार उसने एक सुवर्णमय सिंहासन देखा। वह सिंहासन जिस प्रकार सबल भुजाओंके धारक, प्रौढ़ दृष्टिसे युक्त एवं कार्य करनेमें तत्पर कुलकरोंके द्वारा जगत् धारण किया जाता है उसी प्रकार मजबूत भुजस्तम्भोंसे युक्त, प्रौढ़ दृष्टिसे सहित एवं ऊपरकी ओर मुख किये हुए सिंहोंके द्वारा धारण किया गया था ॥७०॥ तेरहवीं बार उसने एक विमान देखा जो ऐसा जान पड़ता था मानो मनुष्योंको स्वर्गलोकका सौन्दर्य दिखलानेके लिए सुन्दर गीत गानेवाली देवकन्याएँ उसे पृथिवीपर ले आयी हों ॥७१॥

१. मयूखोद्यदण्ड म.। २. सोद्दण्डपुण्डरीकौघराज- म.। ३. रथपादाः चक्रवाकाः तेषामतिनादेन दीर्घशब्देन आढ्यं सहितम्। प्रकर्षेण मीना मत्स्यास्तेषां मिथुनानि तेषामुन्मेषः। मकरादीनामुरुराशिश्च तैः, पक्षे राशिविशेषैः। * राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः—जिनकी चोंच और चरण लाल होते हैं बाकी सफेद होते हैं, ऐसे हंस राजहंस कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागलोकं विजित्येव नागेन्द्रभवनं श्रिया । नागकन्याभिरुद्भूतं शेषलोकजिगीषया ॥७२॥
अभ्रंलिहं निरभ्रेऽपि विद्युदिन्द्रधनुःश्रियम् । खे सृजन्तं महारत्नराशिं प्रांशुभिरंशुभिः ॥७३॥
सुप्रसन्नं भ्रमज्ज्वालं निर्धूमेन्धनपावकम् । प्रचलत्पुष्पितादभ्रैकिंशुकोत्करविभ्रमम् ॥७४॥
[2]खण्डस्वप्नानिमान् दृष्ट्वा दध्रेऽनन्तरमात्मनि । जिनं सा वृषरूपेण प्रविष्टं मुखवर्त्मना ॥७५॥
सुस्वप्नदर्शनानन्दं स्वामिनी यन्नवं मया । प्रापितेति कृतार्थेव क्वाऽपि निद्रासखी निरैत् ॥७६॥
विबुध्यस्व विबुद्धार्थे विवर्धस्व विवर्धने । विजयस्व जयश्रीशे देवि पूर्णमनोरथे ॥७७॥
इत्यादयो विबोधाय दिक्कुमारीभिरीरिताः । याताः स्वयं विबुद्धायाः केवलं मङ्गलं गिरः ॥७८॥
दोषाकरः कलङ्क्येष निःकलङ्कगुणाकरम् । दृष्ट्वेव मुखचन्द्रं ते ह्रिया मवति निष्प्रभः ॥७९॥
तवैव गृहमुद्योत्यं दशनप्रभयाऽधुना । इतीव स्फुरितव्याजात् प्रदीपाः [3]स्वं हसन्त्यमी ॥८०॥
अत्यन्तमुखरागाढ्या क्षणरञ्जितविप्रिया । प्रस्खलत्खलमैत्रीव वन्ध्या संध्या विरज्यते ॥८१॥
स्वभावमत्सरारम्भा व्यापिकोदयमेष्यतः[4] । प्रभा रवेरवन्ध्यार्था साधोर्मैत्रीव वर्द्धते ॥८२॥

चौदहवीं बार उसने नागेन्द्रका भवन देखा जो ऐसा जान पड़ता था मानो वह अपनी शोभासे नागलोकको तो जीत चुका था अब अन्य लोकोंको जीतनेकी इच्छासे ही नागकन्याएँ उसे पृथिवीपर ऊपर लायी हों ॥७२॥ पन्द्रहवीं बार उसने आकाशमें महारत्नोंकी एक ऐसी राशि देखी जो अपनी उन्नत किरणोंके द्वारा मेघ रहित आकाशमें बिजली और इन्द्रधनुषसे शोभित मेघकी रचना कर रही थी ॥७३॥ और सोलहवीं बार उसने अत्यन्त निर्मल एवं घूमती हुई ज्वालाओंसे युक्त, निर्धूम अग्नि देखी। वह अग्नि ऐसी जान पड़ती थी मानो चंचल फूलोंसे युक्त पलाशके बड़े-बड़े वृक्षोंका समूह ही हो ॥७४॥ इस प्रकार पृथक्-पृथक् दिखनेवाले इन सोलह स्वप्नोंको देखकर रानी मरुदेवीने उसके बाद बैलके रूपमें मुख मार्गसे प्रविष्ट हुए जिनेन्द्र भगवान्को भीतर धारण किया ॥७५॥

मैं स्वामिनीको उत्तम स्वप्नोंके देखनेका नूतन आनन्द प्राप्त करा चुकी हूँ इसलिए कृतकृत्य हुईकी तरह रानी मरुदेवीकी निद्रारूपी सखी कहीं भाग निकली ॥७६॥ महारानी मरुदेवी स्वप्न-दर्शनके बाद स्वयं जाग गयी थीं, इसलिए दिक्कुमारियोंके द्वारा उसके जगानेके लिए 'हे पदार्थोंको जाननेवाली माता ! जागो, हे वृद्धिरूपिणी माता ! वृद्धिको प्राप्त होओ, हे जयलक्ष्मीकी स्वामिनि ! पूर्ण मनोरथोंवाली माता ! जयवन्त रहो' इत्यादि कहे गये वचन केवल मंगलरूपताको प्राप्त हुए थे ॥७७-७८॥ हे माता ! यह चन्द्रमा दोषाकर—दोषोंकी खान (पक्षमें निशाकर) और कलंकी—दोषयुक्त (पक्षमें काले चिह्नसे युक्त) है अतः तुम्हारे निष्कलंक और गुणोंकी खानभूत मुखचन्द्रको देखकर लज्जासे ही मानो प्रभा-रहित हो गया है ॥७९॥ अब तो यह घर तुम्हारे ही दोनोंकी प्रभासे प्रकाशित है—हम लोगोंकी आवश्यकता नहीं, यह विचारकर ही मानो ये दीपक स्फुरणके बहाने अपने आपकी हँसी कर रहे हैं ॥८०॥ हे माता ! यह प्रातः सन्ध्या, दुष्टकी चंचल मित्रताके समान राग-रहित होती जा रही है अर्थात् जिस प्रकार दुष्टकी मित्रता प्रारम्भमें रागसे सहित होती है और क्षण-भर बाद ही शत्रुओंको अनुरंजित करने लगती है उसी प्रकार यह प्रातः सन्ध्या पहले तो राग अर्थात् लालिमासे सहित थी और अब क्षण-भर बाद लालिमासे रहित हुई जा रही है। जिस प्रकार दुष्टकी मित्रता वन्ध्या—निष्फल रहती है—उससे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार यह प्रातः सन्ध्या भी वन्ध्या है—इससे किसी कार्यकी सिद्धि दृष्टिगत नहीं हो रही है ॥८१॥ और यह उदित होते हुए सूर्यकी प्रभा सज्जनकी मित्रताके समान उत्तरोत्तर बढ़ती चली जा रही है। क्योंकि जिस प्रकार सज्जनकी मित्रता प्रारम्भमें मत्सर-युक्त होनेके कारण फीकी रहती है और आगे चलकर खूब फैल जाती है

१. पुष्पितादभ्रात् किंशुको म.। २. सान्तरान् वा। ३. त्वं म.। ४. -मेष्यति क.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भास्वराम्बरभूषैषा भाति भास्वद्विशेषका । पुरन्ध्रीरिव पूर्वाऽशा मङ्गलाय तवोद्गता ॥८३॥
दीर्घां नीत्वा निशामेषा दीर्घिकास्विनदर्शने[1] । तुष्टा स्वान् घटयत्येव चक्रवाकी कलारवान् ॥८४॥
त्वत्पादन्यासलीलायामीक्षणार्थमिवाकुलम् । त्वामुत्थापयते कूजत्कलहंसकुलं कलम् ॥८५॥
घूर्मिता मृदुवातेन धृताभिनयमूर्त्तयः । भवत्या दर्शयन्तीव नृत्तारम्भममी द्रुमाः ॥८६॥
दिङ्मुखानि प्रसन्नानि चेष्टितानीव तेऽधुना । सुप्रभातमिदं देवि मुञ्च शय्यामनिन्दिते ॥८७॥
इति वन्दिजनैर्वन्द्या साऽमुञ्चत् शुचिविग्रहा । शय्यां पुष्पतरङ्गाढ्यां हंसीव सिकतास्थलीम् ॥८८॥
धौतवाँसं[2] गृहीत्वाऽसौ धौतच्छाया विनिर्गता । शुशुभे शारदाम्मोदात् तन्वीव शशिनः कला ॥८९॥
श्रीविद्युद्दिक्कुमारीभिः प्रत्यग्रकृतभूषणा । साऽन्तर्गर्भाऽन्तिकं याता घनश्रीर्नाभिभूभृतः ॥९०॥
भद्रासनस्थितायाऽस्मै क्रमेण स्वासनस्थिता । श्रीरिवावेदयत् स्वप्नान् सत्कराम्भोजकुड्मला ॥९१॥
स्वप्नार्थं सोऽवधार्यैतां जगाद दयिते ध्रुवम् । संक्रान्तोऽद्य त्रिलोकानां नाथस्तीर्थंकरस्त्वयि ॥९२॥
न दूराल्पफलप्राप्तावीदृशं स्वप्नदर्शनम् । अतोऽद्यैव प्रतीतो मे भवत्यां गर्भसंभवः ॥९३॥
षण्मासवसुवृष्ट्या च देवतापरिचर्यया । सूचिता जिनसंभूतिर्या साद्य फलिताऽवयोः ॥९४॥

उसी प्रकार सूर्यकी प्रभा पहले मन्द होती है और आगे चलकर खूब फैल जाती है—सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। जिस प्रकार सज्जनकी मित्रता सार्थक है उसी प्रकार सूर्यकी प्रभा सार्थक है ॥८२॥ भास्वर-अम्बर—देदीप्यमान आकाश ही जिसका आभूषण है (पक्षमें जिसके वस्त्र और आभूषण देदीप्यमान हैं तथा भास्वद्विशेषका—सूर्य ही जिसका तिलक है (पक्षमें देदीप्यमान तिलक-से युक्त है) ऐसी यह पूर्व दिशा सौभाग्यवती स्त्रीके समान मानो तुम्हारा मंगल करनेके लिए ही उद्यत हुई है ॥८३॥ वापिकाओंमें लम्बी रात बितानेके बाद अब सूर्यका दर्शन हुआ है इसलिए यह चकवी प्रसन्न हो अपने मधुर शब्द कर रही है अथवा मधुर शब्द करनेवाले आत्मीय जनोंको इकट्ठा कर रही है ॥८४॥ इधर मधुर शब्द करता हुआ यह कलहंसोंका समूह तुम्हें उठा रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो तुम्हारे पादनिक्षेपकी लीलाको देखनेके लिए अत्यन्त उतावला हो रहा है ॥८५॥ जो मन्द-मन्द वायुसे हिल रहे हैं, तथा अभिनयकी मुद्राको धारण किये हैं ऐसे ये वृक्ष, आपके लिए मानो अपने नृत्यका आरम्भ ही दिखला रहे हैं ॥८६॥ हे माता ! इस समय समस्त दिशाएँ तुम्हारी चेष्टाके समान निर्मल हो गयी हैं एवं सुन्दर प्रभातकाल हो गया है, इसलिए हे अनिन्दिते देवि ! शय्याको छोड़ो ॥८७॥ इस प्रकार बन्दीजनोंके द्वारा वन्दनीय, एवं निर्मल शरीरको धारण करनेवाली महारानी मरुदेवीने शय्याको उस प्रकार छोड़ा जिस प्रकार कि हंसी नदीके रेतीले तटको छोड़ती है ॥८८॥ उज्ज्वल कान्तिको धारण करनेवाली मरुदेवी धुले हुए वस्त्रको ग्रहण कर जब शयनागारसे बाहर निकली तब शरद् ऋतुके मेघसे बाहर निकली चन्द्रमाकी पतली कलाके समान सुशोभित होने लगी ॥८९॥ विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियोंने जिसे नवीन-नवीन आभूषण पहनाये थे तथा जो अन्तर्गतगर्भा होनेसे गृहीतजला मेघमाला-के समान जान पड़ती थी ऐसी मरुदेवी नाभिराजरूपी पर्वतके समीप गयी ॥९०॥ जो शोभामें लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ऐसी मरुदेवी वहाँ जाकर अपने आसनपर बैठी और हस्तकमल जोड़, भद्रासनपर बैठे हुए महाराजसे क्रम-पूर्वक स्वप्नोंका वर्णन करने लगी ॥९१॥

स्वप्नोंका फल समझकर महाराज नाभिराजने उससे कहा कि हे प्रिये ! निश्चय ही आज तुम्हारे गर्भमें तीन लोकके नाथ तीर्थंकरने अवतार लिया है ॥९२॥ दूरवर्ती तथा अल्प फलकी प्राप्तिके समय ऐसे स्वप्न नहीं दिखते इसलिए मुझे विश्वास है कि आज ही आपके गर्भ रहा है ॥९३॥ लगातार छह मासमें होनेवाली रत्नोंकी वर्षा और देवताओंके द्वारा की हुई शुश्रूषासे

---

१. सूर्यदर्शने सति । २. धौतेवासं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा सर्वकल्याणभाजनात्मजजन्मना । प्रिये ! त्वमचिरेणैव जगदानन्दयिष्यसि ॥९५॥
इति सुस्वप्नफलं श्रुत्वा सद्यः संभूतमात्मनि । मुमुदेऽतितरां देवी दीप्तिं कान्तिं च बिभ्रती ॥९६॥
तृतीयकालशेषेऽसावशीतिश्चतुरुत्तरा । पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुतास्तदा ॥९७॥
स्वर्गावतरणं जैनमाषाढबहुलस्य तु । द्वितीयामुत्तराषाढनक्षत्रेऽत्र जगन्नतम् ॥९८॥
वर्धमाने क्रमाद् गर्भे वर्धते वपुषो वपुः । तस्यास्त्रिवलिशोभाया भङ्गभीत्येव नोदरम् ॥९९॥
गौरवातिशयाधानी दधाना त्रिजगद्गुरुम् । लाघवातिशयं देहे दध्रे चित्रमिदं परम् ॥१००॥
संतापहेतुरन्तःस्थो मातुर्माभूत् सुनिश्चलः । ज्ञानवान् स जिनो मानुर्यथाऽप्सु प्रतिबिम्बितः ॥१०१॥
ज्ञाननेत्रैस्त्रिभिः पश्यन् विश्वं मासानसौ सुखम् । नव गर्भगृहेऽतिष्ठद्दिक्कुमारीविशोधिते ॥१०२॥
पूर्णेषु तेषु मासेषु निपतद्वसुवृष्टिषु । जिनं सा सुषुवे देवी सोत्तराषाढसंनिधौ ॥१०३॥
प्राच्या इव विशुद्धाया विशुद्धस्फटिकोपमात् । घनोदराद्विनिःक्रान्तो जिनः सूर्य इवाबभौ ॥१०४॥
जातकर्मणि कर्त्तव्ये व्यापृता लघु देवताः । अन्तरङ्गा हि कर्त्तव्ये व्याप्रियन्ते जगत्यरम् ॥१०५॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता । नन्दा नन्दोत्तरा नन्दी नन्दीवर्द्धनया सह ॥१०६॥
आलोलकुण्डलालोकविलसद्गण्डमण्डलाः । एतास्ता दिक्कुमार्योऽष्टौ तस्थुर्भृङ्गारपाणयः ॥१०७॥
सुस्थिता प्रणिधान्या सुप्रबुद्धा च यशोधरा । लक्ष्मीमती तथैवान्या कीर्तिमत्युपवर्णिता ॥१०८॥

हम दोनोंको जिनेन्द्रदेवके जिस जन्मकी सूचना मिली थी वह आज सफल हुई ॥९४॥ हे प्रिये ! निश्चय ही समस्त कल्याणोंके पात्ररूप पुत्रको उत्पन्न कर तुम शीघ्र ही संसारको आनन्दित करोगी ॥९५॥ इन उत्तम स्वप्नोंका फल अपने-आपमें शीघ्र ही संघटित हो चुका है, यह सुन दीप्ति और कान्तिको धारण करती हुई मरुदेवी बहुत ही प्रसन्न हुई ॥९६॥ तीसरे कालमें जब चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे थे तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें समस्त जगत्के द्वारा नमस्कृत श्री जिनेन्द्रदेवका स्वर्गावतरण हुआ था ॥९७-९८॥ क्रम-क्रमसे गर्भमें वृद्धि होनेपर माताका शरीर भी बढ़ गया परन्तु त्रिवलिकी शोभा कहीं नष्ट न हो जाये इस भयसे मानो उसके उदरमें वृद्धि नहीं हुई ॥९९॥ माता मरुदेवी स्वयं अत्यधिक गौरवसे सुशोभित थी और उसपर तीनों जगत्के गुरु—भारी (पक्षमें श्रेष्ठ) जिनेन्द्र देवको धारण कर रही थी, फिर भी वह शरीरमें अत्यधिक लघुताका अनुभव करती थी यह बड़े आश्चर्यकी बात थी ॥१००॥ मैं गर्भमें स्थिर रहकर माताके सन्तापका कारण न बनूँ यह जानकर ही मानो जिन-बालक गर्भमें अत्यन्त निश्चल रहते थे। माताके गर्भमें उनका निवास वैसा ही था जैसा कि जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका होता है ॥१०१॥ मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानरूपी नेत्रोंके द्वारा जगत्को देखते हुए जिन-बालक, दिक्कुमारियोंके द्वारा शुद्ध किये हुए गर्भमें नौ माह तक सुखसे स्थित रहे ॥१०२॥

तदनन्तर नौ माह पूर्ण होनेपर जब लगातार रत्नोंकी वर्षा हो रही थी तब उत्तराषाढ़ा नक्षत्रके समय माताने जिन-बालकको उत्पन्न किया ॥१०३॥ जिस प्रकार निर्मल पूर्व दिशामें विशुद्ध स्फटिकके तुल्य मेघमण्डलके मध्यसे निकला हुआ सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार माता मरुदेवीके स्फटिकके समान स्वच्छ गर्भसे निकले हुए जिन-बालक सुशोभित हो रहे थे ॥१०४॥ उस समय वहाँ जो देवियाँ थीं वे शीघ्र ही करने योग्य जातकर्ममें लग गयीं सो ठीक ही है क्योंकि जो अन्तरंग व्यक्ति होते हैं वे संसारमें शीघ्र ही अपने करने योग्य काममें लग जाते हैं ॥१०५॥ चंचल कुण्डलोंके प्रकाशसे जिनके कपोल सुशोभित हो रहे थे ऐसी १ विजया, २ वैजयन्ती, ३ जयन्ती, ४ अपराजिता, ५ नन्दा, ६ नन्दोत्तरा, ७ नन्दी और ८ नन्दीवर्धना ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथोंमें झारियाँ लिये हुए खड़ी थीं ॥१०६-१०७॥ नाना प्रकारके आभरणोंसे सुशोभित १ सुस्थिता, २ प्रणिधान्या, ३ सुप्रबुद्धा, ४ यशोधरा, ५ लक्ष्मीमती, ६ कीर्तिमती, ७ वसुन्धरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुंधरा तथा चित्रा चित्रामरणभास्वराः । दिक्कुमार्य इमाश्चाष्टौ तस्थुर्दर्पणपाणयः ॥१०९॥
इला सुरा पृथिव्याख्या पद्मावत्यपि काञ्चना । सीता नवमिकाऽन्या च दिक्कन्या भद्रकामिधा ॥११०॥
अष्टौ तुष्टाः प्रकृष्टाङ्गप्रभामासितदिङ्मुखाः । धवलान्यातपत्राणि धारयन्ति स्म विस्मिताः ॥१११॥
ह्रीः श्रीः धृतिः परा सा च वारुणी पुण्डरीकिणी । अलम्बुसाम्बुजास्यश्रीर्मिश्रकेशीति विश्रुताः ॥११२॥
[1]कनत्कनकदण्डानि [2]कनत्कनककुण्डलाः । चामराणि गृहीत्वाष्टौ दिक्कुमार्यः स्थिता इमाः ॥११३॥
चित्रा कनकचित्रा च सूत्रामणिरिमा बभुः । त्रिशिराश्च कृतोद्योता विद्युत्कन्यास्तडित्प्रभा ॥११४॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता । इमा विद्युत्कुमारीणां चतस्रः प्रमुखाः स्थिताः ॥११५॥
रुचका दिक्कुमारीणां प्रधाना रुचकोज्ज्वला । रुचकाभाश्चतस्रस्ता रुचकप्रभया सह ॥११६॥
जातकर्म जिनस्यैताश्चक्रुरष्टौ यथाविधि । जातकर्मणि निष्णाताः सर्वत्र जिनजन्मनि ॥११७॥
आचेलुश्चलमौलीनां काले तस्मिन् सुरेशिनाम् । त्रैलोक्येऽप्यासनान्याशु जिनोद्भूतिप्रभावतः ॥११८॥
प्रणेमुरहमिन्द्रास्तं प्रयुक्तावधयो जिनम् । तत्रस्थाः सिंहपीठेभ्यो गत्वा सप्तपदान्यरम्[3] ॥११९॥
लोके भावनदेवानां शङ्खध्वनिरभूत्स्वयम् । व्यन्तराणां रवो भेर्या ज्योतिषां सिंहनिस्वनः[4] ॥१२०॥
घण्टारत्नमहाघोषः कल्पलोकमतीतनत् । किंकर्तव्यत्वसंमुख्यं त्रैलोक्यमभवत्क्षणम् ॥१२१॥
आसनस्य प्रकम्पेन दध्यौ विस्मितधीस्तदा । सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्धूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ॥१२२॥
अतिबालेन मुग्धेन स्वतन्त्रेणाशुकारिणा । निर्भयेन त्रिशङ्केन केनेदमप्यनुष्ठितम् ॥१२३॥

और ८ चित्रा ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथोंमें दर्पण लिये हुए खड़ी थीं ॥१०८–१०९॥ अपने शरीरकी श्रेष्ठ प्रभासे दिशाओंको सुशोभित करनेवाली १ इला, २ सुरा, ३ पृथिवी, ४ पद्मावती, ५ कांचना, ६ सीता, ७ नवमिका और ८ भद्रका ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ आश्चर्यचकित हो सफेद छत्र धारण कर रही थीं ॥११०–१११॥ देदीप्यमान स्वर्णके कुण्डलोंको धारण करनेवाली १ ह्री, २ श्री, ३ धृति, ४ वारुणी, ५ पुण्डरीकिणी, ६ अलम्बुसा, ७ अम्बुजास्यश्री और ८ मिश्रकेशी ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ देदीप्यमान सुवर्णमय दण्डोंसे युक्त चामर लेकर खड़ी थीं ॥११२–११३॥ बिजलीके समान प्रभावशाली १ चित्रा, २ कनकचित्रा, ३ सूत्रामणि और ४ त्रिशिरा इन चार विद्युत्कुमारी देवियोंने सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर दिया था ॥११४॥ १ विजया, २ वैजयन्ती, ३ जयन्ती और ४ अपराजिता ये चार देवियाँ विद्युत्कुमारियोंमें प्रमुख थीं ॥११५॥ १ रुचका, २ रुचकोज्ज्वला, ३ रुचकाभा और ४ रुचकप्रभा ये चार देवियाँ दिक्कुमारियोंमें प्रधान थीं ॥११६॥ इन आठ देवियोंने विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवका जातकर्म किया था। ये देवियाँ जातकर्ममें अत्यन्त निपुण हैं और सब जगह जिनेन्द्र देवका जातकर्म ये ही देवियाँ करती हैं ॥११७॥ उस समय तीनों लोकोंमें जो इन्द्र थे, जिनेन्द्रजन्मके प्रभावसे उन सबके मुकुट चंचल हो गये और सबके आसन कम्पायमान हो उठे ॥११८॥ अवधिज्ञानका प्रयोग करनेवाले अहमिन्द्र अपने-अपने निवासस्थानोंमें ही स्थिर रहे, मात्र उन्होंने सिंहासनोंसे सात डग चलकर जिनेन्द्र भगवान्‌को शीघ्र ही परोक्ष नमस्कार किया ॥११९॥ भवनवासी देवोंके लोकमें अपने-आप शंखोंका शब्द, व्यन्तरोंके लोकमें भेरीका शब्द और ज्योतिषी देवोंके लोकमें सिंहोंके शब्द होने लगे ॥१२०॥ श्रेष्ठ घण्टाओंके जोरदार शब्दने कल्पवासी देवोंके लोकको व्याप्त कर लिया। उस समय तीनों लोक 'क्या करना चाहिए' यह विचार करनेमें तत्पर हो गये ॥१२१॥ उस समय आसनके कम्पायमान होनेसे जिसकी बुद्धि चकित हो गयी थी ऐसा सौधर्मेन्द्र मुकुट हिलाकर तथा ऊँचे मस्तकको कँपाकर विचार करने लगा कि उत्पन्न बालक, मूर्ख, स्वच्छन्द, सहसा कार्य करनेवाले निर्भय एवं शंकारहित किस

१. क्वणत् म. । २ क्वणत् म. । ३. अरं शीघ्रं सप्तपदानि गत्वा । सप्तपदान्परम् म. । ४. निस्वनाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवदानवचक्रस्य स्वपराक्रमशालिनः । कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥१२४॥
इन्द्रः पुरंदरः शक्रः कथं न गणितोऽधुना । सोऽहं कम्पयताऽनेन सिंहासनमकम्पनम् ॥१२५॥
संभावयामि नेदृक्षप्रभावं भुवनत्रये । प्रभुं तीर्थंकरादन्यमिति मत्वा सतोऽवधिम् ॥१२६॥
अतो विस्फुरितेनायमवधिज्ञानचक्षुषा । तं तीर्थंकरमुत्पन्नमाद्यमैक्षिष्ट भारते ॥१२७॥
आसनादवतीर्याशु क्रान्त्वा सप्तपदानि सः । जयतां जिन इत्युक्त्वा प्रणनाम कृताञ्जलिः ॥१२८॥
पुनश्चासनमारुह्य समाज्ञापयति स्म सः । ध्यानानन्तरमानम्य स्थितं सेनापतिं पुरः ॥१२९॥
अस्यामाद्योऽवसर्पिण्यां जातस्तीर्थंकरोऽधुना । गन्तव्यं भारतं देवैर्बोध्यन्तां[1] ते त्वया न्विति ॥१३०॥
स्वाम्यादेशे कृते तेन चेलुः सौधर्मवासिनः । देवैश्चाच्युतपर्यन्ताः स्वयंबुद्धाः सुरेश्वराः ॥१३१॥
यथास्वस्वं निमित्तेभ्यः प्रतिबुद्धाः प्रहर्षिणः । निश्चेलुर्निजलोकेभ्यो ज्योतिर्व्यन्तरभावनाः ॥१३२॥
गजाश्वरथसंघट्टपदातिवृषभैस्तदा । गन्धर्वनर्तकीमिश्रैः सप्तानीकैश्चितं नभः ॥१३३॥
महिषाद्यैश्च नावाद्यैः खड्गाद्यैर्गरुडादिभिः । शिविकाश्वोष्ट्रमकरद्विपहंसादिभिस्तथा ॥१३४॥
दशानामसुरादीनां कुमाराणां यथाक्रमम् । सप्तानीकैर्नभो व्याप्तं बभासे नितरां तदा ॥१३५॥
विमानानि समारूढा गोवृषान् गवयान् रथान् । अश्वान् शरभशार्दूलान् मकरान् करभान् सुराः॥१३६॥
वराहमहिषान् सिंहान् पृषतान् द्वीपिनो द्विपान् । चमरान् हरिणांश्चारुरुरून् केचिद् गरुत्मतः ॥१३७॥

व्यक्तिने यह कार्य किया है ? ॥१२२-१२३॥ अपने पराक्रमसे सुशोभित देव-दानवोंका समूह भी यदि कदाचित् प्रतिकूल हो जावे तो उसे भी जो नष्ट करनेमें समर्थ है ऐसा मैं इन्द्र, शक्र या पुरन्दर हूँ फिर मेरे अकम्पित आसनको कम्पित करनेवाले इस मूर्खने इस समय मुझे कुछ क्यों नहीं समझा ? ॥१२४-१२५॥ मैं तीनों लोकोंमें तीर्थंकरके सिवाय किसी दूसरे प्रभुको ऐसे प्रभावसे युक्त नहीं समझता हूँ, ऐसा विचारकर उसने अवधिज्ञानका आश्रय लिया ॥१२६॥

तदनन्तर सौधर्मेन्द्रने प्रकट हुए अवधिज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा भरत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए प्रथम तीर्थंकरको देख लिया ॥१२७॥ उसने शीघ्र ही आसनसे उतरकर तथा सात डग आगे जाकर 'जिनेन्द्र भगवान्‌की जय हो' यह कहते हुए हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया ॥१२८॥ तदनन्तर सिंहासनपर आरूढ़ हो सौधर्मेन्द्रने विचार करते ही नमस्कार कर सामने खड़े हुए सेनापतिको आदेश दिया कि 'इस समय इस अवसर्पिणीके प्रथम तीर्थंकर उत्पन्न हो चुके हैं अतः समस्त देवोंको भरतक्षेत्र चलना है।' तुम यह सूचना सबके लिए देओ ॥१२९-१३०॥ सेनापतिके द्वारा स्वामीका आदेश सुनाये जाते ही सौधर्म स्वर्गमें रहनेवाले समस्त देव चल पड़े। तथा अच्युत स्वर्ग तकके समस्त इन्द्र स्वयं ही इस समाचारको जान देवोंके साथ बाहर निकले ॥१३१॥ अपने-अपने स्थानोंमें होनेवाले निमित्तोंसे जिन्हें जिनेन्द्रजन्मका समाचार ज्ञात हुआ था, ऐसे हर्षसे भरे हुए ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देव अपने-अपने स्थानोंसे बाहर निकले ॥१३२॥ उस समय १ हाथी, २ घोड़ा, ३ रथ, ४ पैदल सैनिक, ५ बैल, ६ गन्धर्व और ७ नर्तकी इन सात प्रकारकी सेनाओंसे आकाश व्याप्त हो गया था ॥१३३॥ असुर कुमार आदि दश प्रकारके भवनवासी देवोंकी भैंसा, नौका, गेंडा, हाथी, गरुड़, पालकी, घोड़ा, ऊँट, मगर, हाथी और हंसको आदि लेकर क्रमसे जो सात प्रकारकी सेनाएँ थीं उन सबसे व्याप्त हुआ आकाश उस समय अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥१३४-१३५॥ उन देवोंमें कितने ही देव विमानोंमें बैठे थे, कितने ही बैलोंपर, कितने ही रोझोंपर, कितने ही रथोंपर, कितने ही घोड़ोंपर, कितने ही अष्टापद और शार्दूलोंपर, कितने ही मगरोंपर, कितने ही ऊँटोंपर, कितने ही वराह और भैंसोंपर, कितने ही सिंहोंपर, कितने ही हरिणोंपर, कितने ही चीतोंपर, कितने ही हाथियोंपर, कितने ही सुरागायोंपर,

१. बोध्यतामिति म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुकान् परभृतान् क्रौञ्चान् कुरान् शिखिकुक्कुटान् । परे पारावतान् हंसान् सकारण्डवसारसान् ॥१३८॥
चक्रवाकबलाकौघान् वकादीन् समधिष्ठिताः । चतुर्देवनिकायास्ते सह जग्मुरितस्ततः ॥१३९॥
श्वेतच्छत्रैर्ध्वजैश्चित्रैश्चामरैः फेनपाण्डुरैः । कुर्वाणाः सर्वमाकाशं समाकीर्णं निरन्तरम् ॥१४०॥
भेरीदुन्दुभिशङ्खादिरवापूरितविष्टपम् । नृत्यगीतैर्युतं रेजे देवागमनमद्भुतम् ॥१४१॥
सौधर्मेन्द्रस्तदारूढो गजानीकाधिपं गजम् । ऐरावतं विकुर्वाणमाकाशाकारवद्वपुः ॥१४२॥
प्रोद्दंष्ट्रान्तरविस्फारिकरास्फारितपुष्करम् । प्रोद्दंशाङ्कुरमध्योद्यद्भोगीन्द्रमिव भूधरम् ॥१४३॥
कर्णचामरशङ्खाङ्कं कक्षानक्षत्रमालिनम् । बलाकाहंसविद्युद्भिरिव भ्रान्तं[1] महत्पथम्[2] ॥१४४॥
आरूढवारणेन्द्राणामिन्द्राणां निवहैर्युतः । जन्मक्षेत्रं जिनस्यासौ पवित्रं प्राप्तवान् सुरैः ॥१४५॥
नभसोऽवतरन्ती वै सा सुरासुरसंततिः । कुबेरकृतमद्राक्षीत् पुरं स्वर्गमिव क्षितौ ॥१४६॥
वप्रप्राकारपरिखापरिवेषमनोहरम् । सोद्यानकाननारामसरोवापीविराजितम् ॥१४७॥
इन्द्रनीलमहानीलवज्रवैडूर्यभित्तयः । प्रासादाः पद्मरागादिप्रभाढ्या यत्र रेजिरे ॥१४८॥
सुराणामसुराणां च तत्पुरश्रीविलोकिनाम् । मनोऽभूद्[3] दूरितोत्कण्ठं स्वर्गपातालजश्रियः ॥१४९॥
यतः साकमितं यत्प्राक् सुरासुरजगत्त्रयम् । पुरं तत्कीर्तिमत्तस्मात्साकेतमिति कीर्तितम् ॥१५०॥

कितने ही सामान्य हरिणोंपर, कितने ही श्याम हरिणोंपर, कितने ही गरुड़ोंपर, कितने ही तोताओं-पर, कितने ही कोकिलाओंपर, कितने ही क्रौंच पक्षियोंपर, कितने ही कुररोंपर, कितने ही मयूरों और मुर्गोंपर, कितने ही कबूतरों, हंसों, कारण्डव और सारसोंपर, कितने ही चकवा और बलाकाओंके समूहपर और कितने ही बगुला आदि जीवोंपर बैठे थे। इस प्रकार उस समय चारों निकायके देव इधर-उधर जा रहे थे ॥१३६-१३९॥ सफेद छत्रों, नाना प्रकारकी ध्वजाओं, और फेनके समान सफेद चमरोंसे समस्त आकाशको व्याप्त करते हुए वे चारों निकायके देव जहाँ-तहाँ चल रहे थे ॥१४०॥ भेरी, दुन्दुभि तथा शंख आदिके शब्दोंसे जिसने समस्त लोकको भर दिया था तथा जो नृत्य और गीतसे युक्त था, ऐसा वह देवोंका आश्चर्यकारी आगमन अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१४१॥ उस समय सौधर्मेन्द्र, हाथियोंकी सेनाके अधिपति तथा आकाशके समान अपने शरीरकी विक्रिया करनेवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ़ था ॥१४२॥ वह ऐरावत, दोनों खीसोंके बीच उठी हुई सूँड़के अग्रभाग फैलाये हुए था, अतएव जिसके बाँसोंके अंकुशोंके बीच सर्पराज ऊपरकी ओर उठ रहा था, ऐसे पर्वतके समान जान पड़ता था ॥१४३॥ वह ऐरावत ठीक आकाशके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार आकाश, बलाका, हंस और बिजलियोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वह हाथी भी कर्ण, चामर, शंख तथा कक्षामें लटकती हुई नक्षत्रमालासे युक्त था ॥१४४॥ अन्य—दूसरे गजराजोंपर बैठे हुए इन्द्रोंके समूहसे युक्त सौधर्मेन्द्र, समस्त देवोंके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान्के पवित्र जन्मक्षेत्रको प्राप्त हुआ ॥१४५॥ आकाशसे उतरती हुई उस सुर और असुरोंकी पंक्तिने पृथिवीपर कुबेरके द्वारा निर्मित नगरको ऐसा देखा मानो स्वर्ग ही हो ॥१४६॥ वह नगर धूलिके बन्धान, कोट और परिखाके चक्रसे मनोहर था तथा उद्यान, वन, आराम, सरोवर और वापिकाओंसे अलंकृत था ॥१४७॥ इन्द्रनील, महानील, हीरा और वैडूर्यमणिकी दीवालोंसे युक्त तथा पद्मराग आदि मणियोंकी प्रभासे परिपूर्ण वहाँके भवन अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१४८॥ उस नगरकी शोभा देखनेवाले सुर और असुरोंका मन स्वर्ग तथा पाताल सम्बन्धी शोभाके देखनेकी उत्कण्ठा दूर कर चुका था ॥१४९॥ क्योंकि सुर, असुर आदि तीनों जगत्के जीव वहाँ पहले एक साथ पहुँचे थे इसलिए वह कीर्तिशाली नगर उस समयसे 'साकेत' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥१५०॥

१. तान्तं म. । २. महत्पथम् म. । ३. दुरितोत्कण्ठ- म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः समं पुरं देवैस्त्रिःपरीत्य पुरंदरः । प्रविश्य जिनमानेतुमादिदेश शचीं शुचिम् ॥१५१॥
लब्धादेशा जनन्याः सा प्रविश्य प्रसवालयम् । सुखनिद्रां विधायान्यं शिशुं च सुरमायया ॥१५२॥
प्रणम्य जिनमादाय चकार करयोर्हरेः । तद्रूपातिशयं पश्यन् सहस्राक्षो न तृप्तिमैत्[1] ॥१५३॥
आरोप्य जिनमात्माङ्कमैरावतगजे स्थितः । सोऽत्यभादुदितादित्यः शिखरात्मेव नैषधः ॥१५४॥
छत्रच्छायापटच्छन्नं चामरोत्करवीजितम् । जिनं निनाय देवौघैः सुमेरुशिखरं हरिः ॥१५५॥
सप्रदक्षिणमागत्य पाण्डुकाख्यशिलातले । सिंहासने जिनं शक्रश्चक्रे नाकिनाम् ॥१५६॥
क्षुभितास्भोधिगम्भीरा भेरीपटहमर्दलाः । ताडिताः समुदङ्गाद्याः सुरैः शङ्खाश्च पूरिताः ॥१५७॥
जगुः किन्नरगन्धर्वाः स्त्रीभिस्तुम्बुरुनारदाः । सविश्वावसवो विश्वे चित्रं श्रोत्रमनोहरम् ॥१५८॥
ततं[2] च विततं चैव घनं सुषिरमप्यलम् । मनोहारि तदा देवैर्वाद्यते स्म चतुर्विधम् ॥१५९॥
हावभावाभिरामं च नृत्यमप्सरसामभूत् । अङ्गहारकृतासंगं शृङ्गारादिरसाद्भुतम् ॥१६०॥
इत्थं तत्र महानन्दे देवसंघैः[4] प्रवर्तिते । पूरिते प्रतिशब्दैश्च मन्दरे रुन्द्रकन्दरे ॥१६१॥
धृताऽऽकल्पेऽभिषेकार्थं सौधर्मेन्द्रे ससंभ्रमे । साष्टमङ्गलहस्तासु प्रशस्तामरभीरुषु[3] ॥१६२॥
संघटैः[4] सुरसंघातैर्महावेगैर्महाधनैः । सर्वदिक्षु गतैः क्षिप्रं क्षोभितः क्षीरसागरः ॥१६३॥

तदनन्तर देवोंके साथ-साथ उस नगरकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर सौधर्मेन्द्रने भीतर प्रवेश किया और पवित्र जिनेन्द्रको लानेके लिए इन्द्राणीको आज्ञा दी ॥१५१॥ इन्द्रकी आज्ञा पाते ही इन्द्राणीने माताके प्रसूतिगृहमें प्रवेश किया और देवकृत मायासे माताको सुखनिद्रामें निमग्न कर उसके पास मायामयी दूसरा बालक लिटा दिया ॥१५२॥ तत्पश्चात् प्रणाम करनेके बाद जिन-बालकको लेकर उसने इन्द्रके हाथोंमें सौंपा। इन्द्रने हजार नेत्र बनाकर उनका अतिशय सुन्दर रूप देखा फिर भी वह तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ ॥१५३॥ जिन-बालकको अपनी गोदमें रखकर ऐरावत हाथीपर बैठा हुआ सौधर्मेन्द्र उस समय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सूर्योदयसे सहित निषधाचलका शिखर ही हो ॥१५४॥ जो छत्रकी छायारूपी वस्त्रसे आच्छादित थे तथा जिनकी दोनों ओर चामरोंके समूह ढोले जा रहे थे, ऐसे जिन बालकको सौधर्मेन्द्र देव-समूहके साथ सुमेरुके शिखरपर ले गया ॥१५५॥ इन्द्रने पहले आकर देव-समूहके साथ मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा दी फिर पाण्डुक शिलापर स्थित सिंहासनपर जिन-बालकको विराजमान किया ॥१५६॥ उस समय देवोंने क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रके समान गम्भीर शब्दवाले भेरी, पटह, मर्दल तथा मृदंग आदि बाजे बजाये और शंख फूँके ॥१५७॥ किन्नर, गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद तथा विश्वावसु जातिके समस्त देव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ कानों एवं हृदयको हरनेवाले भाँति-भाँतिके गान गाने लगे ॥१५८॥ उस समय देव तत*, वितत, घन और सुषिर नामके चारों मनोहारी बाजे बजा रहे थे ॥१५९॥ हाव-भावसे सुन्दर, अंगहारोंसे युक्त तथा शृंगारादि रसोंसे आश्चर्य उत्पन्न करने-वाला अप्सराओंका नृत्य हो रहा था ॥१६०॥ इस प्रकार जब वहाँ देव-समूहके द्वारा महान् आनन्द मनाया जा रहा था, लम्बी-चौड़ी गुफाओंसे युक्त मेरु पर्वत उनकी प्रतिध्वनिसे गूँज रहा था, हर्षसे भरा सौधर्मेन्द्र अभिषेकके लिए योग्य वेष धारण कर रहा था, और उत्तम देवांगनाएँ अपने

१. प्राप ।
२. ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् ।
वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ अमरकोषस्य
३. मनोहरदेवस्त्रीषु । ४. संघटैः म. ।
* तारके बाजे वीणा आदिको तत कहते हैं । चमड़ेसे मढ़े हुए नवला मृदंग आदि वितत कहलाते हैं । झालर, झाँझ, मँजीरा आदि काँसेके बाजोंको घन कहते हैं और शंख, बाँसुरी आदि सुषिर कहलाते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीरापूर्णाः सुरैः क्षिप्ता राजताः करतः करम् । सौवर्णाश्च बभुः कुम्भाश्चन्द्रार्का इव मेरुगाः ॥१६४॥
कुम्भैर्निरन्तरारावैर्बहुदेवसहस्रकैः । क्षीराम्भोभिर्जिनेन्द्रस्य चक्रे जन्माभिषेचनम् ॥१६५॥
ऐन्द्राः कुम्ममहाम्भोदा दुग्धाम्भोऽन्तरवर्षिणः । शिशोर्जिनगिरेरासन्न तदाऽऽयासहेतवः ॥१६६॥
जिनोच्छ्वासमुहुः क्षिप्तक्षीरवारिप्लवेरिताः । प्लवन्ते स्म क्षणं देवाः क्षीरौघे मक्षिकौघवत् ॥१६७॥
दृष्टः सुरगणैर्यः प्राग् मन्दरो रत्नपिञ्जरः । स एव क्षीरपूरौघैर्धवलीकृतविग्रहः ॥१६८॥
तदाऽत्यन्तपरोक्षोऽपि प्रत्यक्षः क्षीरवारिधिः । कृतः खेचरसंघातैर्जिनजन्माभिषेचने ॥१६९॥
स्नानासनमभून्मेरुः स्नानवारिपयोम्बुधेः । स्नानसंपादका देवाः स्नानमीदृग् जिनस्य तत् ॥१७०॥
इन्द्रसामानिकानेकलोकपालादयोऽमराः । क्रमेण चक्रुरम्भोभिरभिषेकं पयोम्बुधेः ॥१७१॥
अत्यन्तसुकुमारस्य जिनस्य सुरयोषितः । शच्याद्याः पल्लवस्पर्शसुकुमारकरास्ततः ॥१७२॥
दिव्यामोदसमाकृष्टषट्पदौघानुलेपनैः । उद्वर्तयन्त्यस्ताः प्रापुः शिशुस्पर्शसुखं नवम् ॥१७३॥
ततो गन्धोदकैः कुम्भैरभ्यषिञ्चन् जगत्प्रभुम् । पयोधरभरानम्रास्ता वर्षा इव भूभृतम् ॥१७४॥
समं च चतुरस्रं च संस्थानं दधतः परम् । सुवज्रर्षभनाराचसंघातसुघनात्मनः ॥१७५॥
कर्णावक्षतकायस्य कथंचिद् वज्रपाणिना । विद्धौ वज्रघनौ तस्य वज्रसूचीमुखेन तौ ॥१७६॥
कृताभ्यां कर्णयोरीशः कुण्डलाभ्यामभात्ततः । जम्बूद्वीपः सुमानुभ्यां सेवकाभ्यामिवान्वितः ॥१७७॥

हाथोंमें अष्ट मंगल द्रव्य धारण कर रही थीं, तब महावेगशाली देवोंके समूह घट लेकर विशाल मेघोंके समान समस्त दिशाओंमें फैल गये और उन्होंने क्षीरसागरको क्षोभित कर दिया ॥१६१-१६३॥ क्षीरसे भरे चाँदी और सोनेके कलश देवों द्वारा एक हाथसे दूसरे हाथमें दिये जाकर सुमेरु पर्वतपर पहुँच रहे थे और वे चन्द्र तथा सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१६४॥ निरन्तर शब्द करनेवाले एवं क्षीरसागरके जलसे भरे हुए कलशोंके द्वारा हजारों देवोंने जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक किया ॥१६५॥ उस समय इन्द्रोंके कलशरूपी महामेघ जिनबालकरूपी पर्वतके ऊपर क्षीरोदककी वर्षा कर रहे थे परन्तु वे उन्हें रंचमात्र भी खेदके कारण नहीं हुए थे ॥१६६॥ भगवान्के श्वासोच्छ्वाससे बार-बार उछाले हुए क्षीरोदकके प्रवाहसे प्रेरित देव, उस क्षीरोदकके समूहमें क्षण-भरके लिए मक्खियोंके समूहके समान तैरने लगते थे ॥१६७॥ देवोंके समूहने पहले जिस मेरुको रत्नोंसे पीला देखा वही उस समय क्षीरोदकके पूरसे सफेद दिखने लगा था ॥१६८॥ यद्यपि क्षीरसागर अत्यन्त परोक्ष है तथापि जिनेन्द्रके जन्माभिषेकके समय देवोंके समूहने उसे प्रत्यक्ष कर दिखाया था ॥१६९॥ जिसमें मेरु पर्वत स्नानका आसन था, क्षीर समुद्रका क्षीर स्नान जल था, और देव स्नान करानेवाले थे ऐसा वह भगवान्का स्नान था ॥१७०॥ इन्द्र सामानिक तथा लोकपाल आदि अनेक देवोंने क्षीरसागरके जलसे भगवान्का क्रमपूर्वक अभिषेक किया था ॥१७१॥

तदनन्तर जिनके हाथ पल्लवोंके समान अत्यन्त सुकुमार थे, ऐसी इन्द्राणी आदि देवियोंने अतिशय सुकुमार जिन-बालकको अपनी दिव्य सुगन्धिसे भ्रमर-समूहको आकृष्ट करनेवाले अनुलेपनसे उबटन किया और इस तरह उन्होंने जिन-बालकके स्पर्शसे समुत्पन्न नूतन सुख प्राप्त किया ॥१७२-१७३॥ तदनन्तर पयोधरभार—मेघोंके भारसे नम्रीभूत वर्षा ऋतु जिस प्रकार पर्वतका अभिषेक करती है उसी प्रकार पयोधरभार—स्तनोंके भारसे नम्रीभूत देवियोंने सुगन्धित जलसे भरे कलशों द्वारा भगवान्का अभिषेक किया ॥१७४॥ जो परम सुन्दर समचतुरस्र संस्थानको धारण कर रहे थे तथा वज्रर्षभ नाराच संहननसे जिनका शरीर अत्यन्त सुदृढ़ था, ऐसे अक्षतकाय जिन-बालकके वज्रके समान मजबूत कानोंको इन्द्र वज्रमयी सूचीकी नोंकसे किसी तरह वेध सका था ॥१७५-१७६॥ तदनन्तर कानोंमें पहनाये हुए दो कुण्डलोंसे भगवान् उस तरह सुशोभित हो रहे थे जिस तरह कि सदा सेवा करनेवाले दो सूर्योंसे जम्बूद्वीप सुशोभित होता है ॥१७७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूलायां स्निग्धनीलायां पद्मरागमणिः कृतः । परभागमसौ लेभे हरिनीलमणौ[1] यथा ॥१७८॥
ललाटपट्टविन्यस्ता सितचन्दनचर्चिका । रराजार्द्धेन्दुरेखेव संध्यापीताभ्रवर्त्तिनी ॥१७९॥
सुरत्नहेमकेयूरभूषितौ च भुजौ मृदू । रेजतुः सफणारत्नाविव बालभुजङ्गमौ ॥१८०॥
प्रकोष्ठौ ज्येष्ठमाणिक्यकटकप्रकटप्रभौ । अमातां रत्नशैलस्य तटाविव सुराश्रितौ ॥१८१॥
स्थूलमुक्ताफलेनास्य रेजे हारेण हारिणा । वक्षःस्थलं महीध्रस्य निर्झरेणेव सत्तटम् ॥१८२॥
बभौ प्रालम्बसूत्रेण[2] भास्वद्रत्नमयेन सः । कल्पद्रुम इवाश्लिष्टः कान्तकल्पलतात्मना ॥१८३॥
विचित्रस्योपरिस्थेन कटिसूत्रेण वाससः । बभौ कटीतटीवाद्रेरभ्रस्य तडिदर्चिषा[3] ॥१८४॥
चरणौ मणिसंकीर्णरणच्चरणभूषणौ । परस्परसमालापं कुर्वाणाविव रेजतुः ॥१८५॥
मुद्रिकाभरणेनाभाद् रत्नहेमात्मना गलत्[4] । स्वाङ्गुलीबहुलावण्यरक्षामुद्रीकृतेन वा ॥१८६॥
दिग्धश्चन्दनपङ्केन कुङ्कुमस्थासकाचितः । संध्यापीताभ्रलेशाक्स्फटिकाद्रिरिवाबभौ[5] ॥१८७॥
उत्तरीयाम्बरं स्वच्छं हंसमालोज्ज्वलं सृतः । शुशुभेऽसौ शुभाकारः शरद्घन इवानघः ॥१८८॥
संतानपारिजातादिदेवलोकतरूद्भवैः । जलस्थलोद्भवैर्नानासुरभिप्रसवैः शुभैः ॥१८९॥
भद्रशालवनोद्भूतै रुन्द्रनन्दनसंभवैः । पुष्पैः सौमनसोद्भूतैः सपाण्डुकवनोद्भवैः ॥१९०॥

भगवान्की चिकनी एवं नीली चोटीपर धारण किया पद्मराग मणि, ऐसा वर्णोत्कर्षको प्राप्त हो रहा था मानो इन्द्रनील मणिके ऊपर ही धारण किया गया हो ॥१७८॥ भगवान्के ललाट पटपर बनायी हुई सफेद चन्दनकी खौर, सन्ध्याके पीले बादलोंके बीच वर्तमान अर्धचन्द्रकी रेखाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७९॥ उत्तम रत्नोंसे खचित स्वर्णमय बाजूबन्दोंसे सुशोभित उनकी दोनों कोमल भुजाएँ फणाके मणियोंसे सहित दो बाल सर्पोंके समान जान पड़ती थीं ॥१८०॥ उत्तम मणिमय कड़ोंसे जिनकी शोभा बढ़ रही थी ऐसी उनकी दोनों कलाइयाँ, देवोंसे आश्रित रत्नाचलके दो तटोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१८१॥ जिसमें बड़े-बड़े मोती लगे हुए थे ऐसे सुन्दर हारसे उनका वक्षःस्थल उस तरह सुशोभित हो रहा था जिस तरह कि झरनेसे किसी पर्वतका उत्तम तट सुशोभित होता है ॥१८२॥ देदीप्यमान रत्नोंसे निर्मित प्रालम्ब सूत्रसे भगवान् उस तरह सुशोभित हो रहे थे जिस तरह कि सुन्दर कल्पलतासे वेष्टित कल्पवृक्ष सुशोभित होता है ॥१८३॥ रंग-बिरंगे वस्त्रके ऊपर स्थित कटिसूत्रसे भगवान्की कटि ऐसी जान पड़ती थी मानो मेघके ऊपर स्थित बिजलीकी किरणसे शोभित किसी पर्वतकी तटी ही हो ॥१८४॥ जिनमें रुनझुन करनेवाले मणिमय आभूषण पहनाये गये थे, ऐसे उनके दोनों चरण परस्पर वार्तालाप करते हुएके समान जान पड़ते थे ॥१८५॥ रत्न-जटित स्वर्णमय मुदरियोंसे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अपनी अंगुलियोंसे टपकते हुए अत्यधिक सौन्दर्यकी रक्षाके निमित्त उनपर मुद्रा (मुहर) ही लगा दी हो ॥१८६॥ पहले तो भगवान्पर चन्दनका लेप लगाया और उसके ऊपर केशरके तिलक लगाये गये जिससे वे सन्ध्याकालके पीले-पीले मेघखण्डोंसे युक्त स्फटिकके पर्वतके समान सुशोभित होने लगे ॥१८७॥ स्वच्छ एवं हंसमालाके समान उज्ज्वल उत्तरीय वस्त्रको धारण किये हुए भगवान् शुभ आकारवाले, शरद्ऋतुके निर्मल मेघके समान जान पड़ते थे ॥१८८॥ उस समय माला बनानेके कौशलमें अत्यन्त निपुण देवांगनाओंके द्वारा सन्तानक, पारिजात आदि देवलोकके वृक्षोंसे उत्पन्न पुष्पोंसे, जलस्थल सम्बन्धी नाना प्रकारके शुभ सुगन्धित पुष्पोंसे तथा भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वनके पुष्पोंसे गूँथी हुई मुण्डमालाके अग्रभागको अलंकृत करनेवाली मालासे वे सुमेरुके आभूषण भगवान्

१. तनौ म. । २. 'कटिभागादवालम्ब्य प्रालम्बं सूत्रमुच्यते' ॥ इति क. पुस्तके टिप्पणी । ३. तडिदर्चिषः म. । ४. गलत् म., गलच्च तत्स्वाङ्गुली बहुलावण्यं च तस्य रक्षार्थं मुद्रीकृतेनेव (क. टि.) । ५. संध्याभ्रदभ्रलेशाक्त ख., घ., ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थितेन सुरस्त्रीभिर्माल्यकौशलचुञ्चुभिः । मण्डितो मुण्डमालाग्रमण्डनेनाद्रिमण्डनः ॥१९१॥
भद्रशालो जगत्युच्चैर्जगतामभिनन्दनः । सोऽभात्सौमनसोऽखण्डयशसा पाण्डुकः स्वयम् ॥१९२॥
विशेषको भुवामीशो विशेषकविभूषितः । विशेषतो बभौ देवविशेषकविभूषितः ॥१९३॥
शिशोर्निरञ्जनस्यास्ये स्वञ्जनाञ्जितलोचने । परं जितार्कचन्द्राभिदीप्तिकान्ती बभूवतुः ॥१९४॥
श्रीशचीकीर्त्तिलक्ष्मीभिः स्वहस्तैः कृतमण्डनः । स तथाऽऽखण्डलादीनां देवानामहरन्मनः ॥१९५॥
ततस्तमृषभं नाम्ना प्रधानपुरुषं सुराः । युगाद्यमभिधायेत्थं शक्राद्याः स्तोतुमुद्यताः ॥१९६॥
मतिश्रुतावधिश्रेष्ठचक्षुषा वृषभ ! त्वया । जातेन भारते क्षेत्रे द्योतितं भुवनत्रयम् ॥१९७॥
नृभवाभिमुखेनैव भवताऽद्भुतकर्मणा । आवर्जितं जगद् येन किं जातस्यैतदद्भुतम् ॥१९८॥
पादाधःस्थापितोत्तुङ्गमानश्रृङ्गमहागुरुः । महागुरुस्त्वमीशानां शैशवेऽप्यशिशुस्थितिः ॥१९९॥
अस्पृशन्तो भुवं सर्वां पादाग्रैः सुरपर्वताः । पादौ मुकुटकूटोच्चैःशिरोभिस्ते वहन्त्यमी ॥२००॥
मन्त्रशक्तिरियं किंनु प्रभुशक्तिस्तथाऽथवा । प्रोत्साहशक्तिराहोस्वित् किमप्यन्यन्महाद्भुतम् ॥२०१॥
पौरुषाधिकमानीतं त्वया नाथ जगत्त्रयम् । कथमेकपदे विश्वं विधिनेव विधीयताम् ॥२०२॥

अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१८९-१९१॥ वे भगवान् भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक इन चारों वन-स्वरूप सुशोभित थे। भद्रशाल इसलिए थे कि उनकी शाला अर्थात् प्रासाद भद्र अर्थात् उत्तम था। नन्दन इसलिए थे कि जगत्के सब जीवोंको अत्यधिक आनन्दित करनेवाले थे, सौमनस इसलिए थे कि उत्तम हृदयको धारण करनेवाले थे और पाण्डुक इसलिए थे कि वे स्वयं यशसे पाण्डुक—सफेद हो रहे थे ॥१९२॥ जो तीनों लोकोंमें विशेषक अर्थात् तिलकके समान श्रेष्ठ थे, जो विशेषकों अर्थात् तिलकोंके द्वारा सुशोभित थे और जो देव-विशेषक अर्थात् विशिष्ट देवोंके द्वारा विभूषित किये गये थे ऐसे भगवान् उस समय विशेष रूपसे शोभायमान हो रहे थे ॥१९३॥ यद्यपि जिन-बालक स्वयं निरंजन—कज्जल (पक्षमें पाप) से रहित थे तो भी उनके मुखपर जो नेत्र थे वे उत्तम अंजन—कज्जलसे अलंकृत थे और सूर्य तथा चन्द्रमाकी दीप्ति एवं कान्तिको जीतनेवाले थे ॥१९४॥ श्री, शची, कीर्ति तथा लक्ष्मी नामक देवियोंने अपने हाथोंसे उन्हें उस तरह अलंकृत किया था कि जिससे वे इन्द्रादिक देवोंका मन हरण करने लगे थे ॥१९५॥ तदनन्तर युगके आदिमें हुए उन प्रधान पुरुषका ऋषभ नाम रखकर इन्द्र आदि देव उनकी इस प्रकार स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए ॥१९६॥

हे ऋषभदेव ! मति, श्रुति और अवधिज्ञानरूपी श्रेष्ठ नेत्रोंको धारण करनेवाले आप यद्यपि भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैं फिर भी आपने तीनों लोकोंको प्रकाशमान कर दिया है ॥१९७॥ हे भगवान् ! जब आप मनुष्य-भवमें आनेके लिए सम्मुख ही थे तभी रत्नवृष्टि आदि अद्भुत कार्य दिखाकर आपने जगत्को आधीन कर लिया था फिर अब तो आप मनुष्य-भवमें स्वयं उत्पन्न हुए, अब आश्चर्यकी बात ही क्या है ? ॥१९८॥ हे नाथ ! बहुत बड़े शिखर (पक्षमें मानरूपी शिखर) से युक्त सुमेरु पर्वतको भी आपने अपने पैरके नीचे दबा दिया इसलिए आप समस्त स्वामियोंमें महागुरु—अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। और बालक अवस्थामें भी बालकों-जैसी आपकी चेष्टा नहीं है ॥१९९॥ जो देवरूपी पर्वत अपने चरणोंके अग्रभागसे कभी समस्त पृथिवीका स्पर्श भी नहीं करते वे ही देवरूपी पर्वत अपने मुकुटरूपी ऊँचे शिखरोंसे आपके दोनों चरणोंको धारण कर रहे हैं। सो यह क्या आपकी मन्त्र शक्ति है ? या प्रभु शक्ति है ? या उत्साह शक्ति है ? अथवा कोई दूसरा ही महान् आश्चर्य है ? भावार्थ—जो देव, देवत्वके अभिमानमें चूर होकर पृथिवीको तुच्छ समझते हैं वे ही आपको अपने शिरपर धारण कर रहे हैं, इससे आपका सर्वोपरि प्रभाव सिद्ध है॥२००-२०१॥ हे नाथ !

१. 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्व चेदं सौकुमार्यं ते क्व च कार्कश्यमीदृशम् । नाथान्योन्यविरुद्धार्थसंभवस्त्वयि दृश्यते ॥२०३॥
अष्टोत्तरसहस्रोच्चैर्लक्षणं व्यञ्जनाञ्चितम् । रूपं तवैतदाभाति भूसुरासुरदुर्लभम् ॥२०४॥
रूपातिशयतो लोके प्रथमश्चरमश्च[1] ते । विधत्ते प्रणतं विश्वं विग्रहो[2] विग्रहाद्[3] विना ॥२०५॥
हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि । हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे ततः ॥२०६॥
सह ज्ञानत्रयेणात्र तृतीयभवभाविना । स्वयंभूतो यतोऽतस्त्वं स्वयंभूरिति भाष्यसे ॥२०७॥
व्यवस्थानां विधाता त्वं भविता विविधात्मनाम्[4] । भारते यत्ततोऽन्वर्थं विधातेत्यभिधीयसे ॥२०८॥
अपूर्वः सर्वतो रक्षां कुर्वन् जातः पतिः प्रभो । प्रजानां त्वं यतस्तस्मात् प्रजापतिरितीर्यसे ॥२०९॥
औकन्तीक्षुरसं प्रीत्या बाहुल्येन त्वयि प्रभो । प्रजाः प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यसे ॥२१०॥
पूर्वः सर्वपुराणानां त्वं महामहिमा महान् । इह दीव्यसि यत्तेन पुरुदेव इतीष्यसे ॥२११॥
भरतासनमध्यास्य त्रैलोक्यैश्वर्यमर्जयत् । युज्यते तत्तवात्यल्पमनन्तैश्वर्ययोगिनः ॥२१२॥
त्वं विधाता स्वयंबुद्धस्तपसां दुष्करात्मनाम् । सचेता चेतसामुच्चैर्यशसां वाऽतिशायिनाम् ॥२१३॥
श्रेयसो दानधर्मस्य श्रेयोऽर्थं प्राणिनां मुनिः । भुवि दर्शयिता वीरः विशुद्धां पात्रतां स्वयम् ॥२१४॥
त्वमनङ्गभुजङ्गस्य मन्त्रो द्वेषद्विपाङ्कुशः । मोहाभ्रपटलभ्रान्तिभ्रंशहेतुः प्रभञ्जनः ॥२१५॥

पौरुषसे वशमें न होनेवाले तीनों जगत्को आपने कैसे विधिके समान एक साथ अपने आधीन कर लिया ? भावार्थ—जिस प्रकार विधि—नियति तीनों जगत्को अपने आधीन किये हुए है उसी प्रकार आपने भी तीनों जगत्को अपने आधीन कर लिया है, परन्तु यह कार्य पुरुषार्थ साध्य नहीं है, यह तो केवल आपकी अचिन्त्य आत्मशक्तिका ही प्रभाव है ॥२०२॥ हे नाथ ! कहाँ तो यह सुकुमारता ? और कहाँ ऐसी कठोरता ? हे प्रभो ! विरुद्ध पदार्थोंका सम्भव आपमें ही दीख पड़ता है ॥२०३॥ मनुष्य, देव और दानवोंके लिए दुर्लभ तथा एक हजार आठ व्यंजन और लक्षणोंसे युक्त आपका यह रूप अतिशय शोभायमान हो रहा है ॥२०४॥ हे भगवान् ! आपका शरीर चरम—पर्याय धारण करनेकी अपेक्षा अन्तिम है तथा रूपके अतिशयसे प्रथम है—सर्वश्रेष्ठ है और युद्धके बिना ही समस्त विश्वको नम्रीभूत कर रहा है ॥२०५॥ हे नाथ ! जब आप गर्भमें स्थित थे तभी सबको इष्ट हिरण्य—सुवर्णकी वृष्टि हुई थी इसलिए देव आपको हिरण्यगर्भ (हिरण्यं गर्भे यस्य सः) कहते हैं ॥२०६॥ हे प्रभो ! इस भवसे पूर्व तीसरे भवमें जो तीन ज्ञान प्रकट हुए थे उन्हींके साथ आप यहाँ स्वयं उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप स्वयम्भू कहे जाते हैं ॥२०७॥ क्योंकि आप भरत क्षेत्रमें नाना प्रकारकी व्यवस्थाओंके करनेवाले होंगे इसलिए आप विधाता इस सार्थक नामके धारी कहे जाते हैं ॥२०८॥ हे प्रभो ! आप सब ओरसे प्रजाकी रक्षा करते हुए अपूर्व ही प्रभु हुए हैं इसलिए आप प्रजापति कहलाते हैं ॥२०९॥ हे प्रभो ! आपके रहते हुए प्रजा बहुत प्रीतिसे इक्षुरसका आस्वादन करेगी इसलिए आप इक्ष्वाकु कहे जाते हैं ॥२१०॥ आप समस्त पुराण पुरुषोंमें प्रथम हैं, महामहिमाके धारक हैं, स्वयं महान् हैं और यहाँ अतिशय देदीप्यमान हैं इसलिए पुरुदेव कहलाते हैं ॥२११॥ हे भगवान् ! आपने भरतक्षेत्रके आसनपर आरूढ़ होकर तीन लोकका ऐश्वर्य उपार्जित किया है सो अनन्त ऐश्वर्यको धारण करनेवाले आपके लिए यह अत्यन्त तुच्छ बात है—आश्चर्यकी बात नहीं है ॥२१२॥ हे प्रभो ! आप स्वयं बुद्ध होकर अतिशय कठिन तपके करनेवाले हैं तथा उत्तम ज्ञान और बहुत भारी यशके संचेता हैं ॥२१३॥ हे विभो ! पृथिवीपर आप धीर-वीर मुनि बनकर प्राणियोंके लिए कल्याणकारी दान, धर्मकी श्रेष्ठता तथा स्वयं निर्दोष पात्रताको दिखलावेंगे । भावार्थ - आप मुनि बनकर लोगोंमें दान-धर्मकी प्रवृत्ति चलावेंगे तथा अपनी प्रवृत्तिसे प्रकट करेंगे कि निर्दोष पात्र कैसे होते हैं ? ॥२१४॥ हे भगवान् ! आप कामरूपी भुजंगको नष्ट

१. चरमस्य म. । २. शरीरं । ३. युद्धात् । ४. विधिनात्मनाम् म. । ५. आस्वादयन्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तस्तिमितध्यानसुप्तमीनमहाह्रदः । [1]बन्धानन्तरसंधानघातीन्धनहुताशनः ॥२१६॥
स्नेहानपेक्षकैवल्यप्रदीपोद्योतिताखिलः । देशको मोक्षमार्गस्य निसर्गाद् भविता भुवि ॥२१७॥
कालमष्टादशाम्भोधिकोटीकोटीप्रमाणकम् । धर्मनामनि निर्मूलं नष्टे सृष्टेह भारते ॥२१८॥
स्वर्गापवर्गमार्गस्य मार्गणे भव्यदेहिनाम् । दिग्मोहान्धधियां धीमान् जातस्त्वमुपदेशकः ॥२१९॥
जायन्तेऽभ्युदयश्रीशाश्रया[2] निःश्रेयसश्रियः । सांप्रतं भुवि भव्यौघा नाथ त्वदुपदेशतः ॥२२०॥
प्रमाणनयमार्गाभ्यामविरुद्धेन जन्तवः । त्वदुपज्ञेन मार्गेण प्राप्नुवन्तु पदं प्रियम् ॥२२१॥
प्रणन्तव्यः प्रयत्नेन स्तोतव्यस्त्वं हितार्थिनाम् । स्मर्तव्यः सततं नाथ जगतामुपकारकः ॥२२२॥
प्रणतेस्ते कृती कायो गुणिनो वाग्गुणस्तुतेः । प्राणिनां प्रणिधानेन गुणानां गुणवन्मनः ॥२२३॥
नमस्ते मृत्युमल्लाय नमस्ते भवभेदिने । नमस्ते जरसोऽन्ताय नमस्ते ध्वस्तकर्मणे ॥२२४॥
नमस्तेऽनन्तबोधाय नमस्तेऽनन्तदर्शिने । नमस्तेऽनन्तवीर्याय नमस्तेऽनन्तशर्मणे ॥२२५॥
नमस्ते लोकनाथाय नमस्ते लोकबन्धवे । नमस्ते लोकवीराय नमस्ते लोकवेधसे ॥२२६॥

करनेके लिए मन्त्र हैं, द्वेषरूपी हाथीको वश करनेके लिए अंकुश हैं तथा मोहरूपी मेघ-पटलके संचारको नष्ट करनेके लिए प्रचण्ड वायु हैं ॥२१५॥ हे स्वामिन् ! आप प्रशस्त तथा निश्चल ध्यानके द्वारा जिसमें मछलियाँ सो रही हैं ऐसे महासरोवरके समान हैं, तथा संवरको धारण कर आप घातिया कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिए अग्निस्वरूप हैं ॥२१६॥ हे नाथ ! तेलसे निरपेक्ष केवल-ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा जिन्होंने समस्त पदार्थोंको प्रकाशित कर दिया है ऐसे मोक्षमार्गके उपदेशक आप पृथिवीपर स्वभावसे ही होंगे ॥२१७॥ हे भगवन् ! इस भारतवर्षमें अठारह कोड़ाकोड़ी सागर तक धर्मका नाम निर्मूल नष्ट रहा अब आप पुनः उसकी सृष्टि करेंगे । भावार्थ—उत्सर्पिणीके चौथे, पाँचवें, छठे और अवसर्पिणीके पहले, दूसरे तथा तीसरे कालके अठारह कोड़ाकोड़ी सागर तक यहाँ भोग-भूमिकी प्रवृत्ति रही इसलिए भोगोंकी मुख्यता होनेसे यहाँ *चारित्ररूप धर्म नहीं रहा, अब आप पुनः उसकी प्रवृत्ति करेंगे ॥२१८॥ हे नाथ ! आप परम बुद्धिमान् हो तथा दिशाभ्रान्तिके कारण जिनकी बुद्धि अन्धी हो रही है ऐसे भव्य प्राणियोंके लिए आप स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए उपदेशक हुए हैं ॥२१९॥ हे नाथ ! इस समय आपके उपदेशसे भव्य जीवोंके समूह, संसारमें स्वर्ग लक्ष्मीके स्वामी तथा मोक्षलक्ष्मीके आश्रय होंगे ॥२२०॥ हे भगवन् ! आपके द्वारा चलाया हुआ मार्ग प्रमाण और नयमार्गके अविरुद्ध है, उसपर चलकर जगत्के प्राणी अपने प्रिय स्थानको प्राप्त करें ॥२२१॥ हे नाथ ! आप तीनों लोकोंका उपकार करनेवाले हैं इसलिए हितके इच्छुक जीवोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक नमस्कार करने योग्य, स्तुति करने योग्य और ध्यान करने योग्य हैं ॥२२२॥ हे प्रभो ! आपको प्रणाम करनेसे प्राणियोंका काय कृतार्थ हो जाता है, आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे उसकी वाणी सार्थक हो जाती है और आपका ध्यान करनेसे उनका मन गुणसहित हो जाता है ॥२२३॥ हे नाथ ! आप मृत्युको नष्ट करनेके लिए मल्ल हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप संसारको नष्ट करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप बुढ़ापेका अन्त करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप कर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥२२४॥ हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञानके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त दर्शनके धारक हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त-बलसे सहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२५॥ आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप समस्त जीवोंके बन्धु हैं इसलिए आपको

१. बन्धानन्तरा संवरः तस्य संधानं धारणं येन घातीन्धनस्य हुताशनः । २. श्रिया क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्ते जिनचन्द्राय नमस्ते जिनभानवे । नमस्ते जिनसार्वाय[1] नमस्ते जिनतायिने ॥२२७॥
इति स्तुतिशतैः स्तुत्वा नत्वा शतमखादयः । भक्तिस्त्वय्यस्तु शश्वेति शतशस्तं ययाचिरे ॥२२८॥
ततः सरमसोद्यातसुरसंघातसेनया । वृतः शैताध्वरो मेरोरुच्चचाल जिनान्वितः ॥२२९॥
[3]सुवर्णकर्णिकारोरुराशिपिञ्जरविग्रहम् । तमैरावतमारोप्य रौप्याद्रिमिव जङ्गमम् ॥२३०॥
तामयोध्यां परायोध्यां ध्वजमालाविभूषिताम् । वादित्रध्वनिधीरां स्वामध्यास्य ध्वजिनीमिव ॥२३१॥
पौलोम्या मातुरुत्सङ्गे स्थापयित्वा जिनं ततः । जनकौ प्रणिपत्याशु कृतनेपथ्यविग्रहः ॥२३२॥
नृत्यत्सुराङ्गनोल्लासिभास्वद्भुजवनावृतः । ननर्त्त ताण्डवारम्भचलद्विश्वम्भरो हरिः ॥२३३॥
चिरं प्रेक्षकयोरग्रे नटित्वाऽऽनन्दनाटकम् । पित्रोः कृत्वोचितं देवैः सहेन्द्रः स्वास्पदं ययौ ॥२३४॥
कोट्यस्तिस्रोऽर्द्धकोटी च वसुवृष्टिर्दिने दिने । मासान् पञ्चदशोत्पत्तेः प्राग् जिनस्यापतद्गृहे ॥२३५॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

प्राप्तोऽभिषेकममरेन्द्रगणैर्गिरीन्द्रे
प्राप्तः सुतस्त्रिभुवनेश्वर इत्युदारौ ।
प्राप्तौ महाप्रमदभारवशौ तदानीं
नाभिश्च नाभिवनिता च सुखं स्ववेद्यम् ॥२३६॥

नमस्कार हो, आप लोकमें अद्वितीय वीर हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप लोकके विधाता हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२६॥ हे जिन ! आप चन्द्रमारूप हो इसलिए आपको नमस्कार हो, हे जिन ! आप सूर्यस्वरूप हो इसलिए आपको नमस्कार हो, हे जिन ! आप सबका हित करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और हे जिन ! आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२७॥ इस तरह सैकड़ों प्रकारकी स्तुतियोंसे स्तुति कर तथा नमस्कार कर इन्द्र आदि देवोंने उनसे बार-बार यही याचना की कि हे भगवन् ! हमारी उत्तम भक्ति सदा आपमें बनी रहे ॥२२८॥

तदनन्तर शीघ्रगामी देवोंकी सेनासे घिरा हुआ इन्द्र, जिन-बालकको साथ ले मेरु पर्वतसे चला ॥२२९॥ सुवर्ण और कनेरके फूलोंकी राशिके समान पीत शरीरके धारक जिन-बालकको चलते-फिरते रजताचलके सदृश ऐरावत हाथीपर सवार कर वह अयोध्याकी ओर चला ॥२३०॥ जो शत्रुओंके द्वारा अयोध्या थी, ध्वजाओंकी पंक्तियोंसे सुशोभित थी, बाजोंकी ध्वनिसे व्याप्त थी तथा अपनी सेनाके समान जान पड़ती थी ऐसी अयोध्यामें पहुँचकर उसने जिन-बालकको इन्द्राणी-के द्वारा माताकी गोदमें विराजमान कराया। तदनन्तर माता-पिताको नमस्कार कर शीघ्र ही सुन्दर वेषभूषासे युक्त हो ताण्डव-नृत्य करना प्रारम्भ किया। उस समय वह इन्द्र, नृत्य करनेवाली देवांगनाओंसे सुशोभित सुन्दर भुजारूपी वनसे घिरा हुआ था और ताण्डव नृत्यके प्रारम्भमें ही उसने पृथिवीको कम्पायमान कर दिया था ॥२३१-२३३॥ भगवान्के माता-पिता इस नृत्यके दर्शक थे। उनके आगे चिर काल तक आनन्द नाटकका अभिनय कर तथा यथायोग्य उनका सत्कार कर इन्द्र देवोंके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥२३४॥ जिनेन्द्र भगवान्के जन्मसे पन्द्रह माह पूर्व प्रतिदिन उनके पिताके घर साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा आकाशसे पड़ती थी ॥२३५॥ 'हमारा पुत्र इन्द्रोंके समूह द्वारा सुमेरु पर्वतपर अभिषेकको प्राप्त हुआ है तथा तीनों लोकोंका स्वामी है' यह जानकर उस समय अतिशय उदार राजा नाभिराज और मरुदेवी महान् आनन्दके

१. जिनसर्वाय म.। २. इन्द्रः। ३. सुवर्णं च कर्णिकाराणि च तेषामुरुराशिस्तद्वत् पिञ्जरो विग्रहो यस्य तम् (क. टि.)। सुवर्णकर्णिकारोहराशि-म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर्गावतारजननाभिषवद्वितीय-
कल्याणवर्णनमिदं वृषभेश्वरस्य ।
भक्त्या सदा पठति योऽत्र शृणोति यश्च
कल्याणमेति स जनो जिनभास्करस्य ॥२३७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ऋषभनाथजन्माभिषेकवर्णनो नाम अष्टमः सर्गः ॥८॥

वशीभूत हो स्वसंवेद्य सुखको प्राप्त हुए ॥२३६॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि भगवान् वृषभदेवके स्वर्गावतार और जन्माभिषेक इन दो कल्याणकोंके इस वर्णनको जो भक्तिपूर्वक सदा पढ़ता है, अथवा जो सुनता है वह इस संसारमें जिन-सूर्यके ही समान कल्याणको प्राप्त होता है ॥२३७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें भगवान् ऋषभदेवके जन्माभिषेकका वर्णन करनेवाला आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवमः सर्गः

अथेन्द्रेण कराङ्गुष्ठे निषिक्तममृतं पिबन् । पित्रोर्नेत्रामृताहारं वितरन् वर्द्धते जिनः ॥१॥
[1]वृद्धः शीतमयूखस्य बालचन्द्रस्य दर्शनात् । प्रत्यहं वर्द्धमानस्य जगत्प्रमदसागरः ॥२॥
बालक्रीडामृतरसः पीयमानोऽप्यनारतम् । सुलभोऽपि विभोर्नाभूल्लोकलोचनतृप्तये ॥३॥
[2]कुमारः क्रीडितं चक्रे स शक्रप्रहितैर्हितैः[3] । प्रतिबिम्बैरिवात्मीयैर्हृद्यं देवकुमारकैः ॥४॥
मृदुशय्यासनं वस्त्रं भूषणं चानुलेपनम् । भोजनं वाहनं यानं तस्यासीद् देवनिर्मितम् ॥५॥
भक्त्या शक्राज्ञया चाभूद् [4]धनदो धनदोऽर्थतः[5] । वयःकालानुरूपेण वस्तुनाऽनुचरन् जिनम् ॥६॥
सहायैः सहजैः स्वच्छैः दिव्यैरिव कलागुणैः । संपूर्णो यौवनेनापि जिनश्चन्द्र इवाबभौ ॥७॥
तुङ्गांसौ सांगदौ वृत्तौ सुप्रकोष्ठौ महाभुजौ । परिष्वङ्गाय पर्याप्तौ त्रैलोक्यविपुलश्रियः ॥८॥
श्रीवत्सलक्षणेनोरुवक्षःस्थलमभाद् विभोः । [6]गाढोपगूढराज्यश्रीकुचाग्रोत्पीडितेन वा ॥९॥
सुश्लिष्टपदजङ्घोद्यगूढजानूरुदण्डयोः । वक्षःप्रासादसंस्तम्भस्तम्भयोः श्रीरभूत् परा ॥१०॥
केशकुन्तलभारोऽभान्नीलो हेमाचलस्य सः । छत्राकारे शिरस्युच्चैरिन्द्रनीलचयो यथा ॥११॥
श्रीर्ललाटस्य नासायाः सुकर्णोत्पलनालयोः । [7]सज्यचापभ्रुवोर्वापि वाचागोचरमत्यगात् ॥१२॥

अथानन्तर इन्द्रके द्वारा हाथके अँगूठेमें स्थापित अमृतको पीते तथा माता-पिताके नेत्रोंके लिए अमृतरूप आहार प्रदान करते हुए भगवान् जिनेन्द्र दिनोंदिन बढ़ने लगे ॥१॥ प्रतिदिन बढ़नेवाले जिन-बालकरूपी चन्द्रमाके देखनेसे संसारके समस्त प्राणियोंका आनन्दरूपी सागर वृद्धि-को प्राप्त होने लगा ॥२॥ यद्यपि भगवान्का बालक्रीड़ारूपी अमृतरस पिया जाता था और सबके लिए निरन्तर सुलभ भी था तो भी वह मनुष्योंके नेत्रोंकी तृप्तिके लिए पर्याप्त नहीं था। भावार्थ-- भगवान्की बालक्रीड़ा देखकर मनुष्योंके नेत्र सन्तुष्ट नहीं होते थे ॥३॥ जिन-बालक, इन्द्रके द्वारा भेजे हुए, हितकारी एवं अपने ही प्रतिबिम्बके समान दिखनेवाले देव-बालकोंके साथ मनोहर क्रीड़ा करते थे ॥४॥ भगवान्का कोमल बिस्तर, कोमल आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान आदि सभी वस्तुएँ देव निर्मित थीं ॥५॥ इन्द्रकी आज्ञानुसार अवस्था तथा ऋतुके अनुकूल वस्तुओंसे भक्तिपूर्वक भगवान्की सेवा करनेवाला धनद-कुबेर वास्तवमें ही धनद-धनको देनेवाला था ॥६॥ अपने सहज मित्रोंके समान स्वच्छ एवं दिव्य कलारूप गुणोंसे युक्त तथा यौवनसे परिपूर्ण जिनेन्द्र चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७॥ ऊँचे कन्धोंसे सुशोभित, बाजूबन्दोंसे युक्त गोल तथा उत्तम कलाइयोंसे सहित उनकी दोनों महाभुजाएँ त्रैलोक्यकी लक्ष्मीका आलिंगन करनेके लिए पर्याप्त थीं ॥८॥ भगवान्का विशाल वक्षःस्थल श्रीवत्स चिह्नसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अच्छी तरहसे आलिंगित राज्यलक्ष्मीके स्तनके अग्रभागसे ही पीड़ित हो ॥९॥ जिनके पैर और जंघाएँ अच्छी तरह मिली हुई थीं, जिनके घुटने मांसपेशियोंमें भीतर छिपे हुए थे और जो वक्षःस्थलरूप महलके आधारभूत स्तम्भोंके समान जान पड़ते थे ऐसे उनके दोनों ऊरुओंकी शोभा बहुत चढ़ी-बढ़ी थी ॥१०॥ भगवान्के छत्राकार शिरपर काले घुँघराले बालोंका समूह ऐसा जान पड़ता था मानो सुमेरुके ऊँचे शिखरपर इन्द्रनील मणियोंका समूह ही रखा हो ॥११॥ उनके ललाट, नाक, सुन्दर कानोंपर लगे हुए नील कमलोंकी नाल, और डोरी चढ़े धनुषकी समानता

---

१. वृद्धिगतः । २. कुमारक्रीडितं म. । ३. हितः म. । ४. कुबेरः । ५. धनदायकः । ६. मारोप-म. । ७. सज्ज-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रश्चन्द्रिकया रात्रौ दिवा दीप्त्या दिवाकरः । मुदे त्रिभुवने न स्यात् तस्य ताभ्यां तयोर्मुखम् ॥१३॥
पुण्डरीकस्य [1]पत्रेण नेत्रे श्रोत्रे सृते समे । पिण्डालक्तकरक्तं वा हस्तपादतलाधरम् ॥१४॥
शुद्धमौक्तिकसंघातघटितेव घनद्युतिः । कुन्दद्युतिमधाज्जैनी दन्तपङ्क्तिरदन्तुरा ॥१५॥
सनवव्यञ्जनशते सहाष्टशतलक्षणे । पञ्चचापशतोच्छ्राये तथा हेमाद्रिसंनिभे ॥१६॥
रूपशोभासमस्तेयं जिनस्य गदितुं सह । लेशेनापि न सा शक्या शक्रकोटिशतैरपि ॥१७॥
स जगत्त्रयरूपिण्या नन्दया च सुनन्दया । प्रौढयौवनया प्रौढश्रिकीड विधिनोढया[2] ॥१८॥
स गौरीश्यामयोर्मध्ये स्तबकस्तनयोस्तयोः । जगत्कल्पद्रुमोऽभासील्लतयोरङ्गलग्नयोः ॥१९॥
न सा कान्तिर्न सा दीप्तिर्न सा संपद् न सा कला । अस्यानयोश्च या नाऽभूत् तत्र सौख्यं किमुच्यताम् ॥२०॥
[3]भरताभिनन्दनं नन्दा नन्दनं चक्रवर्तिनम् । भरताख्यं सुतां ब्राह्मीमपि युग्ममसूत सा ॥२१॥
सुनन्दा बाहुबलिनं महाबाहुबलं सुतम् । तथैव [4]सुषुवे लोके सुन्दरामपि सुन्दरीम् ॥२२॥
अष्टानवतिरस्येति नन्दायां सुन्दराः सुताः । जाता वृषभसेनाद्या वेद्याश्चरमविग्रहाः ॥२३॥
अक्षरालेख्यगन्धर्वगणितादिकलार्णवम् । सुमेधानैः[5] कुमारीभ्यामवगाहयति स्म सः ॥२४॥

करनेवाली भौंहोंकी शोभा वचन मार्गको उल्लंघन कर चुकी थी ॥१२॥ तीनों लोकोंमें चन्द्रमा अपनी चाँदनीसे रात्रिमें ही आनन्द उत्पन्न करता है और सूर्य अपनी दीप्तिसे दिनमें ही लोगोंको आनन्द पहुँचाता है परन्तु भगवान्का मुख दिन-रातके भेदके बिना निरन्तर सबको आनन्द पहुँचाता था अतः वह न तो चन्द्रमाकी चाँदनीके समान था और न सूर्यकी दीप्तिके ही सदृश था ॥१३॥ उनके कानों तक लम्बे नेत्र कमलपत्रके समान थे और हथेलियाँ पदतल और अधरोष्ठ महावरके रंगके समान लाल थे ॥१४॥ शुद्ध मोतियोंके समूहसे बनी हुईके समान अत्यन्त चमकदार एवं ऊँचे-नीचे विन्याससे रहित उनकी दाँतोंकी पंक्ति कुन्दपुष्पकी शोभा धारण कर रही थी ॥१५॥ नौ सौ व्यंजन, और एक सौ आठ लक्षणोंसे सहित, पाँच सौ धनुष ऊँचे एवं हेमाचल—सुमेरुके समान उनके शरीरकी जो शोभा थी उस सबको यदि सैकड़ों करोड़ इन्द्र भी एक साथ कहना चाहें तो भी लेशमात्र नहीं कह सकते ॥१६-१७॥

जब भगवान् पूर्ण युवा हुए तब तीनों लोकोंकी अद्वितीय सुन्दरी प्रौढ़ यौवनवती नन्दा और सुनन्दाके साथ उनका विधिपूर्वक विवाह हुआ और उनके साथ वे क्रीड़ा करने लगे ॥१८॥ गुच्छोंके समान स्तनोंको धारण करनेवाली उन गौरांगी एवं नवयौवनवती नन्दा और सुनन्दाके बीचमें भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो अंगमें लगी हुई दो लताओंके बीचमें संसारके कल्पवृक्ष ही हों ॥१९॥ संसारमें न वह कान्ति थी, न दीप्ति थी, न सम्पत्ति थी, और न वह कला ही थी जो भगवान् ऋषभदेव और नन्दा-सुनन्दाको प्राप्त नहीं थी फिर उनके सुखका क्या वर्णन किया जाये ? ॥२०॥ नन्दाने भरतक्षेत्रको आनन्दित करनेवाले भरत नामक चक्रवर्ती पुत्रको और ब्राह्मी नामक पुत्रीको युगल रूपमें उत्पन्न किया ॥२१॥ और सुनन्दा नामक दूसरी रानीने महाबाहुबलसे युक्त बाहुबली नामक पुत्र तथा संसारमें अतिशय रूपवती सुन्दरी नामक पुत्रीको जन्म दिया ॥२२॥ भरत और ब्राह्मीके सिवाय भगवान्की सुनन्दा रानीके वृषभसेनको आदि लेकर अंठानबे पुत्र और हुए। उनके ये सभी पुत्र चरमशरीरी थे ॥२३॥ भगवान्ने अतिशय बुद्धिसे सम्पन्न अपने समस्त पुत्रोंके साथ-साथ ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों पुत्रियोंको भी अक्षर, चित्र, संगीत और गणित आदि कलाओंके सागरमें प्रविष्ट कराया था। भावार्थ—अपने समस्त पुत्र-पुत्रियोंको उन्होंने विविध कलाओंमें पारंगत किया था ॥२४॥

१. पात्रेण -म. । २. विधिवत्परिणीतया । ३. भरतक्षेत्रजनानन्दनम् । ४. सुष्ठुवे (?) म. । ५. सुमेधावी म. । सुष्ठु बुद्धिसंपन्नैः पुत्रैः सह (क. टि.) । ६. कुमाराभ्याम् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथान्यदा प्रजाः प्राप्ता नाभेयं नाभिनोदिताः । स्तुतिपूर्वं प्रणम्योचुरेकीभूय महार्त्तयः ॥२५॥
प्रभो कल्पद्रुमाः पूर्वं प्रजानां वृत्तिहेतवः । तेषां परिक्षयेऽभूवन् स्वयंच्युतरसेक्षवः ॥२६॥
दिव्येक्षुरसतृप्तानां रक्षितानां तवौजसा । प्रजानां नाथ ! दूरेण विस्मृताः कल्पपादपाः ॥२७॥
इदानीं छिन्नभिन्नाश्च न क्षरन्तीक्षवो रसम् । यान्ति कालानुभावेन मृदवोऽपि कठोरताम् ॥२८॥
फलभारवशान्नम्रा दृश्यन्ते तृणजातयः । न विद्मो वयमेतासिः कथमन्नविधिर्भवेत् ॥२९॥
सुरभीणां घटोघ्नीनां महिषीणां च संततम् । स्तनेभ्यो प्रक्षरद् भक्ष्यमभक्ष्यं वा तदुच्यताम् ॥३०॥
कण्ठाश्लेषोचिता[1]ः पूर्वं सिंहव्याघ्रवृकादयः । अस्मानुद्वेजयन्तीश[2] कुपुत्रा इव सांप्रतम् ॥३१॥
अतः क्षुधामहाग्रस्ता जीवनोपायदर्शनात् । स्वामिन्ननुगृहाणैता रक्षणाच्च भयात् प्रजाः ॥३२॥
ततो वीक्ष्य क्षुधाक्षीणाः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिः । कृत्वार्तिहरणं तासां दिव्याहारैः कृपान्वितः ॥३३॥
सर्वानुपदिदेशासौ प्रजानां वृत्तिसिद्धये । उपायान् धर्मकामार्थान् साधनान्यपि पार्थिवः ॥३४॥
असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमित्यपि । षट्कर्म शर्मसिद्ध्यर्थं सोपायमुपदिष्टवान् ॥३५॥
पशुपाल्यं ततः प्रोक्तं गोमहिष्यादिसंग्रह[3]म् । वर्जनं क्रूरसत्त्वानां सिंहादीनां यथायथम् ॥३६॥
ततः पुत्रशतेनापि प्रजया च कलागमः । गृहीतः सुगृहीतं च कृतं शिल्पिशतं जनैः ॥३७॥
पुरग्रामनिवेशाश्च ततः शिल्पिजनैः कृताः । सखेटकर्वटाख्याश्च सर्वत्र भरतक्षितौ ॥३८॥
क्षत्रियाः क्षतित्राणाद्[4] वैश्या वाणिज्ययोगतः । शूद्राः शिल्पादिसंबन्धाज्जाता वर्णास्त्रयोऽप्यतः ॥३९॥

अथानन्तर किसी समय बहुत भारी व्यथासे युक्त समस्त प्रजा, राजा नाभिराजसे प्रेरित हो एक साथ भगवान् वृषभदेवके पास पहुँची और स्तुतिपूर्वक प्रणाम कर कहने लगी ॥२५॥ हे प्रभो ! पहले, कल्पवृक्ष प्रजाकी आजीविकाके साधन थे, फिर उनके नष्ट होनेपर स्वयं ही जिनसे रस चू रहा था ऐसे इक्षु वृक्ष साधन हुए ॥२६॥ हे प्रजानाथ ! उन दिव्य इक्षु वृक्षोंके रससे प्रजा इतनी सन्तुष्ट हुई और आपके प्रतापने उसकी ऐसी रक्षा की कि उसने कल्पवृक्षोंको दूरसे ही भुला दिया ॥२७॥ परन्तु इस समय वे इक्षुवृक्ष छिन्न-भिन्न होनेपर भी रस नहीं देते हैं सो ठीक ही है क्योंकि समयके प्रभावसे कोमल भी कठोरताको प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥ यद्यपि फलोंके भारसे झुके हुए नाना प्रकारके तृण दिखाई देते हैं परन्तु हम लोग नहीं जानते कि इनसे अन्न कैसे प्राप्त किया जाता है ? ॥२९॥ घटके समान स्थूल स्तनोंको धारण करनेवाली गायों और भैंसोंके स्तनोंसे भी कुछ झर रहा है सो वह भक्ष्य है या अभक्ष्य यह कहिए ॥३०॥ जो सिंह, व्याघ्र तथा भेड़िया आदि पहले कण्ठालिंगन करनेके योग्य थे हे नाथ ! अब वे ही इस समय कुपुत्रोंके समान हम लोगोंको भयभीत कर रहे हैं ॥३१॥ इसलिए हे स्वामिन् ! क्षुधाकी तीव्र बाधासे ग्रस्त इस प्रजाको जीवन निर्वाहके उपाय दिखाकर तथा भयसे उसकी रक्षा कर अनुगृहीत कीजिए ॥३२॥ तदनन्तर दयालु भगवान्ने समस्त प्रजाको भूखसे व्याकुल देख पहले तो दिव्य आहारके द्वारा सबकी पीड़ा दूर की फिर आजीविकाके निर्वाहके लिए सब उपाय तथा धर्म, अर्थ और कामरूप साधनोंका उपदेश दिया ॥३३-३४॥ उन्होंने सुखकी सिद्धिके लिए अनेक उपायोंके साथ असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मोंका भी उपदेश दिया॥३५॥ तदनन्तर उन्होंने यह भी बताया कि गाय, भैंस आदि पशुओंका संग्रह तथा उनकी रक्षा करनी चाहिए और सिंह आदिक दुष्ट जीवोंका परित्याग करना चाहिए ॥३६॥ तदनन्तर भगवान्के सौ पुत्रों और प्रजाने कला शास्त्र सीखा, एवं लोगोंने सैकड़ों शिल्पी बनाकर उन्हें अपनाया ॥३७॥ जिससे शिल्पिजनोंने भरतक्षेत्रकी भूमिपर सब जगह गाँव, नगर तथा खेट, कर्वट आदिकी रचना की ॥३८॥ उसी समय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण भी उत्पन्न हुए। विनाशसे जीवोंकी रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय, वाणिज्य

१. कण्ठाश्लेषोदिताः म. । २. -तीशः म. । ३. संग्रहः म. । ४. क्षततस्त्राणात् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षड्भिः कर्मभिरासाद्य सुखितामर्थवत्तया । प्रजाभिस्तत्सुतुष्टाभिः प्रोक्तं कृतयुगं युगम् ॥४०॥
सेन्द्राः सुरास्तदागत्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् । नाभेयस्य प्रजानां ते सौस्थित्यं विदधुः परम् ॥४१॥
अयोध्येति विनीतेति विनीतजलसंकुला । साकेतेति च विख्याता पुरी रेजे तदाधिकम् ॥४२॥
इक्ष्वाकुक्षत्रियज्येष्ठज्ञातिज्ञा[1] लोकबन्धुना । भूमौ वृषभनाथेन स्थापितास्तेऽत्र रक्षणे ॥४३॥
कुरवः कुरुदेशेशा उग्रास्ते चोग्रशासनाः । न्यायेन पालनाद् भोजाः प्रजानामपरे मताः ॥४४॥
राजानश्च तथैवान्ये जाताः प्रकृतिरञ्जनाः । श्रेयःसोमप्रभाद्यैस्तैः कुरुपुत्रैस्तु भूरभात्[3] ॥४५॥
दिव्यान् भोगान् सुरानीतान् भुञ्जानस्य जगद्गुरोः । पूर्वलक्षास्त्र्यशीतिश्च जग्मुराजन्मनस्ततः ॥४६॥
सोऽथ नीलांजसां[4] दृष्ट्वा नृत्यन्तीमिन्द्रनर्तकीम् । बोधस्यो[5]भिनिबोधस्य निर्विवेदोपयोगतः ॥४७॥
ये रागहेतवो बाह्या भावाः प्रागभवन् भुवि । ते स्युरन्तर्निमित्तस्य शमे प्रशमहेतवः ॥४८॥
य एव विषया रम्या मतिविभ्रमकारिणः । प्रशमानुगुणे काले त एव स्युः शमावहाः ॥४९॥
स दध्यौ च स्वयं बुद्धो व्यावृत्तविषयस्पृहः । चिरं भोगसमासक्त्या लज्जितात्मात्मनात्मनः ॥५०॥
अहो परमवैचित्र्यं संसारस्य शरीरिणाम् । यत्र कर्मविधेयानामन्ये यान्ति विधेय[6]ताम् ॥५१॥
सद्भावं दर्शयन्तीयमतिनृत्यति नर्तकी । हावभावरसप्रायं विचित्राभिनयाङ्किका ॥५२॥
तोषिते मयि नृत्येन[7] शक्रः स्यात् किल तोषितः । ततस्तु सुखितामेषा संमोहादतिमन्यते ॥५३॥

व्यापारके योगसे वैश्य और शिल्प आदिके सम्बन्धसे शूद्र कहलाये ॥३९॥ उस समय असि, मषी आदि छह कर्मोंके द्वारा प्रजाने वास्तविक सुख प्राप्त किया और अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उसने उस युगको कृतयुग कहा ॥४०॥ उसी समय इन्द्र सहित समस्त देवोंने आकर तथा भगवान् वृषभदेवका राज्याभिषेक कर प्रजाको परम सुखी किया ॥४१॥ उस समय विनयी मनुष्योंसे व्याप्त अयोध्या, विनीता और साकेता नामसे प्रसिद्ध, भगवान्‌की जन्मपुरी अधिक सुशोभित हो रही थी ॥४२॥ जो इक्ष्वाकु क्षत्रियोंमें वृद्ध तथा जाति व्यवहारके जाननेवाले थे, उन्हें लोकबन्धु भगवान् वृषभदेवने यहाँ रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ॥४३॥ जो कुरु देशके स्वामी थे वे कुरु, जिनका शासन उग्र-कठोर था वे उग्र और जो न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते थे वे भोज कहलाये ॥४४॥ इनके सिवाय प्रजाको हर्षित करनेवाले अनेक राजा और भी बनाये गये। उस समय श्रेयान्स तथा सोमप्रभ आदि कुरुवंशी राजाओंसे यह भूमि अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥४५॥ तदनन्तर देवोपनीत दिव्य भोगोंको भोगते हुए भगवान्‌के जन्मसे लेकर तेरासी लाख पूर्व व्यतीत हो गये ॥४६॥

अथानन्तर किसी समय नृत्य करती हुई इन्द्रकी नीलांजसा नामक नर्तकीको देख, मति-ज्ञानका उस ओर उपयोग जानेसे भगवान् ऋषभदेव विरक्त हो गये ॥४७॥ इस संसारमें जो पदार्थ पहले रागके कारण थे वे ही पदार्थ अब अन्तरंग निमित्तके शान्त हो जानेपर शान्तिके कारण हो गये ॥४८॥ जो विषय पहले बुद्धिमें विभ्रम उत्पन्न करनेवाले थे वे ही विषय अब शान्तिके अनुकूल समयके आनेपर शान्तिके उत्पादक हो गये ॥४९॥ जिनकी भोगाभिलाषा दूर हो चुकी थी, तथा चिरकाल तक भोगोंमें आसक्त रहनेके कारण जिनकी आत्मा स्वयं अपने आपसे लज्जित हो रही थी ऐसे भगवान् वृषभदेव अपने मनमें विचार करने लगे कि अहो ! संसारके जीवोंकी बड़ी विचित्रता देखो, इस संसारके जीव स्वयं कर्मोंके आधीन हैं और दूसरे जीव उनकी आधीनताको प्राप्त हो रहे हैं ॥५०-५१॥ अभिनयके विविध अंगोंसे युक्त यह नर्तकी समीचीन भावको दिखाती हुई हाव-भाव तथा रसपूर्वक इस अभिप्रायसे अधिक नृत्य कर रही है कि मेरे नृत्यसे भगवान् प्रसन्न होंगे, उनके प्रसन्न होनेपर इन्द्र प्रसन्न होगा और इन्द्रकी प्रसन्नतासे मैं अधिक सुखी हो सकूँगी।

१. ज्येष्ठा ज्ञातिज्ञा म., ज्येष्ठज्ञातिना क. । २. कुरुदेशेऽसावुग्रस्ते म. । ३. -रभूत् म. । ४. नीलजसां म. । ५. बोधस्यापि म. । ६. विधीयतां म. । ७. नृत्तेव म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धिग् जन्तोः परतन्त्रस्य[1] सुखानुभवनस्पृहाम् । पराराधनसक्तस्य यन्मनः सततोत्कुलम् ॥५४॥
यत्स्वतन्त्राभिमानस्य सुखं तदपि किं सुखम् । स्वकर्मपरतन्त्रस्य भोगतृष्णाकुलात्मनः ॥५५॥
आत्माधीनं यदत्यन्तमात्माधीनस्य यत्सुखम् । नेन्द्रियार्थपराधीनं[2] पराधीनस्य कर्मभिः ॥५६॥
नानन्तेनापि कालेन नृसुरासुरभोगकैः । तृप्तिर्जीवस्य संसारे नद्योघैरिव वारिधेः ॥५७॥
महाबलस्य विद्येशो[3] ललिताङ्गस्य नाकिनः । वज्रजङ्घनरेन्द्रस्य तथोत्तरकुरुस्थितेः ॥५८॥
श्रीधरस्य सुरेशस्य सुविधेरच्युतस्थितेः । वज्रनाभेश्च सर्वार्थसिद्धिदेवस्य पश्यतः ॥५९॥
न तृप्तिस्तैरभूद् भोगैर्दिव्यैश्चिरनिषेवितैः । यस्य तस्याद्य किं सा स्यात् सुलभैर्विपुलैरपि ॥६०॥
तस्मात् सांसारिकं सौख्यं त्यक्त्वान्ते दुःखदूषितम् । मोक्षसौख्यपरिप्राप्त्यै प्रविशामि तपोवनम् ॥६१॥
त्रिज्ञानोपचितो[4] राज्ये स्थितोऽहमितरो यथा । कालोपेक्षणमेतद्धि कालो हि दुरतिक्रमः ॥६२॥
ज्ञातपूर्वभवे तस्मिन्निति ध्यानपरे जिने । ब्रह्मलोकालया[5] ज्ञात्वा लौकान्तिकसुरास्तदा ॥६३॥
कुर्वाणश्चन्द्रसंकाशाश्चन्द्राकीर्णमिवाम्बरम् । नत्वा सारस्वतादित्यप्रमुखाः प्रोचुरीश्वरम् ॥६४॥
साधु नाथ ! यथाख्यातं स्वपरार्थहितं तथा । क्रियतां वर्तते कालो धर्मतीर्थप्रवर्तने ॥६५॥
चतुर्गतिमहादुर्गे दिग्मूढस्य प्रभो दृढम् । मार्गं दर्शय लोकस्य मोक्षस्थानप्रवेशकम् ॥६६॥
विच्छिन्नसंप्रदायस्य[6] मन्त्रस्येव चिरं प्रभो । सिद्धिमार्गस्य विश्वेश ! कुरु द्योतनमुद्यतः ॥६७॥

परन्तु यह भ्रान्तिवश ऐसा मान रही है ॥५२-५३॥ पराधीन प्राणीकी जो सुखोपभोगकी इच्छा है उसे धिक्कार है क्योंकि पराधीन मनुष्यका मन निरन्तर आकुल रहता है ॥५४॥ और अपने आपको स्वतन्त्र माननेवालेका जो सुख है वह भी क्या सुख है ? क्योंकि वह भी तो अपने कर्मोंके परतन्त्र है तथा भोगोंकी तृष्णासे उसकी आत्मा व्याकुल रहती है ॥५५॥ आत्माधीन मनुष्यका जो सुख है वह आत्माके ही आधीन होनेसे अन्तातीत है और कर्माधीन मनुष्यका सुख इन्द्रिय-विषयोंके आधीन होनेसे अन्तातीत नहीं है ॥५६॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार इस संसारमें मनुष्य सुर तथा असुरोंके सुखोंसे अनन्तकालमें भी जीवकी तृप्ति नहीं हो सकती ॥५७॥ मैं पहले विद्याधरोंका राजा महाबल था, फिर ललितांग देव हुआ, फिर वज्रजंघ राजा हुआ, फिर उत्तरकुरुमें आर्य हुआ, फिर श्रीधर देव हुआ, फिर सुविधि राजा हुआ, फिर अच्युतेन्द्र हुआ, फिर वज्रनाभि हुआ और फिर सर्वार्थसिद्धिका देव हुआ। चिरकाल तक भोगे हुए उन दिव्य भोगोंसे जिसे उस समय तृप्ति नहीं हुई उसे आज भले ही जो सुलभ और अधिक हों इन भोगोंसे क्या तृप्ति हो सकती है ? ॥५८-६०॥ इसलिए जो अन्तमें दुःखसे दूषित है ऐसे सांसारिक सुखको छोड़कर मैं मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके लिए तपोवनमें प्रवेश करता हूँ ॥६१॥ हाय, मैं मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे युक्त होकर भी साधारण मनुष्यके समान राज्यमें स्थित रहा; यह मेरी समयकी उपेक्षा ही है अर्थात् मैंने व्यर्थ बीतते हुए समयकी ओर दृष्टि नहीं दी। यथार्थमें समयका उल्लंघन करना कठिन है—जिस समय जो जैसा होनेवाला है वैसा ही होता है ॥६२॥ पूर्व भवोंको जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान् जब इस प्रकारका ध्यान कर रहे थे तब ब्रह्मलोकके वासी सारस्वत, आदित्य आदि लौकान्तिक देव यह ज्ञात कर यहाँ आये। वे चन्द्रमाके समान थे अतः आकाशको चन्द्रमाओंसे व्याप्त जैसा करते हुए आये और नमस्कार कर भगवान्से बोले ॥६३-६४॥ हे नाथ ! ठीक है, जिससे स्वपर कल्याण हो वही कीजिए। धर्म-तीर्थके प्रवर्तनका यही समय है ॥६५॥ हे प्रभो ! यह संसार चतुर्गतिरूप महावनमें दिशाभ्रान्त हो रहा है इसे आप मोक्ष-स्थानमें प्रवेश करानेवाला मार्ग दिखलाइए ॥६६॥ हे प्रभो ! हे जगदीश्वर ! मन्त्रकी तरह

१. सुरभ्रानुवनस्पृहं (?) म.। २. तदिन्द्रियार्थपराधीन -म.। ३. विद्यानाम् ईट् विद्येट् तस्य। ४. विज्ञानोपचिते म.। ५. पारम्पर्येणोपदेशः संप्रदायो गुरुक्रम इत्यभिधानात् (क. टि.)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःखत्रयमहावर्त्ते[1] दोषत्रयमहोरगे । भ्रमतां भव भर्तस्त्वं कर्णधारो भवोदधौ ॥६८॥
त्वं संसारमहाचक्राद्भ्रमतो वेगशालिनः । उपदेशकरेणाशु विश्वमुत्तारय[2] प्रभो ॥६९॥
विश्रमन्त्वधुना गत्वा सन्तस्त्वद्दर्शिताध्वना । ध्वस्तजन्मश्रमा[3] नित्यसौख्ये त्रैलोक्यमूर्धनि ॥७०॥
कोत्थां लौकान्तिकैर्वाचः स्वयंबुद्धस्य तस्य ताः । पूजार्थमेव[4] संजाताः पत्युरापो यथा ह्यपाम् ॥७१॥
सुत्रामाद्यैश्च संप्राप्तैश्चतुर्विधसुरैर्नतैः । प्रोक्तं लौकान्तिकैः प्राक्तं यत्तदेव मुहुर्मुहुः ॥७२॥
ऋषभोऽभात् स्वयंबुद्धो बोधितो विबुधैः करैः[5] । मानोः प्रबुद्धपद्मौघो यथा पद्ममहाह्रदः ॥७३॥
धीरपुत्रशतस्यासौ प्रविभक्तवसुंधरः । कृती दशशतस्येव कराणां रविराबभौ ॥७४॥
अभिषिक्तस्ततो देवैः क्षीराणर्वजलैर्जिनः । दिग्धो गन्धैर्वरैर्वस्त्रैर्भूषामाल्यैर्विभूषितः ॥७५॥
दत्तास्थानो नृपैर्देवैर्वृतोऽभ्रान्मणिभूषणैः[6] । पूर्वापरायतैर्मेरुर्यथाऽसौ कुलभूधरैः ॥७६॥
अथ वैश्रवणो दिव्यां निर्ममे शिबिकां नवाम् । नाम्ना सुदर्शनां भूरिशोभयाऽपि सुदर्शनाम् ॥७७॥
ताराभरत्नजातीनां प्रभाभिरतिभास्वरा । मण्डलाकृतिभिर्भ्राभ्रधवलातपवारणा ॥७८॥

चिरकालसे जिसकी परम्परा टूट चुकी है ऐसे मोक्षमार्गका आप फिरसे प्रकाश कीजिए ॥६७॥ हे स्वामिन् ! जो जन्म, जरा, मरण इन तीन दुःखरूपी भँवरोंसे युक्त है, तथा राग, द्वेष, मोह ये तीन दोषरूपी बड़े-बड़े सर्प जिसमें निवास कर रहे हैं ऐसे इस संसाररूपी सागरमें भ्रमण करनेवाले—गोता खानेवाले जीवोंके लिए आप कर्णधार होइए ॥६८॥ हे प्रभो ! आप उपदेशरूपी हाथके द्वारा इस वेगशाली घूमते हुए संसाररूपी महाचक्रसे सबको उतारो—सबकी रक्षा करो ॥६९॥ इस समय सत्पुरुष आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्गसे चलकर तथा जन्म सम्बन्धी थकावटको दूर कर नित्य सुखसे सम्पन्न तीन लोकके शिखरपर विश्राम करें ॥७०॥ जिस प्रकार समुद्रके लिए चढ़ाया हुआ जल केवल उसकी पूजाके लिए है उसी प्रकार स्वयं ही प्रतिबोधको प्राप्त हुए भगवान्के लिए लौकान्तिक देवोंके वचन केवल पूजाके लिए ही थे। भावार्थ—लौकान्तिक देवोंके उपदेशके पहले ही भगवान् विरक्त हो चुके थे इसलिए उनके वचन केवल नियोग पूर्तिके लिए ही थे ॥७१॥ उसी समय इन्द्रको आदि लेकर चारों निकायके देव आ पहुँचे। उन्होंने भी नमस्कार कर वही कहा जो कि लौकान्तिक देवोंने इनके पूर्व बार-बार कहा था ॥७२॥ देवोंके द्वारा सम्बोधित स्वयंबुद्ध भगवान् ऋषभदेव, उस समय, जिसका कमल-समूह सूर्यकी किरणोंसे खिल उठा है ऐसे महा-सरोवरके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७३॥ धीर-वीर सौ पुत्रोंके लिए जिन्होंने पृथिवीका विभाग कर दिया था ऐसे कृतकृत्य भगवान् उस समय, एक हजार किरणोंके लिए अपना तेज वितरण करनेवाले सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७४॥ तदनन्तर देवोंने क्षीर समुद्रके जलसे जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक किया, उत्तम गन्धसे लेपन किया और उत्तमोत्तम वस्त्र, आभूषण तथा मालाओंसे उन्हें विभूषित किया ॥७५॥ सभामें विराजमान तथा मणिमय आभूषणोंसे विभूषित देव और राजाओंसे घिरे हुए भगवान् उस समय पूर्व-पश्चिम लम्बे कुलाचलोंसे घिरे हुए सुमेरुके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७६॥

अथानन्तर कुबेरने एक नूतन दिव्य पालकी बनायी जो नामकी अपेक्षा सुदर्शना थी और अत्यधिक शोभासे भी सुदर्शना—सुन्दर थी ॥७७॥ वह पालकी आकाश अथवा उत्तम स्त्रीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार आकाश (ताराभरत्नजातीनां प्रभाभिरतिभास्वरा) तारा और श्रेष्ठ नक्षत्रोंकी प्रभासे अतिशय देदीप्यमान होता है, तथा उत्तम स्त्री नेत्रोंकी पुतलियों और नक्षत्रोंके समान देदीप्यमान रत्नोंकी प्रभासे उज्ज्वल होती है उसी प्रकार वह पालकी भी ताराओंके समान आभावाले रत्नोंकी प्रभासे अतिशय देदीप्यमान थी। जिस प्रकार आकाश

१. मुत्तरय म. । २. विश्राम-म. । ३. नित्यं सौख्ये म. । ४. पूर्वार्थमेव म. । ५. सुरैः म. । ६. -रभून्मणि-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चलच्चामरसंघातहंसमालांशुकोज्ज्वला । आदर्शमण्डलाखण्डदीप्तिदिङ्मुखमण्डला ॥७९॥
बुद्बुदापाण्डुगण्डान्ता मूर्धचन्द्रालिकाकृतिः । संध्याभ्रखण्डसंरक्तविस्फुरद्विद्रुमाधरा ॥८०॥
पतज्जललवस्वच्छमुक्तादशनशोभिता । शुभकेतुपताकालीलीलाभुजलतोज्ज्वला ॥८१॥
दिङ्नागनासिका[2] जङ्घारम्भास्तम्भोरुशोभिनी । चित्रस्त्रीतारकालोका जगतीजघनस्थला ॥८२॥

(मण्डलाकृतिशुभ्राभ्र-धवलातपवारणा) मण्डलाकार सफेद मेघोंसे उज्ज्वल तथा सन्तापको दूर करनेवाला होता है और उत्तम स्त्री मण्डलाकार सफेद मेघावलीके समान उज्ज्वल और सन्तापको हरनेवाली होती है; उसी प्रकार वह पालकी भी मण्डलाकार सफेद मेघके समान उज्ज्वल छत्रसे युक्त थी ॥७८॥ जिस प्रकार आकाश (चलच्चामरसंघात-हंसमालांशुकोज्ज्वला) चंचल चमरोंके समूहके समान उड़ती हुई हंसमालासे देदीप्यमान तथा उज्ज्वल होता है, और उत्तम स्त्री चंचल चमरोंके समूह तथा हंसपंक्तिके समान सफेद वस्त्रोंसे युक्त होती है, उसी प्रकार वह पालकी भी हंसमालाके समान चंचल चमर और वस्त्रोंसे उज्ज्वल थी। जिस प्रकार आकाश (आदर्श-मण्डलाखण्डदीप्तिदिङ्मुखमण्डला) दर्पण तलके समान अखण्ड दीप्तिसे युक्त दिशाओंसे सहित होता है, और उत्तम स्त्रीका मुखमण्डल दर्पण तलकी अखण्ड दीप्तिसे देदीप्यमान दिशाके समान भास्वर होता है उसी प्रकार वह पालकी भी दर्पणोंके समूहसे समस्त दिशाओंको अखण्ड प्रतिभासित करनेवाली थी ॥७९॥ जिस प्रकार आकाश (बुद्बुदापाण्डुगण्डान्ता) जलके बबूलोंके समान सफेद प्रदेशोंसे युक्त होता है, और उत्तम स्त्रीके कपोल चन्दनकी बिन्दुओंसे सफेद होते हैं उसी प्रकार उस पालकीके छज्जोंका चौगिर्द प्रदेश भी बुद्बुदाकार मणिमय गोलकोंसे सफेद था। जिस प्रकार आकाश (मूर्धचन्द्रालिकाकृतिः) ऊपर विद्यमान चन्द्रमासे युक्त होता है और उत्तम स्त्री मस्तक तथा चन्द्राकार ललाटसे युक्त होती है उसी प्रकार वह पालकी भी ऊपर तनी हुई चाँदनीसे सहित थी। जिस प्रकार आकाश (संध्याभ्रखण्डसंरक्त-विस्फुरद्विद्रुमाधरा) लाल-लाल चमकते हुए मूँगोंके समान सन्ध्याके लाल-लाल मेघखण्डोंको धारण करता है और उत्तम स्त्रीका अधरोष्ठ सन्ध्याकालीन मेघखण्ड तथा चमकते हुए लाल मूँगेके समान होता है, उसी प्रकार वह पालकी भी सन्ध्याकालीन मेघखण्डके समान लाल चमकदार मूँगाको धारण कर रही थी ॥८०॥ जिस प्रकार आकाश (पतज्जललवस्वच्छमुक्तादशनशोभिता) स्वच्छ मोतियों तथा दाँतोंके समान उज्ज्वल पड़ती हुई जलकी बूँदोंसे शोभित होता है और उत्तम स्त्री पड़ते हुए जलकण तथा उज्ज्वल मोतियोंके समान दाँतोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार वह पालकी भी पड़ते हुए जलकणोंके समान स्वच्छ मोतियोंके जड़ावसे सुशोभित थी। जिस प्रकार आकाश (शुभ्रकेतुपताकालीलीलाभुजलतोज्ज्वला) सुन्दर भुजलताओंके समान केतुके शुभ विमानपर फहराती हुई पताकाओंकी पंक्तिसे सुशोभित होती है और उत्तम स्त्री शुभध्वजदण्डसे युक्त पताकाओंकी पंक्तिके समान चंचल भुजलताओंसे उज्ज्वल होती है, उसी प्रकार वह पालकी भी उत्तम ध्वजापताकाओं और सुन्दर भुजाओंकी तुलना करनेवाली लताओंसे सुशोभित थी ॥८१॥ जिस प्रकार आकाश (दिग्नागनासिकाजङ्घारम्भास्तम्भोरुशालिनी) दिग्गजोंकी सूँड़ों और केलाके स्तम्भोंके समान सुशोभित उनकी मोटी-मोटी जंघोंसे अत्यधिक शोभित होता है और उत्तम स्त्री दिग्गजोंकी सूँड़के समान जंघाओं और केलाके स्तम्भोंके समान सुन्दर ऊरुओंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार वह पालकी भी दिग्गजोंकी सूँड़ों और स्त्रियोंकी जंघाओंकी समानता करनेवाले केलेके स्तम्भोंसे अत्यधिक सुशोभित थी। जिस प्रकार आकाश (चित्रस्त्रीतारकालोका) चित्रा नक्षत्रके आलोकसे युक्त होता है, और उत्तम स्त्री चित्रा नक्षत्र तथा ताराके समान

१. दीप्त म.। २. वासिता म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वारिधारास्फुरद्धाराशुम्भत्कुम्भपयोधरा । तारापुष्पवती रम्या सुनक्षत्रबृहत्फला ॥८३॥
सुनीलघनकेशाऽसौ कुबेरेण सुदर्शना । द्यौरिवोत्तमयोषेव कौशिकाय[1] प्रदर्शिता ॥८४॥
अथ विज्ञापितो नाथः सुरनाथेन हर्षिणा । आपृच्छ्य पितृपुत्रादीन् परिवर्गं च संश्रितम् ॥८५॥
गृहीतचामरच्छत्रैः सेव्यमानः सुरेश्वरैः । स द्वात्रिंशत्पदानुर्व्यां पद्भ्यामेव प्रचक्रमे ॥८६॥
लोकाञ्जलिपुटालोकशब्दाशीर्वादवन्दितः । शिबिकामारुरोहेशः सवितेवोदयश्रियम् ॥८७॥
क्षितेः क्षितीश्वरोत्क्षिप्तां खमुत्पत्य सुरेश्वराः । संनाहिनः[2] समूहुस्तां शिरसाज्ञामिवेशितुः ॥८८॥
ततः शङ्खाः सभेरीका मुखरीकृतदिङ्मुखाः । दध्वनुर्वंशवीणाश्च पटहा बहुनिस्वनाः ॥८९॥
नानानीकैः सुरैरूर्ध्वं चतुरङ्गबलैरधः । राजक्षत्रोग्रभोजाद्यैर्व्रजद्भिर्व्याप्तमीश्वरैः ॥९०॥
ऊर्ध्वं नवरसा जाता नृत्यदप्सरसां स्फुटाः । नाभेयेन[3] विमुक्तानामधः शोकरसोऽभवत् ॥९१॥

देदीप्यमान होती है उसी प्रकार वह पालकी भी चित्रा नक्षत्र और ताराके समान प्रकाशसे युक्त थी। जिस प्रकार आकाश (जगतीजघनस्थला) पृथिवीरूपी मध्यम स्थलसे सहित होती है और उत्तम स्त्री पृथिवीके समान स्थूल नितम्ब स्थलसे युक्त होती है, उसी प्रकार वह पालकी भी मध्यलोकमें विराजमान थी ॥८२॥ जिस प्रकार आकाश (वारिधारास्फुरद्धाराशुम्भत्कुम्भपयोधरा) जलसे भरे एवं पड़ती हुई धारोंसे सुशोभित घड़ोंके समान मेघोंसे युक्त होता है और उत्तम स्त्रीके स्तनकलश जलधाराके समान शोभायमान हारसे सुशोभित रहते हैं उसी प्रकार वह पालकी भी जलधाराके समान सुशोभित हारों—मणिमालाओंसे अलंकृत घड़ोंमें जलको धारण करनेवाली थी—जलसे भरे घड़ोंसे युक्त थी। जिस प्रकार आकाश (तारापुष्पवती रम्या) फूलोंके समान ताराओंसे युक्त एवं मनोहर होता है और उत्तम स्त्री तारोंके समान फूलोंसे युक्त एवं मनोहर रहती है उसी प्रकार वह पालकी भी ताराओंके समान चमकीले फूलोंसे युक्त और मनोहर थी। जिस प्रकार आकाश (सुनक्षत्रबृहत्फला) बड़े-बड़े फलोंके समान उत्तम नक्षत्रोंसे युक्त होता है और उत्तम स्त्री अच्छे नक्षत्रोंके विशाल परिणामसे सहित होती है उसी प्रकार वह पालकी भी उत्तम नक्षत्रोंके समान बड़े-बड़े फलोंसे युक्त थी ॥८३॥ और जिस प्रकार आकाश (सुनीलघनकेशा) केशोंके समान अत्यन्त नीले मेघोंसे युक्त रहता है और उत्तम स्त्री अत्यन्त काले एवं सघन केशोंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह पालकी भी सघन केशोंके समान उत्तम नील मणियोंसे खचित थी। ऐसी वह सुदर्शना पालकी कुबेरने इन्द्रके लिए दिखलायी ॥८४॥

अथानन्तर हर्षसे भरे हुए इन्द्रने पालकीपर सवार होनेके लिए भगवान्से प्रार्थना की। तब भगवान् अपने माता-पिता, पुत्र तथा आश्रित परिजनोंसे पूछकर बत्तीस कदम पृथिवीपर पैदल ही चले। उस समय चमर तथा छत्र लेकर इन्द्र उनकी सेवा कर रहे थे ॥८५-८६॥ तदनन्तर लोगोंने हाथ जोड़कर जय-जयकार करते हुए जिन्हें नमस्कार किया था और माता-पिता आदि गुरुजनोंने जिन्हें आशीर्वाद दिया था ऐसे भगवान् ऋषभदेव पालकीपर उस तरह आरूढ़ हुए जिस तरह कि सूर्य उदयकालीन लक्ष्मीपर आरूढ़ होता है ॥८७॥ उस पालकीको पृथिवीसे तो राजाओंने उठाया पर बादमें तैयार खड़े हुए इन्द्रोंने उसे आकाशमें उछलकर इस प्रकार धारण कर लिया जिस प्रकार कि प्रभुकी आज्ञाको शिरसे धारण करते हैं ॥८८॥ तदनन्तर दिशाओंको मुखरित करनेवाले शंख, भेरी, बाँसुरी, वीणा तथा जोरदार शब्द करनेवाले नगाड़े शब्द करने लगे ॥८९॥ उस समय ऊपर आकाश तो देवोंकी नाना प्रकारकी चतुरंग सेनाओंसे व्याप्त था और नीचे पृथिवीतल साथ-साथ चलनेवाले अनेक राज—क्षत्रियों तथा उग्रवंशी, भोजवंशी आदि राजाओंसे व्याप्त था ॥९०॥ ऊपर आकाशमें नृत्य करनेवाली अप्सराओंके शृंगारादि नौ रस प्रकट हो रहे

१. इन्द्राय । २. समायुः म. । ३. किमुक्तानाम् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेव्यमानः सुरैरीशः सिद्धार्थं वनमाप सः । अशोकचम्पकायुग्मच्छदचूतवटैश्चितम् ॥९२॥
अवतीर्णः स सिद्ध्यर्थी[1] शिविकायाः स्वयं यथा । देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥९३॥
ततः प्राह प्रजास्तत्र शोकं त्यजत भोः प्रजाः । संयोगो[2] हि वियोगाय स्वदेहैरपि देहिनाम् ॥९४॥
राजा वो रक्षणे दक्षः स्थापितो भरतो मया । स्वधर्मवृत्तिभिर्नित्यं सेव्यतां सेव्यतां [3]श्रितः ॥९५॥
एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन् । प्रदेशः स [4]प्रयागाख्यो यतः पूजार्थयोगतः ॥९६॥
आपृच्छ्य ज्ञातिवर्गं च राजकं च नतं विभुः । त्यक्त्वाऽन्तर्बहिः संगं संयमं प्रतिपन्नवान् ॥९७॥
पञ्चमुष्टिभिरुत्खातान् विडौजा[5] मूर्धजान् विभोः । प्रतिगृह्य कृतान् मूर्ध्नि चिक्षेप क्षीरवारिधौ ॥९८॥
जाते निःक्रमणे जैने कृत्वा पूजां सुरासुराः । यथायथं ययुर्नत्वा चिन्ताक्रान्ताश्च मानवाः ॥९९॥
राजक्षत्रोग्रभोजाद्याः स्वामिभक्ता[6] महानृपाः । चतुःसहस्रसंख्याता मुख्या नाग्न्यस्थितिं श्रिताः ॥१००॥
कायोत्सर्गेण षण्मासान् परीषहसहो जिनः । महातपाश्चतुर्ज्ञानी तस्थौ मौनी गिरिस्थिरः ॥१०१॥
नृपास्तेऽपि तथा तस्थुः कायोत्सर्गेण निश्चलाः । परमार्थमजानन्तः स्वामिच्छन्दानुवर्तिनः ॥१०२॥
भृत्यपुत्रकलत्राणि क्षुत्पिपासाकुलात्मनाम् । अद्य श्वो नोऽन्न[7]मादाय समेष्यन्तीत्यमी विदुः ॥१०३॥

थे और नीचे पृथिवीतलपर भगवान्के द्वारा छोड़े हुए माता-पिता आदिके शोक-रस प्रकट हो रहा था ॥९१॥ अनेक देवोंसे सेवित भगवान् अशोक, चम्पा, सप्तपर्ण, आम और वट वृक्षोंसे व्याप्त सिद्धार्थ नामक वनमें पहुँचे ॥९२॥ सिद्धि अर्थात् मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवान् वहाँ पालकीसे उस प्रकार उतरे जिस प्रकार कि पहले स्वर्ग लोकके शिखरपर स्थित सर्वार्थसिद्धि विमानसे उतरे थे ॥९३॥ तदनन्तर भगवान्ने प्रजासे कहा कि हे प्रजाजनो ! तुम लोग शोक छोड़ो क्योंकि प्राणियों का अन्य वस्तुओंकी बात जाने दो, अपने शरीरके साथ भी जो संयोग है वह वियोगके ही लिए है। भावार्थ—जब शरीरका भी वियोग हो जाता है तब अन्य वस्तुओंकी तो बात ही क्या है ? ॥९४॥ अतिशय चतुर भरतको मैंने आप लोगोंकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया है। आप लोग निरन्तर अपने धर्ममें स्थिर रहते हुए उसकी सेवा करें, वह आपकी सेवाका पात्र है ॥९५॥ भगवान्के ऐसा कहनेके बाद प्रजाने उनकी पूजा की। प्रजाने जिस स्थानपर भगवान्की पूजा की वह स्थान आगे चलकर पूजाके कारण प्रयाग इस नामको प्राप्त हुआ ॥९६॥ प्रभुने कुटुम्बके लोगों तथा नम्रीभूत राजाओंसे पूछकर अन्तरंग, बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्यागकर संयम धारण कर लिया ॥९७॥ इन्द्रने पंचमुट्ठियोंके द्वारा उखाड़े हुए भगवान्के शिरके बालोंको उठाकर पिटारेमें रख लिया और 'इन्हें भगवान्ने शिरपर धारण किया था।' यह विचारकर बड़े आदरसे उन्हें क्षीर-समुद्रमें क्षेप दिया ॥९८॥ इस प्रकार दीक्षाकल्याणक होनेपर समस्त सुर और असुर भगवान्-की पूजा कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंपर चले गये। साथ ही चिन्तासे भरे हुए मनुष्य भी नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंपर गये ॥९९॥ उस समय इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र तथा भोज आदि वंशोंके चार हजार बड़े-बड़े मुख्य स्वामिभक्त राजाओंने भी नग्नदीक्षा धारण की ॥१००॥

परीषहोंको सहनेवाले, महातपस्वी, चार ज्ञानके धारक और पर्वतके समान निश्चल भगवान् छह माहका कायोत्सर्ग लेकर मौनसे विराजमान हुए ॥१०१॥ साथ ही वे अन्य राजा भी जो परमार्थको नहीं जानते थे मात्र स्वामीकी इच्छानुसार काम करना चाहते थे, निश्चल हो कायोत्सर्गसे स्थित हो गये ॥१०२॥ जब उनकी आत्मा भूख और प्याससे व्याकुल हो उठी तब वे विचार करने लगे कि हमारे नौकर, पुत्र अथवा स्त्रियाँ हमारे लिए भोजन लेकर आज-कलमें

१. सिद्धार्थी म.। २. संयोगी म.। ३. सततं श्रियः म.। ४. प्रजागारो म.। ५. इन्द्रः। ६. स्वामि-भक्तमहानृपाः म.। ७. नः अस्माकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः कच्छमहाकच्छमरीच्यग्रेसरास्तके । षड्मासाभ्यन्तरे भग्नाः क्षुधाद्युग्रपरीषहैः ॥१०४॥
तेषां क्षुत्क्षामगात्राणां भ्रमती दृष्टिरस्थिरा । भ्रान्तदृष्टेर्भविष्यन्त्याः पूर्वरङ्गमिवाकरोत् ॥१०५॥
दृष्टं तैमिरिकं कैश्चिदन्धकारेऽपि तादृशे । स्पर्धयेव [1]हि चन्द्राक्षैः शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥१०६॥
श्रुतं शब्दात्मकं विश्वं भावयद्भिरिवापरैः । स्वशब्दलिङ्गमाकाशमिति वैशेषिकागमम् ॥१०७॥
पतद्भिरपि तत्रान्यैर्न मनागपि चेतितम् [2] । अचित्स्वभावमात्मानमनुकर्तुमिवोद्यतैः ॥१०८॥
चेतयन्तोऽपि तत्रान्ये स्वैरमासितुमप्यलम् । निरीहात्मतया जज्ञुः स्वां सांख्यपुरुषस्थितिम् ॥१०९॥
केचिन निरन्वयध्वस्तबुद्धयो नैव सस्मरुः । पूर्वापरस्य मूर्च्छार्ताः क्षणभङ्गानुवर्तिनः ॥११०॥
इति ते क्षुत्पिपासाद्यैरतिव्याकुलबुद्धयः । कायोत्सर्जनमुत्सृज्य दुद्रुवुश्च शनैः शनैः ॥१११॥
स्वामिनं कौलपुत्रांश्च मर्यादां चानुवर्तते । तावदेव जनो यावद् स्वशरीरस्य निर्वृतिः ॥११२॥
भक्षणं फलमूलादेरपां पानावगाहनम् । कुर्वतां नग्नरूपेण स्वयंग्राहेण भूभृताम् ॥११३॥
भो भो माऽनेन रूपेण स्वयंग्राहविरोधिना । प्रवर्त्तध्वमिति व्यक्ताः खेऽभवन्मरुतां [3] गिरः ॥११४
ततस्ते त्रपिताश्चस्ता दिशो वीक्ष्य महीक्षितः । चक्रुर्वेषपरावर्तं कुशचीवरवल्कलैः ॥११५॥

आते ही होंगे ॥१०३॥ तदनन्तर कच्छ, महाकच्छ और मरीचि जिनमें अग्रसर थे, ऐसे वे कृत्रिम मुनि छह माहके भीतर ही क्षुधा आदि कठिन परीषहोंसे भ्रष्ट हो गये ॥१०४॥ भूखके कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे ऐसे इन कृत्रिम मुनियोंकी अस्थिर दृष्टि घूमने लगी तथा ऐसी जान पड़ने लगी मानो आगे होनेवाली भ्रान्त दृष्टि (भ्रान्त श्रद्धान) का पूर्वाभ्यास ही कर रही हो ॥१०५॥ कितने ही लोगोंने अन्धकारका समूह देखा अर्थात् उनको आँखोंके सामने अन्धकार ही अन्धकार छा गया, उनके नेत्र क्षुधाके कारण चन्द्रमाके समान पाण्डुवर्ण हो गये तथा उन्हें उस अन्धकारके बीच आकाशमें एकके बदले सौ चन्द्रमा दिखाई देने लगे ॥१०६॥ कितने ही लोगोंने समस्त संसारको शब्दमय सुना अर्थात् उनके कानोंके सामने शब्द ही शब्द सुनाई पड़ने लगा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे 'शब्दरूप लक्षणसे सहित आकाश है' इस वैशेषिक मतके शास्त्रका ही चिन्तन कर रहे थे ॥१०७॥ कितने ही लोग जमीनपर गिरने लगे तथा उन्हें कुछ भी चेत नहीं रहा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे आत्माको जड़-स्वभाव करनेके लिए ही उद्यत हुए हों अर्थात् जड़स्वभाव है यह चार्वाकका मत ही प्रचलित करना चाहते हों ॥१०८॥ कितने ही लोगोंको चेत (होश) तो था पर वे स्वच्छन्दता-पूर्वक रहनेके लिए निरीह वृत्तिके कारण अपने आपको सांख्यमत सम्मत पुरुष-जैसी स्थिति बतलाने लगे ॥१०९॥ जिनकी बुद्धि निरन्वय नष्ट हो गयी थी तथा जो मूर्च्छासे दुःखी हो रहे थे, ऐसे कितने ही लोगोंको आगे-पीछेका कुछ भी स्मरण नहीं रहा, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे बौद्धोंके क्षणभंगवादका ही अनुकरण कर रहे हों ॥११०॥

इस प्रकार भूख-प्यास आदिसे जिनकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो गयी थी ऐसे वे सब कायोत्सर्ग छोड़कर धीरे-धीरे भागने लगे ॥१११॥ सो ठीक ही है क्योंकि जबतक अपने शरीरकी सन्तोषपूर्ण स्थिति रहती है तभी तक मनुष्य स्वामी, कुल, पुत्र और मर्यादाका अनुसरण करता है ॥११२॥ वे राजा नग्नरूपमें रहकर ही फल-मूल आदिका भक्षण तथा जलका पीना और उसमें प्रवेश करना आदि कार्य स्वेच्छासे करनेके लिए उद्यत हुए तो उसी समय आकाशमें देवोंके यह शब्द प्रकट हुए कि स्वयं ग्राहके विरोधी इस नग्नवेषसे आप लोग ऐसी प्रवृत्ति न करें ॥११३-११४॥ तदनन्तर देवोंके उक्त शब्द सुनकर वे राजा बड़े लज्जित हुए और भयभीत हो दिशाओंकी ओर देख उन्होंने कुशा, चीवर तथा वल्कल आदिसे नग्नवेश बदल लिया अर्थात् कुशा, चीवर एवं

१. द्विचन्द्राक्षैः म., ग., ङ. । क्षुधावशाच्चन्द्रवन्नेत्रैः (क. टि.) । २. चेतिकं म. । ३. महतां म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः कृत्वा सुविश्रब्धास्ते दग्धोदरपूरणम् । स्वस्थाः कार्यं विचार्योचुः स्वस्थे चित्ते हि बुद्धयः ॥११६॥
कोऽभिप्रायः प्रभोरस्य त्यक्तभोगस्य लक्ष्यताम् । नवैहिकफलायेदं चेष्टितं सुष्ठुदुष्करम् ॥११७॥
तथा ह्यनेन भो दृष्टा संपदो विपदो यथा । रत्यरत्योर्विघातेन विषयाश्च विषोपमाः ॥११८॥
सालंकारं परित्यक्तं वसनं व्यसनं यथा । मूलोत्खाताः स्वहस्तेन मूर्धजा वैरिणो यथा ॥११९॥
शरीरमपि संन्यस्तं संन्यस्ताहारवस्तुना । तदस्याभिमतं किंचिदामुत्रिकफलं भवेत् ॥१२०॥
नैष्ठिकव्रतमास्थाय स्वामिन्येवं व्यवस्थिते । किं नः कर्तव्यमित्येकं न विद्मः सांप्रतं वयम् ॥१२१॥
निष्क्रान्तानामनेनामा स्वदेशात् प्रतिनिवर्तनम् । नैव पुष्णाति नश्छायामपायबहुलं च तत् ॥१२२॥
न शक्ताश्चरितुं चर्यां यदि नाम वयं विभोः । वनवासित्वसाम्येन किं न कुर्मोऽनुवर्तनम् ॥१२३॥
इति निश्चित्य तेऽन्योन्यं पाण्डुपत्रफलाशिनः । जटावल्कलिनो जातास्तापसा वनवासिनः ॥१२४॥
यो मरीचिकुमारस्तु नप्ता तप्ततनुर्विभोः । दृष्टवान् जलभावेन तृषामरुमरीचिकाम् ॥१२५॥
जलावगाहनान्यस्य गजस्येव विदाहिनः । मृदवश्च मृदश्चक्रुः शरीरपरिनिर्वृतिम् ॥१२६॥
यत्तन्मानकषायी स काषायं वेषमग्रहीत् । एकदण्डी शुचिर्मुण्डी परिव्राड्व्रतपोषणम् ॥१२७॥
नमिश्च विनमिश्चोभौ भोगयाचनयातुरौ । तावुद्विग्नौ विभोर्लग्नौ पादयोर्दुःस्थितौ स्थितौ ॥१२८॥

वृक्षोंकी छाल आदि धारण कर नग्न वेष छोड़ दिया ॥११५॥ इसके बाद निश्चिन्ततासे अधम उदरकी पूर्ति कर जब वे स्वस्थ हुए तब कार्यका विचारकर परस्पर कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि चित्तके स्वस्थ होनेपर ही बुद्धि उत्पन्न होती है—विचारशक्ति आती है ॥११६॥

वे कहने लगे कि भगवान्‌ने समस्त भोगोंको छोड़ दिया है सो इसमें इनका क्या अभिप्राय है यह ज्ञात किया जाये। ऐहिक फलके लिए तो इनकी यह अतिशय कठिन चेष्टा नहीं हो सकती क्योंकि इन्होंने सम्पत्तियोंको विपत्तियोंके समान देखा है, रति और अरतिको नष्ट कर विषयोंको विषके समान समझा है, वस्त्राभूषणको दुःखके समान छोड़ दिया है, शिरके बालोंको शत्रुओंकी तरह अपने हाथसे जड़से उखाड़ दिया है और आहार-पानीका परित्याग कर दिया है इसलिए शरीरको भी छोड़ा हुआ समझना चाहिए। इससे जान पड़ता है कि इन्हें कोई पारलौकिक फल ही अभिप्रेत होगा ॥११७–१२०॥ जबकि भगवान् नैष्ठिक व्रत लेकर इस प्रकार विराजमान हैं—कुछ बोलते-चालते नहीं हैं, तब इस स्थितिमें हमें क्या करना चाहिए, इस एक बातको हम लोग इस समय बिलकुल नहीं जानते ॥१२१॥ हम लोग इनके साथ अपने देशसे निकल आये हैं इसलिए अब लौटकर जाना तो हमारी शोभाको नहीं बढ़ाता। साथ ही लौटकर जाना अनेक बाधाओं-कष्टोंसे भरा है ॥१२२॥ यदि हम भगवान्‌की चर्याका आचरण करनेके लिए समर्थ नहीं हैं तो क्या वनवासीपने-की सदृशतासे हम इनका अनुसरण नहीं कर सकते ? भावार्थ—यदि हमसे इनके समान कुछ तपश्चर्या नहीं बनती है तो इनके समान वनमें तो रह सकते हैं ॥१२३॥ आपसमें ऐसा निश्चय कर वे भ्रष्ट राजा, पके पत्र और फलोंको खाते हुए जटा और वृक्षोंकी छाल धारण कर वनवासी तापस बन गये ॥१२४॥ उनमें मरीचि कुमार नामका जो भगवान्‌का पोता था, प्याससे उसका शरीर सन्तप्त हो रहा था, उसने भ्रान्तिवश मरुस्थलकी मरीचिकाको ही जल समझ लिया तथा उसमें लोटने लगा सो जिस प्रकार जलमें प्रवेश करना सन्तप्त हाथीके शरीरको शान्ति पहुँचाता है उसी प्रकार कोमल मिट्टीने उसके शरीरको कुछ शान्ति पहुँचायी ॥१२५–१२६॥ मरीचि बड़ा मानकषायी था इसलिए उसने परिव्राजकोंके व्रतको पोषण करनेवाला गेरुआ वेष स्वीकार कर लिया। वह एक दण्ड अपने साथ रखता था, स्नानादिसे अपनेको पवित्र मानता था तथा शिर मुड़ाये रखता था ॥१२७॥ इधर जो भोगोंकी याचनासे अतिशय दुःखी थे, भोगोंके अभावके कारण उद्विग्न थे,

१. त्यक्तं । २. स्वदेशान् म. । ३. -ऽनुवर्तनं म.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धूतासनोऽवधिज्ञानात् तद्बुद्ध्वा धरणः फणी । आजगाम मुनेर्भक्त्या मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥१२९॥
विश्वास्य दिव्यरूपोऽसौ भ्रातरौ भ्रातरौ यथा । महाविद्यां ददौ ताभ्यां विद्यालाभो गुरोर्वशात् ॥१३०॥
योऽगो विद्याधराधारो विजयार्द्ध इतीरितः । सोऽपि ताभ्यां ततो लब्धः किं न स्याद् गुरुसेवया ॥१३१॥
स नमिर्दक्षिणश्रेण्यां पञ्चाशन्नगरेश्वरः । विनमिश्चोत्तरश्रेण्यामभूत् षष्टिपुरेश्वरः ॥१३२॥
अध्यासिष्टनमिः श्रेष्ठं नगरं रथनूपुरम् । नभस्तिलकमन्वर्थं विनमिः सह बान्धवैः ॥१३३॥
विद्याधरजनो धीरौ प्राप्य तौ परमेश्वरौ । उपरिस्थितमात्मानं भुवनस्याप्यमन्यत ॥१३४॥
अथासौ प्रतिमास्थोऽपि प्रविश्य भगवान् स्थितः । परीषहाग्निविध्यापिसद्ध्यानजलधौ स्थिरः ॥१३५॥
मत्वेतरमनुष्याणां भवतां च भविष्यताम् । मोक्षाय विजिगीषूणां भुक्त्यभावेऽल्पशक्तिताम् ॥१३६॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः । पुरुषार्थः स्थितो मुख्यो मोक्षकामार्थसाधनः ॥१३७॥
प्राणाधिष्ठानतन्निष्ठं शरीरं धर्मसाधनम् । प्राणैरधिष्ठितः प्राणी प्राणाश्चान्नैरधिष्ठिताः ॥१३८॥
परम्पर्येण धर्मस्य ततोऽन्नमपि साधनम् । प्राणिनामल्पवीर्याणां प्रधानस्थितिकारणम् ॥१३९॥
अतस्तस्यानवद्यस्य ग्रहणे विधिमर्थिनाम् । शासनस्थितयेऽन्नस्य दर्शयामीह भारते ॥१४०॥
इति ध्यात्वा स्वयंशक्तः स क्षुधादिविनिग्रहे । परार्थं मतिमाधत्त गोचरान्नपरिग्रहे ॥१४१॥

तथा दुःखमय स्थितिमें स्थित थे, ऐसे नमि और विनमि दोनों राजपुत्र भगवान्‌के चरणोंमें आ लगे ॥१२८॥ उसी समय जिसका आसन कम्पायमान हुआ था ऐसा धरणेन्द्र अवधिज्ञानसे यह समाचार जान जिनेन्द्रकी भक्तिपूर्वक वहाँ आया, सो ठीक ही है क्योंकि मौन सब कार्योंको सिद्ध करनेवाला है ॥१२९॥ दिव्यरूपको धारण करनेवाले उस धरणेन्द्रने उन दोनों भाइयोंको अपने भाइयोंके समान विश्वास दिलाकर महाविद्या प्रदान की सो ठीक ही है क्योंकि विद्याकी प्राप्ति गुरुसे ही होती है ॥१३०॥ और जो विद्याधरोंका निवासभूत विजयार्ध नामका पर्वत है वह भी उन दोनोंने धरणेन्द्रसे प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि गुरुसेवासे क्या नहीं होता है ? ॥१३१॥ उनमें नमि दक्षिणश्रेणीके पचास नगरोंका स्वामी हुआ और विनमि उत्तर श्रेणीके साठ नगरोंका अधिपति हुआ ॥१३२॥ नमि अपने बन्धुजनोंके साथ रथनूपुर नामक श्रेष्ठ नगरमें निवास करने लगा और विनमि सार्थक नाम धारण करनेवाले नभस्तिलक नामक नगरमें रहने लगा ॥१३३॥ विद्याधर लोग उन धीर-वीर राजाओंको पाकर अपने-आपको संसारसे ऊपर मानने लगे ॥१३४॥

अथानन्तर— यद्यपि धीर-वीर भगवान् परीषहरूपी अग्निको बुझानेवाले प्रशस्त ध्यान-रूपी सागरमें प्रवेश कर प्रतिमायोगसे विराजमान थे—छह माहसे प्रतिमायोग धारण करनेपर भी आहारके बिना उन्हें कुछ भी आकुलता नहीं थी तो भी 'मोक्ष प्राप्त करनेके लिए कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले जो अन्य मनुष्य वर्तमानमें हैं तथा आगे होंगे आहारके अभावमें उनकी शक्ति क्षीण हो जायेगी' ऐसा मानकर वे विचार करने लगे कि क्षमा आदि लक्षणोंसे युक्त धर्म-पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें मुख्य है, वही मोक्ष, काम और अर्थका साधन है। धर्मका साधन शरीर है और शरीर प्राणोंका आधार होनेसे प्राणों-पर निर्भर है। प्राणी प्राणोंसे अधिष्ठित है अर्थात् प्राणोंके द्वारा जीवित है और प्राण अन्नसे अधिष्ठित हैं अर्थात् अन्नसे ही प्राण सुरक्षित रहते हैं। इसलिए परम्परासे अन्न भी धर्मका साधन है। अल्पशक्तिके धारक मनुष्योंकी स्थिति प्रधान पुरुषार्थ—धर्ममें बनी रहे इसमें अन्न भी कारण है। अतः इस भरत क्षेत्रमें शासनकी स्थिरताके लिए मैं आहारके इच्छुक मनुष्योंको निर्दोष आहार ग्रहण करनेकी विधि दिखाता हूँ ॥१३५-१४०॥ ऐसा विचारकर, यद्यपि भगवान् क्षुधादिके

१. चातुरो म. । २. धरणेन्द्रात् । ३. -मत्यर्थं म. । ४. धीरः म. । ५. स्थिरः म. । ६. विध्यापी । ७. पुरुषार्थस्थितो मोक्षो मुख्यो म. । ८. प्राणस्त्वन्नं -म. । ९. परार्थमति म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षण्मासानशनस्यान्ते संहृतप्रतिमास्थितिः । प्रतस्थे पदविन्यासैः क्षितिं पल्लवयन्निव ॥१४२॥
आकेवलोदयान्मौनी प्रलम्बितभुजः पथि । सावधानां गतिं बिभ्रन्नातिद्रुतविलम्बिताम् ॥१४३॥
मध्याह्नेषु पुरग्रामगृहपङ्क्तिषु दर्शनम् । प्रशस्तासु प्रजाभ्योऽदाच्चान्द्रीचर्यां चरन् क्षितौ ॥१४४॥
भ्राम्यन्तं तं तथा नाथं सौम्यविग्रहमुन्मुखाः । पश्यन्त्यो न प्रजास्तृप्ता यथा चन्द्रं नवोदितम् ॥१४५॥
श्वेतमानुरयं किंतु स्वर्भानुग्रासशङ्कया । भूमिगोचरमायातस्त्यक्ताशार्कगोचरः ॥१४६॥
पूषा किंवा भवेदेष भूभृत्प्रासादमूरुहाम् । छायातमस्तिरस्कर्तुं द्वितीयक्षितिमागतः ॥१४७॥
अहो कान्तेः परं स्थानमहो दीप्तेः परं पदम् । अहो सुशीलशैलोऽयं गुणराशिरहो महान् ॥१४८॥
सौरूप्यस्य परा कोटिः सौलावण्यस्य भूः पराः । माधुर्यस्य पराऽवस्था धैर्यस्यायं परा स्थितिः ॥१४९॥
एतैतेक्षणसार्फल्यमन्ते पश्यत पश्यत । जना दिग्वसनस्यापि परमां रमणीयताम् ॥१५०॥
इत्यन्योन्यकृतालापा घनसंघट्टसंकटाः । जिनं नराश्च नार्यश्च ददृशुर्विस्मयाकुलाः ॥[षड्भिः कुलकम्]
केचिद् वस्त्राणि चित्राणि भूषणान्यपरे परे । दिव्यानि गन्धमाल्यानि प्रकुर्वन्ति पुरः प्रभोः ॥१५२॥
तुरङ्गतुङ्गमातङ्गरथयानान्यथापरे । सद्यःसज्जानि तस्याग्रे स्थापयन्ति विमोहिनः ॥१५३॥
अदृष्टश्रुतपूर्वत्वात् तत्प्रयोग्यमजानता । भिक्षादानविधिस्तस्मै न लोकेन विकल्पितः ॥१५४॥

दूर करनेमें स्वयं समर्थ थे तो भी परोपकारके अर्थ उन्होंने गोचर-वृत्तिसे अन्न-ग्रहण करनेकी इच्छा की ॥१४१॥ तदनन्तर छह महीनेके अनशनके बाद जिन्होंने प्रतिमा योगका संकोच कर लिया था ऐसे भगवान् आदि जिनेन्द्र अपने चरणोंके निक्षेपसे पृथिवीको पल्लवित करते हुए आहारके लिए चले ॥१४२॥ केवलज्ञान प्राप्त होने तक उन्होंने मौन व्रत ले रखा था, मार्गमें चलते समय उनकी भुजाएँ नीचेकी ओर लम्बी थीं, वे न अधिक शीघ्र और न अधिक धीमी चालसे सावधानी-पूर्वक चल रहे थे ॥१४३॥ पृथिवीपर चान्द्री चर्यासे विचरण करते हुए वे मध्याह्नके समय उत्तम नगर तथा ग्रामोंकी गृह-पंक्तियोंमें प्रजाके लिए दर्शन देते थे ॥१४४॥ जिस प्रकार नूतन उगे हुए चन्द्रमाको देखती हुई प्रजा सन्तुष्ट नहीं होती है उसी प्रकार उस तरह भ्रमण करते हुए सौम्य शरीरके धारक भगवान्‌को ऊपरकी ओर मुख उठा-उठाकर देखती हुई प्रजा सन्तुष्ट नहीं होती थी ॥१४५॥ भगवान्‌को देख अनेक लोग ऐसा तर्क करते थे कि क्या यह राहुके द्वारा ग्रसे जानेके भयसे नक्षत्र और सूर्य मण्डलको छोड़कर चन्द्रमा ही पृथिवी तलपर आ गया है ? अथवा क्या पहाड़, महल और वृक्षोंकी छायारूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए यह सूर्य ही पृथिवीपर अवतीर्ण हुआ है ? ॥१४६-१४७॥ अहो ! ये भगवान् कान्तिके परम स्थान हैं, दीप्तिके अद्वितीय धाम हैं, अहो ! ये उत्तम शीलके मानो पर्वत हैं, अहो ! ये गुणोंके महासागर हैं । ये सुन्दर रूपकी परम सीमा हैं, वे लावण्यकी उत्कृष्ट भूमि हैं, माधुर्यकी परम अवस्था हैं और धैर्यकी उत्कृष्ट रीति हैं ॥१४८-१४९॥ अरे भव्यजनो ! आओ, आओ नेत्रोंको सफल करो । देखो, नग्न-दिगम्बर होनेपर भी इनकी कैसी परम सुन्दरता है ? ॥१५०॥ इस प्रकार आपसमें वार्तालाप करते तथा बहुत-बहुत बड़ी भीड़के साथ इकट्ठे हुए नर-नारी आश्चर्यसे व्याकुल हो भगवान्‌के दर्शन कर रहे थे ॥१५१॥ उस समय कोई चित्र-विचित्र वस्त्र, कोई तरह-तरहके आभूषण और कोई उत्तमोत्तम गन्ध तथा मालाएँ भगवान्‌के आगे समर्पित करते थे ॥१५२॥ कितने ही अज्ञानी लोग तत्काल सजाये हुए घोड़े, ऊँचे-ऊँचे हाथी, रथ तथा अन्य वाहन उनके आगे रखते थे ॥१५३॥ लोगोंने कभी किसीको आहार देते हुए न देखा था और न सुना था और न वे भगवान्‌के अभिप्रायको ही

---

१. श्राम्यन्तं म. । २. पश्यन्तो क., ख., म. । ३. चन्द्रः । ४. साफल्यं एनं म. । ५. नग्नस्यापि । ६. कृतालापघनसंघट्टसंघटा म. । ७. जिनस्याभिप्रायं क. टि. । ८. विकल्पिता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकस्य प्रतिबोधार्थमुदितस्य दिने दिने । जिनार्कस्य न खेदाय जगद्भ्रमणमप्यभूत् ॥१५५॥
तथा यथागमं नाथः षण्मासानविषण्णधीः । प्रजाभिः पूज्यमानः सन् विजहार महीं क्रमात् ॥१५६॥
संप्राप्तोऽथ सदादानैरिभैरिभपुरं[1] विभुः । दानप्रवृत्तिरत्रेति सूचयद्भिरिवाचितम्[2] ॥१५७॥
तस्मिन् सोमप्रभः श्रेयान्[3] अपि भूपौ[4] सहोदरौ । तस्यामेव विभावर्यां स्वप्नानेतानपश्यताम् ॥१५८॥
चन्द्रमिन्द्रध्वजं मेरुं सतडित्कल्पपादपम् । रत्नद्वीपं विमानं च नाभेयं पुरुषोत्तमम् ॥१५९॥
प्रभाते तौ[5] कुरुश्रेष्ठावास्थानस्थौ च विस्मितौ । चक्राते बुधचक्रेण सुस्वप्नफलसंकथाम् ॥१६०॥
बन्धुः कौमुदखण्डानामिव कौमुदमावही । अद्यैवेष्यति बन्धुर्नः कोऽपि नूनमनूनभाः ॥१६१॥
उच्चैर्यशोध्वजो लोके सर्वकल्याणपर्वतः । जगत्कल्पद्रुमो विद्युत्क्षणदर्शितविग्रहः ॥१६२॥
धर्मरत्नमहाद्वीपो वैमानिकजगच्च्युतः । स्वप्नवर्त्किनु[6] नाभेयः स्वयमेवाद्य दृश्यते ॥१६३॥
पुरस्य राजगेहस्य लक्ष्मीरद्यैव लक्ष्यते । भद्रं निवेदयत्याशु ककुभां च प्रसन्नता ॥१६४॥
स्वप्नार्थमिति बुद्ध्वा तौ नियुज्यान्तर्बहिर्नरान् । कथया जिननाथस्य शक्तौ यावदवस्थितौ ॥१६५॥
तावदाध्मातमाध्याह्नशङ्खनादः समुच्छ्रितः । वर्धयन्निव दिष्ट्या तौ जिनागमनिवेदनात् ॥१६६॥

जानते थे इसलिए किसीको आहार देनेका विकल्प नहीं उठा ॥१५४॥ जिस प्रकार लोगोंको जागृत करनेके लिए उगे हुए सूर्यका जगत्में भ्रमण करना उसके खेदका कारण नहीं है उसी प्रकार लोगोंको प्रतिबुद्ध करनेके लिए तत्पर जिनेन्द्र भगवान्का जगत्में जहाँ-तहाँ भ्रमण करना उसके खेदका कारण नहीं था ॥१५५॥ इस प्रकार जिनकी बुद्धिमें रंचमात्र भी विषाद नहीं था ऐसे भगवान् प्रजाके द्वारा पूजित होते हुए लगातार छह माह तक आगमके अनुसार क्रमसे पृथिवीपर विहार करते गये ॥१५६॥तदनन्तर विहार करते-करते भगवान् हस्तिनागपुर नगर पहुँचे। वह नगर जिनसे सदा दान (मद) चूता रहता था और जो मानो इस बातकी सूचना ही दे रहे थे कि यहाँ दान (त्याग) की प्रवृत्ति होगी ऐसे हाथियोंसे सहित था ॥१५७॥ उस नगरके राजा सोमप्रभ और श्रेयान्स थे। उन दोनों भाइयोंने उसी रातमें चन्द्रमा, इन्द्रकी ध्वजा, मेरु पर्वत, बिजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और पुरुषोत्तम भगवान् ऋषभदेव ये आठ स्वप्न देखे ॥१५८-१५९॥ प्रातःकाल दोनों भाई सभामें बैठे और आश्चर्यसे चकित हो विद्वत्समूहके साथ इन्हीं उत्तम स्वप्नोंके फलकी चर्चा करने लगे ॥१६०॥ विद्वानोंने उक्त स्वप्नोंका फल इस प्रकार बताया कि कुमुदबन्धु—चन्द्रमाके समान पृथिवीपर आनन्दको बढ़ानेवाला तथा उत्कृष्ट कान्तिको धारण करनेवाला हमारा कोई बन्धु आज ही यहाँ आवेगा। वह उत्तम यशरूपी ध्वजाका धारक होगा, संसारमें समस्त कल्याणोंका पर्वत होगा, जगत्के मनोरथोंको पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्षरूप होगा, बिजलीके समान क्षण-भर ही अपना शरीर दिखलानेवाला होगा, धर्मरूपी रत्नोंका महाद्वीप होगा और वैमानिक जगत्—स्वर्ग लोकसे च्युत हुआ होगा। भगवान् ऋषभदेवने जिस प्रकार स्वप्नमें दर्शन दिया है क्या आज वे स्वयं ही दर्शन देंगे—स्वयं यहाँ पधारेंगे। नगर तथा राजभवनकी जो शोभा है वह आज ही दिखाई दे रही है ऐसी शोभा पहले कभी नहीं दिखी। तथा दिशाओंकी निर्मलता भी शीघ्र ही कल्याणकी सूचना दे रही है ॥१६१-१६४॥ इस प्रकार स्वप्नोंका फल जानकर तथा भीतर और बाहर अनेक मनुष्योंको नियुक्त कर जिनेन्द्र भगवान्की चर्चा करते हुए दोनों समर्थ भाई जबतक बैठे तबतक मध्याह्न कालके फूँके हुए शंखका जोरदार शब्द हुआ। वह शंखका शब्द ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्का आगमन होनेवाला है—इस शुभ समाचारसे उन दोनोंको बढ़ा ही रहा हो ॥१६५-१६६॥

१. हस्तिनागपुरम् । २. -रिवोचितम् म. । ३. श्रीमानपि म. । ४. भूमौ म. । ५. कुरुवंशश्रेष्ठौ । ६. किंतु म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचितः परिवर्गेण स्नातयोश्च तयोस्ततः । सुभोजनविधिस्तत्र दिव्याहारमनोहरः ॥१६७॥
मणिकुट्टिमभूमौ तावुपविष्टौ भुजिं[1] प्रति । सिद्धार्थस्तूर्णमागत्य दिष्ट्या वर्धयतीत्यसौ ॥१६८॥
[2]तितिक्षोः पृथिवीं यस्य मकरालयमेखलाम् । शिबिकोद्वाहिनोऽभूवन्[3] देवा वज्रधरादयः ॥१६९॥
मग्ने कच्छमहाकच्छपूर्वपुङ्गवमण्डले । बिभर्ति दुर्वहामेको वृषभो यस्तपोधुराम् ॥१७०॥
यत्कथामृततृप्तानां गोष्ठीषु विदुषां सदा । वर्तते युष्मदादीनां नाहारग्रहणे मतिः ॥१७१॥
प्राघूर्णिकोऽद्य सोऽस्माकमकस्माज्जगतांपतिः । क्षान्तिमैत्रीतपोलक्ष्मीसहायः समुपागतः ॥१७२॥
दिशा वैश्रवणस्यैर्वे[4] प्रविश्य नगरीं विभुः । युगान्तदृष्टिरास्थाय चान्द्रीं चर्यां यथोचिताम् ॥१७३॥
संभ्रान्त्यान्वितलोकस्य पादयोरर्घ्यदायिनः । स्तुतिभिर्वन्दनाभिश्च समन्तादुपसेवितः ॥१७४॥
[5]धाम धाम निजं धाम[6] प्रकिरन्निव शीतगुः । अस्मदीयतया नाथो निशान्ताजिरमाप्तवान्[7] ॥१७५॥
इति सिद्धार्थवागर्थं ज्ञातोच्छ्रायससंभ्रमौ । अभिजग्मतुरीशस्य ललाटे न्यस्तहस्तकौ ॥१७६॥
आगच्छ भर्तरादेशं प्रयच्छेति कृतध्वनी । चन्द्रार्काविव शैलेशमर्घ्वनीमं परीयतुः ॥१७७॥
पतित्वा पादयोस्तस्य सुखपृच्छापुरःसरौ । [8]आगतेर्मौनिनो हेतुं ध्यायन्तावग्रतः स्थितौ ॥१७८॥
सोमप्रभस्य देवीभिर्लक्ष्मीमत्यकरोत् प्रिया । शशिरेखेव तारामिर्गिरीशं तं प्रदक्षिणम् ॥१७९॥
स श्रेयानीक्षमाणस्तं निमेषरहितेक्षणः । रूपमीदृक्षमद्राक्षं क्वचित् प्रागित्यधान्मनः ॥१८०॥

तदनन्तर दोनों भाई स्नान कर तैयार हुए और परिजनोने उनके लिए दिव्य आहारसे मनोहर उत्तम भोजनकी विधि की – भोजनसे थालियाँ सजायीं। मणिमय फर्शके ऊपर दोनों भाई भोजनके लिए बैठे ही थे कि उसी समय सिद्धार्थ नामका द्वारपाल शीघ्रतासे आकर इस हर्षवर्धक समाचारसे उन्हें वृद्धिगत करने लगा ॥१६७–१६८॥ कि समुद्रान्त पृथिवीका त्याग करते समय इन्द्रादिक देव जिनकी पालकीके उठानेवाले थे। कच्छ, महाकच्छ आदि पूर्व पुरुषोंके भ्रष्ट हो जानेपर जो अकेले ही तपके दुर्धर भारको धारण कर रहे हैं, सभा-गोष्ठियोंमें आप-जैसे विद्वान् जिनकी कथारूपी अमृतसे सन्तुष्ट होकर आहार ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रखते और जो क्षमा, मैत्री तथा तपरूपी लक्ष्मीसे सहित हैं, वे त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेव आज अकस्मात् हमारे अतिथि बनकर आये हुए हैं॥१६९–१७२॥ वे प्रभु उत्तर दिशासे ही नगरमें प्रवेश कर पधार रहे हैं, यथायोग्य ★ चान्द्रीचर्याका नियम लेकर जूडा प्रमाण दृष्टिसे विहार कर रहे हैं, हड़बड़ाहटसे युक्त मनुष्य उनके चरणोंमें अर्घ दे रहे हैं तथा स्तुति और वन्दनाके द्वारा उनकी सब ओरसे सेवा कर रहे हैं, वे चन्द्रमाके समान प्रत्येक घरमें अपना तेज बिखेरते हुए अपना समझ अन्तःपुरके आँगनमें आ पहुँचे हैं ॥१७३–१७५॥ इस प्रकार सिद्धार्थके वचनोंका तात्पर्य समझ हर्षसे भरे हुए दोनों भाई, हाथ जोड़ ललाटपर धारण कर भगवान्के सामने गये ॥१७६॥ हे स्वामिन् ! आइए आज्ञा दीजिए, यह कहते हुए दोनों भाइयोंने जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा देते हैं उसी प्रकार मार्गमें भगवान्की प्रदक्षिणा दी ॥१७७॥ तदनन्तर चरणोंमें पड़कर (नमस्कार कर) सुख-समाचार पूछते हुए दोनों भाई आगे खड़े हो गये। उस समय वे मौनके धारक भगवान्के आगमनका कारण विचार रहे थे ॥१७८॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी रेखा ताराओंके साथ सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देती है, उसी प्रकार राजा सोमप्रभकी रानी लक्ष्मीमतीने अन्य अनेक रानियोंके साथ भगवान्की प्रदक्षिणा दी ॥१७९॥ उसी समय टिमकार रहित नेत्रोंसे भगवान्की ओर देखते हुए श्रेयान्सके

१. भुजं म. । २. त्यक्तुमिच्छोः । ३. वाहनो भूवन् म. । ४. वैश्रवणस्येव म. । ५. गृहं गृहं प्रति । ६. तेजः । ७. भवनाङ्गणं । ८. अध्वनि मार्गे; इमं भगवन्तं । ९. आगतो म. ।

★ जिस प्रकार चन्द्रमा छोटे-बड़े सभीके घरपर अपना प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जिसमें अतिथि छोटे-बड़े सभीके घरपर जाता है, उसे चान्द्रीचर्या कहते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीप्रेणाप्युपशान्तेन स तद्रूपेण बोधितः । [1]दशात्मेशभवान् बुद्ध्वा पादावाश्रित्य मूर्च्छितः ॥१८१॥
मूर्च्छितेनापि तत्पादौ प्रमृज्य मृदुमूर्धजैः । अध्वश्रमच्छिदा[2] धौतौ सोष्णानन्दाश्रुधारया ॥१८२॥
श्रीमतीवज्रजङ्घाभ्यां दत्तं दानं पुरा यथा । चारणाभ्यां स्वपुत्राभ्यां संस्मृत्य जिनदर्शनात् ॥१८३॥
भगवन् ! तिष्ठ तिष्ठेति चोक्त्वा नीतो गृहान्तरे । उच्चैः स चासने[3] स्थाप्य धौततत्पादपङ्कजः ॥१८४॥
[4]तच्चरणपूजनं कृत्वा प्रणतिं च त्रिधा तथा । दानधर्मविधेर्बोद्धा विधाता स्वयमेव सः ॥१८५॥
श्रद्धादिगुणसंपूर्णः पात्रे संपूर्णलक्षणे । दित्सुरिक्षुरसापूर्णं कुम्भमुद्धृत्य सोऽब्रवीत् ॥१८६॥
षोडशोद्गमदोषैश्च षोडशोत्पादनिश्रितैः । दशाभिश्चैषणादोषैर्विशुद्धमपरैस्तथा ॥१८७॥
धूमाङ्गारप्रमाणाख्यैः संयोजनयुतैः प्रभो । मुक्तं दायकदोषैश्च गृहाण प्रासुकं रसम् ॥१८८॥
वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा पाणिपात्रेण पारणम् । समपादस्थितश्चक्रे दर्शयन् क्रियया विधिम् ॥१८९॥
श्रेयसि श्रेयसा पात्रे प्रतिलब्धे जिनेश्वरे । पञ्चाश्चर्यविशुद्धिभ्यः पञ्चाश्चर्याणि जज्ञिरे ॥१९०॥
अहो दानमहो दानमहो पात्रमहो क्रमः । साधु साध्विति खे नादः प्रादुरासीद्दिवौकसाम् ॥१९१॥
नेदुरम्बुदनिर्घोषाः सुरदुन्दुभयोऽम्बरे । दानतीर्थकरोत्पत्तिं घोषयन्तो जगत्त्रये ॥१९२॥
श्रेयोदानयशोराशिपूर्णदिग्वनितानने[5]ः । प्रोद्गीर्ण इव निःश्वासैः सुरभिः पवनो ववौ ॥१९३॥
पपात सुमनोवृष्टिरमान्तीवाङ्गनिर्गता । श्रेयसः सुमनोवृत्तिरमान्तीव दिवः पुनः ॥१९४॥

मनमें यह विचार आया कि ऐसा रूप तो मैंने पहले कहीं देखा है ॥१८०॥ भगवान्‌के देदीप्यमान होनेपर भी उपशान्त रूपसे प्रतिबोधको प्राप्त हुआ श्रेयान्स अपने तथा भगवान्‌के दस पूर्व भवोंको जान गया और उनके चरणोंके समीप आकर मूर्च्छित हो गया ॥१८१॥ मूर्च्छित होनेपर भी श्रेयान्सने अपने शिरके कोमल-बालोंसे भगवान्‌के चरण पोंछे और मार्गका श्रम दूर करनेके लिए आनन्दजन्य गरम-गरम आँसुओंकी धारासे धोये ॥१८२॥ श्रीमती और वज्रजंघने पहले चारण ऋद्धिके धारक अपने दो पुत्रोंके लिए जिस विधिसे दान दिया था वह सब विधि भगवान्‌का दर्शन करते ही श्रेयान्सकी स्मृतिमें आ गयी ॥१८३॥

तदनन्तर दान-धर्मकी विधिका ज्ञाता और उसकी स्वयं प्रवृत्ति करानेवाला राजा श्रेयान्स श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त हो 'हे भगवन् ! तिष्ठ-तिष्ठ—ठहरिए-ठहरिए' यह कहकर भगवान्‌को घरके भीतर ले गया, वहाँ उच्चासनपर विराजमान कर उसने उनके चरण-कमल धोये, उनके चरणोंकी पूजा करके उन्हें मन, वचन, कायसे नमस्कार किया। फिर सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त पात्रके लिए देनेकी इच्छासे उसने इक्षुरससे भरा हुआ कलश उठाकर कहा कि प्रभो ! यह इक्षुरस सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष तथा धूम-अंगार प्रमाण और संयोजना इन चार दाता सम्बन्धी दोषोंसे रहित एवं प्रासुक है, इसे ग्रहण कीजिए ॥१८४–१८८॥ तदनन्तर जिनकी आत्मा विशुद्ध थी और जो पैरोंको सीधा कर खड़े थे ऐसे भगवान् वृषभदेवने क्रियासे आहारकी विधि दिखाते हुए चारित्रकी वृद्धिके लिए पारणा की ॥१८९॥ राजा श्रेयान्सने कल्याणकारी श्रीजिनेन्द्ररूपी पात्र प्राप्त किये इसलिए पाँच प्रकारकी आश्चर्यजनक विशुद्धियोंसे पंचाश्चर्य प्रकट हुए ॥१९०॥ 'अहो दान, अहो दान, अहो पात्र, अहो दान देनेकी पद्धति, धन्य-धन्य', इस प्रकार आकाशमें देवोंके शब्द हुए ॥१९१॥ आकाशमें मेघोंके समान शब्द करनेवाले देव-दुन्दुभि बजने लगे। वे दुन्दुभि तीनों जगत्‌में मानो इस नामकी घोषणा हो कर रहे थे कि दानरूपी तीर्थको चलानेवालेकी उत्पत्ति हो चुकी है ॥१९२॥ राजा श्रेयान्सके दानसे उत्पन्न यशकी राशिसे पूर्ण दिशारूपी स्त्रियोंके मुखसे प्रकट हुए श्वासोच्छ्वासके समान सुगन्धित वायु बहने लगी ॥१९३॥ उस

१. आत्मनः ईशस्य च दश भवान् बुद्ध्वा । २. अध्वभ्रम म. । ३. सदासने म. । ४. सर्वपुस्तकेष्वित्थमेव पाठः किंत्वत्र पादे नवाक्षरत्वात् छन्दोभङ्गो भवति 'तत्पादपूजनं कृत्वा' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेयसा पात्रनिक्षिप्तपुण्ड्रेक्षुरसधारया । स्पर्धयेव सुरैः सृष्टा वसुधारापतद्दिवः ॥१९५॥
अभ्यर्चिते तपोवृद्ध्यै धर्मतीर्थकरे गते । दानतीर्थकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥१९६॥
श्रुत्वा देवनिकायेभ्यः सद्दानफलघोषणम् । समेत्य पूजयन्ति स्म श्रेयांसं भरतादयः ॥१९७॥
इतिहासमनुस्मृत्य दानधर्मविधिं ततः । शुश्रुवुः श्रद्धया युक्ताः प्रत्यक्षफलदर्शिनः ॥१९८॥
प्रतिग्रहोऽतिथेरुच्चैःस्थानस्थापनमन्यतः । पादप्रक्षालनं दात्रा पूजनं प्रणतिस्ततः ॥१९९॥
मनोवचनकायानामेषणायाश्च शुद्धयः । प्रकारा नव विज्ञेया दानपुण्यस्य संग्रहे ॥२००॥
पुण्यमित्थमुपात्तं यत् तदभ्युदयलक्षणम् । दत्त्वा दातुः फलं दत्ते प्राग् निश्रेयसलक्षणम् ॥२०१॥
इतिश्रुतयथातत्त्वा श्रेयांसमभिनन्द्य ते । दानधर्मोद्यतस्वान्ता नृपा याता यथागतम् ॥२०२॥
सहस्रवर्षं वृषभो चतुर्ज्ञानचतुर्मुखः । चक्रे मोक्षार्थबोधार्थं तपो नानाविधं स्वयम् ॥२०३॥
सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुर्जिष्णुराबभौ । रूढप्ररोहशाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादपः ॥२०४॥
अन्यदा विहरन् प्राप्तः पूर्वतालपुरं पुरम् । राजा वृषभसेनाख्यो यत्रास्ते भरतानुजः ॥२०५॥
तत्रोद्यानं महोद्योगः शकटास्याभिधानकम् । ध्यानयोगमथासाद्य स न्यग्रोधतरोरधः ॥२०६॥
उपविष्टः शिलापट्टे पर्यङ्कासनबन्धनः । वशस्थकरणग्रामः शुक्लध्यानासिधारया ॥२०७॥

समय आकाशमें न समा सकनेके कारण ही मानो सुमन (पुष्पों) की वर्षा होने लगी थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो राजा श्रेयान्सकी सुमनवृत्ति—पवित्र मनका व्यापार ही भीतर न समा सकनेके कारण शरीरसे बाहर निकल रहा हो ॥१९४॥ राजा श्रेयान्सने पात्रके लिए जो इक्षुरसकी धारा दी थी उसके साथ ईर्ष्या होनेके कारण ही मानो आकाशसे देवकृत रत्नोंकी धारा नीचे पड़ने लगी ॥१९५॥ पूजा होनेके बाद जब धर्म तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तपकी वृद्धिके लिए वनको चले गये तब देवोंने अभिषेकपूर्वक दान तीर्थंकर—राजा श्रेयान्सकी पूजा की ॥१९६॥ देवोंसे समीचीन दान और उसके फलकी घोषणा सुन भरतादि राजाओंने भी आकर राजा श्रेयान्सकी पूजा की ॥१९७॥ इतिहास—पूर्व घटनाका स्मरण कर राजा श्रेयान्सने जो दानरूपी धर्मकी विधि चलायी थी उसे दानका प्रत्यक्ष फल देखनेवाले भरत आदि राजाओंने बड़ी श्रद्धाके साथ श्रवण किया ॥१९८॥ राजा श्रेयान्सने बताया कि दान सम्बन्धी पुण्यका संग्रह करनेके लिए १ अतिथिको पड़गाहना, २ उच्च स्थानपर बैठाना, ३ पाद-प्रक्षालन करना, ४ दाता द्वारा अतिथिकी पूजा होना, ५ नमस्कार करना, ६ मनःशुद्धि, ७ वचन-शुद्धि, ८ काय-शुद्धि और ९ आहार-शुद्धि बोलना ये नौ प्रकार जाननेके योग्य हैं ॥१९९–२००॥ दानका फल बताते हुए राजा श्रेयान्सने कहा कि इस तरह दान देनेसे जो पुण्य संचित होता है वह दाताके लिए पहले स्वर्गादि रूप फल देकर अन्तमें मोक्षरूपी फल देता है ॥२०१॥ इस तरह यथार्थ बातको सुनकर जिनके चित्त दानरूपी धर्मके लिए उद्यत हो रहे थे ऐसे भरत आदि राजा जैसे आये थे वैसे चले गये ॥२०२॥ चार ज्ञानरूपी चार मुखोंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने स्वयं मोक्ष तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए एक हजार वर्ष तक नाना प्रकारका तप किया ॥२०३॥ लम्बी-लम्बी जटाओंके भारसे सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय जिसकी शाखाओंसे पाये लटक रहे थे ऐसे वट-वृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२०४॥

अथानन्तर किसी समय विहार करते हुए भगवान्, पूर्वतालपुर नामक उस नगरमें पहुँचे जहाँ कि भरतका छोटा भाई राजा वृषभसेन रहता था ॥२०५॥ वहाँ वे शकटास्य नामक उद्यान-में बड़ी तत्परताके साथ ध्यान धारण कर वटवृक्षके नीचे एक शिलापर पर्यंकासनसे विराजमान हो गये। उस समय उन्होंने शुक्ल ध्यानरूपी तलवारकी धारसे इन्द्रियोंके समूहको अपने वश

१. दत्वा तु यत्फलं भुक्तं म. । २. यथाक्रमम् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरूढः क्षपकश्रेणिं रणक्षोणीं क्षणेन सः । महोत्साहगजारूढो मोहराजमपातयत् ॥२०८॥
ज्ञानावरणशत्रुं च दर्शनावरणद्विषम् । अन्तरायरिपुं चैव जघान युगपत् प्रभुः ॥२०९॥
चतुर्घातिक्षयाच्चास्य केवलज्ञानमुद्गतम् । समस्तद्रव्यपर्यायलोकालोकावलोकनम् ॥२१०॥
चतुर्देवनिकायाश्च पूर्ववत् समुपागताः । सेन्द्राः नेमुर्जिनेन्द्रं तं गायन्तः कर्मणां जयम् ॥२११॥
प्रातिहार्यैस्ततोऽष्टाभिर्जिनेन्द्रस्तत्क्षणोद्भवैः । स चतुस्त्रिंशद्विशेषैरशेषैः सहितो बभौ ॥२१२॥
पुत्रचक्रसमुत्पत्त्या जिनकेवलजन्मना । दिष्ट्याभिवर्धितो यातो भरतो वन्दितुं विभुम् ॥२१३॥
[1]संप्राप्तः कुरुभोजाद्यैश्चतुरङ्गबलावृतः । आर्हन्त्यविभवोपेतमभ्यर्च्य प्रणनाम तम् ॥२१४॥
नृपैर्वृषभसेनस्तं बहुभिर्वृषभं श्रितः । संयमं प्रतिपद्याभूद् गणभृत् प्रथमः प्रभोः ॥२१५॥
लक्ष्मीमत्यात्मजं राज्ये जयमायोज्य सानुजम् । प्रव्रज्यां प्रतिपन्नौ तौ श्रेयःसोमप्रभौ नृपौ ॥२१६॥
ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसंगते । प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते ॥२१७॥
आर्हन्त्यैश्वर्यमालोक्य वृषभस्य जिनस्य यत् । सम्यक्त्वव्रतसंयुक्तं यथायोगमभूत्तदा ॥२१८॥
इन्द्रनीलनिभान् केशान् पद्मरागमयैः करैः । उद्धरन्तः स्वयं रेजुः स्त्रीपुंसोऽरागिणस्ततः ॥२१९॥
तदा प्रव्रजतां तेषां नापेक्षाभून्मनस्विनाम् । केशेष्विव शरीरेषु मृदुस्निग्धघनेष्वपि ॥२२०॥
ततश्चतुर्विधे संघे निकाये च दिवौकसाम् । सरणे समवाद्ये[2] च जाते द्वादश योजने ॥२२१॥

कर लिया था ॥२०६-२०७॥ उन्होंने क्षपक श्रेणिरूपी रणभूमिमें प्रवेश कर महोत्साहरूपी हाथी-पर सवार हो क्षणभरमें मोहरूपी राजाको नीचे गिरा दिया ॥२०८॥ और उसके बाद ही एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन शत्रुओंको भी नष्ट कर दिया ॥२०९॥ इस तरह चार घातिया कर्मोंके क्षयसे उन्हें समस्त द्रव्यपर्याय तथा लोक-अलोकको दिखानेवाला केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ ॥२१०॥ पूर्वकी भाँति इन्द्रों सहित चारों निकायोंके देवोंने आकर जिनेन्द्र देवको नमस्कार किया। उस समय समस्त देव भगवान्ने कर्म शत्रुओंपर जो विजय प्राप्त की थी उसका गुणगान कर रहे थे ॥२११॥ तदनन्तर तत्क्षणमें उत्पन्न हुए आठ प्रातिहार्यों और चौंतीस अतिशयों-से सहित भगवान् अत्यधिक सुशोभित होने लगे ॥२१२॥ उसी समय भरतको पुत्रकी उत्पत्ति, चक्ररत्नकी प्राप्ति और भगवान्को केवलज्ञानका लाभ ये तीन समाचार एक साथ मिले। इस भाग्यवृद्धिसे प्रसन्न होता हुआ भरत सर्वप्रथम भगवान्की वन्दना करनेके लिए चला ॥२१३॥ कुरुवंशी तथा भोजवंशी आदि राजाओंके साथ चतुरंग सेनासे आवृत भरतने जाकर अरहन्त सम्बन्धी विभूतिसे युक्त भगवान्की पूजा कर उन्हें प्रणाम किया ॥२१४॥ उसी समय अनेक राजाओंके साथ राजा वृषभसेन भगवान्के पास गया और संयम धारण कर उनका प्रथम गणधर हो गया ॥२१५॥ लक्ष्मीमतीके पुत्र जयकुमार तथा उसके छोटे भाईको राज्यकार्यमें नियुक्त कर राजा श्रेयान्स और सोमप्रभने भी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६॥ धैर्यसे युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियाँ अनेक स्त्रियोंके साथ दीक्षा ले आर्यिकाओंकी स्वामिनी बन गयीं ॥२१७॥ वृषभ जिनेन्द्रके अर्हन्त सम्बन्धी वैभवको देखकर अन्य लोग भी उस समय यथायोग्य सम्यग्दर्शन तथा श्रावकोंके व्रतसे युक्त हुए थे ॥२१८॥ उस समय रागरहित स्त्री-पुरुष, पद्मराग मणियोंके समान अपने लाल-लाल हाथोंसे इन्द्रनील मणिके समान काले-काले केशोंको स्वयं उखाड़ते हुए अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥२१९॥ उस समय दीक्षा लेनेवाले धैर्यशाली मनुष्योंका जिस प्रकार कोमल, चिकने और सघन बालोंमें स्नेह नहीं था उसी प्रकार अपने शरीरोंमें भी उनका स्नेह नहीं था ॥२२०॥ तदनन्तर बारह योजन विस्तारवाले समवसरणकी रचना हुई, उसमें चतुर्विध संघ

१. संप्राप्तकुरु म. । २. समवाये म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाप्रभावसंपन्नास्तत्र शासनदेवताः । नेमुश्चाप्रतिचक्राद्या वृषभं धर्मचक्रिणम् ॥२२२॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तस्थुर्दक्षिणतो जिनस्य मुनयः कल्पाङ्गनाश्चार्यिकाः
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूवर्गाः क्रमेणैव हि ।
भूयोभावनभौमदेवनिवहा[1] ज्योतिष्ककल्पाः नृपाः
तिर्यञ्चश्च पृथक् पृथक् पृथुनिजस्थाने गणा द्वादश ॥२२३॥
त्रैलोक्ये जिनशासनोरुपदवीशुश्रूषयावस्थिते
संपृष्टः प्रथमेन तत्र गणिना विश्वार्थविद्योतनः ।
भूयोभेदविवृत्तयाधरपरिस्पन्दोज्झितस्वात्मना[2]
मोहध्वान्तमपाकरोदथ जिनो भानुः स्वभाषाश्रिया ॥२२४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ऋषभनाथकैवल्योत्पत्तिवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।

□

और चार निकायके देव यथास्थान आसीन हुए ॥२२१॥ उस समवसरणमें महाप्रभावसे सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता, धर्मचक्रके धारक भगवान् वृषभदेवको निरन्तर नमस्कार करते रहते थे ॥२२२॥ समवसरणमें बारह सभाएँ थीं उनमें भगवान्की दाहिनी ओरसे लेकर १ मुनि, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ, ४ ज्योतिषी देवोंकी देवियाँ, ५ व्यन्तर देवोंकी देवियाँ, ६ भवनवासी देवोंकी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिषी देव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और १२ तिर्यञ्च ये बारह गण पृथक्-पृथक् अपने-अपने विस्तृत स्थानोंपर बैठे थे ॥२२३॥ अथानन्तर जब तीन लोकके जीव भगवान्का दिव्य उपदेश सुननेकी इच्छासे शान्ति-पूर्वक बैठ गये तब प्रथम गणधरने समस्त पदार्थोंके प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्ररूपी सूर्यसे प्रश्न किया और उन्होंने नाना भेदोंमें परिवर्तित होनेवाली एवं ओठोंके परिस्पन्दसे रहित अपनी दिव्य ध्वनिरूपी लक्ष्मीके द्वारा मोहरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया ॥२२४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे सहित जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें श्रीऋषभनाथ भगवान्की केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला नवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

□

१. भौम म. । २. परिस्पन्दोज्झितः स्वात्मना म., परिष्पन्दोज्झितास्यात्मना क., ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशमः सर्गः

धर्मं प्रवदता तेन तदा त्रैलोक्यसंनिधौ । धृतं वर्षसहस्रान्तं मौनमुद्योदितं दृढम् ॥१॥
संसारतरणं तीर्थं नाथे दर्शयति स्वयम् । ददर्श जगदत्यर्थं गम्भीरार्थमपि स्फुटम् ॥२॥
वागाद्यतिशयोद्योते द्योतयत्यर्थसंपदम्[1] । जिनेन्द्रद्युमणौ को वा मिथ्यान्धतमसं भजेत् ॥३॥
जिनेन्द्रोऽथ जगौ धर्मः कार्यः सर्वसुखाकरः । प्राणिभिः सर्वयत्नेन स्थितः प्राणिदयादिषु ॥४॥
सुखं देवनिकायेषु मानुषेषु च यत्सुखम् । इन्द्रियार्थसमुद्भूतं तत्सर्वं धर्मसंभवम् ॥५॥
कर्मक्षयसमुद्भूतमपवर्गसुखं च यत् । आत्माधीनमनन्तं तद् धर्मादेवोपजायते ॥६॥
दया सत्यमथास्तेयं ब्रह्मचर्यममूर्च्छता । सूक्ष्मतो यतिधर्मः स्यात्स्थूलतो गृहमेधिनाम् ॥७॥
दानपूजातपःशीललक्षणश्च चतुर्विधः । त्यागजश्चैव शारीरो धर्मो गृहनिषेविणाम् ॥८॥
सम्यग्दर्शनमूलोऽयं महर्द्धिकसुरश्रियम् । ददाति यतिधर्मस्तु पुष्टो मोक्षसुखप्रदः ॥९॥
स्वर्गापवर्गमूलस्य सद्धर्मस्येह लक्षणम् । श्रुतज्ञानाद्विनिश्चेयमर्वाग्दर्शिभिरर्थिभिः ॥१०॥
द्वादशाङ्गं श्रुतज्ञानं द्रव्यभावभिदां श्रितम्[2] । आप्तामिव्यङ्ग्यमाप्तश्च निर्दोषावरणो[3] मतः ॥११॥

उस समय त्रिलोकवर्ती जीवोंके सन्निधानमें धर्मका उपदेश देते हुए भगवान्ने एक हजार वर्ष तक दृढ़तापूर्वक धारण किया हुआ मौन खोला ॥१॥ श्री आदि जिनेन्द्र स्वयं ही संसार-सागरमें पार करनेवाला तीर्थ दिखला रहे थे, इसलिए संसारके समस्त जीव अतिशय गूढ़ अर्थको भी सरलतासे देख रहे थे। भावार्थ—यद्यपि दिव्यध्वनिमें प्रतिपादित पदार्थ अत्यन्त गम्भीर था फिर भी वक्ताके प्रभावसे लोग उसे सरलतासे समझ रहे थे ॥२॥ उस समय जब कि वचन आदिके अतिशयोंसे प्रकाशमान जिनेन्द्ररूपी सूर्य स्वयं पदार्थोंको प्रकाशित कर रहे थे तब कौन मनुष्य मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको प्राप्त हो सकता था ? अर्थात् कोई नहीं ॥३॥

अथानन्तर जिनेन्द्र भगवान्ने कहा कि समस्त प्राणियोंको जीव-दया आदि कार्योंमें स्थित धर्म पूर्ण प्रयत्नसे करना चाहिए क्योंकि धर्म ही समस्त सुखोंकी खान है ॥४॥ चार निकायके देवों और मनुष्योंमें इन्द्रिय विषयजन्य जो सुख दिखाई देता है वह सब धर्मसे ही उत्पन्न हुआ है ॥५॥ और कर्मोंके रूपसे उत्पन्न, स्वाधीन तथा अन्तसे रहित जो मोक्षसम्बन्धी सुख है वह भी धर्मसे ही उत्पन्न होता है ॥६॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सूक्ष्म रीतिसे धारण किये जावें तो मुनिका धर्म है और स्थूल रीतिसे धारण किये जावें तो गृहस्थका धर्म है ॥७॥ दान, पूजा, तप और शील यह गृहस्थका चार प्रकारका शारीरिक धर्म है—शरीरसे करने योग्य है। गृहस्थका यह चतुर्विध धर्म त्यागसे ही उत्पन्न होता है ॥८॥ सम्यग्दर्शन जिसकी जड़ है ऐसा यह गृहस्थका धर्म महर्द्धिक देवोंकी लक्ष्मी प्रदान करता है और पूर्णतासे पालन किया हुआ मुनिधर्म मोक्ष सुखको देनेवाला है ॥९॥ जो मात्र अर्वाचीन बातको ही देख सकते हैं ऐसे हिताभिलाषी मनुष्योंको (छद्मस्थ जीवोंको) स्वर्ग और मोक्षके मूलभूत समीचीन धर्मका लक्षण श्रुतज्ञानके द्वारा जानना चाहिए। भावार्थ—अल्पज्ञानी मनुष्य द्वादशांगके सहारे ही धर्मका लक्षण समझ सकते हैं, इसलिए यहाँ द्वादशांगका वर्णन करना उचित है ॥१०॥ द्रव्यश्रुत और भावश्रुतके भेदको प्राप्त हुआ द्वादशांग श्रुतज्ञान आप्तके द्वारा प्रकट होता है और आप्त वही माना गया है

---

१. संपदां म., ख., ङ. । २. सृतं म. । ३. निर्दोषाचरणो म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतं च स्वसमासेन पर्यायोऽक्षरमेव च । पदं चैव हि संघातः प्रतिपत्तिरतः परम् ॥१२॥
अनुयोगयुतं द्वारैः प्राभृतप्राभृतं ततः । प्राभृतं वस्तु पूर्वं च भेदान् विंशतिमाश्रितम्[1] ॥१३॥
श्रुतज्ञानविकल्पः स्यादेकह्रस्वाक्षरात्मकः । अनन्तानन्तभेदाणुपुद्गलस्कन्धसंचयः ॥१४॥
अनन्तानन्तभागैस्तु भिद्यमानस्य तस्य च । भागः पर्याय इत्युक्तः श्रुतभेदो ह्यनल्पशः ॥१५॥
सोऽपि सूक्ष्मनिगोदस्यालब्धपर्याप्तदेहिनः । संभवी सर्वथा तावान् श्रुतावरणवर्जितः ॥१६॥
सर्वस्यैव हि जीवस्य तावन्मात्रस्य नावृतिः । आवृतौ तु न जीवः स्यादुपयोगवियोगतः ॥१७॥
जीवोपयोगशक्तेश्च न विनाशः सयुक्तिकः । स्यादेवास्यभ्ररोधेऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभा ॥१८॥
पर्यायानन्तभागेन पर्यायो युज्यते यदा । स पर्यायसमासः स्यात् श्रुतभेदो हि सावृतिः ॥१९॥
अनन्तासंख्यसंख्येयभागवृद्धिक्षयान्वितः । संख्येयासंख्यकानन्तगुणवृद्धिक्रमेण च ॥२०॥
स्यात्पर्यायसमासोऽसौ यावदक्षरपूर्णता । एकैकाक्षरवृद्ध्या स्यात् तत्समासः पदावधिः ॥२१॥
पदमर्थपदं ज्ञेयं प्रमाणपदमित्यपि । मध्यमं पदमित्येवं त्रिविधं तु पदं स्थितम् ॥२२॥
[2]एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताक्षरमर्थवत् । पदमाद्यं द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम् ॥२३॥

जो रागादिक दोष तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन आवरणोंसे रहित हो ॥११॥ श्रुतज्ञानके १ पर्याय, २ पर्याय-समास, ३ अक्षर, ४ अक्षर-समास, ५ पद, ६ पद-समास, ७ संघात, ८ संघात-समास, ९ प्रतिपत्ति, १० प्रतिपत्ति-समास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोग-समास, १३ प्राभृत-प्राभृत, १४ प्राभृत-प्राभृत-समास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृत-समास, १७ वस्तु, १८ वस्तु-समास, १९ पूर्व और २० पूर्व-समास—ये बीस भेद हैं ॥१२-१३॥ श्रुतज्ञानके अनेक विकल्पोंमें एक विकल्प एक ह्रस्व अक्षर रूप भी है। इस विकल्पमें द्रव्यकी अपेक्षा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओंसे निष्पन्न स्कन्धका संचय होता है ॥१४॥ इस एक ह्रस्वाक्षररूप विकल्पके अनेक बार अनन्तानन्त भाग किये जावें तो उनमें एक भाग पर्याय नामका श्रुतज्ञान होता है ॥१५॥ वह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म-निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीवके होता है और श्रुतज्ञानावरणके आवरणसे रहित होता है ॥१६॥ सभी जीवोंके उतने ज्ञानके ऊपर कभी आवरण नहीं पड़ता। यदि उसपर भी आवरण पड़ जावे तो ज्ञानोपयोगका सर्वथा अभाव हो जायेगा और ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका भी अभाव हो जायेगा ॥१७॥ यह युक्तिसे सिद्ध है कि जीवकी उपयोग शक्तिका कभी विनाश नहीं होता। जिस प्रकार कि मेघका आवरण होनेपर भी सूर्य और चन्द्रमाकी प्रभा कुछ अंशोंमें प्रकट रही आती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानका आवरण होनेपर भी पर्याय नामका ज्ञान प्रकट रहा आता है ॥१८॥ जब यही पर्यायज्ञान पर्याय ज्ञानके अनन्तवें भागके साथ मिल जाता है तब वह पर्याय-समास नामका श्रुतज्ञान कहलाने लगता है। यह श्रुतज्ञान आवरणसे सहित होता है अर्थात् जबतक पर्याय-समास नामक श्रुतज्ञानावरणका उदय रहता है तब-तक प्रकट नहीं होता उसका क्षयोपशम होनेपर ही प्रकट होता है ॥१९॥ यह पर्याय-समास-ज्ञान अनन्तभागवृद्धि, असंख्यभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि तथा अनन्तभागहानि, असंख्यात-भागहानि एवं संख्यातभागहानिसे सहित हैं। पर्यायज्ञानके ऊपर संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यात-गुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते-होते जबतक अक्षरज्ञानकी पूर्णता होती है तबतकका ज्ञान पर्याय-समासज्ञान कहलाता है। उसके बाद अक्षरज्ञान प्रारम्भ होता है उसके ऊपर पदज्ञान तक एक-एक अक्षरकी वृद्धि होती है। इस वृद्धि प्राप्त ज्ञानको अक्षर-समास ज्ञान कहते हैं। अक्षर-समासके बाद पदज्ञान होता है ॥२०-२१॥ अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यम-पदके भेदसे पद तीन प्रकारका है ॥२२॥ इनमें एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात अक्षर-

---

१. मासृतं म. । २. एकं म., क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोट्यश्चैवं चतुस्त्रिंशत् तच्छतान्यपि षोडश । त्र्यशीतिश्च पुनर्लक्षाः शतान्यष्टौ च सप्ततिः ॥२४॥
अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युर्मध्यमे तु पदे स्थिताः । पूर्वाङ्गपदसंख्या स्यान्मध्यमेन पदेन सा ॥२५॥
एकैकाक्षरवृद्ध्या तु तत्समासमिदस्ततः । इत्थं पूर्वसमासान्तं द्वादशाङ्गं श्रुतं स्थितम् ॥२६॥
अष्टादशसहस्राणां पदानां संख्यया युतम् । तत्राचाराङ्गमाचारं साधूनां वर्णयत्यलम् ॥२७॥
यत्पट्त्रिंशत्सहस्रैस्तु पदैः सूत्रकृतं युतम् । परस्वसमयार्थानां वर्णकं तद् विशेषतः ॥२८॥
चत्वारिंशत्सहस्रैश्च द्विसहस्रैः पदैर्युतम् । स्थानं स्थानान्तरं जन्तोर्वक्त्येकादिदशोत्तरम् ॥२९॥
चतुःषष्टिसहस्रैर्यत्पदैश्च पदलक्षया । लक्षितं समवायाङ्गं वक्ति द्रव्यादितुल्यताम् ॥३०॥
धर्माधर्मैकजीवानां लोकाकाशस्य वा यथा । प्रदेशा द्रव्यतस्तुल्याः समवायेन वर्णिताः ॥३१॥
सिद्धिसीमन्तकर्त्वाख्यं[1] विमानं नरलोकजम् । प्रमाणं सममित्युक्तं तत्रैव क्षेत्रतस्तथा ॥३२॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः कालतः समतोदिता । भावतोऽनन्तयोस्तत्र ज्ञानदर्शनयोरपि ॥३३॥
पदानां तु सहस्राणि यत्राष्टाविंशतिस्तथा । लक्षयोर्द्वयमाख्यातं व्याख्याप्रज्ञप्तिसंज्ञके ॥३४॥
तत्रोत्पथव्युदासेन विनयेन सविस्तरः । प्रश्नव्याख्यानभेदानां क्रमः समुपवर्ण्यते ॥३५॥

तकका पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षररूप प्रमाणपद होता है और मध्यमपदमें सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं, और अंग तथा पूर्वोंके पदकी संख्या इसी मध्यम पदसे होती है ॥२३-२५॥ एक-एक अक्षरकी वृद्धि कर पदसमाससे लेकर पूर्व-समास पर्यन्त समस्त द्वादशांग श्रुत स्थित है ॥२६॥ उनमें पहला अंग आचारांग है जो मुनियोंके आचारका अच्छी तरह वर्णन करता है और अठारह हजार पदोंसे सहित है ॥२७॥ दूसरा अंग सूत्रकृतांग है जो स्वसमय और परसमयका विशेषरूपसे वर्णन करता है तथा छत्तीस हजार पदोंसे सहित है ॥२८॥ तीसरा अंग स्थानांग है जो जीवके एकसे लेकर दश तक स्थानोंका वर्णन करता है और बयालीस हजार पदोंसे सहित है। भावार्थ—स्थानांगमें—जीवके एक केवलज्ञान, एक मोक्ष, एक आकाश, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य आदि। दो दर्शन, दो ज्ञान, दो राग-द्वेष आदि। तीन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय, माया, मिथ्या, निदान—तीन शल्य, जन्म-जरा-मरण—तीन दोष आदि। चार गति, चार कषाय, चार अनन्त चतुष्टय आदि। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच अस्तिकाय, पाँच कषाय आदि। छह द्रव्य, छह लेश्या, छह काय, छह आवश्यक आदि। सात तत्त्व, सात भय, सात व्यसन, सात नरक आदि। आठ कर्म, आठ गुण, आठ ऋद्धियाँ आदि, नौ पदार्थ, नौ नय, नौ शील आदि। तथा दश धर्म, दश परिग्रह, दश दिशा आदि। इस तरह सदृश संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन है ॥२९॥ चौथा अंग समवायांग है। यह एक लाख चौंसठ हजार पदोंसे सहित है तथा द्रव्य आदिकी तुल्यताका वर्णन करता है ॥३०॥ जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाशके प्रदेश एक बराबर हैं—असंख्यातप्रदेशी हैं—यह द्रव्यकी अपेक्षा तुल्यता समवाय अंग द्वारा वर्णित है ॥३१॥ सिद्धशिला, प्रथम नरकका सीमन्तक नागका इन्द्रक विल, प्रथम स्वर्गका ऋतु-विमान और अढ़ाई द्वीप ये क्षेत्रसे समान हैं—पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाले हैं—यह क्षेत्रकी अपेक्षा समानता उसी समवायांगमें कही गयी है ॥३२॥ कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकी समानता कही गयी है अर्थात् दोनों दश-दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हैं और भावकी अपेक्षा केवलज्ञान तथा केवलदर्शनकी तुल्यता बतलायी गयी है अर्थात् जिस प्रकार केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसी प्रकार केवलदर्शनके भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं ॥३३॥ पाँचवाँ अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग है उसमें पदोंकी संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है। इस अंगमें कुमार्गत्यागी गणधरादि

---

१. कर्ज्वाख्यं म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्पञ्चाशत् सहस्राणि पञ्च लक्षाः पदानि तु । ज्ञातृधर्मकथाचष्टे जिनधर्मकथामृतम् ॥३६॥
यत्रैकादशलक्षाश्च सहस्राण्यपि सप्ततिः । पदान्युपासकास्तत्रोपासकाध्ययने सृताः ॥३७॥
त्रयोविंशतिलक्षाश्च सहस्राणि च विंशतिः । अष्टौ चैव सहस्राणि स्युः पदान्यन्तकृद्दशे ॥३८॥
दशोपसर्गजेतारः प्रतितीर्थं दशोदिताः । संसारान्तकृतस्तत्र मुनयो ह्यन्तकृद्दशे ॥३९॥
लक्षा द्वानवतिर्यत्र चत्वारिंशत्सहस्रकैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि पदान्यभिहितानि तु ॥४०॥
तत्रौपपादिके देशे वर्ण्यन्तेऽनुत्तरादिके । दशोपसर्गजयिनो दशानुत्तरगामिनः ॥४१॥
स्त्रीपुंनपुंसकैस्तिर्यग्नृसुरैरष्ट ते कृताः । शरीराचेतनत्वाभ्यामुपसर्गा दशोदिताः ॥४२॥
आक्षेपण्यादयो यत्र प्रश्नव्याकरणे कथाः । पदलक्षास्त्रिनवतिः सहस्राण्यत्र षोडश ॥४३॥
अङ्गं विपाकसूत्रं यद् विपाकं कर्मणोऽवदत् । कोटी चतुरशीतिश्च पदलक्षा ह्योदिताः ॥४४॥
शतं कोटीभिरष्टाभिः सहाष्टाः षष्टिलक्षकाः । षट्पञ्चाशत्सहस्राणि पदानां पञ्च यत्र हि ॥४५॥
दृष्टिवादप्रमाणं स्यादेतत्तत्र सविस्तरम् । शतानि त्रीणि वर्ण्यन्ते त्रिषष्ट्यधिकदृष्टयः ॥४६॥
क्रियातश्चाक्रियातोऽन्या अज्ञानाद्विनयात्पराः । वदन्त्यो दृष्टयः सिद्धिं ताश्चतुर्धा व्यवस्थिताः ॥४७॥
सक्रियाः शतधाऽशीत्या चतस्रोऽशीतिरक्रियाः । अज्ञानात्सप्तषष्टिस्ता द्वात्रिंशद्विनयश्रिताः ॥४८॥

शिष्योंके द्वारा विनय-पूर्वक केवलीसे किये गये अनेक प्रश्न तथा उनके उत्तरका विस्तारके साथ वर्णन है ॥३४-३५॥ छठा अंग ज्ञातृकथांग है यह जिनधर्मकी कथारूप अमृतका व्याख्यान करता है तथा इसमें पाँच लाख छप्पन हजार पद हैं ॥३६॥ सातवाँ अंग उपासकाध्ययनांग है। श्रावकगण इसी अंगके आश्रित हैं अर्थात् श्रावकाचारका वर्णन इसी अंगमें है, इस अंगमें ग्यारह लाख सत्तरह हजार पद हैं ॥३७॥ आठवाँ अंग अन्तकृद् दशांग है इसमें तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद हैं ॥३८॥ इसमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दश प्रकारके उपसर्गको जीतकर संसारका अन्त करनेवाले दश-दश मुनियोंका वर्णन है ॥३९॥ नौवाँ अंग अनुत्तरोपपादिक दशांग है इसमें बानबे लाख चवालीस हजार पद कहे गये हैं। इस अंगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दश प्रकारके उपसर्ग जीतकर अनुत्तरादि विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश मुनियोंका वर्णन है ॥४०-४१॥ स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेदसे तीन प्रकारके तिर्यंच, तीन प्रकारके मनुष्य एवं स्त्री और पुरुषके भेदसे दो प्रकारके देव इन आठ चेतनोंके द्वारा किये हुए आठ प्रकारके चेतनकृत, एक शारीरिक, कुष्ठादिककी वेदनाकृत और एक अचेतनकृत—दीवाल आदिके गिरनेसे उत्पन्न सब मिलाकर दश प्रकारके उपसर्ग कहे गये हैं ॥४२॥ दशवाँ अंग प्रश्नव्याकरणांग है इसमें *आक्षेपिणी आदि कथाओंका वर्णन है तथा इसमें तिरानबे लाख सोलह हजार पद हैं ॥४३॥ ग्यारहवाँ अंग विपाकसूत्रांग है। यह अंग ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके विपाक-फलका वर्णन करता है और इसमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं ॥४४॥ और बारहवाँ अंग दृष्टिप्रवाद अंग है इसमें पदोंकी संख्या एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच है ॥४५॥ इस अंगमें तीन सौ त्रेसठ दृष्टियोंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है ॥४६॥ मूलमें १ क्रियादृष्टि, २ अक्रियादृष्टि, ३ अज्ञानदृष्टि और ४ विनयदृष्टिके भेदसे दृष्टियाँ चार प्रकारकी हैं। ये दृष्टियाँ क्रमसे क्रिया, अक्रिया, अज्ञान और विनयसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है, ऐसा निरूपण करती हैं ॥४७॥ इनमें

१. के ते दशोपसर्गाः ? तिर्यंचः स्त्रीपुंनपुंसकाः, नरः स्त्रीपुंनपुंसकाः, देवाः स्त्रीपुरुषाः इत्थं चेतनकृता अष्टौ शारीरिकं कुष्ठव्याध्यादि, अचेतनं भित्तिपतनादिकम्—सर्वे दशविधा उपसर्गाः ।

* १ आक्षेपिणी, २ विक्षेपिणी, ३ संवेदिनी और ४ निर्वेदिनीके भेदसे कथाएँ चार प्रकारकी हैं; जिसमें स्वमतका स्थापन होता है उसे आक्षेपिणी, जिसमें परमतका खण्डन है उसे विक्षेपिणी, जिसमें धर्मके कलका वर्णन है उसे संवेदिनी और जिसमें वैराग्यका वर्णन है उसे निर्वेदिनी कथा कहते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियतिश्च स्वभावश्च कालो दैवं च पौरुषम् । पदार्था नव जीवाद्या स्वपरौ नित्यतापरौ ॥४९॥
पञ्चभिर्नियतिपृष्टैश्चतुर्भिः स्वपरादिभिः । एकैकस्यात्र जीवादेर्योगेऽशीत्युत्तरं शतम् ॥५०॥
नियत्यास्ति स्वतो जीवः परतो नित्यतोऽन्यतः । स्वभावात्कालतो दैवात् पौरुषाच्च तथेतरे[1] ॥५१॥
सप्तजीवादितत्त्वानि स्वतश्च परतोऽपि च । प्रत्येकं पौरुषान्तेभ्यो न सन्तीति हि सप्तिः[2] ॥५२॥
नियते कालतः स्वन्तर्न तानीति चतुर्दश । सप्तत्या सत्यमायोगेऽशीतिश्चतुरधिष्ठिताः ॥५३॥
पदार्थान्नव को वेत्ति सदाद्यैः सप्तभङ्गकैः । इत्यज्ञानिकसंदृष्ट्या त्रिषष्टिरुपचीयते[3] ॥५४॥
सज्जीवभाववित्को वा को वाऽसज्जीवभाववित् । सदसज्जीवभावज्ञः कश्चावक्तव्यजीववित् ॥५५॥
सदवक्तव्यजीवज्ञोऽसदवक्तव्यविच्च कः । सदसत्तमवक्तव्यं को वा वेत्तीति यो जनः ॥५६॥
सद्भावोत्पत्तिवित् वा कोऽसद्भावोत्पत्तिवित्च कः । उभयोत्पत्तिवित्कश्चाऽवक्तव्योत्पत्तिवित्च कः ॥५७॥

क्रियावादी एक सौ अस्सी, अक्रियावादी चौरासी, अज्ञानवादी अड़सठ और विनयवादी बत्तीस हैं ॥४८॥ नियति, स्वभाव, काल, देव और पौरुष इन पाँचका स्वतः, परतः, नित्य और अनित्य इन चारके साथ गुणा करनेपर बीस भेद होते हैं और इन बीस भेदोंका जीवादि नौ पदार्थोंके साथ योग करनेपर क्रियावादियोंके एक सौ अस्सी भेद होते हैं। जैसे कोई मानता है कि जीव नियतिसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है। कोई मानता है कि जीव स्वभावसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है। कोई मानता है कि जीव कालसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है और कोई मानता है कि जीव दैवसे स्वतः है। कोई मानता है कि परतः है। कोई मानता है कि नित्य है और कोई मानता है कि अनित्य है। और कोई मानता है कि जीव पौरुषसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है। कोई मानता है कि नित्य है और कोई मानता है कि अनित्य है। जिस प्रकार नियति आदिके कारण जीव पदार्थके बीस-बीस भंग हैं उसी प्रकार अजीवादि पदार्थोंके भी बीस भंग हैं। इस तरह क्रियावादियोंके सब मिलाकर एक सौ अस्सी भेद होते हैं ॥४९-५१॥ जीवादि सात तत्त्व, नियति, स्वभाव, काल, दैव और पौरुषकी अपेक्षा न स्वतः हैं और न परतः हैं। इस तरह जीवादि सात तत्त्वोंमें नियति आदि पाँचका गुणा करनेपर पैंतीस और पैंतीसमें स्वतः, परतः इन दोका गुणा करनेपर सत्तर भेद हुए। पुनः जीवादि सात तत्त्व नियति और कालकी अपेक्षा नहीं हैं इसलिए सातमें दोका गुणा करनेपर चौदह भेद हुए। पूर्वोक्त सत्तर भेदोंके साथ इन चौदह भेदोंको मिला देनेपर अक्रियावादियोंके चौरासी भेद होते हैं ॥५२-५३॥ जीवादि नौ पथार्थोंको १ सत्, २ असत्, ३ उभय, ४ अवक्तव्य, ५ सद् अवक्तव्य, ६ असत् अवक्तव्य, और उभय अवक्तव्य इन नौ भंगोंसे कौन जानता है? इस प्रकार नौ पदार्थोंमें सात भंगोंका गुणा करनेपर आज्ञानिक मिथ्यादृष्टियोंके त्रेसठ भेद होते हैं ॥५४॥ जैसे १ कोई कहता है कि जीव सत् रूप है यह कौन जानता है? २ कोई कहता है कि जीव असद् रूप है यह कौन जानता है? ३ कोई कहता है कि जीव सत्-असत्—उभय रूप है यह कौन जानता है? ४ कोई कहता है कि जीव अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? ५ कोई कहता है कि जीव सद् अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? ६ कोई कहता है कि जीव असद् अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? और कोई कहता है कि जीव सत्-असत् अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? इसी प्रकार अजीवादि पदार्थोंके साथ सात-सात भंगोंकी योजना करनेपर त्रेसठ भेद होते हैं। इन त्रेसठ भेदोंमें

---

१. तथोत्तरे म., घ.। २. वसन्तीति हि सप्ततिः ख.। ३. इत्याद्यनेक-म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावमात्राभ्युपगमैर्विकल्पैरेभिराहतैः । त्रिषष्टिः सप्तषष्टिः स्यादाज्ञानिकमतात्मिका ॥५८॥
विनयः खलु कर्तव्यो मनोवाक्कायदानतः । [1]पितृदेवनृपज्ञानिबालवृद्धतपस्विषु ॥५९॥
मनोवाक्कायदानानां मात्राद्यष्टकयोगतः । द्वात्रिंशत्परिसंख्याता वैनयिक्यो हि दृष्टयः ॥६०॥
इत्येवं वदतो दृष्टिं दृष्टिवादस्य पञ्च ते । परिकर्मादयो भेदाश्चूलिकान्ता व्यवस्थिताः ॥६१॥
पञ्चप्रज्ञप्तयः प्रोक्ताः परिकर्मणि ताः पुनः । व्याख्याप्रज्ञप्तिपर्यन्ताश्चन्द्रसूर्यादिनामिकाः ॥६२॥
षट्त्रिंशत्पदलक्षाभिः सहस्रैः पञ्चभिः पदैः । चन्द्रप्रज्ञप्तिराचष्टे चन्द्रभोगादिसंपदाम् ॥६३॥
पदानां पञ्चलक्षाभिः सहस्रैस्त्रिभिरेव च । सूर्यप्रज्ञप्तिराख्याति सूर्यस्त्रीविभवोदयम् ॥६४॥
सहस्रैः पञ्चविंशत्या लक्षाभिस्तिसृभिः पदैः । जम्बूद्वीपस्य सर्वस्वं तत्प्रज्ञप्तिः प्रभाषते ॥६५॥
पदलक्षा द्विपञ्चाशत् षट्त्रिंशत्सहस्रकाः । प्रज्ञप्तौ सन्ति यस्यां सा द्वीपसागरवर्णिनी ॥६६॥
लक्षाश्चतुरशीतिर्या सषट्त्रिंशत्सहस्रकाः । पदानां प्रवदत्येषा व्याख्याप्रज्ञप्तिरुच्यते ॥६७॥
रूपिद्रव्यमरूपं च भव्याभव्यात्मसंचयम् । व्याख्याप्रज्ञप्तिराख्याति समस्तं सा सविस्तरम् ॥६८॥
पदाष्टाशीति लक्षा हि सूत्रे चादावबन्धकाः । श्रुतिस्मृतिपुराणार्था द्वितीये सूत्रताः पुनः ॥६९॥
तृतीये नियतिः पक्षश्चतुर्थे समयाः परे । सूत्रिता ह्यधिकारेऽपि[2] नानाभेदव्यवस्थिताः ॥७०॥
पदैः पञ्चसहस्रैस्तु प्रयुक्ते प्रथमे पुनः । अनुयोगे पुराणार्थस्त्रिषष्टिरुपवर्ण्यते ॥७१॥
चतुर्दशविधं पूर्वं गतं श्रुतमुदीर्यते । प्रतिपूर्वं च वस्तूनि ज्ञातव्यानि यथाक्रमम् ॥७२॥

१ जीवकी सत् उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? २ जीवकी असत् उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? ३ जीवकी सत्-असत् उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? और जीवकी अवक्तव्य उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? केवल भावकी अपेक्षा स्वीकृत इन चार भेदोंके और मिला देनेपर आज्ञानिक मिथ्यादृष्टियोंके सब भेद सड़सठ हो जाते हैं ॥५५–५८॥ १ माता, २ पिता, ३ देव, ४ राजा, ५ ज्ञानी, ६ बालक, ७ वृद्ध और ८ तपस्वी इन आठका मन, वचन, काय और दानसे विनय करना चाहिए। इसलिए मन, वचन, काय और दान इन चारका माता आदि आठके साथ संयोग करनेपर वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके बत्तीस भेद हो जाते हैं ॥५९–६०॥ इस प्रकार अनेक मिथ्यादृष्टियोंका कथन करनेवाले दृष्टिवाद अंगके १ परिकर्म, २ सूत्र, ३ अनुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका ये पाँच भेद हैं ॥६१॥ परिकर्ममें १ चन्द्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये पाँच प्रज्ञप्तियाँ कही गयी हैं अर्थात् इन पाँच प्रज्ञप्तियोंकी अपेक्षा परिकर्मके पाँच भेद हैं ॥६२॥ इनमें चन्द्रप्रज्ञप्ति छत्तीस लाख पाँच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी भोग आदि सम्पदाका वर्णन करती है ॥६३॥ सूर्यप्रज्ञप्ति पाँच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यके स्त्री आदि विभवका निरूपण करती है ॥६४॥ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तीन लाख पचीस हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपके सर्वस्वका वर्णन करती है ॥६५॥ जिसमें बावन लाख छत्तीस हजार पद हैं, ऐसी द्वीप और सागरोंका वर्णन करनेवाली चौथी द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति है ॥६६॥ जो चौरासी लाख छत्तीस हजार पदोंसे युक्त है वह पाँचवीं व्याख्याप्रज्ञप्ति कही जाती है ॥६७॥ व्याख्याप्रज्ञप्ति रूपीद्रव्य, अरूपीद्रव्य तथा भव्य-अभव्य जीवोंके समूह आदि सबका विस्तारके साथ वर्णन करती है ॥६८॥ दृष्टिवादके दूसरे भेद सूत्रमें अठासी लाख पद हैं, इसके अनेक भेदोंमें-से प्रथम भेदमें अबन्धक—बन्ध न करनेवाले भावोंका वर्णन है। दूसरे भेदमें श्रुति, स्मृति और पुराणके अर्थका निरूपण है। तीसरे भेदमें नियति पक्षका कथन है और चौथे भेदमें नाना प्रकारके परसमयों—अन्य दर्शनोंका निरूपण है ॥६९–७०॥ दृष्टिवादके तीसरे भेद अनुयोगमें पाँच हजार पद हैं तथा इसके अवान्तर भेद प्रथमानुयोगमें त्रेसठ शलाकापुरुषोंके पुराणका वर्णन है ॥७१॥ दृष्टिवादका

१. माता च पिता च इति पितरौ एकशेषात् मातृपदस्य लोपः । २. ते म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दश चतुर्दशाष्टौ चाष्टादश द्वादश द्वयोः । दशषड्विंशतिस्त्रिंशत्ततस्त्पञ्चदशैव तु ॥७३॥
दशैवोत्तरपूर्वाणां चतुर्णां वर्णितानि वै । प्रत्येकं विंशतिस्तेषां वस्तूनां प्राभृतानि तु ॥७४॥
पूर्वमुत्पादपूर्वाख्यं पदकोटीप्रमाणकम् । द्रव्यध्रौव्यव्ययोत्पादत्रयव्यावर्णनात्मकम् ॥७५॥
लक्षाः षण्णवतिर्यत्र पदानां तेन दुष्टयः । वर्ण्यन्तेऽग्रायणीयेन स्वमताग्रपदानि तु ॥७६॥
अग्रायणीयपूर्वस्य यान्युक्तानि चतुर्दश । विज्ञातव्यानि वस्तूनि तानीमानि यथाक्रमम् ॥७७॥
पूर्वान्तमपरान्तं च ध्रुवमध्रुवमेव च । तथाच्यवनलब्धिश्च पञ्चमं वस्तु वर्णितम् ॥७८॥
अध्रुवं संप्रणध्यन्तं कल्पाश्चार्थश्च नामतः । भौमावयाद्यमित्यन्यत् तथा सर्वार्थकल्पकम् ॥७९॥
निर्वाणं च तथा ज्ञेयातीतानागतकल्पता । सिद्धाख्यं चाप्युपाध्याख्यं ख्यापितं वस्तु चान्तिमम् ॥८०॥
वस्तुनः पञ्चमस्यात्र चतुर्थे प्राभृते पुनः । कर्मप्रकृतिसंज्ञे तु योगद्वाराण्यमूनि तु ॥८१॥
कृतिश्च वेदनास्पर्शः कर्माख्यं च पुनः परम् । प्रकृतिश्च तथैवान्यद् बन्धनं च निबन्धनम् ॥८२॥
प्रक्रमोपक्रमौ प्रोक्तावुदयो मोक्ष एव च । संक्रमश्च तथा लेश्या लेश्याकर्म च वर्णितम् ॥८३॥
लेश्यायाः परिणामश्च सातासातं तथैव च । दीर्घह्रस्वमपि तथा भवधारणमेव च ॥८४॥
पुद्गलात्माभिधानं च तन्निधत्तानिधत्तकम् । सनिकाचितमित्यन्यदनिकाचितसंयुतम् ॥८५॥
कर्मस्थितिकमित्युक्तं पश्चिमं स्कन्ध एव च । समस्तविषयाधीना बोध्याल्पबहुता तथा ॥८६॥
अन्येषामपि पूर्वाणां वस्तुषु प्राभृतेषु च । अनुयोगेषु चान्येषु भेदो ग्राह्यो यथागमम् ॥८७॥
पदानां सप्ततिर्लक्षा यत्र वर्णयति स्फुटम् । तद्वीर्यानुप्रवादाख्यं वीर्यं वीर्यवतां सताम् ॥८८॥
अस्तिनास्तिप्रवादं च यत्षष्टिपदलक्षकम् । जीवाद्यस्तित्वनास्तित्वं स्वपरादिभिराह तत् ॥८९॥
एकोनपदकोटीकं यत्तद्वर्णयति श्रुतम् । पूर्वं ज्ञानप्रवादाख्यं ज्ञानं पञ्चविधं गुणैः ॥९०॥

चौथा भेद पूर्वगत कहा जाता है उसके उत्पाद आदि चौदह भेद हैं और प्रत्येक भेदमें निम्न प्रकार वस्तुओंकी संख्या जाननी चाहिए ॥७२॥ उन भेदोंमें क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश और दश वस्तुएँ हैं तथा प्रत्येक वस्तुके बीस-बीस प्राभृत होते हैं ॥७३–७४॥ पहला उत्पादपूर्व है उसमें एक करोड़ पद हैं तथा द्रव्योंके उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है ॥७५॥ दूसरा आग्रायणीय पूर्व है उसमें छियानबे लाख पद हैं तथा स्वमत सम्मत सात तत्त्व नव पदार्थ आदिका वर्णन है ॥७६॥ पहले आग्रायणीय पूर्वकी जिन चौदह वस्तुओंका कथन किया गया है उनके नाम यथाक्रमसे इस प्रकार जानना चाहिए ॥७७॥ १ पूर्वान्त, २ अपरान्त, ३ ध्रुव, ४ अध्रुव, ५ अच्यवन लब्धि, ६ अध्रुव सम्प्रणधि, ७ कल्प, ८ अर्थ, ९ भौमावय, १० सर्वार्थकल्पक, ११ निर्वाण, १२ अतीतानागत, १३ सिद्ध और १४ उपाध्याय ॥७८–८०॥ आग्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके बीस प्राभृत (पाहुड़) हैं। उनमें कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृतमें निम्नलिखित चौबीस योगद्वार हैं ॥८१॥ १ कृति, २ वेदना, ३ स्पर्श, ४ कर्म, ५ प्रकृति, ६ बन्धन, ७ निबन्धन, ८ प्रक्रम, ९ उपक्रम, १० उदय, ११ मोक्ष, १२ संक्रम, १३ लेश्या, १४ लेश्याकर्म, १५ लेश्यापरिणाम, १६ सातासात, १७ दीर्घह्रस्व, १८ भवधारण, १९ पुद्गलात्मा, २० निधत्तानिधत्तक, २१ सनिकाचित, २२ अनिकाचित, २३ कर्मस्थिति और २४ स्कन्ध। इन योगद्वारोंमें समस्त विषयोंकी हीनाधिकता यथायोग्य जाननी चाहिए ॥८२–८६॥ अन्य पूर्वोंकी वस्तु, प्राभृत तथा अनुयोग आदिका भेद आगमके अनुसार जानना चाहिए ॥८७॥ जिसमें सत्तर लाख पद हैं ऐसा तीसरा वीर्यानुप्रवाद नामका पूर्व अतिशय पराक्रमी सत्पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन करता है ॥८८॥ जिसमें साठ लाख पद हैं ऐसा चौथा अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व स्वचतुष्टयकी अपेक्षा जीवादि द्रव्योंके अस्तित्व और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा उनके नास्तित्वका कथन करता है ॥८९॥ एक कम एक करोड़ पदोंसे सहित जो पाँचवाँ ज्ञानप्रवाद नामका पूर्व है वह पाँच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वं सत्यप्रवादाख्यं पदकोटीकषट्पदम् । भाषा द्वादशधा[1] प्राह दशधा[2] सत्यभाषणम् ॥९१॥
हिंसाद्यकर्त्तुः कर्तुर्वा कर्त्तव्यमिति भाषणम् । अभ्याख्यानं प्रसिद्धो हि वागादिकलहः पुनः ॥९२॥
दोषाविष्करणं दुष्टैः पश्चात्पैशुन्यभाषणम् । भाषा बद्धप्रलापाख्या चतुर्वर्गविवर्जिता ॥९३॥
रत्यरत्यभिधे वोभे रत्यरत्युपपादिके । आसज्यते यथार्थेषु[3] श्रोता सोपाधिवाक् पुनः ॥९४॥
वञ्चनाप्रवणं जीवं कर्त्ता निःकृतिवाक्यतः । न नमत्यधिकेष्वात्मा सा चाप्रणतिवागभूत् ॥९५॥
या प्रवर्त्तयति स्तेये मोघवाक् सा समीरिता । सम्यग्मार्गे नियोक्त्री या सम्यग्दर्शनवागसौ ॥९६॥
मिथ्यादर्शनवाक् सा या मिथ्यामार्गोपदेशिनी । वाचो द्वादशभेदाया वक्तारो द्वीन्द्रियादयः ॥९७॥
दशधा सत्यसद्भावे नामसत्यमुदाहृतम् । इन्द्रादिव्यवहारार्थं यत् संज्ञाकरणं हि तत् ॥९८॥
यदर्थासंनिधानेऽपि रूपमात्रेण भाष्यते । तद्रूपसत्यं चित्रादिपुरुषादावचेतने ॥९९॥
आकारेणाक्षपुस्तादौ सता वा यदि वासता । स्थापितं व्यवहारार्थं स्थापनासत्यमुच्यते ॥१००॥
प्रतीत्यं[4] वर्तते भावान् यदौपशमकादिकान् । प्रतीत्यसत्यमित्युक्तं वचनं तद्यथागमम् ॥१०१॥

प्रकारके ज्ञानका वर्णन करता है ॥९०॥ जिसमें छह अधिक एक करोड़ पद हैं ऐसा छठवाँ सत्य-प्रवाद नामका पूर्व बारह प्रकारकी भाषा तथा दश प्रकारके सत्य वचनका कथन करता है ॥९१॥ बारह प्रकारकी भाषाओंके नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं—हिंसादि पापोंके करनेवाले अथवा नहीं करनेवालेके लिए 'करना चाहिए' इस प्रकार कहना सो अभ्याख्यान भाषा है। कलह कारक वचन बोलना सो कलह भाषा है यह प्रसिद्ध ही है ॥९२॥ दुष्ट मनुष्योंके द्वारा पीठ पीछे दोषोंका प्रकट किया जाना सो पैशुन्य भाषा है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार वर्गोंके वर्णनसे रहित है वह बद्धप्रलाप नामक भाषा है ॥९३॥ रति अर्थात् राग उत्पन्न करनेवाली भाषाको रति भाषा कहते हैं और अरति अर्थात् द्वेष उत्पन्न करनेवाली भाषाको अरति भाषा कहते हैं, जिसके द्वारा श्रोता अर्थार्जन आदि कार्योंमें लग जाता है वह उपाधि वाक् भाषा है। जो जीवको धोखा-देहीमें निपुण करती है वह निकृति भाषा है। जो अपनेसे अधिक गुणवालोंको नमस्कार नहीं करती है वह अप्रणति भाषा है ॥९४-९५॥ जो जीवको चोरीमें प्रवृत्त करती है वह मोघ (मोष) भाषा है। जो समीचीन मार्गमें लगाती है वह सम्यग्दर्शन भाषा है और जो मिथ्या मार्गका उपदेश देती है वह मिथ्यादर्शन भाषा है। इन बारह प्रकारकी भाषाओंके बोलनेवाले द्वीन्द्रियादिक जीव हैं ॥९६-९७॥ सत्य वचन दश प्रकारके हैं उनमें पहला नाम सत्य कहा गया है, व्यवहार चलानेके लिए किसीका इन्द्र आदि नाम रख लेना नामसत्य है ॥९८॥ पदार्थके न होनेपर भी रूप-मात्रकी मुख्यतासे जो कथन होता है वह रूपसत्य है जैसे किसी मनुष्यके अचेतन चित्रको उस मनुष्यरूप कहना ॥९९॥ पाँसा तथा खिलौना आदिमें आकारकी समानता होने अथवा न होनेपर भी व्यवहारके लिए जो स्थापना की जाती है वह स्थापना सत्य है जैसे सतरंजकी गोटोंमें वैसा आकार न होनेपर भी बादशाह-वजीर आदिकी स्थापना करना और हाथी, घोड़ा आदिके खिलौनोंमें उन जैसा आकार होनेपर हाथी, घोड़ा आदिकी स्थापना करना ॥१००॥ आगमके अनुसार प्रतीतिकर औपशमिकादि भावोंका कथन करना प्रतीत्य सत्य है। जैसे मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानमें आगममें औदयिक भाव बतलाया है। यद्यपि वहाँ ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम भाव

---

१. अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासंबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनात्मिका भावा द्वादशधा ।—राजवार्तिक प्रथमाध्याय सूत्र २० ।

२. नामरूपस्थापनाप्रतीत्यसंवृतिसंयोजनाजनपददेशभावसमयसत्यभेदेन दशविधः सत्यभावः ।

—राजवार्तिक प्र. अ. सू. २० ।

३. जयार्थेषु म., जयार्थेषु स्रोतारो बधिता पुनः क. । ४. प्रतीत्या म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्रीकृतकार्यस्य वाचकत्वैकदेशतः । वचः संवृतिसत्यं स्यात् भेरीशब्दादिकं यथा ॥१०२॥
चेतनाचेतनद्रव्यसंनिवेशाविभागकृत् । वचः संयोजनासत्यं क्रौञ्चव्यूहादिगोचरम् ॥१०३॥
यदार्याऽनार्यनानास्वनानाजनपदेष्विह । चतुर्वर्गकरं वाक्यं सत्यं जनपदाश्रितम् ॥१०४॥
यद्ग्रामनगराचारराजधर्मोपदेशकृत् । गणाश्रमपदोद्भासि देशसत्यं तु तन्मतम् ॥१०५॥
छद्मस्थे द्रव्ययाथात्म्यज्ञानवैकल्यवत्यपि । प्रासुकाप्रासुकत्वेऽपि भावसत्यं वचः स्थितम् ॥१०६॥
द्रव्यपर्यायभेदानां याथात्म्यप्रतिपादकम् । यत्तत्समयसत्यं स्यादागमार्थपरं वचः ॥१०७॥
कोट्यः षड्विंशतिर्यत्र पदानां परिवर्णिताः । आत्मप्रवादपूर्वेऽपि भूयोयुक्तिपरिग्रहे ॥१०८॥
तत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वनित्यतानित्यतादयः । आत्मधर्मा निरूप्यन्ते तद्भेदाश्च सयुक्तिकाः ॥१०९॥
साशीतिपदलक्षैकपदकोटीप्रमाणकम् । पूर्वं कर्मप्रवादाख्यं कर्मबन्धस्य वर्णकम् ॥११०॥
लक्षाश्चतुरशीतिस्तु पदानां यत्र वर्णिताः । पूर्वं नवममाख्यातं प्रत्याख्यानं तदाख्यया ॥१११॥
प्रमिताप्रमितं तत्र द्रव्यभावसमाश्रयम् । प्रत्याख्यानं समाख्यातं यच्च श्रामण्यवर्धनम् ॥११२॥
कोटी च दशलक्षाश्च यत्पदानां प्रवर्त्तिता । तद्विद्यानुप्रवादाख्यं पूर्वं दशममत्र च ॥११३॥
लघ्वोऽङ्गुष्ठप्रसेनाद्या विद्याः सप्तशतानि तु । रोहिण्याद्या महाविद्याः प्रोक्ताः पञ्चशतानि च ॥११४॥

होनेसे क्षयोपशमिक तथा जीवत्व और भव्यत्व अथवा जीवत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षा पारिणामिक भाव भी है परन्तु आगमके कहे अनुसार वहाँ दर्शनमोहकी अपेक्षा औदयिक भाव ही कहना ॥१०१॥ समुदायको एक देशकी मुख्यतासे एक रूप कहना संवृति सत्य है, जैसे भेरी, तबला, बाँसुरी, वीणा आदि अनेक बाजोंका शब्द जहाँ एक समूहमें हो रहा है वहाँ भेरी आदिकी मुख्यतासे भेरी आदिका शब्द कहना ॥१०२॥ जो चेतन-अचेतन द्रव्योंके विभागको करनेवाला न हो उसे संयोजना सत्य कहते हैं। जैसे क्रौंचव्यूह आदि। भावार्थ—क्रौंचव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनाओंकी रचनाके प्रकार हैं और सेनाएँ चेतन-अचेतन पदार्थोंके समूहसे बनती हैं पर जहाँ अचेतन पदार्थोंकी विवक्षा न कर केवल क्रौंचाकार रची हुई सेनाको क्रौंचव्यूह और चेतन पदार्थोंकी विवक्षा न कर केवल चक्रके आकार रची हुई सेनाको चक्रव्यूह कह देते हैं वहाँ संयोजनासत्य होता है ॥१०३॥ जो वचन आर्य-अनार्य आदि अनेक देशोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका करनेवाला है उसे जनपदसत्य कहते हैं ॥१०४॥ जो वचन गाँवकी रीति, नगरकी रीति तथा राजाकी नीतिका उपदेश करनेवाला हो एवं गण और आश्रमोंका उपदेशक हो वह देशसत्य माना गया है ॥१०५॥ यद्यपि छद्मस्थके द्रव्योंके यथार्थ ज्ञानकी विकलता है तथापि केवलीके वचनकी प्रमाणता कर वे प्रासुक और अप्रासुक द्रव्यका निर्णय करते हैं यह भावसत्य है ॥१०६॥ और जो द्रव्य तथा पर्यायके भेदोंकी यथार्थताको बतलानेवाला तथा आगमके अर्थको पोषण करनेवाला वचन है वह समयसत्य है ॥१०७॥ जिसमें छब्बीस करोड़ पद कहे गये हैं ऐसा सातवाँ आत्मप्रवाद नामका पूर्व है। इसमें अनेक युक्तियोंका संग्रह है तथा कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि जीवके धर्मों और उनके भेदोंका सयुक्तिक निरूपण है ॥१०८-१०९॥ जिसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं ऐसा आठवाँ कर्मप्रवाद नामका पूर्व है। यह पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका निरूपण करनेवाला है ॥११०॥ जिसमें चौरासी लाख पद हैं ऐसा नौवाँ प्रत्याख्यान पूर्व कहा गया है ॥१११॥ इस पूर्वमें परिमित द्रव्य-प्रत्याख्यान और अपरिमित भाव-प्रत्याख्यानका निरूपण है तथा यह पूर्व मुनिधर्मको बढ़ानेवाला है ॥११२॥ जिसमें एक करोड़ दश लाख पद हैं ऐसा दशवाँ विद्यानुवाद नामका पूर्व है ॥११३॥ इसमें अंगुष्ठ प्रसेन आदि सात सौ लघु विद्याएँ और रोहिणी

---

१. याथात्म्यज्ञानं वैकल्य म.। २. प्रावण्य म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोट्यः षड्विंशतिर्यस्मिन् पदानां सुप्रतिष्ठिताः । कल्याणनामधेयं तत् पूर्वमन्वर्थनामकम् ॥११५॥
ज्योतिर्गणस्य संचारं त्रिषष्टिपुरुषाश्रितम् । सुरासुरेन्द्रकल्याणं वर्णयत्वतिविस्तरम् ॥११६॥
स्वप्नान्तरिक्षभौमाङ्गस्वरव्यञ्जनलक्षणम् । छिन्नमित्यष्टधामिन्नं निमित्तं शाकुनं तथा ॥११७॥
यत्त्रयोदशकोटीभिः पदानां समधिष्ठितम् । प्राणावायाख्यपूर्वं तत्प्रणीतं द्वादशं परम् ॥११८॥
यत्र कायचिकित्सादिरायुर्वेदोऽष्टधोदितः । प्राणापानविभागादिभूतकर्मविधिस्तथा ॥११९॥
क्रियाविशालपूर्वं तु नवकोटीपदात्मकम् । छन्दःशब्दादिशास्त्राणि तत्र शिल्पकला गुणाः ॥१२०॥
पञ्चाशत्पदलक्षाभिः कोट्यो द्वादश यत्र तु । पूर्वं चतुर्दशे लोकबिन्दुसारे हि तत्र च ॥१२१॥
अङ्कराशिविधिश्चाष्टव्यवहारविधिस्तथा । परिकर्मविधिः प्रोक्तः समस्तश्रुतसंपदा ॥१२२॥
जलस्थलगताकाशरूपमायागता पुनः । चूलिका पञ्चधान्वर्थसंज्ञा भेदवती स्थिता ॥१२३॥
द्विकोट्यौ नवलक्षाश्च नवाशीतिसहस्रकैः । द्वे शते पदसंख्यानां पञ्चानां च पृथक् पृथक् ॥१२४॥
चतुर्दशप्रकारं स्यादङ्गबाह्यं प्रकीर्णकम् । ग्राह्यं प्रमाणमेतस्य प्रमाणपदसंख्यया ॥१२५॥
अष्टावक्षरकोट्यस्तु लक्षैकाष्टसहस्रकैः । शतं च पञ्चसप्तत्या[1] तत्रैषोऽक्षरसंग्रहम् ॥१२६॥
त्रयोदशसहस्राणि पञ्चशत्येकविंशतिः । कोटी च पदसंख्येयं वर्णाः सप्तैव वर्णिताः ॥१२७॥
पञ्चविंशतिलक्षाश्च त्रयस्त्रिंशत् शतानि च । अशीतिः श्लोकसंख्येयं वर्णाः पञ्चदशात्र च ॥१२८॥
तत्र सामायिकं नाम शत्रुमित्रसुखादिषु । रागद्वेषपरित्यागात्समभावस्य वर्णकम् ॥१२९॥

आदि पाँच सौ महाविद्याएँ कही गयी हैं ॥११४॥ जिसमें छब्बीस करोड़ पद प्रतिष्ठित हैं ऐसा ग्यारहवाँ कल्याणवाद नामका पूर्व है। यह सार्थक नामधारी है और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देवोंके संचार तथा सुरेन्द्र, असुरेन्द्रकृत त्रेसठ शलाकापुरुषोंके कल्याणका विस्तारके साथ वर्णन करता है। साथ ही इसमें १ स्वप्न, २ अन्तरिक्ष, ३ भौम, ४ अंग, ५ स्वर, ६ व्यंजन, ७ लक्षण और ८ छिन्न इन अष्टांग निमित्तों और अनेक शकुनोंका भी वर्णन है ॥११५–११७॥ जो तेरह करोड़ पदोंसे सहित है वह प्राणावाय नामका बारहवाँ पूर्व है ॥११८॥ इसमें काय-चिकित्सा आदि आठ प्रकारके आयुर्वेदका तथा प्राणापान आदिके विभाग और उनकी पार्थिवी आदि धारणाओंका वर्णन है ॥११९॥ तेरहवाँ नौ करोड़ पदोंसे सहित क्रियाविशाल नामका पूर्व है। इसमें छन्दःशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र तथा शिल्पकला आदि अनेक गुणोंका वर्णन है ॥१२०॥ और जिसमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं ऐसा चौदहवाँ लोकबिन्दुसार नामक पूर्व है। इसमें समस्त श्रुतरूपी सम्पदाके द्वारा अंकराशिकी विधि, आठ प्रकारके व्यवहारकी विधि तथा परिकर्मकी विधि कही गयी है ॥१२१–१२२॥ पहले बारहवें दृष्टिवाद अंगके पाँच भेदोंमें एक चूलिका नामक भेद बता आये हैं वह जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रूपगता और मायागताके भेदसे पाँच प्रकारकी है। चूलिकाके ये समस्त भेद सार्थक नामवाले हैं और इनमें प्रत्येकके दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पाँच पद हैं ॥१२३–१२४॥ इस प्रकार अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञानका वर्णन किया, अब अंगबाह्यश्रुतका वर्णन करते हैं—

अंगबाह्यश्रुत सामायिक आदिके भेदसे चौदह प्रकारका है, यह प्रकीर्णकश्रुत कहलाता है और इसका प्रमाण, प्रमाणपदकी संख्यासे ग्रहण करना चाहिए ॥१२५॥ अंगबाह्य श्रुतज्ञानके समस्त अक्षरोंका संग्रह आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रमाण है ॥१२६॥ इसके समस्त पदोंका जोड़ एक करोड़ तेरह हजार पाँच सौ इक्कीस पद तथा शेष सात अक्षर प्रमाण है ॥१२७॥ और इसके समस्त श्लोकोंकी संख्या पचीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी तथा शेष पन्द्रह अक्षर प्रमाण है ॥१२८॥ उन चौदह प्रकीर्णकोंमें पहला सामायिक नामका

१. तत्रैकोऽक्षर म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनस्तवविधानाख्यः स चतुर्विंशतिस्तवः । वर्णको वन्दना वन्द्यवन्दनाविधिवादिनी[1] ॥१३०॥
द्रव्ये क्षेत्रे च कालादौ कृतावद्यस्य शोधनम् । प्रतिक्रमणमाख्याति प्रतिक्रमणनामकम् ॥१३१॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्योपचारिकम् । पञ्चधा विनयं वक्ति तद् वैनयिकनामकम् ॥१३२॥
चतुःशिरस्त्रिद्विनतं द्वादशावर्तमेव च । कृतिकर्माख्यमाचष्टे कृतिकर्मविधिं परम् ॥१३३॥
दशवैकालिकं वक्ति गोचरग्रहणादिकम् । उत्तराध्ययनं वीरनिर्वाणगमनं तथा ॥१३४॥
तत्कल्पव्यवहाराख्यं प्राह कल्पं तपस्विनाम् । अकल्प्यसेवनायां च प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥१३५॥
यत्कल्पाकल्पसंज्ञं स्यात् कल्पाकल्पद्वयं पुनः । महाकल्पं पुनर्द्रव्यक्षेत्रकालोचितं यतेः ॥१३६॥
देवोपपादमाचष्टे पुण्डरीकाख्यमप्यतः[2] । देवीनामुपपादं तु पुण्डरीकं महादिकम् ॥१३७॥
निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम् । अङ्गबाह्यश्रुतस्यायं व्यापारः प्रतिपादितः ॥१३८॥
एकमष्टौ च चत्वारि चतुः षट् सप्तमिश्चतुः[3] । चतुः शून्यं च सप्तत्रिसप्तशून्यं नवापि च ॥१३९॥
पञ्च पञ्चैकं षट् च तथैकं पञ्चतस्ततः । समस्तश्रुतवर्णानां प्रमाणं[4] परिकीर्त्तितम् ॥१४०॥
लक्षाशीतिसहस्राणि चतुर्भिश्च चतुःशती । सप्तषष्टिश्च निर्दिष्टाः कोटीकोट्य इमाः स्फुटाः ॥१४१॥
चत्वारिंशच्चतुर्लक्षास्त्रिसप्ततिशतानि च । सप्ततिश्च तथा ज्ञेया इमाः कोट्यः स्फुटीकृताः ॥१४२॥
सपञ्चनवतिर्लक्षाः सपञ्चाशत्सहस्रकम् । सहस्रं षट्शती वर्णा वर्णाः पञ्चदशापि ते ॥१४३॥

प्रकीर्णक है। यह प्रकीर्णक शत्रु, मित्र तथा सुख-दुःख आदिमें राग-द्वेषका परित्याग कर समता-भावका वर्णन करनेवाला है ॥१२९॥ दूसरा जिनस्तव नामका प्रकीर्णक है इसमें चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन किया गया है। तीसरा वन्दना नामका प्रकीर्णक है इसमें वन्दना करने योग्य पंचपरमेष्ठी आदिकी वन्दनाकी विधि बतलायी गयी है ॥१३०॥ प्रतिक्रमण नामका चौथा प्रकीर्णक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिमें किये गये पापको शुद्ध करनेवाले प्रतिक्रमणका कथन करता है ॥१३१॥ वैनयिक नामका पाँचवाँ प्रकीर्णक दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र-विनय, तपोविनय और उपचार-विनयके भेदसे पाँच प्रकारकी विनयका कथन करता है ॥१३२॥ कृतिकर्म नामका छठा प्रकीर्णक सामायिकके समय चार शिरोनति, मन-वचन-कायसे आदि-अन्तमें दो दण्डवत् नमस्कार और बारह आवर्त करना चाहिए। इस प्रकार कृति-कर्मकी उत्तम विधिका वर्णन करता है ॥१३३॥ दशवैकालिक नामका सातवाँ प्रकीर्णक मुनियोंकी गोचरी आदि वृत्तियोंके ग्रहण करने आदिका वर्णन करता है। आठवाँ उत्तराध्ययन नामका प्रकीर्णक महावीर भगवान्के निर्वाणगमन सम्बन्धी कथन करता है ॥१३४॥ कल्पव्यवहार नामक नौवाँ प्रकीर्णक तपस्वियोंके करने योग्य विधिका तथा नहीं करने योग्य कार्योंके हो जानेपर उनकी प्रायश्चित्त-विधिका वर्णन करता है ॥१३५॥ कल्पाकल्प नामक दशवाँ प्रकीर्णक करने योग्य तथा न करने योग्य दोनों कार्योंका निरूपण करता है। महाकल्प नामका ग्यारहवाँ प्रकीर्णक मुनिके द्रव्य, क्षेत्र तथा कालके योग्य कार्यका उल्लेख करता है ॥१३६॥ पुण्डरीक नामका बारहवाँ प्रकीर्णक दोनोंके उपपादका वर्णन करता है। महापुण्डरीक नामका तेरहवाँ प्रकीर्णक देवियोंके उपपादका निरूपण करता है ॥१३७॥ और निषद्य नामका चौदहवाँ प्रकीर्णक प्रायश्चित्त-विधिका उत्तम वर्णन करता है। इस प्रकार यह अंगबाह्य श्रुतज्ञानका विस्तार कहा ॥१३८॥ समस्त श्रुतके अक्षरोंका प्रमाण एक, आठ, चार, चार, छह, सात, चार, चार, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, नौ, पाँच, पाँच, एक, छह, एक और पाँच अर्थात् एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ाकोड़ी चवालीस लाख, सात हजार तीन सौ सत्तर करोड़ पंचानबे लाख इक्कावन हजार छह सौ पन्द्रह

---

१. वन्दना द्विविधादिना म. । २. पुण्डरीकाक्ष म. । ३. सप्तति- क. ।
४. १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षयोपशमभावे च श्रुतावरणकर्मणः । मतिपूर्वं परोक्षं स्यादनन्तविषयं श्रुतम् ॥१४४॥
इन्द्रियानिन्द्रियोत्थं स्यान्मतिज्ञानमनेकधा । परोक्षमर्थसांनिध्ये प्रत्यक्षं व्यावहारिकम् ॥१४५॥
क्षयोपशमसापेक्षं निजावरणकर्मणः । अवग्रहेहावायाख्याधारणातश्चतुर्विधः ॥१४६॥
इन्द्रियानिन्द्रियैः षड्भिश्चत्वारोऽवग्रहादयः । भवन्ति गुणिता भेदाश्चतुर्विंशतिरेव ते ॥१४७॥
शब्दगन्धरसस्पर्शव्यञ्जनावग्रहैर्युताः । चाष्टाविंशतिरुक्तास्ते द्वात्रिंशन्मूलभङ्गकैः ॥१४८॥
बह्वाद्यैः षड्भिरभ्यस्तास्ते त्रयो राशयश्चतुः[1] । चत्वारिंशं शतं[2] चाष्टाषष्टिः[3] द्वे[4] नवतं शतम् ॥१४९॥
अभ्यस्ताः सेतरैस्तैस्तैरष्टाशीतं शतद्वयम् । षट्त्रिंशत् त्रिशती च स्यादशीत्यासौ चतुर्युता ॥१५०॥
मतिज्ञानविकल्पोऽयं तावत्स्वावृतिकर्मणः । क्षयोपशमभेदेन भिद्यमानः सुदृष्टिषु ॥१५१॥
देशप्रत्यक्षमुद्भूतो जीवे[5]शुद्धौ त्रिधा[6]वधि । देशः सर्वश्च परमः पुद्गलावधिरिष्यते ॥१५२॥
देशप्रत्यक्षमेव स्यान्मनःपर्यय इत्यपि । विपुलर्जुमतिप्रख्यः सोऽवधेः सूक्ष्मगोचरः ॥१५३॥
सर्वप्रत्यक्षमन्त्यं स्यात्केवलावरणक्षयात् । अक्षयं केवलज्ञानं केवलं विश्वगोचरम् ॥१५४॥

है ॥१३९-१४३॥ यह श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है, मतिज्ञानपूर्वक होता है, परोक्ष है और अनन्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है ॥१४४॥

पाँच इन्द्रियों तथा मनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यह मतिज्ञान अनेक प्रकारका है एवं परोक्ष है। यदि पदार्थोंके सान्निध्यमें होता है तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाता है ॥१४५॥ यह मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता है तथा अवग्रह ईहा अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है ॥१४६॥ अवग्रह आदि चारों भेद पाँच इन्द्रिय और मन इन छहके द्वारा होते हैं इसलिए चारमें छहका गुणा करनेसे मतिज्ञानके चौबीस भेद होते हैं ॥१४७॥ इन चौबीस भेदोंमें शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शसे होनेवाले व्यंजनावग्रहके चार भेद मिलानेसे मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हो जाते हैं और इन अट्ठाईस भेदोंमें अवग्रह आदि चार मूलभेद मिला देनेसे बत्तीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीसके भेदमें मतिज्ञानके भेदोंकी प्रारम्भमें तीन राशियां होती हैं। उनमें क्रमसे बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव इन छह पदार्थोंका गुणा करनेपर एक सौ चवालीस, एक सौ अड़सठ तथा एक सौ बानबे भेद होते हैं। यदि बहु आदि छह तथा इनसे विपरीत एक आदि छह इन बारह भेदोंका उक्त तीन राशियोंमें क्रमसे गुणा किया जावे तो दो सौ अठासी, तीन सौ छत्तीस और तीन सौ चौरासी भेद होते हैं ॥१४८-१५०॥ मतिज्ञानके ये विकल्प मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशममें भेद होनेसे प्रकट होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि जीवोंके होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवोंका मतिज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है ॥१५१॥ अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जीवमें शुद्धि होनेपर देशावधि, सर्वावधि और परमावधि यह तीन प्रकारका अवधिज्ञान होता है। यह अवधिज्ञान देश-प्रत्यक्ष है तथा पुद्गल द्रव्यको विषय करता है ॥१५२॥ मनःपर्यय ज्ञान भी देशप्रत्यक्ष ही है। इसके विपुलमति और ऋजुमतिके भेदसे दो भेद हैं तथा यह अवधिज्ञानकी अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थको विषय करता है। अवधिज्ञान परमाणुको जानता है तो यह उसके अनन्तवें भाग तकको जान लेता है ॥१५३॥ अन्तिम ज्ञान केवलज्ञान है यह केवलज्ञानावरणकर्मके क्षयसे होता है, सर्व प्रत्यक्ष है, अविनाशी है और समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है ॥१५४॥

१. चतुश्चत्वारिंश शतं १४४। २. उभयदीपकमिदम्। ३. शतं चाष्टाषष्टिः १६८। ४. १९२। ५. जीवसिद्धौ म.। ६. विधिः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परोक्षस्य प्रमाणस्य हानोपादानधीः फलम् । प्रत्यक्षस्य तथोपेक्षा[2] प्रागमोहः फलद्वयम् ॥१५५॥
पारम्पर्येण मोक्षस्य हेतुर्ज्ञानचतुष्टयम् । साक्षादेव भवत्येकं केवलज्ञानमव्ययम् ॥१५६॥
प्रमाणप्रमितार्थानां श्रद्धानं दर्शनं शुभम् । शुभक्रियासुवृत्तिश्च[3] चारित्रमिति वर्ण्यते ॥१५७॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रितयं मोक्षसाधनम् । श्रद्धेयं चाप्यनुष्ठेयं परसंपदमिच्छता ॥१५८॥
इतोऽन्यदुत्तरं नास्ति नासीन्नापि भविष्यति । मुक्त्यङ्गमित्यवेतव्यमिति सारसमुच्चयः ॥१५९॥
इत्याद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रपीय वचनौषधम् । संदेहान्तकनिर्मुक्ता मुक्तेवाभाजगत्त्रयी ॥१६०॥

वंशस्थवृत्तम्

गृहीतरत्नत्रयभूषणा पुरा जना बभूवुः स्थिरभावनास्तदा ।
परे यतिश्रावकधर्मदीक्षिताः कृते युगे युक्तगुणाश्चकासिरे ॥१६१॥
युतं च संघेन चतुर्विधेन तं जगद्विहाराभिमुखं जिनेश्वरम् ।
विशुद्धसम्यक्त्वधियश्चतुर्विधाः प्रणम्य जग्मुर्विबुधा निजास्पदम् ॥१६२॥
गृहाश्रमी श्रावकमुख्यतां श्रितो[4] जिनेश्वरं तं भरतेश्वरो नृपः ।
समर्च्य साकेतमितः प्रमोदवानुदारवंशस्थनृपैः परिष्कृतः ॥१६३॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ प्रथमतीर्थंकरधर्मतीर्थप्रवर्तनो नाम दशमः सर्गः समाप्तः ।

□

परोक्ष प्रमाणका फल हेय पदार्थको छोड़ने और उपादेय पदार्थको ग्रहण करनेकी बुद्धि उत्पन्न होना है तथा प्रत्यक्ष प्रमाणका फल उपेक्षा—रागद्वेषका अभाव एवं उसके पूर्व मोहका क्षय होना है ॥१५५॥ मतिज्ञानादि चार ज्ञान परम्परासे मोक्षके कारण हैं और एक अविनाशी केवलज्ञान साक्षात् ही मोक्षका कारण है ॥१५६॥ प्रमाणके द्वारा जाने हुए पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति होना सम्यक्-चारित्र कहलाता है ॥१५७॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मोक्षप्राप्तिके उपाय हैं, इसलिए उत्तम सम्पदाकी इच्छा करनेवाले पुरुषको इनका श्रद्धान तथा तदनुरूप आचरण करना चाहिए ॥१५८॥ इन तीनोंसे बढ़कर दूसरा मोक्षका कारण न है, न था, और न होगा । यही सबका सार है ॥१५९॥ इस प्रकार आदि जिनेन्द्रके वचनरूपी औषधिका पानकर तीनों जगत् सन्देह रूपी रोगसे छूटकर ऐसे सुशोभित होने लगे मानो मुक्त ही हो गये हों—मोक्षको ही प्राप्त हो गये हों ॥१६०॥ उस कृतयुगमें जिन जीवोंने रत्नत्रयरूप आभूषणोंको पहलेसे ग्रहण कर रखा था उस समय भगवान्‌की दिव्यध्वनि सुननेसे उनकी भावना और भी दृढ़ हो गयी तथा कितने ही नवीन लोग मुनिधर्म एवं श्रावक धर्मकी दीक्षा ले सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त हो सुशोभित हुए ॥१६१॥ निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त चार प्रकारके देव, चतुर्विध संघसे युक्त तथा जगत्‌में विहार करनेके लिए उद्यत श्री जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१६२॥ गृहस्थाश्रमसे युक्त तथा श्रावकोंमें मुख्यताको प्राप्त राजा भरतेश्वर, जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजाकर उच्चकुलीन राजाओंके साथ हर्षित होता हुआ अयोध्याकी ओर वापस गया ॥१६३॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंश पुराणमें प्रथम तीर्थंकरके द्वारा धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होनेका वर्णन करनेवाला दशवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

□

१. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः । पूर्वं वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥ आ. मी.
२. प्रागमोहफलं द्वयम् म. । ३. सुवृष्टिश्च म. (?) । ४. सुतो म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकादशः सर्गः

अथ कृत्वात्मजोत्पत्तौ भरतः सुमहोत्सवम् । कृतचक्रमहोऽयासीत् षट्खण्डविजिगीषया ॥१॥
चतुरङ्गमहासेनो नृपचक्रेण संगतः । अग्रप्रस्थितचक्रेण युक्तो दिक्चक्रिणां नृणाम् ॥२॥
गङ्गानुकूलमागत्य गङ्गासागरसंगतः । गङ्गाद्वारेऽष्टमं[1] सद्वागङ्गाद्यकृत[2][3] भक्तकम् ॥३॥
द्वारेणोद्घाटितेनासौ प्रविश्याश्वयुगाश्रितम् । अजितञ्जितनामानं रथमारुह्य वेगिनम् ॥४॥
अवगाह्य महाबाहुर्जानुदघ्नं महोदधिम् । वज्रकाण्डधनुःपाणिर्वैशाखस्थानमास्थितः ॥५॥
सदृष्टिमुष्टिसंधानविधानेषु विशारदः । स्वनामाङ्कममोघाख्यं मुमोचाशुगमाशुगम्[4] ॥६॥
शरः पपात वज्राभो गत्वा द्वादशयोजनीम् । प्रासादे मागधस्याशु प्रविशन्मुखराम्बरः ॥७॥
हृदयेन समं तस्मिन् प्रासादे चलिते सुरः । संभ्रान्तः स तमालोक्य चक्रिनामाङ्कितं शरम् ॥८॥
चक्रवर्तिनमुत्पन्नं ज्ञात्वा स्वं पुण्यमल्पशः । निन्दित्वा मग्नमानोऽसौ रत्नपाणिरुपागतः ॥९॥
हारं स पृथिवीसारं मुकुटं रत्नकुण्डले । उपनीय सुरत्नानि वस्त्रतीर्थोदकानि तु ॥१०॥
[6]शाधि किं करवाणीश देह्यादेशं बुधोऽवदत् । मुक्तस्तेन गतः स्थानं निर्ययौ भरतोऽप्यतः ॥११॥
भूतव्यन्तरसंघातान् दाक्षिणात्यान् महाबलान् । साधयन् सागरद्वारं [7]वैजयन्तमवाप सः ॥१२॥

अथानन्तर समवसरणसे आकर भरतने पुत्र-जन्मका उत्सव किया, चक्ररत्नकी पूजा की और उसके बाद छह खण्डोंको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया ॥१॥ उस समय चतुरंग सेना उसके साथ थी, वे राजाओंके समूहसे युक्त थे और नाना दिशाओंसे आये हुए अपार जन-समूहके आगे-आगे चलनेवाले चक्ररत्नसे सहित थे ॥२॥ वे गंगा नदीके किनारे-किनारे चलकर गंगासागरपर पहुँचे। वहाँ गंगाद्वारपर उन्होंने मन, वचन, कायकी क्रियाको प्रशस्त कर तीन दिनका उपवास किया ॥३॥ जिसमें दो घोड़े जुते हुए थे ऐसे वेगशाली रथपर सवार होकर उन्होंने द्वार खोला और समुद्रमें घुटने पर्यन्त प्रवेश किया। उस समय लम्बी भुजाओंके धारक भरत अपने हाथमें वज्रकाण्ड नामक धनुष लिये हुए थे, तथा वैशाख आसनसे खड़े थे। वे दृष्टिके स्थिर करने, कड़ी मुट्ठी बाँधने और डोरीपर बाण स्थापित करनेमें अत्यन्त निपुण थे। उसी समय उन्होंने अपने नामसे चिह्नित अमोघ नामका शीघ्रगामी बाण छोड़ा ॥४-६॥ वज्रके समान चमकता हुआ बाण शीघ्र ही बारह योजन जाकर मागध देवके भवनमें गिरा और उसने भवनमें प्रवेश करते ही समस्त आकाशको शब्दायमान कर दिया ॥७॥ बाणके गिरते ही मागधदेवका भवन और हृदय दोनों ही एक साथ हिल उठे। वह बहुत ही क्षोभको प्राप्त हुआ। परन्तु जब उसने चक्रवर्तीके नामसे चिह्नित बाणको देखा और चक्रवर्ती उत्पन्न हो चुका है यह जाना तब वह अपने पुण्यको अल्प जान अपनी निन्दा करने लगा। तदनन्तर जिसका मान खण्डित हो गया था ऐसा मागधदेव हाथोंमें रत्न लेकर भरतके पास आया ॥८-९॥ आकर उस बुद्धिमान् देवने पृथिवीका सारभूत हार, मुकुट, रत्ननिर्मित दो कुण्डल, अच्छे-अच्छे रत्न, वस्त्र तथा तीर्थोदककी भेंट दी और कहा कि हे स्वामिन्! बताइए मैं क्या करूँ? मुझे आज्ञा दीजिए। तदनन्तर भरतसे विदा हो वह अपने स्थानपर गया और भरत भी वहाँसे चलकर दक्षिण

१. उपवासत्रयम् 'तेला' कृत्वा । २. वाक् च अङ्गानि च इति वागङ्गं तदादौ यस्य तत् वागङ्गादि सत् शोभनं वागङ्गादि यस्मिन् तत् । ३. कृतवान् । ४. शीघ्रगामिनम् । ५. बाणम् । ६. कथय । ७. विजयं तम-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुरं वरतनुं तत्र यथा मागधमाह्वयन् । चूडामणिमसौ दिव्यं ग्रैवेयकमुरश्छदम् ॥१३॥
वीराङ्गदे च कटके कटीवर्तं च सूत्रकम् । उपनीय प्रणम्येशं [2]विमुक्तः किङ्करो ययौ ॥१४॥
पाश्चात्यं साधयन् विश्वं दधद्भूपालमण्डलम् । अनुवेदिकमागच्छत् सिन्धुद्वारं स बन्धुरम् ॥१५॥
प्रभासममरं तत्र गङ्गाद्वारविधानतः । नमयित्वा वशं चक्रे चक्रेशः शक्रविक्रमः ॥१६॥
लेभे सान्तानकं तस्मान्माल्यदामकमुत्तमम् । मुक्ताजालं च मौलिं च रत्नचित्रं च हेमकम् ॥१७॥
चक्ररत्नानुमार्गं स विजयार्द्धस्य वेदिकाम् । प्राप्तश्चक्रधरो दध्यौ सोपवासो गिरेः सुरम् ॥१८॥
बुद्ध्वा स्वावधिकात्प्राप्तः सोऽभिषिच्य महर्द्धिभिः । विजयार्द्धकुमाराख्यो देवः प्रणतिपूर्वकम् ॥१९॥
भृङ्गारं [3]कुम्ततोयं च सिंहासनमनुत्तमम् । छत्रचामरयुग्मानि दत्वा तेऽहमिति न्यगात् ॥२०॥
तत्र चक्रमहं कृत्वा स तमिस्रगुहामुखम् । प्रापत्तु कृतमालस्तं सुरः प्राप ससंभ्रमः ॥२१॥
तिलकाद्यानि दिव्यानि भूषणानि चतुर्दश । प्रदाय प्रणिपत्यासौ तवाहमिति यातवान् ॥२२॥
सेनापतिरयोध्यश्च राजराजस्य शासनात् । अश्वरत्नं शुकच्छायं कुमुदामेलकाभिधम् ॥२३॥
आरुह्य दण्डरत्नेन प्रचण्डेन पराङ्मुखः । गुहाद्वारकवाटानि प्रताड्यानुपलायितः ॥२४॥
उद्घाटिते गुहाद्वारे षण्मासैः स निरूष्मणि । सेनयाविशदारुह्य गजं विजयपर्वतम् ॥२५॥
तत्रोन्मग्नजला नाम्ना संनिमग्नजलापगा । महानद्योस्तयोस्तीरे गुहामध्येऽमुचच्चमूः ॥२६॥

दिशामें रहनेवाले महाबलवान् भूत और व्यन्तर देवोंके समूहको वश करते हुए समुद्रके वैजयन्त-द्वारपर जा पहुँचे ॥१०-१२॥ वहाँपर उन्होंने मागधदेवके समान उस प्रदेशके स्वामी वरतनु देवको बुलाया और वरतनु देवने आकर चूड़ामणि, सुन्दर कण्ठहार, कवच, वीरोंके बाजूबन्द, कड़े और करधनी भेंट कर भरतको प्रणाम किया। तदनन्तर सेवकवृत्तिको स्वीकार करनेवाले वरतनु भरतसे विदा ले अपने स्थानपर चला गया ॥१३-१४॥ वहाँसे चलकर भरत पश्चिम दिशाके समस्त राजाओं-को वश करते हुए वेदिकाके किनारे-किनारे चलकर सिन्धु नदीके मनोहर द्वारपर पहुँचे ॥१५॥ वहाँ इन्द्रके समान पराक्रमको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने गंगाद्वारके समान वहाँके अधिपति प्रभास देवको नम्रीभूत कर अपने वश किया ॥१६॥ तथा उससे सन्तानक वृक्षोंके पुष्पोंकी उत्तम माला, मोतियोंकी जाली, मुकुट और रत्नोंसे चित्र-विचित्र कटिसूत्र प्राप्त किया ॥१७॥

तदनन्तर भरत, चक्ररत्नके पीछे-पीछे चलकर विजयार्ध पर्वतकी वेदिकाके समीप आये। वहाँ उन्होंने उपवास कर पर्वतके अधिष्ठाता (विजयार्ध कुमार) देवका स्मरण किया ॥१८॥ वह देव अपने अवधिज्ञानसे भरतको वहाँ आया जानकर आया। उसने भरतको प्रणाम कर बड़ी ऋद्धियोंसे उनका अभिषेक किया तथा झारी, कलशजल, उत्तम सिंहासन, छत्र और दो चमर भेंट कर कहा कि मैं आपका हूँ—आपका सेवक हूँ। इस प्रकार निवेदन कर वह चला गया ॥१९-२०॥ राजा भरत वहाँ चक्ररत्नकी पूजा कर तमिस्र गुहाके द्वारपर आये। वहीं घबड़ाया हुआ कृतमाल नामका देव उनके पास आया ॥२१॥ और तिलक आदि चौदह दिव्य आभूषण देकर तथा प्रणाम कर 'मैं आपका हूँ' यह कहता हुआ चला गया ॥२२॥ राजराजेश्वर भरतकी आज्ञासे उनके अयोध्य नामक सेनापतिने सुआके समान कान्तिवाले कुमुदामेलक नामक अश्वरत्नपर सवार हो तथा पीछेकी ओर अपना मुख कर दण्डरत्नसे गुहा द्वारके किवाड़ोंको ताड़ित किया और ताड़ित कर वह एकदम पीछे भाग गया ॥२३-२४॥ खुला हुआ गुहाद्वार जब छह माहमें ऊष्मारहित हो गया तब चक्रवर्ती-ने विजयपर्वत नामक हाथीपर सवार हो सेनाके साथ उसमें प्रवेश किया ॥२५॥ गुहाके बीचमें उन्मग्नजला और निमग्नजला नामकी दो नदियाँ थीं, उनके तटपर भरतने सेनाओंको छोड़

१. वरतनुस्तत्र म. । २. विमुक्तं म. । ३. कुततोयं च म. । ४. अयोध्यस्य म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्यान्धकारमुद्वास्य काकणीमणिरोचिषा । स्कन्धावारं स्थितं तत्र नक्तन्दिवमतन्द्रितम् ॥२७॥
कामदृष्टिर्गृहपती रत्नभद्रमुखो द्रुतम् । स्थपतिश्च स्थिरस्ताभ्यां संक्रमः सरितोः कृतः ॥२८॥
उत्तीर्य संक्रमाक्रान्त्या सद्यो नद्योर्ययौ चमूः । द्वारमुत्तरमुद्घाट्य प्रागिवोत्तरभारतम् ॥२९॥
म्लेच्छराजसहस्राणि वीक्ष्यापूर्ववरूथिनीम् । क्षुभितान्यभिगम्याशु योधयामासुरश्रमात् ॥३०॥
ततः क्रुद्धो युधि म्लेच्छैरयोध्यो दण्डनायकः । युद्ध्वा निर्धूय तानाशु दध्रे नामार्थसंगतम् ॥३१॥
भयान्म्लेच्छास्ततो [1]याताः शरणं कुलदेवताः । घोरान्मेघमुखान्नागान् दर्भशय्याधिशायिनः ॥३२॥
ततो मेघमुखा देवा खमापूर्य युधि स्थिताः । युद्ध्वा जयकुमारस्तैर्लेभे मेघस्वराभिधाम् ॥३३॥
पुनर्मेघमुखा घोरैर्मेघैरापूर्य पुष्करम् [2] । ववृषुर्मुष्टिमात्रा[3]भिर्धाराभिः सैन्यमस्तके ॥३४॥
दृष्ट्वा वृष्टिं ततश्चक्री सतडिद्गर्जिताशनिम् । चर्मरत्नमधश्चक्रे छत्ररत्नं तथोपरि ॥३५॥
द्विषड्योजनविस्तीर्णा तरन्ती साप्सु वाहिनी । अण्डायते स्म सप्ताहं कान्दिशीकत्वमागता ॥३६॥
ततो निधिपतिः क्रुद्धो गणबद्धाभिधानकान् । देवानाज्ञापयत् तैस्तैर्ध्वस्ता मेघमुखाः सुराः ॥३७॥
ततो मेघमुखैर्म्लेच्छाः प्रोक्ताः संहृतवृष्टिभिः । चक्रिणं शरणं जग्मुरादाय वरकन्यकाः ॥३८॥
भीतानामभयं दत्त्वा स तेषां शासनैषिणाम् । आयादायासनिर्मुक्तः सिन्धुनद्यनुवेदिकम् ॥३९॥
सिन्धुदेव्यभिषिच्यैनं सिन्धुकूटाग्रवासिनी । ददौ भद्रासने भद्रे पादपीठोपशोभिते ॥४०॥

दिया—उन्हें विश्राम कराया ॥२६॥ उस गुफामें निरन्तर अन्धकार रहता था जिसे भरतने काकणी मणिकी किरणोंसे दूर कर दिया था। भरतकी सेनाने वहाँ आलस्यरहित होकर एक दिन-रात निवास किया ॥२७॥ कामदृष्टि नामक गृहपतिरत्न और रत्नभद्रमुख नामक स्थपतिरत्न इन दोनोंने उन नदियोंपर मजबूत पुल बनाये ॥२८॥ सेना उन पुलोंके द्वारा शीघ्र ही नदियोंको पार कर आगे बढ़ गयी और पहलेकी तरह उत्तर द्वारको खोलकर उत्तर भारतमें जा पहुँची ॥२९॥ उत्तर भारतके हजारों म्लेच्छ राजा चक्रवर्तीकी अपूर्व सेनाको देखकर क्षुभित हो गये और शीघ्र ही सामने आकर अनायास युद्ध करने लगे ॥३०॥ तदनन्तर क्रोधसे भरे अयोध्य सेनापतिने युद्धमें म्लेच्छ राजाओंके साथ युद्ध कर तथा उन्हें शीघ्र ही खदेड़कर अपना 'अयोध्य' नाम सार्थक किया ॥३१॥ सेनापतिसे भयभीत हुए म्लेच्छ, अपने कुलदेवता, दर्भशय्यापर शयन करनेवाले एवं भयंकर मेघमुख नागकुमारोंकी शरण गये ॥३२॥ जिसमें मेघमुख देव आकाशको व्याप्तकर युद्धके लिए आ डटे परन्तु जयकुमारने उनके साथ युद्ध कर उन्हें परास्त कर दिया और स्वयं 'मेघस्वर' यह नाम प्राप्त किया ॥३३॥ कुछ देर बाद मेघमुख देव भयंकर मेघोंसे आकाशको व्याप्त कर मुट्ठी बराबर मोटी-मोटी धाराओंसे सेनाके मस्तकपर जलवर्षा करने लगे ॥३४॥ तदनन्तर जिसमें बिजलीके साथ वज्रकी भयंकर गर्जना हो रही थी ऐसी जलवृष्टि देखकर चक्रवर्तीने सेनाके नीचे चर्मरत्न और ऊपर छत्ररत्न फैला दिया ॥३५॥ बारह योजन पर्यन्त फैली एवं जलके भीतर तैरती हुई वह सेना अण्डाके समान जान पड़ती थी। वह सेना सात दिन तक इसी तरह भयभीत रही ॥३६॥ तदनन्तर निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीने कुपित होकर गणबद्ध देवोंको आज्ञा दी और उन्होंने उन मेघमुख देवोंको परास्त कर खदेड़ दिया ॥३७॥ तत्पश्चात् जिन्होंने वृष्टिका संकोच कर लिया था ऐसे मेघमुख देवोंकी प्रेरणा पाकर वे म्लेच्छ राजा उत्तमोत्तम कन्याएँ लेकर चक्रवर्तीकी शरणमें आये ॥३८॥ चक्रवर्तीने उन भयभीत तथा आज्ञा पानेकी इच्छा करनेवाले म्लेच्छ राजाओंको अभयदान दिया और उसके बाद श्रमसे रहित हो सिन्धु नदीकी वेदिकाके किनारे-किनारे गमन किया ॥३९॥ बीचमें सिन्धुकूटपर निवास करनेवाली सिन्धु देवीने

१. जाताः म. । २. आकाशम् । ३. मेघमात्राभि-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्रवर्ती चमूं मूले संस्थाप्य हिमवद्गिरेः । कृताष्टमोपवासोऽसौ दर्भशय्यामधिष्ठितः ॥४१॥
कृततीर्थोदकस्नानः कृतकौतुकमण्डनः[1] । आरूढाश्वरथो धन्वी चक्रायुधपुरःसरः ॥४२॥
क्षुल्लकं हिमवत्कूटं यत्र तत्र गतः शरी । वैशाखस्थानमास्थाय[2] बभाण रणदक्षिणः ॥४३॥
भो भो नागसुपर्णाद्याः शासनं श्रृणुताशु मे । देशस्था इत्यतश्चापमाकृष्य शरमाक्षिपत् ॥४४॥
पपाताशनिनिर्घोषो योजने द्वादशे शरः । हिमवत्कूटवासी तं सुरो दृष्ट्वा समागमत् ॥४५॥
दिव्यामोषधिमालां स दिव्यं च हरिचन्दनम् । दत्त्वा संपूज्य तं यातः शासनैषी विसर्जितः ॥४६॥
आगत्य चक्रवर्ती च ततो वृषभपर्वतम् । तत्रालिखन्निजं नाम काकण्या स परिस्फुटम् ॥४७॥
वृषभस्य सुतो मोऽहं चक्री भरत इत्यसौ । प्रवाच्य विजयार्द्धस्य वेदिकामगमत् प्रभुः ॥४८॥
बुद्ध्वोपवासिनं तत्र श्रेणिद्वयनिवासिनौ । नमिश्च विनमिश्चोभौ गन्धाराद्यैः समागतौ ॥४९॥
स्त्रीरत्नं प्रतिगृह्याभ्यां सुभद्राख्यं खगैर्नतः । गङ्गानुवेदिकं गत्वा भक्तमष्टममास्थितः ॥५०॥
गङ्गादेवी विदित्वा तं गङ्गाकूटनिवासिनी । हेमकुम्भसहस्रेण कृत्वा तदभिषेचनम् ॥५१॥
रत्नसिंहासने तस्मै पादपीठयुते ददौ । विजयार्द्धकुमारोऽपि तस्थौ चक्रेशशासने ॥५२॥
अष्टादशसहस्राणि म्लेच्छक्षितिभृतां ततः । वशीकृत्याप्तसद्रत्नः खण्डकापातमाप सः ॥५३॥

भरतका अभिषेक कर उन्हें पादपीठसे सुशोभित दो उत्तम आसन भेंट किये ॥४०॥ चक्रवर्ती सेनाको हिमवान् पर्वतकी तराईमें ठहराकर तथा स्वयं तीन दिनके उपवासका नियम लेकर दर्भशय्यापर आरूढ़ हुए ॥४१॥ तदनन्तर जिन्होंने तीर्थजलसे स्नान किया था, उत्तम वेषभूषा धारण की थी, जो घोड़ोंके रथपर सवार थे, जिनके आगे-आगे चक्ररत्न चल रहा था और जो रणमें अत्यन्त कुशल थे ऐसे भरत, जहाँ हिमवान् पर्वतका हिमवत् नामक छोटा कूट था वहाँ आये और बाण हाथमें ले तथा वैशाख आसनसे खड़े होकर बोले कि 'हे इस देशमें रहनेवाले नागकुमार, सुपर्णकुमार आदि देवो ! तुम लोग शीघ्र ही मेरी आज्ञा सुनो।' यह कह उन्होंने धनुष खींचकर बाण छोड़ा ॥४२–४४॥ वज्रके समान शब्द करता हुआ वह बाण बारह योजन दूर जाकर गिरा तथा हिमवत् कूटपर रहनेवाला देव उसे देखकर भरतके पास आया ॥४५॥ उसने दिव्य ओषधिओंकी माला तथा दिव्य हरिचन्दन देकर भरतकी पूजा की। तदनन्तर आज्ञाकी इच्छा करता हुआ वह भरतसे विदा ले अपने स्थानपर चला गया ॥४६॥ चक्रवर्ती वहाँसे चलकर वृषभाचल पर्वतपर आये और वहाँ उन्होंने काकणी रत्नसे साफ-साफ अपना यह नाम लिखा कि 'मैं भगवान् वृषभदेवका पुत्र भरत चक्रवर्ती हूँ'। नाम लिखकर तथा बाँचकर वे विजयार्ध पर्वतकी वेदिकाके समीप आये ॥४७-४८॥ वहाँ जाकर उन्होंने उपवास धारण किया। दोनों श्रेणियोंके निवासी नमि और विनमिको जब यह ज्ञात हुआ कि भरत यहाँ विद्यमान हैं तब वे गन्धार आदि विद्याधरोंके साथ वहाँ आये ॥४९॥ समस्त विद्याधरोंने उन्हें नमस्कार किया और भरतने नमि, विनमिसे सुभद्रा नामक स्त्री-रत्न ग्रहण किया। तत्पश्चात् वे गंगा नदीकी वेदिकाके किनारे-किनारे चलकर गंगाकूटके समीप आये और तीन दिनके उपवासका नियम लेकर वहाँ ठहर गये। वहाँ गंगाकूटपर रहनेवाली गंगा देवीने उनके आनेका समाचार जानकर सुवर्णमय एक हजार कलशोंसे उनका अभिषेक किया ॥५०-५१॥ अभिषेकके बाद उसने पादपीठसे युक्त दो रत्नोंके सिंहासन भेंट किये। यहाँ विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध कुमारदेव चक्रवर्तीकी आज्ञामें खड़ा रहा ॥५२॥

तदनन्तर वहाँसे चलकर अठारह हजार म्लेच्छ राजाओंको वश करते और उनसे उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट स्वीकार करते हुए भरत विजयार्धकी दूसरी गुफा खण्डकाप्रपातके समीप

१. मण्डलः म. । २. वैशाखं स्थान ग., घ., ङ., म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोषिताष्टमायास्मै नाट्यमालोऽत्र दत्तवान् । नानारूपं स नेपथ्यं विद्युदाभे च कुण्डले ॥५४॥
अयोध्योद्घाटितेनासौ गुहाद्वारेण पूर्ववत् । प्रविश्य निर्गतः सिन्धोरिव गाङ्गेन सेनया ॥५५॥
विजित्य भारतं वर्षं स षट्खण्डमखण्डितम् । षष्टिवर्षसहस्रैस्तु विनीतां प्रस्थितः कृती ॥५६॥
चक्रे सुदर्शनेऽयोध्यामविशत्यथ चक्रभृत् । बुद्धिसागरमप्राक्षीत् संदिहानः पुरोधसम् ॥५७॥
साधिते भारते वास्ये चक्ररत्नमिदं किमु । दिव्यं विशति नायोध्यां योध्याः सन्ति न के च नः ॥५८॥
पुरोधाः सोऽभ्यधाद्भर्तर्भ्रातरो भवतो ननु[1] । ये महाबलसंपन्नास्ते न शृण्वन्ति शासनम् ॥५९॥
तदाकर्ण्य वचस्तूर्णं तेषां प्रेषयति स्म सः । ससामोपप्रदानादिनीतिपूर्वं वचोहरान्[2] ॥६०॥
ततस्ते तन्निमित्तेन मानिनो लब्धबोधयः । स्वराज्यान्यस्यजँस्त्यागं मन्यमाना महोत्सवम् ॥६१॥
प्रपद्य शरणं सर्वे नाभेयं भवभीरवः । मानशल्यविनिर्मुक्ताः प्रव्रज्यां मोक्षिणो दधुः ॥६२॥
सुकुमारैः कुमारैस्तैर्भव्यसिंहैः सहैव हि । ज्ञेयानि त्यक्तदेशानां नामानीमानि पण्डितैः ॥६३॥
कुरुजाङ्गलपञ्चालसूरसेनपटच्चराः । तुलिङ्ग-काशि-कौशल्य-मद्रकारवृकार्थकाः ॥६४॥
सोल्वावृष्टत्रिगर्त्ताश्च कुशाग्रो मत्स्यनामकः । कुणीयान् कोशलो मोको देशास्ते मध्यदेशकाः ॥६५॥
बाह्लीकात्रेयकाम्बोजा यवनाभीरमद्रकाः । क्वाथतोयश्च शूरश्च वाटवानश्च कैकयः ॥६६॥
गान्धारः सिन्धुसौवीरभारद्वाजदशेरुकाः । प्रास्थालास्तीर्णकर्णाश्च देशा उत्तरतः स्थिताः ॥६७॥
खड्गाङ्गारकपौण्ड्राश्च मल्लप्रवकमस्तकाः । प्राद्योतिषश्च वङ्गश्च मगधो मानवर्तिकः ॥६८॥

पहुँचे ॥५३॥ वहाँ वे तीन दिनके उपवासका नियम लेकर ठहर गये। यहाँ नाट्यमाल नामक देवने उन्हें नाना प्रकारके आभूषण और बिजलीके समान चमकते हुए दो कुण्डल भेंट किये ॥५४॥ जिस प्रकार पहले अयोध्य सेनापतिने दण्डरत्नके द्वारा सिन्धु नदीकी गुफाका द्वार खोला था उसी प्रकार यहाँ भी उसने दण्डरत्नसे गंगानदीकी गुफाका द्वार खोला और भरत उस द्वारसे प्रवेश कर सेना-सहित बाहर निकल आये ॥५५॥ इस तरह अतिशय कुशल भरतने साठ हजार वर्षोंमें छह खण्डोंसे युक्त समस्त भरतक्षेत्रको जीतकर अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान किया ॥५६॥

अथानन्तर—समीप आनेपर जब सुदर्शनचक्रने अयोध्यामें प्रवेश नहीं किया तब भरतने सन्देहयुक्त हो बुद्धिसागर पुरोहितसे पूछा कि समस्त भरतक्षेत्रको वश कर लेनेपर भी यह दिव्य चक्ररत्न अयोध्यामें प्रवेश क्यों नहीं कर रहा है ? अब तो हमारे युद्धके योग्य कोई नहीं है ? ॥५७-५८॥ पुरोहितने कहा कि आपके जो महाबलवान् भाई हैं वे आपकी आज्ञा नहीं सुनते हैं ॥५९॥ यह सुनकर भरतने शीघ्र ही उनके पास साम, दाम आदि नीतिके साथ दूत भेजे ॥६०॥ तदनन्तर इस निमित्तसे जिन्हें बोधिकी प्राप्ति हुई थी ऐसे भरतके अभिमानी भाइयोंने त्यागको ही महोत्सव मान अपने-अपने राज्य छोड़ दिये ॥६१॥ जो संसारसे भयभीत थे, जिनकी मानरूपी शल्य छूट चुकी थी, और जो अन्तरंगमें मोक्षकी इच्छा रखते थे ऐसे भरतके समस्त भाइयों ने भगवान् वृषभदेवके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥६२॥ उन सुकुमार एवं भव्य-शिरोमणि कुमारोंने जो देश छोड़े थे विद्वानोंको उनके नाम इस प्रकार जानना चाहिए ॥६३॥ कुरुजांगल, पंचाल, सूरसेन, पटच्चर, तुलिंग, काशि, कौशल्य, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान्, कोशल और मोक ये मध्यदेश थे ॥६४-६५॥ वाह्लीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, वाटवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तोर्णकर्ण ये देश उत्तरकी ओर स्थित थे ॥६६-६७॥ खड्ग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, प्रवक, मस्तक, प्राद्योतिष, वंग, मगध, मानवर्तिक,

---

१. न तु म. । २. वचोहरात् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मलदो भार्गवश्चामी प्राच्यां जनपदाः स्थिताः । बाणमुक्तश्च वैदर्भाः माणवः सककापिराः ॥६९॥
मूलकाश्मकदाण्डीककलिङ्गासिक्कुन्तलाः । नवराष्ट्रो माहिषकः पुरुषो भोगवर्धनः ॥७०॥
दाक्षिणात्या जनपदा निरुच्यन्ते स्वनामभिः । माल्यकल्लीवनोपान्तदुर्गसूर्पारकर्बुकाः ॥७१॥
काक्षिनासारिकागर्ताः ससारस्वततापसाः । माहेभो भरुकच्छश्च सुराष्ट्रो नर्मदस्तथा ॥७२॥
एते जनपदाः सर्वे प्रतीच्यां नामभिः स्मृताः । दशार्णकेति किष्कन्धस्त्रिपुरावर्त्तनैषधाः ॥७३॥
नेपालोत्तमवर्णश्च वैदिशान्तपकौशलाः । पत्तनो विनिहात्रश्च विन्ध्यापृष्ठनिवासिनः ॥७४॥
भद्रवत्सविदेहाश्च कुशभङ्गाश्च सैतवाः । वज्रखण्डिक इत्येते मध्यदेशाश्रिता मताः ॥७५॥
देशानेताननुज्ञातान् गुरुणा भरतानुजाः । दारानिव विधेयांश्च मुमुचुस्ते मुमुक्षवः ॥७६॥
अथ बाहुबली चक्रे चक्रेशं प्रत्यवस्थितिम् । संदधानो मनश्चक्रे चक्रेऽलातमयं यथा ॥७७॥
भवतो न भुजिष्योऽहमिति प्रेष्य वचोहरान् । पोदनान्निर्ययौ योद्धुमक्षौहिण्या युतो द्रुतम् ॥७८॥
चक्रवर्त्यपि संप्राप्तः सैन्यसागररुद्धदिक् । विततापरदिग्भागे चम्वोः स्पर्शस्तयोरभूत् ॥७९॥
उभये मन्त्रिणो मन्त्रं मन्त्रयित्वाहुरीशयोः । माभूज्जनपदक्षयो धर्मयुद्धमिहास्त्विति ॥८०॥
प्रतिपद्य वचस्तौ तद् दृष्टियुद्धं प्रचक्रतुः । चिरं निमेषमुक्ताक्षौ दृष्टौ खे खेचरामरैः ॥८१॥
कनिष्ठोऽत्राजयज्ज्येष्ठं पञ्चचापशतोच्छ्रितम् । ऊर्ध्वदृष्टिमधोदृष्टिस्तदुच्चैः पञ्चविंशतिः ॥८२॥
ततोऽन्योन्यभुजक्षिप्ततरङ्गाघातदुःसहम् । जलयुद्धमभूद् रौद्रं सरस्यत्र जितोऽग्रजः ॥८३॥

मलद और भार्गव, ये देश पूर्व दिशामें स्थित थे। बाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डीक, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन, ये दक्षिण दिशाके देश थे। माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सूर्पार, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद, ये सब देश पश्चिम दिशामें स्थित थे। दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र, ये देश विन्ध्याचलके ऊपर स्थित थे ॥६८–७४॥ भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भंग, सैतव और वज्र-खण्डिक, ये देश मध्यदेशके आश्रित थे ॥७५॥ पिता—भगवान् वृषभदेवके द्वारा दिये हुए इन सब देशोंको मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले भरतके छोटे भाइयोंने स्त्रियोंके समान छोड़ दिया साथ ही उन्होंने आज्ञाकारी सेवकोंका भी परित्याग कर दिया ॥७६॥

अथानन्तर कुमार बाहुबलीने भरतके प्रति अपनी प्रतिकूलता प्रकट की। उन्होंने उनके सुदर्शनचक्रको अलातचक्रके समान तुच्छ समझा और 'मैं आपके आधीन नहीं हूँ' यह कहकर दूत भेज दिये तथा वे शीघ्र ही अक्षौहिणी सेना साथ ले युद्धके लिए पोदनपुरसे निकल पड़े ॥७७–७८॥ इधर सेनारूपी सागरसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए चक्रवर्ती भरत भी आ पहुँचे जिससे वितता नदीके पश्चिम दिग्भागमें दोनों सेनाओंकी मुठभेड़ हुई ॥७९॥ तदनन्तर दोनों राजाओंके मन्त्रियोंने परस्पर सलाह कर कहा कि देशवासियोंका क्षय न हो इसलिए दोनों ही राजाओंमें धर्मयुद्ध हो ॥८०॥ भरत और बाहुबलीने मन्त्रियोंकी यह बात मानकर सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध शुरू किया और आकाशमें खड़े हुए देव और विद्याधरोंने दोनोंको चिरकाल तक टिमकाररहित नेत्रोंसे युक्त देखा। अर्थात् दोनों भाई चिरकाल तक टिमकाररहित नेत्रोंसे खड़े रहे और कोई किसीसे हारा नहीं। परन्तु अन्तमें छोटे भाईने बड़े भाईको हरा दिया क्योंकि बड़े भाई पाँच सौ धनुष ऊँचे थे इसलिए उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी और छोटे भाई उनसे पचीस धनुष ऊँचे थे इसलिए उनकी दृष्टि नीचेकी ओर थी ॥८१–८२॥ दृष्टियुद्धके बाद दोनों भाइयोंका तालाबमें भयंकर जलयुद्ध हुआ।

१. 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ख., घ.। २. तथा ख., घ.। ३. दासः। ४. विनतापर -ङ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वलितास्फोटितास्टोपं नानाकरणकौशलम् । मल्लयुद्धमभूत्पश्चाद् रङ्गभूमौ चिरं तयोः ॥८४॥
पादावष्टम्भसंभिन्नहृदया युध्यमानयोः । तयोर्भियेव वरयो रराम वसुधावधूः ॥८५॥
भरतं भुजयन्त्रेण दयावान् भुजविक्रमी । निरुद्धचोत्क्षिप्य संतस्थे रत्नशैलमिवामरः ॥८६॥
प्रेक्षकैः सुरसंघातैः खेचरैरपि भूचरैः । अहो वीर्यमहो धैर्यं साधु साध्विति वर्णितम् ॥८७॥
साधु संसाध्य मुक्तेन भरतेन रुषा ततः । अपमृत्यु स्मृतं चक्रं सहस्रारं स्थितं करे ॥८८॥
रक्ष्यं यक्षसहस्रेण सहस्रकिरणप्रभम् । प्रभ्राम्य चक्रमुन्मुक्तं वधार्थं भ्रातुरुन्मुखम् ॥८९॥
चरमोत्तमदेहस्य तस्याशक्तं विनाशने । देवताधिष्ठितं चक्रं त्रिःपरीत्यागतं पुनः ॥९०॥
ज्येष्ठभ्रातरमालोक्य निर्घृणं भुजविक्रमी । कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां निनिन्द श्रियमित्यसौ ॥९१॥
स्वच्छानामनुकूलानां संहतानां नृचेतसाम् । विपर्यासकरीं लक्ष्मीं धिक् पङ्कद्धिमिवाम्भसाम् ॥९२॥
मधुरस्निग्धशीलानां चिरस्थस्नेहहारिणीम् । चलाचलात्मिकां धिक् धिग् यन्त्रमूर्तिमिव श्रियम् ॥९३॥
सर्वतोऽपि सुदुःप्रेक्ष्यां नरेन्द्राणामपि स्वयम् । दृष्टिं दृष्टिविषस्येव धिक् धिग् लक्ष्मीं भयावहाम् ॥९४॥

उस समय दोनों ही भाई एक दूसरेपर अपनी भुजाओंसे लहरें उछाल-उछालकर दुःसह आघात कर रहे थे। परन्तु इस युद्धमें भी बड़े भाई भरत हार गये ॥८३॥ तदनन्तर दोनोंका रंगभूमिमें चिरकाल तक मल्लयुद्ध हुआ। उनका वह मल्लयुद्ध तालोंकी फटाटोपसे युक्त था तथा नाना प्रकारके पैंतरा बदलनेकी चतुराईसे पूर्ण था ॥८४॥ उस समय युद्ध करते हुए दोनों वरोंके पदाघातसे जिसका हृदय फट गया था ऐसी पृथिवीरूपी स्त्री भयसे ही मानो चिल्ला उठी थी ॥८५॥ अन्तमें दयावान् बाहुबली अपने भुजयन्त्रसे भरतको पकड़कर तथा ऊपरकी ओर उठाकर इस प्रकार खड़े हो गये मानो कोई देव रत्नोंके पर्वतको उठाकर खड़ा हो ॥८६॥ देखनेवाले देवोंके समूह, विद्याधरों तथा भूमिगोचरी मनुष्योंने उसी समय जोरसे यह शब्द किया कि अहो! वीर्यम्—आश्चर्यकारी शक्ति है, अहो! धैर्यम्—आश्चर्यकारी धैर्य है, साधु-साधु—ठीक है, ठीक है आदि ॥८७॥ तदनन्तर अच्छी तरह जीतकर जब बाहुबलीने भरतको छोड़ा तब उन्होंने क्रोधके कारण अपमृत्यु करनेवाले सुदर्शनचक्रका स्मरण किया और स्मरण करते ही हजार अरोंको धारण करनेवाला सुदर्शनचक्र उनके हाथमें आकर खड़ा हो गया ॥८८॥ एक हजार यक्ष जिसकी रक्षा कर रहे थे तथा जो सूर्यके समान देदीप्यमान प्रभाका धारक था ऐसे सुदर्शनचक्रको उन्होंने ऊपरकी ओर घुमाकर भाईको मारनेके लिए छोड़ा ॥८९॥ परन्तु वह देवाधिष्ठित चक्र चरमोत्तम शरीरके धारक बाहुबलीके मारनेमें असमर्थ रहा इसलिए उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर वापस आ गया ॥९०॥ तदनन्तर बाहुबली बड़े भाईको निर्दय देख हाथोंसे कान ढँककर लक्ष्मीकी इस प्रकार निन्दा करने लगे ॥९१॥ जिस प्रकार कीचड़ स्वच्छ, अनुकूल, एवं मिले हुए जलको विपरीत—मलिन कर देती है उसी प्रकार यह लक्ष्मी स्वच्छ, अनुकूल और मिले हुए मनुष्योंके चित्तको विपरीत कर देती है अतः इसे धिक्कार हो ॥९२॥ जिस प्रकार यन्त्र-मूर्ति—(कोल्हू) मधुर एवं चिक्कण स्वभाववाले तिलहनोंके दीर्घकालिक स्नेह—तेलको हर लेती है तथा अत्यन्त अस्थिर होती है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी मधुर एवं स्नेहपूर्ण स्वभाववाले मनुष्योंके चिर-कालिक स्नेह—प्रियको नष्ट कर देती है एवं अत्यन्त अस्थिर है अतः इसे धिक्कार हो ॥९३॥ जिस प्रकार दृष्टिविष सर्पकी दृष्टि नरेन्द्र—विषवैद्योंके लिए भी सब ओरसे स्वयं अत्यन्त दुःखसे देखनेके योग्य तथा भय उत्पन्न करनेवाली है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी नरेन्द्र—राजाओंके लिए भी सब ओरसे अत्यन्त दुःप्रेक्ष्य—दुःखसे देखने योग्य तथा भय उत्पन्न करनेवाली है इसलिए इसे

१. वरणे म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलमध्यान्तदुःस्पर्शां सर्वदाग्निशिखामिव । भास्वरामपि धिग्लक्ष्मीं सर्वसंतापकारिणीम् ॥९५॥
मर्त्यलोके सुखं तद् यच्चित्तसंतोषलक्षणम् । सति बन्धुविरोधे हि न सुखं न धनं नृणाम् ॥९६॥
जनयन्ति नृणां भोगाः प्रतिकूलेषु बन्धुषु । [1]शीतज्वराभिभूतानां शीतस्पर्शा इवासुखम् ॥९७॥
इति संचिन्त्य संत्यज्य स राज्यं तपसि स्थितः । कैलासे प्रतिमायोगं तस्थौ वर्षं सुनिश्चलः ॥९८॥
वल्मीकरन्ध्रनिर्यातैः फणिभिर्मणिभूषितैः । चरणौ रेजतुस्तस्य पुरेव नरपैर्भृतैः ॥९९॥
वल्लभेव पुरा वल्ली माधवी कोमलाङ्गिका । निःशेषाङ्गपरिष्वङ्गं चक्रे तस्य मुनेरपि ॥१००॥
लतां व्यपनयन्तीभ्यां खेचरीभ्यां बभौ मुनिः । श्याममूर्तिः स्थिरो योगी यथा मरकताचलः ॥१०१॥
कषायान्तमसौ कृत्वा भरतेन कृताननतिः । केवलज्ञानमुत्पाद्य पारिषद्यः प्रभोरभूत् ॥१०२॥
चतुर्दशमहारत्नैर्निधिभिर्नवभिर्युतः । निःसपत्नं ततश्चक्री बुभोज वसुधां कृती ॥१०३॥
अदाद् द्वादशवर्षाणि दानं चासौ यथेप्सितम् । लोकाय कृपया युक्तः परीक्षापरिवर्जितम् ॥१०४॥
जिनशासनवात्सल्यभक्तिभारवशीकृतः । परीक्ष्य श्रावकान् पश्चाद् यवव्रीह्यङ्कुरादिभिः ॥१०५॥
काकिण्या लक्षणं कृत्वा सुरत्नत्रयसूत्रकम् । संपूज्य स ददौ तेभ्यो भक्तिदानं कृते युगे ॥१०६॥
ततस्ते ब्राह्मणाः प्रोक्ताः व्रतिनो भरतादृताः । वर्णत्रयेण पूर्वेण जाता वर्णचतुष्टयी ॥१०७॥

धिक्कार हो ॥९४॥ जिस प्रकार अग्निकी शिखा सदा मूल, मध्य और अन्तमें दुःखकर स्पर्शसे सहित है तथा देदीप्यमान होकर भी सबको सन्ताप करनेवाली है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी आदि, मध्य और अन्तमें दुःखकर स्पर्शसे सहित है—सब दशाओंमें दुःख देनेवाली है तथा देदीप्यमान—तेज तर्राटिसे युक्त होनेपर भी सबको सन्ताप उत्पन्न करनेवाली है—आकुलताकी जननी है इसलिए इसे धिक्कार हो ॥९५॥ मनुष्यलोकमें सुख वही है जो चित्तको सन्तुष्ट करनेवाला हो परन्तु बन्धुजनोंमें विरोध होनेपर मनुष्योंको न सुख प्राप्त होता है और न धन ही उनके पास स्थिर रहता है ॥९६॥ जिस प्रकार शीत-ज्वरसे आक्रान्त मनुष्योंके लिए शीतल स्पर्श दुःख उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार बन्धुजनोंके विरुद्ध होनेपर भोग भी मनुष्योंके लिए दुःख उत्पन्न करते हैं ॥९७॥ इस प्रकार विचार कर तथा राज्यका परित्याग कर बाहुबली तप करने लगे और कैलास पर्वतपर एक वर्षका प्रतिमा योग लेकर निश्चल खड़े हो गये ॥९८॥ उनके चरण, वामीके बिलोंसे निकले हुए मणिभूषित सर्पोंसे इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि पहले मणिभूषित आश्रित राजाओंसे सुशोभित होते थे ॥९९॥ जिस प्रकार पहले कोमलांगी वल्लभा उनके समस्त शरीरका आलिंगन करती थी उसी प्रकार कोमलांगी माधवीलता उनके मुनि होनेपर भी उन बाहुबलीके समस्त शरीरका आलिंगन कर रही थी ॥१००॥ दो विद्याधर परियाँ उनके शरीरपर लिपटी हुई लताको दूर करती रहती थीं जिससे श्याममूर्तिके धारक एवं स्थिर खड़े हुए योगिराज बाहुबली मरकतमणिके पर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१०१॥ तदनन्तर भरतने आकर जिन्हें नमस्कार किया था ऐसे बाहुबली मुनिराज कषायोंका अन्त कर तथा केवलज्ञान उत्पन्न कर भगवान् वृषभदेवके सभासद् हो गये—उनके समवसरणमें पहुँच गये ॥१०२॥

तदनन्तर चौदह महारत्नों और नौ निधियोंसे युक्त अतिशय बुद्धिमान् चक्रवर्ती भरत, पृथिवीका निष्कण्टक उपभोग करने लगे ॥१०३॥ भरत महाराज दयासे युक्त हो बिना किसी परीक्षाके बारह वर्ष तक लोगोंके लिए मनचाहा दान देते रहे ॥१०४॥ तदनन्तर जिन-शासन सम्बन्धी वात्सल्य और भक्तिके भारसे वशीभूत होकर उन्होंने जौ तथा धान्य आदिके अंकुरोंसे श्रावकोंकी परीक्षा की, काकिणी रत्नसे निर्मित रत्नत्रयसूत्र—यज्ञोपवीतको उनका चिह्न बनाया और आदर-सत्कार कर कृतयुगमें उन्हें भक्तिपूर्वक दान दिया ॥१०५-१०६॥ आगे चलकर भरतके

१. शीतद्वाराभिभूतानां ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्रच्छत्रासिदण्डास्ते काकिणीमणिचर्मणी । सेनागृहपतीभाश्वाः पुरोधःस्थपतिस्त्रियः ॥१०८॥
चतुर्दशमहारत्ननिचयाश्चक्रवर्तिनः । प्रत्येकं रक्षिता देवैः सहस्रगणनैर्बभुः ॥१०९॥
कालश्चापि महाकालः पाण्डुको माणवस्तथा । नैःसर्पः सर्वरत्नाश्च शङ्खः पद्मश्च पिङ्गलः ॥११०॥
अमी पुण्यवतस्तस्य निधयोऽनिधना[1] नव । पालिता निधिपालाख्यैः सुरैर्लोकोपयोगिनः ॥१११॥
शकटाकृतयः सर्वे चतुरक्षाष्टचक्रकाः । नवयोजनविस्तीर्णा द्वादशायामसंमिताः ॥११२॥
ते चाष्टयोजनागाधा बहुवक्षारकुक्षयः । नित्यं यक्षसहस्रेण प्रत्येकं रक्षितेक्षिताः ॥११३॥
ज्योतिर्निमित्तशास्त्राणि हेतुवादकलागुणाः । शब्दशास्त्रपुराणाद्याः[2] सर्वे कालनिधौ मताः ॥११४॥
पञ्चलोहादयो लोहा नानाभेदाः प्रवर्तिताः । लब्धवर्णैर्विनिर्णेया महाकालनिधौ पुनः ॥११५॥
धान्यानां सकला भेदाः शालिव्रीहियवादयः । कटुतिक्तादिभिर्द्रव्यैः प्रणीताः पाण्डुके निधौ ॥११६॥
कवचैः खेटकैः खड्गैः शरैः शक्तिशरासनैः । चक्राद्यैरायुधैर्दिव्यैः पूर्णो माणवको निधिः ॥११७॥
शयनासनवस्तूनां विविधानां महानिधिः । सर्पो गृहोपयोग्यानां[3] भाजनानां च भाजनम् ॥११८॥
इन्द्रनीलमहानीलवज्रवैडूर्यपूर्वकैः । सर्वरत्ननिधिः पूर्णः सुरत्नैः सुमहाशिखैः ॥११९॥
भेरीशङ्खानकैर्वीणाझल्लरीमुरजादिभिः । आतोद्यैश्चोद्यसंपूर्णैः पूर्णः शङ्खनिधिर्महान् ॥१२०॥

द्वारा आदरको प्राप्त हुए वे व्रती ब्राह्मण कहे जाने लगे। इस तरह पहले कहे हुए तीन वर्णोंके साथ मिलकर अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हो गये ॥१०७॥ १ चक्र, २ छत्र, ३ खड्ग, ४ दण्ड, ५ काकिणी, ६ मणि, ७ चर्म, ८ सेनापति, ९ गृहपति, १० हस्ती, ११ अश्व, १२ पुरोहित, १३ स्थपति और १४ स्त्री चक्रवर्तीके ये चौदह रत्न थे, इनमें प्रत्येककी एक-एक हजार देव रक्षा करते थे तथा ये अत्यधिक सुशोभित थे ॥१०८-१०९॥ १ काल, २ महाकाल, ३ पाण्डुक, ४ माणव, ५ नैःसर्प, ६ सर्वरत्न, ७ शंख, ८ पद्म और ९ पिंगल....ये पुण्यशाली चक्रवर्तीकी नौ निधियाँ थीं। ये सभी निधियाँ अविनाशी थीं, निधिपाल नामक देवोंके द्वारा सुरक्षित थीं और निरन्तर लोगोंके उपकारमें आती थीं ॥११०-१११॥ ये गाड़ीके आकारकी थीं, चार-चार भौरों और आठ-आठ पहियोंसे सहित थीं। नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी, आठ योजन गहरी और वक्षार गिरिके समान विशाल कुक्षिसे सहित थीं। प्रत्येककी एक-एक हजार यक्ष निरन्तर देख-रेख रखते थे ॥११२-११३॥

इनमें-से पहली कालनिधिमें ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र, न्यायशास्त्र, कलाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, एवं पुराण आदिका सद्भाव था अर्थात् कालनिधिसे इन सबकी प्राप्ति होती थी ॥११४॥ दूसरी महाकाल निधिमें विद्वानोंके द्वारा निर्णय करने योग्य पंचलोह आदि नाना प्रकारके लोहोंका सद्भाव था अर्थात् उससे इन सबकी प्राप्ति होती थी ॥११५॥ तीसरी पाण्डुक निधिमें शालि, व्रीहि, जौ आदि समस्त प्रकारकी धान्य तथा कड़ुए चिरपरे आदि पदार्थोंका सद्भाव था ॥११६॥ चौथी माणवक निधि, कवच, ढाल, तलवार, बाण, शक्ति, धनुष तथा चक्र आदि नाना प्रकारके दिव्य शस्त्रोंसे परिपूर्ण थी ॥११७॥ पाँचवीं सर्प-निधि, शय्या, आसन आदि नाना प्रकारकी वस्तुओं तथा घरमें उपयोग आनेवाले नाना प्रकारके भाजनोंकी पात्र थी ॥११८॥ छठी सर्वरत्न निधि इन्द्रनील मणि, महानील मणि, वज्रमणि आदि बड़ी-बड़ी शिखाके धारक उत्तमोत्तम रत्नोंसे परिपूर्ण थी ॥११९॥ सातवीं शंखनिधि, भेरी, शंख, नगाड़े, वीणा, झल्लरी और मृदंग आदि आघातसे तथा फूँककर बजाने योग्य नाना प्रकारके बाजोंसे

---

१. नाशरहिताः, निधनानि च ङ. । २. पुराणाढ्याः म. । ३. भोजनानां म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पट्टचीणमहानेत्रदुकूलवरकम्बलैः । वस्त्रैर्विचित्रवर्णाढ्यैः पूर्णपद्मनिधिः सदा ॥१२१॥
कटकैः कटिसूत्राद्यैः स्त्रीपुंसाभरणैः शुभैः । स पिङ्गलनिधिः पूर्णो गजवाजिविभूषणैः ॥१२२॥
[1]कामवृष्टिवशास्तेऽमी नवापि निधयः सदा । निष्पादयन्ति निःशेषं चक्रवर्त्तिमनीषितम् ॥१२३॥
शतानि त्रीणि षष्टया तु सूपकाराः परे परे । कल्याणसिक्थमाहारं प्रत्यहं ये वितन्वते ॥१२४॥
सहस्रसिक्थः कबलो द्वात्रिंशत् तेऽपि चक्रिणः । एकश्चासौ सुभद्रायाः एकोऽन्येषां तु तृप्तये ॥१२५॥
चित्रकारसहस्राणि नवतिर्नवभिः सह । द्वात्रिंशत् ते सहस्राणि नृपा मुकुटबद्धकाः ॥१२६॥
देशाश्चापि हि तावन्तो जयन्त्यपि सुरस्त्रियः । अन्तःपुरसहस्राणि तस्य षण्णवतिः प्रभोः ॥१२७॥
हलकोटी तथा गावस्त्रिकोट्यः कामधेनवः । कोट्यश्चाष्टादशाश्वानां निश्चेया वातरंहसाम् ॥१२८॥
लक्षाश्चतुरशीतिस्तु मदमन्थरगामिनाम् । हस्तिनां सुरथानां च प्रत्येकं चक्रवर्त्तिनः ॥१२९॥
[2]आदित्ययशसा सार्द्धं [3]विवर्द्धनपुरोगमाः । पञ्च पुत्रशतान्यस्य वशाश्चरमदेहकाः ॥१३०॥
भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम् । [4]निधिरत्नपुरं नाट्यं भोगास्तस्य दशाङ्गकाः ॥१३१॥
स षोडशसहस्रैश्च गणबद्धसुरैः सदा । सेवायां सेव्यते दक्षैः प्रमादरहितैर्हितैः ॥१३२॥
विभवेन नरेन्द्रोऽयौ तादृशेन युतोऽपि सन् । शास्त्रार्थक्षुण्णधीश्चक्रे दुर्गतिग्रहनिग्रहम् ॥१३३॥
स द्वात्रिंशत्सहस्राणां स्मयबाहुल्यमस्मयः । अपाकरोद्विकीर्यैतान् दोःकृताहितमन्थनः ॥१३४॥
[5]श्रीवृक्षलक्षितोरस्के सचतुःषष्टिलक्षणे । षोडशे मनुराजेऽस्मिन् विडौजःश्रीविडम्बिनि ॥१३५॥
स्वायंभुवे महाभागे भरते भरतक्षितिम् । नीत्या शासति खण्डानां नित्याखण्डितपौरुषे ॥१३६॥

पूर्ण थी ॥१२०॥ आठवीं पद्मनिधि पाटाम्बर, चीन, महानेत्र, दुकूल, उत्तम कम्बल तथा नाना प्रकारके रंग-बिरंग वस्त्रोंसे परिपूर्ण थी ॥१२१॥ और नौवीं पिंगलनिधि कड़े तथा कटिसूत्र आदि स्त्री-पुरुषोंके आभूषण और हाथी, घोड़ा आदिके अलंकारोंसे परिपूर्ण थी ॥१२२॥ ये नौकी नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपतिके आधीन थीं और सदा चक्रवर्तीके समस्त मनोरथोंको पूर्ण करती थीं ॥१२३॥ चक्रवर्तीके एक-से-एक बढ़कर तीन सौ साठ रसोइया थे जो प्रतिदिन कल्याण-कारी सीथोंसे युक्त आहार बनाते थे ॥१२४॥ एक हजार चावलोंका एक कबल होता है ऐसे बत्तीस कबल प्रमाण चक्रवर्तीका आहार था, सुभद्राका आहार एक कबल था और एक कबल अन्य समस्त लोगोंको तृप्तिके लिए पर्याप्त था और एक कबल अन्य समस्त लोगोंकी तृप्तिके लिए पर्याप्त था ॥१२५॥ चक्रवर्तीके निन्यानबे हजार चित्रकार थे, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा थे, उतने ही देश थे और देवांगनाओंको भी जीतनेवाली छियानबे हजार स्त्रियाँ थीं ॥१२६-१२७॥ एक करोड़ हल थे, तीन करोड़ कामधेनु गायें थीं, वायुके समान वेगशाली अठारह करोड़ घोड़े थे, मत्त एवं धीरे-धीरे गमन करनेवाले चौरासी लाख हाथी और उतने ही उत्तम रथ थे ॥१२८-१२९॥ अर्ककीर्ति और विवर्धनको आदि लेकर पाँचसौ चरम शरीरी तथा आज्ञाकारी पुत्र थे ॥१३०॥ १ भाजन, २ भोजन, ३ शय्या, ४ सेना, ५ वाहन, ६ आसन, ७ निधि, ८ रत्न, ९ नगर और १० नाट्य ये दश प्रकारके भोग थे ॥१३१॥ सेवामें निपुण, प्रमादरहित एवं परमहितकारी सोलह हजार गणबद्ध देव सदा उनकी सेवा करते थे ॥१३२॥ यद्यपि राजाधिराज चक्रवर्ती इस प्रकारके विभवसे सहित थे तथापि उनकी बुद्धि शास्त्रोंका अर्थ विचारनेमें निरत रहती थी और वे दुर्गतिरूपी ग्रहका सदा निग्रह करते रहते थे ॥१३३॥ भुजाओंसे शत्रुओंका मथन करनेवाले चक्रवर्तीने यद्यपि बत्तीस हजार राजाओंको बिखेरकर उनका अभिमान नष्ट कर दिया था तथापि स्वयं अभिमानसे रहित थे ॥१३४॥ जिनका वक्षःस्थल श्रीवृक्षके चिह्नसे सहित था, जो चौंसठ लक्षणोंसे युक्त थे, जो इन्द्रकी

---

१. कामदृष्टि-म. । २. अर्ककीर्तिना । ३. विवर्द्धनकुमारादयः । ४. निधिरत्नं पुरं म. । ५. श्रीवक्ष-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मार्थकाममोक्षेषु यथेष्टमनुरागिणः । जनाः सन्ततमारेभुर्निःप्रत्यूहसमीहिताः ॥१३७॥
अवाग्विसर्गमन्येषां पूर्वधर्मफलं प्रभुः । श्रिया स दर्शयन् केषां नाभूद्धर्मस्य देशकः ॥१३८॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

धर्मस्याचरितस्य पूर्वजनने मार्गे जिनानां महान्
माहात्म्येन सपौरुषः सुखनिधिर्लोकैककल्पद्रुमः ।
सम्यग्दर्शनरत्नरञ्जितमनोवृत्तिर्मनश्चक्रभृत्
चक्रे शक्रनिभः श्रियात्र भरतः शार्दूलविक्रीडितम् ॥१३९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ भरतदिग्विजयवर्णनो
नाम एकादशः सर्गः ।



लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाले थे और जो नित्य एवं अखण्डित पौरुषको धारण करनेवाले थे ऐसे स्वयम्भूपुत्र सोलहवें कुलकर भरत महाराज जब भरत क्षेत्र सम्बन्धी छह खण्डोंकी भूमिका नीतिपूर्वक शासन करते थे तब धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें यथेष्ट अनुराग रखनेवाले लोग निर्विघ्न रूपसे निरन्तर आनन्दका उपभोग करते थे ॥१३५-१३७॥ जो अपनी लक्ष्मीके द्वारा बिना वचन बोले ही अन्य मनुष्योंके लिए पूर्वजन्ममें किये हुए धर्मका फल दिखला रहे थे ऐसे भरत महाराज किनके लिए धर्मके उपदेशक नहीं थे । भावार्थ—उनकी अनुपम विभूतिको देखकर लोग अपने आप समझ जाते थे कि यह इनके पूर्वकृत धर्मका फल है इसलिए सबको धर्म करना चाहिए ॥१३८॥ इस प्रकार पूर्वजन्ममें आचरण किये हुए धर्मके माहात्म्यसे जो स्वयं अतिशय महान् थे, पौरुषसे युक्त थे, सुखके भाण्डार थे, लोगोंके लिए कल्पवृक्षस्वरूप थे, सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे रंजित मनोवृत्तिसे युक्त थे, और लक्ष्मीसे इन्द्रके समान थे ऐसे चक्रवर्ती भरत, सिंहकी चेष्टाके समान सुदृढ़ मनको जिनमार्गमें लीन रखने लगे ॥१३९॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें
भरतकी दिग्विजयका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वादशः सर्गः

चकार वन्दनां गत्वा चक्री भर्त्तुरनारतम् । स त्रिषष्टिपुराणानि शुश्राव च सविस्तरम् ॥१॥
चतुर्विंशतितीर्थेशवन्दनार्थं[1] शिरःस्पृशम् । अचीकरदसौ वेश्मद्वारे वन्दनमालिकाम् ॥२॥
अदृष्टपूर्वतीर्थेशाः प्रविष्टाः समवस्थितिम् । कदाचिच्चक्रिणा सार्द्धं विवर्द्धनपुरोगमाः[2] ॥३॥
क्लिष्टाः स्थावरकायेष्वनादिमिथ्यात्वदूषिताः । दृष्ट्वा भगवतो लक्ष्मीं राजपुत्राः सुविस्मिताः ॥४॥
अन्तर्मुहूर्तकालेन प्रतिपन्नसुसंयमाः । त्रयोविंशान्यहो चित्रं शतानि नवभिर्बभुः ॥५॥
तान् प्रशस्य ततश्चक्री शासनं च जिनेशिनाम् । नत्वेशं साधुसंघं च विवेश मुदितः पुरीम् ॥६॥
शनैर्याति ततः काले साम्राज्ये लोकपालिनः । चतुर्वर्गोचितज्ञानजलक्षालितचेतसः ॥७॥
ततः स्वयंवरारम्भे प्राप्ते भूचरखेचरे । वृते मेघेश्वरे धीरे सुसुलोचनया तया ॥८॥
युद्धे बद्धेऽर्ककीर्त्तौ[3] च मुक्ते च कृतपूजने । अकम्पनसुताभर्त्ता पूजितश्चक्रवर्त्तिना ॥९॥
स हास्तिनपुराधीशः प्रासादस्थोऽन्यदा वृतः । स्त्रीभिः खे खेचरं यान्तं खेचर्यां वीक्ष्य मूर्च्छितः[4] ॥१०॥

अथानन्तर चक्रवर्ती भरत समवसरणमें जाकर निरन्तर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार करते थे और त्रेसठ शलाकापुरुषोंके पुराण विस्तारके साथ सुनते थे ॥१॥ उन्होंने चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दनाके लिए अपने महलोंके द्वारपर शिरका स्पर्श करनेवाली वन्दनमालाएँ बँधवायी थीं। भावार्थ—चक्रवर्ती भरतने अपने महलोंके द्वारपर रत्ननिर्मित चौबीस घण्टियोंसे सहित ऐसी वन्दन-मालाएँ बँधवायी थीं जिनका निकलते समय शिरसे स्पर्श होता था। घण्टियोंकी आवाज सुनकर भरतको चौबीस तीर्थंकरोंका स्मरण हो आता था जिससे वह उन्हें परोक्ष नमस्कार करता था ॥२॥ किसी समय चक्रवर्तीके साथ विवर्द्धन कुमार आदि नौ सौ तेईस राजकुमार भगवान्के समवसरणमें प्रविष्ट हुए। उन्होंने पहले कभी तीर्थंकरके दर्शन नहीं किये थे। वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे और अनादि कालसे ही स्थावर कायोंमें जन्ममरण कर क्लेशको प्राप्त हुए थे। भगवान्की लक्ष्मी देखकर वे सब परम आश्चर्यको प्राप्त हुए और अन्तर्मुहूर्तमें ही उन्होंने संयम प्राप्त कर लिया ॥३-५॥ चक्रवर्तीने उन सब कुमारोंकी तथा जिनेन्द्रदेवके शासनकी प्रशंसा की और अन्तमें वे श्रीजिनेन्द्र भगवान् तथा मुनिसंघको नमस्कार कर प्रसन्न होते हुए अयोध्या नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥६॥

तदनन्तर धीरे-धीरे समय व्यतीत होनेपर लोगोंकी रक्षा करनेवाले एवं चतुर्वर्गके वास्तविक ज्ञानरूपी जलसे प्रक्षालित चित्तके धारक महाराज भरतके साम्राज्यमें सर्वप्रथम स्वयंवर प्रथाका प्रारम्भ हुआ। स्वयंवर मण्डपमें अनेक भूमिगोचरी तथा विद्याधर इकट्ठे हुए। बनारसके राजा अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाने हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभके पुत्र मेघेश्वर जयकुमारको वरा। अर्ककीर्ति और जयकुमारका युद्ध हुआ जिसमें जयकुमारने अर्ककीर्तिको बाँध लिया। पश्चात् अकम्पनकी प्रेरणासे जयकुमारने अर्ककीर्तिको छोड़ दिया एवं उसका सत्कार किया और चक्रवर्तीने सुलोचनाके पति जयकुमारका सत्कार किया ॥७-९॥

तदनन्तर किसी समय हस्तिनापुरका राजा जयकुमार स्त्रियोंसे घिरा महलकी छतपर बैठा था कि आकाशमें जाते हुए विद्याधर और विद्याधरीको देखकर अकस्मात् मूर्च्छित हो

---

१. तीर्थेशं वन्दनार्थं म.। २. विवर्द्धनकुमारप्रभृतयः ९२३ भरतपुत्राः अनादिमिथ्यादृष्टयः सर्वतः पूर्वं भगवतो वैभवं दृष्ट्वा संयमं स्वीचक्रुरिति कथासारः। ३. बद्धे च कीर्तौ च म.। ४ विद्याधर्या सह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विह्वलान्तःपुरस्त्रीभिः कृतमूर्च्छाप्रतिक्रियैः[1]। हा प्रभावति ! यातासि क्वेत्यवादीत्प्रबुद्धवान् ॥११॥
जये जातिस्मरे जाते तत्प्रियापि सुलोचना। प्रासादवलभौ क्रीडत्पारावतयुगेक्षणात् ॥१२॥
भूत्वा जातिस्मरा मूर्च्छां गत्वा प्राप्य प्रतिक्रियाम्[2]। हिरण्यवर्मणो नाम गृह्णतीव समुत्थिता॥ १३॥
हिरण्यवर्मपूर्वोऽहमित्युवाच जयः प्रियाम्। साहं प्रभावतीत्याह प्रहृष्टा तं सुलोचना ॥१४॥
विद्याधरभवं पूर्वमभिज्ञानैरुभावपि। परस्परस्य संवाद्यं स्पष्टं विदधतुः प्रियौ ॥१५॥
ततोऽन्तःपुरलोकस्य कौतुकव्याप्तचेतसः। किमेतदिति जिज्ञासाज्ञापनार्थं जयोक्तया ॥१६॥
सुखदुःखरसोन्मिश्रमवियोगसुखान्वितम्। द्वयोश्चरितमाख्यातं चतुर्भवमयं तया ॥१७॥
उट्टिण्टिकारिसंबन्धं सुकान्तरतिवेगयोः। दम्पत्योर्दग्धयोस्तेन मरणं करुणावहम् ॥१८॥
मार्जारेण सता तेन स्वपारावतजन्मनि। भक्षणे दुःखमरणं स्वं जगाद सुलोचना ॥१९॥
साधुदानानुमोदेन प्रभावत्या प्रभावितः। हिरण्यवर्मणो भोगं महाविद्याधरश्रियः ॥२०॥
स्वपूर्ववैरिणा दाहं तयोः सह तपस्थयोः। आद्यकल्पसमुत्पत्तिं संक्लेशपरिणामतः ॥२१॥
क्रीडार्थमागतस्यास्य क्ष्मां देवमिथुनस्य च। वैरिणो नरकोत्थस्य भीमसाधोश्च मर्षणम् ॥२२॥
स्वर्गच्यवनपर्यन्तं दम्पत्योश्चरितं यथा। दृष्टश्रुतानुभूतार्थं[3] सविस्तरमुदीरितम् ॥२३॥

गया ॥१०॥ घबड़ायी हुई अन्तःपुरकी स्त्रियोंने उसकी मूर्च्छाका उपचार किया जिससे सचेत होकर वह कहने लगा कि 'हाय ! प्रभावति ! तू कहाँ गयी ?' ॥११॥ उधर विद्याधर और विद्याधरीको देखकर जयकुमारको जातिस्मरण हुआ और इधर महलके छज्जेपर क्रीड़ा करते हुए कबूतर और कबूतरीका युगल देखनेसे सुलोचनाको भी जातिस्मरण हो गया जिससे वह भी मूर्च्छित हो गयी। पश्चात् मूर्च्छाका उपचार प्राप्त कर सुलोचना हिरण्यवर्माका नाम लेती हुई उठी ॥१२-१३॥ प्रियाके मुखसे हिरण्यवर्माका नाम सुनकर जयकुमारने उससे कहा कि पहले मैं ही हिरण्यवर्मा था। इसके उत्तरमें सुलोचनाने भी प्रसन्न होती हुई कहा कि वह प्रभावती मैं ही हूँ ॥१४॥ इस प्रकार पति-पत्नी दोनोंने अनेक चिह्नोंसे हम पहले विद्याधर थे, इसका स्पष्ट निर्णय कर लिया ॥१५॥

तदनन्तर जिसका चित्त कौतुकसे व्याप्त हो रहा था ऐसे अन्तःपुरके समस्त लोगोंकी 'यह क्या है' इस जिज्ञासाको दूर करनेके लिए जयकुमारकी प्रेरणा पाकर सुलोचनाने दोनोंके पिछले चार भवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला चरित कहना शुरू किया। उनका वह चरित सुख और दुःखरूपी रससे मिला हुआ था तथा संयोग सम्बन्धी सुखसे सहित था ॥१६-१७॥ उसने बताया कि सुकान्त और रतिवेगा नामक दम्पतिके साथ उट्टिटिकारिका क्या सम्बन्ध था तथा किस प्रकार उसने उक्त दोनों दम्पतियोंको जलाकर उनका करुणापूर्ण मरण किया था। उट्टिटिकारि मरकर बिलाव हुआ और सुकान्त तथा रतिवेगा मरकर कबूतर-कबूतरी हुए तो उट्टिटिकारिने कबूतर-कबूतरीका भक्षण किया। जिससे उन्हें मरते समय बड़ा दुःख उठाना पड़ा ॥१८-१९॥ मुनिदानकी अनुमोदनासे कबूतरीका जीव प्रभावती नामकी विद्याधरी हुई और कबूतरका जीव हिरण्यवर्मा नामका विद्याधर हुआ तथा दोनों ही विद्याधरोंकी लक्ष्मीका उपभोग करते रहे। कदाचित् हिरण्यवर्मा और प्रभावती वनमें तपस्या करते थे, उसी समय अपने पूर्व भवके वैरी—मार्जारके जीव (विद्युद्वेग नामक चोर) ने उन्हें अग्निमें जला दिया। संक्लिष्ट परिणामोंके कारण हिरण्यवर्मा और प्रभावती मरकर प्रथम स्वर्गमें देव-देवी हुए और विद्युद्वेग चोरका जीव मरकर नरक गया। किसी समय उक्त देव-देवियोंका युगल क्रीड़ाके लिए पृथिवीपर आया था और विद्युद्वेगका जीव नरकसे निकलकर भीम नामका साधु हुआ था। सो कारण पाकर तीनों जीवोंने परस्पर क्षमा-

---

१. कृतमूर्च्छानिवारणः। २. प्रतिक्रियः म.। ३. दृष्टं श्रुता म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजाज्ञया च कथितं श्रीपालचरितं तथा । सान्तःपुरो जयः श्रुत्वा महान्तं विस्मयं श्रितः ॥२४॥
भवपञ्चकसंबन्धस्नेहसागरवर्तिनोः । स्मरणादेव संप्राप्ताः विद्याः प्राग्जन्मजास्तयोः ॥२५॥
ततो विद्याप्रभावेण विद्याधरयुवश्रियौ । विजहतुर्जयन्तौ तौ लोकं खेचरगोचरम् ॥२६॥
जिनेन्द्रवन्दनापूर्वं त्रिवर्गपरिपोषिणा । मन्दरस्य रतं तेन कन्दरासु समं तया ॥२७॥
कुलशैलनितम्बेषु सुविशालनितम्बया । रेमे किन्नरगीतेषु रामया सोऽभिरामया ॥२८॥
कर्मभूमिभवेनापि क्रीडितं भोगभूमिषु । कलागुणविदग्धेन मिथुनेन यथेप्सितम् ॥२९॥
शक्रप्रशंसनादेत्य रतिप्रभसुरेण सः । परीक्ष्य स्वस्त्रिया मेरावन्यदा पूजितो जयः ॥३०॥
सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशस्यते । शीलशुद्धिविशुद्धानां किङ्करास्त्रिदशा नृणाम् ॥३१॥
वर्षाणि बहुपत्नीकः सुबहूनि बहुप्रजाः । बुभुजे परमान् भोगान् विजयेन समं जयः ॥३२॥
सुतयाकम्पनस्यासावाक्रीड्याद्रिषु चान्यदा । वन्दनार्थं जिनेन्द्रस्य वृषभस्य समागमत् ॥३३॥
प्रत्यासन्नममुञ्चन्तीं[1] प्रोवाच दयितां च सः । प्रिये पश्य जिनाधीशं त्रैलोक्यपरिवारितम् ॥३४॥
प्रातिहार्यैर्युतोऽष्टाभिश्चतुस्त्रिंशन्महाद्भुतैः । अयं भाति विभुर्धाता[2] त्रैलोक्यपरमेश्वरः ॥३५॥
अमी चतुर्विधा देवाः सौधर्मप्रमुखाः प्रिये । देव्योऽमीषामपि मूर्ध्ना प्रणमन्ति जिनेश्वरम् ॥३६॥

भाव धारण किया। काल पाकर भीम मुनि तो मोक्ष चले गये और देवदम्पती स्वर्गसे च्युत होकर हम दोनों हुए हैं। इस प्रकार स्वर्गसे च्युत होने पर्यन्त देवदम्पतीका चरित जैसा देखा, सुना अथवा अनुभव किया था वैसा सुलोचनाने विस्तारके साथ वर्णन किया ॥२०-२३॥ तदनन्तर जयकुमारकी आज्ञा पाकर सुलोचनाने श्रीपाल चक्रवर्तीका भी चरित कहा जिसे अन्तःपुरके साथ-साथ सुनकर जयकुमार परम आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥२४॥ जो पांच भवोंके सम्बन्धसे समुत्पन्न स्नेहरूपी सागरमें निमग्न थे ऐसे जयकुमार और सुलोचनाको स्मरण मात्रसे ही पूर्व भव सम्बन्धी विद्याएँ प्राप्त हो गयीं ॥२५॥ तदनन्तर विद्याके प्रभावसे विद्याधर और विद्याधरियोंकी शोभाको जीतते हुए वे दोनों विद्याधरोंके लोकमें विहार करने लगे ॥२६॥ धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग-को पुष्ट करनेवाला जयकुमार कभी जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना कर सुमेरुपर्वतकी गुफाओंमें सुलोचनाके साथ रमण करता था और कभी जहाँ किन्नर देव गाते थे ऐसे कुलाचलोंके नितम्बोंपर विशाल नितम्बोंसे सुशोभित सुन्दरी सुलोचनाके साथ क्रीड़ा करता था ॥२७-२८॥ वह यद्यपि कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ था तथापि कला गुणमें विदग्ध आर्य दम्पतीके समान भोगभूमियोंमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता था ॥२९॥

किसी समय इन्द्रके द्वारा की हुई प्रशंसासे प्रेरित होकर रतिप्रभ नामक देवने अपनी स्त्रीके साथ सुमेरु पर्वतपर जयकुमारके शीलकी परीक्षा की और परीक्षा करनेके बाद उसकी पूजा की ॥३०॥ सो ठीक ही है क्योंकि सब प्रकारकी शुद्धियोंमें शीलशुद्धि ही प्रशंसनीय है। जो मनुष्य शीलकी शुद्धिसे विशुद्ध हैं उनके देव भी किंकर हो जाते हैं ॥३१॥ बहुत पत्नियों और बहुत पुत्रोंसे सुशोभित जयकुमार अपने छोटे भाई विजयके साथ उत्तमोत्तम भोग भोगता रहा ॥३२॥

तदनन्तर किसी दिन वह सुलोचनाके साथ पर्वतोंपर क्रीड़ा कर श्री वृषभ जिनेन्द्रकी वन्दनाके लिए समवसरण गया ॥३३॥ समवसरणके समीप पहुँचकर उसने पासमें खड़ी सुलोचनासे कहा कि प्रिये! तीन लोकके जीवोंसे घिरे हुए जिनेन्द्रदेवको देखो ॥३४॥ ये त्रिलोकीनाथ आठ प्रातिहार्योंसे सहित हैं तथा चौंतीस अतिशयोंसे सुशोभित हो रहे हैं ॥३५॥ हे प्रिये! ये सौधर्म आदि चारों निकायके देव और इनकी देवियाँ मस्तक झुका-झुकाकर जिनेन्द्र देवको प्रणाम कर

---

१. मवोचन्ती म.। २. विशुद्धान्तो म., ख.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नानर्द्धियतिभिर्युक्ताः सप्ततिर्गणधारिणः । अमी वृषभसेनाद्याः प्रकाशन्तेऽन्तिकं प्रभोः ॥३७॥
असौ बाहुबली कान्ते ! केवली जटिलो वृतः । स्वभ्रातृमुनिभिर्भाति न्यग्रोध इव पादपैः ॥३८॥
एष सोमप्रभो देवि ! शोभते गुरुरावयोः । श्रेयसा सहितो योगी तपःश्रीपरिवारितः ॥३९॥
अयं पुत्रसहस्रेण तपस्थो जनकस्तव । अकम्पनमहाराजो राजते तपसः[1] श्रिया ॥४०॥
दुर्मर्षणादयस्तेऽमी स्वत्स्वयंवरयोधिनः । उपशान्तधियः कान्ते ! तपस्यन्ति महानृपाः ॥४१॥
ब्राह्मीयं सुन्दरीयं च समस्तार्यागणाग्रणीः । कुमारीभ्यां प्रिये ताभ्यां मारभङ्गः स्फुटीकृतः ॥४२॥
भरतोऽयं नृपैः सार्द्धमुपविष्टो जिनान्तिके । अन्तःपुरमिदं तस्य सुभद्रादिकमेकतः ॥४३॥
पश्य पश्य प्रिये चित्रं यदन्योन्यविरोधिनः । तिर्यञ्चोऽमी समासीनाः सममेकत्र मित्रवत् ॥४४॥
दर्शयन्निति कान्तायै समवस्थितिमर्हतः । सोऽवतीर्य मरुन्मार्गात् कृतजैनेन्द्रसंस्तवः ॥४५॥
निविष्टश्चक्रिणः पार्श्वे विनयी नयविज्जयः । सुभद्रान्तिकमासाद्य समासीना सुलोचना ॥४६॥
धर्मं तत्र जयः श्रुत्वा सप्रपञ्चकथामृतम् । बोधिलाभमसौ लेभे मोहनीयतनुत्वतः ॥४७॥
स्नेहपाशं दृढं छित्त्वा प्रबोध्य स सुलोचनाम् । पुत्रायानन्तवीर्याय दत्त्वा राज्यं निजं कृती ॥४८॥
चक्रिणा रुध्यमानोऽपि स स्नेहवशवर्तिना । प्रवव्राज जिनस्यान्ते विजयेन जयः समम् ॥४९॥
शतान्यष्टौ जयेनामा प्राव्रजन् क्षितिपास्तदा । कलत्रपुत्रमित्राणि सराज्यान्यवहाय ते ॥५०॥
दुःसंसारस्वभावज्ञा सपत्नीभिः सिताम्बरा । ब्राह्मीं च सुन्दरीं श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना ॥५१॥

रही हैं ॥३६॥ ये भगवान् ऋषभदेवके समीप नाना ऋद्धियोंके धारक मुनियोंसे युक्त वृषभसेन आदि सत्तर गणधर सुशोभित हो रहे हैं ॥३७॥ हे कान्ते ! यहाँ ये केवलज्ञानी जटाधारी बाहुबली भगवान् विराजमान हैं। ये मुनि अवस्थाको प्राप्त हुए अपने भाइयोंसे घिरे हुए हैं और अनेक वृक्षोंसे घिरे वटवृक्षके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥३८॥ हे देवि ! इधर ये तपरूपी लक्ष्मीसे घिरे हुए हमारे पिता सोमप्रभ मुनिराज, अपने छोटे भाई श्रेयान्सके साथ सुशोभित हो रहे हैं ॥३९॥ इधर ये तुम्हारे पिता अकम्पन महाराज एक हजार पुत्रोंके साथ तपमें लीन हैं तथा तपोलक्ष्मीसे अत्यधिक सुशोभित हो रहे हैं ॥४०॥ हे कान्ते ! इधर ये तुम्हारे स्वयंवरमें युद्ध करनेवाले दुर्मर्षण आदि बड़े-बड़े राजा शान्त चित्त होकर तपस्या कर रहे हैं ॥४१॥ हे प्रिये ! यह समस्त आर्यिकाओंकी अग्रणी ब्राह्मी है और यह सुन्दरी है। इन दोनोंने कुमारी अवस्थामें ही कामदेवको पराजित कर दिया है ॥४२॥ इधर यह जिनेन्द्र भगवान्के समीप अनेक राजाओंके साथ भरत चक्रवर्ती बैठा है और उधर दूसरी ओर उसकी सुभद्रा आदि रानियाँ अवस्थित हैं ॥४३॥ हे प्रिये ! देखो देखो, कैसा आश्चर्य है कि ये परस्परके विरोधी तिर्यंच यहाँ एक साथ मित्रकी तरह बैठे हैं ॥४४॥ इस प्रकार प्राणवल्लभा—सुलोचनाके लिए अरहन्त भगवान्का समवसरण दिखाता हुआ नीतिका वेत्ता कुमार आकाशसे नीचे उतरा और जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति करता हुआ विनय-पूर्वक चक्रवर्तीके पास बैठ गया तथा सुलोचना सुभद्राके पास जाकर बैठ गयी ॥४५-४६॥ जयकुमारका मोह अत्यन्त सूक्ष्म रह गया था इसलिए वहाँ विस्तृत कथारूपी अमृतसे सहित धर्मका उपदेश सुनकर उसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी बोधिका लाभ प्राप्त किया ॥४७॥ तदनन्तर अतिशय बुद्धिमान् जयकुमारने स्नेहरूपी सुदृढ़ बन्धनको छेदकर सुलोचनाको समझाया, अनन्तवीर्य नामक पुत्रके लिए अपना राज्य दिया और स्नेहके वशवर्ती चक्रवर्तीके मना करनेपर भी छोटे भाई विजयके साथ जिनेन्द्रदेवके समीप दीक्षा ले ली ॥४८-४९॥ उस समय जयकुमारके साथ एक सौ आठ राजाओंने स्त्री, पुत्र, मित्र तथा राज्यको छोड़कर दीक्षा धारण कर ली ॥५०॥ दुष्ट संसारके स्वभावको जाननेवाली सुलोचनाने अपनी सपत्नियोंके साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिये और ब्राह्मी तथा

१. तपसा श्रिया म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वादशाङ्गधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी । एकादशाङ्गभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना ॥५२॥
भूचरेषु ततोऽन्येषु खेचरेषु च राजसु । निष्क्रान्तेषु श्रियस्त्यक्त्वा दोषिणीरिव योषितः ॥५३॥
अभूवन् गणिनो भर्तुरशीतिश्चतुरुत्तरा । सहस्राणि गणाश्चासन्नशीतिश्चतुरुत्तरा ॥५४॥
आद्यो वृषभसेनोऽन्यः कुम्भो दृढरथो गणी । चतुर्थः शत्रुदमनो देवशर्मा च पञ्चमः ॥५५॥
षष्ठो गणधरो धीमान् धनदेव इतीरितः । नन्दनः सोमदत्तश्च सुरदत्तस्तथा परः ॥५६॥
वायुशर्मा सुबाहुश्च देवाग्निर्द्वादशो गणी । अग्निदेवोऽग्निभूतिश्च[1] चतुर्दश उदीरितः ॥५७॥
तेजस्वी चाग्निमित्रश्च तथा हलधरः श्रुती । महीधरश्च माहेन्द्रो वसुदेवो वसुंधरः ॥५८॥
तथैवाचलनामान्यो मेरुश्च जगतीष्यते । भूतिः सर्वसहो यज्ञः सर्वगुप्तस्तथापरः ॥५९॥
द्वौ च सर्वप्रियो देवो विजयश्चापि संज्ञया । परो विजयगुप्तश्च मित्रान्तविजयस्ततः ॥६०॥
विजयश्रीरिति ख्यातः पराख्योऽप्यपराजितः । वसुमित्रोऽपि सेनान्तो वसुसाधुरनीदृशः ॥६१॥
सत्यदेव इति ज्ञेयः सत्यवेदः पुनर्गणी । सर्वगुप्तश्च मित्रश्च सत्यवानिति नामतः ॥६२॥
विनीतः संवरश्चोभावृषिगुप्तर्षिदत्तकौ । यज्ञदेव इति प्रोक्तो यज्ञगुप्तस्तथैव च ॥६३॥
यज्ञमित्रो यज्ञदत्तः स्वायंभुव इति स्तुतः । भागदत्तो भागफल्गुर्गुप्तफल्गुः प्रकीर्तितः ॥६४॥
तथाऽन्यो गणभृन्नाम्ना मित्रफल्गुः प्रजापतिः । ततः सत्ययशा नाम्ना वरुणो धनवाहिकः[2] ॥६५॥
गणी महेन्द्रदत्तश्च तेजोराशिर्महारथः । विजयश्रुतिरन्यश्च महाबल इति श्रुतः ॥६६॥
सुविशालश्च वज्रश्च वैरनामा ततोऽपरः । सप्ततिश्चन्द्रचूडोऽन्यस्ततो मेघेश्वरः परः ॥६७॥
कच्छश्चापि महाकच्छः सुकच्छोऽतिबलोऽपि च । भद्रावलिश्च विख्यातो नमिश्च विनमिस्तथा ॥६८॥
गणी भद्रबलो नन्दी तथान्यः समुदीरितः । महानुभावसंज्ञश्च नन्दिमित्रश्च नामतः ॥६९॥
तथैव कामदेवश्च चरमोऽनुपमः स्मृतः । वृषभस्य गणिनस्तेऽमी अशीतिश्चतुरुत्तराः ॥७०॥

सुन्दरीके पास जाकर दीक्षा ले ली ॥५१॥ मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांगके पाठी होकर भगवान्‌के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगोंकी धारक हो गयी ॥५२॥ तदनन्तर अनेक भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंने जब दोषवती स्त्रियोंके समान लक्ष्मीका त्याग कर दीक्षा धारण कर ली तब भगवान्‌के चौरासी गणधर हो गये और गणोंकी संख्या चौरासी हजार हो गयी ॥५३-५४॥ उनमें चौरासी गणधरोंके नाम ये हैं—१ वृषभसेन, २ कुम्भ, ३ दृढ़रथ, ४ शत्रुदमन, ५ देवशर्मा, ६ धनदेव, ७ नन्दन, ८ सोमदत्त, ९ सुरदत्त, १० वायुशर्मा, ११ सुबाहु, १२ देवाग्नि, १३ अग्निदेव, १४ अग्निभूति, १५ तेजस्वी, १६ अग्निमित्र, १७ हलधर, १८ महीधर, १९ माहेन्द्र, २० वसुदेव, २१ वसुन्धर, २२ अचल, २३ मेरु, २४ भूति, २५ सर्वसह, २६ यज्ञ, २७ सर्वगुप्त, २८ सर्वप्रिय, २९ सर्वदेव, ३० विजय, ३१ विजयगुप्त, ३२ विजयमित्र, ३३ विजयश्री, ३४ पराख्य, ३५ अपराजित, ३६ वसुमित्र, ३७ वसुसेन, ३८ साधुसेन, ३९ सत्यदेव, ४० सत्यवेद, ४१ सर्वगुप्त, ४२ मित्र, ४३ सत्यवान्, ४४ विनीत, ४५ संवर, ४६ ऋषिगुप्त, ४७ ऋषिदत्त, ४८ यज्ञदेव, ४९ यज्ञगुप्त, ५० यज्ञमित्र, ५१ यज्ञदत्त, ५२ स्वायम्भुव, ५३ भागदत्त, ५४ भागफल्गु, ५५ गुप्त, ५६ गुप्तफल्गु, ५७ मित्रफल्गु, ५८ प्रजापति, ५९ सत्ययश, ६० वरुण, ६१ धनवाहिक, ६२ महेन्द्रदत्त, ६३ तेजोराशि, ६४ महारथ, ६५ विजय-श्रुति, ६६ महाबल, ६७ सुविशाल, ६८ वज्र, ६९ वैर, ७० चन्द्रचूड, ७१ मेघेश्वर, ७२ कच्छ, ७३ महाकच्छ, ७४ सुकच्छ, ७५ अतिबल, ७६ भद्रावलि, ७७ नमि, ७८ विनमि, ७९ भद्रबल, ८० नन्दी, ८१ महानुभाव, ८२ नन्दिमित्र, ८३ कामदेव और ८४ अनुपम । भगवान् वृषभदेवके ये चौरासी गणधर थे ॥५५-७०॥ भगवान् वृषभ-

---

१. भूतश्च म. । २ धनवाहकः म., ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघः परिषदि श्रीमान् बभौ सप्तविधस्तदा । विचित्रगुणपूर्णानामृषीणां वृषभेशिनः ॥७१॥
सहस्राणि च चत्वारि तत्र सप्तशतानि च । पञ्चाशच्च महाभागा बभुः[1] पूर्वधरास्तदा ॥७२॥
तावन्त्येव सहस्राणि शतं पञ्चाशतायुतम् । श्रुतस्य शिक्षकाः[2] प्रोक्ताः संयताः संयताक्षकाः ॥७३॥
सहस्राणि नवावधीता मुनयोऽवधिलोचनाः[3] । विंशतिस्ते सहस्राणि केवलज्ञानलोचनाः[4] ॥७४॥
विंशतिस्ते सहस्राणि षट् शतानि च वैक्रियाः । विक्रियाशक्तियोगेन जयन्तः शक्रमप्यलम् ॥७५॥
द्वादशैव सहस्राणि तथा सप्तशतानि च । पञ्चाशच्च युतास्तत्र मत्या विपुलया[5] बभुः ॥७६॥
तावन्त एव संख्याताः संख्ययासंख्यसद्गुणाः । जेतारो हेतुवादज्ञा वादिनः प्रतिवादिनाम् ॥७७॥
सपञ्चाशत्सहस्रास्ता शुद्धज्ञा बभुरार्यिकाः । श्राविकाः पञ्चलक्ष्यस्तास्त्रिलक्षाः श्रावकाश्च ते ॥७८॥
छद्मस्थकालनिर्मुक्तां पूर्वलक्षां जिनेश्वरः । विजहार महीं भव्यान् भवाब्धेस्तारयन् बहून् ॥७९॥

स्रग्धराच्छन्दः

इत्थं कृत्वा समर्थं भवजलधिजलोत्तारणे भावतीर्थं
कल्पान्तस्थायि भूयस्त्रिभुवनहितकृत् क्षेत्रतीर्थं स कर्त्तुम् ।
स्वाभाव्यादारुरोह श्रमणगणसुरव्रातसंपूज्यपादः
कैलासाख्यं महीध्रं निषधमिव वृषादित्य इद्धप्रभाढ्यः ॥८०॥
तस्मिन्नद्रौ जिनेन्द्रः स्फटिकमणिशिलाजालरम्ये निषण्णो
योगानां संनिरोधं सह दशमिरथो योगिनां यैः सहस्रैः ।
कृत्वा कृत्वान्तमन्ते चतुरपरमहाकर्मभेदस्य शर्म-
स्थानं स्थानं स सैद्धं समगमदमलस्रग्धराभ्यर्च्यमानः ॥८१॥

देवकी सभामें नाना प्रकारके गुणोंसे पूर्ण मुनियोंका सात प्रकारका संघ था ॥७१॥ उनमें चार हजार सात सौ पचास महाभाग तो पूर्वधर थे ॥७२॥ चार हजार सात सौ पचास मुनि श्रुतके शिक्षक थे, ये सब मुनि इन्द्रियोंको वश करनेवाले थे ॥७३॥ नौ हजार मुनि अवधिज्ञानी थे, बीस हजार केवलज्ञानी थे, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक थे, ये मुनि अपनी विक्रिया शक्तिके योगसे इन्द्रको भी अच्छी तरह जीतनेवाले थे, बीस हजार सात सौ पचास विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके धारक थे, बीस हजार सात सौ पचास ही असंख्यात गुणोंके धारक; हेतुवादके ज्ञाता तथा प्रतिवादियोंको जीतनेवाले वादी थे, शुद्ध आत्मतत्त्वको जाननेवाली पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं और तीन लाख श्रावक थे ॥७८-७८॥ भगवान्की कुल आयु चौरासी लाख पूर्व वर्षकी थी उसमें-से छद्मस्थ कालके तेरासी लाख वर्ष पूर्व वर्ष कम कर देनेपर एक लाख पूर्व वर्ष तक उन्होंने अनेक भव्य जीवोंको संसार-सागरसे पार करते हुए पृथिवीपर विहार किया था ॥७९॥ इस प्रकार मुनिगण और देवोंके समूहसे पूजित चरणोंके धारक श्रीवृषभ जिनेन्द्र, संसाररूपी सागरके जलसे पार करनेमें समर्थ रत्नत्रयरूप भाव तीर्थका प्रवर्तन कर कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले एवं त्रिभुवन जनहितकारी क्षेत्र तीर्थको प्रवर्तनके लिए स्वभाववश (इच्छाके बिना ही) कैलास पर्वतपर उस तरह आरूढ़ हो गये जिस तरह कि देदीप्यमान प्रभाका धारक वृषका सूर्य निषधाचलपर आरूढ़ होता है ॥८०॥ स्फटिक मणिकी शिलाओंके समूहसे रमणीय उस कैलास पर्वतपर आरूढ़ होकर भगवान्ने एक हजार राजाओंके साथ योग निरोध किया और अन्तमें चार अघातिया कर्मोंका अन्त कर निर्मल मालाओंके धारक देवोंसे पूजित हो अनन्त

१. ४७५० । २. ४१५० । ३. ९००० । ४. २०००० । ५. २०६०० । ६. १२७५० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्घः संघोऽस्य [1]मौनः स्फुटभुवनगुरोर्देवदेवस्य देहं
देवौघश्चक्रवर्त्तिप्रमुखनृपगणश्चातिभक्त्या समेत्य ।
गन्धैः पुष्पैश्च धूपैः सुरभिमिरमलैरक्षतैश्च प्रदीपैः
संपूज्यानम्य सम्यग्वृषभजिनगुणश्रीफलं याचते स्म ॥८२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ वृषभेश्वरपरिनिर्वाणवर्णनो
नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥



सुखके स्थानभूत मोक्षस्थानको प्राप्त किया ॥८१॥ मोक्षप्राप्तिके अनन्तर मुनियोंका श्रेष्ठ संघ, देवोंका समूह और चक्रवर्ती आदि प्रमुख राजाओंका समूह—इन सबने तीव्र भक्तिवश आकर गन्ध, पुष्प, सुगन्धित धूप, उज्ज्वल अक्षत और देदीप्यमान दीपकके द्वारा त्रिजगद्गुरु देवादि देव वृषभदेवके शरीरकी पूजा कर तथा अच्छी तरह नमस्कार कर यही याचना की कि हम लोगोंको श्री ऋषभ जिनेन्द्रके गुण लक्ष्मीरूपी फलकी प्राप्ति होवे ॥८२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश
पुराणमें श्रीवृषभदेवकी निर्वाण-प्राप्तिका वर्णन करनेवाला
बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥



१. मुनीनामयं मौनः 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्ययः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रयोदशः सर्गः

अनुभूय चिरं लक्ष्मीं भूपतिर्भरतेश्वरः । आदित्ययशसं पुत्रमभिषिच्य भुवो विभुः ॥१॥
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीमुग्रामात्मपरिग्रहाम् । दुर्निग्रहेन्द्रियग्राममृगनिग्रहवागुराम् ॥२॥
पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रुट्यद्बन्धस्थितिः कचान् । लोचानन्तरमेवापद् राजन् श्रेणिक ! केवलम् ॥३॥
द्वात्रिंशत्त्रिदशेन्द्रैः स कृतकेवलपूजनः । दीपको मोक्षमार्गस्य विजहार चिरं महीम् ॥४॥
पूर्वलक्षाः कुमारत्वे तस्यागुः सप्तसप्ततिः । साम्राज्ये षट् प्रभोरेका श्रामण्ये विश्वदृश्वनः ॥५॥
शैलं वृषभसेनाद्यैः कैलासमधिरुह्य सः । शेषकर्मक्षयान्मोक्षमन्ते प्राप्तः सुरैः स्तुतः ॥६॥
आदित्ययशसः पुत्रो जातः स्मितयशःश्रुतिः । श्रियं तस्मै वितीर्यासौ तपसा प्राप निर्वृतिम् ॥७॥
बलस्तस्मादभूत्पुत्रः सुबलोऽतो महाबलः । ततोऽतिबलनामा च तस्यामृतबलः सुतः ॥८॥
सुभद्रः सागरो भद्रो रविते जाः शशी ततः । प्रभूततेजास्तेजस्वी तमनोऽन्यः प्रतापवान् ॥९॥
अतिवीर्यः सुवीर्योऽतस्तथोदितपराक्रमः । महेन्द्रविक्रमः सूर्य इन्द्रद्युम्नो महेन्द्रजित् ॥१०॥
प्रभुर्विभुरविध्वंसो वीतभीर्वृषभध्वजः । गरुडाङ्को मृगाङ्काख्य इत्याद्याः पृथिवीभृतः ॥११॥
आदित्यवंशसंभूताः क्रमेण पृथुकीर्त्तयः । सुते न्यस्तभराः प्रापुस्तपसा परिनिर्वृतिम् ॥१२॥

अथानन्तर षट्खण्ड पृथिवीके स्वामी महाराज भरतने चिरकाल तक लक्ष्मीका उपभोग कर अर्ककीर्ति नामक पुत्रका अभिषेक किया और स्वयं अतिशय कठिन आत्मरूप परिग्रहसे युक्त, एवं कठिनाईसे निग्रह करने योग्य इन्द्रियरूपी मृगसमूहको पकड़नेके लिए जालके समान जिनदीक्षा धारण कर ली ॥१-२॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् श्रेणिक ! महाराज भरतने अपने समस्त केश पंचमुट्ठियोंसे उखाड़कर फेंक दिये तथा उनके कर्मबन्धनकी स्थिति इतनी जल्दी क्षीण हुई कि उन्होंने केशलोंचके बाद ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ॥३॥ तदनन्तर बत्तीसों इन्द्रोंने आकर जिनके केवलज्ञानकी पूजा की थी और जो मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान थे ऐसे भगवान् भरतने चिरकाल तक पृथिवीपर विहार किया ॥४॥ सर्वदर्शी भगवान् भरतकी आयु भी चौरासी लाख पूर्वकी थी उसमें-से सतहत्तर लाख पूर्व तो कुमार कालमें बीते, छह लाख पूर्व साम्राज्य पदमें व्यतीत हुए और एक लाख पूर्व उन्होंने मुनि पदमें विहार किया ॥५॥ आयुके अन्त समय वे वृषभसेन आदि गणधरोंके साथ कैलास पर्वतपर आरूढ़ हो गये और शेष कर्मोंका क्षय कर वहींसे उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, देवोंने उनकी स्तुति-वन्दना की ॥६॥

राजा अर्ककीर्तिके स्मितयश नामका पुत्र हुआ । अर्ककीर्ति उसे लक्ष्मी दे तपके द्वारा मोक्षको प्राप्त हुआ ॥७॥ स्मितयशके बल, बलके सुबल, सुबलके महाबल, महाबलके अतिबल, अतिबलके अमृतबल, अमृतबलके सुभद्र, सुभद्रके सागर, सागरके भद्र, भद्रके रवितेज, रवितेजके शशी, शशीके प्रभूततेज, प्रभूततेजके तेजस्वी, तेजस्वीके तपन, तपनके प्रतापवान्, प्रतापवान्के अतिवीर्य, अतिवीर्यके सुवीर्य, सुवीर्यके उदितपराक्रम, उदितपराक्रमके महेन्द्रविक्रम, महेन्द्रविक्रमके सूर्य, सूर्यके इन्द्रद्युम्न, इन्द्रद्युम्नके महेन्द्रजित्, महेन्द्रजित्के प्रभु, प्रभुके विभु, विभुके अविध्वंस, अविध्वंसके वीतभी, वीतभीके वृषभध्वज, वृषभध्वजके गरुडांक और गरुडांकके मृगांक आदि अनेक राजा क्रमसे सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए । ये सब राजा विशाल यशके धारक थे

१. कल्पवासिनः १२, भवनवासिनः १०, व्यन्तराः ८, सूर्याचन्द्रमसौ इति = ३२ । २. मोक्षम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षमिक्ष्वाकवो जग्मुर्भरताद्या निरन्तराः । ते चतुर्दशलक्षास्तु प्रापैकोऽग्रेऽहमिन्द्रताम् ॥१३॥
तथा दशगुणाश्चाष्टौ परिपाट्या नरेश्वराः । मुक्तास्तदन्तरे प्रापदेकैकः [1]सुरनाथताम् ॥१४॥
धीरा राज्यधुरां त्यक्त्वा धृत्वान्तेऽन्ये तपोधुराम् । स्वर्गमेकेऽपवर्गं तु जग्मुरादित्यवंशजाः ॥१५॥
योऽसौ बाहुबली तस्माज्जातः सोमयशाः सुतः । सोमवंशस्य कर्तासौ तस्य सूनुर्महाबलः ॥१६॥
ततोऽभूत्सुबलः सूनुरभूद् भुजबली ततः । एवमाद्याः शिवं प्राप्ताः सोमवंशोद्भवा नृपाः ॥१७॥
पञ्चाशत्कोटिलक्षाश्च सागराणां प्रमाणतः । तीर्थे वृषभनाथस्य तदा वहति सन्तते ॥१८॥
इक्ष्वाकवो द्विधादित्यसोमवंशोद्भवा नृपाः । उग्राद्या कौरवाद्याश्च मोक्षं स्वर्गं च भेजिरे ॥१९॥
नमेः खेचरनाथस्य रत्नमाली शरीरजः । रत्नवज्रोऽभवत्तस्मात्ततो रत्नरथस्तथा ॥२०॥
रत्नचिह्नाभिधानोऽस्मात् तस्माच्चन्द्ररथः सुतः । वज्रजङ्घो बभूवास्माद् वज्रसेनसुतस्ततः ॥२१॥
संजातो वज्रदंष्ट्रोऽस्मादभूद्वज्रध्वजस्ततः । वज्रायुधश्च वज्रोऽतः सुवज्रो वज्रभृत्पुनः ॥२२॥
वज्राभो वज्रबाहुश्च वज्राङ्को वज्रसुन्दरः । वज्रास्यो वज्रपाणिश्च वज्रभानुश्च वज्रवान् ॥२३॥
विद्युन्मुखः सुवक्त्रश्च विद्युद्दंष्ट्रस्तथैव च । विद्युत्वान् विद्युदाभश्च विद्युद्वेगश्च वैद्युतः ॥२४॥
इत्याद्याः सुतविन्यस्तविभवाः खेचराधिपाः । आद्ये तीर्थे तपः कृत्वा स्वर्गं मोक्षं च भेजिरे ॥२५॥
स्वर्गादवतीर्याथ जातस्तीर्थंकरोऽजितः । [2]नाभेयस्येव तस्यापि पञ्चकल्याणवर्णना ॥२६॥
काले तस्याभवच्चक्री द्वितीयः सगरश्रुतिः । अक्षीणनिधिरत्नेशः प्रसिद्धो भरतो यथा ॥२७॥

और पुत्रोंके लिए राज्यभार सौंप तप कर मोक्षको प्राप्त हुए ॥८-१२॥ भरतको आदि लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय राजा लगातार मोक्ष गये। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धिसे अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुआ, फिर अस्सी राजा मोक्ष गये परन्तु उनके बीचमें एक-एक राजा इन्द्रपदको प्राप्त होता रहा ॥१३-१४॥ सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए कितने ही धीर-वीर राजा अन्तमें राज्यका भार छोड़ और तपका भार धारण कर स्वर्ग गये तथा कितने ही मोक्षको प्राप्त हुए ॥१५॥ भगवान् ऋषभदेवके जो बाहुबली पुत्र थे उनसे सोमयश नामक पुत्र हुआ। वही सोमयश सोमवंश (चन्द्रवंश) का कर्ता हुआ। सोमयशके महाबल, महाबलके सुबल और सुबलके भुजबली पुत्र हुआ। इन्हें आदि लेकर सोमवंशमें उत्पन्न हुए अनेक राजा मोक्षको प्राप्त हुए ॥१६-१७॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेवका तीर्थ पृथिवीपर पचास लाख करोड़ सागर तक अनवरत चलता रहा। इस तीर्थकालमें अपनी दो शाखाओं—सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुए इक्ष्वाकुवंशीय तथा कुरुवंशीय आदि अनेक राजा स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त हुए ॥१८-१९॥

विद्याधरोंके स्वामी राजा नमिके रत्नमाली, रत्नमालीके रत्नवज्र, रत्नवज्रके रत्नरथ, रत्नरथके रत्नचिह्न, रत्नचिह्नके चन्द्ररथ, चन्द्ररथके वज्रजंघ, वज्रजंघके वज्रसेन, वज्रसेनके वज्रदंष्ट्र, वज्रदंष्ट्रके वज्रध्वज, वज्रध्वजके वज्रायुध, वज्रायुधके वज्र, वज्रके सुवज्र, सुवज्रके वज्रभृत्, वज्रभृत्के वज्राभ, वज्राभके वज्रबाहु, वज्रबाहुके वज्रांक, वज्रांकके वज्रसुन्दर, वज्रसुन्दरके वज्रास्य, वज्रास्यके वज्रपाणि, वज्रपाणिके वज्रभानु, वज्रभानुके वज्रवान्, वज्रवान्के विद्युन्मुख, विद्युन्मुखके सुवक्त्र, सुवक्त्रके विद्युद्दंष्ट्र, विद्युद्दंष्ट्रके विद्युत्वान्, विद्युत्वान्के विद्युदाभ, विद्युदाभके विद्युद्वेग और विद्युद्वेगके वैद्युत पुत्र हुआ। इन्हें आदि लेकर जो विद्याधर राजा हुए वे भी भगवान् आदिनाथके तीर्थमें पुत्रोंके लिए राज्य-वैभव सौंप तपश्चरण कर यथायोग्य स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त हुए ॥२०-२५॥

अथानन्तर सर्वार्थसिद्धिसे चयकर दूसरे अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इनके पंच कल्याणकोंका वर्णन भगवान् ऋषभदेवके समान ही जानना चाहिए ॥२६॥ इनके कालमें सगर नामका दूसरा

१. एको मुक्तिमन्यः सुरनाथतां पुनरेको मुक्तिमन्य इन्द्रत्वमित्यनेन क्रमेण । २. नाभेयस्यापि म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्राः षष्टिसहस्राणि तस्य दुर्ललितक्रियाः । परस्परमहाप्रीताः प्रत्याख्यातादृगु[1]पूर्वकाः ॥२८॥
कृताष्टापदकैलासा दण्डरत्नेन ते क्षितिम् । भिन्दानाः कुपितेनामी नागराजेन भस्मिताः ॥२९॥
संसारस्थितिविच्चक्री पुत्रशोकमुदस्य सः । दीक्षित्वाजिननाथान्ते मोक्षमेत्य मुक्तबन्धनः ॥३०॥
ततः संभवनाथोऽभूत्ततोऽभूदभिनन्दनः । ततः सुमतिनाथश्च ततः पद्मप्रभो जिनः ॥३१॥
सुपार्श्वश्च जिनेन्द्रोऽस्मात् ततश्चन्द्रप्रभः प्रभुः । पुष्पदन्तः परस्तस्माद्दशमः शीतलस्ततः ॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इक्ष्वाकुः प्रथमः प्रधानमुदगादादित्यवंशस्तत-
स्तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्ये कुरूप्रादयः ।
पश्चात् श्रीवृषभादभूदृषिगणः श्रीवंश उच्चैस्तरा-
मित्थं ते नृपखेचरान्वययुता वंशास्तवोक्ता मया ॥३३॥
शुद्धे श्रेणिक ! शीतलस्य दशमे तीर्थे वहत्युज्ज्वले
काले केवलदीपकोज्ज्वलजगद्देवेन्द्रदेवागमे ।
प्रोद्भूतः प्रकटप्रभावमहतां वंशो हरीणां यथा
वर्ण्यः सोऽपि मया तथा जिनपथे तथ्यो नृपाकर्ण्यताम् ॥३४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ इक्ष्वाकुवंशवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

□

चक्रवर्ती हुआ । यह अक्षीणनिधियों तथा रत्नोंका स्वामी था और भरत चक्रवर्तीके समान प्रसिद्ध था ॥२७॥ इसके अद्गुको आदि लेकर साठ हजार पुत्र थे । ये सभी पुत्र अद्भुत चेष्टाओंके धारक थे और परस्परमें महाप्रीतिसे युक्त थे ॥२८॥ किसी समय ये समस्त भाई कैलास पर्वतपर गये वहाँ आठ पादस्थान बनाकर दण्डरत्नसे वहाँकी भूमि खोदने लगे परन्तु इस क्रियासे कुपित होकर नागराजने सबको भस्म कर दिया ॥२९॥ चक्रवर्ती सगर संसारकी स्थितिका ज्ञाता था इसलिए पुत्रोंका शोक छोड़ उसने अजितनाथ भगवान्के समीप दीक्षा धारण कर ली और कर्म-बन्धनसे छूटकर मोक्ष प्राप्त किया ॥३०॥ तदनन्तर अजिननाथके बाद सम्भवनाथ, उनके बाद अभिनन्दन नाथ, उनके बाद सुमतिनाथ, उनके बाद पद्मप्रभ, उनके बाद सुपार्श्वनाथ, उनके बाद चन्द्रप्रभ, उनके बाद पुष्पदन्त और उनके बाद शीतलनाथ हुए ॥३१-३२॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! सर्व-प्रथम इक्ष्वाकु वंश उत्पन्न हुआ फिर उसी इक्ष्वाकुवंशसे सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए । उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवंश आदि अन्य अनेक वंश प्रचलित हुए । पहले भोगभूमिमें ऋषि नहीं थे परन्तु आगे चलकर भगवान् ऋषभदेवसे दीक्षा लेकर अनेक ऋषि उत्पन्न हुए और उनका उत्कृष्ट श्रीवंश प्रचलित हुआ । इस प्रकार मैंने तेरे लिए अनेक राजाओं और विद्याधरोंके वंशोंका कथन किया ॥३३॥ अब जिस समय शीतलनाथ भगवान्का शुद्ध एवं उज्ज्वल दसवाँ तीर्थ बीत रहा था तथा केवलज्ञानरूपी दीपकसे उज्ज्वल,संसारमें इन्द्र और देवोंका आगमन जारी था ऐसे समय महाप्रभावके धारक हरियोंका जो वंश प्रकट हुआ था उसका भी वर्णन करता हूँ । हे राजन् ! जिनमार्गमें इसका जो यथार्थ वर्णन है उसे तू श्रवण कर ॥३४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें
इक्ष्वाकुवंशका वर्णन करनेवाला तेरहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१३॥

□

१. अद्गुः इति ज्येष्ठपुत्रस्य नाम ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्दशः सर्गः

अस्ति वत्साभिधो देशो देशेष्विह परेषु यः । सत्सु वत्साकृतिं धत्ते गोदोहे दोग्ध्रगोचरे ॥१॥
कालिन्दीस्निग्धनीलाम्बुप्रतिबिम्बितसौधता[1] । कौशाम्बी नगरी तस्य गम्भीरा[2] नाभिरत्यभात् ॥२॥
वप्रप्राकारपरिखाभूषणाम्बरधारिणी । नितम्बस्तनभारार्त्तस्तस्मिंतेव वधूरभात् ॥३॥
रत्नचित्राम्बरधरा या प्रासादमुखैर्घनान् । वर्षानिशास्विव स्निग्धान् लेढि प्रौढाभिसारिका ॥४॥
दोषाकरकराप्राप्ता[4] रत्नभूषार्चिषां चयैः । लेभे बहुलदोषासु परभागं सतीव या ॥५॥
पुर्याः प्रभुरभूत्तस्याः प्रतापप्रभवो[7] नृपः । सवितेव कराक्रान्तदिक्चक्रः[8] सुमुखः[9] सुखी ॥६॥

अथानन्तर जम्बूद्वीपमें एक वत्स नामका देश है जो दूसरे देशोंके विद्यमान रहते हुए दोहनकर्ता जब गायको दुहते हैं तब सचमुच ही वत्स—बछड़ेकी आकृतिको धारण करता है। भावार्थ—जिस प्रकार वत्स गायके दूध निकालनेमें सहायक है उसी प्रकार यह देश भी गौ—पृथिवीसे धन-सम्पत्ति निकालनेमें सहायक था ॥१॥ यमुना नदीके स्निग्ध एवं नीले जलमें जिसके महलोंका समूह सदा प्रतिबिम्बित रहता था ऐसी कौशाम्बी नगरी उस वत्स देशकी गहरी नाभिके समान अतिशय सुशोभित थी ॥२॥ वप्र, प्राकार और परिखारूपी आभूषण तथा अम्बर—आकाश (पक्षमें वस्त्र) को धारण करनेवाली वह नगरी नितम्ब और स्तनोंके भारसे पीड़ित होकर खड़ी हुई स्त्रीके समान जान पड़ती थी ॥३॥ वह नगरी प्रौढ़ अभिसारिकाके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार प्रौढ़ अभिसारिका रत्नचित्राम्बरधरा—रत्नोंसे चित्र-विचित्र वस्त्रको धारण करती है उसी प्रकार वह नगरी भी रत्न-चित्राम्बरधरा—रत्नोंसे चित्र-विचित्र आकाशको धारण करती थी, और अभिसारिका जिस प्रकार रात्रिके समय अपने स्नेही जनोंका प्रसन्न मुखसे स्पर्श करती है उसी प्रकार वह नगरी भी वर्षाऋतुरूपी रात्रिके समय स्निग्ध—नूतन जलसे भरे मेघोंका महलरूपी मुखोंसे स्पर्श करती थी ॥४॥ अथवा वह नगरी कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें पतिव्रता स्त्रीके समान सुशोभित होती थी क्योंकि जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री दोषाकरकराप्राप्ता—दोषोंकी खानस्वरूप दुष्ट मनुष्योंके हाथसे अस्पृष्ट रहती है उसी प्रकार वह नगरी भी बहुलदोषासु—कृष्ण पक्षकी रात्रिमें दोषाकरकराप्राप्ता—चन्द्रमाकी किरणोंसे अस्पृष्ट थी और पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार बहुलदोषासु—अनेक दोषोंसे भरी व्यभिचारिणी स्त्रियोंमें रत्नमय आभूषणोंकी किरणोंके समूहसे उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त होती है, उसी प्रकार वह नगरी भी बहुलदोषासु—कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें रत्नमय आभूषणोंकी किरणोंसे उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त थी ॥५॥ उस कौशाम्बी नगरीका स्वामी राजा सुमुख था। वह सुमुख ठीक सूर्यके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सूर्य प्रताप-प्रभवः—प्रकृष्ट सन्तापका कारण है उसी प्रकार वह राजा भी प्रतापप्रभवः—उत्कृष्ट प्रभावका कारण था। जिस प्रकार सूर्य कराक्रान्तदिक्चक्रः—अपनी किरणोंसे दिङ्मण्डलको व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार वह राजा भी कराक्रान्तदिक्चक्रः—अपने टैक्ससे दिङ्मण्डलको व्याप्त कर

१. ख पुस्तके 'दोग्धगोचरे' इति पाठः केनापि 'दुग्धगोचरे' इति रूपेण शोधितः । २. सौधसमूहः । ३. मध्यदेशो नाभिश्च । ४. दोषाकरः दोषवान् मनुष्यः तस्य करेण अप्राप्ता पक्षे दोषाकरश्चन्द्रस्तस्य करैः किरणैः अप्राप्ता । ५. प्रभूतदोषासु स्त्रीषु पक्षे कृष्णपक्षनिशासु । ६. गुणोत्कर्षम् । ७. प्रकृष्टस्तापः प्रतापस्तस्य प्रभवः कारणं पक्षे प्रतापस्य प्रभावस्य प्रभवः कारणं 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । ८. कराः किरणाः पक्षे राजग्राह्यो बलिः । ९. सुष्ठु खम् आकाशं यस्य स पक्षे सुखमस्यास्तीति सुखी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णसङ्करविक्षेपिधनुषेन्द्रधनुर्गुणैः । यस्याधिक्षिप्तमक्षिप्तवर्णसङ्करदोषकम् ॥७॥
दर्शनीयतमाङ्गस्य संगतस्य युवश्रिया । अदृष्टविग्रहोऽनङ्गो रूपेणास्य समः कथम् ॥८॥
धर्मशास्त्रार्थकुशलः कलागुणविशेषवान् । निग्रहेऽनुग्रहे शक्तः प्रजानामनुपालकः ॥९॥
सोऽवरोधनराजीववनराजीमधुव्रतः । ऋतून्मानयति प्राप्तानकृतत्रिगुणक्षतिः ॥१०॥
अथ प्राप्तो वसन्तर्तुः सुमुखद्युतिरुद्यमी । पुष्पपल्लवरागश्रीवनमालामनोहरः ॥११॥
नवपल्लवरागाढ्याश्चूताश्चेतोहरा बभुः । वनमालानुरागस्य सूचकाः सुमुखस्य च ॥१२॥
जज्वल्लुज्ज्वलनज्वालालीलाः किंशुकराशयः । वियुज्येवानुयुक्तानां विमुक्ता विरहाग्नयः ॥१३॥
रणन्नूपुरचारुस्त्रीकोमलक्रमताडितः । नवाशोकयुवोद्भिन्नपल्लवाङ्गरुहो बभौ ॥१४॥
अखण्डमधुगण्डूषपानपूरितदौहृदः । बकुलोऽपूरयत्पुष्पैः प्रमदाजनदौहृदम् ॥१५॥
चक्रे कुरवको यूनां शिलीमुखरवैः सुखम् । सुखिनां यः स एवाभूदितरेषां यथाश्रुतिः ॥१६॥

रहा था, और जिस प्रकार सूर्य सुखी—उत्तम ख—आकाशसे सहित होता है उसी प्रकार वह राजा भी सुखी—सुखसे सहित था ॥६॥ राजा सुमुखके धनुषने अपने गुणोंसे इन्द्रधनुषको तिरस्कृत कर दिया था क्योंकि राजा सुमुखका धनुष वर्णसंकरविक्षेपि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णोंके संकर दोषको दूर करनेवाला था और इन्द्रधनुष अक्षिप्तवर्णसंकरदोषकं—लाल, पीले, नीले, हरे आदि वर्णोंके संकर—संमिश्रणरूपी दोषको दूर नहीं कर सका था ॥७॥ तारुण्य-लक्ष्मीसे सहित होनेके कारण राजा सुमुखका शरीर अत्यन्त सुन्दर था अतः जिसका शरीर ही नहीं दिखाई देता ऐसा कामदेव सौन्दर्यमें उसके समान कैसे हो सकता था ॥८॥ वह राजा धर्मशास्त्रके अर्थ करनेमें कुशल था, कला और गुणोंसे विशिष्ट था, दुष्टोंके निग्रह और सज्जनोंके अनुग्रह करनेमें समर्थ था और प्रजाका सच्चा रक्षक था ॥९॥ वह राजा अन्तःपुररूपी कमलवनकी पंक्तिका भ्रमर था और धर्म, अर्थ, काममें परस्पर बाधा नहीं पहुँचाता हुआ आगत ऋतुओंका सम्मान करता था अर्थात् ऋतुओंके अनुकूल भोग भोगता था ॥१०॥

अथानन्तर किसी समय वसन्त ऋतुका आगमन हुआ। वह वसन्त ऋतु ठीक सुमुख राजाके ही समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार सुमुख राजा उद्यमी—उद्यमसे सम्पन्न था उसी प्रकार वसन्त ऋतु भी उद्यमी—अपना वैभव बतलानेमें उद्यमसम्पन्न थी, जिस प्रकार राजा सुमुख फूलों और पल्लवोंके रागसे युक्त वनमाला नामक स्त्रीके मनको हरण करनेवाला था उसी प्रकार वसन्त ऋतु भी फूलों और पल्लवोंकी लाल-लाल शोभासे युक्त वनपंक्तियोंसे मनोहर थी ॥११॥ मनुष्योंके मनको हरण करनेवाले आमोंके वृक्ष उस समय नये-नये पल्लवोंकी लालिमासे युक्त हो गये थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो राजा सुमुखके लिए वनमाला—वनपंक्ति (पक्षमें वनमाला नामक स्त्री) के अनुरागकी सूचना ही दे रहे हों ॥१२॥ अग्निज्वालाओंकी शोभाको धारण करनेवाले टेसूके वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो विरहके अनन्तर मिले हुए स्त्री-पुरुषोंके द्वारा छोड़ी हुई विरहाग्नि ही हो ॥१३॥ रुनझुन करनेवाले नूपुरोंसे सुन्दर स्त्रीके कोमल पदाघातसे ताड़ित होनेके कारण जिसमें पल्लवरूपी रोमांच निकल आये थे ऐसा अशोक वृक्षरूपी नवीन युवा उस समय अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१४॥ अखण्ड मद्यके कुल्लोंके पान करनेसे जिसका दोहला पूर्ण हो गया था ऐसे वकुल वृक्षने अपने फूलोंसे स्त्री जनोंकी अभिलाषाको पूर्ण कर दिया था ॥१५॥ जो कुरवक वृक्ष सुखी युवाओंके लिए भ्रमरोंके शब्दसे सुख उत्पन्न कर रहा था वही कुरवक दुखी (विरही) युवाओंके लिए सार्थक नामका धारक (कु—खोटे रवक—शब्द कराने-

१. अक्षिप्तो वर्णसङ्करदोषो येन तत्। इन्द्रधनुषो विशेषणमिदम् । २. अदृष्टविग्रहानङ्गो म. । ३. यथाश्रुति म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाटलामोदसुभगां वनश्रीवनितामलम् । चक्रुः पुष्पवतीं फुल्लास्तिलकास्तिलकश्रियः[1] ॥१७॥
जिगीषयेव विकसन्नागसंहतिसंततेः[2] । सिंहकेसरसिंहस्य केसरश्रीर्व्यजृम्भत ॥१८॥
मालतीवल्लभां मासश्चिरविश्लेषशोषिताम्[3] । चकाराश्लेषपुष्टाङ्गीं सद्यः पुष्पवतीं मधुः ॥१९॥
हिन्दोलग्रामरागेण रक्तकण्ठाधरश्रियः । दोलाद्यान्दोलनक्रीडाव्यासक्ताः[4] कोमलं जगुः ॥२०॥
उद्यानवनखण्डेषु तत्कालोचितमण्डनाः । स्त्रीसखाः केचिदाभेजुः प्रीत्या पानपरम्पराम् ॥२१॥
प्राग्दूर्वाङ्कुरमास्वाद्य हरिण्यै हरिणो ददौ । तं सास्वाद्य ददौ तस्मै प्रियाघ्रातोऽपि हि प्रियः[5] ॥२२॥
सल्लकीपल्लवोल्लासिकवलग्रासलालसाम् । स्वाननस्पर्शसौख्यान्धां चक्रे करिणीं करी ॥२३॥
मधुपानमदोन्मत्तमधुपद्वन्द्वमुत्स्वनम् । मधौ विजृम्भितेऽन्योऽन्यं जिघ्रति स्म घनस्पृहम् ॥२४॥
कोकिलाकलकण्ठीनां गीतं श्रुत्वेव योषिताम् । चुक्रूज कोकिलस्तोषपोषी तस्य जिगीषया ॥२५॥
मधुपैः परपुष्टैश्च कलकोलाहलाकुलैः । गीयते स्म मधुर्यत्र तत्रान्येषु कथा नु का ॥२६॥

वाला) था ॥१६॥ उस समय तिलककी शोभाको धारण करनेवाले जो तिलकके फूल चारों ओर फूल रहे थे उन्होंने गुलाबकी सुगन्धिसे सुवासित वनलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अत्यधिक पुष्पवती—फूलोंसे युक्त (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) कर दिया था ॥१७॥ जिस प्रकार इधर-उधर घूमते हुए हस्ति-समूहको जीतनेकी इच्छासे सिंहकी केशर (अयाल) सुशोभित होती है उसी प्रकार पुन्नाग-वृक्षोंके समूहको जीतनेकी इच्छासे सिंहकेशर—वृक्ष विशेषकी केशर सुशोभित हो रही थी ॥१८॥ जो चिरकालके विरहसे सूख रही थी ऐसी मालतीरूपी वल्लभाको चैत्र मासने अपने आलिंगनसे शीघ्र ही पुष्ट तथा पुष्पवती—फूलोंसे युक्त (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) बना दिया था। भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकालके वियोगसे कृश अपनी वल्लभाको आलिंगनसे पुष्ट कर पुष्पवती (रजोधर्मसे युक्त) बना देता है उसी प्रकार चैत्रमासने चिरकालसे वियुक्त सूखी हुई मालती लतारूपी वल्लभाको अपने आलिंगनसे पुष्ट तथा फूलोंसे व्याप्त कर दिया ॥१९॥ उस समय राग-पूर्ण कण्ठ और अतिशय लाल ओठोंको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुष, झूला झूलनेकी क्रीड़ामें आसक्त हो हिन्दोल रागमें कोमल गान गा रहे थे ॥२०॥ उस समयके अनुरूप वस्त्राभूषणोंको धारण करनेवाले कितने ही पुरुष अपनी स्त्रियोंके साथ बाग-बगीचोंमें बड़े प्रेमसे मद्यपान करते थे ॥२१॥ हरिण दूबाके अंकुरका पहले स्वयं आस्वादन कर हरिणीके लिए देता था और हरिणी भी उसका आस्वादन कर हरिणके लिए वापस देती थी सो ठीक ही है क्योंकि प्रेमीजनोंके द्वारा सूँघी हुई भी वस्तु प्रिय होती है ॥२२॥

सल्लकी वृक्षके पल्लवोंका हरा-भरा ग्रास खानेमें जिसकी लालसा लग रही थी ऐसी हस्तिनीको हस्तीने अपने मुखके स्पर्शसे समुत्पन्न सुखसे अन्धी कर दिया था—अपने स्पर्शजन्य सुखसे उसके नेत्र निमीलित कर दिये थे ॥२३॥ उस समय वसन्तका विस्तार होनेपर मधुपान सम्बन्धी नशासे उन्मत्त हुए भ्रमर और भ्रमरियोंके जोड़े उच्च शब्द करते हुए तीव्र लालसाके साथ परस्पर एक दूसरेको सूँघ रहे थे ॥२४॥ उस समय हर्षसे पुष्ट हुए कोकिल जहाँ-तहाँ मधुर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो कोकिलाओंके समान कलकण्ठी स्त्रियोंका गीत सुनकर उसे जीतनेकी इच्छासे ही शब्द कर रहे हों ॥२५॥ आचार्य कहते हैं कि जहाँ मनोहर कोलाहलसे आकुल भ्रमर तथा कोकिल भी वसन्तके गीत गाते हैं वहाँ दूसरोंकी तो कथा ही क्या है ? ॥२६॥

---

१. तिलकश्रिया म. । २. नागपुन्नागसंहतेः ख., म. । नागाः पुन्नागवृक्षाः पक्षे हस्तिप्रधानाः । ३. चैत्रमासः । ४. दोलाढ्यं म. । ५. -मासाद्य म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं राजा मधौ मासे जाते जनमनोहरे । बभ्रे वनविहाराय मनो मदनविभ्रमम् ॥२७॥
कृतमण्डनमारूढो द्विपेन्द्रं कृतमण्डनः । अखण्डमण्डलेद्धाभच्छत्रच्छन्नार्कमण्डलः॥२८॥
पूर्यमाणः पुरो निर्यन् नृपैरोघैरिवोदधिः । राजा राजपथं भेजे वन्दिवृन्दस्तुतोऽन्यदा ॥२९॥
वसन्तमिव साक्षात् तं वसन्तं हृदि संततम् । दिदृक्षुः क्षुभिता सद्यः क्षु पौरनारीजनाततिः ॥३०॥
वर्धस्व जय नन्देति कृतनादा कृताञ्जलिः । भूपरूपं पपौ सैषा नेत्राञ्जलिभिराकुला ॥३१॥
तत्र स्त्रीजनमध्यस्थामेकामत्यन्तहारिणीम् । रतिं साक्षादिव प्राप्तामद्राक्षीद् वनितां नृपः ॥३२॥
मुखेन्दौ नेत्रयुग्माब्जे बिम्बोष्टे कम्बुकण्ठके । स्तनचक्रे कृशे मध्ये गम्भीरे नाभिमण्डले ॥३३॥
सुघने जघने तस्या नितम्बे सकुकुन्दरे । उरुजानुलसज्जङ्घापाणिपादे पदे पदे ॥३४॥
लोलां निपतितां दृष्टिं मनसाधिष्ठितां निजाम् । न शशाकोपसंहर्त्तुमतिरक्तो नरेश्वरः ॥३५॥
दध्यौ वधूरियं कस्य रूपपाशेन मे मनः । बद्ध्वा मुग्धमृगीनेत्रा समाकर्षति हर्षिणी ॥३६॥
यदीयं नानुभूयेत मया हृदयहारिणी । ततो व्यर्थं ममैश्वर्यं रूपं च नवयौवनम् ॥३७॥
लोकोऽयमेकतो भूयात्सर्वदा दुर्व्यतिक्रमः । अभिलाषोऽन्यदारेषु दुःसहोऽयमथैकतः ॥३८॥
इति ध्यायन्मनश्चक्रे स तस्याहरणे नृपः । अपवादो हि सह्येत रक्तेन न मनोव्यथा ॥३९॥
यशःप्रकाशमानोऽपि लोकज्ञः सोऽत्यमुह्यत । तमः पतनकाले हि प्रभवत्यपि भास्वतः ॥४०॥

इस प्रकार मनुष्योंके मनको हरण करनेवाले चैत्रमासके आनेपर राजा सुमुखने काम-विलाससे परिपूर्ण अपने मनको वन-विहारके लिए उद्यत किया ॥२७॥ तदनन्तर किसी दिन, जिसने नाना प्रकारके आभूषण धारण किये थे, अपने अखण्डमण्डलवाले देदीप्यमान छत्रसे जिसने सूर्यके मण्डलको आच्छादित कर दिया था, जो सजाये हुए हाथीपर आरूढ़ हो नगरसे बाहर निकल रहा था, जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह आकर समुद्रमें मिलते हैं उसी प्रकार अनेक राजा आकर जिसके साथ मिल रहे थे तथा बन्दीजनोंके समूह जिसकी स्तुति कर रहे थे ऐसा राजा सुमुख राजमार्गको प्राप्त हुआ ॥२८-२९॥ साक्षात् वसन्तके समान हृदयमें निरन्तर वास करनेवाले राजा सुमुखको देखनेके लिए इच्छुक नगरकी स्त्रियाँ शीघ्र ही क्षोभको प्राप्त हो गयीं ॥३०॥ 'हे राजन् ! वृद्धिको प्राप्त होओ, जयवन्त रहो, और समृद्धिमान् हो' जो इस प्रकार शब्द कर रही थीं, हाथ जोड़े हुई थीं तथा बड़ी आकुलताका अनुभव कर रही थीं, ऐसी नगरकी स्त्रियोंने नेत्ररूपी अंजलियोंके द्वारा राजा सुमुखके सौन्दर्यका पान किया ॥३१॥ राजा सुमुखने उन स्त्रियोंके मध्यमें स्थित एक अत्यन्त सुन्दर स्त्रीको देखा। वह स्त्री ऐसी जान पड़ती थी मानो साक्षात् रति ही आ पहुँची हो ॥३२॥ अतिशय रागको प्राप्त हुआ राजा, उसके मुखचन्द्र, नेत्र कमल, बिम्बके समान लाल-लाल ओठ, शंखतुल्य कण्ठ, स्तनचक्र, पतली कमर, गम्भीर नाभि-मण्डल, सुन्दर जघन, गर्तविशेषसे सुशोभित नितम्ब, जाँघों—घुटनों, पिंडरियों—हाथ एवं पैरोंपर पद-पदमें पड़ती हुई अपनी मनोयुक्त चंचल दृष्टिको संकुचित करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥३३-३५॥ वह विचार करने लगा कि यह भोली-भाली हरिणीके समान नेत्रोंवाली हर्षसे भरी किसकी स्त्री रूपपाशसे मेरे मनको बाँधकर खींच रही है ॥३६॥ यदि मैं इस हृदयहारिणी स्त्रीका उपभोग नहीं करता हूँ तो मेरा यह ऐश्वर्य, रूप एवं नवयौवन व्यर्थ है ॥३७॥ जिसका सर्वदा उल्लंघन करना कठिन है ऐसा यह लोक तो एक ओर है और जिसका सहन करना अतिशय कठिन है ऐसी परस्त्री-विषयक अभिलाषा एक ओर है ॥३८॥ इस प्रकार विचार करते हुए राजा सुमुखने उसके हरण करनेमें मन लगाया सो ठीक ही है क्योंकि रागी मनुष्य अपवादको तो सह सकता है परन्तु मनकी व्यथाको नहीं सह सकता ॥३९॥ आचार्य कहते हैं कि देखो राजा सुमुख यशसे प्रकाशमान था तथा लोक-व्यवहारका ज्ञाता था फिर भी अत्यन्त मोहको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सापि दर्शनतस्तस्य रूपिणः शिथिलाङ्गिका । शशाक न मनो धर्तुं दोलारूढेव कामिनी ॥४१॥
[1]विचित्ररससंस्पर्शप्रादुर्भावफलोदयम् । भावं च प्रकटीचक्रे सानुलुब्धमनोगतम् ॥४२॥
दूरात्कटाक्षविक्षेपि चक्षुरन्ते निकुञ्चितम् । जह्रेऽस्यास्तन्मनो मङ्क्ति प्रतिचक्षुःप्रदानतः ॥४३॥
अधरस्तननाभ्यन्तःश्रोणीचरणवीक्षणैः । परावृत्तेक्षितैश्चक्रे सा तस्य स्मरदीपनम् ॥४४॥
प्रियालापेक्षिभिः स्निग्धैरन्योन्यघटितैः कृते । जिह्वा विह्वलयोर्वाचि न लेभेऽवसरं तयोः ॥४५॥
तावारूढौ च दुर्मोचप्रेमबन्धौ मनोरथम् । दुर्लभाश्लेषसंभोगफललाभार्थमर्थिनौ ॥४६॥
रक्तायाश्चित्तमादाय प्रदायास्यै मनोनिजम् । नगर्या निर्ययौ राजा पणबन्धात्कृतीव सः ॥४७॥
यमुनोत्तंसमुद्यानं वसन्तस्यावतंसकम् । विवेश जनतानन्दि नरेन्द्रो नन्दनोपमम् ॥४८॥
रम्यं नागलताश्लिष्टैः पुष्पितैः फलितैर्द्रुमैः । क्रमुकैर्नालिकेराद्यैर्दाडिमीकदलीवनैः ॥४९॥
विजहार [2]वने [3]हृद्ये स्त्रीजनैः स निजैर्वृतः । वयस्यैरनुकूलैश्च नृपपुत्रैः सहारमत् ॥५०॥
कांचित्कालकलां तस्य क्रीडतो जनसंकुला । शून्येव वनमालासीद् वनमालावियोगिनः ॥५१॥
वनमालानुरागेण ह्रियमाणोऽविशत्पुरीम् । क्षितीशः स्थीयते स्वस्थैः परचित्तैः कियच्चिरम् ॥५२॥

प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यके पतनका जब समय आता है तब अन्धकारकी प्रबलता हो ही जाती है ॥४०॥ उधर सुन्दर शरीरके धारक राजा सुमुखको देखनेसे उस स्त्रीके भी अंग-अंग ढीले हो गये और वह झूलापर बैठी स्त्रीके समान मनको रोकनेके लिए समर्थ नहीं हो सकी ॥४१॥ उसका मन राजा सुमुखमें अत्यन्त लुभा गया था इसलिए वह नाना प्रकारके रसके स्पर्श और प्रादुर्भावरूप फलसे सहित भावको प्रकट करने लगी ॥४२॥ जो दूर तक कटाक्ष छोड़ रहा था तथा जिसका अन्तःभाग संकोचको प्राप्त था ऐसा उस स्त्रीका नेत्र, बदलेमें सुमुखकी ओर देखकर उसके चंचल मनको हर रहा था ॥४३॥ वह अधर, स्तन, नाभिका मध्यभाग, नितम्ब और चरणोंको दिखानेसे तथा मुड़कर संचारित तिरछी चितवनसे उसके कामको उद्दीपित कर रही थी ॥४४॥ उस समय विह्वलताको प्राप्त हुए दोनोंके स्निग्ध तथा परस्पर मिले हुए नेत्रोंने ही मधुर वार्तालाप कर लिया था इसलिए बेचारी जिह्वाको बोलनेका अवसर ही नहीं मिल सका था ॥४५॥ जिनका प्रेम बन्धन छूट नहीं सकता था ऐसे दोनों स्त्री-पुरुष, दुर्लभ आलिंगन, तथा सम्भोगरूप फलकी प्राप्ति करानेवाले मनोरथपर आरूढ़ हुए। भावार्थ—आलिंगन तथा सम्भोगकी इच्छा करने लगे ॥४६॥

अतिशय अनुरक्त उस स्त्रीका चित्त लेकर और अपना चित्त उसे देकर राजा सुमुख नगरीसे बाहर निकला। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो आगामी मिलापके लिए बयाना देकर कृत-कृत्य ही हो गया हो ॥४७॥ नगरीसे निकलकर राजाने यमुनोत्तंस नामक उद्यानमें प्रवेश किया। वह उद्यान, वसन्त ऋतुका आभूषणस्वरूप था, जनताको आनन्दित करनेवाला था और नन्दन वनके समान जान पड़ता था ॥४८॥ वह उद्यान, नागलताओंसे आलिंगित फूले-फले सुपारीके वृक्षों और नारियल, अनार तथा केलोंके वनोंसे अतिशय रमणीय था ॥४९॥ अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा सुमुखने उस सुन्दर वनमें विहार किया एवं अनुकूल मित्रों और राजपुत्रोंके साथ क्रीड़ा की ॥५०॥ वह वहाँ कुछ काल तक क्रीड़ा करता रहा परन्तु वनमालाके वियोगसे उसे वह मनुष्योंसे व्याप्त वनकी पंक्ति शून्य-जैसी जान पड़ती थी ॥५१॥ वनमालाके अनुरागसे हरे हुए राजाने लौटकर शीघ्र ही कौशाम्बीपुरीमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त दूसरेमें लग रहा है वे कितनी देर तक स्वस्थ रह सकते हैं ? ॥५२॥

---

१. विचित्ररसस्य संस्पर्शप्रादुर्भावौ एव फलं तस्योदयो यस्मात् तं, एवंभूत भावम् । २. वनं क. । ३. हृद्यं क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपृच्छत्सुमतिर्मन्त्री तमुपांशु विशां विभुम् । विषण्णोऽसि किमद्येश ! कथ्यतामिति सादरः ॥५३॥
एकच्छत्रमिदं राज्यमनुरक्ताः प्रजाः प्रभो । अनुरागप्रतापाभ्यां निभृता भृत्यभूभृतः ॥५४॥
इष्टार्थस्य प्रदानेन प्रीणितोऽर्थिजनोऽखिलः । वल्लभाः प्रणयोद्रेकान्मानिताश्च प्रसादिना ॥५५॥
धर्मे चार्थे च कामे च प्रार्थितं दुर्लभं न ते । तदित्थं नाथ ! सौस्थित्यं[1] मनो दुःखमितं कुतः ॥५६॥
संविभज्य मनोदुःखं सख्यौ प्राणसमे सुखी । संपद्यते जनः सर्व इतीयं जगतः स्थितिः ॥५७॥
तदुच्यतां प्रभोऽद्यैव विदधामि तवेप्सितम् । सुस्थिते हि प्रभौ लोके सुस्थिताः सकलाः प्रजाः ॥५८॥
इत्युक्तः सोऽभ्यधात् सद्यो[2] मयाद्योद्यानयातया । दृष्ट्या परवधूश्वाशु विद्ययेव वशीकृतः ॥५९॥
ईदृशी[3] दृक्स्वनेपथ्या प्रायेण भवताप्यसौ । लक्षितैव निजं भावं कथयन्ती स्फुटेङ्गितैः ॥६०॥
इति श्रुत्वावदन्मन्त्री लक्षिता लक्षिता विभो । वणिजो वीरकस्यासौ वनमालाभिधा वधूः ॥६१॥
नृपोऽवादीत्तया योगो यदि मेऽद्य न जायते । न मन्ये जीवितं स्वस्य तस्याश्च कुटिलभ्रुवः ॥६२॥
मन्ये दिवसमप्येषा सहते न मया विना । अनयाहमपि क्षिप्रं तद्विधत्स्व प्रतिक्रियाम् ॥६३॥
दुर्यशः प्राप्यतेऽमुष्मिन्ननर्थोऽमुत्र मूढधीः । तथापि नेक्षते कार्यं यथैवानिमिषान्धकः[4] ॥६४॥
तत्त्वया न निवार्योऽहमकार्येऽपि प्रवृत्तधीः । पापोपशमनोपायाः सत्येव सति जीविते ॥६५॥
अनुमेने वचो मन्त्री तदन्यायमपि प्रभोः । अत्यभ्यर्णविपत्तीनां मन्त्रिणो हि निवर्त्तकाः ॥६६॥

सुमति नामक मन्त्रीने एकान्तमें आदरपूर्वक राजासे पूछा कि हे स्वामिन् ! आज आप विषादयुक्त क्यों हैं ? कृपाकर कहिए ॥५३॥ हे प्रभो ! आपका यह एकछत्र राज्य है, प्रजा आपमें अनुरक्त है तथा अन्य राजा अनुराग और प्रतापसे वशीभूत हो आपके दास हो रहे हैं ॥५४॥ अभिलषित वस्तुओंको देकर आपने समस्त याचकोंको सन्तुष्ट कर रखा है तथा प्रेमकी अधिकतासे प्रसन्न होकर आपने समस्त स्त्रियोंको सम्मानित किया है ॥५५॥ धर्म, अर्थ तथा काम-विषयक कोई भी वस्तु आपको दुर्लभ नहीं है, इस प्रकार हे नाथ ! सब प्रकारकी कुशलता होनेपर भी आपका मन दुखी क्यों हो रहा है ? ॥५६॥ सभी लोग प्राणतुल्य मित्रके लिए मनका दुःख बाँटकर सुखी हो जाते हैं यह जगत्की रीति है ॥५७॥ इसलिए हे प्रभो ! बतलाइए मैं आज ही आपकी अभिलाषा-को पूर्ण करूँगा क्योंकि स्वामीके सुखी रहनेपर ही समस्त प्रजा सुखी रहती है ॥५८॥

मन्त्रीके इस प्रकार कहनेपर राजाने शीघ्र ही कहा कि आज उद्यानको जाते समय मैंने एक पर-स्त्रीको देखा था उसीने विद्याकी भाँति मुझे शीघ्र ही वश कर लिया है ॥५९॥ वह ऐसी थी, ऐसी उसकी वेष-भूषा थी और अपनी स्पष्ट चेष्टाओंसे अपना अभिप्राय प्रकट कर रही थी प्रायः आपने भी वह देखी होगी ॥६०॥ यह सुनकर मन्त्रीने कहा कि हे स्वामिन् ! देखी है, अवश्य देखी है, वह वीरक वैश्यकी वनमाला नामकी स्त्री है ॥६१॥ राजाने कहा कि यदि आज उसके साथ मेरा समागम नहीं होता है तो मैं मानता हूँ कि न मेरा जीवन बचेगा और न उस कुटिल भौंहोंवाली वनमालाका ॥६२॥ जान पड़ता है कि वह मेरे बिना एक दिन भी नहीं ठहर सकती और न इसके बिना मैं भी एक दिन ठहर सकता हूँ इसलिए शीघ्र ही इसका उपाय करो ॥६३॥ यद्यपि इस कार्यसे इस जन्ममें अपयश प्राप्त होता है और परजन्ममें अनर्थकी प्राप्ति होती है तथापि जन्मान्धके समान मूर्ख मनुष्य कार्यको नहीं देखता ॥६४॥ इसलिए अकार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी मैं तुम्हारे द्वारा रोकने योग्य नहीं हूँ। यदि जीवन रहा तो पापको शान्त करनेके बहुत-से उपाय हो जावेंगे ॥६५॥ यद्यपि राजाका वह वचन अन्यायरूप था तथा मन्त्रीने उसे

१. सौस्थित्यं म. । २. मया द्योतनया नया म. । ३. ईदृग्भूतं स्वनेपथ्यं यस्याः सा (क. टि.) । ४. अनिमिष-मात्रेणान्धः जात्यन्ध इत्यर्थः (क. टि.) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह चात्यनुकूलस्तमित्यसौ प्रणतः प्रभो । वनमालां सुकण्ठे ते पश्याद्यैव मया कृताम् ॥६७॥
स्नं मज्जनविधिं सद्यः भुक्तिं च भज पूर्ववत् । दिव्यानुलेपनश्लक्ष्णवस्त्रताम्बूलमाल्यकम् ॥६८॥
इति विज्ञापितो नत्वा प्रज्ञानेत्रेण मन्त्रिणा । कर्तुमैच्छत्तदुद्दिष्टं द्विष्टभुक्तिरपि प्रभुः ॥६९॥
विज्ञाय सुमुखाकूतं कृपयेव विभाकरः । प्रतीचीमगमच्छ्रोघ्रमुपसंहृतदीधितिः ॥७०॥
प्रौढेऽस्ताभिमुखे ध्वस्तप्रतापे मित्रमण्डले । सोद्यमोऽप्यभवल्लोको निखिलः स्खलितोद्यमः ॥७१॥
दृष्टिरश्मिभिराकृष्य चक्रवाकैर्धृतो यथा । तदा कथमपि प्रायात् शनैर्भानुरदृश्यताम् ॥७२॥
संध्यारागेण चच्छन्नं भुवनं तदनन्तरम् । वनमालानुरागेण सुमुखस्येव भूरिणा ॥७३॥
संकोचः पद्मखण्डानां ततोऽभूत्खण्डितौजसाम् । मित्रोदयोदयाः के वा मित्रापदि विकासिनः ॥७४॥
संध्यारागानुसंधाने ध्वान्तेनापि कृते बभौ । मुक्तरक्ताम्बरं गूढं जगन्नीलपटेन वा ॥७५॥
लब्धो वर्णविवेको न [1]लब्धवर्णैरपि क्षणम् । प्रदोषे विषमे काले तिमिरोपप्लुतैस्तदा ॥७६॥

मान लिया सो ठीक ही है क्योंकि मन्त्री अत्यन्त निकटवर्ती आपत्तियोंको ही दूर करते हैं ॥६६॥ मन्त्रीने अत्यन्त अनुकूल एवं विनम्र होकर कहा कि हे प्रभो ! मैं प्रयत्न करता हूँ आप वनमालाको आज ही अपने कण्ठमें लगी देखिए ॥६७॥ आप पहलेकी भाँति शीघ्र ही स्नान कीजिए, भोजन कीजिए, दिव्य विलेपन, सुकोमल वस्त्र, पान तथा माला आदि धारण कीजिए ॥६८॥ यद्यपि राजाको वनमालाके बिना भोजन करना इष्ट नहीं था तथापि बुद्धिरूपी नेत्रको धारण करनेवाले मन्त्रीने जब नमस्कार कर प्रार्थना की तब उसने उसके कहे अनुसार सब कार्य करनेकी इच्छा की ॥६९॥

तदनन्तर सुमुखका अभिप्राय जानकर दयासे ही मानो सूर्य अपनी किरणोंको संकुचित कर पश्चिम दिशाकी ओर चला गया ॥७०॥ जिस समय अतिशय प्रतापी मित्रमण्डल—सूर्यमण्डल (मित्रोंका समूह) प्रताप-रहित हो अस्त होने लगा उस समय समस्त उद्यमी मनुष्य भी उद्यम-रहित हो गये । भावार्थ—जिस प्रकार समर्थ मित्रोंके समूहको नष्टप्रताप एवं नाशके सम्मुख देखकर उसके अनुगामी अन्य लोग पुरुषार्थहीन हो जाते हैं उसी प्रकार प्रतापी सूर्यको भी नष्टप्रताप एवं अस्त होनेके सम्मुख देख दूसरे उद्यमी मनुष्य भी उद्यम रहित हो गये—दिनभर काम करनेके बाद सन्ध्याके समय विश्रामके लिए उद्यत हुए ॥७१॥ उस समय सूर्य धीरे-धीरे किसी तरह अदृश्यताको प्राप्त हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवाक पक्षियोंने उसे अपनी दृष्टि रूपी रस्सियोंसे खींचकर रोक ही रखा था ॥७२॥ तदनन्तर जिस प्रकार राजा सुमुखका अन्तःकरण वनमालाके अनुरागसे व्याप्त था उसी प्रकार समस्त संसार सन्ध्याकालकी लालीसे व्याप्त हो गया ॥७३॥ तत्पश्चात् जिनका तेज खण्डित हो गया था ऐसे कमलोंका समूह भी संकोचको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मित्र (सूर्य पक्षमें मित्र) के उदयकालमें अभ्युदयको प्राप्त होनेवाले ऐसे कौन हैं जो मित्रकी विपत्तिके समय विकसित (पक्षमें हर्षित) रह सकें ? ॥७४॥ धीरे-धीरे अन्धकारने भी जब सन्ध्या-कालिक लालिमाकी खोज की तब संसार लाल वस्त्रको छोड़कर नील-वस्त्रसे आच्छादित हो गया ॥ भावार्थ—सन्ध्याकी लालीको दूर कर उसके स्थानपर अन्धकारने अपना अधिकार जमा लिया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारने लाल वस्त्र छोड़कर नीला वस्त्र ही धारण कर लिया हो ॥७५॥ जिस प्रकार प्रदोष-दोषपूर्ण विषम कालमें मोहरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुए विद्वान् मनुष्य भी ब्राह्मणादि वर्णोंका विवेक नहीं प्राप्त करते हैं—वर्णभेदको भूल जाते हैं उसी प्रकार उस प्रदोष—रात्रिके प्रारम्भ रूप विषम कालमें अन्धकारसे उपद्रुत विद्वान् मनुष्य भी लाल-पीले आदि वर्णोंके भेदको नहीं प्राप्त कर सके थे—उस समय सब पदार्थ एक वर्ण—काले-काले ही दिखाई

---

१. विदद्भिरपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेलायां तत्र संमन्त्र्य मन्त्री दूतीमजीगमत् । आत्रेयीं वनमालायाः समीपं सुमुखाज्ञया ॥७७॥
मानितासनदानाद्यैः संफली[1] वनमालया । सामिनन्द्य रहस्येतामुवाचैवं विचक्षणा ॥७८॥
वनमाले प्रिये वत्से विचित्तेवाद्य लक्ष्यसे । वद वैचित्त्यहेतुं मे पत्या किमसि कोपिता ॥७९॥
वीरको ह्येकपत्नीकस्तत्र किं कोपकारणम् । अन्यदत्र निमित्तं स्यात्स्वसंवेद्यं निगद्यताम् ॥८०॥
पुत्रि ! सर्वरहस्येषु नन्वहं तु परीक्षिता । भवत्या मयि सत्यां वा दुर्लभं किमभीप्सितम् ॥८१॥
इत्युक्ता सोष्णनिश्वासगलपितावरपल्लवा । तथा प्रार्थितया वार्त्ता[2] कथमप्यब्रवीद् वचः ॥८२॥
त्वां मुक्त्वाम्ब न मे काचिद्विश्रम्भस्थानमत्र हि । षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रो रक्षणीयः स यत्नतः ॥८३॥
दृष्टो मयाद्य सद्रूपः सुमुखः[4] सुमुखो[5] नृपः । दृष्टमात्रं प्रविष्टोऽमा[6] स मनो मे मनोभुवा ॥८४॥
दुर्लभेऽप्यभिलाषस्य द्वेषिणः सुलभे[7] जने । हृदयस्य खलस्येव वृत्तिरात्मोपतापिनी ॥८५॥
दिग्धं चन्दनपङ्केन हृदयं मम शुष्यति । बहिरङ्गो विधिः कुर्यादन्तरङ्गे विधौ तु किम् ॥८६॥
आर्द्रवस्त्रमपि न्यस्तमङ्गोपाङ्गेऽतिशुष्यति । शीतस्पर्शोऽल्पशोऽत्युष्णे किं करोतु निधापितः ॥८७॥
यस्य पल्लवतल्पोऽपि कल्पितो म्लायतेतराम् । तापकर्कशगात्रस्य मृदुं शीतः करोतु किम् ॥८८॥
अङ्गस्पर्शाद्विना तस्य नाहं पश्यामि निर्वृतिम् । तत्कुरुष्व दयां पूते तत्समागममेव मे ॥८९॥

देते थे ॥७६॥ उस समय मन्त्रीने सलाह कर राजा सुमुखकी आज्ञासे वनमालाके पास आत्रेयी नामकी दूती भेजी ॥७७॥ वनमालाने आसन आदि देकर उस दूतीका सम्मान किया जिससे वह बहुत प्रसन्न हुई। तदनन्तर उस चतुर दूतीने एकान्तमें वनमालासे इस प्रकार कहा कि प्रिय बेटी वनमाला! तू आज उदास-सी दिख रही है। उदासीका कारण मुझसे कह, क्या पतिने तुझे नाराज कर दिया है? ॥७८-७९॥ वीरकके तो तू ही एक पत्नी है अतः उसके क्रोधका कारण क्या हो सकता है? उदासीमें कुछ दूसरा ही कारण होना चाहिए जो कि तेरे अनुभवमें आ रहा है, उसे बता ॥८०॥ बेटी! तूने सब रहस्योंमें कई बार मेरी परीक्षा की है, मेरे रहते हुए तुझे कौन-सा इष्ट कार्य दुर्लभ रह सकता है? ॥८१॥ दूतीके यह कहते ही उसके मुखसे गरम-गरम साँसें निकलने लगीं जिनसे उसका अधरपल्लव मुरझा गया। तदनन्तर दूतीके कई बार प्रार्थना करनेपर उसने बड़े दुःखसे यह वचन कहे कि हे माँ! तुझे छोड़कर इस विषयमें मेरा कोई भी विश्वासपात्र नहीं है। चूँकि छह कानोंमें पहुँचा हुआ मन्त्र फूट जाता है—उसका रहस्य खुल जाता है इसलिए मन्त्रकी यत्न-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए ॥८२-८३॥ बात यह है कि आज मैंने प्रशस्त रूप एवं सुन्दर मुखके धारक राजा सुमुखको देखा था और देखते ही कामदेवके साथ वह मेरे मनमें प्रविष्ट हो गया ॥८४॥ इस समय मेरे हृदयकी प्रवृत्ति दुर्जनकी प्रवृत्तिके समान अपने आपको सन्ताप उत्पन्न कर रही है। क्योंकि जिस प्रकार दुर्जन दुर्लभ वस्तुकी अभिलाषा करता है और सुलभ वस्तुसे द्वेष करता है उसी प्रकार मेरा हृदय, जो मेरे लिए सर्वथा दुर्लभ है ऐसे राजा सुमुखकी अभिलाषा कर रहा है और सुलभ वीरकसे द्वेष कर रहा है ॥८५॥ मेरा हृदय चन्दनके लेपसे लिप्त होनेपर भी सूख रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि बाह्य उपचार अन्तरंग कार्यमें क्या कर सकता है? ॥८६॥ मेरे अंग और उपांगोंपर रखा हुआ गीला कपड़ा भी सूख जाता है सो ठीक ही है क्योंकि अत्यन्त उष्ण पदार्थपर रखा हुआ थोड़ा-सा शीतस्पर्श क्या कर सकता है? ॥८७॥ जिस तापसे कर्कश शरीरके लिए बनाया हुआ पल्लवोंका बिस्तर भी अत्यन्त मुरझा जाता है उसके लिए थोड़ा-सा शीत-स्पर्श क्या कर सकता है? ॥८८॥ मैं उसके शरीरके स्पर्शके बिना शान्ति नहीं देखती इसलिए हे पवित्रे! दया करो और मेरे लिए शीघ्र ही उसका समागम प्राप्त कराओ ॥८९॥

१. दूती। २. वा + आर्त्ता कामेन सरोगा (क. द. टि.)। ३. मुक्त्वात्र म.। ४. सुन्दरमुखयुक्तः। ५. एतन्नामा नृपः। ६. सह। ७. सुलभो जनः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्यापि हि मनोवृत्तिं प्रतीहि मम दर्शनात् । मदभिप्रायसंमिश्रां सर्वाकारोपलक्षिताम् ॥९०॥
तदा तज्ञौ प्रवीणे ! द्वौ त्वं नौ रहसि योजयेः । सुखेनैव हि कालज्ञे तप्तं तप्तेन योज्यते ॥९१॥
निशम्य वनमालायास्तद्वचो भावसूचकम् । जगाद वचनं दूती तदेति मुदितात्मिका ॥९२॥
वत्से वत्सेश्वरेणाहं त्वद्रूपहृतचेतसा । प्रहितास्मि तदेह्याशु तेन त्वां घटयाम्यहम् ॥९३॥
इति स्वेष्टार्थसंवादे वनमाला स्मरातुरा । दूत्या पत्यौ परोक्षे द्रागविशद्राजमन्दिरम् ॥९४॥
विलोक्य मनसश्चौरीं सुमुखः सुमुखीं मुदा । एह्येहीति प्रियालापाञ्चकार सुखितां सुखी ॥९५॥
हस्ते स्तनानुलुप्तां[1] तां स्वेदिनि स्वेदिना युवा । हस्तेनादाय तन्वङ्गीं शयने स्वे न्यवेशयत् ॥९६॥
प्रौढयौवनयोर्योगमनुकर्तुमिवैतयोः । उदियाय निशानाथो प्रसादितनिशामुखः ॥९७॥
शशाङ्कस्य करस्पर्शान्मुमोदाशु कुमुद्वती । सुमुखस्य करस्पर्शाद् वनमालेव हारिणी ॥९८॥
उक्तप्रत्युक्तयुक्तैर्[2]थान् स्त्रीपुंसगुणसंगतान् । प्रेमबन्धप्रवृद्ध्यै तौ बहून् भावांस्तु चक्रतुः ॥९९॥
सोऽपि विश्रम्भदूरास्तनवसङ्गमसाध्वसाम् । तामुत्सङ्गे कृतां गाढमालिलिङ्गाङ्गसंगताम् ॥१००॥
असंतोषभुजाश्लेषैर्विश्लेषमुषितश्रमैः[3] । चुम्बनैश्चूषणैर्दंशैः कण्ठग्रहकचग्रहैः ॥१०१॥

तुम यह विश्वास करो कि मेरे देखनेसे उसकी मनोवृत्ति भी मेरी चाहसे मिश्रित है—उसके मनमें मेरी चाह है क्योंकि उसकी समस्त चेष्टाओंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता था ॥९०॥ तुम बड़ी चतुर और समयकी गतिको जाननेवाली हो इसलिए हम दोनों संतप्त स्त्री-पुरुषोंको एकान्तमें मिला दो क्योंकि संतप्त वस्तु दूसरी संतप्त वस्तुके साथ सुखसे मिलाई जा सकती है ॥९१॥

इस प्रकार वनमालाके अभिप्रायको सूचित करनेवाले उन वचनोंको सुनकर दूती बहुत प्रसन्न हुई और निम्नांकित वचन कहने लगी ॥९२॥ उसने कहा कि हे बेटी ! तेरे रूपसे जिसका चित्त हरा गया है ऐसे वत्स देशके स्वामी राजा सुमुखने ही मुझे भेजा है अतः चल मैं शीघ्र ही तुझे उसके साथ मिलाये देती हूँ ॥९३॥ इस प्रकार अपने मनोरथके अनुकूल बात होनेपर कामसे पीड़ित वनमाला, पतिकी अनुपस्थितिमें दूतीके साथ शीघ्र ही राजभवनमें प्रविष्ट हो गयी ॥९४॥ राजा सुमुख, मनको चुरानेवाली सुमुखीको देखकर बहुत सुखी हुआ और हर्षसे 'आइए, आइए' इस प्रकारके प्रिय वचन कहकर उसे सुखी करने लगा ॥९५॥ जिसके स्तनोंका स्पर्श किया गया था ऐसी कृशांगी वनमालाको तरुण सुमुखने अपने स्वेद युक्त हाथसे उसका स्वेद युक्त हाथ पकड़कर अपनी शय्यापर बैठा लिया ॥९६॥ उसी समय रात्रि रूपी स्त्रीके मुखको प्रसन्न करता हुआ (पक्षमें रात्रिके प्रारम्भको प्रकाशमान करता हुआ) चन्द्रमा उदित हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो वह प्रौढ़ यौवनसे युक्त राजा सुमुख और वनमालाके समागमका अनुकरण करनेके लिए ही उदित हुआ था ॥९७॥ जिस प्रकार राजा सुमुखके करस्पर्श (हाथके स्पर्श) से सुन्दरी वनमाला प्रसन्न हो रही थी उसी प्रकार चन्द्रमाके करस्पर्श (किरणोंके स्पर्श) से कुमुदिनी शीघ्र ही प्रसन्न हो उठी—खिल उठी ॥९८॥ राजा सुमुख और वनमालाने उत्तर-प्रत्युत्तरसे सहित तथा स्त्री-पुरुषोंके गुणोंसे संगत बहुतसे भाव किये—नाना प्रकारकी शृंगार-चेष्टाएँ कीं ॥९९॥ विश्वासकी अधिकतासे नूतन समागमके समय होनेवाला जिसका भय दूर छूट गया था ऐसी वनमालाको राजा सुमुखने गोदमें उठा लिया और अपने शरीरसे लगाकर उसका गाढ़ आलिंगन किया ॥१००॥ तदनन्तर कामसे उत्तप्त दोनों स्त्री-पुरुषोंने, बीच-बीचमें आलिंगन छोड़ देनेसे जिनमें आलिंगन जन्य थकावट दूर हो जाती थी ऐसे भुजाओंके गाढ़ आलिंगनसे, चुम्बनसे, चूषणसे,

१. स्तनावलुप्तां तां ग., ड. । हस्तस्तनानुलुप्तां तां म. । स्वेदिनि हस्ते स्तनयोश्च अनुलुप्तां कृतस्पर्शां (ख. टि.) । २. मुक्तार्था म. । ३. सुखितश्रमैः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नितम्बास्फालनैरङ्गप्रत्यङ्गस्पर्शनैर्मिथः । मिथुनं मन्मथोद्दीप्तं चिक्रीड विविधक्रियम् ॥१०२॥
यथासत्त्वं यथाभावं यथावैदग्ध्यमङ्गना । पुंसः सुखाय तस्यासौ बभूव सुरतोत्सवे ॥१०३॥
श्रमप्रस्विन्नसर्वाङ्गौ कृतसंवाहनौ मिथः । नागाविव कृताश्लेषौ शयने शयितावुभौ ॥१०४॥

वंशस्थवृत्तम्

प्रकृष्टवैदग्ध्यहृतात्मनोस्तयोः प्रसुप्तयोः प्रेमनिबद्धचित्तयोः ।
प्रवृत्तवृत्तान्तमिव प्रवेदितुं प्रभातसंध्यां[1] व्यसृजत्प्रभाकरः ॥१०५॥
सहेन्दुना बन्धुरयाग्रसंध्यया[2] सुरञ्जिता द्यौरभजत्परां द्युतिम् ।
सुचित्तवृत्त्या सुमुखेन सन्मुखी वधूरिवाऽसौ वनमालिका नवा ॥१०६॥
नृपं शयानं सुमुखं विभाकरः सरोरुहश्रीवनमालया सह ।
महोदयाद्रिस्थित एव च द्रुतो व्यबोधयल्लोकमिमं यथा जिनः ॥१०७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सुमुखवनमालावर्णनो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

□

दशनसे, कण्ठग्रहणसे, केशग्रहणसे, नितम्बास्फालनसे और अंग-प्रत्यंगके स्पर्शसे परस्पर नाना प्रकार की क्रीड़ा की ॥१०१-१०२॥ वनमालामें जैसा उत्साह था, जैसा भाव था, और जैसा चातुर्य था उन सबके अनुसार वह संभोगोत्सवके समय राजा सुमुखके सुखके लिए हुई थी—उसने अपनी समस्त चेष्टाओंसे राजा सुमुखको सुखी किया था ॥१०३॥ तदनन्तर थकावटसे जिनके सर्व शरीरमें पसीना आ गया था और जो परस्पर एक दूसरेका संमर्दन कर रहे थे ऐसे वे दोनों, हस्ती-हस्तिनी के समान आलिंगनकर शय्यापर सो गये ॥१०४॥ तदनन्तर अत्यधिक चातुर्यसे जिनकी आत्मा हरी गयी थी, और चित्त प्रेमरूपी बन्धनसे बद्ध थे ऐसे गाढ़ निद्रामें निमग्न सुमुख और वनमालाका क्या हाल है ? यह जाननेके लिए ही मानो सूर्यने प्रभात सन्ध्याको भेजा। भावार्थ—आकाशमें प्रातःकाल की लालिमा छा गई ॥१०५॥ उस समय चन्द्रमाके साथ-साथ सुन्दर प्रभात सन्ध्यासे अनुरंजित (रक्तवर्ण की हुई) द्यावा (आकाशरूपी स्त्री) राजा सुमुख द्वारा उत्तम मनोवृत्तिसे अनुरंजित (प्रसन्न की हुई) सुवदना नव-वधू वनमालाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१०६॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् समवसरणमें सिंहासनारूढ़ हो इस समस्त लोकको प्रबुद्ध करते हैं उसी प्रकार आगत सूर्यने उदयाचलपर स्थित होकर कमलोंके समान सुशोभित वनमालाके साथ सोते हुए राजा सुमुखको प्रबुद्ध किया—जगाया ॥१०७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे सहित जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें सुमुख और वनमालाका वर्णन करनेवाला चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

□

१. सन्ध्या म. । २. सन्धया म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चदशः सर्गः

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अथ विबुद्धसरोजवनस्पृशा सुरभिणा स्पृशता महता[1] तदा ।
हृतवपुःश्रमकं मिथुनं मिथस्तदकरोदुपगूढमतिश्लथम् ॥१॥
मृदुतरङ्गघने शयनस्थले मृदितपुष्पचये शयितोत्थितः ।
सह बभौ प्रियया सुमुखो यथा समदहंसयुवा सिकतास्थले ॥२॥
विषहते स्म वियोगविषं क्षणं विरहिणोरिव रात्रिषु पक्षिणोः ।
प्रियवधूवरयोर्वरयोस्तयोर्न हृदयं हृदयङ्गमचेष्टयोः[2] ॥३॥
न विससर्ज ततः स्वपतेर्गृहं स्वगृह एव रुरोध वधूं प्रभुः ।
रहसि दुर्लभमाप्य मनीषितं न हि विमुञ्चति लब्धरसो जनः ॥४॥
सुमुखमुख्यवधूजनमुख्यतां समधिगम्य निजैः सुमुखैर्गुणैः ।
वरवधूरतिगौरवमाप सा न सुलभं सुमुखे[3] किमु भर्तरि ॥५॥
अवततार कदाचिदचिन्तितो निधिरिवोरुतपोनिधिरञ्चितः ।
नृपगृहं वरधर्ममुनिर्गृहानतिथिरेति हि भूरिशुभोदये ॥६॥
परमदर्शनशुद्धिविशुद्धधीरधिकबोधविबुद्धपदार्थकः ।
व्रतसुगुप्तिसमित्यतिशुद्धतामयचरित्रपवित्रितविग्रहः ॥७॥

अथानन्तर खिले हुए कमल वनका स्पर्श करनेवाली सुगन्धित वायुने स्पर्श कर जिसका समस्त श्रम दूर कर दिया था ऐसे उस मिथुनने उस समय परस्परका आलिंगन अत्यन्त ढीला कर दिया ॥१॥ जिसपर तरंगोंके समान कोमल सिकुड़नें उठ रही थीं तथा जिसपर फूलोंका समूह मसला गया था ऐसी शय्यापर सोकर उठा सुमुख, प्रिया वनमालाके साथ उस तरह सुशोभित हो रहा था जिस तरह कि बालूके स्थलपर हंसीके साथ मदोन्मत्त युवा हंस सुशोभित होता है ॥२॥ जिस प्रकार रात्रिके समय बिछुड़नेवाले चकवा-चकवीका हृदय क्षण-भरके लिए भी वियोगरूपी विषको सहन नहीं करता है उसी प्रकार मनोहर चेष्टाके धारक उन प्रिय वधू-वरका हृदय क्षण-भरके लिए भी वियोगरूपी विषको सहन नहीं करना चाहता था ॥३॥ इसलिए राजा सुमुखने वधू—वनमालाको उसके पतिके घर नहीं भेजा अपने ही घर रोक लिया सो ठीक ही है क्योंकि दुर्लभ वस्तुको पाकर उसका रस प्राप्त करनेवाले उसे छोड़ते नहीं हैं ॥४॥ सुन्दरी वनमाला, अपने उत्तम गुणोंसे राजा सुमुखकी समस्त मुख्य स्त्रियोंमें मुख्यताको पाकर परम गौरवको प्राप्त हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि भर्ताके अनुकूल रहनेपर कौन-सी वस्तु सुलभ नहीं ? ॥५॥

तदनन्तर किसी समय अचिन्तित निधिके समान उत्कृष्ट तपके भाण्डार वरधर्म नामके पूज्य मुनि राजा सुमुखके घर आये सो ठीक ही है क्योंकि अत्यधिक पुण्यका उदय होनेपर ही अतिथि घर आते हैं ॥६॥ उन मुनिकी बुद्धि उत्कृष्ट दर्शनविशुद्धिसे विशुद्ध थी, अधिक ज्ञानसे वे अनेक पदार्थोंको जानते थे, व्रत गुप्ति और समितिकी अतिशय शुद्धिरूपी चारित्रसे उनका शरीर पवित्र था, वे अनशन तथा स्वाध्याय आदि तपकी निर्मल लक्ष्मीसे युक्त थे और धवल

---

१. महता । २. हृदयङ्गमा मनोज्ञा चेष्टा ययोस्तयोः । ३. अनुकूले ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनशनाध्ययनादितपःश्रिया धवलया प्रशमास्तविकारया ।
जनितगौरवया शुचिभूषितो विपुलनिर्जरया जरया यथा ॥८॥
विजितदोषकषायपरीषहं सुनिगृहीतजितेन्द्रियवृत्तकम् ।
यतिवृषं[1] सुमुखः स्वगृहागतं तमभिवीक्ष्य नृपः सहसोत्थितः ॥९॥
प्रमदभारवशीकृतमानसस्तमभिगत्य परीत्य वधूयुतः ।
सविनयं प्रतिगृह्य शुचिः शुचिं शुचिनि साधुमधान्मणिकुट्टिमे ॥१०॥
प्रियवधूकरधारितसत्कनत्कनककर्करिकाजलधारया ।
व्यपगतासुकया[3] वरभूभृता स्वकरधौतमकारि मुनेः पदम् ॥११॥
सुरभिगन्धशुभाक्षतपुष्पसत्प्रकरदीपकधूपपुरःसरैः ।
समभिपूज्य वचस्तनुचेतसा तमभिवन्द्य सुदानमदान्मुदा ॥१२॥
समगुणात्परिणामविशेषतः परभवे सहभोगफलोदयम् ।
सुमनसा सुमुखो वनमालया सह ववन्ध सुपुण्यमपुण्यभित् ॥१३॥
बहुदिनानशनव्रतधारणः कृशतनुस्थितये कृतपारणः ।
विहितदातृसुखोदयकारणः स मुनिरैत्पटुतत्त्वविचारणः ॥१४॥
व्रजति नित्यसुखे सुमुखेशिनः शममनेहसि[5] पुण्यफलाशिनः ।
परयुवत्यपहारदुराहितं[6] प्रतिकृतानुशयस्य[7] हताहितम् ॥१५॥
मणिगणच्छविविच्छुरितोदरे सुरभिगर्भगृहे विहितादरे ।
सह कदाचिदसौ गुणमालया दयितया शयितो वनमालया ॥१६॥

अर्थात् सफेद (पक्षमें उज्ज्वल) समस्त विकारोंसे रहित एवं गौरवको उत्पन्न करनेवाली वृद्धावस्थाके समान कर्मोंकी विपुल निर्जरासे सुशोभित थे ॥७-८॥ जिन्होंने दोष कषाय और परिषहको जीत लिया था एवं इन्द्रियोंकी वृत्तिको अच्छी तरह रोककर परास्त कर दिया था ऐसे अपने घर आये हुए उत्तम मुनिराजको देखकर राजा सुमुख सहसा उठकर खड़ा हो गया ॥९॥ आनन्दके भारसे जिसका हृदय विवश था ऐसे उज्ज्वल परिणामोंके धारक राजा सुमुखने स्त्रीके साथ आगे जाकर पहले तो उन पवित्र मुनिराजको प्रदक्षिणा दी फिर विनय सहित पड़गाहकर उन्हें रत्नमय पवित्र फर्शपर विराजमान किया ॥१०॥ तदनन्तर प्रिय स्त्रीके द्वारा हाथमें धारण की हुई सुवर्णमय झारीको प्रासुक जलधारासे राजाने मुनिराजके चरण धोये ॥११॥ फिर सुगन्धित चन्दन, शुभ अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप आदि अष्टद्रव्यसे पूजा कर मन, वचन, कायसे उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर हर्ष-पूर्वक दान दिया ॥१२॥ उस समय राजा सुमुख और वनमालाके परिणाम एक समान थे इसलिए दोनोंने ही परभवमें एक साथ भोग-रूपी फलको देनेवाला पापापहारी उत्तम पुण्यबन्ध किया ॥१३॥ जिन्होंने अनेक दिनका उपवासरूपी व्रत धारण किया था, जो दाताओंके लिए सुख प्राप्तिका कारण जुटानेवाले थे और जो तत्त्वके विचार करनेमें अतिशय निपुण थे ऐसे मुनिराज अपने कृश शरीरकी स्थिरताके लिए पारणा कर वनको चले गये ॥१४॥

तदनन्तर जो पुण्यका फल भोग रहा था और परस्त्रीके अपहरणसे उत्पन्न पापके प्रति जो निरन्तर पश्चात्ताप करता रहता था ऐसे राजा सुमुखका काल जब अहितोंको नष्ट कर निरन्तर सुखसे बीत रहा था तब वह किसी समय गुणोंकी मालास्वरूप वनमाला स्त्रीके साथ सुगन्धित

---

१. यतिश्रेष्ठम् । २. झारी । ३. प्रासुकया । व्यपगतांशुकया (?) म. । ४. कृततनु म. । ५. सममनेहसि क., ख., ग., घ., म. । ६. वरयुवत्य -ङ. । ७. प्रतिकृतः अनुशयः पश्चात्तापो येन स तस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ तयोः परिपाकमुपेयुषि प्रगुणमानसयोः प्रगुणायुषि ।
अधिपपात हि कालनियोगतो[1] जलदकालसमागतचञ्चला ॥१७॥
अशनिपातसहोज्झितजीवितौ परमदानफलोदयसेवितौ ।
सुविजयार्द्धगिराविह तावितौ विपुलखेचरतां सुखमावितौ ॥१८॥
उभयकोटितटीघटितोदधिर्धवलताधरितेन्दुपयोदधिः ।
स्फुरितराजतमूर्तिरसौ यतः क्षितिवधूपृथुहार इवायतः ॥१९॥
वियदतीत्य भुवो दशयोजनीं स्वजगतोद्वितयांशयुगेन सः ।
जगति भोगभुवोऽभिनवा यथा वहति खेचरराजपुरीर्गिरिः ॥२०॥
[2]सुभृतभारतभूरिगिरीशते स्थिरदशोत्तररम्यपुरीशते ।
उदितपञ्चकविंशतियोजने विततत[3]द्द्विगुणे सुखयोजने ॥२१॥
पुरमिहोत्तरमस्ति सुखक्षमं तरुवनानुकृतोरुकुरुक्षमम् ।
हरिपुरं विदितं तदभिख्यया हरिपुरप्रतिमं यदभिख्यया[5] ॥२२॥
अभवदस्य पुरस्य तु गोपिता[6] पवनपूर्वगिरिः खचरः[7] पिता ।
सुमुखराजवरस्य मृगावती गुणवती जननी हि कलावती ॥२३॥
अभृत चार्थवतीमभिधामयं प्रकटमार्य इतीह सुधामयम् ।
वचनमार्यजनप्रमदावहं स्मरणमन्यभवप्रमदावहम् ॥२४॥

गर्भगृहमें सोया था। उस गर्भगृहका मध्य भाग मणिसमूहकी कान्तिसे व्याप्त था तथा आदरको प्रदान करनेवाला था ॥१५-१६॥ उसी समय जिनके मन एक दूसरेके आधीन थे ऐसे उन दोनोंकी श्रेष्ठ आयु समाप्त होनेको आयी इसलिए उनके ऊपर वर्षाकालकी बिजली आ गिरी ॥१७॥ बिजली गिरनेसे जिनके प्राण एक ही साथ छूटे थे, तथा जो उत्तम दानके फलको प्राप्त थे ऐसे दोनों दम्पती सुखसे मरण कर विजयार्ध पर्वतपर विद्याधर-विद्याधरी हुए ॥१८॥ वह विजयार्ध पर्वत, अपनी पूर्व-पश्चिम—दोनों कोटियोंसे समुद्रका स्पर्श करता है, उसने अपनी सफेदीसे चन्द्रमा और क्षीर समुद्रको जीत लिया है, वह चाँदीके समान देदीप्यमान मूर्तिका धारक है और पृथिवी रूपी स्त्रीके बड़े भारी हारके समान लम्बा है ॥१९॥ वह विजयार्ध पर्वत पृथिवीसे दश योजन ऊपर चलकर अपनी दो श्रेणियोंके द्वारा विद्याधर राजाओंकी उन नगरियोंको धारण करता है जो संसारमें नूतन भोगभूमियोंके समान जान पड़ती हैं ॥२०॥ यह पर्वत भरत क्षेत्रके समस्त पर्वतोंके स्वामित्वको धारण करता है, इसपर एक सौ दश सुन्दर नगरियाँ स्थित हैं, यह पचीस योजन चौड़ा तथा सुखको उत्पन्न करनेवाला है ॥२१॥ इसी पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर एक हरिपुर नामका नगर है जो सब प्रकारके सुख देनेमें समर्थ है, नाना प्रकारके वृक्षोंके वनसे उत्तरकुरुकी पृथिवीका अनुकरण करता है और शोभामें इन्द्रपुरीके समान जान पड़ता है ॥२२॥ इस नगरका रक्षक पवनगिरि विद्याधर था। वही राजा सुमुखके जीवका पिता था तथा इसकी अनेक कलाओं और गुणोंमें निपुण मृगावती नामकी स्त्री थी वही सुमुखके जीवकी माता थी ॥२३॥ यहाँ सुमुखका जीव, 'आर्य' इस सार्थक नामको धारण करता था। धीरे-धीरे वह आर्यजनोंको आनन्द उत्पन्न करनेवाले अमृतमय वचन बोलने लगा तथा उसे अपनी पूर्व भवकी स्त्रीका स्मरण हो आया ॥२४॥

१. क्षणरुचिः सहसा समयोगतः घ., ङ.। २. सुभृता भारतभूरिगिरीणामीशता येन स तस्मिन्। ३. पञ्चाशद्योजनविष्कम्भे। ४. विनिहिताखिलचाक्षगणश्रमं ख., ग., ङ., म. अत्र यः पाठः स्वीकृतस्तस्य ङ. पुस्तकस्य टिप्पण्यां समुल्लेखः कृतः। विनिहिताखिलवाक्षगणश्रमं क.। ५. शोभया। ६. रक्षकः। ७. खचराधिपः घ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरमथोत्तरदिग्जगतीमितं भवति तत्र गिरौ विभवामितम् ।
यदिह मेघपुरं परमं परां वहति सन्मणिसौधपरम्पराम् ॥२५॥
अधिवसन्नथ तद्दमनो हरी रिपुमदेभकुलस्य मनोहरी ।
रतिषु यस्य मनोहरति प्रिया पवनवेगखगस्य रतिप्रिया ॥२६॥
अजनि साथ तयोर्दुहिता सती सहचरी सुमुखस्य हिता सती ।
विदितपूर्वभवाऽत्र मनोरमा[1] जगति चन्द्रकलेव मनोरमा ॥२७॥
कुलमुवाह विवाहविधोचितं[2] शुचि यथैव तथाकृतभावितम् ।
शिशुसमागममाशु विधिः स्वयं कृतिषु यद् यतते सकलास्वयम् ॥२८॥
मिथुनमर्भकयोः सुखलालितं निजनिषङ्गकृताक्षिनिमीलितम् ।
स्मितमुखं सुमुखं वचनाध्वनि स्वजनतोषमपोषयदुद्ध्वनि ॥२९॥
स्वजननीस्तनपानकृताशनं निजरुचोपमितार्कहुताशनम् ।
भजति भोगभुवां शिशुभावनां विजयिनां मिथुनं स्म सुभावनाम् ॥३०॥
स्वतनुवृद्धिमतश्च शनैः शनैः सह कलाभिरिदं च दिने दिने ।
शशिवपुर्यदियाय यथा यथा स्वजनमुज्जलधिश्च[3] तथा तथा ॥३१॥
निखिलखेचरसाधितविद्यया मिथुनमेतदमाद् भवविद्यथा[4] ।
ललितयौवनभाररुचा तथा जनमनोऽस्यहरद् गुणयातया[5] ॥३२॥

इसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक मेघपुर नामका उत्तम नगर है जो अपरिमित वैभवसे युक्त है तथा मणिमयी उत्तम महलोंकी पंक्तिको धारण करता है ॥२५॥ उस मेघपुर नगरका राजा पवनवेग था। पवनवेग शत्रुरूपी मदोन्मत्त हाथियोंको नष्ट करनेके लिए सिंहके समान था। इसकी स्त्री मनोहरी थी। मनोहरी रतिकालमें पतिके मनको हरण करती थी इसलिए वह पवनवेगको रतिके समान प्यारी थी ॥२६॥ राजा सुमुखकी जो वनमाला नामकी हितकारिणी उत्तम स्त्री थी वह इन्हीं दोनोंके मनोरमा नामकी उत्तम पुत्री हुई। मनोरमा अपने पूर्वभवको जानती थी और संसारमें चन्द्रकलाके समान मनको आनन्दित करती थी ॥२७॥ उन दोनोंने जैसी पहले भावना की थी उसीके अनुसार विवाहके योग्य पवित्र कुल प्राप्त किया और उन दोनोंका विधाता सदा समस्त कार्योंमें स्वयं ऐसा ही प्रयत्न करता था कि जिससे उन दोनों शिशुओंका शीघ्र ही समागम हो जाये ॥२८॥ उन दोनों बालक-बालिकाओंका अपने-अपने घर सुखपूर्वक पालन होता था, वे अपनी हथेलियोंसे कभी अपनी आँखें बन्द कर लेते थे, कभी मन्द हास्य करते थे, कभी वचन बोलनेमें तत्पर होते थे, और कभी किलकारियाँ भरते हुए अपने कुटुम्बीजनोंके हर्षको बढ़ाते थे ॥२९॥ और अपनी-अपनी कान्तिसे जो सूर्य तथा अग्निकी उपमा धारण कर रहे थे ऐसे उन दोनों बालिका-बालिकाओंका युगल भोगभूमियाँ बालकोंकी विजययुक्त उत्तम भावनाको प्राप्त हो रहा था अर्थात् वे भोग-भूमियाँ बालकोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥३०॥ चन्द्रमाके समान शरीरको धारण करनेवाला वह युगल प्रतिदिन कलाओंके साथ जिस प्रकार धीरे-धीरे शरीरकी वृद्धिको प्राप्त होता जाता था उसी प्रकार उनके कुटुम्बीजनोंका आनन्दरूपी सागर भी वृद्धिको प्राप्त होता जाता था ॥३१॥ संसारको जाननेवाला वह युगल, जिस प्रकार समस्त विद्याधरोंकी सिद्ध की हुई विद्याओंसे सुशोभित हो रहा था उसी प्रकार अनेक गुणके साथ प्राप्त हुई सुन्दर यौवनकी शोभासे लोगोंके मनको हरण कर रहा था ॥३२॥

---

१. मनोहरा म.। २. विधोचितभावितं ख.। ३. स्वजनहर्षोदधिः। 'जनमनो मुदितं च तथा तथा' ख.। ४. भववेत्ता, यथा। ५. गुणान् याता तया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ तया स खगेन्द्रयुवान्यदा कमलयेव च खेचरकन्यया ।
परमभूतिविवाहविधानतः सममयोजि[1] निजैर्जनतानतः ॥३३॥
अनुबभूव सुखं चिरमेतया मदनभावविलाससमेतया ।
सुरतनाटकभूमिविनीतया मदननर्त्तकसूरिविनीतया ॥३४॥
सुरवधूवरसुन्दरकन्दरे परमवल्लभया सह मन्दरे ।
सुरभिदेवतरून्नतचन्दने चिरमरंस्त तया सह नन्दने ॥३५॥
स कुलशैलसरःसरितां तया सह तटेषु सरागमतान्तया[2] ।
रतिमवाप कदाचन कान्तया तरुषु भोगभुवामपि कान्तया ॥३६॥
स्थितिमितं विजयार्द्धगिरौ पुरे रणितदिव्यवधूपदनूपुरे ।
भुवि यदन्यसुदुर्लभमर्थितं भजति तत्तदयत्नसमर्पितम्[3] ॥३७॥
अथ स वीरक ईश्वरवञ्चितः प्रियतमाविरहार्त्तशिवं चितः ।
क्वचिदियाय शुचा मृदुपल्लवे शिशिरतल्पतलेऽस्तविपल्लवे ॥३८॥
न समशीशमदस्य शशी करैः हृदयदाहममा हिमशीकरैः ।
निशि सदा विहगस्य वियोगिनः[5] ससरसो[6]ऽपि यथा भुवि योगिनः ॥३९॥
स विनिगृह्य चिराद्विरहव्यथां रतिरहस्यगृहाश्रममाश्रमम् ।
जिननिदेशितमास्तवान्[7] वशी स हि परं शरणं शरणार्थिनाम् ॥४०॥

तदनन्तर जनसमूहके द्वारा नमस्कृत उस विद्याधर युवाको, उसके कुटुम्बीजनोंने वैभव पूर्ण विवाहकी विधिसे लक्ष्मीकी तुलना करनेवाली विद्याधर-कन्या मनोरमाके साथ युक्त किया ॥३३॥ विवाहके बाद कुमार आर्य, कामजनित हाव-भावोंसे सहित कामदेवरूपी नर्तकाचार्यके द्वारा शिक्षित एवं सुरतरूपी नाटककी रंगभूमिमें लायी हुई इस मनोरमाके साथ सुखका उपभोग करने लगा ॥३४॥ कभी वह देव दम्पतियोंसे सुन्दर कन्दराओंसे युक्त मन्दर गिरिपर इस परम वल्लभाके साथ क्रीड़ा करता था तो कभी सुगन्धित देवदारु और चन्दनके ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे सुशोभित नन्दन वनमें इसके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहता था ॥३५॥ कभी वह कुलाचलोंके पद्म आदि सरोवरों और गंगा आदि महानदियोंके तटोंपर तथा कभी भोगभूमिके वृक्षोंके नीचे खेदरहित सुन्दरी वल्लभाके साथ राग-सहित रति-क्रीड़ाको प्राप्त होता था ॥३६॥ इस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर रहनेवाला वह युगल, दिव्य स्त्रियोंके पदनूपुरोंकी झनकारसे युक्त अपने नगरमें उस सुखका उपभोग करता था जो पृथिवीपर दूसरे मनुष्योंके लिए इच्छा करनेपर भी दुर्लभ था और उसे बिना ही प्रयत्नके प्राप्त था ॥३७॥

अथानन्तर—राजा सुमुखके द्वारा ठगा हुआ वीरक सेठ, प्रियतमा—वनमालाके विरहमें शोकके कारण कहीं भी हृदयको शान्तिको प्राप्त नहीं होता था। यहाँ तक कि जिसपर विपत्तिका एक अंश भी नहीं था ऐसे कोमल-पल्लवोंसे रची हुई शीतल शय्यापर भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता था ॥३८॥ वह विरह-ज्वाला शान्त करनेके लिए रात्रिके समय खुली चाँदनीमें सरोवरके तटपर जा बैठता था पर वहाँपर भी चन्द्रमा बर्फके कणोंके साथ-साथ अपनी किरणोंसे उसके हृदयकी दाहको शान्त नहीं कर पाता था। वह विरही चक्रवाक पक्षीके समान सदा विरहकी दाहमें झुलसता ही रहता था ॥३९॥ तदनन्तर उस वीरकने चिरकाल बाद विरहकी व्यथाको

१. नृपतिना समयोजि विधानतः ङ । २. सरागम् अतान्तया इति च्छेदः । अतान्तया = अश्रान्तया इति घपुस्तके टिप्पणम् । ३. तत्तदयत्नसमर्पितम् ङ. । ४. न्नसिर्वचितः म., चितो हृदयस्य शिवं सुखं न इयाय । ५. नियोगिनः म. । ६. सुसरसोऽपि म. । सरोवरसहितस्यापि । ७. -माश्रितवान् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिवितप्य तपस्तनुशोषणं विषयलुब्धमनोभवपेषणम् ।
अगमदेशसुखाम्बुधिपोषणं प्रथमकल्पमथामरतोषणम् ॥४१॥
सुरवधूनिवहादिपरिग्रहः सकलभूषणभूषितविग्रहः ।
सुरसुखामृतसागरसंगतः सममतिष्ठत भावरसं गतः ॥४२॥
दिवि कदाचिदसौ वरकामिनीनिवहमध्यगतोऽवधिगोचरम् ।
समनयद्वनितां वनमालिकां परिचितः प्रणयः खलु दुस्त्यजः ॥४३॥
सुमुखराजकृतं च पराभवं स परिचिन्त्य सुरस्तदनन्तरम् ।
विषमितोन्मिषितावधिचक्षुषा[1] मिथुनमैक्षत खेचरयोस्तयोः ॥४४॥
प्रभुतया प्रविधाय पराभवं परभवे[2] हृतवांश्च मम प्रियाम् ।
इह भवेऽपि तयैव सहेक्ष्यते रतिमितः स परां सुमुखः खलः ॥४५॥
कृतवतोऽपकृतिं विषमां द्विषो द्विगुणिता यदि सा न विधीयते ।
प्रभुतया किमनर्थिकया प्रभोः प्रभवतोऽपि निरुद्यमचेतसः ॥४६॥
इति विचिन्त्य रुषा कलुषीकृतः प्रतिविधानकृतौ कृतनिश्चयः ।
भुवमवातरदाशु स वैरधीस्त्रिदिवतो दिवसाधिपभास्वरः ॥४७॥
स खलु खेचरराजसुतं सुरः सुमुखराजचरं खचरीसखम् ।
प्रविलसंतमवाप यदृच्छया सुहरिवर्षगतं हरिविभ्रमम् ॥४८॥

रोककर रतिरूप रहस्यसे युक्त गृहस्थाश्रमको छोड़ दिया और जितेन्द्रिय हो जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा प्रदर्शित आश्रमकी शरण ली अर्थात् दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली, सो ठीक ही है क्योंकि शरणकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके लिए वह ही सर्वोत्तम शरण है ॥४०॥ दीक्षा लेकर उसने शरीरको सुखा देनेवाला एवं विषयके लोभी कामदेवको पीस देनेवाला कठिन तप किया जिसके फलस्वरूप वह सुखरूपी सागरको पुष्ट करनेवाले एवं देवोंके सन्तोषदायक प्रथम स्वर्गको प्राप्त हुआ ॥४१॥ वहाँ देवांगनाओंके समूहको आदि लेकर अनेक प्रकारका परिग्रह जिसे प्राप्त था, सब प्रकारके आभूषणोंसे जिसका शरीर सुशोभित था और जो देवोंके सुखरूपी अमृतके सागरमें निमग्न था ऐसा वह देव अनेक भावों और रसोंको प्राप्त होता हुआ वहाँ सुखसे रहने लगा ॥४२॥

कदाचित् वह देव स्वर्गमें उत्तमोत्तम स्त्रियोंके बीच बैठा था कि उसने अचानक ही अपनी पूर्वभवकी स्त्री वनमालाको अवधिज्ञानका विषय बनाया अर्थात् अवधिज्ञानके द्वारा उसका विचार किया सो ठीक ही है क्योंकि परिचित—अनुभूत स्नेह बड़ी कठिनाईसे छूटता है ॥४३॥ विचार करते ही उसे सुमुख राजाके द्वारा किया हुआ पराभव स्मृत हो गया। तदनन्तर एक बार निमीलित कर उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रको पुनः खोला तो विद्याधर और विद्याधरीका वह युगल सामने दिखने लगा ॥४४॥ वह विचार करने लगा कि देखो जिस दुष्ट सुमुखने पूर्वभवमें प्रभुतावश तिरस्कार कर हमारी स्त्रीका हरण किया था वह इस भवमें भी उसी स्त्रीके साथ परम रतिको प्राप्त हुआ दिखाई दे रहा है ॥४५॥ यदि विषम अपकार करनेवाले शत्रुका दूना अपकार नहीं किया तो समर्थ होनेपर भी निरुद्यम चित्तके धारक प्रभुकी निरर्थक प्रभुतासे क्या लाभ है ? ॥४६॥ ऐसा विचारकर क्रोधसे जिसका चित्त कलुषित हो रहा था, तथा बदला लेनेका जिसने दृढ़ निश्चय कर लिया था ऐसा वह सूर्यके समान देदीप्यमान देव पूर्व वैरको बुद्धिमें रख शीघ्र ही स्वर्गसे पृथिवीपर उतरा ॥४७॥ उस समय राजा सुमुखका जीव आर्य नामका विद्याधर, अपनी विद्याधरीके साथ हरिवर्ष क्षेत्रमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता हुआ इन्द्रके समान सुशोभित

१. चक्षुषः म. । २. हृतवांश्च म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदवलोक्य सुरो मिथुनं वरं प्रथमयौवननिर्भरविग्रहम् ।
अकृत खण्डितविद्यमखण्डया सहजखण्डतया सुरमायया ॥४९॥
परवधूप्रिय वीरकवैरिणं स्मरसि किं सुमुख प्रमुखाधुना ।
त्वमपि किं सुखले वनमालिके ! स्खलितशीलमरे ! परजन्मनि ॥५०॥
अहमसौ तपसा सुरतामितः खचरतां मुनिदानफलाद् युवाम् ।
अरतिमेव ममारतिदायिनोः क्षपितविद्यकयोः प्रददामि वाम् ॥५१॥
इति निगद्य तदा विबुधः खगौ चकितकम्पितचित्तशरीरकौ ।
गरुडवत्परिगृह्य खमुद्ययौ भरतवर्षवरं प्रति दक्षिणम् ॥५२॥
[2]मृतवतामृतदीधितिकीर्त्तिना रहितयाऽनृपया वरचम्पया ।
स तमयोजयदत्र महीपतिं प्रणतराजकमैक्ष्य दिवं सुरः ॥५३॥
त्रिदशखण्डितविद्यकदम्पती क्षपितपक्षशकुन्तवदक्षमौ ।
वियति पर्यटितुं त्रुटितेच्छकौ सह समीयतुरत्र धृतिं क्षितौ ॥५४॥
नवतिकार्मुकपूर्वसुलक्षितस्थितिमतो दशमस्य मुनेरिदम् ।
समधिकाब्धिशतोज्झितकोटिके वहति तीर्थपथेऽकथि वृत्तकम् ॥५५॥
स बुभुजे भुजदण्डवशीकृतप्रणतपार्थिवमानितशासनः ।
विषयसौख्यमखण्डितरागया सुचिरकालमतृप्तमतिस्तया ॥५६॥
अथ तयोस्तनयो हरिरित्यभूद्धरिरिवं[3] प्रथितः पृथिवीपतिः ।
समनुभूय सुतश्रियमूर्जितां स्वचरितोचितलोकमितौ च तौ ॥५७॥

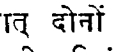
हो रहा था सो उस देवने उसे प्राप्त किया ॥४८॥ नव यौवनसे जिसका शरीर भरा हुआ था ऐसे उस विद्याधर दम्पतीको देखकर देवने अपनी स्वाभाविक अखण्ड मायासे उसे खण्डितविद्य कर दिया अर्थात् उसकी विद्याएँ हर लीं ॥४९॥ और क्रुद्ध होकर उससे कहा कि अरे ! पर-स्त्रीको हरनेवाले प्रमुख सुमुख ! क्या तुझे इस समय अपने वीरक वैरीका स्मरण है और परजन्मसे शीलव्रतको खण्डित करनेवाली दुष्ट वनमाला ! तुझे भी वीरककी याद है ? ॥५०॥ मैं तप कर देव हुआ हूँ और तुम दोनों मुनिदानके फलसे विद्याधर हुए हो । तुम दोनोंने पूर्वभवमें मुझे दुःख दिया था इसलिए मैं भी तुम्हारी विद्याएँ नष्ट कर तुम्हें दुःख देता हूँ ॥५१॥ इस प्रकार कहकर वह देव, जिस प्रकार पक्षियोंको गरुड़ उठा ले जाता है उसी प्रकार आश्चर्यसे चकित चित्त एवं भयसे कम्पित शरीरको धारण करनेवाले दोनों—विद्याधर और विद्याधरीको उठाकर दक्षिण भरत क्षेत्रकी ओर आकाशमें उड़ गया ॥५२॥ उस समय चम्पापुरीका राजा चन्द्रकीर्ति मर चुका था इसलिए वह राजासे रहित थी । वह देव आर्य विद्याधरको यहाँ ले आया और उसे चम्पापुरीका अनेक राजाओंके द्वारा नमस्कृत राजा बनाकर स्वर्ग चला गया ॥५३॥ देव द्वारा जिनकी विद्याएँ खण्डित कर दी गयी थीं ऐसे वे दोनों विद्याधर दम्पती, पंख कटे पक्षियोंके समान आकाशमें चलनेको असमर्थ हो गये इसलिए उसकी इच्छा छोड़ पृथिवीमें ही सन्तोषको प्राप्त हुए ॥५४॥ यह वृत्तान्त नब्बे धनुष ऊँचे शरीर और एक लाख पूर्वकी स्थितिको धारण करनेवाले दशवें शीतलनाथ भगवान्के तीर्थमें हुआ था । उस समय उनका तीर्थ कुछ अधिक सौ सागर कम एक करोड़ सागर प्रमाण चल रहा था ॥५५॥ राजा आर्यने अपने भुजदण्डसे समस्त राजाओंको वश कर नम्रीभूत एवं आज्ञाकारी बनाया और अखण्डित प्रेमवाली मनोरमाके साथ चिरकाल तक विषय-सुखका उपभोग किया फिर भी तृप्त नहीं हुआ ॥५६॥ तदनन्तर उन दोनोंके हरि नामका पुत्र हुआ जो

१. निर्जर म. । २. मृतेन चन्द्रकीर्तिना राज्ञा । ३. इन्द्रसदृशः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिरयं प्रभवः प्रथमोऽभवत्सुयशसो हरिवंशकुलोद्गते ।
जगति यस्य सुनामपरिग्रहाच्चरति भो हरिवंश इति श्रुतिः ॥५८॥
अभवदस्य महागिरिरङ्गजो हिमगिरिस्तनयः सुनयस्ततः ।
वसुगिरिश्च ततो गिरिरित्यमी त्रिदिवमोक्षयुजस्तु यथायथम् ॥५९॥
शतमखप्रतिमाः शतशस्ततः क्षितिभृतो हरिवंशविशेषकाः ॥
क्रमधृताधिकराज्यतपोधुराः शिवपदं ययुरत्र दिवं परे ॥६०॥
व्यपगतेषु नृपेषु बहुष्वतः क्षितिपतिर्मगधाधिपतिः क्रमात् ।
इह बभूव हरिप्रभवान्वये कुशलधामकुशाग्रपुराधिपः ॥६१॥
स हि सुमित्र इति श्रुतनामकः श्रुतविशेषविभूषितपौरुषः ।
अनुशशास भुवं सह पद्मया श्रितसुखः प्रियया जिनभक्तया ॥६२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ हरिवंशोत्पत्तिवर्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।



इन्द्रके समान प्रसिद्ध राजा हुआ। राजा आर्य और रानी मनोरमाने चिरकाल तक पुत्रकी विशाल लक्ष्मीका अनुभव किया तत्पश्चात् दोनों अपने-अपने कर्मोंके अनुसार परलोकको प्राप्त हुए ॥५७॥ यही राजा हरि, परम यशस्वी हरिवंशकी उत्पत्तिका प्रथम कारण था। जगत्में इसीके नामसे हरिवंश इस नामको प्रसिद्धि हुई ॥५८॥ राजा हरिके महागिरि नामका पुत्र हुआ। महागिरिके उत्तम नीतिका पालक हिमगिरि पुत्र हुआ। हिमगिरिके वसुगिरि और वसुगिरिके गिरि नामका पुत्र हुआ। ये सभी यथायोग्य स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त हुए ॥५९॥ तदनन्तर हरिवंशके तिलकस्वरूप इन्द्रके समान सैकड़ों राजा हुए जो क्रमसे विशाल राज्य और तपका भार धारण कर कुछ तो मोक्ष गये और कुछ स्वर्ग गये ॥६०॥ इस प्रकार क्रमसे बहुत-से राजाओंके होनेपर उसी हरिवंशमें मगध देशका स्वामी राजा सुमित्र हुआ। वह कुशल-मंगलका स्थान तथा कुशाग्रपुर नगरका अधिपति था। उसका पराक्रम शास्त्रोंके विशिष्ट ज्ञानसे विभूषित था। वह अपनी जिनभक्त प्रिया पद्मावतीके साथ सुखका उपभोग करता हुआ चिरकाल तक पृथिवीका शासन करता रहा ॥६१-६२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंश पुराणमें हरिवंशकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षोडशः सर्गः

वसन्ततिलकावृत्तम्

श्रीशीतलादिह परेषु जिनेषु पश्चात् तीर्थं प्रवर्त्य भरते जगतां हितार्थम् ।
कालक्रमेण नवसु श्रितवत्सु मोक्षं स्वर्गादिहैष्यति जिनाधिपतौ च विंशे ॥१॥
शक्राज्ञया प्रतिदिनं वसुधारयोच्चैरापूरयत्यवनिपस्य गृहं कुबेरः ।
पद्मावती मृदुतले शयने शयाना स्वप्नान् ददर्श दश षट् च निशावसाने ॥२॥
नागोक्षसिंहकमलाकुसुमस्रगिन्दुबालार्कमत्स्यकलशाब्जसरोऽम्बुराशीन् ।
सिंहासनामरविमानफणीन्द्रगेहसद्रत्नराशिशिखिनो जिनसूरपश्यत् ॥३॥
सोपासिता पवनवस्युपमाव्यतीतदिव्यप्रभावदिगभिख्यकुमारिकाभिः ।
शय्यातले सकुसुमे शुशुभे विबुद्धा लेखा यथा नभसि तारकिता हिमांशोः ॥४॥
उन्निद्रपद्मनयनाननपाणिपादा सा रागिणी दिनमुखेऽधिपतिं सुमित्रम् ।
भद्रासनोदयगतं स्थलपद्मिनीव पद्मावती समुदियाय सपुण्डरीका ॥५॥
चित्राम्बराम्बुरमनागरणिर्नातिमञ्जुमञ्जीरसिञ्जितविहङ्गनिनादरम्या ।
मीनेक्षणा त्रिवलिभङ्गतरङ्गिणी सा स्त्रीवाहिनी समगमद् वरवाहिनीशम् ॥६॥
पीनस्तनस्तवकभारनताङ्गयष्टिराताम्रपल्लवकरा मृदुबाहुशाखा ।
संचारिणी मणिविभूषणमृन्महीशकल्पद्रुमं युवतिकल्पलता ननाम ॥७॥

अथानन्तर श्रीशीतलनाथ भगवान्के पश्चात् जब कालक्रमसे नौ तीर्थंकर भरत क्षेत्रमें जगत्के जीवोंके हितार्थ धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति कर मोक्ष चले गये और बीसवें तीर्थंकर स्वर्गसे अवतार लेनेके सन्मुख हुए तब इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर प्रतिदिन राजा सुमित्रके घरको रत्नोंकी उत्कृष्ट धारासे भरने लगा। कदाचित् कोमल शय्यापर शयन करनेवाली रानी पद्मावतीने रात्रिके अन्तिम समय १ गज, २ वृषभ, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ पुष्पमाला, ६ चन्द्रमा, ७ बालसूर्य, ८ मत्स्य, ९ कलश, १० कमलसरोवर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देवविमान, १४ नागेन्द्रभवन, १५ रत्नराशि और १६ अग्नि ये सोलह स्वप्न देखे ॥१-३॥ उपमारहित एवं दिव्य प्रभावको धारण करनेवाली निन्यानबे दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित जिनमाता पद्मावती जब जागकर फूलोंकी शय्यापर बैठी तब ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशमें ताराओंसे घिरी हुई चन्द्रमाकी लेखा ही हो ॥४॥ तदनन्तर जिसके नेत्र, मुख, हाथ और पैर फूले हुए कमलके समान थे, जो अनुरागसे युक्त थी, हर्षसे सहित थी और हाथमें सफेद कमल धारण कर रही थी ऐसी रानी पद्मावती प्रातःकालके समय ऊँचे सिंहासनपर विराजमान राजा सुमित्रके पास गयी सो ऐसी जान पड़ती थी मानो अनेक कमलोंसे सुशोभित, लालिमायुक्त स्थल-कमलिनी ही उदयाचलपर स्थित सुमित्र—सूर्यके पास जा रही हो ॥५॥ जो नाना प्रकारके वस्त्ररूपी जलसे युक्त थी, अत्यधिक रुन-झुन करनेवाले अतिशय सुन्दर नूपुरोंकी झनकाररूपी पक्षियोंकी कल-कल ध्वनिसे मनोहर थी, मछलियोंके समान नेत्रोंसे सहित थी और त्रिवलिरूपी तरंगोंसे सुशोभित थी ऐसी वह स्त्रीरूपी नदी राजा सुमित्ररूपी समुद्रके पास गयी यह उचित ही था ॥६॥ उस समय मणिमय

---

१. तीर्थङ्करजननी । २. सुमित्राख्यं नृपं, सूर्यं च । ३. चित्राण्यम्बराण्येवाम्बु यस्यां सा । ४. उत्तमसेनाध्यक्षं पक्षे उत्तमनदीपतिम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसीनयाऽऽसनवरे स तया समीपे स्वप्नावलीफलमिलाधिपतिः प्रपृष्टः ।
तस्यै जगौ जिनपतेर्जगतां त्रयस्य भर्तुर्गुरू[1] लघु[2] भवाव इति प्रहृष्टः ॥८॥
स्पृष्टा [3]नृपोक्तिकरणमालिवचोमयूखैः सा तोषपोषभृशहृष्टतनूरुहाऽभात् ।
स्त्रैणं निकृष्टमपि तीर्थकृतो गुरुत्वान् मत्वा प्रशस्तमिति विस्तृतपक्षिनीव ॥९॥
आरात्सहस्रपदपूर्वपदादुदारादाराद्गमत्सुरसहस्रगणोऽवतीर्य ।
मासानुवास नव गर्भगृहे प्रशुद्धे सार्धाष्टमार्ह[4]गणनान् मुनिसुव्रतोऽस्याः ॥१०॥
आनीलचूचुकविपाण्डुपयोधरश्रीः सा वज्रसंहतिसगर्भतया स्फुरन्ती ।
विद्युत्प्रभाभरणबृंहितभा बभासे वर्षाशरत्समयसन्धियुता यथा द्यौः ॥११॥
सासूत सूतिसमयेन्द्रमहे च माघपक्षेऽसिते जनमनोनयनोत्सवं तम् ।
द्वादश्यभीप्सि[5]ततिथौ श्रवणेऽश्रमेण स्त्रीद्यौरनद्यरहिता जिनपूर्णचन्द्रम् ॥१२॥

आभूषणोंको धारण करनेवाली रानी पद्मावती चलती-फिरती कल्पलताके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार कल्पलता गुच्छोंके भारसे नम्रीभूत होती है उसी प्रकार उसकी अंगयष्टि भी स्थूल स्तनरूपी गुच्छोंसे नम्रीभूत थी, जिस प्रकार कल्पलता लाल-लाल पल्लवोंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह भी लाल-लाल हथेलियोंसे युक्त थी और जिस प्रकार कल्पलता कोमल शाखाओंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह भी कोमल भुजाओंसे युक्त थी। इस प्रकार रानी पद्मावतीरूपी कल्पलताने राजा सुमित्ररूपी कल्पवृक्षको नमस्कार किया ॥७॥ पास ही में उत्तम आसनपर बैठी रानी पद्मावतीने जब राजासे स्वप्नावलीका फल पूछा तब उन्होंने हर्षित होते हुए कहा कि हम दोनों शीघ्र ही तीनों जगत्के स्वामी जिनेन्द्र भगवान्के माता-पिता होंगे ॥८॥ इस प्रकार राजारूपी सूर्यकी वचन किरणोंसे स्पर्शको प्राप्त हुई रानी पद्मावतीके शरीरमें हर्षातिरेकसे रोमांच निकल आये और वह फूली हुई कमलिनीके समान सुशोभित होने लगी। वह पहले जिस स्त्रीपर्यायको निकृष्ट समझती थी उसे ही अब तीर्थंकरकी माता होनेके कारण श्रेष्ठ समझने लगी ॥९॥ जिन्हें हजारों देवोंके समूह दूरसे ही नमस्कार करते थे ऐसे भगवान् मुनिसुव्रतने सहस्रार नामक उत्कृष्ट स्वर्गसे अवतीर्ण होकर माता पद्मावतीके विशुद्ध गर्भ-गृहमें नौ माह साढ़े आठ दिन निवास किया ॥१०॥ उस समय माता पद्मावती, वर्षा और शरद्ऋतुके सन्धिकालसे युक्त आकाशके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार वर्षा और शरद्के सन्धिकालका आकाश कुछ काले और कुछ सफेद पयोधरों—मेघोंसे युक्त होता है उसी प्रकार पद्मावती भी नीली चूचुकसे युक्त सफेद पयोधरों—स्तनोंसे युक्त थी। जिस प्रकार वर्षा और शरद्के सन्धिकालका आकाश वज्रसमूह—वज्रके समूहसे गर्भित होनेके कारण देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार पद्मावती भी वज्रवृषभ संहननके धारक भगवान्के गर्भमें स्थित होनेसे देदीप्यमान हो रही थी और जिस प्रकार वर्षा तथा शरद्के सन्धिकालका आकाश विद्युत्प्रभाभरणबृंहितभा—बिजलीकी प्रभाको धारण करनेसे कान्तियुक्त होता है उसी प्रकार माता पद्मावती भी विद्युत्प्रभाभरणबृंहितभा—बिजलीके समान देदीप्यमान आभूषणोंसे बढ़ी हुई कान्तिसे युक्त थी ॥११॥

तदनन्तर पाप (पक्षमें कलंक) से रहित रानी पद्मावतीरूप आकाशने प्रसूतिके योग्य समय आनेपर इन्द्रमह उत्सवके दिन माघ कृष्ण द्वादशीकी शुभ तिथिमें जबकि श्रवण नक्षत्र था बिना किसी श्रमके, मनुष्योंके मन और नेत्रोंको आनन्द देनेवाले जिनेन्द्ररूपी पूर्णचन्द्रको

१. मातापितरौ । २ शीघ्रम् । ३. नृपसूर्यवचनकिरणैः । ४. सार्धाष्टमीत ख. (?) । सार्धाष्टमाह क., ङ. (?) । अष्टदिनसहितान्नवमासान् (क. टि.) । ५. -भीक्षित -म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातेन तेन शुभलक्षणचर्चितेन पद्मावती प्रमुदिता मुनिसुव्रतेन ।
सा रूढरागशिखिकण्ठरुचा चकासे स्निग्धेन्द्रनीलमणिनाकरभूरिवैका ॥१३॥
आकम्पितासनतिरीटजगत्त्रयेन्द्राः सद्यःप्रयुक्तविशदावधयोऽधिगम्य ।
चेलुः सुरा जिनसमुद्भवमद्भुतोच्चैर्घण्टामृगेट्पटहशङ्खरवैश्च शेषाः ॥१४॥
गन्धाम्बुवर्षमृदुमारुतपुष्पवृष्टिसंपूरिताखिलजगद्वलयाः समन्तात् ।
आगत्य चाशु सुकृतोज्ज्वलभूषवेषाः शक्रादयः पुरुकुशाग्रपुरं परीयुः ॥१५॥
नत्वा जिनं जिनगुरुं च सुरासुराश्च तज्जातकर्मणि कृते सुरकन्यकाभिः ।
ऐरावतं तमधिरोप्य महाविभूत्या गत्वा परीत्य गिरिराजमधित्यकायाम् ॥१६॥
संस्थाप्य पाण्डुकशिलातलमस्तके तं सिंहासने सुपयसोद्भवपयःपयोधेः ।
भूत्याभिषिच्य कृतभूषमभिष्टवैस्ते स्तुत्वाऽभिधाय मुनिसुव्रतनामधेयम् ॥१७॥
आनीय नीतिकुशलाः जननीशुभाङ्कमारोप्य नाटकविधिं प्रविधाय देवाः ।
नत्वा ययुः शतमखप्रमुखा यथास्वमानन्दितत्रिभुवनं सगुरुं जिनं ते ॥१८॥
ज्ञानत्रयं सहजनेत्रमुदारनेत्रो बिभ्रज्जिनः सुरकुमारकसेव्यमानः ।
कालानुरूपकृतसर्वकुबेरयोगक्षेमो ययावपचनस्य गुणस्य वृद्धिम् ॥१९॥

उत्पन्न किया ॥१२॥ जिस प्रकार इन्द्रनीलमणिसे खानकी भूमि सुशोभित होती है उसी प्रकार शुभ लक्षणोंसे युक्त एवं लाली सहित नीलकण्ठ—मयूरकी कान्तिको धारण करनेवाले मुनिसुव्रत भगवान्‌से हर्षित पद्मावती सुशोभित हो रही थी ॥१३॥ उस समय तीनों जगत्‌के इन्द्रोंके आसन और मुकुट कम्पायमान हो गये थे जिससे तत्काल ही अवधिज्ञानका प्रयोग कर उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्मका समाचार जान लिया था और शेष देवोंने अत्यन्त आश्चर्य तथा जोरके साथ होनेवाली घण्टाध्वनि, सिंहध्वनि, पटहध्वनि और शंखध्वनिसे जिनेन्द्र-जन्मका निश्चय कर लिया था। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌का जन्म जानकर समस्त इन्द्र और देव जन्मोत्सवके लिए चले ॥१४॥ सुगन्धित जल, मन्द वायु और पुष्पोंकी वर्षासे जिन्होंने समस्त जगत्‌को भर दिया था तथा जिन्होंने उत्तमोत्तम देदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित वेष धारण किया था ऐसे इन्द्र आदि देवोंने सब ओरसे शीघ्र आकर विशाल कुशाग्रपुरकी प्रदक्षिणाएँ दीं ॥१५॥ तत्पश्चात् समस्त सुर-असुर देवोंने जिनेन्द्र भगवान् और उनके माता-पिताको नमस्कार किया, देव-कन्याओंने जातकर्म किया और उसके बाद समस्त देव जिनेन्द्र भगवान्‌को ऐरावत हाथीपर बैठाकर बड़े वैभवके साथ सुमेरु पर्वतपर ले गये। वहाँ प्रथम ही उन्होंने मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणाएँ दीं फिर उसके ऊर्ध्वभागपर बनी पाण्डुक शिलाके ऊपर स्थित सिंहासनपर जिनेन्द्र भगवान्‌को विराजमान किया। वहाँ क्षीर सागरके उत्तम जलसे महाविभूतिके साथ उनका जन्माभिषेक किया, नाना प्रकारके स्तोत्रोंसे स्तुति की, मुनिसुव्रत नाम रखा। तदनन्तर नीति-निपुण देवोंने भगवान्‌को ला माताकी शुभ गोदमें विराजमान कर आनन्द नाटक किया। तत्पश्चात् इन्द्रादि देव, त्रिभुवनको आनन्दित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् और उनके माता-पिताको नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१६-१८॥ जो स्वयं विशाल नेत्रोंसे युक्त थे, तीन ज्ञानरूपी सहज नेत्रोंको धारण करनेवाले थे, देवकुमार जिनकी निरन्तर सेवा करते थे और समय-समयके अनुरूप कुबेर जिनके योग-क्षेमका ध्यान रखता था—सब सुख-सामग्री समर्पित करता था ऐसे भगवान् मुनिसुव्रत शरीर और गुणों-की वृद्धिको प्राप्त होने लगे। भावार्थ—जैसे-जैसे उनका शरीर बढ़ता जाता था वैसे-वैसे ही उनके

१. सा रागरूढ -म.। २. मृगे पटह -म.। ३. गत्वाम्बुवर्षमृदुमारुतपुष्पवृष्टि म.। ४. जिनमातापितरौ। ५. शरीरस्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रम्याङ्गनाश्च कुलशैलसमुद्भवास्तमाद्यन्तमध्यसततोदयां युवानम् ।
लावण्यवाहिनमवाप्य विवाहपूर्वं नद्यः समुद्रमिव संवरयांबभूवुः ॥२०॥
राज्यस्थितः स हरिवंशमरीचिमाली राजा प्रजाकमलिनीहितलोकपालः ।
राजाधिराजसुरसेवितपादपद्मो भेजे चिरं विषयसौख्यमखण्डिताज्ञः ॥२१॥
प्राप्ता कदाचिदथ तं शरदम्बुजास्या[1] बन्धूकबन्धुरतयाधरपल्लवश्रीः ।
काशाच्छचामरकरा विशदाम्बुवस्त्रा वर्षावधूव्यतिगमे स्ववधूरिवैका ॥२२॥
अन्तर्दधे धवलगोकुलघोषघोषैर्मेघावली लघुविधूतरवेव धूम्रा ।
मेघावरोधपरिमुक्तदिशासु सूर्यः पादप्रसारणसुखं श्रितवांश्चिरेण ॥२३॥
रोधोनितम्बगलदम्बुविचित्रवस्त्राः सावर्त्तनाभिसुभगाश्चलमीननेत्राः ।
फेनावलीवलयवीचिविलासबाहाः क्रीडासु जह्रु रवलासरितोऽस्य चित्तम् ॥२४॥
ऊर्मिभ्रुवश्चटुलनेत्रशफर्यपाङ्गाः मत्तद्विरेफकलहंसनिनादरम्याः ।
फुल्लारविन्दमकरन्दरजोऽङ्गरागा रागं रतौ विदधुरस्य वधूसरस्यः ॥२५॥

गुण बढ़ते जाते थे ॥१९॥ जिस प्रकार कुलाचलोंसे उत्पन्न, आदि, मध्य और अन्तमें समान रूपसे बहनेवाली नदियां लवण समुद्रको प्राप्त कर वरती हैं उसी प्रकार उत्तम कुलरूपी पर्वतोंसे उत्पन्न, बालक, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओंमें निरन्तर अभ्युदयको धारण करनेवाली सुन्दर स्त्रियोंने सौन्दर्यके धारक युवा मुनिसुव्रतनाथको प्राप्त कर विवाहपूर्वक वरा था ॥२०॥

तदनन्तर जो राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ थे, हरिवंशरूपी आकाशके मानो सूर्य थे, प्रजारूपी कमलिनीका हित करनेके लिए सूर्यस्वरूप थे, राजा, महाराजा और देव जिनके चरणकमलोंकी सेवा करते थे तथा जो अखण्ड आज्ञाके धारक थे ऐसे राजा मुनिसुव्रतनाथने चिरकाल तक विषय-सुखका उपभोग किया ॥२१॥ अथानन्तर किसी समय शरद्-ऋतु आयी सो वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वर्षारूपी स्त्रीके चले जानेपर एक दूसरी अपनी ही स्त्री आयी हो अर्थात् वह शरदृऋतु स्त्रीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्री कमलके समान मुखसे युक्त होती है उसी प्रकार वह शरदृऋतु भी कमलरूपी मुखसे सहित थी, जिस प्रकार स्त्री लाल-लाल अधरोष्ठसे युक्त होती है उसी प्रकार वह शरदृऋतु भी बन्धूकके लाल-लाल फूलरूपी अधरोष्ठसे युक्त थी, जिस प्रकार स्त्री हाथमें चामर लिये रहती है उसी प्रकार वह शरदृऋतु भी काशके फूलरूपी स्वच्छ चामर हाथमें लिये थी और जिस प्रकार स्त्री उज्ज्वल वस्त्रोंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह शरद् भी उज्ज्वल मेघरूपी वस्त्रोंसे युक्त थी ॥२२॥ जिसने शीघ्र ही अपना शब्द बन्द कर दिया था ऐसी धूमिल मेघमाला, सफेद-सफेद गायोंके समूहसे युक्त अहीरोंकी बस्ती के जोरदार शब्द सुनकर ही मानो अन्तर्हित हो गयी थी और मेघोंके आवरणसे रहित दिशाओंमें सूर्य चिरकालके बाद पाद—पाँवों (पक्षमें किरणों) के फैलानेका सुख प्राप्त कर सका था ॥२३॥ जिनके तटरूपी नितम्बसे जलरूपी चित्र-विचित्र वस्त्र नीचे खिसक गये थे, जो भँवररूपी नाभिसे सुन्दर थीं, मीनरूपी चंचल नेत्रोंसे युक्त थीं और फेनावलीरूपी चूड़ियोंसे युक्त तरंगरूपी चंचल भुजाओंसे सहित थीं ऐसी नदीरूपी स्त्रियाँ क्रीड़ाओंके समय इनका हृदय हरने लगीं ॥२४॥ ऊर्मियाँ ही जिनकी भौंहें थीं, मछलियाँ ही जिनके चंचल कटाक्ष थे, जो मदोन्मत्त भौंरों और कलहंसोंके शब्दसे मनोहर थीं और फूले हुए कमलोंका मकरन्द सम्बन्धी पराग ही जिनका अंगराग था ऐसी सरसी-रूपी स्त्रियाँ क्रीड़ाके समय इनके रागको उत्पन्न कर रही थीं ॥२५॥

---

१. शरदम्बुजाक्षा म.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नम्रो भृशं फलभरेण सुगन्धिशालिः शालेयजा च विकचोत्पलजातिरुत्था ।
सौभाग्यगन्धवशवर्त्तितयाङ्गमङ्गमासाद्य जिघ्रतुरिवास्यमजस्रमेतौ ॥२६॥
धूलीः[1] कदम्बमदधूलिगताङ्गरागाधाराः कदम्बमधुनो विधुराः स्मरन्तः ।
माद्यद्द्विपेन्द्रमदगन्धिषु षट्पदौघाः सप्तच्छदेषु विततेषु रतिं वितेनुः[2] ॥२७॥
काले स तत्र मुनिसुव्रतराजहंसः कैलासशैलसदृशे स्थितवान् सुसौधे ।
लीलावधूतरतिविभ्रमराजहंसीः व्रीडाभयातिरुचिरामरणाः प्रपश्यन् ॥२८॥
पश्यन् दिशः सकलशारदसस्यशोभाः मेघं ददर्श शशिशुभ्रमदभ्रशोभम्[3] ।
व्योमार्णवारमणतृष्णमिवावतीर्णमैरावणं भ्रमणविभ्रमवारणेन्द्रम् ॥२९॥
निःशेषनिर्गलितनीरनिजोत्तरीयमाशावधूविपुलपीनपयोधरं सः ।
प्रोत्तुङ्गपाण्डुपरिणाहिनमम्बरस्य भूषायमाणमवलोक्य तमाप तोषम् ॥३०॥
पश्चात्प्रचण्डतरमारुतवेगघातनिर्मूलितावयवमाशु विलीयमानम् ।
ज्वालोपनीतमिव तं नवनीतपिण्डमालोक्य लोकविभुरित्थमचिन्तयत्सः ॥३१॥
शीर्णः शरज्जलधरः कथमेष शीघ्रमायुःशरीरवपुषां विशरारुतायाः[4] ।
लोकस्य विस्मरणशीलविशीर्णबुद्धेराशूपदेशमिव[5] विश्वगतं वितन्वन् ॥३२॥

फलके भारसे अतिशय झुके हुए सुगन्धित धानके पौधे और धानके खेतोंमें उत्पन्न हुई ऊँची उठी विकसित उत्पलोंकी श्रेणियाँ—दोनों ही सौभाग्य सम्बन्धी हर्षके वशीभूत हो अंगसे-अंग मिलाकर मानो एक दूसरेका मुख ही सूँघ रही थीं ॥२६॥ जिनके शरीरपर विकसित कदम्ब-पुष्पोंकी परागका अंगराज लगा था तथा जो कदम्ब मधुकी धाराओं और धूलिका स्मरण करते हुए दुःखी हो रहे थे ऐसे भ्रमरोंके समूह अब कदम्ब-पुष्पोंका अभाव हो जानेसे मदोन्मत्त गजराजके मद-जैसी गन्धसे युक्त सप्तपर्ण वृक्षोंके लम्बे-चौड़े वनोंमें प्रीति करने लगे ॥२७॥ ऐसी शरद्ऋतुके समय भगवान् मुनिसुव्रतरूपी राजहंस—श्रेष्ठ राजा (पक्षमें राजहंस), लज्जा और भय ही जिनके सुन्दर आभूषण थे तथा जिन्होंने अपनी लीलासे रतिकी शोभाको दूर कर दिया था ऐसी राजहंसियों—श्रेष्ठ रानियों (पक्षमें राजहंसिनियों) को देखते हुए भगवान् मुनिसुव्रतनाथ कैलास पर्वतके समान ऊँचे महलपर विराजमान थे ॥२८॥ शरद्-ऋतुके समस्त धान्योंकी शोभासे युक्त दिशाओंको देखते-देखते उन्होंने एक मेघको देखा। वह मेघ चन्द्रमाके समान सफेद था, अत्यधिक शोभासे युक्त था और आकाशरूपी समुद्रमें क्रीड़ा करनेकी अभिलाषासे अवतीर्ण भ्रमणप्रेमी, गजराज ऐरावतके समान जान पड़ता था ॥२९॥ जिसके ऊपरसे समस्त जलरूपी अपना उत्तरीय वस्त्र नीचे खिसक गया था, जो अतिशय ऊँचा, सफेद एवं विस्तारसे युक्त था, आकाशका आभूषण था, और दिशारूपी स्त्रीके अतिशय स्थूल स्तनके समान जान पड़ता था ऐसे उस मेघको देखकर भगवान् आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥३०॥ कुछ ही समयके पश्चात् अत्यन्त प्रचण्ड वायुके वेगजन्य आघातसे उस मेघके समस्त अवयव नष्ट हो गये और वह ज्वालाओंके समीप रखे हुए नवनीतके पिण्डके समान शीघ्र ही विलीन हो गया, यह देख जगत्के स्वामी भगवान् मुनिसुव्रतनाथ इस प्रकार विचार करने लगे ॥३१॥

अरे ! यह शरद्ऋतुका मेघ इतनी जल्दी कैसे विलीन हो गया ? जान पड़ता है आयु, शरीर और वपुकी क्षणभंगुरताको भुला देनेवाले मनुष्यको व्यापक उपदेश देनेके लिए ही मानो

१. धूलीकदम्बमदधूलिगतां सरागा धारां ख.। २. वितेने म.। ३. अकृशशोभम्। ४. नश्वरतायाः। ५. आशु + उपदेशमिव । आशु शीघ्रमित्यर्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्पप्रमाणपरमाणुसमूहराशिरासंचितः [1]स्वपरिणामवशादसारः ।
कालप्रभञ्जनजवावनिपातमात्रादायुर्घनः[2] प्रलयमत्र लघु[3] प्रयाति ॥३३॥
वज्रात्मसंहननसंहतसंधिबन्धः[4] सत्सन्निवेशनव[5]रम्यशरीरमेघः ।
[6]मोघीभवत्यसुभृतामसमर्थ एष वायुप्रकोपभरमग्नसमस्तगात्रः ॥३४॥
सौभाग्यरूपनवयौवनभूषणस्य भूलोकचित्तनयनामृतवर्षणस्य ।
देहाम्बुदस्य दिनकृत्प्रतिघातिनी स्याच्छायावयःपरिणतिद्रुतवात्ययाऽस्य ॥३५॥
शौर्यप्रभावसुवशीकृतसागरान्तभूराजसिंहचिररक्षितभूमिभागाः ।
सौराज्यभोगगिरयोऽपि विशीर्णशृङ्गाश्चूर्णीभवन्ति समयान्तरवज्रघातैः ॥३६॥
नेत्रं मनश्च भवदत्र कलत्रमिष्टं प्राणैः समं समसुखासुखमित्रपुत्रम् ।
व्येतीह पत्रमिव शुष्कमदृष्टवाताद्देवोऽप्युपैति हि भवे प्रियविप्रयोगम् ॥३७॥
पश्यन्नपि क्षणविभङ्गुरमङ्गभाजामङ्गादिकं स्वयममृत्युभयोऽयमङ्गी ।
मोहान्धकारपिहितागमदृष्टिरिष्टं मार्गं विहाय विषयामिषगर्तमेति ॥३८॥
प्रत्यङ्गमङ्गजमतङ्गजसंगताङ्गः स्वाङ्गैः स्पृशन् प्रियवधूजनगात्रयष्टीः ।
धिक् स्पर्शसौख्यविनिमीलितनेत्रभागो मातङ्गवद् विषमबन्धमियर्त्ति मर्त्यः ॥३९॥
आहारमिष्टमिह षड्रसभेदभिन्नमाहारयन् बहुविधं स्पृहयापदृष्टिः ।
जिह्वावशो दलितशङ्कुविलग्नमांसपेशीप्रियश्चपलमीन इवैति बन्धम् ॥४०॥

यह शीघ्र विलीन हो गया है ॥३२॥ अपने-अपने परिणामोंके अनुसार संचित, अल्प प्रमाण परमाणुओंका राशिस्वरूप यह आयुरूप मेघ निःसार है इसीलिए तो मृत्युरूपी प्रचण्ड वायुके वेगका आघात लगते ही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥३३॥ वज्ररूपी सन्धियोंके बन्धनसे युक्त यह प्राणियोंका उत्तम रचनासे सुशोभित नूतन एवं सुन्दर शरीररूपी मेघ, मृत्युरूपी पवनके प्रबल आघातसे क्षत-विक्षत हो असमर्थ होता हुआ विफल हो जाता है ॥३४॥ सौभाग्य, रूप और नवयौवन ही जिसका आभूषण है तथा जो पृथिवीके समस्त मनुष्योंके चित्त और नेत्रोंके लिए अमृतकी वर्षा करता है ऐसे इस शरीररूपी मेघकी छाया, वृद्धावस्थारूपी तीव्र आंधीसे सूर्यको आच्छादित करनेवाली हो जाती है—नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है ॥३५॥ शौर्य और प्रभावके द्वारा सागरान्त पृथिवीको अच्छी तरह वश करनेवाले बड़े-बड़े राजाओंके द्वारा जिनमें भूमि-भागोंकी चिर रक्षा की गयी है ऐसे उत्तम राज्यके भोगरूपी पर्वतोंके शिखर भी कालरूपी प्रचण्ड वज्रके आघातसे चूर-चूर हो जाते हैं ॥३६॥ नेत्र और मनरूप होती हुई नेत्र और मनके समान प्यारी स्त्री तथा प्राणोंके समान सुख-दुःखके साथी मित्र और पुत्र इस संसारमें अदृष्टरूपी वायुसे प्रेरित हो सूखे पत्तेके समान नष्ट होते रहते हैं। मनुष्यकी तो बात ही क्या है देव भी इस संसारमें प्रियजनोंके वियोगको प्राप्त होता है ॥३७॥ अहो ! यह प्राणी, अन्य प्राणियोंके शरीर आदिको क्षणभंगुर देखता हुआ भी स्वयं मृत्युके भयसे रहित है तथा इसकी शास्त्ररूपी दृष्टि मोहरूपी अन्धकारसे आच्छादित हो गयी है इसलिए यह इष्ट मार्गको छोड़कर विषयरूपी आमिषके गर्तमें पड़ रहा है ॥३८॥ जिसका प्रत्येक अंग कामरूपी मत्त हाथीसे संगत है ऐसा यह मनुष्य अपने अवयवोंसे प्रिय स्त्रियोंके शरीरका स्पर्श करता हुआ उनके स्पर्शजन्य सुखसे निमीलित नेत्र हो मत्त-मातंगके समान विषय बन्धको प्राप्त होता है इसलिए इस स्पर्शजन्य सुखके लिए धिक्कार है ॥३९॥ जिसकी विवेक दृष्टि नष्ट हो गयी है ऐसा यह मनुष्य जिह्वा इन्द्रियके वशीभूत हो

१. सपरिणाम- म., क. ख. । २. आयुरेव घनः । ३. शीघ्रम् । ४. बन्ध -म. । ५ वनरम्य म., ख. । ६. मेघीभव-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घ्राणेन्द्रियप्रियसुगन्धिसुगन्धमन्धो[1] जङ्घाबलादिव विलङ्घिततृप्तिमार्गः ।
दुष्पाकमस्तधिषणो विषपुष्पगन्धमाघ्राय शीघ्रमघमेति यथा षडङ्घ्रिः ॥४१॥
चित्तद्रवीकरणदक्षकटाक्षघातसस्मेरवक्त्रवनिताङ्गनिविष्टदृष्टिः ।
रूपप्रियोऽपि लभते परितापमुग्रं प्राप्तः पतङ्ग इव दीपशिखाप्रपातम् ॥४२॥
स्वेष्टाङ्गनामुखरनूपुरमेखलादिनानाविभूषणरवैः प्रियभाषणैश्च ।
संगीतकैश्च मधुरैर्हृतधीरधीरः श्रोत्रेन्द्रियैर्मृग इव म्रियते मनुष्यः ॥४३॥
संक्लिश्यते विषयभोगकलङ्कपङ्के यत्पुङ्गवां ततिरिहाल्पबला निमग्ना ।
चित्रं न तद् यदतिमज्जति वज्रकायपुन्नागसंततिरितीदमतीव चित्रम् ॥४४॥
यः स्वर्गसौख्यजलधीनतिदीर्घकालं पीत्वाऽपि तृप्तिमगमद् बहुशो न जीवः ।
सौहित्यमल्पदिवसैः कथमस्य कुर्यात् भूलोकसौख्यलवलोलतृणोदबिन्दुः[2] ॥४५॥
अग्नेरिवेन्धनमहानिचयैर्न तृप्तिरम्भोनिधेरिव सदापि नदीसहस्रैः ।
जीवस्य तृप्तिरिह नास्ति[3] तथानिषेव्यैः सांसारिकैरुपचितैरपि काममोगैः ॥४६॥
भोगाभिलाषविषमाग्निशिखाकलापसंवृद्धये हि विषयेन्धनराशिरुच्चैः ।
तस्यैव तु प्रशमहेतुरिहैव तस्माद् व्यावृत्तिरिन्द्रियजिति स्थिरवारिधारा ४७॥
हित्वा ततो विषयसौख्यमसारभूतं शीघ्रं यतेऽहमिह मोक्षपथे सनाथे ।
स्वार्थं प्रसाध्य परमं प्रथमं परार्थं तीर्थप्रवर्त्तनमथ प्रथयामि तथ्यम् ॥४८॥

इच्छापूर्वक छह प्रकारके रसोंसे युक्त नाना प्रकारके इष्ट आहारको ग्रहण करता हुआ वंशीके काँटेपर लगे मांसके लोभी मीनके समान बन्धको प्राप्त होता है ॥४०॥ जिस प्रकार निर्बुद्धि भ्रमर विषपुष्पकी गन्धको सूँघकर दुष्पाकसे युक्त मरणको प्राप्त होता है उसी प्रकार जंघाबलके कारण ही मानो तृप्तिके मार्गको उल्लंघन करनेवाला यह मनुष्य घ्राणेन्द्रियको अच्छे लगनेवाले सुगन्धित पदार्थोंकी सुगन्धको सूँघकर अन्धा होता हुआ दुष्परिणामसे युक्त पाप बन्धको प्राप्त होता है ॥४१॥ जिस प्रकार दीप-शिखापर पड़ा पतंग उग्र सन्तापको प्राप्त होता है उसी प्रकार रूपका लोभी यह प्राणी, चित्तको द्रवीभूत करनेमें दक्ष कटाक्ष और मन्द-मन्द मुसकुराहटसे युक्त मुखसे सुशोभित स्त्रियोंके शरीरपर दृष्टि डालता हुआ भयंकर सन्तापको प्राप्त होता है ॥४२॥ अपनी इष्ट स्त्रियोंके शब्दायमान नूपुर तथा मेखला आदि नाना प्रकारके आभूषणोंके शब्दों, प्रियभाषणों और मधुर संगीतोंसे जिसकी बुद्धि हरी गयी है ऐसा यह मनुष्य अधीर होता हुआ श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा मृगके समान मृत्युको प्राप्त होता है ॥४३॥ अल्प शक्तिके धारक क्षुद्र मनुष्योंका समूह विषय-भोगजन्य पापरूपी कीचड़में फँसकर जो क्लेश उठाता है वह आश्चर्य नहीं है किन्तु वज्रमय शरीरके धारक श्रेष्ठ मनुष्योंका समुदाय भी जो उस पापपंकमें अतिशय निमग्न हो रहा है यह अत्यधिक आश्चर्यकी बात है ॥४४॥ जो जीव अनेकों बार अत्यन्त दीर्घ काल तक स्वर्गके सुखरूपी सागरको पीकर भी तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ उसे भूलोक सम्बन्धी अल्प सुखरूपी तृणकी चंचल जलबिन्दु कुछ दिनोंमें कैसे सन्तुष्ट कर सकती है ? ॥४५॥

जिस प्रकार ईन्धनकी बहुत बड़ी राशिसे अग्निको तृप्ति नहीं होती और सदा गिरनेवाली हजारों नदियोंसे समुद्रको सन्तोष नहीं होता उसी प्रकार सेवन किये हुए संसारके संचित काम-भोगोंसे जीवको तृप्ति नहीं होती ॥४६॥ निश्चयसे विषयरूपी ईन्धनकी बहुत बड़ी राशि, भोगाभिलाषारूपी विषम अग्निकी ज्वालाओंकी वृद्धिका कारण है और इन्द्रियविजयी मनुष्यकी जो उन विषयोंसे व्यावृत्ति है वह स्थिर जलधाराके समान उस विषमाग्निकी शान्तिका कारण है ॥४७॥ इसलिए मैं सारहीन विषयसुखको छोड़कर शीघ्र ही हितरूप मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्ति करता

१. सन्धो म. । २. -मणुलोल-ख. । ३. तथाभिषेकैः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं मतिश्रुतयुतावधिबोधनेत्रे[1] जाते स्वयंभुवि तदा स्वयमेव बुद्धे ।
आकम्पितासनमभूदमरेन्द्रवृन्दं सर्वार्थसिद्धिसुरपर्यवसानमाशु ॥४९॥
लौकान्तिका ललितकुण्डलहारशोभाः सारस्वतप्रभृतयो निभृताः सिताभाः ।
आगत्य मौलिमिलिताञ्जलयः किरन्तः पुष्पाञ्जलीनिति जिनं ननुवुर्नमन्तः ॥५०॥
वर्धस्व नन्द जय जीव जिनेन्द्रचन्द्र ! विज्ञानरश्मिहतमोहतमोवितान ।
[2]निर्बन्धुबन्धुतम ! भव्यकुमुद्वतीनां तीर्थस्य विंशतितमस्य हितस्य कर्ता ॥५१॥
त्वं वर्त्तय त्रिभुवनेश्वर ! धर्मतीर्थं यत्रायमुग्रभवदुःख[3]शिखिप्रतप्तः ।
स्नात्वा जनस्त्यजति मोहमलं समस्तमह्नाय याति च शिवं शिवलोकमग्र्यम् ॥५२॥
चारित्रमोहपरमोपशमात्प्रबुद्धं लौकान्तिका इति जिनं प्रतिबोधयन्तः ।
नान्यज्जगुर्निजनियोगनिवेदनेषु युक्ता[4] हि यान्ति न पुनः पुनरुक्तदोषम् ॥५३॥
सौधर्मपूर्वविबुधाश्च चतुर्णिकाया नानाविमाननिवहस्थगितान्तरिक्षाः ।
संप्राप्य नाथमभिषिच्य सुगन्धितोयैस्तं भूषितं विदधुरद्भुतभूषणाद्यैः ॥५४॥
पुत्रं च सुव्रतमसौ मुनिसुव्रतेशः [5]प्राभावतेयमभिराज्यपदेऽभ्यषिञ्चत् ।
श्वेतातपत्रसितचामरविष्टराणि सोऽलञ्चकार हरिवंशनभःशशाङ्कः ॥५५॥
भूपोद्धृतां नभसि देवगणैरुदूढामारूढवान् सुरुचिरां शिबिकां विचित्राम् ।
यातो वनं विदितकार्त्तिकशुक्लपक्षे षष्ठोपवासकृदुपाश्रितसप्तमोकः ॥५६॥

हूँ और सबसे पहले अपना उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध कर पश्चात् परहितके लिए यथार्थ तीर्थकी प्रवृत्ति करूँगा ॥४८॥ इस प्रकार मति, श्रुत और अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंसे युक्त स्वयम्भू भगवान् जब स्वयं प्रतिबुद्ध हो गये तब सर्वार्थसिद्धि तकके समस्त इन्द्रोंके आसन शीघ्र ही कम्पायमान हो गये ॥४९॥ उसी समय सुन्दर कुण्डल और हारोंसे सुशोभित, निश्चल मनोवृत्ति और श्वेत दीप्तिके धारक सारस्वत आदि लौकान्तिक देव आ गये और हाथ जोड़ मस्तकसे लगा पुष्पांजलियां बिखेरते हुए नमस्कार कर जिनेन्द्र भगवान्की इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥५०॥

हे जिनेन्द्र चन्द्र ! हे सम्यग्ज्ञानरूपी किरणोंसे मोहरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाले ! आप वृद्धिको प्राप्त हों, समृद्धिमान् हों, जयवन्त रहें, चिरकाल तक जीवित रहें, आप बन्धु रहित हैं, भव्य जीवरूपी कुमुदिनियोंके उत्तम बन्धु हैं और हितकारी बीसवें धर्मतीर्थके प्रवर्तक हैं ॥५१॥ हे त्रिलोकीनाथ ! आप उस धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करें जिसमें संसारके तीव्र दुःखरूपी अग्निसे सन्तप्त प्राणी स्नान कर समस्त मोहरूपी मलको छोड़ दें और शीघ्र ही आनन्ददायी उत्तम शिवालयको प्राप्त हो जावें ॥५२॥ भगवान्, चारित्र मोहकर्मके परमोपशम (उत्कृष्ट क्षयोपशम) से स्वयं ही प्रतिबोधको प्राप्त हो गये थे इसलिए उन्हें उक्त प्रकारसे सम्बोधते हुए लौकान्तिक देवोंने अन्य कुछ नहीं कहा सो ठीक ही है क्योंकि योग्य मनुष्य अपने नियोगकी पूर्तिमें कभी पुनरुक्त दोषको प्राप्त नहीं होते ॥५३॥ उसी समय नाना विमानोंके समूहसे आकाशको आच्छादित करते हुए सौधर्मेंद्र आदि चारों निकायके देव आ पहुँचे। आकर उन्होंने सुगन्धित जलसे भगवान्का अभिषेक किया और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले, उत्तमोत्तम आभूषण आदिसे उन्हें अलंकृत किया ॥५४॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथने अपनी प्रभावती स्त्रीके पुत्र सुव्रतका राज्यपदपर अभिषेक किया और हरिवंशरूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान सुशोभित सुव्रतने भी सफेद छत्र, सफेद चामर तथा सिंहासनको अलंकृत किया ॥५५॥ तदनन्तर पहले जिसे भूमिपर राजाओंने उठाया था और उसके बाद जिसे देवलोग आकाशमें उठा ले गये थे ऐसी अतिशय सुन्दर विचित्र

१. ज्ञाने । २. निर्बन्ध-क. । ३. दुःखाग्नि । ४. योग्याः । ५. प्रभावत्याः अपत्यं पुमान् प्राभावतेयः तम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूभृत्सहस्रपरिवारभृदेष वभ्रे दीक्षां समक्षमखिलस्य जगत्त्रयस्य ।
तन्मूर्धजानधिनिधाय निजोत्तमाङ्गे शक्रश्चकार विधिना सुपयःपयोधौ ॥५७॥
कृत्वामराश्च जिननिष्क्रमणं तृतीयकल्याणपूजनमसौ जगुरीश्वरोऽपि ।
ज्ञानैश्चतुर्भिरनुगैश्च सहस्रसंख्यैस्तैः पार्थिवैर्दिनमणिः किरणैरिवाभात् ॥५८॥
षष्ठोपवासिनि परेद्युरिनेऽवतीर्णे भिक्षाविधिप्रकटनाय कुशाग्रपुर्याम् ।
भिक्षां ददौ वृषभदत्त इति प्रसिद्धः [1]सत्पात्रसं सविधिना मुनिसुव्रताय ॥५९॥
स्वाधीनमप्रतिहतं स्थितिभुक्तियुक्तं सत्पाणिपात्रमधिपेन विधानपूर्वम् ।
प्रावर्त्ति वर्तनसुवर्त्तनसाधुयोग्यं तीर्थे निजे स्थितिविदा जिनभास्करेण ॥६०॥
चित्रं तदा हि परमान्नमृषीन्द्रपाणौ [2]शुद्धचान्वितेन ददता परिनिष्टशेषम् ।
शेषैरशेषयतिभिश्च [3]सहस्रसंख्यैर्भुज्यमानमपरैश्च ययौ न निष्ठाम् [4] ॥६१॥
नेदुस्ततस्त्रिदशदुन्दुभयो निनादाः साधुस्वनः सकलमम्बरमाततान ।
वायुर्ववौ सुरभिरद्भुतपुष्पवृष्टिर्व्योम्नः पपात महती वसुनश्च धारा ॥६२॥
आश्चर्यपञ्चकमिदं चिरमम्बरस्था देवा विकृत्य परमं परदुर्लभं ते ।
संपूज्य दानपतिमर्जितपुण्यपुञ्जं जग्मुर्जिनोऽपि विजहार विहारयोग्यम् ॥६३॥
छद्मस्थकालमतिवाह्य [5]समासवर्षं समार्गशीर्षसुतिथिं सितपञ्चमीं तु ।
ध्यानाग्निदग्धघनघातिसमित्समृद्धिः कैवल्यलाभविभवेन चकार [6]पूताम् ॥६४॥

पालकीपर आरूढ़ होकर भगवान् वनमें गये तथा वहाँ कार्तिक शुक्ल सप्तमीके दिन वेलाका नियम लेकर दीक्षा लेनेके लिए उद्यत हुए ॥५६॥ उस समय एक हजार राजाओंके साथ भगवान्ने समस्त जगत् त्रयके समक्ष दीक्षा धारण की। उन्होंने अपने शिरके केश उखाड़कर फेंक दिये और इन्द्रने उन केशोंको पिटारेमें रखकर विधिपूर्वक क्षीरसमुद्रमें क्षेप दिया ॥५७॥ इस प्रकार देव, भगवान्का निष्क्रमणकल्याणक तथा उसकी पूजा कर यथास्थान चले गये और भगवान् भी चार ज्ञानों तथा एक हजार अनुगामी राजाओंसे उस तरह सुशोभित होने लगे जिस तरह कि एक हजार किरणोंसे सूर्य सुशोभित होता है ॥५८॥ वेलाका उपवास धारण करनेवाले भगवान् जब आगामी दिन, आहारकी विधि प्रकट करनेके लिए कुशाग्रपुरीमें अवतीर्ण हुए तब वृषभदत्त नामसे प्रसिद्ध पुरुषने उन्हें विधिपूर्वक खीरका आहार दिया ॥५९॥ उस समय मर्यादाके जाननेवाले भगवान् मुनिसुव्रत-रूपी सूर्यने अपने तीर्थमें निर्दोष चारित्रके धारक मुनियोंके योग्य आहारकी वह विधि प्रवृत्त की जो स्वाधीन थी, बाधासे रहित थी, खड़े होकर जिसमें भोजन करना पड़ता था, जिसमें पाणिपात्रमें भोजन होता था और दानपति जिसमें विधिपूर्वक भोजन प्रदान करता था ॥६०॥ आश्चर्यकी बात थी कि उस समय शुद्धिसे सहित वृषभदत्तने मुनिराजके हाथमें जो खीर दी थी उससे बाकी बची खीरको हजारोंकी संख्यामें अन्य मुनियोंने खाया तथा घरके अन्य लोगोंने भी बार-बार ग्रहण किया फिर भी वह समाप्तिको प्राप्त नहीं हुई ॥६१॥ तदनन्तर विशाल शब्द करते हुए देव दुन्दुभि बजने लगे, धन्य-धन्यके शब्दने समस्त आकाशको व्याप्त कर दिया, सुगन्धित वायु बहने लगी, आश्चर्यकारी फूलोंकी वर्षा होने लगी और आकाशसे बड़ी मोटी रत्नोंकी धारा पड़ने लगी ॥६२॥ दूसरोंके लिए अतिशय दुर्लभ इस पंचाश्चर्यको आकाशमें खड़े देवोंने चिरकाल तक किया। तदनन्तर पुण्यराशिका संचय करनेवाले दानपतिकी पूजा कर वे देव लोग यथास्थान चले गये और भगवान् भी विहारके योग्य स्थानमें विहार कर गये ॥६३॥ तत्पश्चात् तेरह महीनेका छद्मस्थ

१. सत्पात्रसं म.। २. शुद्धान्वितेन। ३. -रशेषपतिभिश्च। ४. समाप्तिम्। ५. त्रयोदशमासात्मकम्। ६. पूतम् म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षाच्चकार युगपत्सकलं स मेयमेकेन केवलविशुद्धविलोचनेन ।
नाथस्तदा न हि निरावरणो विवस्वानभ्युद्गतः क्रमसहायपरः प्रकाश्ये ॥६५॥
नेमुः ससप्तपदमेत्य निजासनेभ्यः सर्वेऽहमिन्द्रनिवहाः कृतमौलिहस्ताः ।
तं प्रापुरभ्युदिततोषविशेषचित्ताः शेषा महेन्द्रसुरसन्ततयः समन्तात् ॥६६॥
भक्त्याऽर्चयन् त्रिभुवनेश्वरमानवेन्द्रास्तं देवमभ्युदितचम्पकचैत्यवृक्षम् ।
सत्प्रातिहार्यविभवातिविशेषरूपमार्हन्त्यमद्भुतमचिन्त्यमनन्तमेतम्[1] ॥६७॥
स द्वादशस्वथ गणेषु निषण्णवत्सु स द्वादशाङ्गमनुयोगपथं जिनेन्द्रः ।
धर्मं विशाखगणिना विनयेन पृष्टः संभाष्य तीर्थमवनौ प्रकटं प्रचक्रे ॥६८॥
कल्याणपूजनमिनस्य तुरीयमिन्द्राः कृत्वा यथायथमगुः प्रणिपातपूर्वम् ।
देशान् जिनोऽपि विजहार बहून् बहूनां धर्मामृतं तनुभृतां घनवत्प्रवर्षन् ॥६९॥
अष्टौ च विंशतिरिनस्य जिनेन्द्रचर्याः क्रोडीकृताखिलचतुर्दशपूर्वशास्त्राः ।
त्रिंशत्सहस्रगणना परिषद् यतीनां नानागुणैरजनि सप्तविधः स संघः ॥७०॥
स्युस्तत्र पञ्चशतपूर्वधरा यतीशा एकादिविंशतिसहस्रमिदाश्च शिक्षाः ।
अष्टादशैव गदितानि शतानि तेषु प्रत्येकमस्य मुनयोऽवधिकेवलाक्षाः ॥७१॥
द्वात्रिंशतिर्यतिशतानि तु वैक्रियाख्यास्तान्येव पञ्चदश ते विपुलास्तु मत्या ।
स्युर्द्वादशैव हि शतानि विवान्तवैराः सद्वादिनो मुनिपतेः प्रथिताः समायाम् ॥७२॥

काल बिताकर भगवान्ने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा घातिया कर्मरूपी ईन्धनकी विपुल राशिको दग्ध कर केवलज्ञानकी प्राप्तिसे मगसिर मासकी शुक्ल पंचमी तिथिको पवित्र किया ॥६४॥ अब केवलज्ञानरूपी एक ही विशुद्ध लोचनसे भगवान् समस्त पदार्थोंको एक साथ प्रत्यक्ष देखने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जब निरावरण सूर्यका उदय होता है तब वह प्रकाशित करने योग्य पदार्थोंके विषयमें न तो क्रमकी अपेक्षा करता है और न दूसरेकी सहायताकी ही अपेक्षा करता है ॥६५॥ उस समय समस्त अहमिन्द्रोंने अपने-अपने आसनोंसे सात-सात डग आगे चलकर तथा हाथ जोड़ मस्तकसे लगा जिनेन्द्र भगवान्को परोक्ष नमस्कार किया और जिनके चित्तमें विशेष हर्ष प्रकट हो रहा था ऐसे शेष समस्त इन्द्र तथा देव सब ओरसे वहाँ आये ॥६६॥ जिनके चम्पक नामक चैत्य वृक्ष प्रकट हुआ था, जो अष्ट प्रातिहार्यरूपी वैभवसे अतिशय सुन्दर थे, और जो आश्चर्यकारी अचिन्त्य एवं अन्तातीत आर्हन्त्य पदको प्राप्त थे ऐसे देवाधिदेव मुनिसुव्रतनाथकी, तीनों लोकोंके स्वामी तथा राजाओंने भक्तिपूर्वक पूजा की ॥६७॥

तदनन्तर जब बारह गण बारह सभाओंमें यथास्थान बैठ गये तब विशाख नामक गणधरने विनयपूर्वक अनुयोग द्वारसे द्वादशांगका स्वरूप पूछा उसके उत्तरमें भगवान्ने धर्मका निरूपण कर पृथिवीपर तीर्थ प्रकट किया ॥६८॥ इन्द्रादि देव भगवान्के चतुर्थ कल्याणककी पूजा कर नमस्कार करते हुए यथास्थान चले गये और भगवान् भी अनेक प्राणियोंके लिए धर्मामृतकी वर्षा करते हुए अनेक देशोंमें विहार करने लगे ॥६९॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथके सम्पूर्ण चौदह पूर्वोंको जाननेवाले अट्ठाईस गणधर थे, और तीस हजार मुनि थे। भगवान्का यह संघ नाना गुणोंसे सात प्रकारका था ॥७०॥ उस संघमें पाँच सौ मुनिराज पूर्वधारी थे, इक्कीस हजार शिक्षार्थी थे, अठारह सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, बाईस सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, पन्द्रह सौ विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके धारक थे, बैर को दूर करनेवाले बारह सौ प्रसिद्ध वादी थे, पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंको धारण करनेवाले श्रावक थे, और

१. -मेकं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चाशदात्मकसहस्रमिदास्तदार्याः शिक्षागुणव्रतधरा गृहिणोऽपि लक्षाः ।
सम्यक्त्वपूतमनसो वनितास्त्रिलक्षाः सभ्योडुभिः परिवृतश्च बभौ जिनेन्दुः ॥७३॥
त्रिंशद्गुणप्रथितवर्षसहस्रजीवी प्राक् पञ्चसप्ततिशताब्दकुमारकालः ।
राज्येऽपि पञ्चदशवर्षसहस्रभोगी सत्संयमेन विजहार स शेषकालम् ॥७४॥
अन्ते स सम्मदविधायिवनान्तकान्तं सम्मेदशैलमधिरुह्य निरस्तबन्धः ।
बन्धान्तकृन्मुनिसहस्रयुतो जगाम मोक्षं महामुनिपतिर्मुनिसुव्रतेशः ॥७५॥
माघत्रयोदशतिथौ सितपक्षभाजि मासोपसंहृतविहारविसृष्टदेहे ।
स्थित्वाऽपराह्णसमये वरपुष्ययोगे सिद्धे जिने ननु महं विदधुः सुरेन्द्राः ॥७६॥
षड्वर्षलक्षपरिमाणमिनस्य तस्य प्रावर्त्तत प्रविततं भुवि धर्मतीर्थम् ।
विद्याबबोधबुधितार्थमुनिप्रभावं देवागमाविरतिवर्द्धितलोकहर्षम् ॥७७॥
विंशस्य तस्य चरितस्य जिनस्य लोके कल्याणपञ्चकविभूति विभावयन् यः ।
भक्त्या शृणोति पठति स्मरतीदमस्मिन् भव्यो जनो भजति सिद्धिसुखं स शीघ्रम् ॥७८॥
एवं वसन्ततिलकप्रचुरप्रसूनमालामिमां समधिरोप्य विनूतवृत्तः ।
विघ्नान् विधूय विदधातु समाधिबोधी धीरो जिनो जितभवो मुनिसुव्रतो नः ॥७९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मुनिसुव्रतनाथपञ्चकल्याणवर्णनो नाम षोडशः सर्गः ।

सम्यग्दर्शनसे पवित्र हृदयको धारण करनेवाली तीन लाख श्राविकाएँ थीं । इन सभासद रूपी नक्षत्रोंसे घिरे हुए भगवान्‌रूपी चन्द्रमा अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥७१–७३॥ भगवान्‌की पूर्ण आयु तीस हजार वर्षकी थी, उसमें साढ़े सात हजार वर्षका कुमारकाल था, पन्द्रह हजार वर्ष तक उन्होंने राज्यका भोग किया और शेष साढ़े सात हजार वर्ष तक संयमी होकर विहार किया ॥७४॥ महामुनियोंके अधिपति मुनिसुव्रत भगवान् आयुके अन्त समयमें हर्षको उत्पन्न करनेवाले वन-खण्डोंसे सुशोभित सम्मेदाचलपर आरूढ़ होकर कर्मोंके बन्धसे रहित हुए और बन्धका नाश करनेवाले एक हजार मुनियोंके साथ वहींसे मोक्ष गये ॥७५॥ मोक्ष जानेके एक माह पूर्व भगवान्‌ने विहार आदि बन्द कर योगनिरोध कर लिया था तथा माघ शुक्ला त्रयोदशीके दिन अपराह्ण कालमें पुष्य नक्षत्रका उत्तम योग रहते हुए पद्मासनसे मोक्ष प्राप्त किया था । मुक्त होनेपर इन्द्रने निर्वाणकल्याणककी पूजा की थी ॥७६॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथका धर्मतीर्थ पृथिवीपर छह लाख वर्ष तक अखण्ड रूपसे चलता रहा । उनके तीर्थमें विद्याओंका परिज्ञान होनेसे मुनियोंका पूर्ण प्रभाव था, और देवोंका निरन्तर आगमन होते रहनेसे लोगोंका हर्ष बढ़ता रहता था ॥७७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि संसारमें जो भव्य प्राणी बीसवें तीर्थंकरके पंचकल्याणक-विभूतिसे युक्त इस चरितका चिन्तवन करता है, भक्तिसे इसे सुनता है, पढ़ता है, और इसका स्मरण करता है वह शीघ्र ही मोक्षके सुखको प्राप्त होता है ॥७८॥ जिनसेनाचार्य कहते हैं कि इस तरह वसन्ततिलका छन्दसे निर्मित (पक्षमें वसन्तऋतुके श्रेष्ठ नाना पुष्पोंसे निर्मित) पुष्पोंकी माला समर्पित कर जिनके चरित्रकी स्तुति की गयी है वे संसारको जीतनेवाले धीर-वीर मुनिसुव्रत जिनेन्द्र विघ्नोंको नष्ट कर हमारे लिए समाधि (चित्तकी स्थिरता) और बोधि (रत्नत्रयकी प्राप्ति) करावें ॥७९॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌के पंचकल्याणकोंका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तदशः सर्गः

बभूव हरिवंशानां प्रभुर्वश्यवसुंधरः । अरिषड्वर्गजिन्मार्गस्त्रिधर्मस्य स सुव्रतः ॥१॥
स दक्षं दक्षनामानं पुत्रं कृत्वा निजे पदे । दीक्षितः स्वपितुस्तीर्थे प्राप मोक्षं तपोबलात् ॥२॥
ऐलेयाख्यमिलायां स दक्षः पुत्रमजीजनत् । मनोहरीं च तनयामर्णवोऽपि यथा श्रियम् ॥३॥
ववृधेऽनुकुमारं च कुमारी नेत्रहारिणी । सानुचन्द्रं यथा कान्तिः कलागुणविशेषिणी ॥४॥
यौवनेन कृताश्लेषा कृशमध्यावभासते । स्तनभारेण गुरुणा जघनेन च भारिणा ॥५॥
[1]स्वाधीने सति रूपास्त्रे तस्या धीरमनोभिदि । मनोभवोऽत्यजत्स्वेषु कुसुमास्त्रेषु गौरवम् ॥६॥
तद्रूपास्त्रविमोक्षेण मनोभूरकरोद् भृशम् । दक्षस्यापि मनोभेदमन्येषां नु किमुच्यताम् ॥७॥
कन्यया [3]हृतचित्तश्च ततो दक्षः प्रजापतिः । आहूय च्छद्मना सद्म पप्रच्छ प्रणताः प्रजाः ॥८॥
पृष्टा वदत यूयं मे सज्जना जगति स्थितिम् । अविरुद्धं विचार्येह विश्वे विदितवृत्तयः ॥९॥
यद्वस्तु भुवनेऽनर्घ्यं हस्त्यश्ववनितादिकम् । प्रजानुचितमेतस्य राजा विभुरहो न वा ॥१०॥
केचिद्दुर्जनास्तत्र विचार्य चिरमात्मनि । यत्प्रजानुचितं देव ! तत्प्रजापतये हितम् ॥११॥
यथा नदीसहस्राणां सद्रत्नानां च सागरः । आकरोऽनर्घरत्नानां तथैवात्र प्रजापतिः ॥१२॥

अथानन्तर भगवान् मुनिसुव्रतनाथके पुत्र सुव्रत हरिवंशके स्वामी हुए। उन्होंने समस्त पृथिवीको वश कर लिया था, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओं-को जीत लिया था, तथा वे धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्गके मार्ग-प्रवर्तक थे ॥१॥ उनके दक्ष नामका अतिशय दक्ष—चतुर पुत्र था। वे उसे अपने पदपर नियुक्त कर अपने ही पिताके समीप दीक्षित हो गये और तपोबलसे मोक्ष चले गये ॥२॥ राजा दक्षने इला नामक रानीमें ऐलेय नामका पुत्र उत्पन्न किया और उसके बाद जिस प्रकार समुद्रने लक्ष्मीको उत्पन्न किया था उसी प्रकार मनोहरी नामकी पुत्रीको उत्पन्न किया ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ-साथ कलारूपी गुणसे युक्त उसकी कान्ति बढ़ती जाती है उसी प्रकार कुमार ऐलेयके साथ-साथ कलारूपी गुणसे युक्त नेत्रोंको हरण करनेवाली कुमारी मनोहरी दिनों-दिन बढ़ने लगी ॥४॥ जब वह यौवनवती हुई तब उसकी कमर पतली हो गयी और वह स्थूल स्तनोंके भार तथा विस्तृत नितम्ब स्थलसे अतिशय सुशोभित होने लगी ॥५॥ धीर-वीर मनुष्योंके मनको भेदन करनेवाले उसके सौन्दर्यरूपी अस्त्रके स्वाधीन रहते हुए कामदेवने अपने पुष्पमयी बाणोंका गर्व छोड़ दिया था ॥६॥ उसके सौन्दर्यरूपी शस्त्रको छोड़कर कामदेवने राजा दक्षके भी मनको भेद दिया फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या कही जाये ? ॥७॥

तदनन्तर कन्याके द्वारा जिसका चित्त हरा गया था ऐसे दक्ष प्रजापतिने एक दिन किसी छलसे नम्रीभूत प्रजाको अपने घर बुलाकर उससे पूछा कि हे सज्जनो ! आप सब व्यवहारके ज्ञाता हैं। मैं आप लोगोंसे एक बात पूछता हूँ सो आप सब जगत्की स्थितिका पूर्वापरविरोध रहित विचारकर उत्तर दीजिए ॥८-९॥ बात यह है कि यदि हाथी, घोड़ा, स्त्री आदि कोई वस्तु संसारमें अमूल्य हो और प्रजाके योग्य न हो तो राजा उसका स्वामी हो सकता है या नहीं ? ॥१०॥ प्रजाजनोंमें कितने ही लोगोंने चिरकाल तक आत्मामें विचारकर कहा कि हे देव ! जो वस्तु प्रजाके लिए अयोग्य है वह राजाके लिए हितकारी है ॥११॥ जिस प्रकार समुद्र हजारों

१. साधीने म., ग., घ., ङ. । २. कामः । ३. हृतचित्तं स. म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद् यत्तव स्थितं चित्ते समस्ते वसुधातले । स्वाकरेषु समुत्पन्नं तद्रत्नं क्रियतां करे ॥१३॥
एवं दक्षः प्रजावाक्यमाकर्ण्य विपरीतधीः । प्रजानुमतिकारित्वं प्रकाश्य विससर्ज ताः ॥१४॥
ततः स दुहितुस्तस्या स्वयमेवाग्रहीत् करम् । कामग्रहगृहीतस्य का मर्यादा क्रमोऽपि कः ॥१५॥
इला देवी ततो रुष्टा पत्युः पुत्रमभेदयत् । तावद्भार्यादयो यावन्मर्यादासंस्थितः प्रभुः[1] ॥१६॥
इला चैलेयमावृत्य[2] महासामन्तसंवृता । प्रत्यवस्थानमकरोद्दुर्गदेशमुपाश्रिता ॥१७॥
त्रिविष्टपपुराकारं संनिविष्टं पुरं तथा । इलायां वर्धमानायामिलावर्धनसंज्ञया[3] ॥१८॥
ऐलेयः स्थापितो राजा रेजे तत्र प्रजावृतः । वीर्यधैर्यनयाधारो हरिवंशविशेषकः ॥१९॥
पार्थिवेन सता तेन तामलिप्तिप्रसिद्धिकाम्[4] । निवेशितं पुरं कान्तमङ्गदेशनिवासिना ॥२०॥
जिगीषता परान् देशान् नर्मदातटमीयुषा । मह्यां माहिष्मती ख्याता नगरी विनिवेशिता ॥२१॥
तत्र स्थितश्चिरं राज्यं कृत्वा प्रणतपार्थिवम् । पुत्रं कुणिमनामानं संस्थाप्य तपसे ययौ ॥२२॥
कुणिमश्च विदर्भेषु विजिगीषुर्द्विषंतपः । कुण्डिनाख्यं पुरं चक्रे वरदायास्तटे वरे ॥२३॥
कुणिमः क्षणिकं मत्वा जीवितं निजवैभवम् । पुलोमाख्ये[5] सुते न्यस्य तपोवनमयात् स्वयम् ॥२४॥
पुलोमपुरमेतेन विनिवेशितमोजिना । श्रियं न्यस्य तपस्यागात् पौलोमचरमाख्ययोः ॥२५॥

नदियों और उत्तम रत्नोंकी खान है उसी प्रकार राजा भी इस लोकमें अनर्घ्य वस्तुओंकी खान है ॥१२॥ इसलिए समस्त पृथिवीतल और उत्तमोत्तम खानोंमें उत्पन्न हुआ जो भी रत्न आपके चित्तमें है—जिसे आप प्राप्त करना चाहते हैं उसे हाथमें कीजिए ॥१३॥ इस प्रकार विपरीत बुद्धिके धारक राजा दक्षने प्रजाके वचन सुन प्रकट किया कि जैसी आप लोगोंकी अनुमति है वैसा ही कार्य करूँगा—यह कहकर उसने प्रजाके लोगोंको विदा किया ॥१४॥

तदनन्तर उसने पुत्री मनोहरीका कर ग्रहण स्वयं ही कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि कामरूपी पिशाचसे गृहीत मनुष्यकी मर्यादा क्या है ? और क्रम क्या है ? भावार्थ—कामी मनुष्य सब मर्यादाओं और क्रमोंको छोड़ देता है ॥१५॥ राजा दक्षकी रानी इला देवी, पतिके इस कुकृत्यसे बहुत ही रुष्ट हुई इसलिए उसने पुत्रको पितासे फोड़ लिया—अलग कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री आदि तभी तक है जब तक स्वामी मर्यादामें रहता है—मर्यादाका पालन करता है ॥१६॥ बड़े-बड़े सामन्तोंसे घिरी इला देवी अपने ऐलेय पुत्रको लेकर दुर्गम स्थानमें चली गयी और वहीं उसने निवास करनेका निश्चय किया ॥१७॥ उसने स्वर्गपुरीके समान एक नगर बसाया जो बढ़ती हुई पृथिवीपर स्थित होनेके कारण इलावर्धन नामसे प्रसिद्ध था ॥१८॥ ऐलेयको उसने उसका राजा बनाया सो प्रजासे सहित, वीर्य, धैर्य और नीतिका आधार तथा हरिवंश का तिलक-स्वरूप राजा ऐलेय वहाँ अत्यधिक सुशोभित होने लगा ॥१९॥ राजा होनेपर अंग देशमें निवास करनेवाले ऐलेयने तामलिप्ति नामसे प्रसिद्ध एक सुन्दर नगर बसाया ॥२०॥ जब ऐलेय नाना देशको जीतनेकी इच्छा करता हुआ नर्मदा नदीके तटपर आया तो उसने पृथिवीपर प्रसिद्ध माहिष्मती नामकी नगरी बसायी ॥२१॥ उस नगरीमें रहकर राजा ऐलेयने चिरकाल तक नम्रीभूत राजाओंसे युक्त राज्य किया। तदनन्तर वह कुणिम नामक पुत्रके लिए राज्य सौंपकर तपके लिए चला गया ॥२२॥ विजयके अभिलाषी एवं शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले कुणिमने विदर्भ देशमें वरदा नदीके किनारे कुण्डिन नामका सुन्दर नगर बसाया ॥२३॥ कुछ समय बाद कुणिमको जीवन क्षण-भंगुर जान पड़ा इसलिए वह अपना वैभव पुलोम नामक पुत्रके लिए सौंपकर स्वयं तपोवनको चला गया ॥२४॥ राजा पुलोमने भी पुलोमपुर नामका नगर बसाया। अन्तमें वह पौलोम और

१. पतिः । २. -मावृत्ता म., ख., ग., ड. । ३. इलया वर्धमानं यदि- म. । ४. -मलिप्तप्रसिद्धकम् घ. । ५. सुलोमाख्ये घ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत्प्रभावसंभारौ तावखण्डितमण्डलौ । सूर्याचन्द्रमसौ नित्यं विजिगीषू प्रतिग्यतुः ॥२६॥
ताभ्यामिन्द्रपुरं चक्रे रेवायाः सरितस्तटे । जयन्तीवनवास्यौ द्वे चरमेण पुरौ कृते ॥२७॥
संजयश्चरमस्यासीत् तनयो नयवित्तथा । पौलोमस्य महीदत्तस्तपस्थौ जनकौ च तौ ॥२८॥
महीदत्तेन नगरं कृतं कल्पपुराख्यया । सोऽरिष्टनेमिमत्स्याख्यौ तनयावुदपादयत् ॥२९॥
मत्स्यो भद्रपुरं जित्वा सेनया चतुरङ्गया । तथा हास्तिनपुरं प्रीतस्सोऽध्यतिष्ठत् प्रतापवान् ॥३०॥
तस्य पुत्राः शतं [1]जाताः शतमन्युसमाः क्रमात् । अयोधनादयो ज्येष्ठे राज्यं न्यस्य स दीक्षितः ॥३१॥
अयोधनसुतो मूलः शालस्तस्य सुतोऽभवत् । सूर्यस्तस्याभवत् सूनुस्तेन शुभ्रपुरं कृतम् ॥३२॥
तस्यासीत्त्वमरस्तेन वज्राख्यं पुरमाहितम् । देवदत्तस्ततो जातो देवेन्द्रसमविक्रमः ॥३३॥
मिथिलानाथमुत्याद्य विदेहानामभूद्विभुः । हरिषेणस्ततो जज्ञे नभसेनस्तु तत्सुतः ॥३४॥
ततः शङ्ख इति ख्यातस्ततो भद्र इतीरितः । अभिचन्द्रस्ततश्चाभूदभिभूतरिपुद्युतिः ॥३५॥
विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम् । शुक्तिमत्यास्तटेऽधायि नाम्ना शुक्तिमती पुरी ॥३६॥
उग्रवंशप्रसूतायां वसुमत्यामभूद्वसुः । अभिचन्द्राद् यथार्द्रात्मा चन्द्रकान्तमहामणिः ॥३७॥
नाम्ना क्षीरकदम्बोऽभूत्तत्र वेदार्थविद्द्विजः । तस्य स्वस्तिमती पत्नी पर्वतस्तनयस्तयोः ॥३८॥
अध्यापिताञ्जयस्तेन वसुपर्वतनारदाः । सरहस्यानि शास्त्राणि गुरुणा धिषणावता ॥३९॥
आरण्यकमसौ वेदमरण्येऽध्यापयन् सुतान् । आकर्णयद् गिरं व्योम्नि मुनेराकाशगामिनः ॥४०॥

चरम नामक पुत्रोंके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर तपके लिए चला गया ॥२५॥ पौलोम और चरमका प्रभाव समस्त जगत्में फैल रहा था तथा वे दोनों अखण्डित मण्डल—अखण्ड राष्ट्रके धारक थे इसलिए विजयकी अभिलाषा रखते हुए वे दोनों निरन्तर सूर्य और चन्द्रमाको जीतते थे। सूर्य और चन्द्रमाका प्रभाव भी समस्त जगत्में फैला रहता है और वे अखण्ड मण्डल—अखण्ड बिम्बके धारक होते हैं ॥२६॥ उन दोनोंने मिलकर रेवा नदीके तटपर इन्द्रपुर नामका नगर बसाया और चरमने जयन्ती तथा वनवास्य नामकी दो नगरियाँ बसायीं ॥२७॥ पौलोमके महीदत्त और चरमके संजय नामका नीतिवेत्ता पुत्र था। अन्तमें पौलोम और चरम दोनों ही तप करने लगे ॥२८॥ महीदत्तने कल्पपुर नामका नगर बसाया और अरिष्टनेमि तथा मत्स्य नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥२९॥ प्रतापी मत्स्य अपनी चतुरंग सेनासे भद्रपुर और हास्तिनपुरको जीतकर बड़ी प्रसन्नतासे हस्तिनापुरमें रहने लगा ॥३०॥ उसके क्रम-क्रमसे अयोधनको आदि लेकर इन्द्रके समान पराक्रमके धारक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। अन्तमें वह ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्य सौंपकर दीक्षित हो गया ॥३१॥ राजा अयोधनके मूल, मूलके शाल और शाल के सूर्य नामका पुत्र हुआ। सूर्यने शुभ्रपुर नामका नगर बसाया था ॥३२॥ सूर्यके अमर नामका पुत्र हुआ और उसने वज्र नामका नगर बसाया। अमरके देवेन्द्रके समान पराक्रमी देवदत्त नामका पुत्र हुआ ॥३३॥ देवदत्त मिथिला-नाथके हरिषेण, हरिषेणके नभसेन, नभसेनके शंख, शंखके भद्र और भद्रके शत्रुओंकी कान्तिको तिरस्कृत करनेवाला अभिचन्द्र नामका पुत्र हुआ ॥३४-३५॥ अभिचन्द्रने विन्ध्याचलके ऊपर चेदिराष्ट्रकी स्थापना की तथा शुक्तिमती नदीके किनारे शुक्तिमती नामकी नगरी बसायी ॥३६॥ अभिचन्द्रकी उग्रवंशमें उत्पन्न वसुमती नामकी रानीसे वसु नामका पुत्र हुआ। वह वसु चन्द्रकान्त महामणिके समान आर्द्रहृदय था ॥३७॥ उसी नगरीमें वेदार्थका वेत्ता एक क्षीरकदम्ब नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम स्वस्तिमती था और उन दोनोंके पर्वत नामका पुत्र था ॥३८॥ बुद्धिमान् गुरु क्षीरकदम्बने वसु, पर्वत और नारद इन तीन शिष्योंको गूढार्थ सहित समस्त शास्त्र पढ़ाये ॥३९॥ एक बार क्षीरकदम्बक वनमें उक्त तीनों पुत्रोंको आरण्यक वेद पढ़ा रहा था कि उसने

१. यातः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदाध्ययनसक्तानां मध्येऽमीषामधोगतिम् । गन्तारौ द्वौ नरौ पापाद् द्वौ पुण्यादूर्ध्वगामिनौ ॥४१॥
इत्युक्त्वा मुनिरन्यस्मै साधवेऽवधिलोचनः । करुणावान् गतः क्वापि ज्ञातसंसारसंस्थितिः ॥४२॥
श्रुत्वा क्षीरकदम्बोऽपि वचनं शङ्किताशयः । विसृज्य सदनं शिष्यानपराह्णेऽन्यतो गतः ॥४३॥
अपश्यन्ती पतिं शिष्यान् पप्रच्छ स्वस्तिमत्यसौ । उपाध्यायो गतः पुत्राः ! कुतो ब्रूतेति शङ्किता ॥४४॥
तेऽब्रुवन्नहमेमीति वयं तेन विसर्जिताः । आयात्येवानुमार्गे नो मातर्माभूत्त्वमुन्मनाः ॥४५॥
इति तेषां वचः श्रुत्वा तस्थौ स्वस्तिमती दिवा । रात्रावपि यदा चाऽसौ गृहं नागतवाँस्तदा ॥४६॥
गता सा शोकिनी बुद्ध्वा भर्तुराकूतमाकुला । ध्रुवं प्रव्रजितो विप्र इत्यरोदीच्चिरं निशि ॥४७॥
तमन्वेष्टुं प्रभाते तौ गतौ पर्वतनारदौ । वनान्तेऽपश्यतां श्रान्तौ दिनैः कतिपयैरपि ॥४८॥
स निषण्णमधीयानं निर्ग्रन्थं गुरुसंनिधौ । पितरं पर्वतो दृष्ट्वा दूरान्निववृतेऽधृतिः ॥४९॥
मात्रे निवेद्य वृत्तान्तं तया दुःखितचित्तया । कृत्वा दुःखं विशोकाऽसौ तिष्ठति स्म यथासुखम् ॥५०॥
नारदस्तु विनीतात्मा गुरोः कृत्वा प्रदक्षिणम् । प्रणम्याणुव्रती भूत्वा संभाष्य गृहमागतः ॥५१॥
[1]आश्वास्य शोकसंतप्तां नत्वा पर्वतमातरम् । जगाम निजधामासौ नारदोऽतिविशारदः ॥५२॥
वसोरपि पिता राज्यं वसौ विन्यस्य विस्तृतम् । संसारसुखनिर्विण्णः प्रविवेश तपोवनम् ॥५३॥

आकाशमें किन्हीं चारण ऋद्धिधारी मुनिके निम्नांकित वचन सुने ॥४०॥ वे कह रहे थे कि वेदाध्ययनमें लगे हुए इन चार मनुष्योंके बीचमें पापके कारण दो तो अधोगतिको जावेंगे और दो पुण्यके कारण ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे ॥४१॥ जो अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे, दयालु थे और संसारकी सब स्थिति जानते थे ऐसे वे मुनिराज साथके दूसरे मुनिसे इस प्रकार कहकर कहीं चले गये ॥४२॥ इधर मुनिराजके उक्त वचन सुनकर क्षीरकदम्बकका हृदय शंकित हो उठा। जब दिन ढल गया तो उसने शिष्योंको तो घर भेज दिया पर स्वयं अन्यत्र चला गया ॥४३॥ पतिको शिष्योंके साथ न देख स्वस्तिमतिने शंकित हो पूछा कि अरे शिष्यो ! उपाध्याय कहाँ गये हैं ? बताओ ॥४४॥ शिष्योंने कहा कि उन्होंने हम लोगोंको यह कहकर भेजा था कि मैं अभी आता हूँ। हे माँ ! वे मार्गमें पीछे आते ही होंगे, व्यग्र न होओ ॥४५॥ शिष्योंके उक्त वचन सुन स्वस्तिमती दिन-भर तो चुप बैठी रही परन्तु जब वह रात्रिको भी घर नहीं आया तो उसके शोककी सीमा नहीं रही। वह पतिका अभिप्राय जानती थी इसलिए जान पड़ता है ब्राह्मणने दीक्षा ले ली है, यह विचारकर वह चिरकाल तक रोती रही ॥४६-४७॥ प्रातःकाल होनेपर पर्वत और नारद उसे खोजनेके लिए गये। वे कितने ही दिन भटकते रहनेसे थक गये। अन्तमें उन्होंने देखा कि पिता क्षीरकदम्बक वनके अन्तमें गुरुके पास निर्ग्रन्थ मुद्रामें बैठकर पढ़ रहे हैं। पिताको उस प्रकार बैठा देखकर पर्वतका धैर्य छूट गया। उसने दूरसे ही लौटकर माताके लिए सब समाचार सुनाया। पर्वतके मुखसे पतिकी दीक्षाका समाचार जानकर ब्राह्मणी स्वस्तिमती बहुत दुःखी हुई। पर्वतने भी माताके साथ दुःख मनाया। अन्तमें धीरे-धीरे शोक दूर कर दोनों पहलेके समान सुखसे रहने लगे ॥४८-५०॥

पर्वत तो दूरसे चला आया था परन्तु नारद विनयी था इसलिए उसने गुरुके पास जाकर प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया, उनसे वार्तालाप कर अणुव्रत धारण किये और उसके बाद वह घर वापस आया ॥५१॥ अतिशय निपुण नारदने आकर शोकसे सन्तप्त पर्वतकी माताको आश्वासन दिया, नमस्कार किया और उसके बाद अपने घरकी ओर प्रस्थान किया ॥५२॥ तदनन्तर वसुके पिता राजा अभिचन्द्र भी संसारके सुखसे उदासीन हो गये इसलिए अपना विस्तृत राज्य वसुके

१. आशास्य म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुना वासवेनेव नवयौवनवर्तिना । वनितेव विनीतस्त्वं नीता नीतिविदावनिः ॥५४॥
नभःस्फटिकमूर्द्धस्थसिंहासनमधिष्ठितम् । नभस्थमेव भूपास्तं दत्तास्थानममंसत ॥५५॥
भूमौ कीर्तिरभूत्तस्य महिम्ना धर्मजन्मना । [1]अश्मोपरिचरस्यात्र वसोरन्वर्थतां[2]पुषः ॥५६॥
इक्ष्वाकुवंशजा जाया कुरुवंशोद्भवा परा । दशपुत्रास्तयोर्जाताः वसोर्वसुसमाः क्रमात् ॥५७॥
बृहद्वसुरिति ज्ञेयः पूर्वश्चित्रवसुः परः । वासवश्चार्कनामा च पञ्चमश्च महावसुः ॥५८॥
विश्वावसू रविः सूर्यः सुवसुश्च बृहद्ध्वजः[3] । इत्यमी वसुराजस्य सुताः सुविजिगीषवः ॥५९॥
सुतैर्दशभिरन्योऽन्यप्रीतिबद्धमनोरथैः । इन्द्रियार्थैरिवोपेतः पार्थिवः सुखमन्वभूत् ॥६०॥
एकदा नारदश्छात्रैर्बहुभिश्छत्रिभिर्वृतः । गुरुवद्गुरुपुत्रेच्छः पर्वतं द्रष्टुमागतः ॥६१॥
कृतेऽभिवादने तेन कृतप्रत्यभिवादनः । सोऽभिवाद्य गुरोः पत्नीं गुरुसंकथया स्थितः ॥६२॥
अथ व्याख्यामसौ कुर्वन् वेदार्थस्यापि गर्वितः । पर्वतः सर्वतश्छात्रैर्वृतो नारदसंनिधौ ॥६३॥
अजैर्यष्टव्यमित्यत्र वेदवाक्ये विसंशयम् । अजशब्दः किलाम्नातः पश्वर्थस्याभिधायकः ॥६४॥
तैरजैः खलु यष्टव्यं स्वर्गकामैरिह द्विजैः । पदवाक्यपुराणार्थपरमार्थविशारदैः ॥६५॥
प्रतिबन्धमिहान्धस्य तस्य चक्रे स नारदः । [4]युक्त्यागमबलालोकध्वस्ताज्ञानतमस्तरः ॥६६॥
भट्टपुत्र ! किमित्येवमपव्याख्यामुपाश्रितः । कुतोऽयं संप्रदायस्ते सहाध्यायिन्नुपागतः ॥६७॥

लिए सौंपकर तपोवनको चले गये ॥५३॥ नवयौवनसे मण्डित, नीतिका वेत्ता वसु इन्द्रके समान जान पड़ता था। उसने समस्त पृथिवीको स्त्रीके समान वशीभूत कर लिया था ॥५४॥ राजा वसु सभामें आकाशस्फटिकके ऊपर स्थित सिंहासनपर बैठता था इसलिए अन्य राजा उसे आकाशमें ही स्थित मानते थे ॥५५॥ राजा वसु सदा आकाशस्फटिकपर चलता था और सदा सत्यका ही पोषण करता था इसलिए पृथिवीपर उसका यही यश फैल रहा था कि वह धर्मकी महिमासे आकाशमें चलता है ॥५६॥ उसकी एक स्त्री इक्ष्वाकुवंशकी और दूसरी कुरुवंशकी थी। उन दोनोंसे उसके क्रमसे १ बृहद्वसु, २ चित्रवसु, ३ वासव, ४ अर्क, ५ महावसु, ६ विश्वावसु, ७ रवि, ८ सूर्य, ९ सुवसु और १० बृहद्ध्वज ये दश पुत्र हुए। ये सभी पुत्र वसुके ही समान अतिशय विजिगीषु—विजयाभिलाषी—पराक्रमी थे ॥५७-५९॥ इन्द्रियोंके विषयोंके समान परस्परकी प्रीतिसे युक्त इन दश पुत्रोंसे सहित राजा वसु अत्यधिक सुखका अनुभव कर रहा था ॥६०॥

अथानन्तर एक दिन बहुतसे छत्रधारी शिष्यों-से घिरा नारद, गुरुपुत्रको गुरुके समान मानता हुआ पर्वतसे मिलनेके लिए आया ॥६१॥ पर्वतने नारदका अभिवादन किया और नारदने पर्वतका प्रत्यभिवादन किया। तदनन्तर गुरुपत्नीको नमस्कार कर नारद गुरुजीकी चर्चा करता हुआ बैठ गया ॥६२॥ उस समय पर्वत सब ओरसे छात्रोंसे घिरा वेद वाक्यकी व्याख्या कर रहा था सो नारदके सम्मुख भी उसी तरह गर्वसे युक्त हो व्याख्या करने लगा ॥६३॥ वह कह रहा था कि 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद वाक्यमें जो अज शब्द आया है वह निःसन्देह पशु अर्थका ही वाचक माना गया है ॥६४॥ इसलिए पद वाक्य और पुराणके अर्थके वास्तविक जाननेवाले एवं स्वर्गके इच्छुक जो द्विज हैं उन्हें बकरासे ही यज्ञ करना चाहिए ॥६५॥ युक्तिबल और आगम बलरूपी प्रकाशसे जिसका अज्ञानरूपी अन्धकारका पटल नष्ट हो गया था ऐसे नारदने अज्ञानी पर्वतके उक्त अर्थपर आपत्ति की ॥६६॥ नारदने पर्वतको सम्बोधते हुए कहा कि हे गुरुपुत्र ! तुम इस प्रकारकी निन्दनीय व्याख्या क्यों कर रहे हो ? हे मेरे सहाध्यायी ! यह सम्प्रदाय उन्हें कहाँसे

१. अस्योपरि -म.। २. -रन्वर्थतायुषः म., क.। ३. बृहद्ध्वजाः म.। ४. युक्तागम- म.। युक्त्यागमबलाल्लोक- ख.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकोपाध्यायशिष्याणां नित्यमव्यभिचारिणाम् । गुरुशुश्रूषताऽत्यागे[1] संप्रदायभिदा कुतः ॥६८॥
न स्मरत्यजशब्दस्य यथेहार्थो गुरूदितः । त्रिवर्षा व्रीहयोऽबीजा अजा इति सनातनः ॥६९॥
इत्युक्तोऽपि स दुर्मोचग्राहग्रहगृहीतधीः । सोऽनादृत्य वचस्तस्य प्रतिज्ञामकरोत्पुनः ॥७०॥
किमत्र बहुनोक्तेन शृणु नारद ! वस्तुनि । पराजितोऽस्मि यद्यत्र जिह्वाच्छेदं करोम्यहम् ॥७१॥
नारदेन ततोऽवाचि किं दुःखाग्निशिखाततौ । पतङ्ग इव दुःपक्षः पर्वत ! पतसि स्वयम् ॥७२॥
पर्वतोऽपि ततोऽवोचद् यात[2] किं बहुजल्पितैः । [3]श्वोऽस्तु नौ वसुराजस्य सभायां जल्पनिस्तरः ॥७३॥
नष्टस्त्वं दृष्टं इत्युक्त्वा स्वावासं नारदोऽगमत् । पर्वतोऽपि च तां वार्त्तां मातुरार्त्तसतिर्जगौ ॥७४॥
सा निशम्य हतास्मीति वदन्ती तान्तमानसा । निनिन्द नन्दनं मिथ्या त्वदुक्तमिति वादिनी ॥७५॥
नारदस्य वचः सत्यं परमार्थनिवेदनात् । वचस्तवान्यथा पुत्र ! विपरीतपरिग्रहात् ॥७६॥
समस्तशास्त्रसंदर्भगर्भनिर्भेदशुद्धधीः । पिता ते पुत्र ! यत्प्राह तदेवाख्याति नारदः ॥७७॥
एवमुक्त्वा निशान्ते सा निशान्तमगमद्वसोः । आदरेणेक्षिता तेन पृष्टा चागमकारणम् ॥७८॥
निगद्य वसवे सर्वं ययाचे गुरुदक्षिणाम् । हस्तन्यासकृतां पूर्वं स्मरयित्वा गुरोर्गृहे[4] ॥७९॥
जानताऽपि त्वया पुत्र ! तत्त्वातत्त्वमशेषतः । पर्वतस्य वचः स्थाप्यं दूष्यं नारदभाषितम् ॥८०॥
सत्येन श्राविते नास्या वचनं वसुना ततः । प्रतिपन्नमतः सापि कृतार्थेव ययौ गृहम् ॥८१॥

प्राप्त हुआ है ? ॥६७॥ जो निरन्तर साथ-ही-साथ रहे हैं तथा जिन्होंने कभी गुरुकी शुश्रूषाका त्याग नहीं किया ऐसे एक ही उपाध्यायके शिष्योंमें सम्प्रदाय भेद कैसे हो सकता है ? ॥६८॥ यहाँ अज शब्दका जैसा अर्थ गुरुजीने बताया था वह क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? गुरुजीने तो कहा था जिसमें अंकुर उत्पन्न होनेकी शक्ति नहीं है ऐसा पुराना धान्य अज कहलाता है यही सनातन अर्थ है ॥६९॥ दुःखसे छूटने योग्य हठरूपी पिशाचसे जिसकी बुद्धि ग्रस्त थी ऐसे पर्वतने नारदके इस प्रकार कहनेपर भी अपना हठ नहीं छोड़ा प्रत्युत नारदके वचनोंका तिरस्कार कर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि हे नारद ! अधिक कहनेसे क्या ? यदि इस विषयमें पराजित हो जाऊँ तो अपनी जीभ कटा लूँ ॥७०-७१॥ पश्चात् नारदने कहा कि हे पर्वत ! खोटा पक्ष लेकर, खोटे पंखोंसे युक्त पक्षीके समान दुःखरूपी अग्निकी ज्वालाओंमें स्वयं क्यों पड़ रहे हो ? इसके उत्तरमें पर्वतने भी कहा कि जाओ बहुत कहनेसे क्या ? कल हम दोनोंका राजा वसुकी सभामें शास्त्रार्थ हो जावे ॥७२-७३॥ वितण्डावाद बढ़ते देख नारद यह कहकर अपने घर चला गया कि पर्वत ! मैं तुम्हें देखने आया था सो देख लिया, तुम भ्रष्ट हो गये । नारदके चले जानेपर पर्वतने भी दुःखी होकर यह वृत्तान्त अपनी मातासे कहा ॥७४॥ पर्वतकी बात सुनकर उसकी माताका हृदय बहुत दुःखी हुआ । 'हाय मैं मरी' यह कहती हुई उसने पर्वतकी निन्दा की, उसके मुखसे बार-बार यही निकल रहा था कि तेरा कहना झूठ है ॥७५॥ हे पुत्र ! परमार्थका प्ररूपक होनेसे नारदका कहना सत्य है और विपरीत अर्थका आश्रय लेनेसे तेरा कहना मिथ्या है ॥७६॥ समस्त शास्त्रोंके पूर्वापर सन्दर्भके ज्ञानसे जिनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल थी ऐसे तेरे पिताने जो कहा था हे पुत्र ! वही नारद कह रहा है ॥७७॥ इस प्रकार पर्वतसे कहकर वह प्रातःकाल होते ही राजा वसुके घर गयी । राजा वसुने उसे बड़े आदर-से देखा और उससे आनेका कारण पूछा ॥७८॥ स्वस्तिमतीने वसुके लिए सब वृत्तान्त सुनाकर पहले पढ़ते समय गुरुगृहमें उसके हाथमें धरोहररूपी रखी हुई गुरुदक्षिणाका स्मरण दिलाते हुए याचना की कि हे पुत्र ! यद्यपि तू सब तत्त्व और अतत्त्वको जानता है तथापि तुझे पर्वतके ही वचनका समर्थन करना चाहिए और नारदके वचनको दूषित ठहराना चाहिए ॥७९-८०॥

---

१. शुश्रूषतां त्यागे म. । २. यातः म. । ३. सोऽस्तु म., क., ङ. । ४. दुष्ट म. । ५. गृहम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्थानीसमये तस्थौ दिनादौ वसुरासने । तमिन्द्रमिव देवौघाः क्षत्रियौघाः सिषेविरे ॥८२॥
प्रविष्टौ च नृपास्थानीं विप्रौ पर्वतनारदौ । सर्वशास्त्रविशेषज्ञैः प्राश्निकैः परिवारितौ ॥८३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्या शूद्राः साश्रमिणोऽविशन् । लौकिकाः सहजं प्रष्टुमविशेषादृते सभाम् ॥८४॥
तत्सामानि[1] जगुः केचिज्जनश्रोत्रसुखान्यलम् । तत्र प्रोच्चारणं मृष्टं केचिद् विप्राः प्रचक्रिरे ॥८५॥
यजूंषि प्रणवारम्भघोषभाजोऽपरेऽपठन् । पदक्रमयुजो मन्त्रानामनन्ति स्म केचन ॥८६॥
उदात्तस्यानुदात्तस्य स्वरस्य स्वरितस्य च । ह्रस्वदीर्घप्लुतस्थस्य स्वरूपमुदचीचरन् ॥८७॥
द्विजैः [2]सामर्ग्यजुर्वेदमारभ्याध्ययनोद्धुरैः । बधिरीकृतदिक्चक्रैर्निचितं सदसोऽजिरम् ॥८८॥
सिंहासनस्थमाशीभिर्दृष्ट्वोपरिचरं वसुम् । पीठमर्दैः सहासीनौ विप्रौ नारदपर्वतौ ॥८९॥
कूर्चप्ररोहिणस्तत्र कमण्डलुबृहत्फलाः । सवल्कलजटाभारास्तस्थुस्तापसपादपाः ॥९०॥
सदः सागरसंक्षोभसेतुबन्धेषु केषुचित् । अपक्षपातसंबन्धतुलादण्डेषु केषुचित् ॥९१॥
उत्पथोत्थानवादीभस्वंकुशेषु च केषुचित् । निकषोत्पलकल्पेषु केषुचित्तत्त्वमार्गणे ॥९२॥
पण्डितेषु यथास्थानं निविष्टेषु यथासनम् । सूपं ज्ञानवयोवृद्धाः[3] केचिदेवं व्यजिज्ञपन् ॥९३॥
राजन्! वस्तुविसंवादादिमौ नारदपर्वतौ । विद्वांसावागतौ पार्श्वं न्यायमार्गविदस्तव ॥९४॥

स्वस्तिमतीने चूँकि वसुको गुरुदक्षिणाविषयक सत्यका स्मरण कराया था इसलिए उसने उसके वचन स्वीकृत कर लिये और वह भी कृतकृत्यके समान निश्चिन्त हो घर वापस गयी ॥८१॥

तदनन्तर जब प्रातःकालके समय सभाका अवसर आया तब राजा वसु सिंहासनपर आरूढ़ हुआ और जिस प्रकार देवोंके समूह इन्द्रकी सेवा करते हैं उसी प्रकार क्षत्रियोंके समूह उसकी सेवा करने लगे ॥८२॥ उसी समय सर्व शास्त्रोंके विशेषज्ञ प्रश्नकर्ताओंसे घिरे हुए पर्वत और नारदने राजसभामें प्रवेश किया ॥८३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और आश्रमवासी भी आये तथा अन्य साधारण मनुष्य भी विशेष आमन्त्रण न होनेपर भी सहज स्वभाववश प्रश्न करनेके लिए सभामें आ बैठे ॥८४॥ उस समय राजसभामें कितने ही ब्राह्मण मनुष्योंके कानोंको सुख देनेवाले सामवेद गा रहे थे और कितने ही वेदोंका स्पष्ट एवं मधुर उच्चारण कर रहे थे ॥८५॥ कितने ही ओंकार ध्वनिके साथ यजुर्वेदका पाठ कर रहे थे और कितने ही पद तथा क्रमसे युक्त अनेक मन्त्रोंकी आवृत्ति कर रहे थे ॥८६॥ कितने ही ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेदोंको लिये हुए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरोंके स्वरूपका उच्चारण कर रहे थे ॥८७॥ जो ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको प्रारम्भ कर जोर-जोरसे पाठ कर रहे थे तथा जिन्होंने दिशाओंके समूहको बहिरा कर दिया था ऐसे ब्राह्मणोंसे सभाका आँगन खचा-खच भर गया ॥८८॥ अन्तरीक्ष सिंहासनपर स्थित राजा वसुको आशीर्वाद देकर नारद और पर्वत अपने-अपने सहायकोंके साथ यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये ॥८९॥ जो डाँड़ीरूपी अंकुरोंसे सहित थे तथा कमण्डलुरूपी बड़े-बड़े फल धारण कर रहे थे ऐसे वल्कल और जटाओंके भारसे युक्त अनेक तापसरूपी वृक्ष वहाँ विद्यमान थे ॥९०॥ उस समय जो पण्डित सभामें यथास्थान बैठे थे उनमें कितने ही सभारूपी सागरमें क्षोभ उत्पन्न होनेपर उसे रोकनेके लिए सेतुबन्धके समान थे, कितने ही पक्षपात न हो सके इसके लिए तुलादण्डके समान थे, कितने ही कुमार्गमें चलनेवाले वादीरूपी हाथियोंको वश करनेके लिए उत्तम अंकुशोंके समान थे और कितने ही श्रेष्ठतत्त्वकी खोज करनेके लिए कसौटी पत्थरके समान थे। जब सब विद्वान् यथास्थान यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये तब जो ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध थे ऐसे कितने ही लोगोंने राजा वसुसे इस प्रकार निवेदन किया ॥९१-९३॥

हे राजन्! ये नारद और पर्वत विद्वान् किसी एक वस्तुमें विसंवाद होनेसे आपके पास

१. तत्समानि म. । २. सामयजुर्वेद-म. । ३. रूपाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिकार्थविचारोऽयं त्वदन्येषामगोचरः । विच्छिन्नसंप्रदायानामिदानीमिह भूतले ॥९५॥
तदत्र भवतोऽध्यक्षमेषां विदुषां पुरः । लभेतां निश्चयादेतौ न्याय्यौ जयपराजयौ ॥९६॥
न्यायेनावसिते ह्यत्र वादे वेदानुसारिणाम् । स्यात्प्रवृत्तिरसंदिग्धा सर्वलोकोपकारिणी ॥९७॥
इत्युदीरितवृद्धेन्द्रः स विज्ञप्तः पूर्वपक्षमदापयत् । पर्वताय सदस्यैस्तैः सगर्वः पक्षमग्रहीत् ॥९८॥
अजैर्यज्ञविधिः कार्यः स्वर्गार्थिभिरिति श्रुतिः । अजाश्चात्र चतुष्पादाः प्रणीताः प्राणिनः स्फुटम् ॥९९॥
न केवलमयं वेदे लोकेऽपि पशुवाचकः । आवृद्धादङ्गनाबालादजशब्दः प्रतीयते ॥१००॥
नरोऽजपोतगन्धोऽयमजायाः क्षीरमित्यपि । नापनेतुमियं शक्या प्रसिद्धिस्त्रिदशैरपि ॥१०१॥
सिद्धशब्दार्थसंबन्धे नियते तस्य बाधने । व्यवहारविलोपः स्यादन्धघूकमिदं जगत् ॥१०२॥
अबाधितः पुनर्न्याये शब्दे शब्दः प्रवर्त्तते । शास्त्रीयो लौकिकश्चात्र व्यवहारः सुगोचरे ॥१०३॥
यथाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ । अग्निप्रभृतिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरिग्रहः ॥१०४॥
तथैवाजशब्दस्य पशुरर्थः स्फुटः स्थितः । कुत्र यागादिशब्दार्थः पशुपातश्च निश्चितः ॥१०५॥
अतोऽनुष्ठानमास्थेयमजपोतनिपातनम् । यजैर्यष्टव्यमित्यत्र वाक्यैर्निष्ठितसंशयैः ॥१०६॥
आशङ्का च न कर्तव्या पशोरिह निपातने । दुःखं स्यादिति सन्त्रेण सुखमृत्योर्न दुःखिता ॥१०७॥
मन्त्राणां वाहने साक्षाद् दीक्षान्तेऽतिसुखासिका । मणिमन्त्रौषधीनां हि प्रभावोऽचिन्त्यतां गतः ॥१०८॥

आये हैं क्योंकि आप न्यायमार्गके वेत्ता हैं ॥९४॥ यह वैदिक अर्थका विचार इस समय पृथिवी-तलपर आपके सिवाय अन्य लोगोंका विषय नहीं है क्योंकि उन सबका सम्प्रदाय छिन्न-भिन्न हो चुका है ॥९५॥ इसलिए आपकी अध्यक्षतामें इन सब विद्वानोंके आगे ये दोनों निश्चय कर न्यायपूर्ण जय और पराजयको प्राप्त करें ॥९६॥ न्याय द्वारा इस वादके समाप्त होनेपर वेदानुसारी मनुष्योंकी प्रवृत्ति सन्देहरहित एवं सब लोगोंका उपकार करनेवाली हो जायेगी ॥९७॥ इस प्रकार वृद्धजनोंके कहनेपर राजा वसुने पर्वतके लिए पूर्व पक्ष दिलवाया अर्थात् पूर्वपक्ष रखनेका उसे अवसर दिया और अपने साथी सदस्योंके कारण गर्वसे भरे पर्वतने पूर्व पक्ष ग्रहण किया ॥९८॥ पूर्व पक्ष रखते हुए उसने कहा कि 'स्वर्गके इच्छुक मनुष्योंको अजों द्वारा यज्ञकी विधि करनी चाहिए' यह एक श्रुति है इसमें जो अज शब्द है उसका अर्थ चार पावोंवाले जन्तु विशेष—बकरा है ॥९९॥ अज शब्द न केवल वेदमें ही पशुवाचक है किन्तु लोकमें भी स्त्रियों और बालकोंसे लेकर वृद्धों तक पशुवाचक ही प्रसिद्ध है ॥१००॥ यह मनुष्य अजके बालकके समान गन्ध वाला है, और 'यह अजा—बकरीका दूध है' इत्यादि स्थलोंमें अज शब्दकी जिस अर्थमें प्रसिद्धि है वह देवोंके द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती ॥१०१॥ सिद्ध शब्द और उसके अर्थका जो सम्बन्ध पहलेसे निश्चित चला आ रहा है यदि उसमें बाधा डाली जावेगी तो व्यवहारका ही लोप हो जावेगा क्योंकि यह जगत् अन्ध उलूकोंसे सहित है—निर्विचार मनुष्योंसे भरा हुआ है ॥१०२॥ शब्द योग्य अर्थमें अवांछित रूपसे प्रवृत्त होता है और ऐसा होनेपर ही शास्त्रीय अथवा लौकिक व्यवहार चलता है ॥१०३॥ जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्गका इच्छुक मनुष्य अग्निहोत्र यज्ञ करे, इस श्रुतिमें अग्नि आदि शब्दोंका प्रसिद्ध ही अर्थ लिया जाता है उसी प्रकार 'अजैर्यष्टव्यं स्वर्गकामैः' स्वर्गके इच्छुक मनुष्योंको अजोंसे होम करना चाहिए इस श्रुतिमे भी अजका पशु अर्थ ही स्पष्ट है और यागादि शब्दोंका अर्थ तो पशुघात निश्चित ही है ॥१०४–१०५॥ इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा निःसन्देह, जिसमें अजके बालकका घात होता है ऐसा अनुष्ठान करना चाहिए ॥१०६॥ यहाँ यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि घात करते समय पशुको दुःख होता होगा क्योंकि मन्त्रके प्रभावसे उसकी सुखसे मृत्यु होती है उसे दुःख तो नाम मात्रका भी नहीं होता ॥१०७॥ दीक्षाके अन्तमें मन्त्रोंका उच्चारण होते ही पशुको सुखमय स्थान साक्षात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपातनं च कस्यात्र यत्रात्मा सूक्ष्मतां श्रितः ।[1] अवध्योऽग्निविषास्त्राद्यैः किं पुनर्मन्त्रवाहनैः ॥१०९॥
सूर्यं चक्षुर्दिशं श्रोत्रं वायुं प्राणानसृक्पयः । गमयन्ति वपुः पृथ्वीं शमितारोऽस्य याज्ञिकाः ॥११०॥
स्वमन्त्रेणेष्टमात्रेण स्वर्लोकं गमितः सुखम् । याजकादिवदाकल्पमनल्पं पशुरश्नुते ॥१११॥
अभिसंधिकृतो बन्धः स्वर्गाप्त्यै सोऽस्य नेत्यपि । न बलाद्याज्यमानस्य शिशोर्वृद्धिर्घृतादिभिः ॥११२॥
स्वपक्षमित्युपन्यस्य विरराम स पर्वतः । नारदस्तमपाकर्त्तुमित्युवाच विचक्षणः ॥११३॥
शृण्वन्तु सद्वचः सन्तः सावधानधियोऽधुना । पर्वतस्य वचः सर्वं शतखण्डं करोम्यहम् ॥११४॥
अजैरित्यादिके वाक्ये यन्मृषा पर्वतोऽब्रवीत् । अजाः पशव इत्येवमस्यैषा स्वमनीषिका ॥११५॥
स्वाभिप्रायवशाद् वेदे न शब्दार्थगतिर्यतः । वेदाध्ययनवत्साप्तादुपदेशमुपेक्षते ॥११६॥
गुरुपूर्वक्रमादर्थाद् दृश्यः[2] शब्दार्थनिश्चितः । सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा ॥११७॥
अथाध्ययनमन्यत्[3] स्यादन्यत्स्यादर्थवेदनम् । स्थिते साधारणे न्याये कामचारगतिः कुतः ॥११८॥
शब्दस्यार्थं स्वतो वेत्ति प्रज्ञासातिशयोऽपि हि । न शब्दमिति शापोऽयं कुतः कस्यात्र दुस्तरः ॥११९॥

दिखाई देने लगता है सो ठीक ही है क्योंकि मणि, मन्त्र और ओषधियोंका प्रभाव अचिन्त्य होता है ॥१०८॥ जब कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्मताको प्राप्त है तब यहाँ घात किसका होता है ? यह आत्मा तो अग्नि, विष तथा अस्त्र आदिके द्वारा भी घात करने योग्य नहीं है फिर मन्त्र पाठोंके द्वारा तो इसका घात होगा ही किस तरह ? ॥१०९॥ याज्ञिक लोग यज्ञमें पशुका घातकर उसके चक्षुको सूर्यके पास, क्षेत्रको दिशाओंके पास, प्राणोंको वायुके पास, खूनको जलके पास और शरीरको पृथिवीके पास भेज देते हैं। इस तरह याज्ञिक उसे शान्ति ही पहुँचाते हैं न कि कष्ट। मन्त्र द्वारा होम करने मात्रसे ही पशु सीधा स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहाँ यज्ञ करानेवाले आदिके समान वह कल्पकाल तक बहुत भारी सुख भोगता रहता है ॥११०-१११॥ अभिप्रायपूर्वक किया हुआ पुण्यबन्ध ही स्वर्ग प्राप्तिका कारण है और बलपूर्वक होमे गये पशुके वह सम्भव नहीं है इसलिए उसे स्वर्गकी प्राप्ति होना असम्भव है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार बच्चेको उसकी इच्छाके विरुद्ध जबर्दस्ती दिये हुए घृतादिकसे उसकी वृद्धि देखी जाती उसी प्रकार यज्ञमें जबर्दस्ती होमे जानेवाले पशुके भी स्वर्गकी प्राप्ति देखी जाती है ॥११२॥ इस प्रकार वह पर्वत अपना पूर्व पक्ष स्थापित कर चुप हो रहा तदनन्तर बुद्धिमान् नारद उसका निराकरण करनेके लिए इस तरह बोला ॥११३॥

उसने कहा कि हे सज्जनो ! सावधान होकर मेरे वचन सुनिए मैं अब पर्वतके सब वचनोंके सौ टुकड़े करता हूँ ॥११४॥ 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्यमें पर्वतने जो कहा है वह झूठ है। क्योंकि अजका अर्थ पशु है यह इसकी स्वयंकी कल्पना है ॥११५॥ वेदमें शब्दार्थकी व्यवस्था अपने अभिप्रायसे नहीं होती किन्तु वह वेदाध्ययनके समान आप्तसे उपदेशकी अपेक्षा रखती है ॥११६॥ कहनेका तात्पर्य यह है कि गुरुओंकी पूर्व परम्परासे शब्दोंके अर्थका निश्चय करना चाहिए। यदि शब्दार्थका निश्चय अन्यथा होता है तो अध्ययन भी अन्यथा हो जायगा ॥११७॥ यदि यह कहा जाये कि अध्ययन दूसरा है और अर्थज्ञान उससे भिन्न हो सकता है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उभयत्र न्याय समान होने या एकके विषयमें मनमानी कैसे हो सकती है ? भावार्थ—यदि अध्ययन गुरु-परम्पराकी अपेक्षा रखता है तो अर्थज्ञान भी गुरु-परम्पराकी अपेक्षा रखेगा यह न्यायसिद्ध बात है ॥११८॥ यदि यह कहा जाये कि प्रज्ञाशाली मनुष्य

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ —भगवद्गीता
२. दृश्यः शब्दार्थनिश्चितिः घ., म., ङ. । दृष्टः शब्दार्थ -क. । ३. -मन्यः स्यादन्यः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न चायं संप्रदायोऽस्मायेकस्मै गुरुणोदितः । त्रयः शिष्याः वयं योग्या वसुनारदपर्वताः ॥१२०॥
समानश्रुतिकाः शब्दाः सन्ति लोकेऽत्र भूरिशः । गवादयः प्रयोगोऽपि तेषां विषयभेदतः ॥१२१॥
पशुरश्मिमृगाक्षाशावज्रवाजिषु वाग्भुवोः । गोशब्दव्यक्तयो व्यक्ताः प्रयुज्यन्ते पृथक्-पृथक् ॥१२२॥
न हि चित्रगुरित्यत्र[1] रश्मिवस्तुनि शेमुषी । न चाशीतगुरित्यत्र[2] सास्नादिमति वर्तते ॥१२३॥
रूढ्या क्रियावशाद्वाच्ये वाचां वृत्तिरवस्थिता । तामस्थिरोपदेशास्तु विस्मरन्ति गुरूदितम् ॥१२४॥
तदत्र चोदनावाक्ये रूढिशब्दार्थदूरगः । क्रियाशब्दस्य[3] चाम्नातो न जायन्त इति ह्यजाः ॥१२५॥
ऐश्वर्यं रूढिशब्दस्य विद्भिर्लोकशास्त्रयोः । अजगन्धोऽयमित्यादौ प्रयोगो न निषिध्यते ॥१२६॥
तेन पूर्वोक्तदोषोऽपि नैवास्माकं प्रसज्यते । व्यवहारोपयोगित्वाद् वाचां स्वोचितगोचरे ॥१२७॥
सत्यां क्षित्यादिसामग्र्यामप्ररोहादिपर्ययाः । व्रीहयोऽजाः पदार्थोऽयं वाक्यार्थो यजनं तु तैः ॥१२८॥
देवपूजा[4] यजेरर्थस्तैरजैर्यजनं द्विजैः । नैवेद्यादिविधानेन[5] यागः स्वर्गफलप्रदः ॥१२९॥

शब्दका अर्थ तो स्वयं जान लेता है पर शब्दको नहीं जान पाता तो यह दुस्तर शाप यहाँ किसके लिए किससे प्राप्त हुआ था सो बताओ। भावार्थ—यदि बुद्धिमान् मनुष्य अपनी इच्छासे शब्दके अर्थकी कल्पना कर लेता है तो उसे शब्द भी बना लेना चाहिए इसमें द्विविधाकी क्या बात है ?॥११९॥ गुरुने यह सम्प्रदाय एक पर्वतके लिए ही बनाया हो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि हम वसु, नारद और पर्वत ये तीन योग्य शिष्य थे। भावार्थ –तीन शिष्योंमें-से एक शिष्यको गुरु दूसरा अर्थ बतलावें और शेषको दूसरा अर्थ यह सम्भव नहीं दिखता ॥१२०॥ लोकमें गोको आदि लेकर ऐसे बहुत शब्द हैं जिनका समान श्रवण होता है—समान उच्चारण होता है परन्तु विषय-भेदसे उनका प्रयोग पृथक्-पृथक् होता है। जैसे गो शब्द—पशु, किरण, मृग, इन्द्रिय, दिशा, वज्र, घोड़ा, वचन और पृथिवी अर्थमें प्रसिद्ध है परन्तु सब अर्थोंमें उसका पृथक्-पृथक् ही प्रयोग होता है। 'चित्रगु' इस शब्दमें गोका किरण अर्थ कोई नहीं करता और 'अशीतगु' इस शब्दमें गो शब्दका अर्थ सास्नादिमान् पशु कोई नहीं मानता किन्तु प्रकरणके अनुसार 'चित्रगु' शब्दमें गोका अर्थ गाय और 'अशीतगु' शब्दमें किरण ही माना जाता है ॥१२१-१२३॥ शब्दोंके अर्थमें जो प्रवृत्ति है वह या तो रूढ़िसे होती है या क्रियाके आधीन होती है परन्तु जिनके हृदयमें गुरुका उपदेश चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता वे गुरु-प्रतिपादित अर्थको भूल जाते हैं ॥१२४॥ इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद-वाक्यमें अज शब्दका अर्थ रूढ़िगत अर्थसे दूर 'न जायन्ते इति अजाः' (जो उत्पन्न न हो सकें वे अज हैं) इस व्युत्पत्तिसे क्रिया सम्मत 'तीन वर्षका धान्य' लिया गया है ॥१२५॥ विद्वान् लोग, लोक और शास्त्र दोनोंमें रूढ़ि शब्दके ऐश्वर्यको जानते हैं अतः 'अजगन्धोऽयं पुरुषः' इत्यादि स्थलोंमें अज शब्दका बकरा अर्थमें प्रयोग निषिद्ध नहीं है ॥१२६॥ पर्वतने जो पहले यह दोष दिया था कि यदि शब्दोंका स्वभावसिद्ध अर्थ न किया जायेगा तो व्यवहारका ही लोप हो जायेगा उसका हमारे ऊपर प्रसंग ही नहीं आता क्योंकि शब्दोंका अपने-अपने योग्य स्थलोंपर व्यवहारकी सिद्धिके लिए ही उपयोग किया जाता है ॥१२७॥ इसलिए पृथिवी आदि सामग्रीके रहते हुए भी जिसमें अंकुरादि रूप पर्याय प्रकट न हो सके ऐसा तीन वर्षका पुराना धान अज कहलता है। यह तो अज शब्दका अर्थ है और ऐसे धान्यसे यज्ञ करना चाहिए यह 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका अर्थ है ॥१२८॥ यज धातुका अर्थ देव-पूजा है इसलिए द्विजोंको पूर्वोक्त धानसे ही पूजा करनी चाहिए क्योंकि नैवेद्य आदिसे की हुई पूजा ही स्वर्ग रूप फलको देनेवाली

१. चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः = चित्रवर्णगोयुक्तः । २. अशीता उष्णाः गावः किरणा यस्य सोऽशीतगुः = सूर्यः । ३. क्रियाशब्दसमाम्नातो म. । ४. यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु । ५. निवेद्यादि—क., ड. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्कर्मणां विधातारं पुराणपुरुषं परम् । त्रातारमिन्द्रमिन्द्रेज्यं वेदे गीतं स्वयंभुवम् ॥१३०॥
देशकं मुक्तिमार्गस्य शोषकं भववारिधेः । अनन्तज्ञानसौख्यादिमदीशाख्यं[1] महेश्वरम् ॥१३१॥
ब्रह्माणं विष्णुमीशानं सिद्धं बुद्धमनामयम् । आदित्यवर्णं वृषभं[2] पूजयन्ति हितैषिणः ॥१३२॥
ततः स्वर्गसुखं पुंसां ततो मोक्षसुखं ध्रुवम् । ततः कीर्त्तिस्ततः कान्तिस्ततो दीप्तिस्ततो धृतिः ॥१३३॥
पिष्टेनापि न यष्टव्यं पशुत्वेन विकल्पितात् । संकल्पादशुभात्पापं पुण्यं तु शुभतो यतः ॥१३४॥
यो नामस्थापनाद्रव्यैर्भावेन च विभेदनात् । चतुर्धा हि पशुः प्रोक्तस्तस्य चिन्त्यं न हिंसनम् ॥१३५॥
यदुक्तं मन्त्रतो मृत्योर्न दुःखमिति तन्मृषा । न चेद् दुःखं न मृत्युः स्यात् स्वस्थावस्थस्य पूर्ववत् ॥१३६॥
पादनासाधिरोधेन विना चेन्निपतेत्पशुः । मन्त्रेण मरणं तथ्यं[3]मसंभाव्यमिदं पुनः ॥१३७॥
सुखासिकापि नैकान्तान्मर्त्तुर्मन्त्रप्रभावतः । दुःखितार्प्यारटज्जन्तोर्ग्रहार्त्तस्य निरीक्ष्यते ॥१३८॥
सुसूक्ष्मत्वादवध्योऽयमात्मेति यदुदीरितम् । तन्न स्थूलशरीरस्थः स्थूलोऽपि संभवेद्यतः ॥१३९॥
[4]प्रदीपवदयं देही देहाधारवशाद् यतः । सूक्ष्मस्थूलतया याति स्वसंहारविसर्पणम् ॥१४०॥
अनीदृशस्तु संसारी शरीरानन्तवेदकः । सूक्ष्म एष कथंकारं सुखदुःखमवाप्नुयात् ॥१४१॥
अतः शरीरबाधायां मन्त्रतन्त्राद्ययोगतः । बाधनं नियमादस्य देहमात्रस्य देहिनः ॥१४२॥

होती है ॥१२९॥ हिताभिलाषी मनुष्य जिन्होंने युगके आदिमें असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मोंकी प्रवृत्ति चलायी थी, जो पुराण पुरुष हैं, उत्कृष्ट हैं, रक्षक हैं, इन्द्ररूप हैं, इन्द्रके द्वारा पूज्य हैं, वेदमें स्वयम्भू नामसे प्रसिद्ध हैं, मोक्ष मार्गके उपदेशक हैं, संसार-सागरके शोषक हैं, अनन्त ज्ञान-सुख आदि गुणोंसे युक्त ईश नामसे प्रसिद्ध हैं, महेश्वर हैं, ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं, ईशान हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, अनामय–रोगरहित हैं और सूर्यके समान वर्णवाले हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवकी ही पूजा करते हैं ॥१३०-१३२॥ उसी पूजासे पुरुषोंको स्वर्ग सुख प्राप्त होता है, उसीसे मोक्षका अविनाशी सुख मिलता है, उसीसे कीर्ति, उसीसे कान्ति, उसीसे दीप्ति और उसीसे धृतिकी प्राप्ति होती है ॥१३३॥ साक्षात् पशुकी बात तो दूर रही पशुरूपसे कल्पित चूनके पिण्डसे भी पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि अशुभ संकल्पसे पाप होता है और शुभ संकल्पसे पुण्य होता है ॥१३४॥ जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके भेदसे चार प्रकारका पशु कहा गया है उसकी हिंसाका कभी मनसे भी विचार नहीं करना चाहिए ॥१३५॥ यह जो कहा है कि मन्त्र द्वारा होनेवाली मृत्युसे दुःख नहीं होता है वह मिथ्या है क्योंकि यदि दुःख नहीं होता है तो जिस प्रकार पहले स्वस्थ अवस्थामें मृत्यु नहीं हुई थी उसी प्रकार अब भी मृत्यु नहीं होनी चाहिए ॥१३६॥ यदि पैर बाँधे बिना और नाक मूँदे बिना अपनेआप पशु मर जावे तब तो मन्त्रसे मरना सत्य कहा जाये परन्तु यह असम्भव बात है ॥१३७॥ मन्त्रके प्रभावसे मरनेवाले पशुको सुखासिका प्राप्त होती है यह भी एकान्त नहीं है क्योंकि जो पशु मारा जाता है वह ग्रहसे पीड़ितकी तरह जोर-जोरसे चिल्लाता है इसलिए उसका दुःख स्पष्ट दिखाई देता है ॥१३८॥ यह जो कहा है कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अवध्य है—मारनेमें नहीं आता है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब आत्मा स्थूल शरीरमें स्थित होता है तब स्थूल भी तो होता है ॥१३९॥ यह आत्मा शरीररूपी आधारके अनुसार दीपकके प्रकाशके समान सूक्ष्म और स्थूलरूप होता हुआ संकोच तथा विस्तार-को प्राप्त होता रहता है ॥१४०॥ यदि अनन्त शरीरोंका अनुभव करनेवाला संसारी जीव इस प्रकार छोटा-बड़ा न माना जावे और एकान्तसे सूक्ष्म ही माना जावे तो वह सुख-दुःखको किस तरह प्राप्तकर सकेगा ? ॥१४१॥ इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीव शरीर प्रमाण है और

१. महेशाख्यं म. । २. -वर्णवृषभं म. । ३. तत्स्यादसंभाव्य—म. । ४. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् त. सू. अ. ५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म्रियमाणोऽतिदुःखेन चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः । वियुज्यते स्वयं तेन कोऽन्यस्तेषां वियोजकः ॥१४३॥
[1]प्राणिघातकृतः स्वर्गः कुतः स्याद्याजकादयः । याज्यस्य स्वर्गगामित्वे दृष्टान्तत्वं गता यतः ॥१४४॥
[2]धर्म्यमेव हि शर्माप्त्यै कर्म याज्यस्य जायते । नह्यपथ्यं शिशोर्दत्तं मात्राऽपि स्यात्सुखाप्तये ॥१४५॥
परिषत्प्रावृषि स्फूर्जद्वचोवज्रमुखैरिति । भित्त्वा पर्वतदुःपक्षं स्थिते नारदनीरदे ॥१४६॥
साधुकारो मुहुर्दत्तस्तस्मै धर्मपरीक्षकैः । सलौकिकैः शिरःकम्पैस्वाङ्गुलिस्फोटनिस्वनैः [3]॥१४७॥
राजोपरिचरः पृष्टस्ततः शिष्टैर्बहुश्रुतैः । राजन् यथाश्रुतं ब्रूहि त्वं सत्यं गुरुभाषितम् ॥१४८॥
मूढसत्यविमूढेन वसुना दृढबुद्धिना । स्मरतापि गुरोर्वाक्यमिति वाक्यमुदीरितम् ॥१४९॥
युक्तियुक्तमुपन्यस्तं नारदेन सभाजनाः । पर्वतेन यदत्रोक्तं तदुपाध्यायभाषितम् ॥१५०॥

मन्त्र-तन्त्र तथा अस्त्र आदिसे शरीरका घात होनेपर इसे नियमसे दुःख होता है ॥१४२॥ जब यह जीव तीव्र दुःखसे मरने लगता है तब चक्षु आदि इन्द्रियोंसे स्वयं ही वियुक्त हो जाता है इसलिए उनका वियोग करानेवाला और दूसरा कौन है ?। भावार्थ—जब जीव स्वयं ही चक्षु आदि इन्द्रियोंसे वियुक्त होता है तब यह कहना कि 'याजक लोग उनके चक्षु आदिको सूर्य आदिके पास भेज देते हैं' मिथ्या है ॥१४३॥ प्राणियोंका घात करनेवालेको स्वर्ग कैसे हो सकता है ? जिससे कि याजक आदिको याज्य (पशु आदिके) स्वर्ग जानेमें दृष्टान्त माना जा सके। भावार्थ—पर्वतने कहा था कि मन्त्र द्वारा होम करते ही पशु स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहाँ वह याजकादिके समान कल्प काल तक अत्यधिक सुख भोगता रहता है सो प्राणियोंका घात करनेवाले याजक आदिको स्वर्ग कैसे मिल सकता है ? उन्हें तो इस पापके कारण नरक मिलना चाहिए अतः जब याजक आदि स्वर्ग नहीं जाते तब उन्हें पशुके स्वर्ग जानेमें दृष्टान्त कैसे बनाया जा सकता है ? ॥१४४॥

धर्म सहित कार्य ही पशुको सुख प्राप्तिमें सहायक हो सकता है अधर्म सहित कार्य नहीं क्योंकि बच्चेके लिए माताके द्वारा दिया हुआ अपथ्य पदार्थ सुख प्राप्तिका कारण नहीं होता। भावार्थ—पर्वतने कहा था कि जिस प्रकार न चाहनेपर भी बच्चेके लिए घी आदि दिया जाता है तो वह उसकी वृद्धिका कारण होता है, उसी प्रकार पशुके न चाहनेपर भी उसे यज्ञमें होमा जाता है तो वह उसके लिए स्वर्गप्राप्तिका कारण होता है । पर्वतका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि धर्मयुक्त कार्य ही पशुके लिए सुखप्राप्तिमें सहायक हो सकता है अधर्मयुक्त नहीं। जिस प्रकार माताके द्वारा दिये हुए घृत, दुग्ध आदि हितकारी पदार्थ ही बच्चेके लिए सुखप्राप्तिमें सहायक होते हैं विषादिक अपथ्य पदार्थ नहीं उसी प्रकार पशुको जबर्दस्ती होम देने मात्रसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु उसके धर्मयुक्त कार्यसे ही हो सकती है ॥१४५॥

इस प्रकार सभारूपी वर्षाकालमें अपने तीक्ष्ण वचन रूपी वज्रके अग्रभागसे पर्वतके मिथ्या पक्षरूपी पर्वत—पहाड़के भद्दे किनारेको तोड़कर जब नारदरूपी मेघ चुप हो रहा तब सभामें बैठे हुए धर्मके परीक्षक लोगोंने एवं साधारण मनुष्योंने शिर हिला-हिलाकर तथा अपनी-अपनी अँगुलियाँ चटकाकर नारदके लिए बार-बार धन्यवाद दिया ॥१४६-१४७॥

तदनन्तर अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता शिष्टजनोंने अन्तरिक्षचारी राजा वसुसे पूछा कि हे राजन् ! आपने गुरुके द्वारा कहा हुआ जो सत्य अर्थ सुना हो वह कहिए ॥१४८॥ यद्यपि राजा वसु दृढ़बुद्धि था और गुरुके वचनोंका उसे अच्छी तरह स्मरण था तथापि मोहवश सत्यके विषयमें अविवेकी हो वह निम्न प्रकार वचन कहने लगा ॥१४९॥ कि हे सभाजनो ! यद्यपि नारदने युक्ति-

१. प्राणिघातं करोतीति प्राणिघातकृत् तस्य । २. धर्ममेव म. । ३. शिरःकंपं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाङ्मात्रेण ततो भूमौ निमग्नः स्फटिकासनः । वसुः पपात पाताले पातकात् पतनं ध्रुवम् ॥१५१॥
पातालस्थितकायोऽसौ सप्तमीं पृथिवीं गतः । नरके नारको जातो महारौरवनामनि ॥१५२॥
हिंसानन्दमृषानन्दरौद्रध्यानाविलो वसुः । जगाम नरकं रौद्रं रौद्रध्यानं हि दुःखदम् ॥१५३॥
[1]प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य पाताले पतिते वसौ । तदाकुलः समुत्तस्थौ हा हा धिग्धिगिति ध्वनिः ॥१५४॥
[2]लब्धासत्यफलं सद्यो निनिन्दुर्नृपतिं जनाः । पर्वतं च निराचक्रुः खलीकृत्य खलं पुरात् ॥१५५॥
तत्त्ववादिनमक्षुद्रं नारदं जितवादिनम् । कृत्वा ब्रह्मरथारूढं पूजयित्वा जना ययुः ॥१५६॥
पर्वतोऽपि [3]खलीकारं प्राप्य देशान् परिभ्रमन् । दुष्टं द्विष्टं निरैक्षिष्ट महाकालं [4]महासुरम् ॥१५७॥
ततस्तस्मै पराभूतिं पराभूतिजुषे पुरा । निवेद्य तेन संयुक्तः कृत्वा हिंसागमं कुधीः ॥१५८॥
लोके प्रतारको भूत्वा हिंसायज्ञं प्रदर्शयन् [5]। अरञ्जयज्जनं मूढं प्राणिहिंसनतत्परम् ॥१५९॥
मृत्वा पापोपदेशेन पापशापवशान्मृतः । सेवामिव वसोः कुर्वन् पर्वतो नरकेऽपतत् ॥१६०॥
स्थापिता वसुराज्येऽष्टौ ज्येष्ठानुक्रमशः क्रमात् । स्वल्पैरेव दिनैर्मृत्युं सूनवोऽपि वसोर्ययुः ॥१६१॥
ततो मृत्युभयात्त्रस्तः सुवसुः प्रपलायितः । गत्वा नागपुरेऽतिष्ठन्मथुरायां बृहद्ध्वजः ॥१६२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कष्टं ख्यातिमवाप्य सत्यजनितां पापाद्धोऽगाद्वसुः
पापं पर्वतकोऽभिमानवशगस्तस्यैव पश्चाद् ययौ ।

युक्त कहा है तथापि पर्वतने जो कहा है वह उपाध्यायके द्वारा कहा हुआ कहा है ॥१५०॥ इतना कहते ही वसुका स्फटिकमणिमय आसन पृथिवीमें धँस गया और वह पातालमें जा गिरा सो ठीक ही है क्योंकि पापसे पतन होता ही है ॥१५१॥ जिसका शरीर पातालमें स्थित था ऐसा वसु मरकर सातवीं पृथिवी गया और वहाँ महारौरव नामक नरकमें नारकी हुआ ॥१५२॥ हिंसानन्द और मृषानन्द रौद्र ध्यानसे कलुषित हो वसु भयंकर नरकमें गया सो ठीक ही है क्योंकि रौद्रध्यान दुःखदायक होता ही है ॥१५३॥ सब लोगोंके समक्ष जब वसु पातालमें चला गया तब सब ओर आकुलतासे भरा हा-हा धिक्-धिक् शब्द गूँजने लगा ॥१५४॥ जिसे तत्काल ही असत्य बोलनेका फल मिल गया था ऐसे राजा वसुकी सब लोगोंने निन्दा की और दुष्ट पर्वतका तिरस्कार कर उसे नगरसे बाहर निकाल दिया ॥१५५॥ तत्त्ववादी, गम्भीर एवं वादियोंको परास्त करनेवाले नारदको लोगोंने ब्रह्म रथपर सवार किया तथा उसका सम्मान कर सब यथास्थान चले गये ॥१५६॥ इधर तिरस्कार पाकर पर्वत भी अनेक देशोंमें परिभ्रमण करता रहा अन्तमें उसने द्वेष-पूर्ण दुष्ट महाकाल नामक असुरको देखा ॥१५७॥ पूर्व भवमें जिसका तिरस्कार हुआ था ऐसे महाकाल असुरके लिए अपने परभवका समाचार सुनाकर पर्वत उसके साथ मिल गया और दुर्बुद्धिके कारण हिंसापूर्ण शास्त्रकी रचना कर, लोकमें ठगिया बन हिंसापूर्ण यज्ञका प्रदर्शन करता हुआ प्राणिहिंसामें तत्पर मूर्खजनोंको प्रसन्न करने लगा ॥१५८-१५९॥ अन्तमें पापोपदेशके कारण पापरूपी शापके वशीभूत होनेसे पर्वत मरा और मरकर वसुकी सेवा करनेके लिए ही मानो नरक गया ॥१६०॥ मन्त्रियोंने वसुके आठ पुत्रोंको क्रमसे एक दूसरेके बाद उसकी गद्दीपर बैठाया परन्तु वे भी थोड़े ही दिनोंमें मृत्युको प्राप्त हो गये ॥१६१॥ तदनन्तर जो दो पुत्र शेष बचे उनमें मृत्युके भयसे भयभीत हो सुवसु तो भागकर नागपुरमें रहने लगा और बृहद्ध्वज मथुरामें जा बसा ॥१६२॥

बड़े खेदकी बात है कि एक ओर तो वसु सत्यजनित प्रसिद्धिको पाकर अन्तमें पापके कारण नरक गया और अभिमानके वशीभूत हुआ पर्वत भी उसके पीछे पापपूर्ण नरकको प्राप्त

---

१. खलु म. । २. लब्ध्वा म. । ३. तिरस्कारं । ४. महाकाय -म. । ५. प्रदर्शयत् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टिदिवाकराख्यखचरं लब्ध्वा सखायं पुनः
क्षिप्त्वा पर्वतदुर्मतं कृतितया स्वर्गं गतो नारदः ॥१६३॥
धर्मः प्राणिदया दयापि सततं हिंसाव्युदासो मनो-
वाक्कायैर्विरतिर्वधात्प्रणिहितैः प्राणात्ययेऽप्यात्मनः ।
धत्तेऽसौ बुधमादरेण चरितः स्वर्गापवर्गार्गलां
भित्त्वा मोहमयीं सुखेऽतिविपुले धर्मो जिनव्याहृतः ॥१६४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ वसूपाख्याने नारदपर्वतविवादवर्णनो
नाम सप्तदश सर्गः ॥१२॥

तथा दूसरी ओर सम्यग्दृष्टि दिवाकर नामक विद्याधर मित्रको पाकर एवं पर्वतके मिथ्या मतका खण्डन कर नारद कृत-कृत्य होता हुआ स्वर्ग गया ॥१६३॥ जीवोंपर दया करना धर्म है, निरन्तर हिंसाका त्याग करना दया है और अपने प्राण जानेपर भी उस ओर लगे हुए मन, वचन, कायके द्वारा वधसे दूर रहना हिंसा त्याग है। जिनेन्द्र भगवान्‌ने हिंसा त्यागको ही धर्म कहा है। आदर-पूर्वक आचरण किया हुआ यह धर्म, स्वर्ग और मोक्षकी मोहरूपी अर्गलाको भेदकर विद्वज्जनोंको अतिशय विस्तृत सुखमें पहुँचा देता है ॥१६४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें राजा वसुके चरितमें नारद और पर्वतके विवादका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टादशः सर्गः

अथ योऽसौ वसोः सूनुर्मथुरायां बृहद्ध्वजः । सुबाहुरभवत्तस्मात्तनयो विनयोद्यतः ॥१॥
लक्ष्मीं स तत्र निक्षिप्य तपोलक्ष्मीमुपाश्रितः । सुबाहुदीर्घबाहौ च वज्रबाहौ नृपश्च सः ॥२॥
सोऽपि लब्धाभिमानेऽसौ भानौ सोऽपि यवौ[1] सुते । सुभानौ नयने सोऽपि भीमनामनि स प्रभुः ॥३॥
एवमाद्यास्तथाऽन्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः । मुनिसुव्रतनाथस्य तीर्थेऽतीयुः क्षितीश्वराः ॥४॥
आयुर्वर्षसहस्राणि यस्य पञ्चदशागमत् । नमेर्वहति तस्येह पञ्चलक्षाब्दके पथि ॥५॥
उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले । यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपविभाकरः[2] ॥६॥
सुतो नरपतिस्तस्मादुदभूद् भूवधूपतिः । यदुस्तस्मिन् भुवं न्यस्य तपसा त्रिदिवं गतः ॥७॥
शूरश्चापि सुवीरश्च शूरौ वीरौ नरेश्वरौ । स तौ नरपती राज्ये स्थापयित्वा तपोऽभजत् ॥८॥
शूरः सुवीरमास्थाप्य मथुरायां स्वयं कृती । स चकार कुशद्यंपु परं शौर्यपुरं पुरम् ॥९॥
शूराश्चान्धकवृष्ण्याद्याः शूरादुदभवन् सुताः । वीरा भोजकवृष्ण्याद्याः[3] सुवीरान्मथुरेश्वरात् ॥१०॥
ज्येष्ठपुत्रे विनिक्षिप्तक्षितिभारौ यथायथम् । सिद्धौ शूरसुवीरौ तौ सुप्रतिष्ठेन दीक्षितौ ॥११॥
आसीदन्धकवृष्णेश्च सुभद्रा वनितोत्तमा । पुत्रास्तस्या दशोत्पन्नास्त्रिदशाभा दिवश्च्युताः ॥१२॥
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तथा स्तिमितसागरः । हिमवान् विजयश्चान्योऽचलो धारणपूरणौ ॥१३॥

अथानन्तर—राजा वसुका जो बृहद्ध्वज नामका पुत्र मथुरामें रहने लगा था उसके सुबाहु नामका विनयवान् पुत्र हुआ। राजा बृहद्ध्वज सुबाहुके लिए राज्यलक्ष्मी सौंप आप तपरूपी लक्ष्मीको प्राप्त हो गया। यथाक्रमसे सुबाहुके दीर्घबाहु, दीर्घबाहुके वज्रबाहु, वज्रबाहुके लब्धाभिमान, लब्धाभिमानके भानु, भानुके यवु, यवुके सुभानु और सुभानुके भीम पुत्र हुआ। इस प्रकार इन्हें आदि लेकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमें सैकड़ों-हजारों राजा उत्पन्न हुए और सबने अपने-अपने पुत्रोंपर राज्य-भार सौंपकर तप धारण किया ॥१-४॥ भगवान् मुनिसुव्रतके बाद नमिनाथ हुए। इनकी आयु पन्द्रह हजार वर्षकी थी तथा इनका तीर्थ पाँच लाख वर्ष तक प्रचलित रहा। इन्हींके तीर्थमें हरिवंशरूपी उदयाचलपर सूर्यके समान यदु नामका राजा हुआ। यही यदु राजा, यादवोंकी उत्पत्तिका कारण था तथा अपने प्रतापसे समस्त पृथ्वीपर फैला हुआ था ॥५-६॥ राजा यदुके नरपति नामका पुत्र हुआ। उसपर पृथिवीका भार सौंप राजा यदु तपकर स्वर्ग गया ॥७॥ राजा नरपतिके शूर और सुवीर नामक दो पुत्र हुए सो नरपति उन्हें राज्य-सिंहासनपर बैठाकर तप करने लगा ॥८॥ अत्यन्त कुशल शूरने छोटे भाई सुवीरको मथुराके राज्यपर अधिष्ठित किया और स्वयं कुशद्य देशमें एक उत्तम शौर्यपुर नामका नगर बसाया ॥९॥ शूरसे अन्धकवृष्णिको आदि लेकर अनेक शूरवीर उत्पन्न हुए, और मथुराके स्वामी सुवीरसे भोजकवृष्णिको आदि लेकर अनेक वीर पुत्र उत्पन्न हुए ॥१०॥ यथायोग्य अपने-अपने बड़े पुत्रोंपर पृथिवीका भार सौंपकर कृतकृत्यताको प्राप्त हुए शूर और सुवीर दोनों ही सुप्रतिष्ठ मुनिराजके पास दीक्षित हो गये ॥११॥ अन्धकवृष्णिकी सुभद्रा नामक उत्तम स्त्री थी उससे उनके दश पुत्र हुए जो देवोंके समान कान्तिवाले थे तथा स्वर्गसे च्युत होकर आये थे ॥१२॥ उनके नाम इस प्रकार थे—१ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान्, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण,

---

१. यवुनाम्निपुत्रे । २. भूपतिभास्करः (क. टि.) । ३. भोजनकवृष्ण्याद्याः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिचन्द्र इहाख्यातो वसुदेवश्च ते दश । [1]दशार्हाः सुमहाभागाः सर्वेऽप्यन्वर्थनामकाः ॥१४॥
कुन्ती मद्री च कन्ये द्वे मान्ये स्त्रीगुणभूषणे । लक्ष्मीसरस्वतीतुल्ये भगिन्यौ वृष्णिजन्मनाम् ॥१५॥
राज्ञो भोजकवृष्णेर्या पत्नी पद्मावती सुतान् । उग्रसेनमहासेनदेवसेनानसूत सा ॥१६॥
सुवसोस्त्वभवत्सूनुः कुञ्जरावर्त्तवर्त्तिनः । बृहद्रथ इति ख्यातो मागधेशपुरेऽवसत् ॥१७॥
तस्मादप्यङ्गजो जातस्ततो दृढ[2]रथोऽङ्गजः । तस्मान्नरवरो जज्ञे ततो दृढरथस्ततः ॥१८॥
जातः सुखरथस्तस्माद्दीपनः कुलदीपनः । सूनुः सागरसेनोऽस्मान्सुमित्रो वप्रथुस्ततः ॥१९॥
विन्दुसारः सुतस्तस्माद्देवगर्भस्तदर्भकः । ततः शतधनुर्वीरो धनुर्धरपुरःसरः ॥२०॥
क्रमात् शतसहस्रेषु व्यतिक्रान्तेषु राजसु । जातो निहतशत्रुः स सुतः शतपतिर्नृपः ॥२१॥
जातो बृहद्रथो राजा ततो राजगृहाधिपः । तस्य सूनुर्जरासन्धो वशीभूतवसुंधरः ॥२२॥
स रावणसमो भूत्या त्रिखण्डभरताधिपः । नवमः प्रतिशत्रूणां सुरश्रीसदृशौजसाम् ॥२३॥
मध्ये कालिन्दसेनाख्या महिषी महिषीगुणा । तनयाः [3]सनयास्तस्य ते कालयवनादयः ॥२४॥
अपराजित इत्याद्या भ्रातरश्चक्रवर्त्तिनः । हरिवंशमहावृक्षशाखायाः फलितात्मनः ॥२५॥
एकस्या एकवीरोऽयं धारको धरणीपतिः । बहुविद्याधरेन्द्राणां दक्षिणश्रेण्युपाश्रिताम् ॥२६॥
संहतिं नृपसिंहोऽसौ शास्ति राजगृहे स्थितः । उत्तरापथभूपालाः दक्षिणापथभूभृतः[4] ॥२७॥
पूर्वापरसमुद्रान्ता मध्यदेशाश्च तद्वशाः । भूचरैः खेचरैः सर्वैः शेखरीकृतशासनः ॥२८॥

९ अभिचन्द्र और १० वसुदेव । ये सभी पुत्र योग्य दशाके धारक, महाभाग्यशाली और सार्थक नामोंसे युक्त थे ॥१३-१४॥ उक्त पुत्रोंके सिवाय कुन्ती और मद्री नामकी दो कन्याएँ भी थीं जो अतिशय मान्य थीं, स्त्रियोंके गुणरूपी आभूषणोंसे सहित थीं, लक्ष्मी और सरस्वतीके समान जान पड़ती थीं और समुद्रविजयादि दश भाइयोंकी बहनें थीं ॥१५॥

राजा भोजकवृष्णिकी जो पद्मावती नामकी पत्नी थी उसने उग्रसेन, महासेन तथा देवसेन नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये थे ॥१६॥ राजा वसुका जो सुवसु नामका पुत्र, कुंजरावर्तपुर (नागपुर) में रहने लगा था उसके बृहद्रथ नामका पुत्र हुआ और वह मागधेशपुरमें रहने लगा ॥१७॥ बृहद्रथके दृढरथ नामका पुत्र हुआ। दृढरथके नरवर, नरवरके दृढरथ, दृढरथके सुखरथ, सुखरथके कुलको दीप्त करनेवाला दीपन, दीपनके सागरसेन, सागरसेनके सुमित्र, सुमित्रके वप्रथु, वप्रथुके विन्दुसार, विन्दुसारके देवगर्भ और देवगर्भके शतधनु नामका वीर पुत्र हुआ। यह शतधनु धनुर्धारियोंमें सबसे श्रेष्ठ था ॥१८-२०॥ तदनन्तर क्रमसे लाखों राजाओंके व्यतीत हो जानेपर उसी वंशमें निहतशत्रु नामका राजा हुआ। उसके शतपति और शतपतिके बृहद्रथ नामका पुत्र हुआ। यह राजगृह नगरका स्वामी था। बृहद्रथके पृथिवीको वश करनेवाला जरासन्ध नामका पुत्र हुआ ॥२१-२२॥ वह विभूतिमें रावणके समान था, तीन खण्ड भरतका स्वामी था और देवोंके समान प्रतापी प्रतिनारायणोंमें नौवाँ नारायण था ॥२३॥ अनेक स्त्रियोंके बीच उसकी कालिन्दसेना नामकी पट्टरानी थी जो पट्टरानियोंके समस्त गुणोंसे सहित थी। राजा जरासन्धके कालयवन आदि अनेक नीतिज्ञ पुत्र थे ॥२४॥ चक्रवर्ती जरासन्धके अपराजित आदि अनेक भाई थे जो हरिवंशरूपी महावृक्षकी शाखापर लगे हुए फलोंके समान जान पड़ते थे ॥२५॥ राजा जरासन्ध अपनी अद्वितीय माताका अद्वितीय वीर पुत्र था। वह राजसिंह, राजगृह नगरमें स्थिर रहकर ही दक्षिण श्रेणीमें रहनेवाले समस्त विद्याधर राजाओंके समूहपर शासन करता था। उत्तरापथ और दक्षिणापथके समस्त राजा, पूर्व-पश्चिम समुद्रोंके तट तथा मध्यके समस्त देश उसके वशमें थे। समस्त भूमिगोचरी और समस्त विद्याधर उसकी आज्ञाको शेखरके समान शिरपर धारण करते

१. दशया अर्हाः योग्याः पूज्याश्च । २. दृढरथोग्रजः म. । ३. नयेन सहिताः सनयाः । ४. भूभृताम् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्रवर्त्तिश्रियो मर्त्ता बिभर्त्तीन्द्रस्य विभ्रमम् । जातु शौर्यपुरोद्याने गन्धमादननामनि ॥२९॥
रात्रौ प्रतिमया तस्थौ सुप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । पूर्ववैराद्यतेस्तस्य चक्रे यक्षः सुदर्शनः ॥३०॥
अग्निपातं महावातं मेघवृष्ट्यादिदुःसहम् । उपसर्गं स जित्वाप केवलं घातिघातकृत् ॥३१॥
तद्वन्दनार्थमिन्द्राद्याः सौधर्माद्याश्चतुर्विधैः । देवैः सह समागत्य तेऽर्चयित्वा ववन्दिरे ॥३२॥
वृष्णिरप्यागतो भक्त्या पुत्रदारबलान्वितः । संपूज्यानम्य सौम्यं तं निजभूमावुपाविशत् ॥३३॥
सावधाने स्थिते धर्मदत्तकर्णे कृताञ्जलौ । जगज्जने जगादेत्थं सुप्रतिष्ठमुनीश्वरः ॥३४॥
धर्मात्त्रिवर्गनिष्पत्तिस्त्रिषु लोकेषु भाषिता । ततस्तामिच्छता कार्यः सततं धर्मसंग्रहः ॥३५॥
धर्मो धामनि संधत्ते शर्माधारे शरीरिणम् । निर्मितो वाङ्मनःकायकर्ममिः शुभवृत्तिभिः ॥३६॥
धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमहिंसासंयमस्तपः । तस्य लक्षणमुद्दिष्टं सद्दृष्टिज्ञानलक्षितम् ॥३७॥
धर्मो जगति सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य इहोत्तमः । कामधेनुः स धेनूनामप्यनूनसुखाकरः ॥३८॥
धर्म एव परं लोके शरणं शरणार्थिनाम् । मृत्युजन्मजरारोगशोकदुःखार्कतापिनाम् ॥३९॥
विश्वाभ्युदयसौख्यानां मनुजामरवर्त्तिनाम् । धर्म एव मतो हेतुर्निश्रेयससुखस्य च ॥४०॥
नमिना भाषितो धर्मः समन्वन्तरवर्त्तिनाम् । एकविंशेन नाथेन कर्त्रा तीर्थस्य सांप्रतम् ॥४१॥
पञ्चकल्याणपूजानां स्वर्गावतरणादिषु । भाजनं यो बभूवात्र तेन धर्मोऽयमीरितः ॥४२॥
महाव्रतानि साधूनामहिंसा सत्यभाषणम् । अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च निर्मूर्च्छा चेति पञ्चधा ॥४३॥

थे ॥२६-२८॥ वह चक्रवर्तीकी लक्ष्मीका स्वामी था तथा इन्द्रकी शोभाको धारण करता था। कदाचित् शौर्यपुरके उद्यानमें गन्धमादन नामक पर्वतपर रात्रिके समय सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमा योग लेकर विराजमान थे। पूर्व वैरके कारण सुदर्शन नामक यक्षने उन मुनिराजपर अग्नि-वर्षा, प्रचण्ड वायु तथा मेघवृष्टि आदि अनेक कठिन उपसर्ग किये परन्तु उन सबको जीतकर घातिया कर्मोंका क्षय करनेवाले उक्त मुनिराजने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ॥२९-३१॥ उनकी वन्दनाके लिए सौधर्म आदि इन्द्रोंके समूह, चारों निकायके देवोंके साथ वहाँ आये और सबने भक्तिपूर्वक पूजा कर केवली भगवान्‌को नमस्कार किया ॥३२॥ शौर्यपुरका राजा अन्धकवृष्णि भी अपने पुत्रों-स्त्रियों तथा सेनाओंके साथ आया और भक्तिपूर्वक सुप्रतिष्ठ केवलीकी पूजा-वन्दना कर अपने स्थानपर बैठ गया ॥३३॥ जब जगत्‌के जीव धर्मोपदेश सुननेके लिए कान देकर तथा हाथ जोड़कर सावधानीके साथ बैठ गये तब सुप्रतिष्ठ मुनिराजने इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया ॥३४॥

उन्होंने कहा कि तीनों लोकोंमें त्रिवर्गकी प्राप्ति धर्मसे ही कही गयी है इसलिए उसकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा धर्मका संग्रह करना चाहिए ॥३५॥ शुभ वृत्तिसे युक्त मन, वचन, कायके द्वारा किया हुआ धर्म, प्राणीको सुखके आधारभूत स्थान—स्वर्ग अथवा मोक्षमें पहुँचा देता है ॥३६॥ धर्म उत्कृष्ट मंगलस्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित अहिंसा, संयम और तप उस धर्मके लक्षण बतलाये गये हैं ॥३७॥ इस संसारमें धर्म सब पदार्थोंसे उत्तम है, यह धेनुओंमें कामधेनु है तथा उत्कृष्ट सुखकी खान है ॥३८॥ जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदिसे उत्पन्न दुःखरूपी सूर्यसे सन्तप्त शरणार्थी जनोंके लिए लोकमें धर्म ही उत्तम शरण है ॥३९॥ मनुष्यों और देवोंमें पाये जानेवाले समस्त अभ्युदय सम्बन्धी सुख और मोक्ष सम्बन्धी सुखका कारण धर्म ही माना गया है ॥४०॥ जो स्वर्गावतरणादिके समय पंचकल्याणक पूजाओंके पात्र थे ऐसे इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान् नमिनाथने इस युगमें अपने समयवर्ती जीवोंके लिए जो धर्म कहा था वह इस प्रकार है ॥४१-४२॥ उन्होंने मुनियोंके लिए १ अहिंसा, २ सत्य भाषण,

१. घातिनां घातं करोतीति घातिघातकृत् । २. पुत्रदारबलान्वितः म. । ३. शरीरिणाम् म. । ४. -वर्तिना ग. । ५. अपरिग्रहः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुप्तिश्च त्रिविधा प्रोक्ता पञ्चधा समितिस्त्विदम् । सर्वसावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानं मतं सतः ॥४४॥
पञ्चधाणुव्रतं प्रोक्तं त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं धर्मोऽयं गृहिणां स्मृतः ॥४५॥
हिंसादेर्देशतो मुक्तिरणुव्रतमुदीरितम् । दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिश्च गुणव्रतम् ॥४६॥
सामायिकं त्रिसंध्यं तु प्रोषधातिथिपूजनम् । आयुरन्ते च सल्लेखः शिक्षाव्रतमितीरितम् ॥४७॥
मांसमद्यमधुद्यूतक्षीरिवृक्षफलोज्झनम् । वेश्यावधूरतित्याग इत्यादिनियमो मतः ॥४८॥
इदमेवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं ज्ञानदर्शनम् । शङ्काकाङ्क्षाजुगुप्सान्यमतशंसास्तवोज्झनम् ॥४९॥
तथोपगूहनं मार्गभ्रंशिनां स्थितियोजनम् । हेतवो दृष्टिसंशुद्धे वात्सल्यं च प्रभावना ॥५०॥
साक्षादभ्युदयोपायः पारम्पर्येण मुक्तये । गृहिधर्मोऽत्र मौनस्तु[1] साक्षान्मोक्षाय कल्पते ॥५१॥
स धर्मो मानुषे देहे प्राप्यते नान्यजन्मनि । मानुषस्तु भवो दुःखाल्लभ्यते भवसङ्कटे ॥५२॥
स्थावरत्रसकायेषु चतुर्गतिषु देहिनः । कर्मोदयवशात्क्लेशानश्नन्तः पर्यटन्त्यमी ॥५३॥
पृथिव्यप्तेजसां काये मरुतां च वनस्पतेः । स्पर्शनैकेन्द्रियो जीवो दीर्घकालमटाट्यते ॥५४॥
[2]सन्ति चानन्तभेदास्ते जीवाः कर्मकलङ्किताः । ये त्रसत्वमनापन्नाः कुनिगोदनिवासिनः ॥५५॥
कुयोन्यशीतिलक्षासु चतुरभ्यधिकास्वमी । अनेककुलकोटीषु बम्भ्रम्यन्ते तनूभृतः ॥५६॥

३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य और ५ अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत, १ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति और ३ काय-गुप्ति ये तीन गुप्तियाँ, १ ईर्या, २ भाषा, ३ एषणा, ४ आदान निक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ और विद्यमान समस्त सावद्य योगका त्याग—यह धर्म बतलाया है ॥४३-४४॥ तथा गृहस्थोंके लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह प्रकारका धर्म कहा है ॥४५॥ हिंसादि पापोंका एक देश छोड़ना अणुव्रत कहा गया है, दिशा देश और अनर्थदण्डोंसे विरत होनेको गुणव्रत कहते हैं और तीनों सन्ध्याओंमें सामायिक करना, प्रोषधोपवास करना, अतिथिपूजन करना और आयुके अन्तमें सल्लेखना धारण करना इसे शिक्षाव्रत कहते हैं ॥४६-४७॥ मद्य-त्याग, मांस-त्याग, मधु-त्याग, द्यूत-त्याग, क्षीरिफल-त्याग, वेश्या-त्याग तथा अन्यवधू-त्याग आदि नियम कहलाते हैं ॥४८॥ 'तत्त्व यही है' इस प्रकार ज्ञान और श्रद्धान होना सो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। शंका, आकांक्षा, जुगुप्सा तथा अन्य मतकी प्रशंसा और स्तुतिका छोड़ना, उपगूहन, मार्गसे भ्रष्ट होनेवालोंका स्थितीकरण करना, वात्सल्य और प्रभावना ये सब सम्यग्दर्शन-को शुद्ध करनेके हेतु हैं ॥४९-५०॥

गृहस्थ धर्म साक्षात् तो स्वर्गादिक अभ्युदयका कारण है और परम्परासे मोक्षका कारण है परन्तु मुनि धर्म मोक्षका साक्षात् कारण है ॥५१॥ वह मुनिधर्म मनुष्य शरीरमें ही प्राप्त होता है अन्य जन्ममें नहीं और मनुष्य-जन्म संकटपूर्ण संसारमें बड़े दुःखसे प्राप्त होता है ॥५२॥ ये प्राणी कर्मोदयके वशीभूत हो स्थावर तथा त्रसकायोंमें अथवा नरकादि चतुर्गतियों-में क्लेश भोगते हुए भ्रमण करते रहते हैं ॥५३॥ मात्र स्पर्शन इन्द्रियको धारण करनेवाला एकेन्द्रिय जीव पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके शरीरमें दीर्घकाल तक भ्रमण करता रहा है ॥५४॥ कर्मकलंकसे कलंकित ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने आज तक त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की और आगे भी उसी निगोद पर्यायमें निवास करते रहेंगे ॥५५॥ ये प्राणी चौरासी लाख कुयोनियों तथा अनेक कुलकोटियोंमें निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥५६॥

१. मुनेरयं मौनः मुनिसम्बन्धी ।
२. अत्थि अणन्ता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंक-सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥ गो. जी. का. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]प्रत्येकं सप्तलक्षाः स्युर्नित्येतरनिगोदयोः । पृथिवीवायुतेजोऽम्मःकायेष्वपि तथैव ताः ॥५७॥
[2]ता वनस्पतिकायेषु दश षड् विकलेन्द्रिये । [3]द्विःसप्त नृश्चतस्रस्तास्तिर्यग्नारकनाकिनाम् ॥५८॥
द्वाविंशतिपृथिव्यङ्गा लक्षाः सप्ताम्बुवायुजाः । तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षाः कुलकोटयः ॥५९॥
वनस्पतिजलक्षास्ता अष्टाविंशतिरीरिताः । द्वित्रीन्द्रियेषु सप्ताष्टौ चतुरिन्द्रियजा नव ॥६०॥
अर्धत्रयोदश प्रोक्ता लक्षा जलचरेष्वपि । पक्षिषु द्वादशैव स्युश्चतुष्पात्सु दशाङ्गिषु ॥६१॥
नवोरःपरिसर्पेषु मनुजेषु चतुर्दश । नारकामरभेदेषु विंशतिः पञ्च षड् युताः ॥६२॥
कोटीकोटी च लक्षाश्च नवतिर्नवभिः सह । पञ्चाशच्च सहस्राणि कुलकोट्यः समासतः ॥६३॥
द्वाविंशतिसहस्राणि वत्सराणि खरक्षितेः । आयुर्मृदुपृथिव्यास्तु द्वादश प्राणधारिणाम् ॥६४॥
सप्ताप्कायिकजीवानां त्रीणि वायुमयाङ्गिनाम् । अहोरात्रास्त्रयस्तेजोमयानां समये मताः ॥६५॥
दशवर्षसहस्राणि वनस्पतिमयाङ्गिनाम् । द्वादश द्वीन्द्रियाणां च वर्षाण्यायुरुदीरितम् ॥६६॥
दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्रीन्द्रियाणां प्रकीर्त्तितम् । चतुरिन्द्रियजीवानां षण्मासाः परमायुषः ॥६७॥
द्वासप्ततिसहस्राणि वर्षाण्यपि च पक्षिणाम् । द्विचत्वारिंशदब्दानां सहस्राण्यहिदेहिनाम् ॥६८॥
नव पूर्वाङ्गमानं स्यादुरसा परिसर्पिणाम् । पूर्वकोटी मनुष्याणां मत्स्यानां चापि जीवितम् ॥६९॥

वे कुयोनियाँ नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमें प्रत्येकको सात-सात लाख होती हैं ॥५७॥ वनस्पतिकायिकोंकी दश लाख, विकलेन्द्रियोंकी छह लाख, मनुष्योंकी चौदह लाख, तिर्यंच, नारकी और देवोंकी प्रत्येककी चार-चार लाख होती हैं ॥५८॥ पृथिवीकायिक जीवोंकी बाईस लाख, जलकायिक और वायुकायिककी प्रत्येककी सात-सात लाख, अग्निकायिककी तीन लाख, वनस्पतिकायिककी अट्ठाईस लाख, दो इन्द्रियोंकी सात लाख, तीन इन्द्रियोंकी आठ लाख, चौइन्द्रियोंकी नौ लाख, जलचरोंकी साढ़े बारह लाख, पक्षियोंकी बारह लाख, चौपायोंकी दश लाख, छातीसे सरकनेवालोंकी नौ लाख, मनुष्योंकी चौदह लाख, नारकियों-की पचीस लाख और देवोंकी छब्बीस लाख कुलकोटियाँ हैं। संक्षेपसे ये सब कुलकोटियाँ साढ़े निन्यानबे लाख हैं॥५९-६३॥ खर पृथिवीकी बाईस हजार वर्ष, कोमल पृथिवीकी बारह हजार वर्ष, जलकायिक जीवोंकी सात हजार वर्ष, वायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, तेजस्कायिक जीवोंकी तीन दिन-रात, वनस्पतिकायिक जीवोंकी दश हजार वर्ष, दो इन्द्रिय जीवोंकी बारह वर्ष, तीन इन्द्रिय जीवोंकी उनचास दिन, चार इन्द्रिय जीवोंकी छह माह, पक्षियोंकी बहत्तर हजार वर्ष, साँपोंकी

१. णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव ।
सुरणिरय तिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ गो. जी. ।
२. वावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडि सयसहस्साइं ।
णेया पुढवि दगागणि वाउक्कायाण परिसंखा ॥११३॥
[कोडिसयसहस्साइं सत्तट्ठ णव य अट्ठवीसाइं ।
वेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय हरिदकायाणं ॥११४॥]
अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडि सदसहस्साइं ।
जलचर पक्खि चउप्पय उरपरिसप्पेसु णव होंति ॥११४॥
छप्पंचाधिय वीसं बारस कुलकोडि सदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥११५॥
एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सदसहस्साइं ।
पण्णं कोडि सहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११६॥ गो. जी. ।
३. द्विसप्तद्विश्चतस्रस्ताम्—म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौमा मसूरसंस्थाना जीवा[2] आप्यास्तृणाग्रवत् । [3]तैजसाः सूचिसंस्थानाः पताकावच्च [4]वायुजाः ॥७०॥
बहुसंस्थानभाजस्तु वनस्पतिभवाङ्गिनः । विज्ञेया हुण्डसंस्थाना विकलेन्द्रियनारकाः ॥७१॥
षट्संस्थानभृतो मर्त्यास्तिर्यञ्चः कथितास्तथा । समेन चतुरस्रेण संस्थानेन युताः सुराः ॥७२॥
[5]देहः सूक्ष्मनिगोदस्य भागोऽसंख्येय अङ्गुलः । अपर्याप्तस्य जातस्य तृतीयसमयेऽल्पशः ॥७३॥
स एवैकेन्द्रियादीनां देहः स्यादल्पमानतः । पञ्चेन्द्रियावसानानां सूक्ष्मोदारप्रभेदिनाम् ॥७४॥
[6]सहस्रयोजनं पद्मं सगव्यूतं प्रमाणतः । समस्तैकेन्द्रियोत्कृष्टदेहमानमिदं मतम् ॥७५॥
उत्कर्षाद् द्वीन्द्रियेषु स्यात् शङ्खो द्वादशयोजनः । त्रीन्द्रियोऽङ्गी त्रिगव्यूतो भ्रमरो योजनाङ्कः ॥७६॥
सहस्रयोजनो मत्स्यः सपर्याप्तः स्वयंभुवः । सिक्थप्रमाणकोऽत्यल्पः प्राणी जलचरः स्मृतः ॥७७॥
संमूर्च्छनजसत्त्वानां खजलस्थलचारिणाम् । तिरश्चां तु वितस्तिः स्यादपर्याप्तशरीरिणाम् ॥७८॥
अपर्याप्ताः पुनः सत्त्वा ये जलस्थलगर्भजाः । संमूर्च्छनोत्थपर्याप्ताः खगा [7]जलचरास्तथा ॥७९॥
धनुःपृथक्त्वमुत्कर्षात् खगाश्चापि च गर्भजाः । पर्याप्ताश्चाप्यपर्याप्ता देहमानं वहन्ति ते ॥८०॥
जलगर्भजपर्याप्ताः स्युः पञ्चशतयोजनाः । त्रिपल्यायुर्नृतिर्यञ्चस्त्रिगव्यूताः प्रमाणतः ॥८१॥

बयालीस हजार वर्ष, छातीसे सरकनेवालोंकी नौ पूर्वांग, मनुष्यों और मत्स्योंकी एक करोड़ वर्ष पूर्वकी उत्कृष्ट आयु है ॥६४-६९॥ पृथिवीकायिक जीव मसूरके आकार हैं, जलकायिक तृणके अग्र भागपर रखी बूँदके समान हैं, तैजस्कायिक जीव खड़ी सूइयोंके सदृश हैं, वायुकायिक जीव पताकाके समान हैं, वनस्पतिकायिक जीव अनेक आकारके धारक हैं। विकलेन्द्रिय तथा नारकी जीव हुण्डक संस्थानसे युक्त हैं ॥७०-७१॥ मनुष्य और तिर्यंच छहों संस्थानके धारक कहे गये हैं और देव केवल समचतुरस्र संस्थानसे युक्त बतलाये गये हैं ॥७२॥ सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका शरीर अंगुलके असंख्यातवें भाग है और वह उत्पन्न होनेके तीसरे समयमें जघन्य अवगाहनारूप होता है ॥७३॥ सूक्ष्म और स्थूल भेदोंको धारण करनेवाले एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तकका शरीर यदि छोटेसे छोटा होगा तो अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होगा इससे छोटा नहीं ॥७४॥ कमल प्रमाणकी अपेक्षा एक हजार योजन तथा एक कोश विस्तारवाला है। समस्त एकेन्द्रिय जीवोंमें देहका उत्कृष्ट प्रमाण यही माना गया है ॥७५॥ दोइन्द्रिय जीवोंमें सबसे बड़ी अवगाहना शंखकी है और वह बारह योजन प्रमाण है। तीन इन्द्रियोंमें सबसे बड़ा कानखजूरा है और वह तीन कोश प्रमाण है। चौइन्द्रियोंमें सबसे बड़ा भ्रमर है और वह एक योजन—चार कोश प्रमाण है तथा पंचेन्द्रियोंमें सबसे बड़ा स्वयम्भूरमण समुद्रका राघव मच्छ है और वह एक हजार योजन प्रमाण है। पंचेन्द्रियोंमें सूक्ष्म अवगाहना सिक्थक मच्छकी है ॥७६-७७॥ सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न अपर्याप्तक जलचर, थलचर और नभचर तिर्यंचोंकी जघन्य अवगाहना एक वितस्ति प्रमाण है ॥७८॥ गर्भजोंमें अपर्याप्तक जलचर, स्थलचर, सम्मूर्च्छनोंमें पर्याप्तक जलचर, नभश्चर तथा गर्भजोंमें पर्याप्तक, अपर्याप्तक दोनों प्रकारके नभश्चर, तिर्यंच, उत्कृष्ट रूपसे पृथक्त्व धनुष प्रमाण शरीरकी अवगाहना धारण करते हैं ॥७९-८०॥ गर्भजन्मसे उत्पन्न पर्याप्तक जलचर जीव पाँच सौ योजन विस्तारवाले हैं। जिन मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु तीन पल्यकी है उनकी अव-

१. पृथिवीकायिकाः। २. जलकायिकाः। ३. अग्निकायिकाः। ४. वायुकायिकाः। ५. मसुरंबुबिन्दु सूईकलाबधयसण्णिहो हवे देहो। पुढवीआदिचउण्हं तरुतसकाया अणेयविहा ॥१९८॥ गो. जी.। ५. सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदिय समयम्हि। अंगुल असंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥९४॥ गो. जी.। ६. साहिय सहस्समेकं बारं कोसूणमेक्कमेक्कं च। जोयणसहस्सदीहं पम्मे वियले महामच्छे ॥९५॥ विति च प पुण्ण जहण्णं अणुंधरी कुंथुकाणमच्छीसु। सिच्छयमच्छे विदंगुलसंखे संखगुणिदकमा ॥९६॥ गो. जी.। ७. जलधरा -म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चचापशतोत्सेधा उत्कर्षान्नारकाः सुराः । पञ्चविंशतिचापाः स्युरायुस्तेषां पुरा यथा[1] ॥८२॥
[2]पर्याप्तयः षडाहारशरीरेन्द्रियगोचराः । आनप्राणमनोभाषाभेदैस्ताः परिभाषिताः ॥८३॥
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं तथैव तत् । इन्द्रियपञ्चकं प्रोक्तं स्थावरत्रसगोचरम् ॥८४॥
[3]लब्धिश्चैवोपयोगश्च भावेन्द्रियमिहोदितम् । द्रव्येन्द्रियं तु [4]निर्वृत्तिः सहोपकरणैर्मतम् ॥८५॥
[5]स्पर्शनं नैकसंस्थानं रसनं तु क्षुरप्रवत् । घ्राणं चानुकरोत्येवमतिमुक्तकचन्द्रिकाम् ॥८६॥
चक्षुर्मसूरमन्वेति श्रोत्रं तु यवनालिकाम् । स्वाकारेणेति संस्थानं तद्द्रव्येन्द्रियगोचरम् ॥८७॥
[6]धनुःशतानि चत्वारि स्पर्शनेन्द्रियगोचरः । एकेन्द्रियस्य चोत्कृष्टस्ततो यावदसंज्ञिनाम् ॥८८॥
अष्टौ षोडश संख्यातो द्वात्रिंशद्द्विगुणान्यपि । चतुःषष्टिःशतं दण्डा घ्राणान्ते द्विरसंज्ञिनः ॥८९॥
चतुःपञ्चाशता सार्धमेकान्नत्रिंशदीक्षते । शतानि योजनानां तु चक्षुषा चतुरिन्द्रियः ॥९०॥
योजनानां शतान्येकन्यूनं षष्टिः सहाष्टभिः । असंज्ञिचक्षुर्विषयो योजनं श्रोत्रगोचरः ॥९१॥
स्पर्शं रसं च गन्धं च नवयोजनमात्रगम् । संज्ञी यथास्वमादत्ते शब्दं द्वादशयोजनम् ॥९२॥

सौ योजन विस्तारवाले हैं। जिन मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी आयु तीन पल्यकी है उनकी अवगाहना तीन कोश प्रमाण है ॥८१॥ नारकी उत्कृष्टतासे पाँच सौ धनुष ऊँचे हैं, और देव पच्चीस धनुष प्रमाण है। इनकी आयु पहलेके समान है ॥८२॥

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके भेदसे पर्याप्तियाँ छह कही गई हैं ॥८३॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ कही गई हैं। इनमें स्थावर जीवोंके केवल स्पर्शन इन्द्रिय और त्रसजीवोंके यथाक्रमसे सभी इन्द्रियाँ पाई जाती हैं ॥८४॥ भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रियके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। इनमें भावेन्द्रियाँ लब्धि और उपयोग रूप हैं तथा द्रव्येन्द्रियाँ निर्वृति और उपकरण रूप मानी गई हैं ॥८५॥ स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है, रसना खुरपीके समान है, घ्राण अतिमुक्तक—तिल पुष्पका अनुकरण करती है, चक्षु मसूरका अनुसरण करती है और कर्ण इन्द्रिय यवकी नलीके समान है। इस प्रकार द्रव्येन्द्रियोंका आकार कहा ॥८६-८७॥ एकेन्द्रिय जीवकी स्पर्शन इन्द्रियका उत्कृष्ट विषय चार सौ धनुष है। उसके आगे असैनी पञ्चेन्द्रिय तक दूना-दूना होता जाता है ॥८८॥ इस प्रकार द्वीन्द्रियके स्पर्शनका विषय आठ सौ धनुष, त्रीन्द्रियके सोलह सौ धनुष, चतुरिन्द्रियके बत्तीस सौ धनुष और असैनी पञ्चेन्द्रियके चौंसठ सौ धनुष है। रसना इन्द्रियका विषय द्वीन्द्रिय जीवके चौंसठ धनुष, त्रीन्द्रियके एक सौ अट्ठाईस धनुष, चतुरिन्द्रियके दो सौ छप्पन धनुष, और असैनी पञ्चेन्द्रियके पाँच सौ धनुष है। घ्राण इन्द्रियका विषय त्रीन्द्रिय जीवके सौ धनुष, चतुरिन्द्रियके दो सौ धनुष और असैनी पञ्चेन्द्रियके चार सौ धनुष प्रमाण है ॥८९॥ चतुरिन्द्रिय जीव अपनी चक्षुरिन्द्रियके द्वारा उनतीस सौ चौवन योजन तक देखता है ॥९०॥ और असैनी पञ्चेन्द्रियके चक्षुका विषय उनसठ सौ साठ योजन है। एवं असैनी पञ्चेन्द्रियके श्रोत्रका विषय एक योजन है ॥९१॥ सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव नौ योजन दूर स्थित स्पर्श, रस और गन्धको यथायोग्य ग्रहण कर सकता है

---

१. ययौ म०। २. आहारसरीरिंदियपज्जत्तीआणपाणभासमणो। चत्तारि पंच छप्पिय एइंदिय वियलसण्णीणं ॥११८॥ गो० जी०। ३. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् त० सू०। ४. निर्वृत्तिं म०। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् त० सू०।

५. चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूर जवणाली।
अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥
६. धणुवीसड दसय कदी जोयण छादारल हीणतिसहस्सा।
अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णित्ति ॥१६७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्रैः सप्तभिः सत्रा चत्वारिंशत्सहस्रकैः । त्रिषष्ट्या च द्विशत्या च योजनैश्चक्षुषेक्षते ॥९३॥
इत्यनेकविकल्पेऽस्मिन् संसारे सारवर्जिते । मोक्षसाधनतः सारं मानुष्यं दुर्लभं च तत् ॥९४॥
दुष्कर्मोपशमाल्लब्ध्वा तन्मानुष्यं कथञ्चन । यत्नो भवविरक्तेन विधेयो मुक्तये विदा ॥९५॥
अथात्रावसरेऽपृच्छन्नत्वा केवलिनं भवान् । पूर्वानन्धकवृष्णिः स्वानित्युवाच च सर्ववित् ॥९६॥
साकेते रत्नवीर्यस्य राज्ञो राज्ये जिताहिते । तीर्थे वृषभनाथस्य वर्तमाने महोदये ॥९७॥
श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्तोऽभूद्द्वात्रिंशत्कोटिभिर्धनी । तस्य जैनस्य मित्रं च रुद्रदत्तोऽभवद्द्विजः ॥९८॥
तिथिपर्वचतुर्मासी जिनपूजार्थमस्य सः । दत्त्वार्थं द्वादशाब्दान्तं [2]वणिग्यातो वणिज्यया ॥९९॥
स द्यूतवेश्याव्यसनी विनाश्य द्रविणं द्विजः । चौर्यगृहीतमुक्तोऽगादुल्कामुखवनं खलः ॥१००॥
स हि मुष्णन् सह व्याधैर्लोकं व्याधिनिभो हतः । सेनान्या श्रेणिकेनागान्नरकं रौरवं ततः ॥१०१॥
[3]देवस्वस्य विनाशेन त्रयस्त्रिंशदुदन्वताम् । समं कालं महादुःखं प्राप्योद्वर्त्याश्रमद् भवे ॥१०२॥
पापस्योपशमात् पश्चादुदभूद् गजपुरे पुरे । कापिष्ठलायनाभिख्यादनुमत्यामिह द्विजः ॥१०३॥

और बारह योजन दूर तकके शब्दको सुन सकता है ॥९२॥ सैनी पंचेन्द्रिय जीव अपने चक्षुके द्वारा सैंतालीस हजार दो सौ त्रेशठ योजनकी दूरीपर स्थित पदार्थको देख सकता है ॥९३॥ इस प्रकार यह असार संसार अनेक विकल्पोंसे भरा हुआ है। इसमें मोक्षका साधक होनेसे मनुष्य पर्याय ही सार है परन्तु वह अत्यन्त दुर्लभ है ॥९४॥ दुष्कर्मोंका उपशम होनेसे यदि किसी तरह मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है तो बुद्धिमान् मनुष्यको संसारसे विरक्त होकर मुक्ति प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥९५॥

अथानन्तर इसी बीचमें केवली भगवान्को नमस्कार कर अन्धकवृष्णिने अपने पूर्वभव पूछे और सर्वज्ञ सुप्रतिष्ठ केवली उसके पूर्वभवोंका वर्णन इस प्रकार करने लगे ॥९६॥ जब भगवान् वृषभदेवका महाप्रभावशाली तीर्थ चल रहा था तब अयोध्या नगरीमें राजा रत्नवीर्य राज्य करता था। उसके निष्कण्टक राज्यमें एक सुरेन्द्रदत्त नामका सेठ रहता था जो बत्तीस करोड़ दीनारोंका धनी था, जैनधर्मका परम श्रद्धालु था और रुद्रदत्त ब्राह्मण उसका मित्र था ॥९७-९८॥ कदाचित् सुरेन्द्रदत्त सेठ बारह वर्ष तक अष्टमी, चतुर्दशी, आष्टाह्निक पर्व तथा चौमासोंमें जिन-पूजाके लिए उपयुक्त धन, रुद्रदत्तको देकर व्यापारके लिए बाहर चला गया ॥९९॥ ब्राह्मण रुद्रदत्त बड़ा दुष्ट था। उसने जुआ तथा वेश्या व्यसनमें पड़कर वह धन शीघ्र ही नष्ट कर दिया। जब धन नष्ट हो गया तब चोरी करने लगा। चोरीके अपराधमें पकड़ा गया और जब छूटा तब उल्कामुख नामक वनमें जाकर रहने लगा ॥१००॥ वहाँ वह भीलोंके साथ मिलकर लोगोंको लूटने लगा और अपने दुष्कर्मसे लोगोंके लिए व्याधिस्वरूप हो गया। अन्तमें श्रेणिक नामक सेनापतिके हाथसे मरकर रौरव नामक सातवें नरक गया ॥१०१॥ देवद्रव्यके हड़पनेसे वह तैंतीस सागर तक नरकके भयंकर दुःख भोगकर वहाँसे निकला और संसारमें भ्रमण करता रहा ॥१०२॥ कदाचित् पाप कर्मका उपशम होनेसे वह हस्तिनागपुरमें कापिष्ठलायन नामक ब्राह्मणकी अनुमति नामक स्त्रीसे गौतम नामक ब्राह्मण-पुत्र हुआ। वह महादरिद्र था, उत्पन्न होते ही उसके माता-पिता मर गये

---

१. सण्णिस्स वार सोदे तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स ।
सत्तेताल सहस्सा बेसद तेसट्टिमदिरेया ॥१६८॥
तिण्णिसयसट्ठि विरहिद लक्खं दसमूलताडिदे मूलं ।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ॥१६९॥ गो. जी. ।

२. वणिज्यातो म. । ३. देवद्रव्यस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निःश्रीगौतमनामासौ कृतमातृपितृक्षयः । साधुं भुञ्जानमद्राक्षीद् भिक्षार्थी पर्यटन् बटुः ॥१०४॥
समुद्रदत्तनामानमनुगम्य तमाश्रमे । जगादात्मसमं यूयं कुरुध्वं मां बुभुक्षितम् ॥१०५॥
भव्यसत्त्वमसौ बुद्ध्वा दीक्षां तस्मै ददौ गुरुः । पापं वर्षसहस्रेण विघ्नकृत् सोऽप्यशीशमत् ॥१०६॥
स श्रीगौतमसंज्ञाकः प्राप्तोऽक्षीणमहानसम् । पदानुसारिणीं लब्धिं बीजबुद्धिरसर्द्धिमान्[1] ॥१०७॥
आराध्याराधनां सम्यक् सुविशालमगाद् गुरुः । शिष्यो वर्षसहस्राणि पञ्चाशत् स तपोऽतपत् ॥१०८॥
उदियाय स तत्रैव सुविशाले विशालधीः । स्थितिं संमानयन्मान्यामष्टाविंशतिसागरैः ॥१०९॥
अहमिन्द्रसुखं भुक्त्वा सोऽवतीर्य ततो नृपः । संजातोऽन्धकवृष्णिस्त्वमहं तु भवतो गुरुः ॥११०॥
अप्राक्षीत् पूर्वजन्मानि दुःखितः क्षितिपः पुनः । स्वपुत्राणां दशानां च केवली च जगाविति ॥१११॥
सद्भद्दिलपुरे राजा नाम्नो मेघरथोऽभवत् । भार्या तस्य सुभद्राख्या तयोर्दृढरथः सुतः ॥११२॥
इभ्यो[3] राजसमस्तस्य भार्या नन्दयशाः सुते । सुदर्शना च सुज्येष्ठा[4] धनदत्तस्य सूनवः ॥११३॥
धनश्च जिनदेवौ च पालान्तास्ते त्रयो मताः । अर्हद्दासः प्रसिद्धश्च जिनदासस्तथा परः ॥११४॥
अर्हद्दत्त इति ख्यातो जिनदत्तः परः स्मृतः । प्रियमित्रः प्रतीतोऽन्यस्तथा धर्मरुचिध्वनिः ॥११५॥
सुमन्दरगुरोः पार्श्वे प्रवव्राज नरेश्वरः । धनदत्तोऽपि पुत्रैस्तैर्नवभिः सह दीक्षितः ॥११६॥
सुदर्शनार्यिकापार्श्वे सुभद्रा च सुदर्शना । सुज्येष्ठा[5] च तपो ज्येष्ठं सहैव प्रतिपेदिरे ॥११७॥
धनदत्तो गुरुश्चैव वाराणस्यां नृपस्तथा । केवलज्ञानमुत्पाद्य विहृत्य[6] वसुधां क्रमात् ॥११८॥

थे तथा भीख माँगता हुआ वह इधर-उधर घूमता-फिरता था। एक बार उसने समुद्रदत्त नामक मुनिराजको आहार करते देखा। आहारके बाद वह उनके पीछे लग गया तथा आश्रममें पहुँचनेपर उनसे बोला कि मैं भूखा मरता हूँ आप मुझे अपने समान बना लीजिए ॥१०३-१०५॥ मुनिराजने उसे भव्य प्राणी जानकर दीक्षा दे दी और उसने भी दीक्षा लेकर एक हजार वर्षकी कठिन तपस्यासे विघ्नकारक पापोंका उपशम कर दिया ॥१०६॥ तपस्याके प्रभावसे उक्त गौतम मुनि, बीजबुद्धि तथा रसऋद्धिसे युक्त हो गये और अक्षीणमहानस एवं पदानुसारिणी ऋद्धि भी उन्होंने प्राप्त कर ली ॥१०७॥ गुरु समुद्रदत्त मुनि, अच्छी तरह आराधनाओंकी आराधना कर छठे ग्रैवेयकके सुविशाल नामक विमानमें अहमिन्द्र हुए और शिष्य गौतम मुनिने पचास हजार वर्ष तप किया ॥१०८॥ अन्तमें विशाल बुद्धिके धारक गौतम मुनि भी अट्ठाईस सागरकी सम्भावनीय आयु प्राप्तकर उसी सुविशाल विमानमें उत्पन्न हुए ॥१०९॥ अहमिन्द्रके सुख भोगनेके बाद वहाँसे चलकर गौतमका जीव तो तू अन्धकवृष्णि हुआ है और तेरा गुरु मुनि समुद्रदत्तका जीव मैं सुप्रतिष्ठ हुआ हूँ ॥११०॥

तदनन्तर दुःखी होते हुए राजा अन्धकवृष्णिने अपने दशों पुत्रोंके पूर्व भव पूछे सो केवली भगवान् इस प्रकार कहने लगे ॥१११॥ उन्होंने कहा कि किसी समय सद्भद्रिलपुर नगरमें राजा मेघरथ रहता था, उसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था और उन दोनोंके दृढ़रथ नामका पुत्र था ॥११२॥ उसी नगरमें राजाकी तुलना करनेवाला धनदत्त नामका सेठ रहता था उसकी स्त्रीका नाम नन्दयशा था। नन्दयशासे उसके सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामकी दो कन्याएँ तथा धनपाल, जिनपाल, देवपाल, अर्हद्दास, जिनदास, अर्हद्दत्त, जिनदत्त, प्रियमित्र और धर्मरुचि ये नौ पुत्र उत्पन्न हुए ॥११३-११५॥ कदाचित् राजा मेघरथने सुमन्दर गुरुके पास दीक्षा ले ली। यह देख सेठ धनदत्त भी अपने नौ ही पुत्रोंके साथ दीक्षित हो गया ॥११६॥ और सुदर्शना नामक आर्यिकाके पास सुभद्रा सेठानी तथा उसकी सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामक दोनों पुत्रियोंने साथ-ही-साथ दीक्षा धारण कर ली ॥११७॥ कदाचित् धनदत्त सेठ, सुमन्दर गुरु और मेघरथ राजा—तीनों ही मुनि

१. सुरद्धिमान् म.। २. षष्ठग्रैवेयके विशालनाम्नि विमाने। ३. श्रेष्ठी। ४. सुस्येष्ठा म.। ५. विहृता म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तभिः पञ्चभिः पूज्या वर्षैर्द्वादशभिश्च ते । अन्ते सिद्धशिलारूढाः सिद्धा राजगृहे पुरे ॥११९॥
अन्तर्वत्नी प्रसूता सा पूर्वनन्दयशाः सुतम् । धनमित्रं यथायोग्यं संस्थाप्य तपसि स्थिता ॥१२०॥
पुत्रान् सिद्धशिलारूढान् प्रायोपगमनस्थितान् । वन्दित्वा पुत्रमातृत्वमावृणोत् स्नेहमोहिता ॥१२१॥
स्नेहगह्वरमोहिन्यौ भगिन्यौ च तदैच्छताम् । सोदरत्वं भवेऽन्यत्र किं वा स्नेहस्य दुष्करम् ॥१२२॥
माता सुताः समाराध्य देवा भूत्वाच्युतेऽखिलाः । द्वाविंशतिसमुद्रान्तं कालं भुक्त्वा परं सुखम् ॥१२३॥
अवतीर्य ततो भूमिं देवीदुहितृदेहजाः । तवैवं भूप ! चित्रा हि परिणामवशाद् गतिः ॥१२४॥
बभाण भगवानन्ते वसुदेवभवान्तरम् । प्रणिधानपरोत्कर्णनरदेवसभान्तरे ॥१२५॥
कश्चिद्भवाब्धिदुःखोर्मिनिमग्नोन्मग्नताकुलः । प्राणी प्राप युगच्छिद्रं कीलवत् नृभवान्तरम् ॥१२६॥
मागधाभिधदेशेऽसौ शालिग्रामेऽग्रजन्मनोः । अभूद्दुर्विधबोस्तोकं स्तोकं नोपनयत् सुखम् ॥१२७॥
गर्भस्थेऽपि पिता तस्मिन्नर्भकेऽमृत मातृका । दुर्भगस्याष्टवर्षस्य निर्भा मातृष्वसा शुचा ॥१२८॥

बनारस आये और वहाँ केवलज्ञान उत्पन्न कर पृथिवीपर विहार करने लगे ॥११८॥ पूजनीय धनदत्त, सुमन्दर गुरु और मेघरथ मुनि क्रमसे सात वर्ष, पाँच वर्ष और बारह वर्ष तक पृथिवीपर विहार कर अन्तमें राजगृह नगरसे सिद्धशिलापर आरूढ़ हुए—मोक्ष पधारे ॥११९॥ उस समय सेठ धनदत्तकी स्त्री नन्दयशा गर्भवती थी इसलिए दीक्षा नहीं ले सकी थी परन्तु जब उसके धनमित्र नामका पुत्र हो गया और वह योग्य बन गया तब वह भी उसे छोड़ तप करने लगी ॥१२०॥

एक दिन सेठ धनदत्तके पुत्र धनपाल आदि नौके-नौ मुनिराज प्रायोपगमन संन्यास लेकर सिद्धशिलापर विराजमान थे। मुनियोंकी माता आर्यिका नन्दयशाने उन्हें देख वन्दना की और स्नेहसे मोहित हो निदान किया कि मैं अग्रिम भवमें भी इनकी माता बनूँ ॥१२१॥ मुनियोंकी बहन सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामक आर्यिकाओंने भी स्नेहरूपी गर्तमें मोहित हो निदान किया कि ये अग्रिम भवमें भी हमारे भाई हों। सो ठीक ही है क्योंकि स्नेहके लिए क्या कठिन है ? ॥१२२॥ अन्तमें समाधि धारण कर माता, पुत्र और पुत्रियाँ—सबके-सब अच्युत स्वर्गमें देव हुए। तदनन्तर बाईस सागर तक उत्कृष्ट सुख भोगकर वहाँसे चले और पृथिवीपर आकर हे राजन् ! तुम्हारी स्त्री, पुत्रियाँ तथा पुत्र हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि परिणामोंके अनुसार नाना प्रकारकी गति होती ही है ॥ भावार्थ—नन्दयशाका जीव तो तुम्हारी रानी सुभद्रा हुआ है, सुदर्शना और सुज्येष्ठाके जीव क्रमसे कुन्ती और माद्री हुए हैं तथा धनपाल आदिके जीव वसुदेवके सिवाय नौ पुत्र हुए हैं ॥१२३-१२४॥

तदनन्तर भगवान् सुप्रतिष्ठ केवली, ध्यानमें तत्पर एवं कान खड़े कर बैठे हुए मनुष्य और देवोंकी उस सभामें वसुदेवके भवान्तर कहने लगे—॥१२५॥ जिस प्रकार समुद्रकी लहरोंमें तैरती हुई कील जुएके छिद्रको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर सकती है उसी प्रकार संसार-सागरकी दुःखरूपी लहरोंमें डूबता और उबरता हुआ यह प्राणी मनुष्य भवको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर पाता है ॥१२६॥ इसी पद्धतिसे वसुदेवका जीव मागध देशके शालिग्राम नामक नगरमें रहनेवाले अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण और ब्राह्मणीके यहाँ ऐसा पुत्र हुआ जिसे थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं था ॥१२७॥ जब वह गर्भमें था तब पिता मर गया। और उत्पन्न होते ही माता मर गयी इसलिए मौसीने इसका पालन-पोषण किया परन्तु वह लगभग आठ वर्षका ही हो पाया था कि उसकी मौसी भी शोकके

---

१. पूजा म. । २. परोत्कर्म म. । ३. दरिद्रयोः । ४. पुत्रः । तोकः क. । ५. इतः आरभ्य १३१ श्लोकपर्यन्ताः श्लोकाः 'ख' पुस्तके न सन्ति ('क' पुस्तकेऽपि पश्चात् केनापि पादटिप्पण्यां योजिताः । ६. शोकेन मातृष्वसापि निर्भाः दीप्तिरहिता जाता मृतेत्यर्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरे राजगृहे सोऽथ मातुलस्य गृहेऽवसत् । भर्तुःस्वस्रीय इत्येष पितृष्वस्रानुपालितः ॥१२९॥
मलग्रस्तशरीरोऽसावुग्रगन्धोऽजपोतवत् । विकीर्णशीर्णकेशाग्रः कुचेलः पिङ्गलेक्षणः ॥१३०॥
दुहितृर्मातुलस्यासौ वाञ्छन् दमरकश्रुतेः । ताभिर्जुगुप्सुभिर्दुःखी स्वगृहाद्विनिघाटितः ॥१३१॥
दुर्भाग्याग्निशिखालीढः स्थाणुरेष [1]मलीमसः । मर्तुमिच्छन् पतङ्गाभो वैभारे साधुभिर्धृतः [2] ॥१३२॥
निन्दित्वात्मानमाकर्ण्य धर्माधर्मफलं ततः । प्राव्राजीद् गुरुपादान्ते शान्तः संख्याख्ययोगिनः ॥१३३॥
चचार गुरुसंदेशादाशापाशविनाशनः । तपोऽन्यदुश्चरं चारुचारित्रज्ञानदर्शनः ॥१३४॥
ननन्द नन्दिषेणाख्यस्तपसोत्पन्नलब्धिभिः । एकादशाङ्गभृत्साधुः सोढाशेषपरीषहः ॥१३५॥
उपवासविधिर्यो यः शासनेऽन्यातिदुष्करः । तस्य धैर्यवतः साधोः स सर्वः सुकरोऽभवत् [3] ॥१३६॥
आचार्यग्लानशैक्ष्यादिदशभेदमुदीरितम् । वैयावृत्यतपश्चक्रे सविशेषमसावृषिः ॥१३७॥
महालब्धिमतस्तस्य वैयावृत्योपयोगि यत् । वस्तु तच्चिन्तितं हस्ते भेषजाद्याशु जायते ॥१३८॥
तपो वर्षसहस्राणि बहूनि तपतोऽस्य च । वैयावृत्यं तपः शक्रः शशंस सुरसंसदि ॥१३९॥
काले संप्रति साधूनां वैयावृत्यं करोति यः । नन्दिषेणः परो जातो जम्बूद्वीपस्य भारते ॥१४०॥
यत्नेन चिन्तितं पथ्यमनुल्लाघसुदृष्टिना । तत्तस्य क्षिप्रमक्षूणं स संपादयति क्षमी ॥१४१॥

कारण प्राणरहित हो गयी ॥१२८॥ अब वह राजगृह नगरमें मामाके घर रहने लगा। वहाँ 'यह हमारे पतिका भानजा है' यह सोचकर बुआने उसका पालन-पोषण किया ॥१२९॥ इसका शरीर मलसे ग्रस्त था, शरीरसे छागके बच्चेके समान तीव्र गन्ध आती थी, केश रूखे तथा बिखरे हुए थे, वह मैले-कुचैले वस्त्र पहने रहता था और उसकी आँखें स्वभावसे ही पीली थीं ॥१३०॥ इतनेपर भी वह अपने मामा दमरककी पुत्रियोंके साथ विवाह करना चाहता था। परन्तु विवाह करना तो दूर रहा घृणा करनेवाली उन पुत्रियोंने उसे घरसे निकाल दिया जिससे वह बहुत दुःखी हुआ ॥१३१॥ अन्तमें वह दुर्भाग्यरूपी अग्निकी शिखाओंसे झुलसकर ठूँठके समान मलिन हो गया और पतंगकी तरह कूदकर मरनेकी इच्छासे वैभार गिरिपर गया परन्तु मुनियोंने उसे रोक लिया ॥१३२॥ तदनन्तर धर्म-अधर्मका फल सुनकर उसने अपने-आपकी बहुत निन्दा की और शान्त हो संख्य नामक मुनिराजके चरण मूलमें दीक्षा धारण कर ली ॥१३३॥ गुरुके सम्यक् उपदेशसे आशारूपी पाशको नष्ट कर वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका धारक हो गया और अन्य मनुष्योंके लिए दुश्चर तप तपने लगा ॥१३४॥ उसका नन्दिषेण नाम था, वह तपके प्रभावसे उत्पन्न ऋद्धियोंसे युक्त हो गया, ग्यारह अंगका धारी एवं समस्त परीषहोंको सहनेवाला उत्तम साधु हो गया ॥१३५॥ शास्त्रोंमें जो-जो उपवास दूसरोंके लिए अत्यन्त कठिन थे वे सब उस धैर्यशाली साधुके लिए सरल हो गये ॥१३६॥ आचार्य, ग्लान, शैक्ष्य आदिके भेदसे जिसके दश भेद बताये गये हैं उस वैयावृत्य तपको वह विशेष रूपसे करता था ॥१३७॥ वह मुनि बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त था इसलिए वैयावृत्यमें उपयोग आनेवाली जिस औषधि आदिका वह विचार करता था वह शीघ्र ही उसके हाथमें आ जाती थी ॥१३८॥ इस प्रकार मुनि नन्दिषेणको तप करते हुए जब कई हजार वर्ष बीत गये तब एक दिन इन्द्रने देवोंकी सभामें उसके वैयावृत्य तपकी प्रशंसा की ॥१३९॥ इस समय जम्बू द्वीपके भरत क्षेत्रमें जो साधुओंकी वैयावृत्य करता है वह नन्दिषेण मुनि सबसे उत्कृष्ट है ॥१४०॥ क्योंकि रोगसे पीड़ित मुनि जिस पथ्यकी इच्छा करता है उसे क्षमा-को धारण करनेवाला नन्दिषेण मुनि शीघ्र ही पूर्ण कर देता है ॥१४१॥ गृहस्थकी तो बात ही क्या

१. मणीमयः म. । मलीमयः ग., ङ. । २. वृतः म. । ३. अस्मादग्रे 'तपोलब्धिप्रभावेन वैयावृत्यं करोति सः इति 'ख' पुस्तकेऽधिकः । ४. रोगयुक्तसुदृष्टिना 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' इति कोषः । न उल्लाघोऽनुल्लाघः स चासौ सुदृष्टिश्च तेन ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासुकद्रव्ययोगेन वैयावृत्योद्यतस्य हि । संयतस्यापि नो बन्धो निर्जरैव तु जायते ॥१४२॥
[1]धर्मसाधनमाद्यं हि शरीरमिह देहिनाम् । तस्य धारणमाधेयं यथाशक्ति च शासने ॥१४३॥
सम्यग्दृष्टिरशेषोऽपि मन्दग्लानादिरादरात् । पर्युपासनया नित्यमुपचर्यः सुदृष्टिना ॥१४४॥
प्रतीकारसमर्थोऽपि यत्सुदृष्टिमुपेक्षते । व्याधिक्लिष्टमसौ नष्टः सम्यक्त्वस्यापे[2]बृंहकः ॥१४५॥
यन्नोपयुज्यते यस्य धनं वा वपुरेव वा । स्वशासनजने तेन तस्य किं [3]बन्धहेतुना ॥१४६॥
तदेव हि धनं तस्य वपुर्वा सर्वथा मतम् । यद्यस्य शासनस्थानां [4]यथास्वमुपयुज्यते ॥१४७॥
शक्तस्योपेक्षमाणस्य सद्दृष्टिजनमापदि । का वा कठिनचित्तस्य जिनशासनभक्तता ॥१४८॥
सम्यक्त्वशुद्धिशुद्धे तु जैने भक्तिविलोपने । पुंसो मिथ्याविनीतस्य का वा दर्शनशुद्धिता ॥१४९॥
बोधिलाभनिमित्ताया दृष्टिशुद्धेर्विबाधने । पुनर्बोधिपरिप्राप्तिर्दुर्लभा भवसंकटे ॥१५०॥
बोधिलाभपरिप्राप्तावसत्यां मुक्तिसाधनम् । कुतो वृत्तममावेऽस्य कुतो मुक्तिस्तदर्थिनः ॥१५१॥
मुक्त्यभावे कुतः सौख्यमनन्तमनपायि च । सौख्याभावे कुतः स्वास्थ्यं स्वास्थ्याभावे कुतः कृती॥१५२॥
अतः सर्वात्मना भाव्यं यथास्वं स्वहितैषिणा । वैयावृत्योद्यतेनाऽत्र यतिना गृहिणा तथा ॥१५३॥
शरीरं [5]दर्शनं ज्ञानं चारित्रं परमं तपः । वैयावृत्यकृता सर्वं स्थापितं हि परात्मनोः ॥१५४॥
शासनस्थितिविद् विद्वानुपकुर्वन् परं स्वयम् । निरपेक्षोपकारो वः परात्मलघुमोक्षभाग् ॥१५५॥

प्रासुक द्रव्यके द्वारा वैयावृत्य करनेमें तत्पर रहनेवाले मुनिको भी उससे बन्ध नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है ॥१४२॥ इस संसारमें शरीर ही प्राणियोंका सबसे पहला धर्मका साधन है इसलिए यथाशक्ति उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह आगमका विधान है ॥१४३॥ मन्द शक्ति अथवा बीमार आदि जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्दृष्टि मनुष्यको उन सबकी वैयावृत्य द्वारा निरन्तर सेवा करनी चाहिए॥१४४॥ जो प्रतिकार करनेमें समर्थ होकर भी रोगसे दुःखी सम्यग्दृष्टि-की उपेक्षा करता है वह पापी है तथा सम्यग्दर्शनका घात करनेवाला है ॥१४५॥ जिसका धन अथवा शरीर सहधर्मी जनोंके उपयोगमें नहीं आता उसका वह धन अथवा शरीर किस कामका ? वह तो केवल कर्मबन्धका ही कारण है ॥१४६॥ जिसका जो धन अथवा जो शरीर सहधर्मी जनोंके उपयोगमें आता है यथार्थमें वही धन अथवा वही शरीर उसका है ॥१४७॥ जो समर्थ होकर भी आपत्तिके समय सम्यग्दृष्टिकी उपेक्षा करता है उस कठोर हृदय वालेके जिनशासनकी क्या भक्ति है ? कुछ भी नहीं है ॥१४८॥ जो सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे शुद्ध सहधर्मीकी भक्ति नहीं करता है वह झूठ-मूठका विनयी बना फिरता है उसके सम्यग्दर्शनकी शुद्धि क्या है ! ॥१४९॥ यदि बोधिकी प्राप्तिमें निमित्तभूत दर्शनविशुद्धिमें बाधा पहुँचायी जाती है तो फिर इस संसारके संकटमें पुनः बोधिकी प्राप्ति दुर्लभ ही समझनी चाहिए ॥१५०॥ यदि बोधिकी प्राप्ति नहीं होती है तो मुक्तिका साधनभूत चारित्र कैसे हो सकता है ? और जब चारित्र नहीं है तब मुक्तिके अभिलाषी मनुष्यको मुक्ति कैसे मिल सकती है ? ॥१५१॥ मुक्तिके अभावमें अनन्त एवं अविनाशी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? सुखके अभावमें स्वास्थ्य कैसे मिल सकता है ? और स्वास्थ्यके अभावमें यह जीव कृत्य-कृत्य कैसे हो सकता है ? ॥१५२॥ इसलिए आत्महित चाहनेवाला चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ, उसे सब प्रकारसे अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करनेमें उद्यत रहना चाहिए ॥१५३॥ जो मनुष्य वैयावृत्य करता है वह अपने तथा दूसरेके शरीर, दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं उत्तम तप आदि सभी गुणोंको स्थिर करता है ॥१५४॥ जिन-शासनकी रीतिको जाननेवाला जो विद्वान् परका उपकार करता हुआ स्वयं प्रत्युपकारकी अपेक्षासे रहित होता है वह शीघ्र ही स्वपर आत्माका मोक्ष प्राप्त

१. 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' कुमारसम्भवे । २. हानिकारकः । ३. बन्धुहेतुना म., क. । ४. शासनस्थानं म. । ५. दर्शनज्ञानं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्यप्रवृत्तो यः शासनार्थातिभावितः । न स शक्यः सुरै रोद्धुं किं पुनः क्षुद्रजन्तुभिः ॥१५६॥
नन्दिषेणमुनिश्चैष तथाविध इति स्तुते[1] । सौधर्मेन्द्रेण देवास्तं प्रशशंसुः प्रणामिनः ॥१५७॥
मुनिधैर्यपरीक्षार्थं तत्रैको विबुधस्तदा । मुनिरूपधरः प्राह नन्दिषेणमिति श्रितः ॥१५८॥
वैयावृत्यमहानन्द नन्दिषेण मुने शृणु । व्याधिव्यथितदेहस्य देहि मे किंचिदौषधम् ॥१५९॥
इत्युक्तस्स तमाहैवमविकल्पानुकम्पया । ददामि वत ते साधो रुचिः कस्मिन्निहाशने ॥१६०॥
पूर्वदेशजशालीनामोदनः सुरभिः शुभः । पञ्चालदेशमुद्गानां सूपः स्वादुरसान्वितः ॥१६१॥
हैयङ्गवीनमुत्तप्तमपरान्तभुवां गवाम् । पयः कलिङ्गधेनूनां सुसृष्टं व्यञ्जनान्तरम् ॥१६२॥
लभ्येत यदि साधु स्यात् श्रद्धा ह्यत्र ममाधिका । इत्युक्त्वानयामीति जगाम श्रद्धयान्वितः ॥१६३॥
विरुद्धदेशवस्तूनां प्रार्थनेऽप्यविषण्णधीः । गत्वा गोचरवेलायामानीय सहसा ददौ ॥१६४॥
उपभुक्तान्नपानोऽसौ शरीरान्तर्मलाविलः । [2]धौतस्तेन स्वहस्ताभ्यां निशि निर्विचिकित्सया ॥१६५॥
अभग्नोत्साहमालोक्य नन्दिषेणमनिन्दितम् । वैयावृत्यकृतं प्रोचे दिव्यरूपधरः सुरः ॥१६६॥
यथा देवसभेऽस्तौषीद् भवन्तं मघवानृषे । वैयावृत्योद्यतो लोके तथैव भगवान् भवान् ॥१६७॥
अहो लब्धिरहो धैर्यमहो निर्विचिकित्सता । अहो शासनवात्सल्यमशल्यं तव [3]सन्मुनेः ॥१६८॥
अन्येषामपि यद्येषा मनीषा स्यान्मनीषिणाम् । कालत्रये तपस्यत्र तेषां शासनभक्तता ॥१६९॥

करता है ॥१५५॥ जो जिनशासनके अर्थकी उत्कट भावना करता हुआ वैयावृत्य करनेमें प्रवृत्त रहता है उसे देव भी रोकनेके लिए समर्थ नहीं हैं फिर क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या है ॥१५६॥ यह नन्दिषेण मुनि ऐसे ही उत्तम मुनि हैं इस प्रकार सौधर्मेन्द्र द्वारा स्तुति किये जानेपर सब देवोंने उनकी प्रशंसा की और परोक्ष नमस्कार किया ॥१५७॥ उन्हीं देवोंमें एक देव, मुनिके धैर्यकी परीक्षाके लिए मुनिका रूप रख नन्दिषेण मुनिराजके पास पहुँचा और इस प्रकार कहने लगा ॥१५८॥ हे वैयावृत्यमें महान् आनन्द धारण करनेवाले नन्दिषेण मुनि ! मेरा शरीर व्याधिसे पीड़ित हो रहा है इसलिए मुझे कुछ ओषधि दीजिए ॥१५९॥ उसके इस प्रकार कहनेपर नन्दिषेण मुनिने अपनी अखण्ड अनुकम्पासे कहा कि हे साधो ! मैं ओषधि देता हूँ परन्तु यह बताओ कि तुम्हारी किस भोजनमें रुचि है ? ॥१६०॥ मुनि रूपधारी देवने कहा—पूर्वदेशके धानका शुभ एवं सुगन्धित भात, पंचाल देशकी मूँगकी स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देशकी गायोंका तपाया हुआ घी, कलिंग देशकी गायोंका मधुर दूध और नाना प्रकारके व्यंजन यदि मिल जावें तो अच्छा हो क्योंकि मेरी श्रद्धा इन्हीं चीजोंमें अधिक है । इस प्रकार कहनेपर 'मैं अभी लाता हूँ' यह कहकर नन्दिषेण मुनि बड़ी श्रद्धाके साथ उक्त आहार लेनेके लिए चल दिये ॥१६१-१६३॥ विरुद्ध देशकी वस्तुओंकी चाह होनेपर भी उनके मनमें कुछ भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ और गोचरी वेलामें जाकर तथा उक्त सब आहार लाकर उन्होंने शीघ्र ही उस कृत्रिम मुनिको दे दिया ॥१६४॥ कृत्रिम मुनिने उस आहार पानीको ग्रहण किया परन्तु रात्रिमें शरीरके अन्तर्गत मलसे उसका समस्त शरीर मलिन हो गया और नन्दिषेण मुनिने बिना किसी ग्लानिके उसे अपने हाथोंसे धोया ॥१६५॥ तदनन्तर जिनका उत्साह भग्न नहीं हुआ था, तथा जो बराबर वैयावृत्य कर रहे थे ऐसे प्रशंसनीय नन्दिषेण मुनिको देखकर दिव्य रूपको धारण करनेवाले देवने कहा कि हे ऋषे ! देवोंकी सभामें इन्द्रने आपकी जिस प्रकार स्तुति की थी मैं देख रहा हूँ कि आप उसी तरह वैयावृत्य करनेमें उद्यत हैं ॥१६६-१६७॥ अहो ! आपकी ऋद्धि, आपका धैर्य, आपकी ग्लानि जीतनेकी क्षमता और संशयरहित आपका शासन वात्सल्य सभी आश्चर्यकारी हैं, आप उत्तम मुनिराज हैं ॥१६८॥ यदि तप करते समय अन्य बुद्धिमान् मनुष्योंकी भी इसी प्रकार त्रिकालमें वैयावृत्य करनेकी बुद्धि हो जावे तो उसे उनकी

१. स्तुतेः म. । २. श्रौतस्तेन म. । ३. सन्मुने म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति स्तुत्वा मुनिं नत्वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्य सः । स्वर्गी स्वर्गमगान्मार्गं जैनेन्द्रमतिवर्तयन् ॥१७०॥
पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि वर्षाण्यतिगमय्य सः । प्रायोपगमनं भेजे षण्मासावधि धीरधीः ॥१७१॥
संन्यस्तवपुराहारः स्वपरास्तप्रतिक्रियः । श्रीसौभाग्यनिदानेन स्वं बबन्ध सुमोहतः ॥१७२॥
निन्दितं नाकरिष्यच्चेन्निदानं स मुनिस्तदा । अबध्यत तदा शक्त्या तीर्थकृन्नाम तद्ध्रुवम् ॥१७३॥
स चाराध्य महाशुक्रे शक्रतुल्यस्ततोऽभवत् । तत्र तस्थौ सुखं कालं सार्द्धं षोडशसागरम् ॥१७४॥
स भुक्तसुरसौख्यस्ते ततः प्रच्युत्य पार्थिव । पार्थिवो वसुदेवोऽयं सुभद्रायामभूत्सुतः ॥१७५॥
इति श्रुत्वा भवान् पूर्वान् वृष्णिभार्यासुताः स्वकान् । धर्मसंवेगसंपन्नाः संजाता नृसुरास्तथा ॥१७६॥
सुप्रतिष्ठं प्रणम्येयुस्त्रिदशा नृपतिः पुनः । समुद्रविजयं राज्ये साभिषेकमतिष्ठपत् ॥१७७॥
समर्प्य वसुदेवं च समुद्रविजयाय सः । सुप्रतिष्ठस्य पादान्ते निष्क्रान्तस्तद्भवान्तकृत् ॥१७८॥
राज्ये भोजकवृष्णिश्च मथुरायां निधाय सः । उग्रसेनं समग्रेऽयं निर्ग्रन्थव्रतमग्रहीत् ॥१७९॥

पृथिवीछन्दः

समुद्रविजयः शिवां विहितपट्टबन्धां प्रियां
बधूनिवहमुख्यतामधिगमय्य राज्यस्थितिम् ।
स्थिरां स परिपालयन् सहजबन्धुभव्याम्बुजः
प्रतापमभिवर्धयन्नुदयनैर्जिनार्को यथा ॥१८०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ समुद्रविजयराज्यलाभवर्णनो नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

शासन भक्ति समझना चाहिए ॥१६९॥ इस प्रकार वह देव, मुनिराजकी स्तुति कर तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जिन-शासनकी प्रभावना करता हुआ स्वर्गको चला गया ॥१७०॥ अत्यन्त धीर बुद्धिको धारण करनेवाले नन्दिषेण मुनिने तपश्चरण द्वारा पैंतीस हजार वर्ष बिताकर अन्तिम समय छह माहका प्रायोपगमन संन्यास ले लिया ॥१७१॥ उन्होंने शरीर और आहारका त्याग कर दिया, वे अपने शरीरकी वैयावृत्ति न स्वयं करते थे न दूसरेसे कराते थे किन्तु इतना होनेपर भी मोहकी तीव्रतासे उन्होंने 'मैं अग्रिम भवमें लक्ष्मीमान् तथा सौभाग्यवान् होऊँ' इस निदानसे अपनी आत्माको बद्ध कर लिया ॥१७२॥ यदि वे मुनि उस समय यह निन्दित निदान नहीं करते तो अपनी सामर्थ्यसे अवश्य ही तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करते ॥१७३॥ तदनन्तर वह आराधनाओंकी आराधना कर महाशुक्र स्वर्गमें इन्द्र तुल्य देव हुआ और वहाँ साढ़े सोलह सागर तक सुखसे विद्यमान रहा ॥१७४॥ हे राजन् ! वही पुत्र देवोंके सुख भोगकर अन्तमें वहाँसे च्युत हो तेरी सुभद्रा रानीसे यह पृथिवीका अधिपति वसुदेव नामका पुत्र हुआ है ॥१७५॥ इस प्रकार अन्धकवृष्णि, उसकी सुभद्रारानी तथा समुद्रविजय आदि पुत्र सुप्रतिष्ठ केवलीसे अपने-अपने पूर्वभव सुनकर धर्म और संवेगको प्राप्त हुए । इनके सिवाय जो वहाँ मनुष्य तथा देव थे वे भी धर्म और संवेगको प्राप्त हुए । इनके सिवाय जो वहाँ मनुष्य तथा देव थे वे भी धर्म और संवेगको प्राप्त हुए ॥१७६॥ सुप्रतिष्ठ स्वामीको नमस्कार कर देवलोग अपने-अपने स्थानपर चले गये । तदनन्तर संसारका अन्त करनेवाले राजा अन्धकवृष्णिने समुद्रविजयका अभिषेक कर उसे राज्य-सिंहासनपर बैठाया और वसुदेवको समुद्रविजयके लिए सौंपकर सुप्रतिष्ठ केवलीके पादमूलमें दीक्षा धारण कर ली ॥१७७-१७८॥ उधर भोजकवृष्णिने भी मथुराके समग्र राज्यपर उग्रसेनको बैठाकर निर्ग्रन्थ व्रत धारण कर लिया—मुनि दीक्षा ले ली ॥१७९॥ राजा समुद्रविजयने अपनी प्रियरानी शिवादेवीको पट्ट बाँधकर समस्त स्त्रियोंमें मुख्यता प्राप्त करा दी । तदनन्तर जिस प्रकार जिनेन्द्ररूपी सूर्य, अष्ट प्रातिहार्य रूप अभ्युदयसे प्रभावको बढ़ाते हुए भव्य जीवरूपी कमलोंको प्रसन्न करते हैं उसी प्रकार राज्य मर्यादाकी रक्षा करनेवाले राजा समुद्रविजय भी अपनी अनुपम विभूतिसे प्रतापको बढ़ाते हुए अपने बन्धुरूपी कमलोंको प्रसन्न करने लगे ॥१८०॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि, पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें समुद्रविजयके लिए राज्य प्राप्तिका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकोनविंशः सर्गः

अथाह गणनाथाद्यः शृणु श्रेणिक वर्ण्यते । चेष्टितं वसुदेवस्य वसुधाविजयार्द्धजम् ॥१॥
समुद्रविजयो भूभृदष्टानां नवयौवने । भ्रातॄणां राजपुत्रीभिः [२]सत्कल्याणमकारयत् ॥२॥
उवाह धृतिमक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः । स्वयंप्रभां प्रभानूनां सुनीतां हिमवानपि ॥३॥
सिताख्यां विजयः ख्यातां प्रियालापां तथाचलः । उपयेमे युवा धीरो धारणश्च प्रभावतीम् ॥४॥
कालिङ्गीं पूरणश्चार्वीमभिचन्द्रश्च सुप्रभाम् । अष्टौ स्त्रीषु महादेव्यस्त्वष्टानामपि ताः स्मृताः ॥५॥
कलागुणविदग्धानां तेषामासीत् सयोषिताम् । अन्योन्यप्रेमबद्धानामनन्यसदृशी रतिः ॥६॥
तदा देवकुमाराभो वसुदेवः श्रिया श्रितः । शौर्यपुर्यां च चिक्रीड कुमारक्रीडया युतः ॥७॥
रूपलावण्यसौभाग्यभाग्यवैदग्ध्यवारिधिः । जहार जनचेतांसि कुमारो मारविभ्रमः ॥८॥
चतुर्णां लोकपालानां वेषमादाय हारिणम् । इन्द्रादिदिक्षु निःक्षुद्रः क्रमात्पुर्यां विनिर्ययौ ॥९॥
[3]निर्याति [4]सूर्यदीप्ताङ्गे [5]चन्द्रसौम्यमुखाम्बुजे । तत्र शौर्यपुरे स्त्रीणां भवत्याकुलता परा ॥१०॥
संघट्टः पुरनारीणां वसुदेवदिदृक्षया । जायतेऽर्णववेलायां पूर्णचन्दोदये [6]यथा ॥११॥
भूमौ रथ्या यथा स्त्रीभिस्त्यक्तप्रस्तुतकर्मभिः । प्रासादेषु गवाक्षाश्च सञ्छाद्यन्ते दिदृक्षुभिः ॥१२॥
सौभाग्यहृतचेतस्कं बहिरन्तरितस्ततः । बभूव पुरमुद्भ्रान्तं वसुदेवकथामयम् ॥१३॥

अथानन्तर गौतम गणधरने कहा कि हे श्रेणिक ! अब वसुदेवकी पृथिवी तथा विजयार्ध सम्बन्धी चेष्टाओंका वर्णन करता हूँ सो सुन ॥१॥ राजा समुद्रविजयने अपने आठ छोटे भाइयोंके नवयौवन आनेपर उनका राजपुत्रियोंके साथ विवाह करा दिया ॥२॥ अक्षोभ्यने धृतिको, स्तिमितसागरने उत्कृष्ट प्रभाको धारण करनेवाली स्वयंप्रभाको, हिमवानने सुनीताको, विजयने सिताको, अचलने प्रियालापाको, युवा तथा धीर वीर धारणने प्रभावतीको, पूरणने कालिंगीको, और अभिचन्द्रने सुप्रभाको विवाहा। ये आठों स्त्रियाँ अक्षोभ्य आदि कुमारोंकी आठ महादेवियाँ थीं तथा अनेकों स्त्रियोंमें प्रधान मानी गयी थीं ॥३-५॥ जो कला तथा अनेक गुणोंमें चतुर थे, अपनी-अपनी स्त्रियोंसे सहित थे और पारस्परिक प्रेमसे आपसमें बँधे हुए थे ऐसे उन सब भाइयोंमें परस्पर बेजोड़ प्रेम था ॥६॥ उस समय लक्ष्मीसे सेवित वसुदेव, देव कुमारके समान जान पड़ते थे और बालक्रीड़ासे युक्त हो शौर्यपुरी नगरीमें यथेच्छ क्रीड़ा करते थे ॥७॥ रूप, लावण्य, सौभाग्य, भाग्य और चतुराईसे सागर तथा कामदेवके समान सुन्दर वसुदेव जनताके चित्तको हरण करते थे ॥८॥ अतिशय उदार वसुदेव क्रम-क्रमसे चार लोकपालोंका मनोहर वेष रखकर पूर्व आदि दिशाओंमें निकलते थे ॥९॥ जिनका शरीर सूर्यके समान देदीप्यमान था तथा मुख कमल चन्द्रमाके समान सौम्य था ऐसे वसुदेव जब उस शौर्यपुरमें बाहर निकलते थे तब स्त्रियोंमें बड़ी आकुलता उत्पन्न हो जाती थी ॥१०॥ जिस प्रकार पूर्णचन्द्रका उदय होनेपर समुद्रकी वेलामें संघट्ट मच जाता है उसी प्रकार वसुदेवको देखनेकी इच्छासे नगरकी स्त्रियोंमें संघट्ट मच जाता था—उनकी बड़ी भीर इकट्ठी हो जाती थी ॥११॥ उनके बाहर निकलते ही देखनेके लिए इच्छुक स्त्रियाँ अपने प्रारब्ध कार्योंको छोड़कर पृथिवीपर तो गलियोंको रोक लेती थीं और ऊपर महलोंके झरोखोंको आच्छादित कर लेती थीं ॥१२॥ वसुदेवके सौभाग्यसे जिसका चित्त हरा गया था

---

१. गौतमः । २. विवाहम् । ३. निर्गच्छति सति । ४. सूर्यवत् दीप्तमङ्गं यस्य तस्मिन् । ५. चन्द्रवत् सौम्यं मुखाम्बुजं यस्य तस्मिन् । ६. पूर्णचन्द्रोदयं यथा म. । ७. प्रारब्ध म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यदा पुरवृद्धास्ते समुद्रविजयं नृपम् । नत्वा व्यजिज्ञपन्नित्थमुपांशु [1]पिशुनान्तराः ॥१४॥
अभयं नः प्रदाय त्वं शृणु [2]विज्ञापनं विभो । युक्तं वा यदि वायुक्तं बालस्येव वचः पिता ॥१५॥
नृपस्त्वं रक्षणान्नॄणां भूपो रक्षणतो भुवः । त्वमेव जगतो राजा राजन् ! प्रकृतिरञ्जनात् ॥१६॥
त्वयि राजनि राजन्ते [3]जनितप्रमदाः प्रजाः । अक्षुद्रोपद्रवाः पूर्वं पितरीव तवाधुना ॥१७॥
उर्वरा सर्वसस्यौघैः शालिव्रीह्यादिभिर्वरैः । [4]अवग्रहोज्झितैर्धत्ते प्रतिवर्षमवन्ध्यताम् ॥१८॥
यथा कृषिस्तथात्यर्थं वणिज्या फलति प्रभो । क्रयविक्रयबाहुल्याद् वणिजां राज्यमूर्जितम् ॥१९॥
घटोच्चन्यो घटपूरं हि गोमहिष्युद्घधेनवः । दुहन्ति सततं दुग्धं प्रभूताः [5]सुहितास्तृणैः ॥२०॥
गृहार्थमन्नमत्यल्पं प्रसाधितमयत्नतः । नान्तमेति दिनान्तेऽपि दानधर्मात्मभुक्तिभिः ॥२१॥
स्वस्वभावविभक्तान्यभावे षष्टेयब्दवस्तुनि [6] । त्वत्प्रभावाच्चिरस्थैर्यः कालो दुन्दुभिरेव नः ॥२२॥
एवं सति सुखे दुःखं स्वल्पं तदपि भूपते । न प्रकाशयितुं शक्यं यथात्मोदरपाटनम् ॥२३॥

ऐसा समस्त नगर उस समय भीतर-बाहर उद्भ्रान्त हो गया था तथा जहाँ-तहाँ एक वसुदेवकी ही कथा सुनाई देती थी ॥१३॥ तदनन्तर किसी समय जिनके हृदय मात्सर्यसे परिपूर्ण थे ऐसे वृद्ध-जन राजा समुद्रविजयके पास जाकर तथा नमस्कार कर एकान्तमें इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥१४॥

उन्होंने कहा कि हे प्रभो ! जिस प्रकार बालकके वचन चाहे युक्त हों चाहे अयुक्त, उन्हें पिता सुनता ही है उसी प्रकार आप हम लोगोंको अभय देकर हमारे वचन सुनिए । हमारे वे वचन भले ही युक्त हों अथवा अयुक्त हों ॥१५॥ हे नाथ ! आप मनुष्योंकी रक्षा करते हैं इसलिए नृप हैं, पृथिवीकी रक्षा करते हैं इसलिए भूप हैं और प्रजाको अनुरंजित करते हैं इसलिए आप ही राजा हैं ॥१६॥ जिस प्रकार पहले आपके पिताके राज्य-कालमें प्रजा सानन्द तथा क्षुद्र उपद्रवोंसे रहित थी उसी प्रकार इस समय आपके राज्य-कालमें भी प्रजा सानन्द तथा क्षुद्र उपद्रवोंसे रहित है ॥१७॥ यहाँकी उपजाऊ भूमि वर्षाके प्रतिबन्धसे रहित शालि, व्रीहि आदि सब प्रकारके उत्तमोत्तम धान्योंके समूहसे प्रतिवर्ष सफलताको धारण करती है ॥१८॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार खेती सफल रहती है उसी प्रकार वाणिज्य भी सफल रहता है । आपका राज्य व्यापारियोंके क्रय-विक्रयकी अधिकतासे अत्यधिक सम्पन्न हो रहा है ॥१९॥ घटके समान बड़े-बड़े स्तनोंको धारण करनेवाली एवं हरे-भरे तृणोंसे सन्तुष्ट बहुत-सी गायें, भैंसे और उत्तम जातिकी धेनुएँ निरन्तर घड़े भर-भरकर दूध देती हैं ॥२०॥ घरके उपयोगके लिए साधारण रीतिसे तैयार किया हुआ थोड़ा-सा अन्न भी, दानके समय धर्मात्माओंके भोजनमें आनेसे सायंकालतक भी समाप्त नहीं होता ॥२१॥ हे नाथ ! साठ संवत्सरी रूप जो वस्तु है उसमें स्वभाववश ही अन्यथा परिणमन होता रहता है परन्तु आपके प्रभावसे हमलोगोंका तो दुन्दुभि नामक काल ही चिरकालसे स्थिर है । भावार्थ—ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार साठ संवत्सर होते हैं जो क्रमसे परिवर्तित होते रहते हैं, उनमें हानि-लाभ सभी कुछ होते हैं । परन्तु उन संवत्सरोंमें एक दुन्दुभि नामका संवत्सर भी होता है जिसमें प्रजाका समय आनन्दसे बीतता है । प्रजाके लोग राजा समुद्रविजयसे कह रहे हैं कि यद्यपि संवत्सर परिवर्तनशील हैं परन्तु हमारे लिए आपके प्रभावसे दुन्दुभि नामक संवत्सर ही चिरस्थायी होकर आया है ॥२२॥ हे राजन् ! इस प्रकार सुखके रहते हुए थोड़ा-सा दुःख भी है परन्तु जिस

१. पिहितान्तराः म. । २. विज्ञापनां म. । ३. प्रमदाः सफलाः म. । ४. वृष्टिप्रतिबन्धरहितैः । ५. सुतृप्ताः । ६. क्षयकृन्नास्ति षष्टिसंवत्सरीरूपे काले सत्यपि इति ख. पुस्तकं विहाय सर्वत्र टिप्पणी । ७. 'सर्वसस्ययुता धात्री पालिता धरणीधरैः । पूर्वदेशविनाशः स्यात्तत्र दुन्दुभिवत्सरे' ॥ इति वर्षप्रबोधे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्याकर्ण्य नृपः प्राह पौरप्राग्रहरानिति । ब्रूत वीतभया दुःखं यूयं मह्यं हिता यदि ॥२४॥
आधिर्व्याधिरिवाल्पोऽपि हृदये कृतसंनिधिः । प्राणकारणमप्यन्नं प्रतिहन्ति न संशयः ॥२५॥
इत्युक्तास्तेन ते प्रोचुरिति विस्रम्भमागताः । दुर्विज्ञप्तिमिमां राजन् निर्बुध्यस्व प्रजाहितम् ॥२६॥
वसुदेवकुमारस्य नित्यं निःसरतः पुरात् । रूपदर्शनविभ्रान्ता विस्मरन्ति वपुः स्त्रियः ॥२७॥
निर्गमे च प्रवेशे च कुमारस्यान्यदङ्गनाः । न पश्यन्ति न शृण्वन्ति भवन्ति विकलेन्द्रियाः ॥२८॥
तिष्ठन्तु तावदन्यानि स्वानुष्ठेयानि योषिताम् । स्तनंधयस्तनादानं रागान्धानां सुविस्मृतम् ॥२९॥
अतिरूपतमो धीरः स्वभावस्वच्छमानसः । सर्वोपधाविशुद्धात्मा कुमारः शीलशेखरः ॥३०॥
नृप ! कस्य न विज्ञातस्समस्ते वसुधातले । तथापि किं वयं कुर्मो चित्तोद्भ्रान्तमभूत्पुरम् ॥३१॥
यदत्र युक्तमाधातुं तत्त्वमेव निरूपय । [1]यथास्वन्तं पुरस्येश ! कुमारस्य च जायते ॥३२॥
तन्निशम्य वचो राजा विचिन्त्य चिरमात्मनि । तथेति प्रतिपद्यैतान् विससर्ज ययुश्च ते ॥३३॥
पर्यट्य चिरमागत्य प्रणतं भ्रातरं नृपः । आलिङ्ग्याङ्कं समारोप्य स्नेहेनाघ्राय मस्तके ॥३४॥
[2]श्रान्तोऽत्यन्तं कुमार ! त्वं चिरं भ्रान्त्वा वनान्तरम् । विवर्ण ! क्षुत्पिपासार्त्त ! किमित्येवं चिरायितम्॥३५॥
वातातपपरिम्लानः [3]शिरःशेखरनीरुचिः । अगणय्य वपुःखेदं पर्यटस्यटनप्रियः ॥३६॥

प्रकार अपना पेट फाड़कर नहीं दिखाया जा सकता उसी प्रकार वह थोड़ा-सा दुःख भी नहीं प्रकट किया जा सकता ॥२३॥

इस प्रकार सुनकर राजा समुद्रविजयने नगरके वृद्धजनोंसे कहा कि यदि आप लोग हमारा हित चाहते हैं तो निर्भय होकर वह दुःख कहिए ॥२४॥ क्योंकि हृदयमें रहनेवाली छोटी-सी मानसिक व्यथा भी शारीरिक व्यथाके ही समान, प्राण-रक्षाका कारण जो अन्न है उसे भी छुड़ा देती है इसमें संशय नहीं है। भावार्थ—मानसिक पीड़ाके कारण मनुष्य खाना-पीना भी छोड़ देता है ॥२५॥ इस प्रकार समुद्रविजयके कहनेपर प्रजाके लोग विश्वस्त हो कहने लगे। उन्होंने कहा कि हे राजन् ! हमारी विज्ञप्ति, विज्ञप्ति नहीं किन्तु दुर्विज्ञप्ति है परन्तु प्रजाके हितके लिए उसे अवश्य सुनिए ॥२६॥ वसुदेवकुमार प्रतिदिन नगरसे बाहर निकलते हैं जिससे नगरकी स्त्रियाँ उनका रूप देखकर पागल-सी हो जाती हैं और अपने शरीरकी सुध-बुध भूल जाती हैं ॥२७॥ कुमारके बाहर निकलने और भीतर प्रवेश करनेके समय स्त्रियाँ इन्द्रियोंसे रहित जैसी हो जाती हैं इसलिए वे न अन्य किसीको देखती हैं और न अन्य कुछ सुनती ही हैं ॥२८॥ स्त्रियोंके अपने करने योग्य दूसरे काम तो दूर रहें परन्तु रागान्ध होकर वे छोटे-छोटे बच्चोंके लिए स्तन देना—दूध पिलाना भी भूल जाती हैं ॥२९॥ हे राजन् ! यद्यपि कुमार वसुदेव, अत्यन्त सुन्दर, धीर-वीर, स्वभावसे स्वच्छ हृदयके धारक, सर्वप्रकारसे विशुद्ध आत्मासे युक्त और शीलके शिरोमणि हैं ॥३०॥ यह समस्त पृथिवीतलपर किसे नहीं विदित है ? फिर भी हम क्या करें ? नगरवासियोंका चित्त उद्भ्रान्त हो रहा है ॥३१॥ हे स्वामिन् ! हम लोगोंने अपनी मनोव्यथा कही अब यहाँ जो कुछ करना उचित हो तथा जिससे नगर और कुमार दोनोंका परिणाम अच्छा हो वह आप ही कहिए ॥३२॥ राजा समुद्रविजयने नगरवासियोंकी बात सुनकर चिरकाल तक अपने-आपमें उसका विचार किया, उसके बाद सबको आश्वासन देकर विदा किया और आश्वासन पाकर नगरवासी यथास्थान चले गये ॥३३॥ उसी समय भाई वसुदेवने चिरकाल तक भ्रमण करनेके बाद आकर राजा समुद्रविजयको प्रणाम किया। समुद्रविजयने उनका आलिंगन कर गोदमें बैठाया और स्नेहसे मस्तक सूँघते हुए कहा कि कुमार ! तुम चिरकाल तक वनके मध्यमें भ्रमण करनेसे अत्यन्त थक गये हो। देखो, तुम्हारा वर्ण फीका पड़ गया है और तुम भूख-प्याससे पीड़ित जान पड़ते हो।

---

१. शोभनपरिणामः । २. भ्रान्तोऽत्यन्तं म. । ३. परिम्लानशिरः -म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नानभोजनवेलाया मा कृतास्त्वमतिक्रमम् । अद्य प्रभृति शुद्धान्तवनान्तेष्वारमाधुना ॥३७॥
इति राजानुजं भक्तमनुशिष्य शिवागृहम् । ससकक्षापरिक्षेपि तं गृहीत्वा करेऽविशत् ॥३८॥
स्नात्वा भुक्त्वा स तेनामा कृतरक्षाविधिः स्वयम् । तदलक्षितसंकेतो बभूव नृपतिः सुखी ॥३९॥
कुमारोऽपि शिवादेव्याः स वनोद्यानभूमिषु । क्रीडन्नाट्यसुगीताद्यैर्विनोदैश्चावसत्सदा ॥४०॥
एकदा तु शिवादेव्यै समालम्भनमेकया । कुब्जया नीयमानं तां खलीकृत्य जहार सः ॥४१॥
सा जगाद ततो रुष्टा कुमार! तव चेष्टितैः । ईदृशैरेव संप्राप्तो बन्धनागारमीदृशम् ॥४२॥
स तां पप्रच्छ [2]शङ्कावान् कुब्जे ! किमिति जल्पितम् । न्यवेदयच्च सा तस्मै यथावन्नृपमन्त्रणम् ॥४३॥
ततः स्वं वञ्चनं [3] ज्ञात्वा विमनाः स नृपं प्रति । सद्मनश्छद्मना दक्षो निरगान्नगरात्ततः ॥४४॥
गत्वैकानुचरो मन्त्रसाधनव्याजवान्निशि । श्मशाने चैकदेशस्थं तं कृत्वोत्तरसाधकम् ॥४५॥
किंचिद्दूरे निवेश्यैकं मृतकं भूषणैर्निजैः । विभूष्य चितिकामध्ये निक्षिप्य वदति स्म सः ॥४६॥
आर्यस्तातसमो राजा पौराश्च पिशुनाश्चिरम् । सुखं जीवन्तु संतुष्टाः प्रविष्टोऽहं हुताशनम् ॥४७॥
इत्युक्त्वोच्चैः प्रधाव्यासौ प्रदर्श्याग्निप्रवेशनम् । अन्तर्धानं गतो दूरं [4]भुजिष्योऽपि पुरं ततः ॥४८॥
वसुदेवस्य वृत्तान्ते तद्भृत्येन निवेदिते । सपौरान्तःपुरभ्रातृवृष्णिवर्गस्तदा नृपः ॥४९॥

इतनी देर तुमने किस लिए की ? वायु तथा घामसे तुम मुरझा गये हो, तुम्हारे शिरका सेहरा भी कान्तिहीन हो गया है, तुम घूमनेके ऐसे शौकीन हो कि शरीरके खेदकी परवाह न कर घूमते रहते हो ? अब आजसे स्नान तथा भोजनके समयका उल्लंघन नहीं करना तथा आजसे अन्तःपुरके भीतर जो बगीचा है उसीमें क्रीड़ा करना ॥३४–३७॥ इस प्रकार राजा समुद्रविजय भक्तिसे भरे हुए छोटे भाई वसुदेबको समझाकर तथा हाथ पकड़कर सात कक्षाओंसे घिरे हुए शिवादेवीके महलमें प्रविष्ट हुए ॥३८॥ वहाँ वसुदेवके साथ ही उन्होंने स्नान किया, भोजन किया तथा 'वे वहीं रहे' इस बातकी स्वयं ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिसका वसुदेवको कुछ भी संकेत मालूम नहीं हुआ। यह सब कर राजा समुद्रविजय सुखी हुए—निश्चिन्त हो गये ॥३९॥ और कुमार वसुदेव भी शिवादेवीके बगीचोंमें नाट्य-संगीत आदि विनोदोंसे क्रीड़ा करते हुए सदा रहने लगे ॥४०॥

अथानन्तर एक दिन अन्तःपुरकी एक कुब्जादासी शिवादेवीके लिए विलेपन लिये जा रही थी सो कुमारने उसे तंग कर छीन लिया। इससे रुष्ट होकर कुब्जाने कहा कि कुमार ! ऐसी ही चेष्टाओंसे तुम इस प्रकार बन्धनागारको प्राप्त हो--कैद किये गये हो ॥४१–४२॥ कुब्जाकी बात सुनकर शंकायुक्त हो वसुदेवने उससे पूछा कि कुब्जे ! तूने यह क्या कहा ?—तेरे कहनेका क्या तात्पर्य है ? तब उसने राजाकी जो सलाह थी वह ज्योंकी-त्यों कुमारको बता दी ॥४३॥ तदनन्तर 'हमारे प्रति धोखा किया गया' यह जानकर कुमार राजासे विमुख हो गये। वे चतुर तो थे ही इसलिए छलपूर्वक घरसे तथा नगरसे बाहर निकल गये ॥४४॥ वे मन्त्रसिद्धिका बहाना बना एक नौकरको साथ लेकर रात्रिके समय श्मशानमें गये। वहाँ नौकरको एक स्थानपर बैठाकर तथा 'जब मैं पुकारूँ उत्तर देना' ऐसा संकेतकर कुछ दूर अकेले गये। वहाँ एक मुर्दाको अपने आभूषणोंसे अलंकृत कर तथा उसे एक चितापर रखकर उन्होंने कहा कि पिताके समान पूज्य राजा और चुगली करनेवाले नगरवासी सन्तुष्ट होकर चिरकाल तक सुखसे जीवित रहें; मैं अग्निमें प्रविष्ट हो रहा हूँ। इस प्रकार जोरसे कहकर तथा 'दौड़कर अग्निमें प्रवेश किया है' यह दिखाकर अन्तर्हित हो दूर चले गये। इस घटनाके बाद वह नौकर भी नगरमें वापस आ गया ॥४५–४८॥ नौकर द्वारा वसुदेवका वृत्तान्त कहे जानेपर राजा समुद्रविजय उसी समय नगरवासी, अन्तःपुर,

---

१. स्नाद्य- म. । २. शङ्कासात् म. । ३. वचनं म. । ४. अनुचरोऽपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्राप्य प्रातराक्रन्दमुखरो वीक्ष्य भस्मनि । कुमारामरणं तत्र रुदित्वा मृत इत्यसौ ॥५०॥
पश्चात्तापहतो दुःखी स कृतोचिततत्क्रियः । निन्दन् मन्दोद्यमः स्वं च वञ्चितोऽहमिति स्थितः ॥५१॥
वसुदेवस्तु निःशङ्को गृहीत्वा पश्चिमां दिशम् । द्विजवेषधरो धीरो योजनानि बहून्ययात् ॥५२॥
प्रापद् विजयखेटाख्यं पुरं खेटपुरोपमम् । क्षत्रियान्वयजेनात्र दृष्टो गन्धर्वसूरिणा ॥५३॥
सुग्रीव इत्यनुग्राही गान्धर्वार्थिजनस्य सः । वीक्ष्यैवाकारमेतस्य वशीकृत इवाभवत् ॥५४॥
कन्यानन्यसमा तस्य सोमा [1]सोमसमानना । अन्या विजयसेनाख्या रूपपारमिते शुभे ॥५५॥
गन्धर्वादिकलापारं प्राप्तयोः स तयोः पिता । गान्धर्वे योऽनयोर्जेता स भर्त्तेत्यभिमन्यते ॥५६॥
लक्ष्यलक्षणयोगेन यत्र यत्र तयोर्जयः । तत्र तत्र समामध्ये ते जिगाय स यादवः ॥५७॥
सुग्रीवेण ससंतोषेण कन्ये दत्ते ततः शुभे । परिणीय मुदा रेमे प्रासादवरभूमिषु ॥५८॥
सूनुं विजयसेनाया मुख्याद्याक्रूरसंज्ञकम् । शौरिः शौर्यसहायोऽयादविज्ञातविनिर्गतः ॥५९॥
गच्छन्मार्गवशात् क्वापि प्रविवेश महाटवीम् । अपश्यच्च सरो रम्यं हंससारसवारिजैः ॥६०॥
[2]नाम्ना तत्र स जलावर्तमवगाह्य महासरः । शीतं [3]प्रपाय पानीयं सस्नौ तत्र चिरन्तनम् ॥६१॥
जलं मुरजनिर्घोषं [4]समबादयदुन्नतः । निशम्य रवमुत्तस्थौ तत्र सुप्तो महागजः ॥६२॥

भाई तथा अन्य यदुवंशियोंके साथ श्मशान गये। उस समय सबके मुखसे रोनेकी ध्वनि निकल रही थी। जब प्रातःकाल राखमें कुमारके आभूषण देखे तब 'कुमार निश्चित ही मर गये हैं' यह जानकर सब रोने लगे। राजा समुद्रविजय पश्चात्तापसे पीड़ित हो बहुत दुःखी हुए। उन्होंने मरणोत्तर कालकी सब क्रियाएँ कीं, अपने-आपकी बहुत निन्दा की और हम भाईसे वंचित हुए हैं इस खेदसे उनका उद्यम कुछ मन्द पड़ गया ॥४९–५१॥

इधर धीर-वीर वसुदेव निःशंक हो पश्चिम दिशाकी ओर चल पड़े और एक ब्राह्मणका वेष रखकर बहुत योजन दूर निकल गये ॥५२॥ चलते-चलते वे देवोंके नगरके समान सुन्दर विजयखेट नामक नगरमें पहुँचे। वहाँ क्षत्रियवंशमें उत्पन्न सुग्रीव नामका एक गन्धर्वाचार्य रहता था। वह गन्धर्वाचार्य संगीत विद्याके इच्छुक मनुष्योंका बड़ा उपकारी था तथा वसुदेवका रूप देखकर उनका वशीभूत जैसा हो गया ॥५३–५४॥ उस गन्धर्वाचार्यकी, रूपमें अपनी शानी न रखनेवाली चन्द्रमुखी सोमा और विजयसेना नामकी दो उत्तम पुत्रियाँ थीं। ये पुत्रियाँ सौन्दर्यकी परम सीमाको प्राप्त हुई-सी जान पड़ती थीं ॥५५॥ ये कन्याएँ गन्धर्व आदि कलाओंकी परम सीमाको प्राप्त थीं इसलिए उनके पिता सुग्रीवने अभिमानवश ऐसा विचार कर लिया था कि जो गन्धर्व-विद्यामें इन दोनोंको जीतेगा वही इनका भर्ता होगा ॥५६॥ लक्ष्यलक्षणके योगसे अन्यत्र जिन-जिन विषयोंमें उन दोनों कन्याओंकी जीत हुई थी उन्हीं-उन्हीं विषयोंमें सभाके बीच वसुदेवने उन कन्याओंको पराजित कर दिया ॥५७॥ तदनन्तर सुग्रीवने सन्तुष्ट होकर अपनी दोनों कन्याएँ वसुदेवके लिए दे दीं। वसुदेव उन्हें विवाह कर महलकी उत्तम भूमियोंमें आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने लगे ॥५८॥ शूरवीरता ही जिनकी सहायक थी ऐसे वसुदेव, विजयसेना नामक स्त्रीमें अक्रूर नामक पुत्र उत्पन्न कर अज्ञात रूपसे बाहर निकल गये ॥५९॥ मार्गके अनुसार भ्रमण करते हुए उन्होंने एक बहुत बड़ी अटवीमें प्रवेश किया और वहाँ हंस, सारस तथा कमलोंसे सुशोभित एक सुन्दर सरोवर देखा ॥६०॥ जलावर्त नामके उस महासरोवरमें प्रवेश कर वसुदेवने ठण्डा पानी पिया तथा चिरकाल तक स्नान किया ॥६१॥ तदनन्तर अतिशय उन्नत शरीरके धारक वसुदेवने वहाँ जलको इस तरह बजाया कि जिससे मृदंगके समान शब्द निकलता था। उस शब्दको सुनकर वहाँ सोया हुआ एक बड़ा हाथी उठकर खड़ा हो गया ॥६२॥ मारनेके लिए आनेवाले उस हाथीको

१. चन्द्रतुल्यवदना । २. नाम्नान्तः स- म. । ३. पीत्वा । ४. समबाहयदुन्नतः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपतन्तं स तं हन्तु वञ्चयन्नतिदक्षिणः । चिक्रीड दन्तिदन्ताग्रे दोलाग्रेङ्खनमाचरन् ॥६३॥
वशीकृत्य वशी शीतकरशीकरशोभितम् । आरुह्यास्फाल्य हस्तेन हस्तिनं निश्चलं स्थितम् ॥६४॥
विस्मितः स्वयमेवासौ सशिरःकम्पमुत्करः । अरण्यरुदितं जातमित्यचिन्तयदेककः ॥६५॥
अभविष्यदिभक्रीडा यदि शौर्यपुरे त्वियम् । अभविष्यत्ततो लोको मुखरः साधुकारतः ॥६६॥
इति ध्यायन्तमेवैनं जहतुर्गजमस्तकात् । सौम्यरूपधरौ धीरौ विद्याधरकुमारकौ ॥६७॥
नीत्वा तं कुञ्जरावर्त्तं नगरं विजयार्द्धजम् । चक्रतुर्बहिरुद्याने सर्वकामिकनामनि ॥६८॥
अशोकानोकहस्याधः शोकक्लेशविवर्जितम् । वसुदेवं सुखासीनं नत्वा तावित्यमूचतुः ॥६९॥
स्वामिन्नशनिवेगस्य विद्याधरमहेशिनः । शासनात्त्वमिहानीतो जानीहि श्वशुरः स ते ॥७०॥
अर्चिर्माली कुमारोऽहं वायुवेगोऽयमित्यसुम् । निवेद्य पुरमेकोऽगादस्थादेकोऽत्र पालकः ॥७१॥
दिष्ट्या त्वं वर्द्धसे स्वामिन्नानीतो द्विपमर्दनः । धीरः शूरोऽभिरूपश्च विनीतो नवयौवनः ॥७२॥
नत्वेति ज्ञापितस्तेन स प्रमोदवशो नृपः । अङ्गस्पृष्टं ददज्जातः [1]परिधानावशेषकः ॥७३॥
ततः समङ्गलं तेन नगरं स प्रवेशितः । अलंकृतवपुः पौरनरनारीभिरीक्षितः ॥७४॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रमुहूर्त्तकरणोदये । कन्यामशनिवेगस्य [2]श्यामां श्यामामुवाह सः ॥७५॥
रेमे कामं स कामिन्या कलागुणविदग्धया । तया तदा तदुग्रस्विट् मुखपङ्कजषट्पदः ॥७६॥

छलकर अतिशय चतुर वसुदेव उसके दाँतोंके अग्रभागपर झूला-सा झूलते हुए क्रीड़ा करने लगे॥६३॥ तदनन्तर जो चन्द्रमाके समान जलके कणोंसे सुशोभित था, ऐसे निश्चल खड़े हुए उस हाथीको वश कर जितेन्द्रिय वसुदेव हाथसे उसका आस्फालन करते हुए उसपर सवार हो गये ॥६४॥ उस समय एकाकी वसुदेव स्वयं आश्चर्यसे चकित हो तथा हाथ ऊपरको उठा शिर हिलाते हुए मनमें इस प्रकार विचार करने लगे कि मेरा यह कार्य अरण्यरोदन जैसा हुआ ॥६५॥ यदि यह हस्तिक्रीड़ा शौर्यपुरमें हुई होती तो लोग धन्यवादसे मुखर हो जाते अथवा यह संसार धन्यवादकी ध्वनिसे गूँज उठता ॥६६॥ वसुदेव इस प्रकार विचार कर रहे थे कि उसी समय सौम्यरूपके धारक दो धीर-वीर विद्याधरकुमार हाथीके मस्तकसे उन्हें हर ले गये ॥६७॥ और विजयार्ध पर्वतके कुंजरावर्त नगरमें ले जाकर उसके सर्वकामिक नामक बाह्य उपवनमें छोड़ दिया ॥६८॥ वहाँ जब वसुदेव अशोक वृक्षके नीचे शोक और क्लेशसे रहित सुखसे बैठ गये तब उन दोनों विद्याधर कुमारोंने नमस्कार कर कहा ॥६९॥ कि हे स्वामिन् ! तुम अशनिवेग नामक विद्याधर राजाकी आज्ञासे यहाँ लाये गये हो। उसे तुम अपना श्वसुर समझो ॥७०॥ मैं अर्चिमाली नामका कुमार हूँ और यह दूसरा वायुवेग है। इस तरह वसुदेवसे कहकर उनमें-से एक तो नगरकी ओर चला गया और एक रक्षा करता हुआ वहीं खड़ा रहा ॥७१॥ 'हे स्वामिन् ! आप भाग्यसे बढ़ रहे हैं। हाथीको मर्दन करनेवाला, धीर-वीर, शूरवीर, सुन्दर, विनीत और नवयौवनसे सुशोभित वह कुमार यहाँ लाया जा चुका है' इस प्रकार नमस्कार कर जब उसने राजासे कहा तो राजा आनन्दसे विभोर हो गया। उसने मात्र वस्त्र शेष रखकर शरीरपरके सब आभूषण उसे पुरस्कारमें दे दिये ॥७२-७३॥ तदनन्तर जिसका शरीर अलंकृत था और नगरके नर-नारी जिसे बड़ी उत्सुकतासे देख रहे थे ऐसे वसुदेवको राजाने मंगलाचार पूर्वक नगरमें प्रविष्ट कराया ॥७४॥ वहाँ उत्तम तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त और करणका उदय होनेपर वसुदेवने राजा अशनिवेगकी यौवनवती श्यामा नामक कन्याको विवाहा ॥७५॥ जो कलाओं और गुणोंमें अत्यन्त चतुर थी ऐसी उस कन्याके साथ वसुदेव इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे। अधिक क्या कहें उस समय वसुदेव उसके अतिशय

१. परिधानं वर्जयित्वा सर्वं ददौ । २. यौवनवतीं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा सप्तदशतन्त्रीकां वादयन्ती प्रियामुना । विपञ्ची तोषिणावाचि वृणीष्व वरमित्यरम् ॥७७॥
सा प्रणम्य वरं वव्रे निशायां यदि वा दिवा । मया विनेश ! न स्थेयं स प्रसादवरोऽस्तु मे ॥७८॥
शृणु कारणमेतस्य वरस्य वरणे प्रिय । रिपुरङ्गारको रन्ध्रे त्वां हरेदिति मे भयम् ॥७९॥
अस्तीह किन्नरोद्गीतं किन्नरोद्गीतसद्गुणम् । वैताढ्यदक्षिणश्रेण्यां नगरं नगशेखरम् ॥८०॥
अर्चिर्माली प्रभुस्तत्र खेचरार्चितशासनः । प्रिया प्रभावती पुत्रौ वेगान्तौ ज्वलनाशनी ॥८१॥
राज्यं प्रज्ञप्तिविद्यां च दत्वासौ ज्येष्ठसूनवे । युवराज्यं कनिष्ठाय दीक्षितोऽरिंदमान्तिके ॥८२॥
तनयोऽङ्गारको राज्ञो विमलायामभूत्ततः । अहं स्वशनिवेगस्य सुप्रभायां प्रभोऽभवम् ॥८३॥
राजा राज्यं च मत्पित्रे प्रज्ञप्तिं च स्वसूनवे । दत्त्वा जग्राह जैनेन्द्रीं दीक्षां कल्याणदायिनीम् ॥८४॥
नाम्ना चाङ्गारको दुष्टो युवराजोऽतिगर्वितः । निर्घाट्याशु नृपं देशात्पाप्मा राज्यं जहार सः ॥८५॥
तिष्ठत्यत्र पिता भ्रष्टः कुञ्जरावर्त्तपत्तने । नरकुञ्जर ! चिन्तार्त्तः पञ्जरस्थशकुन्तवत् ॥८६॥
अन्यदाष्टापदं यातो दृष्ट्वा गिरिसमागतम् । चारणश्रमणं नत्वा ज्ञात्वा त्रैलोक्यदर्शिनम् ॥८७॥

देदीप्यमान मुखरूपी कमलके भ्रमर हो गये ॥७६॥ एक दिन उसने सत्रह तारवाली वीणा बजायी जिससे वसुदेव बहुत ही प्रसन्न हुए। और प्रसन्न होकर बोले कि प्रिये! तुम शीघ्र ही वर माँगो ॥७७॥ इसके उत्तरमें उसने नमस्कारकर वसुदेवसे यह उत्तम वर माँगा कि हे स्वामिन्! चाहे दिन हो चाहे रात्रि, आप मेरे बिना अकेले न रहें यही उत्तम वर मुझे दीजिए॥७८॥ हे प्रिय! मेरे इस वरदानके माँगनेका कारण भी सुनिए? वह कारण यही है कि मेरा शत्रु अंगारक अवसर पाकर तुम्हें हर ले जा सकता है यह भय मुझे लगा हुआ है ॥७९॥ इसका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—

विजयार्ध पर्वतकी इस दक्षिण श्रेणीपर, किन्नर देव जिसके सद्गुणोंकी प्रशंसा करते हैं तथा जो विजयार्ध पर्वतके मुकुटके समान जान पड़ता है ऐसा किन्नरोद्गीत नामका नगर है ॥८०॥ उस नगरमें विद्याधरोंपर पूर्ण शासन चलानेवाला अर्चिमाली नामका राजा था। उसकी प्रभावती स्त्री है और उसके ज्वलनवेग तथा अशनिवेग नामके दो पुत्र हैं ॥८१॥ राजा अर्चिमाली, बड़े पुत्रके लिए राज्य तथा प्रज्ञप्ति विद्या और छोटे पुत्रके लिए युवराज पद देकर अरिन्दम गुरुके पास दीक्षित हो गया ॥८२॥ हे नाथ! आगे चलकर राजा ज्वलनवेगकी विमला रानीके अंगारक नामका पुत्र हुआ और युवराज अशनिवेगको सुप्रभा स्त्रीसे मैं श्यामा नामकी पुत्री हुई ॥८३॥ तत्पश्चात् राजा ज्वलनवेगने भी मेरे पिता अशनिवेगके लिए राज्य और अपने पुत्रके लिए प्रज्ञप्ति विद्या देकर कल्याणदायिनी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली ॥८४॥ युवराज अंगारक प्रकृतिका बड़ा दुष्ट तथा गर्वीला है इसलिए उस पापीने हमारे पिताको शीघ्र ही देशसे निकालकर राज्य छीन लिया है ॥८५॥ हे नरकुंजर! अब मेरे पिता राज्यसे भ्रष्ट हो इसी कुंजरावर्त नगरमें रहते हैं और पिंजड़ेमें स्थित पक्षीके समान निरन्तर चिन्तासे दुःखी रहते हैं ॥८६॥ किसी एक

१. दिशायां म.। २. नगरशेखरम् म.। ३. ज्वलनवेगः अशनिवेगश्च। ४. वितीर्य म.। ५. विशालायां ख.। ६. घपुस्तके इत्थं पाठः—
सोऽन्यदाशनिवेगाय मत्पित्रे राज्यमूर्जितम्। प्रज्ञप्तियुवराज्यं चाङ्गारकाय सुसूनवे ॥
दत्त्वा जग्राह जैनेन्द्रीं दीक्षां कर्मविनाशिनीम्। नाम्ना चाङ्गारको दुष्टो युवराजोऽन्यदा मम ॥
निर्घाट्य पितरं देशात्प्राज्यं राज्यं जहार सः। म. पुस्तके एवं पाठः—
राज्यं ज्वलनवेगोऽन्ते दत्त्वा मज्जनकाय सः। प्रज्ञप्तियौवराज्यं च सूनवे मुनितामितः ॥
अङ्गारकोऽपि संग्रामे प्रज्ञः प्रज्ञप्तिविद्यया। निर्वाध्य मे पितुः शीघ्रं राज्यं प्राज्यं जहार सः ॥
७. जातो म.। ८. दृष्ट्वांगिरसमागतं क.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिता मे पृष्टवानेवं भगवन् ! दिव्यचक्षुषा । राज्यं पश्यसि मेऽवश्यं स्थाने नाथ ! पुनर्न वा ॥८८॥
कथितं मुनिना दिव्यचक्षुरुन्मील्य निर्मलम् । श्यामायास्तव कन्यायाः पत्या राज्यपुनर्भवः ॥८९॥
पुनः पृष्टे कथं नाथ ! ज्ञायत इति स स्फुटम् । तेनोक्तं यो जलावर्त्ते[1] मदेभमदमर्दनः ॥९०॥
भविता तव कन्यायाः श्यामायाः पतिरित्यलम् । तदादेशात्सरस्यां च द्वौ द्वौ तत्र नभश्चरौ ॥
पित्रा नित्यं नियुक्तौ मे तव[2] स्थानगवेषणे ॥९१॥
लब्धस्त्वमचिरेणैव मन्मनोरथसारथिः । जायते जातुचिन्नाथ ! न हि मिथ्या मुनेर्वचः ॥९२॥
अङ्गारकेण वृत्तान्तो निश्चितः स्यात्स हि द्विषन् । धूमायमानमूर्त्तिर्नो धूमकेतुरिवोत्थितः ॥९३॥
अविद्याकुशलं त्वासौ महाविद्याबलोद्धतः । विद्यावत्या मया मुक्तं कदाचित्स हरेदरिः ॥९४॥
श्यामाया वचनं श्रुत्वा कोऽत्र दोषस्तथास्त्विति । स्मेरः स्मेरमुखीं गाढं प्रियामुपजुगूह सः ॥९५॥
सविशेषमसौ तत्र विद्याधरजगद्गतम् । हृद्यं गान्धर्वविज्ञानं शिशिक्षे क्षतमत्सरः ॥९६॥
निःप्रमादतया याति तयोः काले कदाचन । चिराय सुरतक्रीडाखिन्नयोर्निशि सुप्तयोः ॥९७॥
संगत्याङ्गारकः स्वैरं विश्लिष्याश्लेषबन्धनम् । श्यामायाः शयनात् जहे गरुडो वा[3] नृपोरगम् ॥९८॥

दिन मेरे पिता कैलास पर्वतपर गये थे वहाँ पर्वतपर आये हुए एक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके दर्शन कर पिताने उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर मुनिराजको त्रैलोक्यदर्शी जानकर पिताने पूछा कि हे भगवन् ! आप तो अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे मेरे राज्यको अवश्य ही देख रहे हैं। हे नाथ ! कृपा कर कहिए मुझे पुनः राज्य प्राप्त होगा या नहीं ? ॥८७-८८॥ इसके उत्तरमें मुनिराजने अतिशय निर्मल अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्रको खोलकर कहा कि जो तुम्हारी श्यामा नामकी कन्या है उसके पतिके द्वारा तुम्हें पुनः राज्यकी प्राप्ति होगी ॥८९॥ पिताने इसके उत्तरमें पुनः पूछा कि हे नाथ ! श्यामा कन्याका पति कौन होगा ? यह स्पष्ट किस तरह जाना जावेगा ? तब मुनिराजने कहा कि जलावर्त नामक सरोवरमें जो मदोन्मत्त हाथीके मदका मर्दन करेगा वही तुम्हारी श्यामा कन्याका पति होगा यही उसकी पर्याप्त पहचान है। मुनिराजके आदेशसे उसी समयसे पिताने जलावर्त नामक सरोवरपर आपकी स्थितिका अन्वेषण करनेके लिए दो विद्याधर नियुक्त कर दिये ॥९०-९१॥ और उसके फलस्वरूप शीघ्र ही आपकी प्राप्ति हो गयी है। हे नाथ ! आप मेरे मनरूपी रथके सारथि हैं—उसे आगे बढ़ानेवाले हैं। यथार्थमें मुनिराजके वचन कभी मिथ्या नहीं होते ॥९२॥ अंगारकको इस वृत्तान्तका निश्चित ही पता चल गया होगा क्योंकि वह हम लोगोंसे सदा द्वेष रखता है और हम लोगोंको नष्ट करनेके लिए सदा धूमिल अग्निके समान उद्यत रहता है ॥९३॥ वह महाविद्याके बलसे उद्धत है और आप विद्यामें कुशल नहीं हैं। यद्यपि मैं विद्यासे युक्त होनेके कारण आपकी रक्षा करनेमें समर्थ हूँ तो भी यदि कदाचित् आप मेरे बिना रहेंगे तो वह आपको हर ले जा सकता है। हे नाथ ! इसी भयके कारण मैंने आपसे वर माँगा है कि आप चाहे दिन हो चाहे रात, कभी मेरे बिना न रहें ॥९४॥ श्यामाके उक्त वचन सुनकर वसुदेवने कहा कि ऐसा ही हो इसमें क्या दोष है। यह कहकर मन्द-मन्द हँसते हुए वसुदेवने मुसकराती हुई प्रियाका गाढ़ आलिंगन किया ॥९५॥ वहाँ रहकर वसुदेवने ईर्ष्या रहित हो विद्याधर लोक सम्बन्धी सुन्दर गन्धर्व विद्याको विशेषताके साथ सीखा ॥९६॥

तदनन्तर उन दोनोंका समय सदा सावधानीके साथ बीत रहा था। एक दिन रात्रिके समय चिरकाल तक सम्भोग क्रीड़ासे खिन्न होकर दोनों सोये हुए थे ॥९७॥ कि अंगारकने स्वच्छन्दतासे आकर उनके आलिंगन सम्बन्धी बन्धनको अलग कर दिया और जिस प्रकार गरुड़ साँपको ले उड़ता है उसी प्रकार वह श्यामाकी शय्यासे राजा वसुदेवको ले उड़ा ॥९८॥ अपने आपको हरा

१. वर्त्तनः म.। २. तवास्थातां म.। ३. इवार्थे वा प्रयोगः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वं बुद्ध्वा ह्रियमाणं खे खेचरं स निरीक्षितम् । कस्त्वं हरसि मां पाप मुञ्च मुञ्चेति भाषणः ॥९९॥
बुद्ध्वाप्यङ्गारकं शत्रुं श्यामया कथिताकृतिम् । नावधीद् बद्धमुष्टिः खादधःपतनशङ्कया ॥१००॥
तावच्च सहसा बुद्ध्वा खड्गखेटकहस्तया । वेगिन्या प्राप्तया रुद्धः शौरिबध्वा स शूरया ॥१०१॥
तिष्ठ तिष्ठ दुराचार चौरखेचर निर्घृण । हरसि प्राणनाथं मे जीवन्त्यां मयि भोः कथम् ॥१०२॥
राज्यस्थोऽपि न संतुष्टः सदास्मद्दुःखचिन्तकः[1] । चिरेणाद्य मया दृष्टः क्व प्रयासि मृतोऽधुना ॥१०३॥
इति व्याहृत्य रुद्ध्वाग्रे खड्गमुद्गीर्य तां स्थिताम् । बभाण[2] रिपुरात्मानं रक्षन् राक्षसरूक्षवाक् ॥१०४॥
श्यामिके स्त्रीवधो लोके गर्हितोऽपसराधमे । स्वसापि मे कथं हस्तो हन्तुमुद्यच्छतु[3] त्वकाम् ॥१०५॥
का स्त्री का वा स्वसा भ्राता को वै कार्याभिलाषिणः । वैरिणो ननु हन्तारो हन्तव्या नात्र दुर्यशः ॥१०६॥
सिंही व्याघ्री च किं पुंसां मारयन्ती न मार्यते । वृथा न्यायविचारोऽयं जहि यद्यस्ति पौरुषम् ॥१०७॥
विद्याशाखाबलेनोत्थां रुद्धमार्गां जघान सः । खड्गधाराशिलाघातैः श्यामामङ्गारकोत्करः[4] ॥१०८॥
[5]प्रतिघातमनेकाभूत्खड्गखेटकसंकटा । खड्गस्यूतस्फुलिङ्गाङ्गमङ्गारकमथाकरोत् ॥१०९॥
मायायुद्धमिदं दृष्ट्वा तयोः स हृदये रिपुम् । दृढमुष्टिप्रहारेण प्राणसंदेहमावहत् ॥११०॥

हुआ जानकर वसुदेवने आकाशमें उस विद्याधरसे कहा कि अरे पापी ! तू कौन मुझे हरे लिये जा रहा है छोड़-छोड़ ॥९९॥ यद्यपि वसुदेवने उसे जान लिया था कि यह श्यामाके द्वारा बताये हुए आकारको धारण करनेवाला शत्रु अंगारक है फिर भी आकाशसे नीचे गिरनेकी आशंकासे उन्होंने उसे मुट्ठियोंकी मारसे मारा नहीं ॥१००॥ इतनेमें ही सहसा जागकर तथा तलवार और ढाल हाथमें ले वीरांगना श्यामाने बड़े वेगसे जाकर उसे रोका ॥१०१ श्यामाने ललकारते हुए कहा कि ठहर, ठहर, अरे दुराचारी, निर्दय ! चोर विद्याधर ! तू मेरे जीवित रहते हुए मेरे प्राणनाथको कैसे हर सकता है ? ॥१०२॥ तू राज्यपर बैठकर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। सदा हमारे दुःखका ध्यान रखता है ! तू आज मुझे चिरकाल बाद दिखा है, कहाँ जाता है ? तू अभी मारा जाता है ॥१०३॥ यह कहकर श्यामाने उसका मार्ग रोक लिया और तलवार उभारकर वह उसके आगे खड़ी हो गयी। तदनन्तर राक्षसके समान रुक्ष वचनोंका प्रयोग करनेवाला शत्रु अपनी रक्षा करता हुआ श्यामासे बोला ॥१०४॥ अरी नीच श्यामा ! संसारमें स्त्रीका मारना निन्दित समझा जाता है इसलिए तू सामनेसे हट जा। तू मेरी बहन भी है अतः तुझे मारनेके लिए मेरा हाथ कैसे उठे ? ॥१०५॥ अथवा कार्यके इच्छुक मनुष्योंके लिए क्या स्त्री ? क्या बहन ? क्या भाई ? उन्हें तो जो वैरी अपना घात करे उसका अवश्य ही घात करना चाहिए इसमें कुछ भी अपयश नहीं है ॥१०६॥ क्या पुरुषोंको मारनेवाली सिंही और व्याघ्री नहीं मारी जाती ? इसलिए न्यायका विचार करना व्यर्थ है। यदि तुझमें पौरुष है तो मार ॥१०७॥

तदनन्तर जिसने विद्यारूपी शाखाके बलसे उठकर अंगारकका मार्ग रोग रखा था ऐसी श्यामाको अंगारोंके समूहके समान उग्र अंगारक, तलवारकी धार और पत्थरोंकी चोटसे मारने लगा ॥१०८॥ प्रत्येक चोटके समय तलवार और ढालकी करारी टक्कर होती थी। कुछ समय बाद श्यामाने तलवारसे निकले हुए तिलंगोंके द्वारा अंगारकके शरीरको आच्छादित कर दिया ॥१०९॥ श्यामा और अंगारकके इस माया युद्धको देखकर कुमार वसुदेवने भी शत्रुके हृदय-पर अपनी मुट्ठियोंसे इतना दृढ़ प्रहार किया कि उसे प्राणोंका सन्देह उत्पन्न कर दिया ॥११०॥

१. दुःखचिन्तक म.। २. रिपुमात्मानं म.। ३. -मुद्यत्कृतित्विकाम् म.। ४. अङ्गारकस्य उत् ऊर्ध्वः करो हस्तः अङ्गारकोत्करः अन्यत्र अङ्गारकसमूहः। ५. घातं घातं प्रति, प्रतिघातम्। अन्योऽन्यप्रतिघातोऽभूत्खड्गखेटक-संकटः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तश्च दुःखिना खिन्नः स खे श्यामानियुक्तया । स्वपुरं नीयमानोऽसौ तया खाद्ध्वनिरुद्गतः ॥१११॥
[1]खेटेऽस्यैवात्र लाभोऽस्ति भविष्यो मुञ्च सांप्रतम् । मुञ्चितो यादवेन्द्रोऽसौ तया श्यामलछायया ॥११२॥
[2]समर्प्य तं स्वविद्याया जगाम स्वगृहं प्रति । विद्यया पर्णलघ्वायं गां शनैः पर्णवल्लघुः ॥११३॥
बाह्योद्यानेऽथ चम्पायाः पतितोऽम्बुजसंगमे । सरस्यम्बुरुहच्छन्ने तदुत्तीर्य तटीमितः ॥११४॥
मानस्तम्भादिसंलक्ष्यं वासुपूज्यजिनालयम् । परीत्य तत्र वन्दित्वा दीपिकोज्ज्वलितेऽवसत् ॥११५॥
देवार्चनार्थमायातं प्रत्यूषे द्विजमत्र सः । अपृच्छद्विषयः कोऽयं पुरीयं चेति सोऽवदत् ॥११६॥
अङ्गो जनपदश्चम्पापुरी त्रिभुवनश्रुता । किं न वेत्सि किमाकाशात्पतितस्त्वं महामते ॥११७॥
सत्यमेतद् द्विज ! ज्ञातं किमु ज्योतिषविद् भवान् । अस्ति संवादि ते ज्ञानं नान्यथा जिनशासनम्॥११८॥
हृतो यक्षकुमारीभ्यां रूपलोभान्नभस्तलात् । च्युतश्च पतितो भूमावन्योन्यकलहे तयोः ॥११९॥
इत्युत्तरमसौ दत्त्वा विप्रवेषधरोऽभवत् । पुरीं विशन् विशालाक्षो गन्धर्वनगरीनिमाम् ॥१२०॥
लोकं वीक्ष्य तु तत्रासौ वीणाहस्तमितोऽमुतः । अप्राक्षीद्विप्रमेकं हि बम्भ्रमीतीति किं जनः ॥१२१॥
सोऽब्रवीच्चारुदत्ताख्यः कुबेरविभवः प्रभुः । पुर्यामिभ्यपतिस्तस्य तनया रूपगर्विता ॥१२२॥
नाम्ना गन्धर्वसेनेति गान्धर्वपथपण्डिता । गान्धर्वे योऽत्र मे जेता स भर्त्तेत्यवतिष्ठते ॥१२३॥
तदर्थमत्र लोकोऽयं मिलितो लोभनोदितः । वीणावादनविज्ञानो नानादेशसमागतः ॥१२४॥

अन्तमें दुःखी होकर अंगारकने कुमारको छोड़ दिया। नीचे गिरनेके भयसे कुमार कुछ खिन्न हुए परन्तु श्यामाके द्वारा नियुक्त श्यामलछाया नामकी दासी उन्हें बीचमें ही सँभालकर अपने नगर ले जाने लगी। उस समय यह आकाशवाणी हुई कि कुमारको इसी ग्राममें लाभ होनेवाला है इसलिए इस समय यहीं छोड़ दो। आकाशवाणीके अनुसार श्यामलछाया कुमारको अपनी पर्णलघ्वी नामक विद्याके लिए सौंपकर अपने घर चली गयी और कुमार उस पर्णलघ्वी विद्याके द्वारा पत्तेके समान लघु शरीर होकर धीरे-धीरे पृथिवीकी ओर आये ॥१११–११३॥ तदनन्तर कुमार वसुदेव, चम्पा-नगरीके बाह्योद्यानमें कमलोंसे ढँका हुआ जो कमल सरोवर था उसमें गिरे। तालाबसे निकलकर वे तटपर आये ॥११४॥ सरोवरके तटपर मानस्तम्भ आदिसे युक्त श्रीवासुपूज्य भगवान्का मन्दिर था। वसुदेवने पास जाकर प्रदक्षिणा दी, वन्दना की और उसके बाद दीपिकाओंके प्रकाशसे प्रकाशित उसी मन्दिरमें वह बस गये ॥११५॥ प्रातःकाल भगवान्की पूजाके लिए एक ब्राह्मण आया तो वसुदेवने उससे पूछा कि यह कौन देश है ? तथा कौन नगरी है ? इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि यह अंगदेश है और यह तीन लोकमें प्रसिद्ध चम्पा नगरी है। इसे क्या तुम नहीं जानते ? अरे महाविद्वन्! क्या तुम यहां आकाशसे पड़े हो ? ॥११६–११७॥ इसके उत्तरमें वसुदेवने कहा कि हे ब्राह्मण ! आपने बिलकुल ठीक जाना। क्या आप ज्योतिष जानते हैं ? आपका ज्ञान संवादी—यथार्थज्ञान है। अहा! जिनशासन अन्यथा नहीं हो सकता ॥११८॥ रूपके लोभसे दो यक्ष कुमारियाँ मुझे हरकर ले गयी थीं; उनका आपसमें झगड़ा होने लगा और मैं छूटकर आकाशसे पृथिवीपर गिरा हूँ ॥११९॥ यह उत्तर देकर विशाल नेत्रोंके धारक वसुदेवने ब्राह्मणका वेष रख गन्धर्वनगरीके समान उस चम्पापुरीमें प्रवेश किया ॥१२०॥ वहाँ उन्होंने जहाँ-तहाँ वीणा हाथमें लिये मनुष्योंको देखकर एक ब्राह्मणसे पूछा कि ये लोग इधर-उधर क्यों घूम रहे हैं ? ॥१२१॥

ब्राह्मणने कहा कि इस नगरीमे कुबेरके समान वैभववाला एक चारुदत्त नामका सेठ रहता है। उसकी गन्धर्वसेना नामकी पुत्री है। वह पुत्री सौन्दर्यके गर्वसे युक्त है, गन्धर्वशास्त्रमें अत्यन्त निपुण है तथा उसने यह नियम किया है कि जो मुझे गन्धर्वशास्त्र–संगीतशास्त्रमें जीतेगा वह मेरा पति होगा ॥१२२–१२३॥ लोभसे प्रेरित, वीणा बजानेमें निपुण, तथा नाना देशोंसे आये हुए ये

१. खेटस्यैवात्र म. । २. समर्पितः म., ग., ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपलावण्यसौभाग्यसागरप्लवकारिणी । [1]हारिणी हरिणीनेत्रा कन्या व्यामोहयज्जगत् [2] ॥१२५॥
कन्यार्थी च यशोऽर्थी च वीणाविधिविशारदः । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो जयार्थी हि जनः स्थितः॥१२६॥
मासे मासे समाजश्च भवत्यत्र कलाविदाम् । सदा जयपताकाया हर्त्री कन्या सरस्वती ॥१२७॥
समाजः समतीतश्च ह्यस्तनेऽहनि सांप्रतम् । गुणनैकमनस्कानां पुनर्मासेन जायते ॥१२८॥
उपाध्यायः प्रसिद्धोऽत्र किन्नामा सांप्रतं पुरि । वदेति तेन पृष्टश्च जगौ सुग्रीव इत्यसौ ॥१२९॥
ऊचे गत्वेति सुग्रीवमभिवाद्य गृहीव सः । गौतमो गोत्रतस्तेऽहं कर्त्तुमिच्छामि शिष्यताम् ॥१३०॥
अभिरूपोऽतिमुग्धोऽयमिति मत्वा दयावता । प्रतिपन्नश्च तत्रास्थाद्वीणया [3]हासयन् जनम् ॥१३१॥
संप्राप्ते दिवसे तस्मिन् समाजोऽभूत्स पूर्ववत् । वसुदेवोऽपि संविश्य पश्यति स्म महाजनम् ॥१३२॥
सा चुक्षोभ सभा लोकैर्वाद्यश्रवणवेदिभिः । कौतूहलिभिरन्यैश्च महाकोलाहलाकुलैः ॥१३३॥
ततः कन्या समामध्यमविशद्विशदप्रभा । स्वलंकृता दिवो मध्यं प्रावृषीव [4]शतह्रदा ॥१३४॥
वीणावाद्यविदग्धेषु जितेषु बहुषु क्रमात् । गन्धर्वसेनया यद्वन्मूर्तगान्धर्वविद्यया ॥१३५॥
वसुदेवः समासीनस्ततः सोऽपि वरासने । [5]समानीताः समानीताः वीणाः स समदूषयत् ॥१३६॥
सुघोषाख्यां ततो वीणां दत्तां गन्धर्वसेनया । सुसप्तदशतन्त्रीकां संताड्य मुदितोऽवदत् ॥१३७॥
साध्वी साध्वी सुवीणेयं प्रवीणे ! दोषवर्जिता । वद गान्धर्वसेने ! ते गेयवस्तु मनोषितम् ॥१३८॥

लोग उसी कन्याके लिए यहाँ इकट्ठे मिले हैं ॥१२४॥ रूप-लावण्य और सौभाग्यके सागरमें तैरनेवाली इस मृगनेत्री मनोहर कन्याने समस्त संसारको व्यामोहित कर रखा है ॥१२५॥ यहाँ जो भी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य रहता है वह कन्याका अर्थी, यशका अर्थी, वीणा बजानेमें निपुण और विजयका अभिलाषी है ॥१२६॥ यहाँ एक-एक महीनेमें कलाके जानकार मनुष्योंकी सभा जुड़ती है जिससे सदा जयपताकाको हरनेवाली यही कन्यारूपी सरस्वती रहती है—सदा इसीकी जीत होती है ॥१२७॥ पिछले दिन ही यहाँ गुणी मनुष्योंकी सभा जुड़ी थी अब एक माह बाद फिरसे होगी ॥१२८॥ यह सुन वसुदेवने उस ब्राह्मणसे पूछा कि इस नगरीमें संगीतका प्रसिद्ध विद्वान् कौन है ? यह कहो ? इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि इस समय सुग्रीव संगीतका सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान् है ॥१२९॥

तदनन्तर वसुदेव घरके लोगोंकी तरह सुग्रीवके पास चले गये और उसे नमस्कार कर बोले कि मैं गौतम गोत्री हूँ तथा आपकी शिष्यता करना चाहता हूँ ॥१३०॥ यह परम सुन्दर तथा भोला-भाला है यह मानकर सुग्रीवने दयापूर्वक उन्हें स्वीकार कर लिया—अपना शिष्य बना लिया। और वे अपनी उलटी-सीधी वीणासे सबको हँसाते हुए वहाँ रहने लगे ॥१३१॥ दिन आनेपर पहलेकी भाँति फिरसे विद्वानोंकी सभा हुई; वसुदेव भी उस सभामें प्रविष्ट होकर विशाल जन-समूहको देखने लगे ॥१३२॥ वह सभा बाजा सुननेकी कलासे युक्त तथा बहुत भारी कोलाहल करनेवाले अन्य कौतूहली मनुष्योंसे क्षोभको प्राप्त हो रही थी ॥१३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार वर्षाऋतुमें बिजली आकाशके मध्यमें प्रवेश करती है उसी प्रकार निर्मल कान्तिकी धारक एवं उत्तमोत्तम आभूषणोंसे अलंकृत कन्याने सभाके मध्यमें प्रवेश किया ॥१३४॥ मूर्तिमती गन्धर्व विद्याके समान कन्या गन्धर्वसेनाके द्वारा जब क्रम-क्रमसे वीणा बजानेमें निपुण बहुत-से विद्वान् जीत लिये गये तब वसुदेव भी उत्तम आसनपर आसीन हुए। उस समय वसुदेवको अनेक वीणाएँ दी गयीं पर उन सबको दोषयुक्त बता दिया ॥१३५-१३६॥ अन्तमें गन्धर्वसेनाने अपनी सुघोषा नामकी सतरह तारोंवाली वीणा उन्हें दी। उसे बजाकर वे प्रसन्न होते हुए बोले कि यह वीणा

१. हरिणी म.। २. व्यमोहयज्जगत् म.। ३. हासयज्जनम् म.। ४. विद्युत्। ५. समानीताः समानीतां वीणाः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृदूपवीणयाम्येषामादेशस्थानमग्रतः । विदुषां दीयतां मेऽद्य गेयवस्तुनि पण्डिते ॥१३९॥
साऽऽह विष्णुकुमारस्य बलिबन्धनकारिणः । त्रिविक्रमकृतौ गीतं हाहातुम्बुरुनारदैः ॥१४०॥
यत्तदद्य त्वया वस्तु वाद्यतां वाद्यविद् यदि । पुराणप्रतिबद्धं हि गेयवस्तु प्रशस्यते ॥१४१॥
[1]ततं चाप्यवनद्धं च घनं सुषिरमित्यपि । यथास्वं लक्षणैर्युक्तमातोद्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥१४२॥
ततं तन्त्रीगतं तेषामवनद्धं हि पौष्करम् । घनं तालस्ततो वंशस्तथैव सुषिराख्यया ॥१४३॥
प्राणिप्रीतिकरं प्रायः श्रवणेन्द्रियतर्पणात् । गान्धर्वदेहसंबद्धं ततं गान्धर्वमीरितम् ॥१४४॥
वीणा वंशश्च गानं च तस्य योनिरितीरितम् । गान्धर्वं त्रिविधं चैतत्स्वरतालपदे गतम् ॥१४५॥
वैणाश्चापि च शारीरा द्विविधास्तु स्वराः स्मृताः । विधानं लक्षणं चापि तेषामिति निरूपितम् ॥१४६॥
अति[श्रुति]वृत्तिस्वरग्रामवर्णालंकारमूर्च्छनाः । धातुसाधारणाद्याश्च[2] दारुवीणास्वराः स्मृताः ॥१४७॥
जातिवर्णस्वरग्रामस्थानसौधारण[3][साधारण]क्रियाः । सालंकारविधिश्चायं शारीरस्वरगोचरः ॥१४८॥
अति[जाति]तद्धितवृत्तानि संधिस्वरविभक्तयः । नामाख्यातोपसर्गाद्या वर्णाद्यास्ते पदे विधिः ॥१४९॥
[4]आवापश्चापि निःक्रामो[5] विक्षेपश्च[6] प्रवेशनम्[7] । शम्यातालं[8] [9]परावर्त्तः संनिपातः[10] [11]सवस्तुकः[12] ॥१५०॥

बहुत अच्छी है, बहुत अच्छी है, हे चतुरे ! यह वीणा निर्दोष है। हे गन्धर्वसेने ! कह तुझे कौन-सी गेय वस्तु पसन्द है ? तू गेय वस्तुओंमें पण्डित है अतः मुझे आदेश दे मैं इन विद्वानोंके आगे कोमल-कान्त वीणा बजाता हूँ ॥१३७–१३९॥ इसके उत्तरमें गन्धर्वसेनाने कहा कि बलिको बाँधनेवाले विष्णुकुमार मुनिने जब अपनी तीन डगोंका कर्तव्य दिखाया था तब हाहा, तुम्बुरु तथा नारदने जो गेय वस्तु गायी थी यदि आप वाद्य विद्याके जानकार हैं तो वही वस्तु आज बजाइए क्योंकि पुराणसे सम्बन्ध रखनेवाली गेय वस्तु ही प्रशंसनीय होती है ॥१४०–१४१॥ गन्धर्वसेनाका आदेश पाकर वसुदेव संगीत विद्याका निम्नप्रकार वर्णन करने लगे—

१. तत, २ अवनद्ध, ३ घन और ४ सुषिरके भेदसे बाजे चार प्रकारके हैं। ये सभी बाजे यथायोग्य अपने-अपने लक्षणोंसे युक्त हैं ॥१४२॥ जो तारसे बजते हैं ऐसे वीणा आदि तत कहलाते हैं। जो चमड़ेसे मढ़े जाते हैं ऐसे मृदंग आदि अवनद्ध कहलाते हैं। काँसेके झाँझ, मजीरा आदि घन कहलाते हैं और बाँसुरी आदिको सुषिर कहते हैं ॥१४३॥ इनमें तत नामका वादित्र कर्ण-इन्द्रियको तृप्त करनेवाला होनेसे प्रायः प्राणियोंके लिए अधिक प्रीति उपजानेवाला है तथा गन्धर्व शरीरके साथ सम्बद्ध होनेसे गान्धर्व नामसे प्रसिद्ध है ॥१४४॥ गान्धर्वकी उत्पत्तिमें वीणा, वंश और गान ये तीन कारण हैं तथा स्वरगत, तालगत और पदगतके भेदसे वह तीन प्रकारका माना गया है ॥१४५॥ वैण और शारीरके भेदसे स्वर दो प्रकारके माने गये हैं और उनके भेद तथा लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं ॥१४६॥ श्रुति, वृत्ति, स्वर, ग्राम, वर्ण, अलंकार, मूर्च्छना, धातु और साधारण आदि वैण स्वर माने गये हैं और जाति, वर्ण, स्वर, ग्राम, स्थान, साधारण क्रिया और अलंकार विधि ये शारीर स्वरके भेद कहे हैं ॥१४७–१४८॥ जाति, तद्धित, छन्द, सन्धि, स्वर, विभक्ति, सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग तथा वर्ण आदि पदगत गान्धर्वकी विधि हैं और आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशन, शम्याताल, परावर्त, सन्निपात, सवस्तुक

१. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च । चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥१॥
ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौस्करम् । घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते ॥२॥ नाट्य-शास्त्र, अ. २८
२. 'ज्याश्च' ख. पुस्तके । ३. सौधरणक्रियाः ख., म. । सौधारण- क. । ४. आवायश्चापि म., घ. । ५. तालप्रक्षेपः आवापः । ६. तालनिष्कासनं क्रमः । ७. तिर्यक्चालनं विक्षेपः । ८. पुनस्तत्र प्रवेशः प्रवेशनम् । ९. उभयोस्तालयोः सदृशी शब्दवृत्तिः शम्याताल्म् । १०. वामहस्तेन दक्षिणतालास्ताडनं परावर्त्तः । ११. संनिपातः शब्दसाम्यम् । १२. सवस्तुकः सलघुकः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्त्राविदार्यगलया[मात्राविदार्याङ्गलया]गतिप्रकरणं यतिः ।
गीती च मार्गावयवाः पादभागाः सपाणयः ॥१५१॥
द्वाविंशतिप्रमाणोऽयं विधिस्तालगतस्तदा । गन्धर्वसंग्रहस्तत्र प्रयुक्तस्तेन विस्तरः ॥१५२॥
[1]षड्जश्चाप्यृषभश्चैव गान्धारो मध्यमोऽपि च । पञ्चमो धैवतश्च स्यान्निषादः सप्तमः स्वरः ॥१५३॥
वादी चापि च संवादी तौ विवाद्यनुवादिनौ । प्रयुक्ता वसुदेवेन चत्वारोऽमी यथाक्रमम् ॥१५४॥
संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च । षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च ॥१५५॥
षड्जश्चतुःश्रुतिश्च स्यादृषभस्त्रिश्रुतिस्तथा । गान्धारो द्विश्रुतिश्चैव मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥१५६॥
चतुर्भिः पञ्चमश्चैव द्विश्रुतिर्धैवतस्तथा । त्रिश्रुतिश्च निषादोऽपि षड्जग्रामे स्वरास्त्वमी ॥१५७॥
चतुःश्रुतिश्च विज्ञेयो मध्यमे मध्यमाश्रयः । द्विश्रुतिश्चैव गान्धार ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः ॥१५८॥
षड्जश्चतुःश्रुतिश्चैव निषादो द्विश्रुतिस्तथा । धैवतस्त्रिश्रुतिर्ज्ञेयः पञ्चमस्त्रिश्रुतिस्तथा ॥१५९॥
द्वाविंशतिस्त्विमा वेद्याः श्रुतयोऽत्र निदर्शनात् । द्वैग्रामिक्यस्तथैव स्युर्मूर्च्छनास्तु चतुर्दश ॥१६०॥
आदावुत्तरमन्द्रा स्याद् रजनी चोत्तरायता । चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पञ्चमी मत्सरीकृता ॥१६१॥

मात्रा, अविदार्य, अंग, लय, गति, प्रकरण, यति, दो प्रकारकी गीति, मार्ग, अवयव, पादभाग और सपाणि । ये तालगत गान्धर्वके बाईस[2] प्रकार हैं । इस प्रकार गान्धर्व (तत) वाद्यका जितना विस्तार है वसुदेवने उस सबका प्रयोग किया अर्थात् तदनुसार वीणा बजायी ॥१४१-१५२॥ दूसरी तरहसे स्वर १ षड्ज, २ ऋषभ, ३ गान्धार, ४ मध्यम, ५ पंचम, ६ धैवत और ७ निषादके भेदसे सात प्रकारके हैं ।[3] इन स्वरोंके प्रयोग करनेके वादी[4], संवादी[5], विवादी और अनुवादी ये चार प्रकार हैं सो वसुदेवने इन चारों प्रकारोंका यथाक्रमसे प्रयोग किया ॥१५३-१५४॥ मध्यम ग्राममें पंचम और ऋषभ स्वरका तथा षड्ज ग्राममें षड्ज तथा पंचम स्वरका संवाद होता है ॥१५५॥ षड्ज[6] ग्रामके षड्ज स्वरमें चार, ऋषभमें तीन, गान्धारमें दो, मध्यममें चार, पंचममें चार, धैवतमें दो और निषादमें तीन श्रुतियाँ होती हैं[7] ॥१५६-१५७॥ मध्यम ग्रामके मध्यम स्वरमें चार, गान्धारमें दो, ऋषभमें तीन, षड्जमें चार, निषादमें दो, धैवतमें तीन, पंचममें तीन श्रुतियाँ[8] होती हैं ॥१५८-१५९॥ इस प्रकार षड्ज और मध्यम—दोनों ग्रामोंमें प्रत्येककी बाईस-बाईस श्रुतियाँ होती हैं एवं उक्त दोनों ग्रामोंकी मिलकर चौदह मूर्च्छनाएँ कही गयी हैं॥१६०॥ इनमें पहली उत्तरभद्रा, दूसरी रजनी, तीसरी उत्तरायता, चौथी शुद्धषड्जा, पाँचवीं मत्सरीकृता,

१. खड्गश्चापि म. । २. आवापस्त्वथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः । शम्यातालः सन्निपातः परिवर्तः सवस्तुकः ॥१५॥ मात्राविदार्यङ्गलया यतिः प्रकरणं तथा । गीतयोऽवयवा मार्गा पादभागाः सपाणयः । इत्येकविंशको ज्ञेयो विधिस्तालगतो बुधैः ॥१६॥ नाट्यशास्त्र अध्याय २८ । ३. षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा । पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्त च स्वराः ॥१९॥ चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं श्रुतियोगतः । वादी चैवाथ संवादी अनुवादी विवाद्यपि ॥२०॥ ४. 'रागोत्पादनशक्तेर्वदनं तद्योगतो वादी' । वादी राजा स्वरस्तस्य संवादी स्यादमात्यवत् । शत्रुर्विवादी तस्य स्यादनुवादो तु भृत्यवत् ॥ ५. श्रुतयोऽष्टौ द्वादश वा भवन्ति मध्ये ययोः स्वरयोः । संवादिनौ तु कथितौ परस्परं निषादगान्धारौ (॥ संगीतदर्पणे १-६-६९ ॥) ६. ग्रामः स्वराणां समूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः । तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात् षड्जग्राम आदिमः ॥ द्वितीयो मध्यमग्रामः (संगीतमहोदधौ १-७-५) । ७. षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः । द्विश्रुतिश्चापि गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥२३॥ चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा । द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे ॥२४॥ ना. शा. अ. २८ । ८. चतुःश्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यमः पञ्चमः पुनः । त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव च ॥२५॥ निषादषड्जौ विज्ञेयौ द्विचतुःश्रुतिसंभवौ । ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्यात् गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा ॥२६॥ ना. शा. अ. २८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरुद्गता । षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥१६२॥
सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात्कलोपनता[कलोपनता] तथा । शुद्धमध्यमसंज्ञा च मार्गवी पौरवी तथा ॥१६३॥
रिष्यका [हृष्यका] सप्तमी चेति मूर्च्छनाः सप्त वर्णिताः । मध्यमग्रामसंभूता बोद्धव्या बुद्धसत्तमैः ॥१६४॥
षड्जेनोत्तरमन्द्रा स्यादृषभेनाभिरुद्गता । अश्वक्रान्ता तु गान्धारे मध्यमे मत्सरीकृता ॥१६५॥
पञ्चमे शुद्धषड्जा स्याद्धैवते चोत्तरायता । निषादे रजनी ज्ञेया इत्येताः सप्त मूर्च्छनाः ॥१६६॥
मध्यमग्रामजाश्चापि मध्यमे गन्धर्षभैः । षड्जेन च निषादेन धैवतेन च मूर्च्छनाः ॥१६७॥
पञ्चमेन च विज्ञेया सौवीर्याद्या यथाक्रमम् । रिष्यकान्ता [हृष्यकान्ता]इतीमाश्च ताश्चतुर्दश मूर्च्छनाः॥१६८॥
षट्पञ्चैकस्वरास्तानाः [षट्पञ्चकस्वरास्तासां] षाडवौडवसंश्रयाः ।
साधारणकृताश्चैव काललीसमलंकृताः ॥१६९॥
आन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः । द्विधैकमूर्च्छनासिद्धिर्यथायोगमुदाहृता ॥१७०॥
तानाश्चतुरशीतिः स्युः पञ्चषट्स्वरसंभवाः । ते पञ्चत्रिंशदेकान्नपञ्चाशच्च यथाक्रमम् ॥१७१॥

छठी अश्वक्रान्ता और सातवीं आभिरुद्गता ये सात षड्ज ग्रामकी मूर्च्छनाएँ हैं[1] ॥१६१-१६२॥ और पहली सौवीरी, दूसरी हरिणाश्वा, तीसरी कलोपनता, चौथी शुद्धमध्यमा, पाँचवीं मार्गवी, छठी पौरवी और सातवीं रिष्यका (हृष्यका) ये सात मूर्च्छनाएँ[2] मध्यम ग्राममें विद्वज्जनोंके द्वारा जानने योग्य हैं ॥१६३-१६४॥ षड्ज स्वरमें उत्तरमन्द्रा, ऋषभमें आभिरुद्गता, गान्धारमें अश्वक्रान्ता, मध्यममें मत्सरीकृता, पंचममें शुद्ध षड्जा, धैवतमें उत्तरायता और निषादमें रजनी मूर्च्छना होती है। ये मूर्च्छनाएँ षड्जग्राम सम्बन्धिनी हैं ॥१६५-१६६॥ अब मध्यम[3] ग्राम सम्बन्धिनी मूर्च्छनाएँ कहते हैं। मध्यम ग्रामके मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत और पंचम स्वरमें क्रमसे सौवीरीको आदि लेकर हृष्यका तक सात मूर्च्छनाएँ[4] होती हैं अर्थात् मध्यममें सौवीरी, गान्धारमें हरिणाश्वा, ऋषभमें कलोपनता, षड्जमें शुद्धमध्यमा, निषादमें मार्गवी, धैवतमें पौरवी और पंचममें हृष्यका मूर्च्छना होती है। इस प्रकार दोनों ग्रामोंकी ये चौदह मूर्च्छनाएँ हैं[5] ॥१६७-१६८॥ इन चौदह मूर्च्छनाओंके षाडव, औडव, साधारण-कृत और काकलीके भेदसे चार-चार स्वर होते हैं। इस तरह इनके छप्पन स्वर हो जाते हैं। जिसकी उत्पत्ति छह स्वरोंसे होती है उसे षाडव और जिसकी पांच स्वरोंसे उत्पत्ति होती है उसे औडव कहते हैं[6] ॥१६९॥ षड्ज मध्यम इन दोनों ग्रामोंकी मूर्च्छनाएँ अनन्तर स्वरसे भी संयुक्त होती हैं तथा इनका यथा-योग्य मेल होनेपर एक मूर्च्छना दो रूप हो जाती है इसकी सिद्धि भी बतायी गयी है[7] ॥१७०॥ तान चौरासी प्रकारकी हैं इनमें पाँच स्वरोंसे उत्पन्न होनेवाली पैंतीश और छह स्वरोंसे उत्पन्न

---

१. आद्या ह्युत्तरमन्द्रा स्याद् रजनी चोत्तरायता । चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पञ्चमी मत्सरीकृता ॥२७॥ अश्व-क्रान्ता तु षष्ठी स्यात् सप्तमी चाभिरुद्गता । षड्जग्रामाश्रिता एता विज्ञेयाः सप्तमूर्च्छनाः ॥२८॥ नाट्य-शास्त्र अध्याय २८ । २. सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात् कलोपनता तथा । चतुर्थी शुद्धमध्या तु मार्गवी पौरवी तथा ॥२९॥ हृष्यका चैव विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमाः । मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः॥३०॥ ना. शा.अ २८ । ३. तत्र षड्जग्रामे—षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन शुद्धषड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति । ना. शा. पृ. ३२० । ४ अथ मध्यम-ग्रामे—मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हरिणाश्वक्रान्ता; ऋषभेण कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी, पञ्चमेन हृष्यका इति ना. शा. पृ. ३२० । ५. एवमेताः क्रमयुताः षट्पञ्चाशत् स्वराः स्मृताः । षाडवोडवितसंज्ञिताः पूर्णाः साधारणकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दशमूर्च्छनाः । ना. शा. पृ. ३२० । ६. षट्पञ्चकस्वरास्तासां षाडवोडुवितस्मृताः । साधारणकृताश्चेति काकली संमलंकृताः ॥ ७. अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः॥३२॥ द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धिः इत्यादि व्याख्यानेन नाट्यशास्त्रस्य ३२०पृष्ठे स्पष्टीकृतम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः । कार्योऽल्पविशेषेण नावरोही कदाचन ॥१७२॥
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु ।
याति रागं श्रुतिश्चैव नयते स्वं ततः स्वरः [जातिरागं श्रुतिञ्चैव नयते त्वन्तरस्वरः] ॥१७३॥
षाड्जी स्यादार्षभी चैव धैवत्यथ निषादजा ।
सुषड्जा दिव्य [सुषड्जोदीच्य] त्रा चैव तथा वै षड्जकैशिकी ॥१७४॥
षड्जमध्या तथा चैव षड्जग्रामसमाश्रया[1]। जातयोऽष्टौ दशोद्दिष्टा मध्यमग्रामजाश्रिताः ॥१७५॥
गान्धारी मध्यमा चैव गान्धारी दिव्यवा [गान्धारोदीच्यवा] तथा ।
पञ्चमी रक्तगान्धारी तथान्या रक्तपञ्चमी ॥१७६॥
मध्यमोदिव्यवा [मध्यमोदीच्यवा] चैव नन्दयन्ती तथैव च ।
कर्मारवी च विज्ञेया तथान्ध्री कैशिकी तथा ॥१७७॥
स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः । मध्यमा षड्जमध्या च पञ्चमी चेति सूरिभिः ॥१७८॥
ताश्चापि द्विविधाः शुद्धा विकृताश्च प्रकीर्त्तिताः । अपरस्परनिष्पन्ना ज्ञेयाश्चैव तु जातयः ॥१७९॥
अपृथग्लक्षणैर्युक्ता द्व्यैग्रामिक्यः स्वरप्लुताः । चतस्रो जातयो नित्यं ज्ञेयाः सप्तस्वरा बुधैः ॥१८०॥
चतस्रः षट्स्वराश्चान्या दश पञ्चस्वराः स्मृताः । मध्यमोदीच्यवा चैव तथा वै षड्जकैशिकी ॥१८१॥

होनेवाली उनचास[1] हैं ॥१७१॥ अन्तर स्वरका संयोग सदा आरोही अवस्थामें ही करना चाहिए अवरोही अवस्थामें थोड़ा या बहुत किसी भी रूपमें कभी भी नहीं करना चाहिए ॥१७२॥ क्योंकि यदि अवरोही अवस्थामें थोड़ा या बहुत अन्तर स्वरका संयोग किया जाता है तो उस समय अन्तर स्वर जातिके राग और श्रुति दोनोंको समाप्त कर देता है[2] ॥१७३॥ अब दोनों ग्रामोंकी जातियोंका वर्णन करते हैं, उनमें षड्ज ग्रामसे सम्बन्ध रखनेवाली १ षाड्जी, २ आर्षभी, ३ धैवती, ४ निषादजा, ५ सुषड्जा, ६ उदीच्यवा, ७ षड्जकैशिकी और ८ षड्जमध्या ये आठ जातियाँ हैं एवं नीचे लिखी दश जातियां मध्यमग्रामके आश्रित हैं—१ गान्धारी, २ मध्यमा, ३ गान्धारोदीच्यवा, ४ पंचमी, ५ रक्तगान्धारी, ६ रक्तपंचमी, ७ मध्यमोदीच्यवा, ८ नन्दयन्ती, ९ कर्मारवी, १० आन्ध्री, ११ कैशिकी। दोनों ग्रामोंकी मिलाकर अठारह जातियाँ होती हैं[3] ॥१७४-१७७॥ इन जातियोंमें मध्यमा, षड्जमध्या और पंचमी ये तीन जातियाँ साधारण स्वरगत[4] हैं ॥१७८॥ ये जातियाँ शुद्ध और विकृतके भेदसे दो प्रकारकी कही गयी हैं। जो परस्परमें मिलकर उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा पृथक्-पृथक् लक्षणोंसे युक्त हैं वे शुद्ध कहलाती हैं और जो समान लक्षणोंसे युक्त हैं वे विकृत कहलाती हैं। विकृत जातियाँ दोनों ग्रामोंकी जातियोंसे मिलकर बनती हैं तथा दोनोंके स्वरोंसे आप्लुत रहती हैं। इन जातियोंमें चार जातियाँ सात स्वरवाली, चार जातियाँ छह स्वरवाली और शेष दश जातियाँ पाँच स्वरवाली कही गयी हैं। मध्यमोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, कर्मारवी और गान्धारपंचमी ये चार जातियाँ सात स्वरवाली हैं।

१. तत्र मूर्च्छनातानाश्चतुरशीतिः । तत्रैकोनपञ्चाशत् षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत् पञ्चस्वराः । नाट्यशास्त्र पृ. ३२० 'मूर्च्छना एव तानाः स्युः शुद्धा आरोहणाश्च ताः' । (नारदपुराणे) 'विस्तार्यन्ते प्रयोगाय मूर्च्छनाः शेषसंश्रयाः । तानास्तेषूनपञ्चाशत् सप्तस्वरसमुद्भवाः' ॥ (संगीतदामोदरे १–३५) । २. अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः । कार्यस्त्वल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन ॥ क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु । जातिरागं श्रुतिश्चैव नयन्ते त्वन्तरे स्वराः ॥३५॥ नाट्यशास्त्र अध्याय २८ । ३. नाट्यशास्त्रे तु षड्जग्रामाश्रिताः सप्त, मध्यमग्रामाश्रितास्त्वेकादश जातयो निर्दिष्टाः । (श्लोका अष्टाविंशाध्याये ३६–४२) । ४. स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः । मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥३६॥ ना. शा. अ. २८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मारवी च संपूर्णा तथा गान्धारपञ्चमी । षड्जान्ध्री नन्दयन्ती च गान्धारोदीच्यवा तथा ॥१८२॥
चतस्रः षट्स्वरा ह्येताः शेषाः पञ्चस्वरा दश । नैषादी[1] वार्षभी चैव धैवती षड्जमध्यमा ॥१८३॥
षड्जौदीच्यवती चैव पञ्च षड्जाश्रया स्मृताः । गान्धारी रक्तगान्धारी मध्यमा पञ्चमी तथा ॥१८४॥
कैशिकी चेति विज्ञेया पञ्चैता मध्यमाश्रयाः । यास्ताः पञ्चस्वरा ज्ञेया याश्चैताः षट्स्वराः स्मृताः॥१८५॥
कदाचित्[2] षाडवीभूताः कदाचिच्चौडवीकृताः । [3]षड्जग्रामेऽपि[4] संपूर्णा विज्ञेया बहु[षड्ज]कैशिकी॥१८६॥
[5]षट्स्वराश्चैव विज्ञेया षड्जे ता गानयोगतः । [6]संपूर्णा मध्यमग्रामे ज्ञेया कर्मारवी तथा ॥१८७॥
गान्धारपञ्चमी चैव मध्यमोदीच्यवा तथा । पुनश्च षट्स्वरोपेता गान्धारोदीच्यवा तथा ॥१८८॥
आन्ध्री च नन्दयन्ती च मध्यमग्रामसंश्रयाः । [7]एवमेता बुधैर्ज्ञेया द्वैग्रामिक्यो हि जातयः ॥१८९॥
[8]षट्स्वरे सप्तमस्त्वंशो नेष्यते षड्जमध्यमः । संवादिलोपाद् गान्धारस्तत्रैव न विशिष्यते ॥१९०॥
गान्धारी रक्तगान्धारी कैशिकीनां च पञ्चमः । षड्जायाश्चैव गान्धारी मानसं विद्धि षाडवम् ॥१९१॥
षाडवे धैवतो नास्ति षड्जौदीच्या वियोगतः । संवादिलोपात्सप्तैताः षट्स्वरेण विवर्जिताः ॥१९२॥
आसां तु रक्तगान्धार्याः षड्जमध्यमपञ्चमाः । सप्तमश्चैव विज्ञेयो येषु नौडवितं भवेत् ॥१९३॥
द्वौ षड्जमध्यमावंशौ गान्धारोऽथ निषादवान् । ऋषभश्चैव पञ्चम्याः कैशिक्याश्चैव धैवतः ॥१९४॥

षड्जा, आन्ध्री, नन्दयन्ती और गान्धारोदीच्यवा ये चार जातियाँ छह स्वरवाली हैं और शेष दश जातियाँ पाँच स्वरवाली हैं। नैषादी, आर्षभी, धैवती, षड्जमध्यमा और षड्जोदीच्यवती ये पाँच जातियाँ षड्जग्रामके आश्रित हैं और गान्धारी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, पचमी तथा कैशिकी ये पाँच मध्यमग्रामके आश्रित हैं। इन जातियोंमें जो पाँच स्वरवाली (ओडव) और छह स्वरवाली (षाडव) जातियाँ कही गयी हैं वे कदाचित् क्रमसे षाडव (छह स्वरवाली) और ओडव (पाँच स्वरवाली) हो जाती हैं। षड्जग्राममें सात स्वरवाली षड्जकैशिकी जाति होती है और गानके योगसे छह स्वरवाली भी होती है। मध्यमग्राममें सात स्वरवाली कर्मारवी, गान्धारपंचमी और मध्यमोदीच्यवा होती हैं और छह स्वरवाली गान्धारोदीच्यवा, आन्ध्री एवं नन्दयन्ती जातियाँ होती हैं। इस तरह विद्वानोंके द्वारा ये दोनों ग्रामोंकी जातियाँ जानने योग्य हैं ॥१७९–१८९॥ जहाँ छह स्वर होते हैं वहाँ षड्जमध्यम स्वर उसका सप्तांश नहीं होता और संवादीका लोप हो जानेसे वहाँ गान्धारस्वर विशेषताको प्राप्त नहीं होता ॥१९०॥ गान्धारी, रक्तगान्धारी, कैशिकी और षड्जामें पंच स्वर नहीं होता तथा षाडवको गान्धारीका हृदय जानना चाहिए ॥१९१॥ षाडवमें धैवत स्वर नहीं रहता क्योंकि वहाँ षड्जोदीच्यवा जातिका वियोग हो जाता है। एवं ये सात जातियाँ संवादीका अभाव होनेसे छह स्वरोंसे वर्जित रहती हैं ॥१९२॥ इनमें-से रक्त-गान्धारी जातिमें षड्ज, मध्यम और पंचमस्वर सप्तमस्वर रूप हो जाते हैं तथा इनमें औडवित नहीं रहता ॥१९३॥ षड्ज, मध्यम, गान्धार, निषाद और ऋषभ ये पाँच अंश पंचमी जातिमें रहते हैं और कैशिकीमें धैवतके साथ छह रहते हैं। ये बारहों जातियाँ पंचस्वरमें सदा वर्जनीय मानी गयी हैं। किन्तु इनमें जो औडवितसे रहित हैं उनका स्वरके आश्रय निरन्तर प्रयोग करना

१. निषादवृषभौ म.। २. षोडशीभूता कदाचित् षाडवीकृताः म.। 'कदाचित् षाडवीभूता कदाचिच्चौडवीकृता' ना. शा. अ. २८। ३. षड्जग्रामे तु विज्ञेया सम्पूर्णं षड्जकैशिका ॥६१॥ ना. शा. अ. २८। ४. ग्रामे च. म.। ५. षड्जग्रामे तु विज्ञेया षाड्व्येका षट्स्वराश्रया ॥५९॥ ना. शा. अ. २८। ६. सम्पूर्णा मध्यमग्रामे ज्ञेया कर्मारवी तथा ॥६०॥ मध्यमोदीच्यवा चैव तथा गान्धारपञ्चमी। ना. शा. अ. २८। ७. एवमेता बुधैर्ज्ञेया द्वैग्रामिक्यश्च जातयः ॥६२॥ ना. शा. अ. २८। ८. षट्स्वर्ये सप्तमांशा तु नेष्यते षड्जमध्यमा। संवादिलोपाद् गान्धारस्तत्रैव न भविष्यति ॥६३॥ ना. शा. अ. २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं तु द्वादशैवेह वर्ज्याः पञ्च स्वरे सदा । यास्तु नौडविता नित्यं कर्तव्या हि स्वराश्रयाः ॥१९५॥
सर्वस्वराणां नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु । न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि कदाचन ॥१९६॥
सर्वस्वराणां प्रवरो ह्यनाशान्मध्यमः स्मृतः । गान्धर्वकल्पे विहिते समस्तेष्वपि मध्यमः ॥१९७॥
जातीनां लक्षणं तारो मन्द्रो न्यासादिरेव च । अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडविते तथा ॥१९८॥
एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणाः । यथा यस्मिन् रसे यावदिति तत्प्रतिपाद्यते ॥१९९॥
यस्मिन् भवति रागश्च यस्माच्चैव प्रवर्त्तते । मन्द्रश्च तारमन्द्रश्च योऽत्यर्थमुपलभ्यते ॥२००॥
ग्रहोपन्यासविन्याससंन्यासन्यासगोचरः । अनुवृत्तिश्च या चेह सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः ॥२०१॥
[1]संसारोत्साचलस्थानमल्पत्वं दुर्बलासु च । द्विविधोत्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः ॥२०२॥ (?)
मन्द्रात्वं[2] पसरो नास्ति न्यासौ तु द्वाववस्थितौ । गान्धारो न्यासलिङ्गं तु दृष्टमार्षभमेव च ॥२०३॥(?)
ग्रहस्तु[3] सर्वजातीनामंशवत् परिकीर्त्तितः । यत्प्रवृत्ते भवेदंशः सोंऽशो ग्रहविकल्पितः ॥२०४॥
[4]द्वैग्रामिकीनां जातीनां सर्वासां चैव नित्यशः । अंशास्त्रिषष्टिविज्ञेयास्तासां वै षट्सु संग्रहः ॥२०५॥
[5]मध्यमोदीच्यवायास्तु नन्दयन्त्यास्तथैव च । ततो गान्धारपञ्चम्यां पञ्चमोंऽशो ग्रहस्तथा २०६॥
धैवत्याश्च तथा द्वंशौ विज्ञेयौ धैवतर्षभौ । पञ्चम्याश्च तथा ज्ञेयौ ग्रहांशौ पञ्चमर्षभौ ॥२०७॥
गान्धारोदीच्यवायाश्च ग्रहांशौ षड्जमध्यमौ । आर्षभ्यास्तु तथा चैव विज्ञेया धैवतर्षभौ ॥२०८॥

चाहिए ॥१९४-१९५॥ जातियोंमें समस्त स्वरोंका नाश किया जा सकता है परन्तु मध्यमस्वरका नाश कभी नहीं करना चाहिए ॥१९६॥ क्योंकि मध्यम स्वरका कभी नाश नहीं होता इसलिए वह समस्त स्वरोंमें प्रधान स्वर माना गया है। साथ ही यह मध्यमस्वर गान्धर्व कल्पके समस्त भेदोंमें भी स्वीकृत किया गया है ॥१९७॥ १ तार, २ मन्द्र, ३ न्यास आदि (४ उपन्यास, ५ ग्रह, ६ अंश) ७ अल्पत्व, ८ बहुत्व, ९ षाडव और १० औडवित ये जातियोंके नाम हैं ॥१९८॥ इस प्रकार विद्वानों द्वारा ये दश जातियाँ जानने योग्य हैं। उन जातियोंका जिस रसमें जितना प्रयोग होता है उसका कथन किया जाता है ॥१९९॥ राग जिसमें रहता है, राग जिससे प्रवृत्त होता है, जो मन्द्र अथवा तारमन्द्र रूपसे अधिक उपलब्ध होता है, जो ग्रह उपन्यास, विन्यास, संन्यास और न्यासरूपसे अधिक उपलब्ध होता है, तथा जो अनुवृत्ति पाई जाती है वह दश प्रकारका अंश कहलाता है ॥२००-२०१॥ संचार, अंश, बलस्थान, दुर्बल स्वरोंका अल्पता और नाना प्रकारका अन्तर मार्ग ये जातियोंको प्रकट करनेवाले हैं ॥२०२॥ मन्द्रमें अंश नहीं होता परन्तु न्यासमें दो अंश होते हैं। गान्धार ग्रह तथा न्यासमें आर्षभ अंश देखा जाता है ॥२०३॥ समस्त जातियोंमें जिस प्रकार अंश स्वीकार किया गया है उसी प्रकार ग्रह भी माना गया है। जिस ग्रहके प्रवृत्त होनेपर जो अंश होता है वह अंश उसी ग्रहसे विकल्पित माना जाता है ॥२०४॥ समस्त द्वैग्रामिकी जातियोंके सदा त्रेशठ अंश जानना चाहिए और जातियोंका संग्रह छह स्वरोंमें माना गया है ॥२०५॥ मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती और गान्धार पंचमीमें पंचम अंश तथा पंचम ही ग्रह रहता है ॥२०६॥ धैवतीमें धैवत और ऋषभ ये दो अंश तथा दो ग्रह और पंचमीमें पंचम तथा ऋषभ दो अंश और दो ग्रह जानना चाहिए ॥२०७॥ गान्धारो-

१. संचारोंऽशबलस्थानमल्पत्वं दुर्बलेषु च । विविधोऽन्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः ॥९१॥ अ. २८ नाट्यशास्त्रे एवं पाठः । २. मन्द्रो ह्यंशपरो नास्ति न्यासे तु द्वौ व्यवस्थितौ । गान्धारे च ग्रहे न्यासे दृष्टमार्षभदैवतम् ॥९४॥ नाट्य अ. २८ । ३. ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः । यत्प्रवृत्तं भवेद्गानं सोंऽशो ग्रहविकल्पितः ॥७१॥ ना. शा. अ. २८ । ४. द्वैग्रामिकीनां जातीनां सर्वासामपि नित्यशः । अंशास्त्रिषष्टिविज्ञेयास्तासां चैव तथा ग्रहः ॥७५॥ ना. शा. अ. २८ । ५. नाट्यशास्त्रस्य अष्टाविंशतितमाध्यायस्य ७६-७८ श्लोकाः द्रष्टव्याः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषादः षाडवश्चैव गान्धारोऽथर्षभस्तथा । तथैव षड्जकैशिक्याः षड्जगान्धारमध्यमाः ॥२०९॥
तिसृणामपि जातीनां ग्रहा न्यासाश्च कीर्त्तिताः । गान्धार ऋषभश्चैव निषादः पञ्चमस्तथा ॥२१०॥
ग्रहाद्यंशाश्च चत्वारस्तथैवान्त्याः प्रकीर्त्तिताः । षड्जश्चाप्यृषभश्चैव मध्यमः पञ्चमस्तथा ॥२११॥
मध्यमायां ग्रहांशौ तु गान्धारो धैवतस्तथा । निषादषड्जगान्धारा मध्यमाः पञ्चमस्तथा ॥२१२॥
गान्धारो रक्तगान्धार्या गृहांशाः परिकीर्त्तिताः । अञ्चितर्षभयोगास्तु कैशिकांशा[1] ग्रहास्तथा ॥२१३॥
स्वराः सर्वे च विज्ञेयाः ग्रहांशौ षड्जमध्यमौ । एवं त्रिषष्टिर्विज्ञेया ग्रहाश्चांशाः स्वजातिषु ॥२१४॥
अंशवच्च ग्रहा ज्ञेयाः सर्वास्वपि हि जातिषु । सर्वासामेव जातीनां त्रिजात्यास्तु गुणाः स्मृताः ॥२१५॥
षड्गुणास्तेषु विज्ञेया वर्द्धमानाः स्वरास्तथा । एकस्वरो द्विस्वरश्च त्रिस्वरोऽथ चतुःस्वरः ॥२१६॥
पञ्चस्वरस्तथा चैव षट्स्वरः सप्तकस्तथा । पूर्वमुक्तमिदं त्वासां ग्रहांशपरिकल्पनम् ॥२१७॥
पञ्चैव तु भवेत् षड्जे निषादर्षभहीनतः । उपन्यासा भवन्त्यत्र गान्धारः पञ्चमस्तथा ॥२१८॥
न्यासश्चात्र भवेत् षष्ठो लोपो वै सप्तमर्षभौ । गान्धारस्य तु बाहुल्यं तत्र कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥२१९॥
आर्षभ्यास्तु तथा स्वंशौ निषादो धैवतस्तथा । एतावन्तो ह्युपन्यासा न्यासश्चाप्यार्षभस्तथा ॥२२०॥
धैवत्या धैवतश्चैव न्यासश्चैवार्षभः स्मृतः । उपन्यासा भवन्त्यत्र धैवतर्षभपञ्चमाः ॥२२१॥
षड्जपञ्चमहीनं च पञ्चस्वर्यं विधीयते । पञ्चमं च विना चैव षाडवः परिकीर्त्तितः ॥२२२॥
आरोहणीयौ तौ कार्यौ लङ्घनीयौ तथैव च । निषादश्चर्षभश्चैव गान्धारो बलवांस्तथा ॥२२३॥

दोच्यवामें षड्ज और मध्यम ये दो अंश तथा ग्रह हैं। आर्षभीमें धैवत, ऋषभ और निषाद ये तीन अंश और ग्रह हैं। [2]नैषादिनीमें षाडव, गान्धार और ऋषभ ये तीन अंश और ग्रह हैं। इसी प्रकार षड्ज कैशिकीमें षड्ज, गान्धार और मध्यम ये तीन अंश तथा ग्रह हैं ॥२०८–२०१॥ तीनों जातियोंके ग्रह और न्यास कहे जा चुके हैं। गान्धार, ऋषभ, निषाद और पंचम ये चार ग्रहके आदि अंश हैं तथा षड्ज, ऋषभ, मध्यम और पंचम ये अन्त्य अंश कहे गये हैं ॥२१०–२११॥ मध्यमा जातिमें गान्धार और धैवत ये दो ग्रह एवं अंश हैं। निषाद, षड्ज, गान्धार, मध्यम और पंचम ये रक्तगान्धारीके ग्रह और अंश हैं। कैशिकीमें ऋषभ योगके साथ समस्त ग्रहोंसे युक्त समस्त स्वर हैं। इसमें षड्ज और मध्यम ये दो ग्रह और अंश हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी जातियों में त्रेसठ ग्रह तथा इतने ही अंश जानना चाहिए ॥२१२–२१४॥ समस्त जातियोंमें अंशोंके ही समान ग्रह जानना चाहिए। समस्त जातियोंके गुण त्रिजातीय होते हैं ॥२१५॥ इनमें एकसे लेकर बढ़ते-बढ़ते छहगुने स्वर हो जाते हैं और वे एक स्वर, दो स्वर, तीन स्वर, चार स्वर, पाँच स्वर, छह स्वर और सात स्वर—इस क्रमसे होते हैं। इन जातियोंमें ग्रह और अंश कल्पना पहले कही जा चुकी है ॥२१६–२१७॥ षड्जमें निषाद और ऋषभको छोड़कर शेष पाँच स्वर होते है और वहाँ गान्धार तथा पंचम उपन्यास होते हैं। षष्ठ स्वर न्यास होता है एवं ऋषभ तथा सप्तम स्वरका लोप होता है। इसमें प्रयोक्ताओंको गान्धारकी बहुलता करनी चाहिए ॥२१८–२१९॥ आर्षभीमें निषाद और धैवत ये दो अंश तथा ये ही दो उपन्यास होते हैं और आर्षभ न्यास होता है ॥२२०॥ धैवतीमें धैवत और आर्षभन्यास तथा धैवत, ऋषभ और पंचम ये उपन्यास होते हैं ॥२२१॥ इसमें षड्ज और पंचमको छोड़कर पाँच स्वरोंका प्रयोग किया जाता है तथा पंचमको छोड़कर शेष षाडव कहा जाता है ॥२२२॥ पूर्वोक्त पंचस्वर्य और षाडव आरोहणीय और लंघनीय दोनों प्रकारके हैं। इसी प्रकार निषाद, ऋषभ और बलवान्

१. कैशिकीसग्रहास्तथा ख.।

२. नैषादिन्या निषादस्तु गान्धारश्चार्षभस्तथा।
अंशाश्च षड्जकैशिक्याः षड्जगान्धारपञ्चमाः ॥७९॥—ना. शा. अ. २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषादश्च [1]निषादांशो गान्धारश्चर्षभस्तथा । एवमेते ह्युपन्यासा न्यासश्चैव तु सप्तमः ॥२२४॥
धैवत्या अपि कर्त्तव्यौ षाडवौडवितौ तथा । तद्वच्च लङ्घनीयौ तु बलवन्तौ तथैव च ॥२२५॥
अंशास्तु षड्जकैशिक्या ज्ञेयौ गान्धारपञ्चमौ । उपन्यासाश्च विज्ञेयाः षड्जपञ्चममध्यमाः ॥२२६॥
गान्धारश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं नवात्र तु । दौर्बल्यं चात्र कर्त्तव्यं धैवतस्यर्षभस्य च ॥२२७॥
षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा । षड्जगोदीच्यवांशास्तु न्यासश्चैवात्र मध्यमः ॥२२८॥
उपन्यासस्तथा चैव धैवतः षड्ज एव तु । परस्परांशातिगमश्छन्दतश्च विधीयते ॥२२९॥
पञ्चमर्षभहीनं तु [2]पञ्चस्वर्यं तु तत्र वै । षड्जश्चाप्यर्षभश्चैव गान्धारश्च बली भवेत् ॥२३०॥
षड्जमध्यास्तु सर्वेषामुपन्यासास्तथैव च । षड्जश्च सप्तमश्चैव न्यासौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः ॥२३१॥
[3]गान्धारसप्तमोपेतं [4]पञ्चस्वर्यं च तद् [5]भवेत् । षाडवः सप्तमोपेतः कार्यश्चैवात्र योगतः ॥२३२॥
सर्वस्वराणां संचार इष्टवस्तु विधीयते । षड्जग्रामाश्रया ह्येताः विज्ञेयाः सप्त जातयः ॥२३३॥
गान्धार्याः पञ्च धैवांशा धैवतर्षभवर्जिताः । षड्जश्च पञ्चमश्चैव ह्युपन्यासाः प्रकीर्त्तिताः ॥२३४॥
गान्धारोऽत्र भवेन्न्यासो षाडवर्षभसंभवः । धैवतर्षभहीनं च तथा चौडवितं भवेत् ॥२३५॥
लङ्घनीयौ च तौ नित्यमार्षभाद्धैवतं व्रजेत् । इति गान्धारविहितः स्वरन्यासांशसंचरः ॥२३६॥
लक्षणं रक्तगान्धार्या एवं तत्सदृशं गतम् । बलवांश्चैव तत्र स्याद्धैवतः पञ्चमस्तथा ॥२३७॥
गान्धारषड्जयोश्चात्र संचारो ह्युभयं विना । [6]उपन्यासः समध्यस्तु मध्यमस्तु विधीयते ॥२३८॥
गान्धारोदीच्यवायास्तु विज्ञेयौ षड्जमध्यमौ । सप्तमश्च ततोऽन्यत्र षट्स्वर्यमृषभं विना ॥२३९॥

गान्धार भी आरोहणीय तथा लंघनीय दोनों प्रकारके हैं ॥२२३॥ निषाद, निषादका अंश, गान्धार और ऋषभ इस प्रकार ये उपन्यास हैं परन्तु सप्तम स्वर न्यास ही होता है ॥२२४॥ धैवती जातिमें भी षाडव और औडवितका प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों ही पूर्वकी भाँति लंघनीय तथा आरोहणीय होते हैं ॥२२५॥ षड्ज कैशिकीके गान्धार और पंचम ये ग्रहांश हैं तथा षड्ज, पंचम और मध्यम ये उपन्यास हैं ॥२२६॥ यहाँपर गान्धार चाहे हीन स्वरवाला हो चाहे अधिक स्वरवाला हो न्यास होता है साथ ही इसके यहाँ धैवत तथा ऋषभ स्वरमें दुर्बलताका प्रयोग करना चाहिए ॥२२७॥ षड्ज, मध्यम, निषाद और धैवत .. ये षड्जोदीच्यवाके अंश हैं, मध्यम न्यास हैं और धैवत तथा षड्ज उपन्यास हैं। यहाँ छन्दके अनुसार परस्परके अंशोंमें व्यतिक्रम भी हो जाता है ॥२२८-२२९॥ जहाँ पंचम और ऋषभको छोड़कर शेष पाँच स्वर होते हैं वहाँ षड्ज, ऋषभ और गान्धार बलवान् होते हैं ॥२३०॥ षड्ज और मध्यम सबके उपन्यास हैं तथा षड्ज और सप्तम सबके न्यास हैं ॥२३१॥ पंचस्वर्य गान्धार और सप्तम स्वरसे युक्त होता है तथा षाडवको सप्तम स्वरसे युक्त अवश्य करना चाहिए ॥२३२॥ इन समस्त स्वरोंका संचार इच्छानुसार किया जाता है। ये सात जातियाँ षड्ज ग्रामके आश्रय रहती हैं ॥२३३॥ गान्धारी जातिमें धैवत और ऋषभको छोड़कर शेष पाँच ही अंश रहते हैं। षड्ज और पंचम उपन्यास होते हैं ॥२३४॥ इसमें षाडव और ऋषभसे उत्पन्न गान्धार न्यास होता है तथा धैवत और ऋषभसे रहित औडवित होता है ॥२३५॥ यहाँ ऋषभ और धैवत नियमसे लंघनीय माने गये हैं और जब लंघन होता है तो ऋषभसे धैवतकी ओर ही होता है। इस प्रकार गान्धारी जातिके स्वर न्यास और अंशोंके संचारका वर्णन किया ॥२३६॥ रक्तगान्धारीका लक्षण इसी—गान्धारीके समान होता है। विशेषता यह है कि इसमें धैवत और पंचम स्वर बलवान् होते हैं ॥२३७॥ यहाँ धैवत और पंचमके बिना गान्धार और षड्जका संचार होता है, तथा मध्य सहित मध्यम उपन्यास होता है ॥२३८॥ गान्धारोदीच्यवामें षड्ज, मध्यम और सप्तम

१. निषादोऽसौ म. । २. पञ्चमं यत्तु म. । ३. गान्धारं सप्तमोपेतं म. । ४. यवस्वर्यं ग. । ५. "गान्धारसप्तमोपेतं पञ्चस्वर्यं विधीयते" नाट्यशास्त्रे । ६. उपन्यासो मध्यमस्तु म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यः स्वन्तरमार्गश्च न्यासोऽपन्यास एव च । गान्धारोदीच्यवायास्तु तत्र सर्वो विधिः स्मृतः ॥२४०॥
मध्यमायाः भवेदंशौ विना गान्धारसप्तमौ । एक एव ह्यपन्यासो न्यासश्चैव तु मध्यमः ॥२४१॥
गान्धारसप्तमापेतं पञ्चस्वर्यं विधीयते । षट्स्वरं चाप्यगान्धारं कर्त्तव्यं तु प्रयोगतः ॥२४२॥
षड्जमध्यमयोश्चाऽत्र कार्यं बाहुल्यमेव हि । गान्धारलङ्घनं चात्र नित्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥२४३॥
मध्यमोदीच्यवायाः स्यादेको ह्यंशस्तु मध्यमः । शेषो विधिश्च कर्त्तव्यो मध्यमायास्तु यो भवेत् ॥२४४॥
[1]द्वावंशावथ पञ्चम्यामृषभः पञ्चमस्तथा । अपन्यासो भवेदेको न्यासश्चैव तु पञ्चमः ॥२४५॥
मध्यमाया विधिर्योत्र षाडवौडविते तथा । दौर्बल्यं चात्र कर्त्तव्यं षड्जगान्धारपञ्चमैः ॥२४६॥
कुर्यादत्र त संचारं पञ्चमस्यर्षभस्य च । । गान्धारगमनं चैव कुर्यादपि च पञ्चमैः ॥२४७॥
अथ गान्धारपञ्चम्याः [2]पञ्चमोंऽशः प्रकीर्त्तितः । पञ्चमश्चर्षभश्चैव ह्यपन्यासः प्रकीर्त्तितः ॥२४८॥
[3]न्यासश्चैवात्र गान्धारः स च पूर्वस्वरो भवेत् । पञ्चम्यास्त्वथ गान्धार्याः संचरः संविधीयते ॥२४९॥
ऋषभः पञ्चमश्चैव गान्धारोऽथ निषादवान् । चत्वारोंऽशास्तथा [4]ह्यान्ध्र्या अपन्यासास्त एव च ॥२५०॥
गान्धारश्च तथा न्यासः षड्जापेतश्च षाडवः । गान्धारर्षभयोश्चापि संचरस्तु परस्परम् ॥२५१॥
सप्तमस्य च षष्ठस्य न्यासगत्यनुपूर्वशः । षड्जस्य लङ्घनं चात्र नास्ति चौडवितं तथा ॥२५२॥

अंश जानना चाहिए । इसमें ऋषभके बिना छह स्वर होते हैं ॥२३९॥ इसमें अन्तरमार्ग, न्यास और अपन्यास करना चाहिए तथा उनमें गान्धारोदीच्यवाकी सब विधि स्मरणमें रखना चाहिए ॥२४०॥ मध्यमामें गान्धार और सप्तमको छोड़कर षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पंचम और धैवत ये पाँच अंश होते हैं । इसमें एक मध्यम ही अपन्यास तथा न्यास रहता है ॥२४१॥ यहाँ गान्धार और सप्तमसे रहित पंचस्वर्य किया जाता है और कभी प्रयोगवश गान्धारको छोड़कर षट्स्वर्य भी किया जाता है ॥२४२॥ इसमें प्रयोक्ताओंको षड्ज और मध्यम स्वरकी बहुलता करनी चाहिए तथा गान्धार स्वरका लंघन निरन्तर करना चाहिए—उसे छोड़ते रहना चाहिए ॥२४३॥ मध्यमोदीच्यवामें एक ही मध्यम अंश होता है और शेष विधि जो मध्यमामें होती है वह इसमें करनी चाहिए ॥२४४॥ पंचमी जातिमें ऋषभ और पंचम ये दो अंश होते हैं तथा ये ही दो अपन्यास होते हैं परन्तु न्यास एक पंचम ही होता है ॥२४५॥ मध्यमाकी जो विधि बता आये हैं वह तथा षाडव और औडवित इसमें भी जानना चाहिए तथा इसमें षड्ज गान्धार और पंचम स्वरको दुर्बल करना चाहिए ॥२४६॥ यहाँ पंचम और ऋषभ स्वरका संचार करना चाहिए तथा पंचम स्वरके साथ गान्धार स्वरका भी संचार किया जा सकता है ॥२४७॥ गान्धार पंचमीका एक पंचम अंश ही कहा गया है तथा पंचम और ऋषभ ये दो उसके अपन्यास कहे गये हैं ॥२४८॥ इसमें गान्धार न्यास होता है और वह अपने पूर्व स्वरको लिये हुए होता है । पंचमी और गान्धारी जातिका परस्पर संचार भी किया जाता है ॥२४९॥ आन्ध्री जातिके ऋषभ, पंचम, गान्धार और निषाद ये चार अंश हैं तथा ये ही चार अपन्यास हैं ॥२५०॥ गान्धार न्यास है, तथा षड्जसे रहित षाडव-षड्स्वर्य है । यहाँ गान्धार और ऋषभ स्वरका परस्पर संचार होता है ॥२५१॥ कभी-कभी न्यासकी गतिके अनुसार षष्ठ और सप्तम स्वरका भी संचार होता है । इसमें षड्ज

१. द्वादशावथ म. । द्वावंशावथ पञ्चम्या भवतः पञ्चमर्षभौ । अपन्यासो निषादश्च पञ्चमर्षभसंयुतः ॥१२३॥ न्यासः पञ्चम एव स्यात् मध्यमर्षभहीनता । दुर्बलाश्चात्र कर्त्तव्या षड्जगान्धारमध्यमाः ॥१२४॥ कुर्याच्चाप्यत्र संचारं मध्यमस्यर्षभस्य च । गान्धारगमनं चाल्पं सप्तमात् संप्रयोजयेत् ॥१२५॥ —ना. शा. अध्याय २८ । कैशिक्यास्तु भवन्त्यंशाः सर्वे चर्षभवर्जिताः । एत एव ह्यपन्यासा न्यासौ गान्धारसप्तमौ ॥१३७॥ धैवतेंऽशे निषादे च न्यासः पञ्चम इष्यते । —ना. शा. २८ अ. । २. पञ्च दोषाः प्रकीर्तिताः म., ग. । ३. न्यासश्चैवानु- गान्धारः म., ग. । ४. चैते ह्युपन्यासा ग. । चैव ह्युपन्यासा म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]नन्दयन्त्या अपि न्यासा अंशाश्चापि तथैव च । गान्धारो मध्यमश्चैव पञ्चमश्चैव नित्यशः ॥२५३॥
न षड्जो लङ्घनीयोंऽशो न चान्ध्रीसंचरः स्मृतः । लङ्घनं ह्यर्षभस्यात्र तच्च मन्द्रगतं स्मृतम् ॥२५४॥
तारे चापि ग्रहे कार्यस्तथा न्यासश्च नित्यशः । कर्मारव्यास्तथा ह्यंश ऋषभः पञ्चमस्तथा ॥२५५॥
धैवतश्च निषादोऽपि ह्यपन्यासः प्रकीर्त्तितः । पञ्चमश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यस्तथैव च ॥२५६॥
गान्धारस्य विशेषेण सर्वतो गमनं भवेत् । कैशिक्यास्तु सषड्जायाः सर्वे चैवार्षभं विना ॥२५७॥
एत एत ह्यपन्यासा गान्धारः सप्तमो भवेत् । [2]धैवते सनिषादे च न्यासः पञ्चम एव च ॥२५८॥
अपन्यासः कदाचित् स ऋषभोऽभिविधीयते । [3]व्यार्षभं षाडवं चात्र धैवतश्चर्षभं विना ॥२५९॥
तथा [4]नौडवितं कुर्याद्बलिनश्चान्त्यपञ्चमाः । दौर्बल्यमृषभस्यात्र लङ्घनं च विशेषतः ॥२६०॥
सषड्जो मध्यमश्चात्र संचारस्तु विधीयते । यथारसं बुधैर्योज्या जातयः स्वरसंचराः ॥२६१॥
इत्यादि स यथायोग्यं तथा गन्धर्वविस्तरे[5] । सुगीते वसुदेवेन श्रोतारो विस्मयं ययुः ॥२६२॥
तुम्बुरुर्नारदः किंवा गन्धर्वः किन्नरो ह्ययम् । वीणावादनमीदृक्षं कुतोऽन्यस्येति वेदनम् ॥२६३॥
विष्णुगीतक्रमोद्देशस्थानं गीतं सुवीणया । श्रुत्वा गन्धर्वसेनाऽभूद् विस्मिता च निरुत्तरा ॥२६४॥
तथा जयपताकायां वसुदेवेन संसदि । गृहीतायां समुत्तस्थौ गम्भीरः साधुनिस्वनः ॥२६५॥
अनुरागवती चक्रे वसुदेवं स्वभावतः । कण्ठे [6]कण्ठगुणं कन्या कुर्वती तस्य संसदि ॥२६६॥

स्वरका लंघन और औडवित नहीं होता ॥२५२॥ जो न्यास, अंश तथा अपन्यास आन्ध्री जातिके हैं वे ही नन्दयन्तीके भी हैं। इसमें गान्धार, मध्यम और पंचम स्वर नित्य रहते हैं ॥२५३॥ इसमें षड्ज स्वर लंघनीय नहीं हैं और न आन्ध्रीके समान इसमें संचार ही होता है। इसमें ऋषभ स्वरका लंघन होता है और वह मन्द्रगतिके समय होता है ॥२५४॥ तार ग्रहमें भी निरन्तर उसीके अनुरूप न्यास करना चाहिए। कर्मारवी जातिमें ऋषभ, पंचम, धैवत और निषाद ये चार अंश कहे गये हैं तथा ये ही चार अपन्यास बतलाये गये हैं। इसमें पंचम न्यास होता है और वह हीनस्वर्य होता है ॥२५५-२५६॥ यहाँ गान्धार स्वरका विशेष रूपसे सर्वत्र गमन होता है। षड्जा सहित कैशिकीमें ऋषभको छोड़कर शेष सभी अंश और अपन्यास माने गये हैं। गान्धार और सप्तममें दो न्यास हैं परन्तु धैवत और निषाद अंशमें एक पंचम ही न्यास होता है ॥२५७-२५८॥ कभी-कभी इसमें ऋषभ भी न्यास हो जाता है। इसमें षाडव ऋषभसे रहित होता है तथा धैवत ऋषभके बिना प्रयुक्त होता है। यहाँ औडवित नहीं करना चाहिए, अन्तिम और पंचम स्वरको बलवान् करना चाहिए तथा ऋषभको दुर्बल करना चाहिए और उसीका विशेष रूपसे लंघन करना चाहिए ॥२५९-२६०॥ इसमें षड्ज और मध्यमका संचार किया जाता है। इस प्रकार स्वरोंमें संचार करनेवाली जातियाँ कहीं। विद्वान् इनका रसके अनुसार प्रयोग करें ॥२६१॥

इस प्रकार गन्धर्व शास्त्रके विस्तारके साथ जब वसुदेवने यथायोग्य उत्तम गाना गाया तब सभी श्रोता आश्चर्यको प्राप्त हो गये ॥२६२॥ लोग कहने लगे कि यह क्या तुम्बुरु है? या नारद है? या गन्धर्व है? अथवा किन्नर है क्योंकि ऐसी वीणा बजाना किसी दूसरेको कहाँ आ सकती है? ॥२६३॥ बलिको बाँधते समय नारद आदिने विष्णुकुमार मुनिका जिस रूपसे स्तवन किया था वसुदेवने वीणा बजाकर वही गाया जिसे सुनकर गन्धर्वसेना आश्चर्यसे चकित एवं निरुत्तर हो गयी ॥२६४॥ इस प्रकार जब सभामें विजयपताका वसुदेवने ग्रहण की तब चारों ओरसे 'साधु-साधु' 'ठीक-ठीक'का जोरदार शब्द गूँज उठा ॥१६५॥ स्वाभाविक अनुरागसे भरी

१. मन्दयन्त्या म । २. धैवतं सनिषादे च. म., ग. । ३. विगतम् आर्षभं यस्मात् तत् । ४. तथा चौडवितं कुर्याद्बलिनश्चात्र पञ्चमः म. । ५. विस्तारे म. । ६. मालाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गन्धर्व इव देवोऽसौ वृतो गन्धर्वकन्यया । गान्धर्वसेनया हर्षसंबन्धं जगतो व्यधात् ॥२६७॥
चारुदत्तस्ततस्तुष्टो यथोक्तविधिना ततः । [1]विवाहं मगधाधीश निरवर्त्तयदेतयोः ॥२६८॥
सुग्रीवश्च यशोग्रीव उपाध्यायौ च कन्यके । वितीर्य वसुदेवाय नितान्तं तोषमापतुः ॥२६९॥
कलागुणविदग्धाभिस्ताभिरानकदुन्दुभिः[2] । रामाभिरभिरामाभिश्चिरं चिक्रीड तत्र सः ॥२७०॥

स्रग्धरावृत्तम्

लब्ध्वा लुब्धेन रन्ध्रं कथमपि हरता वैरिणा खेऽतिदूरं
नीत्वा मुक्तं पतन्तं गतशरणमधः पद्मखण्डोपधानम् ।
कृत्वा यः शीघ्रमस्मिन्झटिति घटयति प्राज्यलाभैः पुमांसं
कर्त्तुं भव्यस्तमेकं पथि जिनकथिते धर्मबन्धुं यतध्वम् ॥२७१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ गान्धर्वसेनावर्णनो नाम एकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

□

गन्धर्वसेनाने सभामें ही वसुदेवके गलेमें माला डालकर उनका वरण किया ॥२६६॥ उस समय गन्धर्व-कन्यासे वृत गन्धर्वके समान गन्धर्वसेनासे वृत वसुदेवने समस्त जगत्को हर्षित कर दिया ॥२६७॥ तदनन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! कन्याके पिता चारुदत्तने सन्तुष्ट होकर दोनोंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया ॥२६८॥ उपाध्याय सुग्रीव और यशोग्रीव भी अपनी-अपनी कन्याएँ वसुदेवके लिए प्रदान कर सन्तोषको प्राप्त हुए ॥२६९॥ अनेक कलाओं और गुणोंमें चतुर उन सुन्दर स्त्रियोंके साथ वसुदेव वहाँ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥२७०॥ लोभसे भरा वैरी विद्याधर छिद्र पा जिसे हरकर आकाशमें बहुत दूर ले गया और वहांसे अशरण अवस्थामें जिसे कमल वनमें नीचे छोड़ा ऐसे पुरुषको भी जो शीघ्र ही उत्कृष्ट लाभोंसे युक्त करता है हे भव्यजनो ! तुम जिन-कथित मार्गमें उस एक धर्मरूप बन्धुको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो ॥२७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें गान्धर्वसेना कन्याका वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९॥

□

१. विवाहो मगधाधीशो (?) म. । २. वसुदेवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विंशतितमः सर्गः

अथापृच्छत्पृथुश्रीकः श्रेणिकोऽत्र गणेश्वरम् । कथं विष्णुकुमारेण विभो बलिरबध्यत ॥१॥
अभणीद्गणमुख्यश्च शृणु श्रेणिक ! वैष्णवीम् । दृष्टिशुद्धिकरीं श्रव्यां सत्कथां कथयामि ते ॥२॥
उज्जयिन्यां[1]मभूद्राजा श्रीधर्मा[2] नाम विश्रुतः । श्रीमती श्रीमती तस्य महादेवी महागुणा ॥३॥
चत्वारो मन्त्रिणश्चास्य मन्त्रमार्गविदो बलिः । बृहस्पतिश्च नमुचिः प्रह्लाद इति चाञ्चितः ॥४॥
अन्यदा श्रुतपारस्थः ससप्तशतसंयतः । आगत्याकम्पनस्तस्थौ बाह्योद्याने महामुनिः ॥५॥
वन्दनार्थं नृपो लोकं[3] निर्यान्तमिव सागरम् । प्रासादस्थस्तदालोक्य मन्त्रिणोऽपृच्छदित्यसौ ॥६॥
अकालयात्रया लोकः क्व यातीति ततो बलिः । राजन्नज्ञानिनो द्रष्टुं श्रमणानित्यवेदयत् ॥७॥
ततो जिगमिषू राजा निषिद्धोऽपि बलाद् ययौ । मन्त्रिणोऽपि सहागत्य दृष्ट्वा किंचिदवीवदन् ॥८॥
गुर्वादेशाच्च सङ्घोऽपि स्थितो मौनमुपाश्रितः । यान्तः प्रतिनिवृत्यामी संमुखं वीक्ष्य योगिनम् ॥९॥
[4]अनूनुदन्नृपाध्यक्षं मिथ्यामार्गविमोहिताः । प्रमाणमार्गतस्तान् स जिगाय श्रुतसागरः ॥१०॥
स्थितं प्रतिमया रात्रौ जिघांसूस्तांश्च तद्दिवा । देवतास्तम्भितान् दृष्ट्वा राजा देशादपाकरोत् ॥११॥
तदा नागपुरे चक्री महापद्म इतीरितः । अष्टौ च कन्यकास्तस्य ताश्च विद्याधरैर्हृताः ॥१२॥

अथानन्तर विशाल लक्ष्मीके धारक राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे पूछा कि हे विभो ! विष्णु कुमार मुनिने बलिको क्यों बाँधा था ? ॥१॥ इसके उत्तरमें गौतम गणपतिने कहा कि हे श्रेणिक ! तू सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेवाली विष्णुकुमार मुनिकी मनोहारिणी कथा सुन, मैं तेरे लिए कहता हूँ ॥२॥

किसी समय उज्जयिनी नगरमें श्रीधर्मा नामका प्रसिद्ध राजा रहता था। उसकी श्रीमती नामकी पटरानी थी। वह श्रीमती वास्तवमें श्रीमती—उत्तम शोभासे सम्पन्न और महा गुणवती थी ॥३॥ राजा श्रीधर्माके बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद ये चार मन्त्री थे। ये सभी मन्त्री मन्त्र मार्गके जानकार थे ॥४॥ किसी समय श्रुतके पारगामी तथा सात सौ मुनियोंसे सहित महामुनि अकम्पन आकर उज्जयिनीके बाह्य उपवनमें विराजमान हुए ॥५॥ उन महामुनिकी वन्दनाके लिए नगरवासी लोग सागरकी तरह उमड़ पड़े। महलपर खड़े हुए राजाने नगरवासियोंको देख मन्त्रियोंसे पूछा कि ये लोग असमयकी यात्रा द्वारा कहाँ जा रहे हैं ? तब बलिने उत्तर दिया कि हे राजन् ! ये लोग अज्ञानी दिगम्बर मुनियोंकी वन्दनाके लिए जा रहे हैं ॥६-७॥ तदनन्तर राजा श्रीधर्माने भी वहाँ जानेकी इच्छा प्रकट की। यद्यपि मन्त्रियोंने उसे बहुत रोका तथापि वह जबर्दस्ती चल ही पड़ा। अन्तमें विवश हो मन्त्री भी राजाके साथ गये और मुनियोंके दर्शन कर कुछ विवाद करने लगे ॥८-९॥ उस समय गुरुकी आज्ञासे सब मुनि संघ मौन लेकर बैठा था इसलिए ये चारों मन्त्री विवश होकर लौट आये। लौटकर आते समय उन्होंने सामने एक मुनिको देखकर राजाके समक्ष छेड़ा। सब मन्त्री मिथ्यामार्गमें मोहित तो थे ही इसलिए श्रुतसागर नामक उक्त मुनिराजने उन्हें जीत लिया ॥१०॥ उसी दिन रात्रिके समय उक्त मुनिराज प्रतिमा योगसे विराजमान थे कि सब मन्त्री उन्हें मारनेके लिए गये परन्तु देवने उन्हें कीलित कर दिया। यह देख राजाने उन्हें अपने देशसे निकाल दिया ॥११॥

उस समय हस्तिनापुरमें महापद्म नामक चक्रवर्ती रहता था। उसकी आठ कन्याएँ थीं

---

१. उज्जयिन्यां भवंद्राजा म. । २. श्रीधर्मो म. । ३. निर्यातमिव म. । ४. अनूनुदं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनीताः शुद्धशीलास्ताः संवेगिन्यः प्रवव्रजुः । तेऽपि संवेगिनोऽष्टौ च खेचराः तपसि स्थिताः ॥१३॥
चक्रवर्ती च तद्धेतोः पद्मं लक्ष्मीमतीसुतम् । ज्येष्ठं राज्ये निधायान्त्यदेहोऽदीक्षिष्ट विष्णुना ॥१४॥
तपो विष्णुकुमारोऽसौ रत्नत्रयधरस्तपन् । निधिर्बभूव लब्धीनां नदीनां वा नदीपतिः ॥१५॥
नवराज्यस्थमागत्य पद्मं बलिपुरोगमाः । मन्त्रिणोऽशिश्रियन् देशकालावस्थाविदस्तथा ॥१६॥
स्थितं सिंहबलं दुर्गे पद्मं बल्युपदेशतः । गृहीत्वाह गृहाणेष्टं वरीत्वेति [1]बलिं तदा ॥१७॥
तं प्रणम्य विदग्धोऽसौ हस्तन्यासं न्यधाद् वरम् । ततः संतोषिणां तेषां काले याति कदाचन ॥१८॥
आगत्याकम्पनाचार्यस्तदा नागपुरं शनैः । मुनीनामग्रहीद् योगं चातुर्मास्यावधिं बहिः ॥१९॥
ततस्ते मन्त्रिणो भीताः शङ्काविषमुपागताः । तदपाकरणोपायं चिन्तयन्ति स्म सस्मयाः ॥२०॥
अब्रवीद् बलिराश्रित्य पद्मं राजन् ! वरस्त्वया । दत्तः स दीयतां मेऽद्य राज्यं सप्तदिनावधि ॥२१॥
दत्तं गृहाण ते राज्यमित्युक्त्वाऽदृश्यवत्स्थितः । राज्यस्थोऽपि बलिस्तेषामुपद्रवमकारयत् ॥२२॥
यतीनभ्यन्तरीकृत्य परितोऽहर्निशं कृतम् [2] । पत्रधूमादिकोच्छिष्टशरावोत्सर्जनादिकम् ॥२३॥
उपसर्गसहास्तेऽपि कायोत्सर्गेण योगिनः । तस्थुः सालम्बमादाय प्रत्याख्यानं ससूरयः ॥२४॥
तस्मिन् काले गुरुर्विष्णोर्मिथिलायामवस्थितः । दिव्यज्ञानी जगौ ध्यात्वा स संयुक्तोऽनुकम्पया ॥२५॥

और आठ विद्याधर उन्हें हरकर ले गये थे। शुद्ध शीलको धारण करनेवाली वे कन्याएँ जब वापस लायी गयीं तो उन्होंने संसारसे विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। उधर संसारसे विरक्त हो वे आठ विद्याधर भी तप करने लगे ॥१२-१३॥ इस घटनासे चरमशरीरी महापद्म चक्रवर्ती भी संसारसे विरक्त हो गया जिससे उसने लक्ष्मीमती रानीसे उत्पन्न पद्म नामक बड़े पुत्रको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णु कुमारके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥१४॥ जिस प्रकार सागर नदियोंका भाण्डार होता है उसी प्रकार रत्नत्रयके धारी एवं तप तपनेवाले विष्णुकुमार मुनि अनेक ऋद्धियोंके भाण्डार हो गये ॥१५॥ देशकालकी अवस्थाको जाननेवाले बलि आदि मन्त्री नये राज्य पर आरूढ़ राजा पद्मकी सेवा करने लगे ॥१६॥ उस समय राजा पद्म, बलि मन्त्रीके उपदेशसे किलेमें स्थित सिंहबल राजाको पकड़नेमें सफल हो गया इसलिए उसने बलिसे कहा कि वर माँगकर इष्ट वस्तुको ग्रहण करो ॥१७॥ बलि बड़ा चतुर था इसलिए उसने प्रणाम कर उक्त वरको राजा पद्मके हाथमें धरोहर रख दिया अर्थात् 'अभी आवश्यकता नहीं है जब आवश्यकता होगी तब माँग लूँगा' यह कहकर अपना वर धरोहर रूप रख दिया। तदनन्तर बलि आदि चार मन्त्रियोंका सन्तोषपूर्वक समय व्यतीत होने लगा ॥१८॥

अथानन्तर किसी समय धीरे-धीरे विहार करते हुए अकम्पनाचार्य, अनेक मुनियोंके साथ हस्तिनापुर आये और चार माहके लिए वर्षायोग धारण कर नगरके बाहर विराजमान हो गये ॥१९॥ तदनन्तर शंकारूपी विषको प्राप्त हुए बलि आदि मन्त्री भयभीत हो गये और अहंकार के साथ उन्हें दूर करनेका उपाय सोचने लगे ॥२०॥ बलिने राजा पद्मके पास आकर कहा कि राजन् ! आपने मुझे जो वर दिया था उसके फलस्वरूप सात दिनका राज्य मुझे दिया जाये ॥२१॥ 'सँभाल, तेरे लिए सात दिनका राज्य दिया' यह कहकर राजा पद्म अदृश्यके समान रहने लगा। और बलिने राज्य सिंहासनपर आरूढ़ होकर उन अकम्पनाचार्य आदि मुनियोंपर उपद्रव करवाया ॥२२॥ उसने चारों ओरसे मुनियोंको घेरकर उनके समीप पत्तोंका धुआँ कराया तथा जूठन व कुल्हड़ आदि फिकवाये ॥२३॥ अकम्पनाचार्य सहित सब मुनि 'यदि उपसर्ग दूर होगा तो आहार-विहार करेंगे अन्यथा नहीं' इस प्रकार सावधिक संन्यास धारण कर उपसर्ग सहते हुए कायोत्सर्गसे खड़े हो गये ॥२४॥ उस समय विष्णुकुमार मुनिके अवधिज्ञानी गुरु मिथिला नगरीमें थे।

१. बलस्तदा म.। २. कृतः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्याकम्पनादीनां ससप्तशतयोगिनाम् । वर्त्ततेऽद्यत्तपूर्वोऽयमुपसर्गोऽद्य दारुणः ॥२६॥
क्षुल्लकः पुष्पदन्तस्तं क्व नाथेत्यतिसंभ्रमः । अप्राक्षीदित्यथ प्राह स हास्तिनपुरे स्फुटम् ॥२७॥
कुतोऽपवर्त्तते नाथ स इत्युक्ते जगौ गुरुः । प्राप्तवैक्रियसामर्थ्याद्विष्णोर्जिष्णोर्विधृष्यतः ॥२८॥
तस्मै स क्षुल्लको गत्वा तमुदन्तं न्यवेदयत् । विक्रियालब्धिसद्भावपरीक्षामकरोन्मुनिः ॥२९॥
बाहुः प्रसारितस्तेन गिरिभित्तौ विभिद्यताम् । [1]अरुद्धप्रसरो दूरं सहसाप्सु यथा तथा ॥३०॥
ज्ञातलब्धिपरिप्राप्तिर्जिनशासनवत्सलः । गत्वा पद्मं मुनिः प्राह प्रणतं प्रणतप्रियः ॥३१॥
पद्मराज ! किमारब्धं भवता राज्यवर्त्तिना । न वृत्तं कौरवेष्वत्र कदाचिदपि यद्भुवि ॥३२॥
अनार्यजनसंवृत्तमुपसर्गं तपस्विनाम् । निवर्त्तयेन्नृपस्तस्य प्रवृत्तिस्तु कुतस्ततः ॥३३॥
निर्वाप्यते ज्वलन्नाग्निर्जलेन सुमहानपि । उत्तिष्ठेद् यद्यसौ तस्मात्तस्य शान्तिः कुतोऽन्यतः ॥३४॥
[2]नन्वाज्ञाफलमैश्वर्यमाज्ञादुर्वृत्तशासनम् । ईश्वरः स्थाणुरप्युक्तः क्रियाशून्यो[3] यदीश्वरः ॥३५॥
तन्निवर्त्तय दुर्वृत्ताद्बलिमाशु पशूपमम् । प्रद्वेषः कोऽस्य मित्रारिसमभावेषु साधुषु ॥३६॥
साधोः शीतलशीलस्य[4] तापनं न हि शान्तये । गाढतप्तो दहत्येव तोयात्मा विकृतिं गतः ॥३७॥

वे अवधिज्ञानसे विचार कर तथा दयासे युक्त हो कहने लगे कि हा ! आज अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियोंपर अभूतपूर्व दारुण उपसर्ग हो रहा है ॥२५-२६॥ उस समय उनके पास पुष्पदन्त नामका क्षुल्लक बैठा था। गुरुके मुखसे उक्त दयार्द्र वचन सुन उसने बड़े सम्भ्रमके साथ पूछा कि हे नाथ ! वह उपसर्ग कहाँ हो रहा है ? इसके उत्तरमें गुरुने स्पष्ट कहा कि हस्तिनापुरमें॥२७॥ क्षुल्लकने पुनः कहा कि हे नाथ ! यह उपसर्ग किससे दूर हो सकता है ? इसके उत्तरमें गुरुने कहा कि जिसे विक्रिया ऋद्धिकी सामर्थ्य प्राप्त है तथा जो इन्द्रको भी धौंस दिखानेमें समर्थ है ऐसे विष्णुकुमार मुनिसे यह उपसर्ग दूर हो सकता है ॥२८॥ क्षुल्लक पुष्पदन्तने उसी समय जाकर विष्णुकुमार मुनिसे यह समाचार कहा और उन्होंने 'विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है या नहीं ?' इसकी परीक्षा की ॥२९॥ उन्होंने परीक्षाके लिए सामने खड़ी पर्वतकी दीवालके आगे अपनी भुजा फैलायी सो वह भुजा, पर्वतकी उस दीवालको भेदन कर बिना किसी रुकावटके दूर तक इस तरह आगे बढ़ती गयी जिस तरह मानो पानीमें ही बढ़ी जा रही हो ॥३०॥

तदनन्तर जिन्हें ऋद्धिकी प्राप्तिका निश्चय हो गया था, जो जिनशासनके स्नेही थे और नम्र मनुष्योंके लिए अत्यन्त प्रिय थे ऐसे विष्णुकुमार मुनि उसी समय विनयावनत राजा पद्मके पास जाकर उससे बोले कि हे पद्मराज ! राज्य पाते ही तुमने यह क्या कार्य प्रारम्भ कर रखा ? ऐसा कार्य तो रघुवंशियोंमें पृथिवीपर कभी हुआ ही नहीं ॥३१-३२॥ यदि कोई दुष्टजन तपस्वीजनोंपर उपसर्ग करता है तो राजाको उसे दूर करना चाहिए। फिर राजासे ही इस उपसर्गकी प्रवृत्ति क्यों हो रही है ? ॥३३॥ हे राजन् ! जलती हुई अग्नि कितनी ही महान् क्यों न हो अन्तमें जलके द्वारा शान्त कर दी जाती है फिर यदि जलसे ही अग्नि उठने लगे तो अन्य किस पदार्थसे उसकी शान्ति हो सकती है ? ॥३४॥ निश्चयसे ऐश्वर्य, आज्ञारूप फलसे सहित है अर्थात् ऐश्वर्यका फल आज्ञा है और आज्ञा दुराचारियोंका दमन करना है, यदि ईश्वर—राजा इस क्रियासे शून्य है—दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ नहीं है तो फिर ऐसे ईश्वरको स्थाणु—ठूँठ भी कहा है अर्थात् वह नाममात्रका ईश्वर है ॥३५॥ इसलिए पशुतुल्य बलिको इस दुष्कार्यसे शीघ्र ही दूर करो। मित्र और शत्रुओंपर समान भाव रखनेवाले मुनियोंपर इसका यह द्वेष क्या है ? ॥३६॥ शीतल स्वभावके धारक साधुको सन्ताप पहुँचाना शान्तिके लिए नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अधिक तपाया हुआ पानी विकृत होकर जला ही देता है उसी प्रकार अधिक

१. अरुद्धः प्रसरः म. । २. न त्वाज्ञा म. । ३. उक्तक्रियाशून्यो म. । ४. शीतलशीतस्थ म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीराः प्रच्छन्नसामर्थ्या [1]गाढावष्टब्धमूर्त्तयः । साधवोऽपि कदाचित् स्युर्दाहका ननु चाग्निवत् ॥३८॥
तेन ते यावदायाति नापायो वल्युपेक्षणम् । नृप ! तावन्निवर्त्तस्व मोपेक्षस्व स्वतोऽन्यतः ॥३९॥
पद्मस्ततो नतः प्राह नाथ ! राज्यं मया वलेः । सप्ताहावधिकं दत्तं नाधिकारोऽधुनात्र मे ॥४०॥
त्वमेव भगवन् ! गत्वा शाधि ते कुरुते वचः । वलिर्दीक्षिण्यतोऽक्षूणादित्युक्ते वलिमाप सः ॥४१॥
आह चैनमथो साधो ! किं दिनार्द्धनिमित्तकम् । संवर्द्धनमधर्मस्य कुरुषे कर्म गर्हितम् ॥४२॥
तपःकर्मैकनिष्ठैस्तैः किमनिष्टमनुष्ठितम् । वरिष्ठेन त्वया येषु कनिष्ठेनेव यत्कृतम् ॥४३॥
स्वकर्मबन्धभीरुत्वान्नान्यानिष्टं कदाचन । तपस्विनो विचेष्टन्ते मनोवाक्कायकर्ममिः ॥४४॥
तदित्थमुपशान्तेषु न ते युक्तं दुरीहितम् । उपसंहर शान्त्यर्थमुपसर्गं प्रमादजम् ॥४५॥
ततो वलिरुवाचामी यान्ति मे यदि राज्यतः । तदा निरुपसर्गः स्यादन्यथा तदवस्थितिः ॥४६॥
विष्णुरूचे स्वयोगस्था न यान्ति पदमप्यतः । कुर्वन्त्यमी तनुत्यागं न व्यवस्थितिलङ्घनम् ॥४७॥
अनुमन्यस्व मे भूमिं स्थातुं तेषां पदत्रयम् । मातिकर्कशमात्मानं कुर्वयाचकयाचितः ॥४८॥
अनुमन्याब्रवीदित्थं तद्बहिः परमप्यमी । यद्यतीयुस्ततो दण्ड्या न मे दोषोऽत्र विद्यते ॥४९॥
तदा हि पुरुषो लोके प्रत्यवायेन युज्यते । यदा प्रच्यवते वाक्यात् न तु वाक्यस्य पालकः ॥५०॥

दुःखी किया हुआ साधु विकृत होकर जला ही देता है—शाप आदिसे नष्ट ही कर देता है ॥३७॥ जो धीर-वीर हैं, जिनकी सामर्थ्य छिपी हुई है और जिन्होंने अपने शरीरको अच्छी तरह वश कर लिया है ऐसे साधु भी कदाचित् अग्निके समान दाहक हो जाते हैं ॥३८॥ इसलिए हे राजन् ! जबतक तुम्हारे ऊपर कोई बड़ा अनिष्ट नहीं आता है तबतक तुम वलिके इस कुकृत्यके प्रति की जानेवाली अपनी उपेक्षाको दूर करो। स्वयं अपने तथा आश्रित रहनेवाले अन्य जनोंके प्रति उपेक्षा न करो ॥३९॥

तदनन्तर राजा पद्मने नम्रीभूत होकर कहा कि हे नाथ ! मैंने वलिके लिए सात दिनका राज्य दे रखा है इसलिए इस विषयमें मेरा अधिकार नहीं है ॥४०॥ हे भगवन् ! आप स्वयं ही जाकर उसपर शासन करें। आपके अखण्ड चातुर्यसे वलि अवश्य ही आपकी बात स्वीकृत करेगा। राजा पद्मके ऐसा कहनेपर विष्णुकुमार मुनि वलिके पास गये ॥४१॥ और बोले कि हे भले आदमी ! आधे दिनके लिए अधर्मको बढ़ानेवाला यह निन्दित कार्य क्यों कर रहा है ? ॥४२॥ अरे ! एक तपरूप कार्यमें ही लीन रहनेवाले उन मुनियोंने तेरा क्या अनिष्ट कर दिया जिससे तूने उच्च होकर भी नीचकी तरह उनपर यह कुकृत्य किया ॥४३॥ अपने कर्मबन्धसे भीरु होनेके कारण तपस्वी मन, वचन, कायसे कभी दूसरेका अनिष्ट नहीं करते ॥४४॥ इसलिए इस तरह शान्त मुनियोंके विषयमें तुम्हारी यह दुश्चेष्टा उचित नहीं है। यदि शान्ति चाहते हो तो शीघ्र ही इस प्रमादजन्य उपसर्गका संकोच करो ॥४५॥ तदनन्तर वलिने कहा कि यदि ये मेरे राज्यसे चले जाते हैं तो उपसर्ग दूर हो सकता है अन्यथा उपसर्ग ज्योंका-त्यों बना रहेगा ॥४६॥ इसके उत्तरमें विष्णुकुमार मुनिने कहा कि ये सब आत्मध्यानमें लीन हैं इसलिए यहाँसे एक डग भी नहीं जा सकते। ये अपने शरीरका त्याग भले ही कर देंगे पर व्यवस्थाका उल्लंघन नहीं कर सकते ॥४७॥ उन मुनियोंके ठहरनेके लिए मुझे तीन डग भूमि देना स्वीकृत करो। अपने आपको अत्यन्त कठोर मत करो। मैंने कभी किसीसे याचना नहीं की फिर भी इन मुनियोंके ठहरनेके निमित्त तुमसे तीन डग भूमिकी याचना करता हूँ अतः मेरी बात स्वीकृत करो ॥४८॥ विष्णुकुमार मुनिकी बात स्वीकृत करते हुए वलिने कहा कि यदि ये उस सीमाके बाहर एक डगका भी उल्लंघन करेंगे तो दण्डनीय होंगे इसमें मेरा अपराध नहीं है ॥४९॥ क्योंकि लोकमें मनुष्य तभी आपत्तिसे युक्त होता है जब वह अपने

१. सुगाढा बद्ध -म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं छलव्यवहारस्थमविनेयमनार्जवम् । दुष्टाहिमिव दुःशीलं वशीकर्त्तुं प्रचक्रमे ॥५१॥
मिनोमि पाप ! पश्य त्वं पदत्रयमितीरयन् । व्यजृम्भत महाकायो ज्योतिःपटलमास्पृशन् ॥५२॥
मेरावेकक्रमो न्यस्तो द्वितीयो मानुषोत्तरे । अलाभादवकाशस्य तृतीयोऽभ्रमदम्बरे ॥५३॥
तदा विष्णोः प्रभावेण क्षुभिते भुवनत्रये । किं किमेतदितिध्वाना जाताः किंपुरुषादयः ॥५४॥
अनुकर्णं मुनेस्तस्य वीणावंशादिवादिनः । मृदुगीताः सनारीकाः जगुर्गन्धर्वपूर्वकाः ॥५५॥
तस्य रक्ततलः पादो भ्रमन् स्वैरं नभस्यभात् । संगीतकिन्नरादिस्त्रीमुखाब्जनखदर्पणः ॥५६॥
संक्षोभं मनसो विष्णो प्रभो संहर संहर । तपःप्रभावतस्तेऽद्य चलितं भुवनत्रयम् ॥५७॥
देवैर्विद्याधरैर्वीरैः श्रव्यगान्धर्ववीणिभिः । सिद्धान्तगीतिकागानैरुच्चैराकाशचारणैः ॥५८॥
इति प्रसाद्यमानोऽसौ शनैः संहृत्य विक्रियाम् । स्वभावस्थोऽभवद्भानुर्यथोत्पातशमेस्थितः ॥५९॥
उपसर्गं विनाश्याशु वलिं बद्ध्वा सुरास्तदा । विनिगृह्य दुरात्मानं देशाद् दूरं निराकिरन् ॥६०॥
वीणावोत्तरश्रेणौ खगानां किन्नरैः कृता । सिद्धकूटे महाघोषा सुघोषा दक्षिणे तटे ॥६१॥
कृत्वा शासनवात्सल्यमुपसर्गविनाशनात् । विष्णुः स्वगुरुपादान्ते विक्रियाशल्यमुज्जहौ ॥६२॥

वचनसे च्युत हो जाता है। अपने वचनका पालन करनेवाला मनुष्य लोकमें कभी आपत्तियुक्त नहीं होता ॥५०॥

तदनन्तर जो कपट-व्यवहार करनेमें तत्पर था, शिक्षाके अयोग्य था, कुटिल था और दुष्ट साँपके समान दुष्ट स्वभावका धारक था ऐसे उस वलिको वश करनेके लिए विष्णुकुमार मुनि उद्यत हुए ॥५१॥ 'अरे पापी ! देख, मैं तीन डग भूमिको नापता हूँ' यह कहते हुए उन्होंने अपने शरीरको इतना बड़ा बना लिया कि वह ज्योतिष्पटलको छूने लगा ॥५२॥ उन्होंने एक डग मेरुपर रखी दूसरी मानुषोत्तरपर और तीसरी अवकाश न मिलनेसे आकाशमें ही घूमती रही ॥५३॥ उस समय विष्णुके प्रभावसे तीनों लोकोंमें क्षोभ मच गया। किम्पुरुष आदि देव 'क्या है ? क्या है ?' यह शब्द करने लगे ॥५४॥

वीणा-बाँसुरी आदि बजानेवाले कोमल गीतोंके गायक गन्धर्वदेव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ उन मुनिराजके समीप मनोहर गीत गाने लगे ॥५५॥ लाल-लाल तलुएसे सहित एवं आकाशमें स्वच्छन्दतासे घूमता हुआ उनका पैर अत्यधिक सुशोभित हो रहा था और उसके नख संगीतके लिए इकट्ठी हुई किन्नरादि देवोंकी स्त्रियोंको अपना-अपना मुख-कमल देखनेके लिए दर्पणके समान जान पड़ते थे ॥५६॥ 'हे विष्णो ! हे प्रभो ! मनके क्षोभको दूर करो, दूर करो, आपके तपके प्रभावसे आज तीनों लोक चल-विचल हो उठे हैं' इस प्रकार मधुर गीतोंके साथ वीणा बजानेवाले देवों, धीर-वीर विद्याधरों तथा सिद्धान्त शास्त्रकी गाथाओंको गानेवाले एवं बहुत ऊँचे आकाशमें विचरण करनेवाले चारण ऋद्धिधारी मुनियोंने जब उन्हें शान्त किया तब वे धीरे-धीरे अपनी विक्रियाको संकोच कर उस तरह स्वभावस्थ हो गये—जिस तरह कि उत्पातके शान्त होनेपर सूर्य स्वभावस्थ हो जाता है—अपने मूल रूपमें आ जाता है ॥५७-५९॥ उस समय देवोंने शीघ्र ही मुनियोंका उपसर्ग दूर कर दुष्ट वलिको बाँध लिया और उसे दण्डित कर देशसे दूर कर दिया ॥६०॥ उस समय किन्नरदेव तीन वीणाएँ लाये थे उनमें घोषा नामकी वीणा तो उत्तर-श्रेणीमें रहनेवाले विद्याधरोंको दी। महाघोषा सिद्धकूटवासियोंको और सुघोषा दक्षिणतटवासी विद्याधरोंको दी ॥६१॥ इस प्रकार उपसर्ग दूर करनेसे जिनशासनके प्रति वत्सलता प्रकट करते हुए विष्णुकुमार मुनिने सीधे गुरुके पास जाकर प्रायश्चित्त द्वारा विक्रियाको शल्य छोड़ी ॥६२॥

---

१. यथोत्पातः समोत्थितः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपो घोरमसौ कृत्वा कृत्वान्तं घातिकर्मणाम् । विहृत्य केवली विष्णुर्मोक्षमन्ते ययौ विभुः ॥६३॥
इदं विष्णुकुमारस्य चरितं [1]दुरिताशनम् । यः शृणोति जनो भक्त्या दृष्टिशुद्धिं श्रयेत सः ॥६४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वस्थानाच्चलयेदलं गुरुतरान् कामन्दरान्मन्दरां-
श्चन्द्रार्कानपि [2]पातयेत्करबलव्यापारतः [3]पारतः ।
तोयेशान् विकिरेदुपप्लवयुतान्निर्मुक्तये मुक्तये
साधुः स्यात् किमु दुष्करं जिनतपःश्रीयोगिनां योगिनाम् ॥६५॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ विष्णुकुमारमाहात्म्यवर्णनो नाम विंशः सर्गः ॥२०॥

□

स्वामी विष्णुकुमार, घोर तपश्चरण कर तथा घातिया कर्मोंका क्षय कर केवली हुए और विहार कर अन्तमें मोक्षको प्राप्त हुए ॥६३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो मनुष्य विष्णुकुमार मुनिके इस पापापहारी चरितको भक्तिपूर्वक सुनता है वह सम्यग्दर्शनकी शुद्धिको प्राप्त होता है ॥६४॥ साधु चाहे तो अतिशय विशाल मन्दराचलोंको भी स्वेच्छानुसार भयसे अपने स्थानसे विचलित कर सकता है, हथेलियोंके व्यापारसे सूर्य और चन्द्रमाको भी आकाशसे नीचे गिरा सकता है, उपद्रवोंसे युक्त लहराते हुए समुद्रोंको भी बिखेर सकता है और जो मुक्तिका पात्र नहीं है उसे भी मुक्ति प्राप्त करा सकता है, सो ठीक ही है क्योंकि जिनशासन प्रणीत तपोलक्ष्मीके धारक योगियोंके लिए क्या कठिन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥६५॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें विष्णुकुमारका वर्णन करनेवाला बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२०॥

□

१. दुरितनाशनम् म. । २. पातयेऽम्बरतल -म. । ३. व्यापारतोपारतः क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकविंशतितमः सर्गः

अथ गान्धर्वसेनां तां कथंचित्खेचरान्वयाम् । अतिराजविभूतिं च चारुदत्तं निरूप्य सः ॥१॥
चारुगोष्ठीसुखास्वादश्चारुदत्तं यदूत्तमः । उदारचरितोऽपृच्छदुदारचरितप्रियः ॥२॥
[1]प्रतीक्ष्य कथमीदृश्यः सादृश्यपरिवर्जिताः । दैवपौरुषसूचिन्यः संपदो भवतार्जिताः ॥३॥
वद विद्याधरी चेयं कुतः स्तुत्या तवास्पदे । न्यवसद् वसुमिः पूर्णे वर्षत्कर्णामृतं मम ॥४॥
इति पृष्टोऽवदत्सोऽस्मै प्रहृष्टमतिरादरात् । साधु पृष्टमिदं धीर ! वच्मि ते शृणु वृत्तकम् ॥५॥
आसीदत्रैव वैश्येशश्चम्पायां सुमहाधनः । भानुदत्त इति ख्यातः सुभद्रा तस्य भामिनी ॥६॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धिनानाणुव्रतधारिणोः । काले याति सुखाम्भोधिमग्नयोर्यौवनस्थयोः ॥७॥
चिरायति तयोश्चित्तनयनामृतवर्षिणि । साक्षाद्गृहिफले श्रीमदपत्यमुखपङ्कजे ॥८॥
अर्हदायतने पूजां कुर्वाणावन्यदा च तौ । चारणश्रमणं दृष्ट्वा पुत्रोत्पत्तिमपृच्छताम् ॥९॥
अचिरेणैव तेनापि यतिना कृपया तयोः । प्रधानसुतसंभूतिरादिष्टा पृष्टमात्रतः ॥१०॥
उत्पन्नश्चाचिरेणाहं तयोः प्रीतिकरः सुतः । चारुदत्ताभिधानश्च कृतः कृतमहोत्सवः ॥११॥
कृताणुव्रतदीक्षश्च ग्राहितः सकलाः कलाः । बालचन्द्रः परां वृद्धिं बान्धवाम्भोनिधेरधात् ॥१२॥

अथानन्तर जिन्हें उत्तमोत्तम गोष्ठियोंके सुखका स्वाद था, जो स्वयं उदार चरितके धारक थे और उदारचरितके धारक मनुष्योंके लिए अत्यन्त प्रिय थे ऐसे यदुवंशशिरोमणि वसुदेव, किसी तरह विद्याधरोंके कुलमें उत्पन्न गान्धर्वसेनाको एवं राजाओंकी विभूतिको तिरस्कृत करनेवाले चारुदत्तको देखकर उनसे पूछने लगे कि—हे पूज्य ! जो अपनी तुलना नहीं रखतीं तथा जो आपके भाग्य और पुरुषार्थ दोनोंको सूचित करनेवाली हैं ऐसी ये सम्पदाएँ आपने किस तरह प्राप्त कीं ? कहिए कि यह प्रशंसनीय विद्याधरी, धन-धान्यसे परिपूर्ण आपके भवनमें निवास करती हुई मेरे कानोंमें अमृतकी वर्षा क्यों कर रही है ? ॥१–४॥ वसुदेवके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर चारुदत्त बहुत ही प्रसन्न हुआ और आदरके साथ कहने लगा कि हे धोर ! तुमने यह ठीक पूछा है । अच्छा, ध्यानसे सुनो मैं तुम्हारे लिए अपना वृत्तान्त कहता हूँ ॥५॥

इसी चम्पापुरीमें अतिशय धनाढ्य भानुदत्त नामक वैश्यशिरोमणि रहता था । उसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था ॥६॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताके साथ नाना अणुव्रतोंको धारण करनेवाले सुखरूपी सागरमें निमग्न एवं पूर्ण यौवनसे सुशोभित उन दोनोंका समय सुखपूर्वक बीत रहा था ॥७॥ तदनन्तर किसी समय जब कि उन दोनोंके चित्त और नेत्रोंके लिए अमृत बरसानेवाला एवं गृहस्थीका साक्षात् फलस्वरूप, भाग्यशाली पुत्रका मुख कमल विलम्ब कर रहा था अर्थात् उन दोनोंके जब पुत्र उत्पन्न होनेमें विलम्ब दीखा तब वे दोनों मन्दिरमें पूजा कर रहे थे उसी समय चारणऋद्धिधारी मुनिके दर्शन कर उन्होंने उनसे पुत्रोत्पत्तिकी बात पूछी ॥८–९॥ पूछते ही उन मुनिराजने दोनों दम्पतियोंपर दया कर कहा कि तुम्हारे शीघ्र ही उत्तम पुत्रकी उत्पत्ति होगी ॥१०॥ और कुछ ही समय बाद उन दोनों दम्पतियोंके आनन्दको बढ़ानेवाला मैं पुत्र हुआ । मेरा चारुदत्त नाम रखा गया तथा मेरे जन्मका बड़ा उत्सव मनाया गया ॥११॥ अणुव्रतोंकी दीक्षाके साथ-साथ जिसे समस्त कलाएँ ग्रहण करायी गयी थीं ऐसा वह बालकरूपी चन्द्रमा परिवाररूपी समुद्रकी वृद्धि करने लगा । भावार्थ—वह बालक ज्यों-ज्यों कलाओंको ग्रहण करता जाता था त्यों-त्यों

---

१. पूज्य !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वराहगोमुखाभिख्यहरिसिंहतमोऽन्तकाः । मरुभूतिरिति प्रीता वयस्या मेऽभवंस्तदा ॥१३॥
तैः सह क्रीडया यातो निम्नगां रत्नमालिनीम् । [1]अपादोपहतं पश्यन् दम्पत्योः पुलिने पदम् ॥१४॥
जातविद्याधराशङ्काः प्रगत्यानुपदं च तम् । रतशय्यामपश्याम श्यामले कदलीगृहे ॥१५॥
रतिव्यतिकरम्लानपुष्पपल्लवतल्पतः । अल्पमन्तरमन्विष्य सुमहागहनं वनम् ॥१६॥
दृष्टो विद्याधरो वृक्षे कीलितो लोहकीलकैः । [2]पार्श्वखेटकखड्गाग्रव्यग्ररक्तनिरीक्षणः ॥१७॥
तिस्रः खेटकसंगूढा गृहीत्वौषधिवर्त्तिकाः । चालनोत्कीलनोन्मूलव्रणरोहाः कृता मया ॥१८॥
निःकीलो निर्व्रणश्चासौ गृहीत्वा खड्गखेटकौ । निरुत्तरः खमुत्पत्य दधावोत्तरया दिशा ॥१९॥
प्रलापानुपदं गत्वा ह्रियमाणां द्विषा प्रियाम् । विमोच्यादाय तामेत्य मामवोचन्महादरः ॥२०॥
भद्र ! दत्ता यथा प्राणा म्रियमाणाय मे त्वया । तथैव दीयतामाज्ञा[3] वद किं विदधामि ते ॥२१॥
वैताढ्येऽस्ति नृपः श्रेण्यां दक्षिणस्यां हि दक्षिणः । महेन्द्रविक्रमो नाम्ना नगरे शिवमन्दिरे ॥२२॥
तस्यामितगतिर्नाम्ना तनयोऽहमतिप्रियः । मित्रं मे धूमसिंहश्च गौरमुण्डश्च खेचरः ॥२३॥
ह्रीमन्तं पर्वतं ताभ्यामागतेन मयान्यदा । यौवनश्रियमारूढा दृष्टा तापसकन्यका ॥२४॥
हिरण्यरोमतनया शिरीषसुकुमारिका । जहार हृदयं हृद्या नाम्ना मे सुकुमारिका ॥२५॥

बन्धुजनोंका हर्षरूपी सागर वृद्धिगत होता जाता था ॥१२॥ उस समय वराह, गोमुख, हरिसिंह, तमोऽन्तक और मरुभूति ये पाँच मेरे मित्र थे जो मुझे अतिशय प्रिय थे ॥१३॥ एक बार उन मित्रोंके साथ क्रीड़ा करता हुआ मैं रत्नमालिनी नदी गया। वहाँ मैंने किनारेपर किसी दम्पतीका एक ऐसा स्थान देखा जिसपर पहुँचनेके लिए पैरोंके चिह्न नहीं उछले थे ॥१४॥ हम लोगोंको विद्याधर दम्पतीकी आशंका हुई इसलिए कुछ और आगे गये। वहाँ जाकर हम लोगोंने हरे-भरे कदली गृहमें उस विद्याधर दम्पतीकी रति-शय्या देखी ॥१५॥ रति सम्बन्धी कार्यसे जिसके फूल और पल्लव मुरझा रहे थे ऐसी उस रतिशय्यासे कुछ दूर आगे चलनेपर एक बड़ा सघन वन दिखा ॥१६॥ वहाँ एक वृक्षपर लोहकी कीलोंसे कीलित एक विद्याधर दिखाई दिया। उस विद्याधरके लाल-लाल नेत्र समीपमें पड़ी हुई ढाल और तलवारके अग्रभागमें व्यग्र थे अर्थात् वह बार-बार उन्हींकी ओर देख रहा था ॥१७॥ उसके इस संकेतसे मैंने ढालके नीचे छिपी हुई चालन, उत्कीलन और उन्मूलव्रणरोह नामक तीन दिव्य ओषधियाँ उठा लीं। और चालन नामक ओषधिसे मैंने उस विद्याधरको चलाया, उत्कीलन नामक ओषधिसे उसे कीलरहित किया तथा उन्मूलनव्रणरोह नामक ओषधिसे कील निकालनेका घाव भर दिया ॥१८॥ ज्यों ही वह विद्याधर कीलरहित एवं घावरहित हुआ त्यों ही ढाल और तलवार लेकर चुपचाप आकाशमें उड़ा और उत्तर दिशाकी ओर दौड़ा ॥१९॥ जिस ओरसे रोनेका शब्द आ रहा था वह उसी ओर दौड़ता गया और शत्रुके द्वारा हरी हुई अपनी प्रियाको छुड़ा लाया। प्रियाको लाकर वह वहीं आया और बड़े आदरके साथ मुझसे बोला कि हे भद्र ! जिस प्रकार आज मुझ मरते हुएके लिए आपने प्राण दिये हैं उसी प्रकार आज्ञा दीजिए। कहिए मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ ? ॥२०-२१॥

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक शिवमन्दिर नामका नगर है। उसमें महेन्द्रविक्रम नामका सरल राजा है। उसी महेन्द्रविक्रम राजाका मैं अतिशय प्यारा अमितगति नामका पुत्र हूँ। धूमसिंह और गौरमुण्ड नामके दो विद्याधर मेरे मित्र हैं ॥२२-२३॥ किसी समय उन दोनों मित्रोंके साथ मैं ह्रीमन्त नामक पर्वतपर आया। वहाँ एक हिरण्यरोम नामका तापस रहता था। उसकी पूर्ण यौवनवती एवं शिरीषके फूलके समान सुकुमार सुकुमारिका नामकी सुन्दर कन्या थी।

१. आपदोपहतं म., घ. । २. पार्श्वे खेटक- म. । ३. -माज्ञां म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाढाकल्पकशल्याय पित्रा मे याचिता च सा । संवृत्तश्चोभयोराशु विवाहः परमोत्सवः ॥२६॥
धूमसिंहोऽपि चामुष्यां साभिलाषोऽभिलक्षितः । अप्रमत्ततया चाहं विहरामि तया सदा ॥२७॥
रममाणोऽद्य तेनाहं कीलितो मोचितस्त्वया । हृतासौ मोचिता शत्रोर्मयेयं सुकुमारिका ॥२८॥
तदेष योज्यतामद्य जनः कर्मणि वाञ्छिते । वयोज्येष्ठोऽपि तं कुर्वे प्राणदस्यानुवर्त्तनम् ॥२९॥
भवतोद्धृतशल्यं मां जीवन्तमिह जन्मनि । कृतप्रत्युपकारं ते प्रतीह्युद्धृतशल्यकम् ॥३०॥
इति प्रियंवदोऽवादि स्त्रीसखः खेचरो मया । कृतं कृतं हि मे सर्वं त्वया सद्भावदर्शिना ॥३१॥
शुद्धं दर्शयता भावं वद किं न कृतं त्वया । तदेवोपकृतं पुंसां यत् सद्भावदर्शनम् ॥३२॥
पुण्यवान् ननु पूज्योऽहं तत्त्वानघदर्शनम् । जातं मे सुलभं लोके सामान्यनरदुर्लभम् ॥३३॥
सर्वसाधारणं नृणामवस्थान्तरवर्तनम्[1] । त्वं विषण्णमना मा भूः कीलितोऽस्मीति वैरिणा ॥३४॥
उपकारमतिस्तात ! यदि मां प्रति ते ततः । मय्यपत्यमतिः कार्या त्वया नित्यमितीरिते ॥३५॥
वाढमित्यभिधायासौ नाम गोत्रं च मे ततः । पृष्ट्वाभिधाय [2]मापृच्छ्य स्त्रीसखः स खमुद्ययौ ॥३६॥
प्रविष्टाश्च वयं चम्पां विद्याधरकथारताः । दृष्टश्रुतानुभूतं हि नवं धृतिकरं नृणाम् ॥३७॥
[3]ऊढा च यौवनस्थेन नाम्ना मित्रवती मया । सर्वार्थस्य सुमित्राया मातुलस्य तनूभवा ॥३८॥
शास्त्रव्यसनिनो मेऽभूच्चात्मस्त्रीविषयेऽपि धीः । शास्त्रव्यसनमन्येषां व्यसनानां हि बाधकम् ॥३९॥

वह मेरे देखनेमें आयी और देखते ही साथ उसने मेरा मन हर लिया ॥२४-२५॥ मैं वहाँसे चला तो आया परन्तु उसकी प्राप्तिकी उत्कण्ठारूप शल्य मेरे मनमें बहुत गहरी लग गयी। अन्तमें पिताने मेरे लिए उस कन्याकी याचना की और शीघ्र ही दोनोंका बड़े उत्सवके साथ विवाह हो गया ॥२६॥ चूँकि मुझे दिखा कि मेरा मित्र धूमसिंह भी इस सुकुमारिकाको पानेकी अभिलाषा रखता है इसलिए मैं सदा प्रमादरहित होकर इसके साथ विहार करता हूँ ॥२७॥ परन्तु आज मैं इसके साथ रमण कर रहा था कि वह धूमसिंह मुझे कीलित कर इस सुकुमारिकाको हर ले गया। आपने मुझे छुड़ाया और मैं इसे शत्रुसे छुड़ा लाया हूँ ॥२८॥ इसलिए आज इस जनको (मुझे) इच्छित कार्यमें लगाइए। क्योंकि आप मेरे प्राणदाता हैं इसलिए अवस्थामें ज्येष्ठ होनेपर भी मैं आपकी सेवा करूँगा ॥२९॥ यद्यपि आपने मेरी शल्य निकालकर मुझे जीवित किया है तथापि यथार्थमें मेरी शल्य तभी निकलेगी जब मैं आपका प्रत्युपकार कर लूँगा ॥३०॥

इस प्रकार स्त्रीसहित मधुर वचन बोलनेवाले उस विद्याधरसे मैंने कहा कि जब आप मेरे प्रति इस तरह शुभ भाव दिखला रहे हैं तब मेरा सब काम हो चुका। कहिए शुद्ध अभिप्रायको दिखाते हुए आपने मेरा क्या नहीं किया है ? मनुष्योंको जो शुभ भावको दिखाना है वही तो उनका उपकार है ॥३१-३२॥ हे निष्पाप ! निश्चयसे मैं आज पुण्यवान् और पूज्य हुआ हूँ क्योंकि-संसारमें अन्य सामान्य मनुष्योंके लिए दुर्लभ आपका दर्शन मुझे सुलभ हुआ है ॥३३॥ मनुष्योंकी अवस्थाओंका पलटना सर्वसाधारण बात है इसलिए मैं शत्रुके द्वारा कीलित हुआ। यह सोचकर आप खिन्नचित्त न हों ॥३४॥ हे तात ! यदि आपकी मेरे प्रति उपकार करनेकी भावना ही है तो आप मुझे सदा अपना पुत्र समझिए। इस प्रकार मेरे कहनेपर उसने कहा कि बहुत ठीक है। तदनन्तर वह मेरा नाम और गोत्र पूछकर स्त्री सहित आकाशमें उड़ गया ॥३५-३६॥ और हम लोग उसी विद्याधरकी कथा करते हुए चम्पा नगरीमें प्रविष्ट हुए सो ठीक ही है क्योंकि देखी-सुनी और अनुभवमें आयी नूतन वस्तु ही मनुष्योंको सुखदायक होती है ॥३७॥

तरुण होनेपर मैंने अपने मामा सर्वार्थकी सुमित्रा स्त्रीसे उत्पन्न मित्रवती नामक कन्याके साथ विवाह किया ॥३८॥ क्योंकि मुझे शास्त्रका व्यसन अधिक था इसलिए अपनी स्त्रीके विषयमें

१. वर्धनं म. । २. मां पृच्छ्य क., ख., ग., घ. । मा = माम् + आपृच्छ्य, इतिच्छेदः । ३. रूढा घ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुद्रदत्तः पितृव्यो मे बहुव्यसनसक्तधीः । संमान्य योजितो मात्रा कामुकव्यवहारवित् ॥४०॥
आसीत्कलिङ्गसेनात्र गणिका गणनायिका । सुता वसन्तसेनास्या वसन्तश्रीरिव श्रिया ॥४१॥
कन्यासौ नृत्यगीतादिकलाकौशलशालिनी । सौरूप्यस्य परा कोटिर्यौवनस्य नवोन्नतिः ॥४२॥
नृत्यारम्भेऽन्यदा तस्या रुद्रदत्तेन संगतः । ससाहित्यजनाकीर्णे स्थितोऽहं नृत्यमण्डपे ॥४३॥
सूचिनाटकसूच्यग्रे सा जातिमुकुलाञ्जलिम् । व्यकिरत् [1]प्रविकासं च प्राप्तेषु मुकुलेषु च ॥४४॥
सुष्ठुकारे प्रयुक्तेऽस्याः कैश्चित्साहित्यवर्त्तिभिः । मया विकासकालज्ञमालाकारस्य योजिते ॥४५॥
तस्या दत्ते बुधैस्तस्मिन्नङ्गुष्ठेऽभिनये कृते । नापितस्य मया दत्ते नखमण्डलशोधिनः ॥४६॥
कुक्षेर्गोर्मक्षिकायाश्च व्युदासाभिनये कृते । पूर्ववत् तैः कृते प्राप्तगोपालस्य मया पुनः ॥४७॥
रसभावविवेकस्य व्यञ्जिका सा च संप्रति । सुष्ठुकारमदात्प्रीता स्वाङ्गुलिस्फोटकारिणी ॥४८॥
ततः सर्वस्य लोकस्य पश्यतो मम संमुखम् । ननाट नाटकं हारि साऽनुरागवशा च सा ॥४९॥
उपसंहृतनृत्या च निजप्रासादवर्त्तिनी । स्वमात्रेऽकथयद्भावमिति साकल्पकातुरा ॥५०॥
इह जन्मनि मे मातश्चारुदत्तात्परस्य न । संकल्पस्तेन तेनारं मां योजयितुमर्हसि ॥५१॥
माता ज्ञात्वा सुताचित्तं चारुदत्तस्य योजने । दानमानादिनाभ्यर्च्य रुद्रदत्तमयोजयत् ॥५२॥
तेन चाहमुपायेन पृष्ठतश्चाग्रतः पथि । गजौ प्रयोज्य तद्वेश्यावेश्म जातु प्रवेशितः ॥५३॥

मेरी कुछ भी रुचि नहीं थी सो ठीक ही है क्योंकि शास्त्रका व्यसन अन्य व्यसनोंका बाधक है ॥३९॥ मेरा एक रुद्रदत्त नामका काका था जो अनेक व्यसनोंमें आसक्त था तथा कामीजनोंके समस्त व्यवहारको जाननेवाला था। मेरी माताने उसे मेरे साथ लगा दिया ॥४०॥ इसी चम्पा नगरीमें एक कलिंगसेना नामकी वेश्या थी जो समस्त वेश्याओंकी शिरोमणि थी और उसकी वसन्तसेना नामकी पुत्री थी जो शोभामें वसन्तकी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥४१॥ वह वसन्तसेना नृत्य-गीत आदि कलाओं सम्बन्धी कौशलसे सुशोभित थी, सौन्दर्यकी परम सीमा थी और यौवनकी नूतन उन्नति थी ॥४२॥ किसी एक दिन वसन्तसेनाका नृत्य प्रारम्भ होनेवाला था। उसके लिए मैं भी रुद्रदत्तके साथ साहित्यिक जनोंसे भरे हुए नृत्य-मण्डपमें बैठा था ॥४३॥ वह सूचीनृत्य करना चाहती थी। उसके लिए उसने सुइयोंके अग्रभागपर अंजलि भरकर जाति पुष्पोंकी बोंड़ियाँ बिखेर दीं और गायनके प्रभावसे जब सब बोंड़ियाँ खिल गयीं तो सभामें बैठे हुए कितने ही लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। मैं जानता था कि पुष्पोंके खिलनेसे कौन-सा राग होता है, इसलिए मैंने उसे मालाकार रागका संकेत कर दिया। सूची-नृत्यके बाद उसने अंगुष्ठ नृत्य किया तो सभाके विद्वान् उसकी प्रशंसा करने लगे। परन्तु मैंने नखमण्डलको शुद्ध करनेवाले नापित रागका संकेत कर दिया। तदनन्तर उसने गौ और मक्षिकाकी कुक्षिका अभिनय किया तो अन्य लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। परन्तु मैंने गोपाल रागका संकेत कर दिया। इस प्रकार रस और भावके विवेकको प्रकट करनेवाली उस वसन्तसेनाने प्रसन्न हो अपनी अंगुलियाँ चटकाती हुई मेरी बहुत प्रशंसा की। तदनन्तर अनुरागसे भरी हुई उक्त वेश्याने सब लोगोंके देखते-देखते मेरे सामने सुन्दर नृत्य किया ॥४४-४९॥ नृत्य समाप्त कर वह अपने घर गयी और तीव्र उत्कण्ठासे आतुर हो अपनी मातासे कहने लगी कि हे माता! इस जन्ममें मेरा चारुदत्तके सिवाय किसी दूसरेके साथ समागमका संकल्प नहीं है इसलिए मुझे शीघ्र ही चारुदत्तके साथ मिलानेके योग्य हो ॥५०-५१॥ माताने पुत्रीका अभिप्राय जानकर चारुदत्तके साथ मिलानेके लिए दान-सम्मान आदिसे सन्तुष्ट कर रुद्रदत्तको नियुक्त किया अर्थात् इस कार्यका भार उसने रुद्रदत्तके लिए सौंप दिया ॥५२॥ किसी दिन मैं रुद्रदत्तके साथ मार्गमें जा रहा था कि उसने उपाय कर मेरे आगे

---

१. प्रविकासात्प्राक् ग.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतसंकेतया पूर्वं कृतः कालिङ्गसेनया । स्वागतासनदानाद्यैरुपचारोऽत्र चावयोः ॥५४॥
द्यूते तत्रोत्तरीयं च [1]रौद्रदत्तं जितं तया । ततोऽहमुद्यतो रन्तुमपसार्य तमेतया ॥५५॥
वसन्तसेनया द्यूतादपसार्य स्वमातरम् । कृता दुरोदरक्रीडा मया सह विदग्धया ॥५६॥
आसक्तश्च चिरं तत्र पायितोऽतिपिपासितः । मतिमोहनयोगेन वासितं शिशिरोदकम् ॥५७॥
अतिविस्रम्भतस्तस्यामनुरागे ममोद्गते । करग्रहणमेतस्या जनन्या कारितोऽस्म्यहम् ॥५८॥
वसता तत्र वर्षाणि मया द्वादश विस्मृतौ । पितरौ मित्रवत्यामा कार्येष्वन्येषु का कथा ॥५९॥
वृद्धसेवाविवृद्धा मे गुणास्तरुणिसेवया । दोषैरुपचितैश्छन्नाः सज्जना इव दुर्जनैः ॥६०॥
स्वर्णषोडशकोटीषु प्रविष्टासु निजं गृहम् । दृष्ट्वा कालिङ्गसेनान्ते मित्रवत्या विभूषणम् ॥६१॥
जगौ वसन्तसेनां तामेकान्ते मन्त्रकोविदा । दुहितर्हितमाभाषे कर्णे मद्वचनं कुरु ॥६२॥
गुरुवाक्यामृतं मन्त्रं सदाभ्यस्यति यो जनः । तमनर्थग्रहा दूराद् ढौकन्ते न कदाचन ॥६३॥
जानास्येव जघन्यां नो[2] वृत्तिं यद्वित्तवान् प्रियः । हेयः पालितसारः स्यादिक्ष्वलक्तकवन्नरः ॥६४॥
तनुलग्नमलंकारं चारुदत्तस्य भार्यया । प्रेषितं [3]प्रेक्ष्यकारुण्याद् व्यसर्जयमहं पुनः ॥६५॥
तदस्य पीतसारस्य कुरु तावद्विमोक्षणम् । सारवन्तं नरं त्वन्यं नवेक्षुमिव भक्षय ॥६६॥

और पीछे दो-दो हाथियोंको लड़ा दिया और सुरक्षा पानेके लिए मुझे उस वेश्याके घर प्रविष्ट करा दिया ॥५३॥ कलिंगसेना वेश्याको इस बातका पहलेसे ही संकेत कर दिया गया। इसलिए उसने स्वागत तथा आसन आदिके द्वारा हम दोनोंका सत्कार किया ॥५४॥ तदनन्तर कलिंगसेना और रुद्रदत्तका जुआ प्रारम्भ हुआ सो कलिंगसेनाने जुआमें रुद्रदत्तका दुपट्टा तक जीत लिया। तब मैं रुद्रदत्तको हटाकर कलिंगसेनाके साथ जुआ खेलनेके लिए उद्यत हुआ ॥५५॥ मुझे उद्यत देख वसन्तसेनासे भी नहीं रहा गया। इसलिए वह चतुरा अपनी माताको अलग कर मेरे साथ जुआ खेलने लगी ॥५६॥ मैं जुआ खेलनेमें चिरकाल आसक्त रहा। इसी बीच मुझे जोरकी प्यास लगी तो उसने बुद्धिको मोहित करनेवाले योगसे सुवासित ठण्डा पानी मुझे पिलाया ॥५७॥ अतिशय विश्वासके कारण जब उसपर मेरा अनुराग बढ़ गया तब उसकी माताने मुझे उसका हाथ पकड़ा दिया ॥५८॥ मैं उसमें इतना आसक्त हुआ कि उसके घर बारह वर्ष तक रहा। इस बीचमें मैंने अपने माता-पिता तथा प्रिय स्त्री मित्रवतीको भी भुला दिया। फिर अन्य कार्योंकी तो कथा ही क्या थी ? ॥५९॥ वृद्धजनोंकी सेवासे पहले जो मेरे गुण वृद्धिको प्राप्त हुए थे वे तरुणीकी सेवासे उत्पन्न हुए दोषोंसे उस तरह आच्छादित हो गये जिस तरह कि दुर्जनोंसे सज्जन आच्छादित हो जाते हैं ॥६०॥ हमारे पिता सोलह करोड़ दीनारके धनी थे। सो जब सब धन क्रम-क्रमसे कलिंग-सेनाके घर आ गया और अन्तमें मित्रवतीके आभूषण भी आने लगे तब यह देख मन्त्र करनेमें निपुण कलिंगसेना एक दिन एकान्तमें वसन्तसेनासे बोली कि बेटी ! मैं हितकी बात कहती हूँ सो मेरे वचन कानमें धर ॥६१-६२॥ जो मनुष्य गुरुजनोंके वचनामृतरूप मन्त्रका सदा अभ्यास करता है अनर्थरूपी ग्रह सदा उससे दूर रहते हैं, कभी उसके पास नहीं आते ॥६३॥ तू हम लोगोंकी इस जघन्य वृत्तिको जानती ही है कि धनवान् मनुष्य ही हमारा प्रिय है। जिसका धन खींच लिया है ऐसा मनुष्य ईखके छिलकेके समान छोड़ने योग्य होता है ॥६४॥ आज चारुदत्तकी भार्याने अपने शरीरका आभूषण उतारकर भेजा था सो उसे देख मैंने दयावश वापस कर दिया है ॥६५॥ इसलिए अब सारहीन (निर्धन) चारुदत्तका साथ छोड़ और नयी ईखके समान किसी दूसरे सारवान् (सधन) मनुष्यका उपभोग कर ॥६६॥

१. रुद्रदत्तस्येदं रौद्रदत्तं, उत्तरीयं वस्त्रम् । २. जघन्यातो वृत्तिर्यद्वित्तवान् प्रियः म. । ३. प्रेष्य म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्कुनेव ततः कर्णे ताडिता सातिपीडिता । जगाद मातरं मातः किमिदं गदितं त्वया ॥६७॥
कौमारं पतिमुज्झित्वा चारुदत्तं चिरोषितम् । कुबेरेणापि मे कार्यं नेश्वरेण परेण किम् ॥६८॥
प्राणैरपि हि मे [1]नार्थश्चारुदत्तवियोजकैः । मैवं वोचः पुनर्मातर्यदि मे जीवितं प्रियम् ॥६९॥
पूरितं कोटिशो द्युम्नैर्गृहं ते तद्गृहागतैः । तथापि तज्जिहासाभूदकृतज्ञा हि योषितः ॥७०॥
कलापारमितस्याम्ब रूपातिशययोगिनः । सद्धर्मदर्शिनो मेऽस्य स्यात्त्यागस्त्यागिनः कुतः ॥७१॥
[2]अत्यासक्तामिति ज्ञात्वा कृत्वा तदनुवर्त्तनम् । चिन्तयन्ती स्थितोपायमावयोः सा वियोजने ॥७२॥
आसने शयने स्नाने भोजने चापि युक्तयोः । योगेनायुज्य नौ निद्रामहं रात्रौ बहिः कृतः ॥७३॥
निद्रापाये गृहं गत्वा मर्तृनि:[3]क्रान्तिदुःखिनीम् । अपश्यं मातरं दुःखी भार्यां च [4]कृतरोदनाम् ॥७४॥
ततः कृततदाश्वासः [5]प्रियालंकारहस्तकः । उशीरावर्त्तमायातो मातुलेन वणिज्यया ॥७५॥
क्रीत्वा तत्र च कार्प्पासं ताम्रलिप्तं प्रगच्छतः । दैवकालनियोगेन सोऽप्यदाहि दवाग्निना ॥७६॥
मुक्त्वा मातुलमश्वेन पूर्वाशां गच्छतो मृतः । सोऽपि पद्भ्यां ततो यातः प्रियङ्गुं नगरं श्रमी ॥७७॥
सुरेन्द्रदत्तनाम्नाहं पितृमित्रेण वीक्षितः । विश्रान्तः कतिचित्तत्र दिनानि सुखसंगतः ॥७८॥

कलिंगसेनाकी बात सुनकर वसन्तसेनाको इतना तीव्र दुःख हुआ मानो उसके कानमें कीला ही ठोक दिया हो। उसने मातासे कहा कि हे मातः ! तूने यह क्या कहा ? ॥६७॥ कुमारकालसे जिसे स्वीकार किया तथा चिरकाल तक जिसके साथ वास किया उस चारुदत्तको छोड़कर मुझे कुबेरसे भी क्या प्रयोजन है ? फिर दूसरे धनाढ्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है ? ॥६८॥ अधिक क्या कहूँ चारुदत्तके साथ वियोग करानेवाले इन प्राणोंसे भी मुझे प्रयोजन नहीं है। हे मातः ! यदि मेरा जीवन प्रिय है तो अब पुनः ऐसे वचन नहीं कह ॥६९॥ अरे ! उसके घरसे आये हुए करोड़ों दीनारोंसे तेरा घर भर गया फिर भी तुझे उसके छोड़नेकी इच्छा हुई सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियाँ अकृतज्ञ होती हैं ॥७०॥ हे मातः ! जो कलाओंका पारगामी है, अत्यन्त रूपवान् है, समीचीन धर्मको जाननेवाला है एवं अतिशय त्यागी—उदार है, उस चारुदत्तका त्याग मैं कैसे कर सकती हूँ ? ॥७१॥ इस प्रकार वसन्तसेनाको मुझमें अत्यन्त आसक्त जान कलिंगसेना उस समय तो कुछ नहीं कह सकी, उसीकी हाँमें हाँ मिलाती रही परन्तु मनमें हम दोनोंको वियुक्त करनेका उपाय सोचती रही ॥७२॥ हम दोनों आसनपर बैठते समय, शय्यापर सोते समय, स्नान करते समय और भोजन करते समय साथ-साथ रहते थे इसलिए उसे वियुक्त करनेका अवसर नहीं मिलता था। एक दिन उसने किसी योग (तन्त्र) द्वारा हम दोनोंको निद्रामें निमग्न कर रात्रिके समय मुझे घरसे बाहर कर दिया ॥७३॥ निद्रा दूर होनेपर मैं घर गया। मेरे पिता मुनिदीक्षा ले चुके थे इसलिए मेरी माता और स्त्री बहुत दुःखी थीं। वे विलख-विलखकर रोने लगीं उन्हें देख मैं भी बहुत दुःखी हुआ ॥७४॥ तदनन्तर माता और स्त्रीको धैर्य बँधाकर तथा स्त्रीके आभूषण हाथमें ले व्यापारके निमित्त मैं अपने मामाके साथ उशीरावर्त देश आया ॥७५॥ वहाँ कपास खरीदकर बेचनेके लिए मैं ताम्रलिप्त नगरको ओर जा रहा था कि भाग्य और समयकी प्रतिकूलताके कारण वह कपास दावानलसे बीचमें ही जल गया ॥७६॥ मैंने मामाको वहीं छोड़ा और घोड़ापर सवार हो मैं पूर्व दिशाकी ओर चला परन्तु घोड़ा बीचमें ही मर गया इसलिए पैदल चलकर थका-मांदा प्रियंगुनगर पहुँचा ॥७७॥ उस समय प्रियंगुनगरमें मेरे पिताका मित्र सुरेन्द्रदत्त नामका सेठ रहता था। उसने मुझे देखकर बड़े सुखसे रखा और कुछ दिन तक मैंने वहाँ विश्राम किया ॥७८॥ वहाँसे मैं समुद्रयात्राके लिए गया सो छह बार मेरा जहाज

---

१. नाथश्चारुदत्तो वियोजकैः म. । २. अन्यासक्ता—म. । ३. निःक्रान्त म. । ४. कृतरोदनीम् म. । ५. प्रियाया अलंकारा हस्ते यस्यासौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुद्रयात्रया यातः षट्कृत्वो भिन्ननौस्थितिः । अष्टकोटीश्वरश्चाहमभवं भिन्नपात्रकः ॥७९॥
आसाद्य फलकं कृच्छादुत्तीर्यं मकरालयम् । प्राप्तो राजपुरं तत्र परिव्राजकमैक्षिषि ॥८०॥
तेनाहं शान्तवेषेण श्रान्तो विश्रान्तिमाहितः[1] । रसलोभेन च विश्वास्य कान्तारं च प्रवेशितः ॥८१॥
मुग्धः सदुग्धिको रज्ज्वा परिव्राजावतारितः । प्रविष्टोऽहं बिलं[2] भीमं प्रेरितो रसतृष्णया ॥८२॥
रसाया मूलमासाद्य[3] रज्ज्वारूढो दृढासनः । आददानो रसं पुंसा निषिद्धस्तत्र केनचित् ॥८३॥
मा स्प्राक्षीस्त्वं रसं भद्र ! रौद्रं यदि जिजीविषुः । [4]स्पृश्येत चेन्न जीवन्तं मुञ्चति क्षयरोगवत् ॥८४॥
ततश्चकितचित्तोऽहमवोचं तमिति द्रुतम् । त्वं भोः कः केन वा क्षिप्त इहेत्युक्तो जगाद सः ॥८५॥
उज्जयिन्या वणिग्भिन्नपात्रोऽपात्रेण लिङ्गिना । रसमादाय निक्षिप्तो रसराक्षसवक्षसि ॥८६॥
त्वगस्थिशेषभूतोऽहं रसभुक्तो व्यवस्थितः । ममातो निर्गमो भद्र ! मृतस्यैव न जीवतः ॥८७॥
संपृष्टस्तेन भोः कस्त्वमित्यवोचमहं पुनः । चारुदत्तो वणिक् क्षिप्तः परिव्राजा तवारिणा ॥८८॥
प्रियवादीति विश्वस्य वकवृत्तेर्दुरात्मनः । अधोऽधोऽनुचरो मुग्धः पततीति किमद्भुतम् ॥८९॥
पूरयित्वा रसं तेन रज्जुमारोप्य चालितम् । एकामाकृष्य [5]कृत्वैकां कृतार्थः स खलो गतः ॥९०॥
पतितस्य तटे तेन पुंसा निर्गमनाय मे । उपायः साधुनावाचि ततश्चेति कृपावता ॥९१॥

फट गया। अन्तमें जिस किसी तरह मैं आठ करोड़का स्वामी होकर लौट रहा था कि फिर भी जहाज फट गया और सारा धन समुद्रमें डूब गया ॥७९॥ भाग्यवश एक तख्ता पाकर बड़े कष्टसे मैंने समुद्रको पार किया। समुद्र पारकर मैं राजपुर नगर आया और वहाँ एक संन्यासीको मैंने देखा ॥८०॥ मैं थका हुआ था इसलिए शान्तवेषको धारण करनेवाले उस संन्यासीने मुझे विश्राम कराया। तदनन्तर रसका लोभ देकर एवं विश्वास दिलाकर वह मुझे एक सघन अटवीमें ले गया ॥८१॥ मैं भोला-भाला था इसलिए उस संन्यासीने एक तूमड़ी देकर मुझे रस्सीके सहारे नीचे उतारा जिससे मैं रसकी तृष्णासे एक भयंकर कुएँमें जा घुसा ॥८२॥ पृथिवीके तलमें पहुँचकर रस्सीपर अपना दृढ़ आसन जमाये हुए जब मैं रस भरने लगा तब वहाँ स्थित किसी पुरुषने मुझे रोका ॥८३॥ उसने कहा कि हे भद्र ! यदि तू जीवित रहना चाहता है तो इस भयंकर रसका स्पर्श मत कर। यदि किसी तरह इसका स्पर्श हो जाता है तो क्षयरोगकी तरह यह जीवित नहीं छोड़ता ॥८४॥ तदनन्तर आश्चर्यचकित हो मैंने उससे शीघ्र ही इस प्रकार पूछा कि महाशय ! तुम कौन हो ? और किसने तुम्हें यहाँ डाल दिया है ? मेरे यह कहनेपर वह बोला कि मैं उज्जयिनीका एक वणिक् हूँ। मेरा जहाज फट गया था इसलिए एक अपात्र साधुने रस लेकर मुझे रसरूपी राक्षसके वक्षःस्थलपर गिरा दिया है ॥८५-८६॥ रसके उपभोगसे मेरी चमड़ी तथा हड्डी ही शेष रह गयी है। हे भद्र ! मेरा तो यहाँसे निकलना तभी होगा जब मैं मर जाऊँगा जीवित रहते मेरा निकलना नहीं हो सकता ॥८७॥ उस मनुष्यने मुझसे भी पूछा कि तुम कौन हो ? तब मैंने कहा कि मैं चारुदत्त नामका वणिक् हूँ और जो तुम्हारा शत्रु था उसी संन्यासीने मुझे यहाँ गिराया है ॥८८॥ 'यह प्रियवादी है' इसलिए बगलेके समान मायाचारी दुष्ट मनुष्यका विश्वास कर उसके पीछे-पीछे चलनेवाला मूढ़ मनुष्य यदि नीचे-नीचे गिरता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥८९॥ अन्तमें मैंने तूमड़ीमें रस भरकर तथा रस्सीमें बाँधकर उसे चलाया। जिस रस्सीमें रसकी तूमड़ी बँधी थी उस रस्सीको तो उस संन्यासीने खींच लिया और जिसके सहारे मुझे ऊपर चढ़ना था उसे काट दिया। इस प्रकार अपने मनोरथको सिद्ध कर वह दुष्ट वहाँसे चला गया ॥९०॥ जब मैं किनारे-पर जा पड़ा तब उस सज्जन पुरुषने दयायुक्त हो मेरे लिए निकलनेका मार्ग बतलाया ॥९१॥

१. -मादृतः म. । २. कूपम् ग. टि. । ३. मूलमाशाया म. । ४. स्पृशेत म. । स्पृशत ग. । ५. छित्त्वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोधैका रसपानाय साधोऽत्रावतरिष्यति । सृत्वा शीघ्रं हि तत्पुच्छं धृत्वा निर्गच्छ निश्चयम् ॥९२॥
तदेत्युक्तवते धर्मं तस्मै सम्यक्त्वपूर्वकम् । सप्रपञ्चमुवाचाहं सहपञ्चनमस्कृतिम् ॥९३॥
परेद्युश्च रसं पीत्वा गच्छन्त्याः पुच्छमाश्वहम्[1] । गोधाया धृतवान् दोर्भ्यामाकृष्टश्च बहिस्तया ॥९४॥
तटीपाटितगात्रोऽहं बहिर्मुक्तोऽतिमूर्च्छितः । विबुद्धश्च पुनर्जन्म जातमिति व्यचिन्तयम् ॥९५॥
शनैरुत्थाय गच्छन्तमन्वधावद् यमोपमः । महिषो[2] वनमध्ये मां प्रविष्टोऽहं गुहां ततः ॥९६॥
प्रसुप्तोऽजगरस्तत्र मयाक्रान्तः समुत्थितः । अभिधावन्तमत्युग्रं सोऽगृहीन्महिषं मुखे ॥९७॥
यावच्चोद्धतयोर्युद्धं वर्तते विषमं तयोः । तावत् तत्पृष्ठमाक्रम्य निर्गतोऽहमतिद्रुतम् ॥९८॥
विनिःसृत्य महारण्याद् प्रत्यन्तग्राममाप्नुयाम् । काकतालीयतस्तत्र रुद्रदत्तं ददर्श तम् ॥९९॥
क्षुत्पिपासार्तिहरणं कृत्वासौ मे ततोऽब्रवीत् । चारुदत्त ! विषादं मा कार्षीस्त्वं शृणु मे वचः ॥१००॥
सुवर्णद्वीपमाविश्य समुपार्ज्य धनं महत् । प्रत्येष्यावः पुनर्येन रक्ष्यते कुलसंततिः ॥१०१॥
एकवाक्यतया तेन यातौ चैरावतीं नदीम् । उत्तीर्य गिरिकूटं च गिरिं वेत्रवनं वनम् ॥१०२॥
टङ्कणं देशमासाद्य क्रीत्वाजौ गतिदक्षिणौ । गतौ वामपथेनातिविषमेण शनैः शनैः ॥१०३॥
अतिलङ्घ्य समां प्राह रुद्रदत्तोऽन्वितादरः । चारुदत्त ! पशून् हत्वा कृत्वा भस्त्राप्रवेशनम् ॥१०४॥
आस्वहे तत्र नौ द्वीपे भारुण्डाश्चण्डतुण्डकाः । गृहीत्वामिषलोभेन पक्षिणः प्रक्षिपन्ति हि ॥१०५॥

उसने कहा कि हे सत्पुरुष ! रस पीनेके लिए यहाँ एक गोह आवेगी सो तुम सरककर यदि शीघ्र ही उसकी पूँछ पकड़ लोगे तो निश्चय ही बाहर निकल जाओगे ॥९२॥ वह उस पुरुषका अन्तिम समय था इसलिए इस प्रकार निकलनेका मार्ग बतलानेवाले उस पुरुषके लिए मैंने सम्यग्दर्शन-पूर्वक विस्तारके साथ धर्मका उपदेश दिया और पंच नमस्कार मन्त्र भी सुनाया ॥९३॥ दूसरे दिन रस पीकर जब गोह जाने लगी तब मैंने दोनों हाथोंसे शीघ्र ही उसकी पूँछ पकड़ ली और वह मुझे बाहर खींच लायी ॥९४॥ किनारोंकी रगड़से मेरा शरीर छिन्न-भिन्न हो गया था इसलिए उस गोहने जब मुझे बाहर छोड़ा तब मैं अत्यन्त मूर्च्छित हो गया। सचेत होनेपर मैंने विचार किया कि मेरा पुनर्जन्म ही हुआ है ॥९५॥ धीरे-धीरे उठकर मैं आगे चला तो वनके बीचमें यमराजके समान भयंकर भैंसाने मेरा पीछा किया। अवसर देख मैं एक गुहामें घुस गया ॥९६॥ उस गुफामें एक अजगर सो रहा था। मेरा पैर पड़नेपर वह जाग उठा और सामने दौड़ते हुए उस भयंकर भैंसेको उसने अपने मुखसे पकड़ लिया ॥९७॥ भैंसा और अजगर दोनों ही अत्यन्त उद्धत थे इसलिए जबतक उन दोनोंमें युद्ध हुआ तबतक मैं उसकी पीठपर चढ़कर बड़ी शीघ्रतासे बाहर निकल आया ॥९८॥ उस महावनसे निकलकर मैं समीपवर्ती एक गाँवमें पहुँचा तो काकतालीय-न्यायसे (अचानक) मैंने वहाँ अपने काका रुद्रदत्तको देखा ॥९९॥ मैं कई दिनका भूखा-प्यासा था इसलिए रुद्रदत्तने मेरी भूख-प्यासकी बाधा दूर कर मुझसे कहा कि चारुदत्त ! खेद मत करो मेरे वचन सुनो ॥१००॥ हम दोनों सुवर्णद्वीप चलकर तथा बहुत भारी धन कमाकर चम्पापुरी वापस आवेंगे जिससे अपने कुलकी रक्षा होगी ॥१०१॥

तदनन्तर रुद्रदत्तके साथ एक सलाह हो जानेपर दोनों वहाँ से चले और ऐरावती नदीको उतरकर तथा गिरिकूट नामक पर्वत और वेत्रवनको उल्लंघकर टंकण देशमें जा पहुँचे। वहाँ मार्ग अत्यन्त विषम था इसलिए चलनेमें चतुर दो बकरा खरीदकर तथा उनपर सवार हो धीरे-धीरे आगे गये ॥१०२-१०३॥ तदनन्तर समभूमिको उल्लंघकर रुद्रदत्तने बड़े आदर के साथ मुझसे कहा कि चारुदत्त ! अब आगे मार्ग नहीं है इसलिए इन बकरोंको मारकर तथा इनकी भस्त्रा (भाथड़ी) बनाकर उनमें हम दोनों बैठ जावें। तीक्ष्ण चोंचोंवाले भारुण्ड पक्षी मांसके लोभसे हम दोनोंको

१. आशु + अहम् । २. वनवध्ये म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषिद्धोऽपि बधाद्रौद्रो रुद्रदत्तोऽवधीन्निजम् । अजं मदीयमप्यन्तं निनाय विनयच्युतः ॥१०६॥
यावन्न मार्यते तावत्पूर्वमेव प्रतीकृतः । मार्यमाणाय चादायि तस्मै पञ्चनमस्कृतिः ॥१०७॥
भस्त्रां कृत्वा सशस्त्रं[1] मामन्तस्तस्य निधाय सः । प्रविश्य स्वयमन्यस्यां शस्त्रहस्तो व्यवस्थितः ॥१०८॥
भारुण्डैश्चण्डतुण्डाभ्यां भस्त्रे नीते विहायसा । भस्त्रा काणेन मेऽन्यत्र नीत्वा क्षिप्ता क्षितौ ततः ॥१०९॥
वेगाद्विपाट्य तां भस्त्रां निर्गतः स्वर्गसंनिभम् । रत्नरश्मिभिरुद्दीप्तमपश्यं द्वीपमायतम् ॥११०॥
पश्यता च दिशो रम्या पर्वताग्रे जिनालयः । प्रेक्षितो मरुदुद्धूतैपताकाभिरिवानटन् ॥१११॥
तत्रातापनयोगस्थश्चारणः श्रमणोऽन्तिके[3] । वीक्षितो वीक्ष्य यं प्राप प्रागप्राप्तं परं सुखम् ॥११२॥
ततः पर्वतमारुह्य त्रिःपरीत्य जिनालयम् । वन्दिता जिनचन्द्राणां कृत्रिमाः प्रतिमा मया ॥११३॥
योगस्थो योगभक्त्याऽसौ वन्दितश्च मुनिर्मया । समाप्तनियमश्चाह दत्त्वासीनस्तदाशिषम् ॥११४॥
कुशली चारुदत्तात्र कुतः स्वप्न इवागमः । प्राकृतस्य यथा पुंसः[4] सहायरहितस्य ते ॥११५॥
कुशलं नाथ ! युष्माकं प्रसादादिति वादिना । नत्वा विस्मितचित्तेन मयापृच्छ्यत सन्मुनिः ॥११६॥
प्रत्यभिज्ञा कुतो नाथ तव मद्विषया च ते । अपूर्वदर्शनं मन्ये मान्यमान्यस्य पावनम् ॥११७॥
इति पृष्टेन तेनोक्तं चम्पायां यस्तदा द्विषा । खेचरोऽमितगत्याख्यः कीलितो मोचितस्त्वया ॥११८॥

उठाकर सुवर्णद्वीपमें डाल देंगे ॥१०४-१०५॥ रुद्रदत्त बड़ी दुष्ट प्रकृतिका था इसलिए मेरे रोकनेपर भी उसने अपना बकरा मार डाला और विनयसे च्युत हो मेरे बकराका भी अन्त कर दिया ॥१०६॥ मेरा बकरा जबतक मारा नहीं गया तबतक मैंने पहले उसके मारनेका पूर्ण प्रतिकार किया—रुद्रदत्तको मारनेसे रोका परन्तु जब मारा ही जाने लगा तब मैंने उसे पंचनमस्कार मन्त्र ग्रहण करा दिया ॥१०७॥ रुद्रदत्त ने मृत बकरोंकी भाथड़ियाँ बनायीं और एकके भीतर छुरी देकर मुझे बैठा दिया तथा दूसरीमें वह स्वयं हाथमें छुरी लेकर बैठ गया ॥१०८॥ तदनन्तर भारुण्ड पक्षी पैनी चोंचोंसे दबाकर दोनों भस्त्राओंको आकाशमें ले गये। मेरी भाथड़ी एक काना भारुण्ड पक्षी ले गया था इसलिए उसने दूसरी जगह ले जाकर पृथिवीपर गिरा दी ॥१०९॥ मैं वेगसे उस भाथड़ीको चीरकर जब बाहर निकला तो मैंने रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्यमान स्वर्गके समान एक विस्तृत द्वीप देखा ॥११०॥ उस द्वीपकी सुन्दर दिशाओंको देखते हुए मैंने पर्वतके अग्रभागपर एक जिनमन्दिर देखा जो हवासे उड़ती हुई पताकाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो नृत्य ही कर रहा हो ॥१११॥ उसी जिनमन्दिरके समीप मैंने आतापन योगसे स्थित एक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजको देखा। उन मुनिराजको देखकर मुझे ऐसा उत्तम सुख प्राप्त हुआ जैसा कि पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ॥११२॥

तदनन्तर पर्वतपर चढ़कर मैंने जिनमन्दिरकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और श्री जिनेन्द्र भगवान्‌की कृत्रिम प्रतिमाओंकी वन्दना की ॥११३॥ प्रतिमाओंकी वन्दनाके बाद मैंने ध्यानमें लीन मुनिराजकी भी मुनिभक्तिके कारण वन्दना की। जब मुनिराजका नियम समाप्त हुआ तब वे मेरे लिए आशीर्वाद देकर वहीं बैठ गये और मुझसे कहने लगे कि चारुदत्त! कुशल तो हो? यहाँ स्वप्नकी तरह तुम्हारा आगमन कैसे हुआ? तुम एक साधारण पुरुषकी तरह हो तथा कोई तुम्हारा सहायक भी नहीं दिखाई देता ॥११४-११५॥ 'हे नाथ! आपके प्रसादसे कुशल है' यह कहकर मैंने उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर आश्चर्यसे चकित होते हुए मैंने उन उत्तम मुनिराजसे पूछा कि हे नाथ! आपको मेरी पहचान कैसे हुई? हे माननीयोंके माननीय! मैं तो आपके इस पवित्र दर्शनको अपूर्व ही मानता हूँ ॥११६-११७॥ इस प्रकार पूछनेपर मुनिराजने कहा कि मैं वही अमितगति नामका विद्याधर हूँ जिसे चम्पापुरीमें उस समय शत्रुने कील दिया था और तुमने

१. सशस्त्रां-म., ग. । २. -दुद्धूत म. । ३. तत्र तापन-म. । ४. पुंसां ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राज्ये संस्थाप्य मां प्राज्ये सम्यग्दर्शनभावितम् । गुरोर्हिरण्यकुम्भस्य समीपे प्राव्रजत् पिता ॥११९॥
भार्या विजयसेना मे नाम्नान्यासीन्मनोरमा । ख्याता गान्धर्वसेनाख्या प्रथमायामभूत्सुता ॥१२०॥
इतरस्यामभूत्पुत्रो ज्येष्ठो सिंहयशःश्रुतिः । वाराहग्रीवनामान्यो विनयादिगुणाकरः ॥१२१॥
राज्ये तौ यौवराज्ये च स्थापयित्वा यथाक्रमम् । [1]गुरोरेव गुरोरन्ते प्रव्रज्यां श्रितवानहम् ॥१२२॥
कुम्भकण्टकनामायं द्वीपः सागरवेष्टितः । गिरिः कर्कोटकश्चात्र चारुदत्तागतः कथम् ॥१२३॥
इत्युक्ते यतिनाद्यन्तां सुखदुःखविमिश्रिताम् । कथंकथमहं तस्मै कथामकथयन्निजाम् ॥१२४॥
तदा विद्याधरौ द्वौ तं मुनिं पुत्रौ नभस्तलात् । अवतीर्य ववन्दाते वन्दनीयमनिन्दितौ ॥१२५॥
कुमारौ ! चारुदत्तोऽयं भ्राता यो वां मयोदितः । इत्युक्ते मां परिष्वज्य स्थितावुक्त्वा बहुप्रियम् ॥१२६॥
तावच्च द्वौ विमानाग्रादवतीर्य सुरौ पुरा । मां प्रणम्य मुनिं पश्चान्नत्वासीनौ ममाग्रतः ॥१२७॥
अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम् । देवावृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुतः ॥१२८॥
त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिनधर्मोपदेशकः । चारुदत्तो गुरुः साक्षादावयोरिति बुध्यताम् ॥१२९॥
तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत् । श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरौ ! स्फुटम् ॥१३०॥
वाराणस्यां पुराणार्थवेदव्याकरणार्थवित् । ब्राह्मणः सोमशर्मासीत्सोमिला[2] तस्य [3]माहना ॥१३१॥
तयोर्दुहितरौ भद्रा सुलसा च सुयौवने । वेदव्याकरणादीनां शास्त्राणां पारगे परे ॥१३२॥

जिसे छुड़ाया था ॥११८॥ उस घटनाने मेरे हृदयमें सम्यग्दर्शनका भाव भर दिया था। कुछ समय बाद हमारे पिताने विशाल राज्यपर मुझे बैठाकर हिरण्यकुम्भ नामक गुरुके पास दीक्षा ले ली ॥११९॥ मेरी विजयसेना और मनोरमा नामकी दो स्त्रियाँ थीं उनमें पहली विजयसेनाके गान्धर्वसेना नामकी पुत्री हुई और दूसरी मनोरमाके सिंहयश नामका बड़ा और वाराहग्रीव नामका छोटा इस प्रकार दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र विनय आदि गुणोंकी खान थे ॥१२०-१२१॥ एक दिन मैंने क्रमसे बड़े पुत्रको राज्यपर और छोटे पुत्रको युवराज पदपर आरूढ़ कर अपने पितारूप गुरुके समीप ही दीक्षा धारण कर ली ॥१२२॥ हे चारुदत्त ! यह समुद्रसे घिरा हुआ कुम्भकण्टक नामका द्वीप है और यह कर्कोटक नामका पर्वत है यहाँ तुम कैसे आये ? ॥१२३॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर मैंने आदिसे लेकर अन्त तक सुख-दुःखसे मिली हुई अपनी समस्त कथा जिस-किसी तरह उनके लिए कह सुनायी ॥१२४॥ उसी समय मुनिराजके दोनों उत्तम विद्याधर पुत्रोंने आकाशसे नीचे उतरकर उन वन्दनीय मुनिराजकी वन्दना की—उन्हें नमस्कार किया ॥१२५॥ मुनिराजने दोनों पुत्रोंको सम्बोधते हुए कहा कि हे कुमारो ! जिसका पहले मैंने कथन किया था यह वही तुम्हारा भाई चारुदत्त है। मुनिराजके ऐसा कहनेपर दोनों विद्याधर मेरा आलिंगन कर प्रिय वचन कहते हुए समीप ही बैठ गये ॥१२६॥ उसी समय दो देव विमानके अग्रभागसे उतरकर पहले मुझे और बादमें मुनिराजको नमस्कार कर मेरे आगे बैठ गये ॥१२७॥ विद्याधरोंने उस समय इस अक्रमका कारण पूछा कि हे देवो ! तुम दोनोंने मुनिराजको छोड़कर श्रावकको पहले नमस्कार क्यों किया ? ॥१२८॥ देवोंने इसका कारण कहा कि इस चारुदत्तने हम दोनोंको जिनधर्मका उपदेश दिया है इसलिए यह हमारा साक्षात् गुरु है यह समझिए ॥१२९॥ यह कैसे ? इस प्रकार कहनेपर जो पहले बकराका जीव था वह देव बोला कि हे विद्याधरो ! सुनिए, मैं अपनी कथा स्पष्ट कहता हूँ ॥१३०॥

किसी समय बनारसमें पुराणोंके अर्थ, वेद तथा व्याकरणके रहस्यको जाननेवाला एक सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम सोमिला था ॥१३१॥ उन दोनोंके भद्रा और सुलसा नामकी दो यौवनवती पुत्रियाँ थीं। जो वेद, व्याकरण आदि शास्त्रोंकी परम पार-

१. पितुरेव । २. सौमिल्ला म. । ३. भामिनी म. । ब्राह्मणी (ग. टि.) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमार्यावेव वैराग्यात् परिव्राजकतां श्रिते । सुप्रसिद्धिं गते भूमौ जित्वा वादेषु वादिनः ॥१३३॥
याज्ञवल्क्य इति ख्यातः परिव्राट्पर्यटन् धराम् । वाराणसीं तदायासीत्तज्जिगीषामनीषया ॥१३४॥
सुलसा जल्पकालेऽस्य सावलेपा सभान्तरे । स्यां शुश्रूषाकरी जेतुरिति संगरमग्रहीत् ॥१३५॥
पूर्वपक्षमुपन्यस्तं तया न्यायविदां पुरः । संदूष्य याज्ञवल्क्यस्तं स स्वपक्षमतिष्ठपत् ॥१३६॥
याज्ञवल्क्यो वृतो वादे सुपराजितया तया । विषयामिषलुब्धस्तां सस्मरां समरीरमत् ॥१३७॥
सुलसायाज्ञवल्क्यौ तौ जनयित्वा शुभं शिशुम् । अश्वत्थतरुमूलस्थं कृत्वा यातौ कृपाच्युतौ ॥१३८॥
तत्रोत्तानशयं भद्रा दृष्ट्वाश्वत्थफलादिनम् । पिप्पलादाभिधानेन व्याहूयैनमवीवृधत् ॥१३९॥
पारगः सर्वशास्त्राणामेकदापृच्छदित्यसौ । मातः ! किमभिधानो मे पिता जीवति वा न वा ॥१४०॥
तयोक्तं ते पिता पुत्र ! याज्ञवल्क्यः कनीयसी । मम तेन जिता वादे सुलसा जननी तव ॥१४१॥
जातमात्रमपत्राणं त्वां तौ पुत्र ! तयोरधः । मुक्त्वा मुक्तकृपौ पापौ यातावद्यापि जीवतः ॥१४२॥
स्तनैरन्यस्त्रियाः क्लेशान्मया समभिवर्द्धितः । कर्म पूर्वं कृतं पुत्र ! पितरौ तु स्मरातुरौ ॥१४३॥
इत्याकर्ण्य तदा तस्याः [1]कर्णदाहकरं वचः । तद्वार्त्ताकर्णनोत्कर्णो लब्धवर्णो रुषा स्थितः ॥१४४॥
लब्धवार्त्तो रुषा गत्वा स जित्वा जनकं ततः । शुश्रूषां च तयोश्चक्रे मिथ्याविनयपूर्वकम् ॥१४५॥
स मातृपितृसेवाख्यं पिप्पलादः स्वयं कृतम् । [2]क्रतुं प्रवर्त्य तौ निन्ये समन्युर्मृत्युगोचरम् ॥१४६॥

गामिनी थीं ॥१३२॥ उन दोनों पुत्रियोंने कुमारी अवस्थामें ही वैराग्यवश परिव्राजककी दीक्षा ले ली और दोनों शास्त्रार्थमें अनेक वादियोंको जीतकर पृथिवीमें परम प्रसिद्धिको प्राप्त हुईं ॥१३३॥ किसी समय पृथिवीपर घूमता हुआ याज्ञवल्क्य नामका परिव्राजक उन्हें जीतनेकी इच्छासे बनारस आया ॥१३४॥ शास्त्रार्थके समय अहंकारसे भरी सुलसाने सभाके बीच यह प्रतिज्ञा की कि जो मुझे शास्त्रार्थमें जीतेगा मैं उसीकी सेविका (स्त्री) बन जाऊँगी ॥१३५॥ शास्त्रार्थ शुरू होनेपर सुलसाने न्याय विद्याके जानकार विद्वानोंके आगे पूर्व पक्ष रखा परन्तु याज्ञवल्क्यने उसे दूषित कर अपना पक्ष स्थापित कर दिया ॥१३६॥ सुलसा शास्त्रार्थमें हार गयी इसलिए उसने याज्ञवल्क्यको वर लिया—अपना पति बना लिया। याज्ञवल्क्य विषयरूपी मांसका बड़ा लोभी था तथा सुलसाको भी कामेच्छा जागृत हो उठी इसलिए दोनों मनमानी क्रीड़ा करने लगे ॥१३७॥ सुलसा और याज्ञवल्क्यने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया परन्तु वे इतने निर्दयी निकले कि उस सद्योजात पुत्रको पीपलके वृक्षके नीचे रखकर कहीं चले गये ॥१३८॥ वह पुत्र पीपलके नीचे चित्त पड़ा था तथा मुखमें पड़े हुए पीपलके फलको खा रहा था। सुलसाकी बड़ी बहन भद्रा उसे इस दशामें देख उठा लायी और उसका पिप्पलाद नाम रखकर उसका पोषण करने लगी ॥१३९॥ समय पाकर पिप्पलाद समस्त शास्त्रोंका पारगामी हो गया। एक दिन उसने भद्रासे पूछा कि मातः ! मेरे पिताका क्या नाम है ? वे जीवित हैं या नहीं ? ॥१४०॥ भद्राने कहा कि बेटा ! याज्ञवल्क्य तेरा पिता है। उसने मेरी छोटी बहन सुलसाको शास्त्रार्थमें जीत लिया था वही तेरी माता है ॥१४१॥ हे बेटा ! जब तू पैदा ही हुआ था तथा कोई तेरा रक्षक नहीं था तब तुझे एक वृक्षके नीचे छोड़कर वे दोनों दयाहीन पापी चले गये थे और आज तक जीवित हैं ॥१४२॥ मैंने दूसरी स्त्रीके स्तन पिला-पिलाकर तुझे बड़े क्लेशसे बड़ा किया है। हे पुत्र ! तूने पहले ऐसा ही कर्म किया होगा यह ठीक है परन्तु कहना पड़ेगा कि तेरे माता-पिता बड़े कामी निकले ॥१४३॥ उस समय कानोंमें दाह उत्पन्न करनेवाले भद्राके पूर्वोक्त वचन सुनकर विद्वान् पिप्पलादको बड़ा क्रोध आया और उसकी बात सुनकर उसके कान खड़े हो गये ॥१४४॥ पता चलाकर वह अपने पिता याज्ञवल्क्यके पास गया और रोषपूर्वक उसे शास्त्रार्थमें जीतकर झूठ-मूठकी विनय दिखाता हुआ माता-पिताकी सेवा करने लगा ॥१४५॥ पिप्पलाद माता-पिताके प्रति क्रोधसे भरा था इस-

१. कर्णशूलकरं ग. । २. कर्तुं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिप्पलादस्य शिष्योऽहं जडो ग्रन्थेन वाग्बलिः । तद्दर्शनं समर्थ्यागान्नरकं घोरवेदनम् ॥१४७॥
ततो निर्गत्य जातोऽस्मि षड्वारानजपोतकः । हुतश्च यज्ञविद्याज्ञैर्यज्ञे पर्वतदर्शिते ॥१४८॥
सप्तमेऽपि च वारेऽहं देशे टङ्कणकेऽभवत् । अज एव निजैः पापैः प्रेरितः प्राणिघातजैः ॥१४९॥
चारुदत्तेन मे जैनो धर्मोऽदर्शि निरञ्जनः । दत्तः पञ्चनमस्कारो मरणे करुणावता ॥१५०॥
जातोऽहं जिनधर्मेण सौधर्मे विबुधोत्तमः । चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥१५१॥
इत्युक्त्वा [1]विरते तस्मिन्नितरोऽपि सुरोऽब्रवीत् । श्रूयतां चारुदत्तो मे यथाभूद्धर्मदेशकः ॥१५२॥
रसकूपे परिव्राजा पातितः पतिताय मे । सद्धर्मं वणिजेऽवोचच्चारुदत्तः कृपापरः ॥१५३॥
मृतो गृहीतधर्मोऽहं सौधर्मेऽभवमुत्तमः । सुरस्तेन गुरुः पूर्वं चारुदत्तो नतो मया ॥१५४॥
पापकूपे निमग्नेभ्यो धर्महस्तावलम्बनम् । ददता कः समो लोके संसारोत्तारिणा[2] नृणाम् ॥१५५॥
अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्धस्य[3] पदस्य वा । दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम् ॥१५६॥
पूर्वं कृतोपकारस्य पुंसः प्रत्युपकारतः । कृतित्वमुपकार्यस्य नान्यथेति विदो विदुः ॥१५७॥
तत्कर्तरि शक्तिवैकल्ये कुलीनः स कथं न यः । सद्भावं दर्शयेत्तस्मै स्वाधीनं विगतस्मयः ॥१५८॥

लिए उसने मातृ-पितृ सेवा नामका एक यज्ञ स्वयं चलाया और उसे कराकर दोनोंको मृत्युके अधीन कर दिया ॥१४६॥ मैं उसी पिप्पलादका वाग्बलि नामका शिष्य था। उससे शास्त्र पढ़कर मैं जड़—विवेकहीन हो गया था और उसीके मतका समर्थन कर घोर वेदनाओंसे भरे नरकमें उत्पन्न हुआ ॥१४७॥ नरकसे निकलकर मैं छह बार बकराका बच्चा हुआ और छहों बार यज्ञ विद्याके जाननेवाले लोगोंने मुझे पर्वत द्वारा दिखाये हुए यज्ञमें होम दिया ॥१४८॥ सातवीं बार भी मैं प्राणिघातसे उत्पन्न हुए अपने पापोंसे प्रेरित हो टंकणक देशमें बकरा ही हुआ ॥१४९॥ उस समय दयालु चारुदत्तने मुझे पापरहित जैनधर्म दिखलाया तथा मरणकालमें पंच नमस्कार मन्त्र दिया ॥१५०॥ जिनधर्मके प्रभावसे मैं सौधर्म स्वर्गमें उत्तम देव हुआ हूँ। इस प्रकार चारुदत्त मेरा साक्षात् गुरु है और इसीलिए मैंने उसे पहले नमस्कार किया है ॥१५१॥ यह कहकर जब वह देव चुप हो गया तब दूसरा देव बोला कि सुनिए चारुदत्त जिस तरह मेरा धर्मोपदेशक है वह मैं कहता हूँ ॥१५२॥

मैं पहले वणिक् था। एक परिव्राजकने मुझे रसकूपमें गिरा दिया। पीछे चलकर उसी परिव्राजकने चारुदत्तको भी उसी रसकूपमें गिरा दिया। मेरी दशा मरणासन्न थी इसलिए चारुदत्तने यहाँ दयायुक्त होकर मुझे समीचीन धर्मका उपदेश दिया ॥१५३॥ चारुदत्तके द्वारा बताये हुए उस समीचीन धर्मको ग्रहण कर मैं मरा और मरकर सौधर्म स्वर्गमें उत्तम देव हुआ। इस तरह चारुदत्त मेरा साक्षात् गुरु है और इसीलिए मैंने उसे पहले नमस्कार किया है ॥१५४॥ जो पापरूपी कुएँमें डूबे हुए मनुष्योंके लिए धर्मरूपी हाथका सहारा देता है तथा संसार-सागरसे पार करनेवाला है उस मनुष्यके समान संसारमें मनुष्योंके बीच दूसरा कौन है ? ॥१५५॥ एक अक्षर, आधे पद अथवा एक पदको भी देनेवाले गुरुको जो भूल जाता है वह भी जब पापी है तब धर्मोपदेशके दाताको भूल जानेवाले मनुष्यका तो कहना ही क्या है ? ॥१५६॥ जिसका पहले उपकार किया गया है ऐसे उपकार्य मनुष्यकी कृतकृत्यता प्रत्युपकारसे ही होती है अन्य प्रकारसे नहीं, ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ॥१५७॥ प्रत्युपकारकी शक्तिका अभाव होनेपर जो अहंकार-रहित होता हुआ अपने उपकारीके प्रति अपना शुभ अभिप्राय नहीं दिखलाता है वह कुलीन कैसे हो सकता है ? भावार्थ—प्रथम पक्ष तो यही है कि अपना उपकार करनेवाले मनुष्यका अवसर आनेपर प्रत्युपकार किया जावे। यदि कदाचित् प्रत्युपकार करनेकी सामर्थ्य न हो तो

१. निरते म. । २. -त्तारणं म. । ३. पदार्थस्य म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्युक्त्वा महतीमृद्धिं मुनिखेचरसंनिधौ । संप्रदर्श्य तदा देवौ देवदेवीविमानकैः ॥१५९॥
वस्त्रैरग्निविशोध्यैर्मां भूषामाल्यविलेपनैः । भूषयित्वा ससत्कारमभाषेतां सुभूषणैः ॥१६०॥
आदेशो दीयतां स्वामिन् कर्तव्ये समुपस्थिते । चम्पां किं प्राप्यसेऽद्यैव सद्यो भूर्यर्थसंगतः ॥१६१॥
इत्युक्तेन मया प्रोक्तं व्रजेतं[1] निजमास्पदम् । स्मरणानन्तरं देवौ पुनरागम्यतामिति ॥१६२॥
यथादेशमिति प्रोच्य प्राञ्जलि प्रणिपत्य तौ । मुनिं मां च समापृच्छ्य प्रयातौ त्रिदिवं निजम् ॥१६३॥
अहं च मुनिमानम्य विमानेन विहायसा । खेचराभ्यां सहायातः प्राविशं शिवमन्दिरम् ॥१६४॥
तत्र स्वर्ग इवातिष्ठन् सुखेन खचरार्चितः । जन्मान्यदिव च प्राप्तः शृण्वन् निजयशो जनात् ॥१६५॥
अन्यदा मातृपुत्रास्ते मयामा संप्रधारणम् । चक्रुर्गान्धर्वसेनाख्यां कुमारीं संप्रदर्श्य मे ॥१६६॥
चारुदत्त ! शृणु श्रीमानेकदावेधिचक्षुषम् । राजेति पृष्टवान् भर्ता को मे[2] दुहितुरीक्ष्यते ॥१६७॥
सोऽवोचच्चारुदत्तस्य गृहे गान्धर्वपण्डितः । जेतास्या भविता तेऽसौ कन्याया यादवः पतिः ॥१६८॥
इत्याकर्ण्य तदा तेन राज्ञा प्रव्रजतापि च । स्थिरीकृतमिदं कार्यं प्रमाणं त्वं ततोऽसि नः ॥१६९॥
दिष्ट्याभ्युपगतं तत्तु बन्धुकार्यं मया ततः । धात्र्यादिपरिवाराढ्या[3] कन्येयं मे समर्पिता ॥१७०॥
कन्याया भ्रातरौ नानारत्नस्वर्णादिसंपदाम् । वृतौ खेचरवाहिन्या सज्जौ चम्पागमं प्रति ॥१७१॥

उपकर्ताके प्रति नम्रताका भाव अवश्य ही दिखलाना उचित है ॥१५८॥ इस प्रकार कहकर उन दोनों देवोंने उस समय मुनिराज तथा विद्याधरोंके समीप देव-देवियों तथा विमान आदिके द्वारा अपनी बड़ी भारी ऋद्धि दिखलाकर अग्निमें शुद्ध किये हुए वस्त्र, आभूषण, माला, विलेपन आदि-से मेरा बहुत सत्कार किया तथा उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषित कर मुझसे कहा कि हे स्वामिन्! जो भी कार्य करने योग्य हो उसके लिए आप आज्ञा दीजिए। क्या आज शीघ्र ही आपको बहुत भारी धन-सम्पदाके साथ चम्पापुरी भेज दिया जाये ? ॥१५९–१६१॥ इसके उत्तरमें मैंने कहा कि इस समय आप अपने-अपने स्थानपर जाइए। जब मैं आपका स्मरण करूँ तब पुनः आइए ॥१६२॥ देवोंने 'जो आज्ञा' यह कहकर मुझे तथा मुनिराजको हाथ जोड़कर नमस्कार किया एवं मुझसे तथा मुनिराजसे पूछकर वे अपने स्वर्ग चले गये ॥१६३॥ देवोंके चले जानेपर मैंने भी मुनिराज को नमस्कार किया और विद्याधरोंके साथ विमानपर बैठकर उनके शिवमन्दिर नगरमें प्रवेश किया ॥१६४॥ शिवमन्दिर नगर स्वर्गके समान जान पड़ता था। मैं उसमें सुखसे रहने लगा। अनेक विद्याधर मेरी सेवा करते थे। वहाँ रहते हुए मुझे ऐसा जान पड़ता था मानो दूसरे ही जन्मको प्राप्त हुआ हूँ। वहाँ प्रत्येक मनुष्यसे मेरा यश सुनाई पड़ता था ॥१६५॥

एक दिन वे दोनों कुमार अपनी माताके साथ मेरे पास आये तथा मेरे लिए कुमारी गान्धर्वसेनाको दिखाकर मेरे साथ इस प्रकार सलाह करने लगे ॥१६६॥ उन्होंने कहा कि हे चारुदत्त! सुनो, एक समय लक्ष्मीसे सुशोभित राजा अमितगतिने अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा था कि आपके दिव्यज्ञानमें हमारी पुत्री गान्धर्वसेनाका स्वामी कौन दिखाई देता है ? ॥१६७॥ मुनिराजने कहा था कि चारुदत्तके घर गान्धर्व विद्याका पण्डित यदुवंशी राजा आवेगा वही इस कन्याको गन्धर्वविद्यामें जीतेगा तथा वही इसका पति होगा ॥१६८॥ मुनिराजके वचन सुनकर राजाने उस समय इस कार्यका निश्चय कर लिया था। यद्यपि राजा अमितगति इस समय दीक्षा लेकर मुनि हो गये हैं तथापि उस समय उन्होंने इसका पूर्ण भार आपके ही ऊपर रखनेका निश्चय किया था इसलिए हम लोगोंको आप ही प्रमाणभूत हैं ॥१६९॥ इसके उत्तरमें भाग्यवश प्राप्त हुए इस भाईके कार्यको मैंने स्वीकृत कर लिया। तदनन्तर धाय आदि परिवारके साथ यह कन्या मेरे लिए सौंप दी गयी ॥१७०॥ नाना रत्न तथा सुवर्णादि सम्पदासे युक्त कन्याके दोनों भाई विद्या-

१. व्रजतो म.। २. के मे म.। ३ परिवाराढ्या म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्रकार्यसमुद्युक्तौ मित्रदेवौ मया स्मृतौ । स्मरणादेव संप्राप्तौ निधिहस्तौ ममान्तिकम् ॥१७२॥
चारुहंसविमानेन साकं गान्धर्वसेनया । आनीय मित्रदेवौ मां भूत्या विस्मयनीयया ॥१७३॥
सुव्यवस्थाप्य चम्पायामक्षयैर्निधिभिः सह । नत्वा देवौ गतौ स्वर्गं खेचरौ च निजास्पदम् ॥१७४॥
मातुलं मातरं पत्नीं बन्धुवर्गं च सादरम् । दृष्ट्वा तुष्टमतिं प्राप्तं प्राप्तोऽहं सुखितां पराम्[1] ॥१७५॥
तां शुश्रूषाकरीं श्वश्रूं मदणुव्रतभूषिताम् । श्रुत्वा वसन्तसेनां च प्रीतः स्वीकृतवानहम् ॥१७६॥
दत्तं किमिच्छकं दानं दीनानाथाङ्गितर्पणम् । विश्वस्मै बन्धुलोकाय दीयते स्म यथेप्सितम् ॥१७७॥
एष यादव ! संबन्धः कथितस्ते मयाखिलः । खेचरेन्द्रकुमार्या मे विभवस्य च संभवः ॥१७८॥
यदर्थं रक्षिता कन्या सा त्वं प्राप्तोऽसि धन्यया । कृतकृत्यः कृतश्चाहं भवता यदुनन्दन ! ॥१७९॥
प्रत्यासन्नापवर्गस्य मम स्वर्गस्तपस्विभिः । तपःस्थस्योदितश्चेतो यतिष्ये च तपस्यहम् ॥१८०॥
इति गान्धर्वसेनायाः श्रुत्वा संबन्धमादितः । चारुदत्तस्य चोत्साहं तुष्टस्तुष्टाव यादवः ॥१८१॥
अहो चेष्टितमार्यस्य महौदार्यसमन्वितम् । अहो पुण्यबलं गण्यमनन्यपुरुषोचितम् ॥१८२॥
न हि पौरुषमीदृक्षं विना दैवबलं तथा । ईदृक्षान् विभवान् शक्याः प्राप्तुं ससुरखेचराः ॥१८३॥
श्रुत्वेति चारुदत्तीयमात्मीयं च विचेष्टितम् । तस्मै गान्धर्वसेनादिपर्यन्तं यादवोऽवदत् ॥१८४॥

धरोंकी सेना साथ लेकर चम्पानगरीके प्रति आनेके लिए तैयार हो गये ॥१७१॥ उसी समय मित्रका कार्य करनेके लिए उद्यत दोनों मित्र देवोंका मैंने स्मरण किया और स्मरणके बाद ही वे दोनों देव निधियाँ हाथमें लिये हुए मेरे पास आ पहुँचे ॥१७२॥ वे देव, गान्धर्वसेनाके साथ मुझे सुन्दर हंस विमानमें बैठाकर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली सम्पदा सहित चम्पानगरी ले आये। यहाँ आकर अक्षय निधियोंके द्वारा उन्होंने मेरी सब व्यवस्था की। तदनन्तर नमस्कार कर देव स्वर्ग चले गये और दोनों विद्याधर अपने स्थानपर गये ॥१७३-१७४॥ मैं मामा, माता, पत्नी तथा अन्य बन्धुवर्गसे बड़े आदरसे मिला, सबको बड़ा सन्तोष हुआ और मैं भी बहुत सुखी हुआ ॥१७५॥ 'वसन्तसेना वेश्या, अपनी माँके घरसे आकर सासकी सेवा करती रही है तथा अणुव्रतोंसे विभूषित हो गयी है' यह सुनकर मैंने बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकृत कर लिया—अपना बना लिया ॥१७६॥ मैंने दीन तथा अनाथ मनुष्योंको सन्तुष्ट करनेवाला किमिच्छक दान दिया और समस्त कुटुम्बी जनोंके लिए भी उनकी इच्छानुसार वस्तुएँ दीं ॥१७७॥ इस प्रकार हे यादव ! विद्याधर कुमारीका मेरे साथ जो सम्बन्ध है तथा इस विभवकी जो मुझे प्राप्ति हुई है वह सब मैंने आपसे कहा है ॥१७८॥

हे यदुनन्दन ! जिनके लिए यह कन्या रखी गयी थी इस भाग्यशालिनी कन्याने उन्हीं—तुमको प्राप्त किया है इसलिए कहना पड़ता है कि आपने मुझे कृतकृत्य किया है ॥१७९॥ तपस्वियोंने बताया है कि मेरा मोक्ष निकट है और तप धारण करनेसे इस भवके बाद तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा इसलिए अब मैं निश्चिन्त होकर तपके लिए ही यत्न करूँगा ॥१८०॥ इस प्रकार वसुदेव, गान्धर्वसेनाका आदिसे लेकर अन्त तक सम्बन्ध तथा चारुदत्तका उत्साह सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुए और चारुदत्तकी इस तरह स्तुति करने लगे कि अहो ! आपकी चेष्टा अत्यधिक उदारतासे सहित है, अहो ! आपका असाधारण पुण्यबल भी प्रशंसनीय है। बिना भाग्यबलके ऐसा पौरुष होना कठिन है और बिना भाग्यबलके साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है देव तथा विद्याधर भी ऐसे विभवको प्राप्त नहीं हो सकते ॥१८१-१८३॥

इस प्रकार चारुदत्तका वृत्तान्त सुनकर वसुदेवने उसके लिए गान्धर्वसेना आदिकी प्राप्तिपर्यन्त अपना भी समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥१८४॥

१. परं म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यन्योन्यस्वरूपज्ञा रूपविज्ञानसागराः । त्रिवर्गानुभवप्रीताश्चारुदत्तादयः स्थिताः ॥१८५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

क्षीणार्थोऽपि पयोधिमप्यधिगतः कूपावतीर्णोऽप्यतो
दुर्लङ्घ्येऽपि च संचरन् गिरितटे द्वीपान्तरे वा पुमान् ।
लक्ष्मीं धर्मसखः प्रयाति निखिलां पापव्यपायाद्यत-
स्तद्धर्मं जिनबोधितं बुधजनाश्चिन्वन्तु चिन्तामणिम् ॥१८६॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ चारुदत्तचरित्रवर्णनो नाम एकविंशतितमः सर्गः ॥२१॥



इस प्रकार आपसमें एक दूसरेके स्वरूपको जाननेवाले रूप तथा विज्ञानके सागर और त्रिवर्गके अनुभवसे प्रसन्न चारुदत्त आदि सुखसे रहने लगे ॥१८५॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! धर्मात्मा मनुष्य भले ही अत्यन्त निर्धन हो गया हो, समुद्रमें भी गिर गया हो, कुएँमें भी उतर गया हो, पर्वतके अलंघ्य तटपर भी विचरण करने लगा हो और दूसरे द्वीपमें भी जा पहुँचा हो तो भी पाप नष्ट हो जानेसे सम्पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त होता है इसलिए हे विद्वज्जनो ! जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित धर्मरूपी चिन्तामणि रत्नका संचय करो ॥१८६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें चारुदत्तके चरित्रका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वाविंशतितमः सर्गः

चम्पायां रममाणस्य सह गान्धर्वसेनया । वसुदेवस्य संप्राप्तः फाल्गुनाष्टदिनोत्सवः ॥१॥
देवा नन्दीश्वरं द्वीपं खेचरा मन्दरादिकम् । यान्ति वन्दारवः स्थानमानन्दं दधतस्तदा ॥२॥
जन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणप्राप्तितोऽर्हतः । वासुपूज्यस्य पूज्यां तां चम्पां प्रापुः स्फुरद्गृहाम् ॥३॥
आगच्छन्ति तदा कर्तुं जिनेन्द्रमहिमोत्सवम् । सर्वतः पुत्रदाराद्यैर्भूचराश्च नभश्चराः ॥४॥
चम्पावासी जनः सर्वो निश्चक्राम सराजकः । प्रतिमां वासुपूज्यस्य पूज्यां पूजयितुं बहिः ॥५॥
रथैः केचिद्गजैः केचित् वाजियुग्यादिभिः परे । निर्यान्ति स्त्रीजनाः पुर्या यात्रायां चित्रभूषणाः ॥६॥
शौरिरश्वरथारूढः सार्द्धं गान्धर्वसेनया । जिनं पूजयितुं पुर्या निर्यातोऽसौ सपर्यया ॥ ॥
भटमण्डलमध्यस्थो गच्छन् जिनगृहाग्रतः[1] । मातङ्गकन्यकावेषां नृत्यत्कन्यां निरैक्षत ॥८॥
नीलोत्पलदलश्यामां वृत्तोत्तुङ्गपयोधराम् । भूषाविद्युल्लताश्लिष्टां योषां वा प्रावृषः श्रियम् ॥९॥
सुबन्धूकाधरच्छायां सुपद्मपदपाणिकाम् । पुण्डरीकदृशं दृश्यां मूर्त्तामिव शरच्छ्रियम् ॥१०॥
श्रियं ह्रियं धृतिं बुद्धिं लक्ष्मीं चापि सरस्वतीम् । स्वयं जिनेन्द्रभक्त्येव[2] नृत्यन्त मतिरूपिणीम् ॥११॥
स्थितो रङ्गविभागेऽत्र गायकः सपरिग्रहः । मृदङ्गी पणवी चैव दर्दुरी कंसवादकः ॥१२॥

अथानन्तर कुमार वसुदेव चम्पापुरीमें गान्धर्वसेनाके साथ क्रीड़ा करते हुए रहते थे कि उसी समय फाल्गुन मासकी अष्टाह्निकाओंका महोत्सव आ पहुँचा ॥१॥ वन्दनाके प्रेमी एवं हृदयमें आनन्दको धारण करनेवाले देव नन्दीश्वर द्वीपको तथा विद्याधर सुमेरु पर्वत आदि स्थानोंपर जाने लगे ॥२॥ भगवान् वासुपूज्यके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकोंके होनेसे पूज्य एवं देदीप्यमान गृहसे सुशोभित चम्पापुरीमें भी देव और विद्याधर आये ॥३॥ उस समय श्री जिनेन्द्र भगवान्की पूजाका उत्सव करनेके लिए भूमिगोचरी और विद्याधर राजा अपनी स्त्री तथा पुत्र आदिके साथ सर्व ओरसे वहाँ आये थे ॥४॥ चम्पापुरीके रहनेवाले सब लोग भी राजाको साथ ले श्री वासुपूज्य स्वामीकी प्रतिमाको पूजनेके लिए नगरसे बाहर गये ॥५॥ उस समय नाना प्रकारके आभूषणोंको धारण करनेवाली स्त्रियाँ नगरसे बाहर जा रही थीं। उनमें कितनी ही हाथी-पर बैठकर तथा कितनी ही घोड़े एवं बैल आदिपर बैठकर जा रही थीं ॥६॥ कुमार वसुदेव भी गान्धर्वसेनाके साथ घोड़ोंके रथपर आरूढ़ हो श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा करनेके लिए सामग्री साथ लेकर नगरीसे बाहर निकले ॥७॥ अनेक योद्धाओंके मध्यमें जाते हुए कुमार वसुदेवने वहाँ जिनमन्दिरके आगे मातंगकन्याके वेषमें नृत्य करती हुई एक कन्याको देखा ॥८॥ वह कन्या नील कमल दलके समान श्याम थी, गोल एवं उठे हुए स्तनोंसे युक्त थी तथा बिजलीके समान चमकते हुए आभूषणोंसे सहित थी इसलिए हरी-भरी, ऊँचे मेघोंसे युक्त एवं चमकती हुई बिजली-से युक्त वर्षा ऋतुकी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥९॥ अथवा उसके ओठ बन्धूकके पुष्पके समान लाल थे, उसके हाथ-पैर उत्तम कमलके समान थे और नेत्र सफेद कमलके समान थे, इसलिए वह साक्षात् मूर्तिमती शरद् ऋतुकी लक्ष्मीके समान दिखाई देती थी ॥१०॥ अथवा वह रूपवती कन्या जिनेन्द्र भगवान्की भक्तिसे स्वयं नृत्य करती हुई श्री, धृति, बुद्धि, लक्ष्मी एवं सरस्वती देवीके समान जान पड़ती थी ॥११॥ नृत्यकी रंगभूमिमें गानेवाले अपने परिकरके साथ स्थित थे। मृदंग, पणव, दर्दुर, झाँझ, विपंची और वीणा बजानेवाले वादक तथा उत्तम

१. जिनगृहागतः म. । २. जिनेन्द्रभक्तेव म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैपञ्ची वैणिकश्चैष कुतुपः परिभाषितः । उद्यमाधममध्याभिः स्थितः प्रकृतिभिर्युतः ॥१३॥
कुतुपेषु[1] यथास्थानं सुप्रयुक्तं प्रयोक्तृभिः । अलातचक्रप्रतिमं गानं वाद्यं च नाटकम् ॥१४॥
रसाभिनयभावानामभिव्यक्तिं सुनर्त्तकी । सा कुर्वाणा रथस्थेन शौरिणैक्षि सजानिना ॥१५॥
रूपविज्ञानपाशेन तं बबन्धाशु सा स ताम् । बन्धव्यबन्धकत्वं तावन्योन्यस्य तदापतुः ॥१६॥
ततो गान्धर्वसेनाभूदीर्ष्याकुञ्चितलोचना । विपक्षस्य हि सांनिध्यमक्षिसंकोचकारणम् ॥१७॥
सापायमत्र विस्रासकोपायं च चिरस्थितम् । मन्वाना सारथिं साह धन्विनो रथिनः प्रिया ॥१८॥
क्षिप्रमस्मात्प्रदेशात्त्वं रथं प्रेरय सारथे । शर्कराप्यलमास्वादा[3]न्नाददाति रसान्तरम् ॥१९॥
इत्युक्तो नोदयद्वेगात्सारथी रथमाप सः । जिनवेश्म तमास्थाप्य तौ प्रविष्टौ प्रदक्षिणम् ॥२०॥
क्षीरेक्षुरसधारौघैर्घृतदध्युदकादिभिः । अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥२१॥
हरिचन्दनगन्धाढ्यैर्गन्धशाल्यक्षताक्षतैः । पुष्पैर्नानाविधैरुद्धैर्धूपैः कालागुरूद्भवैः ॥२२॥
दीपैर्दीप्रशिखाजालैर्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः । तावानर्चतुरर्चां तामर्चनाविधिकोविदौ ॥२३॥
समपादौ पुरः स्थित्वा जिनार्चनकृताञ्जली । उच्चार्योपांशु[4]पाठेन प्रागीर्यापथदण्डकम् ॥२४॥

नृत्य करनेवाले कुतुप उत्तम, मध्यम और जघन्य प्रकृतिके साथ युक्त थे। इनमें जो अच्छेसे-अच्छे प्रयोग दिखलानेवाले थे वे यथास्थान अलातचक्रके समान—व्यवधानरहित गायन-वादन और नर्तनके प्रयोग दिखला रहे थे[5] ॥१२-१४॥ इस प्रकार रस, अभिनय और भावोंको प्रकट करनेवाली उस नर्तकीको प्रिया गान्धर्वसेनाके साथ रथपर बैठे हुए कुमार वसुदेवने देखा ॥१५॥ देखते ही उस नर्तकीने कुमारको और कुमारने उस नर्तकीको अपने-अपने रूप तथा विज्ञानरूपी पाशसे शीघ्र ही बाँध लिया। उस समय वे दोनों ही आपसमें बन्धव्य और बन्धक दशाको प्राप्त हुए थे अर्थात् एक-दूसरेको अनुरागरूपी पाशमें बांध रहे थे ॥१६॥ यह देख गान्धर्वसेनाने अपने नेत्र ईर्ष्यासे संकुचित कर लिये सो ठीक ही है क्योंकि विरोधीका सन्निधान नेत्र संकोचका कारण होता ही है ॥१७॥ 'यहाँ अधिक ठहरना हानिकर एवं भयको उत्पन्न करनेवाला है' ऐसा मानती हुई गान्धर्वसेनाने सारथीसे कहा कि हे सारथे! तुम इस स्थानसे शीघ्र ही रथ ले चलो क्योंकि शक्कर भी अधिक खानेसे दूसरा रस नहीं देती ॥१८-१९॥ गान्धर्वसेनाके ऐसा कहनेपर सारथीने रथको वेगसे बढ़ाया और सब जिनमन्दिर जा पहुँचे। वहाँ रथको खड़ा कर वसुदेव और गान्धर्वसेनाने मन्दिरमें प्रवेश किया, तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और दूध, इक्षुरसकी धारा, घी, दही तथा जल आदिके द्वारा मनुष्य, सुर एवं असुरोंके द्वारा पूजित जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका अभिषेक किया ॥२०-२१॥ दोनों ही पूजाकी विधिमें अत्यन्त निपुण थे इसलिए उन्होंने हरिचन्दनको गन्ध, धानके सुगन्धित एवं अखण्ड चावल, नाना प्रकारके उत्तमोत्तम पुष्प, कालागुरु, चन्दनसे निर्मित उत्तम धूप, देदीप्यमान शिखाओंसे युक्त दीपक और निर्दोष नैवेद्यसे जिन-प्रतिमाकी पूजा की ॥२२-२३॥ पूजाके बाद वे सामायिकके लिए उद्यत हुए सो प्रथम ही दोनों पैर बराबर कर जिनप्रतिमाके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तदनन्तर ईर्यापथ दण्डकका मन्द स्वर से उच्चारण कर कायोत्सर्ग करने लगे। कायोत्सर्गके द्वारा उन्होंने ईर्यापथ शुद्धि की। तत्पश्चात्

१. नटपेटकः (ग. टि.)। २. नटपेटकेषु (ग. टि)। ३. -मास्वाद्य नाददति म.। ४. उपांशु इत्यप्रकाशोच्चारणरहस्ययोः। ५. प्रयोगस्त्रिविधो ह्येषां विज्ञेयो नाटकाश्रयः। ततं चैवावनद्धं च तथा नाट्यकृतश्च सः ॥३॥ ततं कुतपविन्यासो गायनः सपरिग्रहः। वैपञ्चिको वैणिकश्च वंशवादक एव च ॥४॥ मार्दङ्गिकः पाणविकस्तथा दार्दुरिको बुधैः। अनाविद्धविधावेष कुतपः समुदाहृतः ॥५॥ उत्तमाधममध्याभिस्तथा प्रकृतिभिर्युतः। कुतपो नाट्ययोगेऽत्र नानादेशसमाश्रयः ॥६॥ एवं गानं च नाट्यं च वाद्यं च विविधाश्रयम्। अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥७॥—नाट्यशास्त्र, अध्याय २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्गविधानेन शोधितेर्यापथौ पथि । जैनेऽतिनिपुणौ क्षोण्यां निषण्णौ[1] पुनरुत्थितौ ॥२५॥
पुण्यपञ्चनमस्कारपदपाठपवित्रितौ । चतुरुत्तममाङ्गल्यशरणप्रतिपादिनौ[2] ॥२६॥
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ससप्ततिशतात्मके । धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमोऽस्त्विति ॥२७॥
सामायिकं करोमीति सर्वं सावद्ययोगकम् । संप्रत्याख्यामि कायं च तावदित्युज्झिताङ्गकौ ॥२८॥
शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे जीविते मरणेऽपि वा । समतालाभलाभे मे तावदित्यन्तराशयौ ॥२९॥
सप्तप्राणप्रमाणं तु स्थित्वा कृत्वा शिरोऽञ्जलिम् । इत्युदाहरतां श्रव्यं तौ चतुर्विंशतिस्तवम् ॥३०॥
ऋषभाय नमस्तुभ्यमजिताय नमो नमः । शम्भवाय नमः शश्वदभिनन्दन ! ते नमः ॥३१॥
नमः सुमतिनाथाय नमः पद्मप्रभाय ते । नमः सुपार्श्व[3]विश्वेशे नमश्चन्द्रप्रभार्हते ॥३२॥
नमस्ते पुष्पदन्ताय नमः शीतलतायिने । नमोऽस्तु श्रेयसे[4] श्रीशे श्रेयसे श्रितदेहिनाम् ॥३३॥
नमोऽस्तु वासुपूज्याय सुपूज्याय जगत्त्रये । वर्तते यस्य चम्पायां निःकम्पोऽयं महामहः ॥३४॥
विमलाय नमो नित्यमनन्ताय नमो नमः । नमो धर्मजिनेन्द्राय शान्तये शान्तये नमः ॥३५॥
नमस्ते कुन्थुनाथाय तथाराय नमस्त्रिधा । मल्लये शल्यमल्लाय मुनिसुव्रत ! ते नमः ॥३६॥

जिनेन्द्र प्रदर्शित मार्गमें अतिशय निपुणता रखनेवाले दोनों, नमस्कार करनेके लिए जमीनपर पड़ गये, फिर उठकर खड़े हुए। पंच नमस्कार मन्त्रके पाठसे अपने-आपको उन्होंने पवित्र किया, अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रज्ञप्त धर्म ये चार ही संसारमें उत्तम पदार्थ हैं, चार ही मंगल हैं और इन चारोंकी शरणमें हम जाते हैं इस प्रकार उच्चारण किया। 'अढ़ाई द्वीपके एक सौ सत्तर धर्मक्षेत्रोंमें जो तीर्थंकर आदि पहले थे, वर्तमानमें हैं और आगे होंगे उन सबके लिए हमारा नमस्कार हो' यह कहकर उन्होंने निम्नांकित नियम ग्रहण किया कि हम जबतक सामायिक करते हैं तबतकके लिए समस्त सावद्य योग और शरीरका त्याग करते हैं—यह नियम लेकर उन्होंने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया और शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा लाभ-अलाभमें मेरे समता भाव हो ऐसा मनमें विचार किया। तदनन्तर सात श्वासोच्छ्वास प्रमाण खड़े रहकर उन्होंने शिरोनति की और उसके बाद चौबीस तीर्थंकरोंके सुन्दर स्तोत्रका उच्चारण किया ॥२४–३०॥ चौबीस तीर्थंकरोंका स्तोत्र इस प्रकार था—

हे ऋषभदेव ! तुम्हें नमस्कार हो, हे अजितनाथ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे शम्भवनाथ ! तुम्हें निरन्तर नमस्कार हो, हे अभिनन्दन नाथ ! तुम्हें नमस्कार हो ॥३१॥ हे सुमतिनाथ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे पद्मप्रभ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे जगत्के स्वामी सुपार्श्वनाथ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! तुम्हें नमस्कार हो ॥३२॥ हे पुष्पदन्त ! तुम्हें नमस्कार हो, हे शीतलनाथ ! आप रक्षा करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो, हे श्रेयांसनाथ ! आप अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी हैं तथा आश्रित प्राणियोंका कल्याण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥३३॥ जिनका चम्पापुरीमें यह अचल महोत्सव मनाया जा रहा है तथा जो तीनों जगत्में पूज्य हैं ऐसे वासुपूज्य भगवान्के लिए नमस्कार हो ॥३४॥ हे विमलनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे अनन्तनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे धर्मजिनेन्द्र ! आपको नमस्कार हो, हे शान्तिके करनेवाले शान्तिनाथ ! आपको नमस्कार हो ॥३५॥ हे कुन्थुनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे अरनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे मल्लिनाथ ! आप शल्योंको नष्ट करनेके लिए मल्लके समान हैं अतः

१. निष्पन्नौ म., ग. । २. 'चत्तारि मंगलं—अरहन्ता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा—अरहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि । ३. विश्वस्य ईट् विश्वेट् तस्मै । ४. श्रिया ईट् श्रीट् तस्मै ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमोऽस्तु नमिनाथाय नतत्रिभुवनेशिने[1] । यस्येदं वर्तते तीर्थं साम्प्रतं भरतावनौ ॥३७॥
अरिष्टनेमिनाथाय भविष्यत्तीर्थकारिणे । हरिवंशमहाकाशशशाङ्काय नमो नमः ॥३८॥
नमः पार्श्वजिनेन्द्राय श्रीवीराय नमोऽस्तु ते । सर्वतीर्थङ्कराणां च गणेन्द्रेभ्यो नमः सदा ॥३९॥
कृत्रिमाकृत्रिमेभ्यश्च सदनेभ्योऽर्हतां नमः । भुवनत्रयवर्तिभ्यः प्रतिबिम्बेभ्य एव च ॥४०॥
इत्थं कृत्वा स्तवं भक्त्या तौ प्रहृष्टतनूरुहौ । प्रणेमतुः शिरोजानुकरस्पृष्टधरातलौ ॥४१॥
पूर्ववत्पुनरुत्थाय कायोत्सर्जनयोगतः । पुण्यं पञ्चगुरुस्तोत्रमुदीरचीचरतामिति[2] ॥४२॥
अर्हद्भ्यः सर्वदा सर्वसिद्धेभ्यः सर्वभूमिषु । आचार्येभ्य उपाध्यायसाधुभ्यश्च नमो नमः ॥४३॥
परीत्य जिष्णुधिष्ण्यं[3] तौ रथमारुह्य हारिणौ । प्रविष्टौ दम्पती चम्पां संपदा परया ततः ॥४४॥
नर्तकीप्रेक्षणक्षिप्तचक्षुरिङ्गितलक्षितः । स तां प्रणाममात्रेण मानिनीमनयद्वशम् ॥४५॥
विपक्षप्रेक्षणासक्तिसापराधेऽपि भर्तरि । स्त्रीणां प्रणयकोपस्य प्रणामो हि निवर्तकः ॥४६॥
अथ विद्याधरी वृद्धा वृद्धा विद्येव रूपिणी । तत्कन्ययान्यदोत्सृष्टा त्रिपुण्ड्रकृतमण्डना ॥४७॥
एकान्ते सुस्थितं हर्म्ये कथंचिच्चित्तहारिणी । दत्ताशीः[4] शौरिमाहैवमासीना संमुखासने ॥४८॥
पुराणवस्तुनो वीर ! विस्तरस्तव चेतसि । शुद्धादर्शतले यद्वद् यद्यपि प्रतिभासते ॥४९॥

आपको नमस्कार हो, हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपको नमस्कार हो ॥३६॥ जिन्हें तीन लोकके स्वामी सदा नमस्कार करते हैं और इस समय भरत क्षेत्रमें जिनका तीर्थ चल रहा है उन नमिनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥३७॥ जो आगे तीर्थंकर होनेवाले हैं तथा जो हरिवंशरूपी महान् आकाशमें चन्द्रमाके समान सुशोभित होंगे उन अरिष्टनेमिको नमस्कार हो ॥३८॥ श्रीपार्श्वजिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो, श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार हो, समस्त तीर्थंकरोंके गणधरोंको नमस्कार हो, श्रीअरहन्त भगवान्‌के त्रिलोकवर्ती कृत्रिम अकृत्रिम मन्दिरों तथा प्रतिबिम्बोंके लिए नमस्कार हो ॥३९–४०॥ इस प्रकार स्तवन कर भक्तिके कारण जिनके शरीरमें रोमांच उठ रहे थे ऐसे कुमार वसुदेव तथा गान्धर्वसेनाने मस्तक, घुटने तथा हाथोंसे पृथिवीतलका स्पर्श करते हुए प्रणाम किया ॥४१॥ तदनन्तर पहलेके समान खड़े होकर कायोत्सर्ग किया और पुण्यवर्धक पंच नमस्कार मन्त्रका उच्चारण किया ॥४२॥ पंच नमस्कार मन्त्र पढ़ते हुए उन्होंने कहा कि अरहन्तोंको सदा नमस्कार हो, समस्त सिद्धोंको नमस्कार हो, और समस्त पृथिवीमें जो आचार्य, उपाध्याय तथा साधु हैं उन सबके लिए नमस्कार हो ॥४३॥ अन्तमें जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा देकर सुन्दर शरीरके धारक दोनों दम्पति रथपर सवार हो बड़े वैभवके साथ चम्पापुरीमें प्रविष्ट हुए ॥४४॥ नृत्यकारिणीको देखते समय कुमार वसुदेवके नेत्रोंमें जो विकार हुआ था वह गान्धर्वसेनाकी दृष्टिमें आ गया था इसलिए वह उनसे मान करने लगी थी परन्तु कुमारने प्रणाम कर उसे वश कर लिया॥४५॥ सो ठीक ही है क्योंकि सपत्नीके देखनेमें आसक्ति होनेसे पतिके सापराध होनेपर भी हाथ जोड़कर किया हुआ नमस्कार स्त्रियोंके मानको दूर कर देता है ॥४६॥

अथानन्तर किसी समय कुमार वसुदेव महलके एकान्त स्थानमें अच्छी तरह बैठे थे कि उस नृत्य करनेवाली कन्याके द्वारा भेजी हुई एक वृद्धा विद्याधरी उनके पास आयी। वह वृद्धा त्रिपुण्डाकार तिलकसे सुशोभित थी, कुमार वसुदेवके चित्तको हरनेवाली थी, और मूर्तिमती वार्धक्य विद्याके समान जान पड़ती थी। उसने आते ही कुमारको आशीर्वाद दिया और सामनेके आसनपर बैठकर कुमारसे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥४७–४८॥ हे वीर ! यद्यपि आपके हृदयमें शुद्ध दर्पणतलके समान पुराणोंका विस्तार प्रतिभासित हो रहा है तथापि मैं विद्याधरोंसे

१. नमस्त्रिभुवने सदा ख., ग., घ., ङ. । नमितस्त्रिभुवने सदा म. । २. -मुदरीरचतामिति म. । ३. जिनगृहम् । ४. वसुदेवम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथाप्यनूद्यते वस्तु मया विद्याधरश्रितम् । [1]रोचिषौषधिनाथस्य स्पृष्टं किं नौषधिः स्पृशेत् ॥५०॥
प्रदर्शितजगज्जीव्यो[2] युगाद्यो वृषभेश्वरः । भरतेश्वरविन्यस्तराज्योऽसौ प्राव्रजद् यदा ॥५१॥
राजछत्रोग्रभोजाद्यास्तदा तत्तपसि स्थिताः । चतुःसहस्रसंख्या ये प्राग्भग्नाश्च परीषहैः ॥५२॥
तेषां मध्ये तु यौ भग्नौ नमिर्विनमिरित्युभौ । भ्रातरौ पादयोर्लग्नौ भर्तुस्तस्थतुरर्थिनौ ॥५३॥
धरणेन शरण्येन निर्गत्य धरणैः सह । दित्यदित्यभिधानाभ्यां देवीभ्यामागतेन तौ ॥५४॥
आश्वास्य जिनभक्तेन विद्याकोशो जिनान्तिके । ताभ्यां प्रदापितस्तेन स्वदेवीभ्यां महात्मना ॥५५॥
विद्यानामदितिस्त्वष्टौ निकायान् पददौ तदा । गान्धर्वसेनकश्चासौ विद्याकोशः प्रकाशितः ॥५६॥
मनुश्च मानवस्तत्र निकायः कौशिकस्तदा । गौरिकश्चैव गान्धारो भूमितुण्डश्च खण्डितः ॥५७॥
निकायौ चापरौ ख्यातौ मूलवीर्यकशङ्कुकौ । ते चार्यादित्यगन्धर्वास्तथा व्योमचराः स्मृताः ॥५८॥
दित्या चाष्टौ निकायास्ते वितीर्णाः पन्नगामिधाः । मातङ्गः पाण्डुकः कालः स्वपाकः पर्वतोऽपि च ॥५९॥
वंशालयः पांशुमूलो वृक्षमूलस्तथाष्टमः । दैत्यपन्नगमातङ्गनामतः परिभाषिताः ॥६०॥
षोडशानां निकायानामिमा विद्याः प्रकीर्तिताः । सर्वविद्याप्रधानत्वं याः प्रपद्य व्यवस्थिताः ॥६१॥
प्रज्ञप्ती रोहिणी विद्या विद्या चाङ्गारिणीरिता । महागौरी च गौरी च [3]सर्वविद्याप्रकर्षिणी ॥६२॥
महाश्वेतापि मायूरी हारी निर्वज्रशाङ्वला । सा [4]तिरस्करिणी विद्या छायासंक्रामिणी परा ॥६३॥
कूष्माण्डगणमाता च सर्वविद्याविराजिता । आर्यकूष्माण्डदेवी च देवदेवो नमस्कृता ॥६४॥

सम्बन्ध रखनेवाली एक बात आपसे कहती हूँ और यह उचित भी है क्योंकि ओषधियोंका नाथ—चन्द्रमा अपनी किरणोंसे जिसका स्पर्श कर चुकता है क्या सामान्य ओषधि उसका स्पर्श नहीं कर सकती ? अर्थात् अवश्य कर सकती है ? भावार्थ—बड़े पुरुष जिस वस्तुको जानते हैं उसे छोटे पुरुष भी जान सकते हैं ॥४९-५०॥ जिस समय जगत्को आजीविकाका उपाय बतलाने वाले, युगके आदिपुरुष भगवान् वृषभदेव भरतेश्वरके लिए राज्य देकर दीक्षित हुए थे उस समय उनके साथ उग्रवंशीय, भोजवंशीय आदि चार हजार क्षत्रिय राजा भी तपमें स्थित हुए थे परन्तु पीछे चलकर वे परीषहोंसे भ्रष्ट हो गये। उन भ्रष्ट राजाओंमें नमि और विनमि ये दो भाई भी थे। ये दोनों राज्यकी इच्छा रखते थे इसलिए भगवान्के चरणोंमें लगकर वहीं बैठ गये ॥५१-५३॥ उसी समय रक्षा करनेमें निपुण जिन-भक्त धरणेन्द्रने अनेक धरणों—देवविशेषों और दिति तथा अदिति नामक अपनी देवियोंके साथ आकर नमि, विनमिको आश्वासन दिया और अपनी देवियोंसे उस महात्माने वहीं जिनेन्द्र भगवान्के समीप उन दोनोंके लिए विद्याकोश—विद्याका भाण्डार दिलाया ॥५४-५५॥ अदिति देवीने उन्हें विद्याओंके आठ निकाय दिये तथा गान्धर्वसेनक नामका विद्याकोश बतलाया ॥५६॥ विद्याओंके आठ निकाय इस प्रकार थे—१ मनु, २ मानव, ३ कौशिक, ४ गौरिक, ५ गान्धार, ६ भूमितुण्ड, ७ मूलवीर्यक और ८ शंकुक। ये निकाय आर्य, आदित्य, गन्धर्व तथा व्योमचर भी कहलाते हैं ॥५७-५८॥ धरणेन्द्रकी दूसरी देवी दितिने भी उन्हें १ मातंग, २ पाण्डुक, ३ काल, ४ स्वपाक, ५ पर्वत, ६ वंशालय, ७ पांशुमूल और ८ वृक्षमूल ये आठ निकाय दिये। ये निकाय दैत्य, पन्नग और मातंग नामसे कहे जाते हैं ॥५९-६०॥ इन सोलह निकायोंकी नीचे लिखी विद्याएँ कही गयी हैं जो समस्त विद्याओंमें प्रधानताको प्राप्त कर स्थित हैं ॥६१॥ प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अंगारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्याप्रकर्षिणी, महाश्वेता, मायूरी, हारी, निर्वज्रशाङ्वला, तिरस्करिणी, छायासंक्रामिणी, कूष्माण्ड गणमाता, सर्वविद्याविराजिता, आर्य कूष्माण्डदेवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निर्वृति, दण्डाध्यक्षगण, दण्डभूत-

---

१. ओषधिनाथस्य चन्द्रस्य रोचिषा कान्त्या स्पृष्टमिति संबन्धः । शोचिषौषधिनाथस्य ख., ग., घ., ङ. । २. जीवो ग., ड. । ३. सर्वविद्यापकर्षिणी म. । ४. तिरस्कारिणी म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्युतार्यवती चापि गान्धारी निर्वृतिः परा । दण्डाध्यक्षगणश्चापि दण्डभूतसहस्रकम् ॥६५॥
भद्रकाली महाकाली काली कालमुखी तथा । एवमाद्याः समाख्याता विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥६६॥
एकपर्वा द्विपर्वा च त्रिपर्वा दशपर्विका । शतपर्वा सहस्राख्या लक्षपर्वावलक्षिता ॥६७॥
उत्पातिन्यश्च ताः सर्वास्त्रिपातिन्यस्तथापि च । धारिण्यन्तर्विचारिण्यो जलाग्निगतिदक्षिणाः ॥६८॥
निःशेषेषु निकायेषु नानाशक्तिसमन्विताः । नानानगनिवासिन्यो नानौषधिविदस्तथा ॥६९॥
सर्वार्थसिद्धा सिद्धार्था जयन्ती मङ्गला जया । संक्रामिण्यः प्रहाराणामशय्याराधनी[२] तथा ॥७०॥
विशल्यकारिणी चैव व्रणसंरोहिणी तथा । सवर्णकारिणी चैव मृतसंजीवनी परा ॥७१॥
सर्वाः परमकल्याण्यः सर्वा मन्त्रपरिष्कृताः । सर्वविद्याबलैर्युक्ताः सर्वलोकहितावहाः ॥७२॥
सर्वाः पठितविद्यास्ता विद्या दिव्यौषधिस्तथा । धरणो नमये तस्मै ददौ विनमयेऽप्यसौ ॥७३॥
धरणेन्द्रवितीर्णे च विजयार्धे धराधरे । नमिर्दक्षिणमागेऽस्थादुत्तरे विनमिस्तथा ॥७४॥
नानाजनपदोपेतौ मित्रबान्धवसंस्तुतौ । सुखेन तस्थतुर्वीरौ तौ श्रेण्योरुभयोरुभौ ॥७५॥
ओषधीश्चापि विद्याश्च सर्वेभ्यो ददतुश्च तौ । विद्यानिकायसंज्ञाभिः ख्याताः विद्याधराश्च ते ॥७६॥
गौरीणां गौरिका वेद्या मनूनां मनुनामकाः । गान्धारीणां च गान्धारा मानवीनां च मानवाः ॥७७॥
कौशिकानां च विद्यानां वेद्याः कौशिकनामकाः । भूमितुण्डकविद्यायां भूमितुण्डाः प्रभाषिताः ॥७८॥
तथैव मूलवीर्यास्तु मूलवीर्यकखेचराः । शङ्कुकानां च विद्यानां शङ्कुकाः खेचराः स्मृताः ॥७९॥
विद्यानां पाण्डुकीनां च पाण्डुकेयाः प्रभाषिताः । कालाः कालकविद्यानां स्वपाकानां स्वपाकजाः ॥८०॥
मातङ्गीनां च विद्यानां मातङ्गा नामतो मताः । पर्वतानां च विद्यानां पार्वतेयाः खचारिणः ॥८१॥
वंशालयानां विद्यानां वंशालयगणः स्मृतः । पांशुमूलकविद्यानां विज्ञेयाः पांशुमूलिकाः ॥८२॥
विद्यानां वृक्षमूलानां खेचरा वार्क्षमूलिकाः । एवं ते क्रमशः प्रोक्ता निकायानां खचारिणः ॥८३॥
दशोत्तरशतं तेषां नगराणि खगामिनाम् । षष्टिरुत्तरभागे स्युः पञ्चाशद्दक्षिणे पुनः ॥८४॥

सहस्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली और कालमुखी—इन्हें आदि लेकर विद्याधर राजाओंकी अनेक विद्याएँ कही गयी हैं ॥६२-६६॥ इनके सिवाय एकपर्वा, द्विपर्वा, त्रिपर्वा, दशपर्वा, शतपर्वा, सहस्रपर्वा, लक्षपर्वा, उत्पातिनी, त्रिपातिनी, धारिणी, अन्तर्विचारिणी, जलगति और अग्निगति ये विद्याएँ समस्त निकायोंमें नाना प्रकारकी शक्तियोंसे सहित हैं, नाना पर्वतोंपर निवास करनेवाली हैं एवं नाना ओषधियोंकी जानकार हैं ॥६७-६९॥ सर्वार्थसिद्धा, सिद्धार्था, जयन्ती, मंगला, जया, प्रहारसंक्रामिणी, अशय्याराधिनी, विशल्यकारिणी, व्रणसंरोहिणी, सवर्णकारिणी और मृतसंजीवनी—ये सभी विद्याएँ परम कल्याणरूप हैं, सभी मन्त्रोंसे परिष्कृत हैं, सभी विद्याबलसे युक्त हैं, सभी लोगोंका हित करनेवाली हैं। ये ऊपर कही हुई समस्त विद्याएँ तथा दिव्य ओषधियाँ धरणेन्द्रने नमि और विनमिको दीं ॥७०-७३॥ धरणेन्द्रके द्वारा दिये हुए विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें नमि रहता था और उत्तर श्रेणीमें विनमि निवास करता था ॥७४॥ नाना देशवासियोंसे सहित एवं मित्र तथा बन्धुजनोंसे परिचित दोनों वीर विजयार्धकी दोनों श्रेणियोंमें सुखसे निवास करने लगे ॥७५॥ इन दोनोंने सब लोगोंको अनेक ओषधियाँ तथा विद्याएँ दी थीं इसलिए वे विद्याधर उन्हीं विद्या-निकायोंके नामसे प्रसिद्ध हो गये ॥७६॥ जैसे गौरी विद्यासे गौरिक, मनुसे मनु, गान्धारीसे गान्धार, मानवीसे मानव, कौशिकीसे कौशिक, भूमितुण्डकसे भूमितुण्ड, मूलवीर्यसे मूलवीर्यक, शंकुकसे शंकुक, पाण्डुकीसे पाण्डुकेय, कालकसे काल, श्वपाकसे श्वपाकज, मातंगीसे मातंग, पर्वतसे पार्वतेय, वंशालयसे वंशालय गण, पांशुमूलसे पांशुमूलिक और वृक्षमूलसे वार्क्षमूल—इस प्रकार विद्यानिकायोंसे सिद्ध होनेवाले विद्याधरोंका क्रमसे उल्लेख किया ॥ ७७-८३ ॥ विद्याधरोंकी कुल नगरियाँ एक सौ दश दश हैं, उनमें उत्तर भागमें

१. अच्युताजंवती ग. । २. अशब्दाराधिनी ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदित्यनगरं रम्यं पुरं गगनवल्लभम् । पुरी चमरचम्पा च पुरं गगनमण्डलम् ॥८५॥
विजयं वैजयन्तं च शत्रुंजयमरिंजयम् । पद्माल केतुमालं च रुद्राश्वं च धनंजयम् ॥८६॥
वस्वौकं सारनिवहं जयन्तमपराजितम् । वराहं हस्तिनं सिंहं सौकरं हस्तिनायकम् ॥८७॥
पाण्डुकं कौशिकं वीरं गौरिकं मानवं मनुः । चम्पा काञ्चनमैशानं मणिवज्रं जयावहम् ॥८८॥
नैमिषं हास्तिविजयं खण्डिका मणिकाञ्चनम् । अशोकं वेणुमानन्दं नन्दनं श्रीनिकेतनम् ॥८९॥
अग्निज्वालं महाज्वालं माल्यं तत्पुरनन्दिनौ । विद्युत्प्रभं महेन्द्रं च विमलं गन्धमादनम् ॥९०॥
महापुरं पुष्पमालं मेघमालं शशिप्रभम् । चूडामणिं पुष्पचूडं हंसगर्भं बलाहकम् ॥९१॥
वंशालयं सौमनसं तथैव परिकीर्त्तितम् । विजयार्धोत्तरश्रेण्यां षष्टिरिष्टा इमाः पुरः ॥९२॥
रथनूपुरमानन्दं चक्रवालमरिंजयम् । मण्डितं बहुकेत्वाख्यं नगरं शकटामुखम् ॥९३॥
पुरं गन्धसमृद्धं च नगरं शिवमन्दिरम् । वैजयन्तं रथपुरं श्रीपुरं रत्नसंचयम् ॥९४॥
आषाढं मानवं सूर्यं स्वर्णनाभं शतह्रदम् । अङ्गावर्तं जलावर्त्तं तथावर्त्तं बृहद्गृहम् ॥९५॥
शङ्खवज्रं च नाभान्तं मेघकूटं मणिप्रभम् । कुञ्जरावर्त्तनगरं तथैवासितपर्वतम् ॥९६॥
सिन्धुकक्षं महाकक्षं सुकक्षं चन्द्रपर्वतम् । श्रीकूटं गौरिकूटं च लक्ष्मीकूटं धराधरम् ॥९७॥
कालकेशपुरं रम्यं पार्वतेयं हिमाह्वयम् । किन्नरोद्गीतनगरं नभस्तिलकनामकम् ॥९८॥
मगधासारनलकां पांशुमूलं परं तथा । दिव्यौषधं चार्कमूलं तथैवोदयपर्वतम् ॥९९॥
विख्यातामृतधारं च मातङ्गपुरमेव च । भूमिकुण्डलकूटं च जम्बूशङ्कुपुरं परम् ॥१००॥
श्रेण्यां तु दक्षिणस्यां हि पुराण्येतानि पर्वते । शोभया स्वर्गतुल्यानि पञ्चाशच्चैव संख्यया ॥१०१॥
पुरेषु तेषु च स्तम्भास्तन्निकायाख्ययाहिताः । ऋषभाधीशनागेशदित्यदित्यर्चयाङ्किताः ॥१०२॥

साठ हैं और दक्षिण भागमें पचास हैं ॥८४॥ १ आदित्यनगर, २ गगनवल्लभ, ३ चमरचम्पा, ४ गगनमण्डल, ५ विजय, ६ वैजयन्त, ७ शत्रुंजय, ८ अरिंजय, ९ पद्माल, १० केतुमाल, ११ रुद्राश्व, १२ धनंजय, १३ वस्वौक, १४ सारनिवह, १५ जयन्त, १६ अपराजित, १७ वराह, १८ हास्तिन, १९ सिंह, २० सौकर, २१ हस्तिनायक, २२ पाण्डुक, २३ कौशिक, २४ वीर, २५ गौरिक, २६ मानव, २७ मनु, २८ चम्पा, २९ कांचन, ३० ऐशान, ३१ मणिव्रज, ३२ जयावह, ३३ नैमिष, ३४ हास्तिविजय, ३५ खण्डिका, ३६ मणिकांचन, ३७ अशोक, ३८ वेणु, ३९ आनन्द, ४० नन्दन, ४१ श्रीनिकेतन, ४२ अग्निज्वाल, ४३ महाज्वाल, ४४ माल्य, ४५ पुरु, ४६ नन्दिनी, ४७ विद्युत्प्रभ, ४८ महेन्द्र, ४९ विमल, ५० गन्धमादन, ५१ महापुर, ५२ पुष्पमाल, ५३ मेघमाल, ५४ शशिप्रभ, ५५ चूडामणि, ५६ पुष्पचूड़, ५७ हंसगर्भ, ५८ वलाहक, ५९ वंशालय, और ६० सौमनस—ये साठ नगरियाँ विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें हैं ॥८५-९२॥ और १ रथनूपुर, २ आनन्द, ३ चक्रवाल, ४ अरिंजय, ५ मण्डित, ६ बहुकेतु, ७ शकटामुख, ८ गन्धसमृद्ध, ९ शिवमन्दिर, १० वैजयन्त, ११ रथपुर, १२ श्रीपुर, १३ रत्नसंचय, १४ आषाढ़, १५ मानस, १६ सूर्यपुर, १७ स्वर्णनाभ, १८ शतह्रद, १९ अंगावर्त, २० जलावर्त, २१ आवर्तपुर, २२ बृहद्गृह, २३ शंखवज्र, २४ नाभान्त, २५ मेघकूट, २६ मणिप्रभ, २७ कुंजरावर्त, २८ असितपर्वत, २९ सिन्धुकक्ष, ३० महाकक्ष, ३१ सुकक्ष, ३२ चन्द्रपर्वत, ३३ श्रीकूट, ३४ गौरिकूट, ३५ लक्ष्मीकूट, ३६ धराधर, ३७ कालकेशपुर, ३८ रम्यपुर, ३९ हिमपुर, ४० किन्नरोद्गीतनगर, ४१ नभस्तिलक, ४२ मगधासारनलका, ४३ पांशुमूल, ४४ दिव्यौषध, ४५ अर्कमूल, ४६ उदयपर्वत, ४७ अमृतधार, ४८ मातंगपुर, ४९ भूमिकुण्डलकूट तथा ५० जम्बूशंकुपुर ये पचास नगरियाँ विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमे हैं। ये सभी नगरियाँ शोभामें स्वर्गके तुल्य जान पड़तो हैं ॥९३-१०१॥ उन नगरियोंमें विद्याधर निकायोंके नामसे युक्त तथा भगवान् वृषभदेव, धरणेन्द्र और उसकी दिति-अदिति देवियोंकी प्रतिमाओंसे सहित अनेक स्तम्भ खड़े किये गये हैं ॥१०२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूनवो विनमेर्युक्ता विनयेन नयेन च । नानाविद्याकृतोद्योता जाताः सबहुशस्ततः ॥१०३॥
संजयोऽरिंजयो नाम्ना शत्रुंजयधनंजयौ । मणिचूलो हरिश्मश्रुर्मेघानीकः प्रभञ्जनः ॥१०४॥
चूडामणिः शतानीकः सहस्रानीकसंज्ञकः । सर्वंजयो वज्रबाहुर्महाबाहुररिंदमः ॥१०५॥
इत्यादयस्तु ते स्तुत्वा उत्तरश्रेणिभूषणाः । भद्रा कन्या सुभद्रान्या स्त्रीरत्नं भरतस्य सा ॥१०६॥
नमेस्तु तनया जाता बहुशो [1]बहुशोचिषः । रविस्तनयसोमश्च पुरुहूतोंऽशुमान् हरिः ॥१०७॥
जयः पुलस्त्यो विजयो मातङ्गो वासवादयः । कन्या कनकपुञ्जश्रीः कन्या कनकमञ्जरी ॥१०८॥
नमिश्च विनमिः पश्चाद्विपश्चित्पुत्रमण्डले । न्यस्तविद्याधरैश्वर्यौ निवृत्तौ जिनदीक्षितौ ॥१०९॥
मातङ्गो विनमेः सूनुः सूनवस्तस्य भूरिशः । तत्पुत्रपौत्रसंतानो जातः स्वर्मोक्षसाधनः ॥११०॥
जिनस्य ह्येकविंशस्य तीर्थे मातङ्गवंशजः । राजा प्रहसितो जातः पुरे ह्यस्मितपर्वते ॥१११॥
श्रीमातङ्गान्वयव्योमपतङ्गस्य प्रतापिनः । अहं हिरण्यवत्याख्या [3]विद्यावृद्धास्य भामिनी ॥१ २॥
पुत्रो मे सिंहदंष्ट्राख्यस्तस्य नीलाञ्जना प्रिया । नीलनीरजनीलाभा कन्या नीलयशास्तयोः ॥११३॥
[4]अनीलयशसस्तस्याः कुलशीलकलागुणैः । कृतोद्यमं मया वंशो वर्णितो लब्धवर्णया ॥११४॥
हरिवंशनभश्चन्द्र ! चन्द्रमुख्यावलोकितः । नृत्यन्त्या त्वं तयेहैत्य वासुपूज्यमहाहवे ॥११५॥
तव दर्शनमेतस्याः सुखहेतुरभूद् यथा । दुःखहेतुस्तथैवाद्य वर्तते विरहे स्मृतम् ॥११६॥
न सा स्नाति न सा भुङ्क्ते न सा वक्ति न चेष्टते । सानङ्गशरशल्या च जीवतीति महाद्भुतम् ॥११७॥

तदनन्तर राजा विनमिके संजय, अरिंजय, शत्रुंजय, धनंजय, मणिचूल, हरिश्मश्रु, मेघानीक, प्रभंजन, चूडामणि, शतानीक, सहस्रानीक, सर्वंजय, वज्रबाहु, महाबाहु और अरिंदम आदि अनेक पुत्र हुए। ये सभी पुत्र विनय एवं नीतिज्ञानसे सहित थे, नाना विद्याओंसे प्रकाशमान थे और उत्तरश्रेणीके उत्तम आभूषणस्वरूप थे। पुत्रोंके सिवाय भद्रा और सुभद्रा नामकी दो कन्याएँ भी हुईं। इनमें सुभद्रा भरत चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें एक स्त्रीरत्न थी ॥१०३-१०६॥ इस प्रकार नमिके भी रवि, सोम, पुरुहूत, अंशुमान्, हरि, जय, पुलस्त्य, विजय, मातंग तथा वासव आदि अत्यधिक कान्तिके धारक अनेक पुत्र हुए और कनकपुंजश्री तथा कनकमंजरी नामकी दो कन्याएँ हुईं ॥१०७-१०८॥ आगे चलकर परम विवेकी नमि और विनमि, पुत्रोंके ऊपर विद्याधरोंका ऐश्वर्य रखकर संसारसे विरक्त हो गये और दोनोंने जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥१०९॥ राजा विनमिके पुत्रोंमें जो मातंग नामका पुत्र था उसके बहुत-से पुत्र-पौत्र तथा प्रपौत्र आदि हुए और वे अपनी-अपनी साधनाके अनुसार स्वर्ग तथा मोक्ष गये ॥११०॥ इस तरह बहुत दिनके बाद इक्कीसवें तीर्थंकरके तीर्थ-में असितपर्वत नामक नगरमें मातंग वंशमें एक प्रहसित नामका राजा हुआ। वह बड़ा प्रतापी था और मातंग वंशरूपी आकाशका मानो सूर्य था। उसीकी मैं हिरण्यवती नामकी स्त्री हूँ और विद्यासे मैंने वृद्ध स्त्रीका रूप धारण किया है ॥१११-११२॥ सिंहदंष्ट्र नामका मेरा पुत्र है और नीलांजना उसकी स्त्री है। उन दोनोंकी नील कमलके समान नीली आभासे युक्त नीलयशा नामकी एक पुत्री है। मुझे बोलनेका अभ्यास है इसलिए मैंने उद्यम कर कुल, शील, कला तथा अनेक गुणोंके द्वारा उज्ज्वल यशको धारण करनेवाली उस कन्याके वंशका वर्णन किया है ॥११३-११४॥ हे हरिवंशरूपी आकाश-के चन्द्र ! वह चन्द्रमुखी कन्या आष्टाह्निक पर्वके समय श्रीवासुपूज्य भगवान्‌के पूजा-महोत्सवमें इस चम्पापुरीमें आयी थी और मन्दिरके आगे जब नृत्य कर रही थी तब उसने आपको देखा था ॥११५॥ हे कुमार ! इस कन्याके लिए उस समय आपका दर्शन जैसा सुखका कारण हुआ था वैसा ही आज विरहकालमें दुःखका कारण हो रहा है ॥११६॥ न वह स्नान करती है, न खाती है, न बोलती

---

१. बहुरोचिषः म. । २. तनयः सोमश्च ग. । ३. विद्यावृद्धस्य म. । ४. अनीलममलिनं यशो यस्यास्तस्याः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्यामेतदवस्थायां कुलमस्माकमाकुलम् । न वेत्ति किं करोमीति पितृमातृपुरोगमम् ॥११८॥
कन्याया मानसं प्रश्ने द्योतितं कुलविद्यया । पद्मिन्येवान्यथाभूत्या युवमातङ्गदूषितम् ॥११९॥
ततो विनिश्चितास्माभिर्यादवस्य[1] तवेप्सया । मत्तमातङ्गगामिन्याः कन्याया हृदयव्यथा ॥१२०॥
आगतास्मि ततो नेतुं भवन्तं तत्र यादव । सा तवैव विदोद्दिष्टा तदेहि परिणीयताम् ॥१२१॥
स श्रुत्वा तदवस्थां तां चेतश्चोरणकारिणीम् । सोत्कण्ठितोऽपि तत्काले नैच्छच्चम्पाविनिर्गमम् ॥१२२॥
आगमिष्याम्यहं तावत्त्वं तां तावत्तनूदरीम् । अम्ब ! बिम्बाधरां गत्वा ममोदन्तेन सान्त्वय ॥१२३॥
सेत्युक्त्यानुज्ञया मुक्ता दत्ताशीरेवमस्त्विति । मनोरथरथारूढा गत्वा कन्यामसान्त्वयत् ॥१२४॥
स्नात्वा पयोधरोन्मुक्तैर्वसुदेवो नवोदकैः । कृत्वा पयोधराश्लेषं कान्तया शयितोऽन्यदा ॥१२५॥
भीमदर्शनयाकृष्टकरो वेतालकन्यया । विबुद्धोऽताडयन्मुग्धो भुजेन दृढमुष्टिना ॥१२६॥
नीतश्च निशि निस्त्रिंशतराकारभृता तया । रथ्यामार्गेण दुर्ग्राहं महापितृवनं यदुः ॥१२७॥
मातङ्गीभिर्भृशं भृङ्गीसंगताङ्गैप्रभास्वरैः । संगताभिङ्गितज्ञोऽत्र मातङ्गी[3] शौरिरैक्षत ॥१२८॥
एहि स्वागतमित्याह सा हसन्ती[4] तमेतया । [5]सिक्तो वेतालविद्याभिर्हसन्त्यन्तरधीयत[6] ॥१२९॥

है और न कुछ चेष्टा ही करती है। कामके बाणरूपी शल्योंसे छिदी हुई वह कन्या जीवित है यही बड़े आश्चर्यकी बात है ॥११७॥ उसकी इस दशामें माता-पिताको लेकर हमारा समस्त कुल व्याकुल हो रहा है तथा वह यह भी नहीं जानता है कि क्या करूँ ? ॥११८॥ जब मैंने उसके हृदयका हाल जाननेके लिए कुल-विद्यासे पूछा तो उसने यह प्रकट किया कि हाथीके द्वारा नष्ट की हुई कमलिनीके समान इसका हृदय किसी युवा पुरुषके द्वारा दूषित किया गया है ॥११९॥ तदनन्तर मैंने निश्चय कर लिया कि मत्त-मतंगजके समान चलनेवाली कन्याके हृदयकी पीड़ा आपकी ही इच्छासे है। भावार्थ—उसके हृदयकी पीड़ा आपके ही कारण है ॥१२०॥ हे यादव ! मैं आपको वहाँ ले जानेके लिए आयी हूँ, निमित्तज्ञानीने भी वह आपकी ही बतलायी है अतः आप चलें और उसे स्वीकार करें ॥१२१॥ कुमार वसुदेव अपने चित्तको चुरानेवाली नीलंयशाकी वह अवस्था सुन जानेके लिए यद्यपि उत्कण्ठित हो गये तथापि उस समय उन्होंने चम्पापुरीसे बाहर जाना ठीक नहीं समझा ॥१२२॥ और यही उत्तर दिया कि हे अम्ब ! मैं आऊँगा तुम तबतक जाकर उस कृशोदरी बिम्बोष्ठीको मेरा समाचार सुनाकर सान्त्वना देओ ॥१२३॥ कुमारने इस प्रकारकी आज्ञा देकर जिसे छोड़ा था ऐसी वृद्धा स्त्रीने 'तथास्तु' कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया और मनोरथरूपी रथपर आरूढ़ हो जाकर कन्याको सान्त्वना दी ॥१२४॥

तदनन्तर किसी समय वसुदेव, मेघों द्वारा छोड़े हुए नूतन जलसे स्नान कर कान्ता गान्धर्वसेनाके साथ उसके स्तनोंका गाढ़ालिंगन करते हुए शयन कर रहे थे ॥१२५॥ कि एक भयंकर आकारवाली वेताल-कन्याने आकर उनका हाथ खींचा। वे जाग तो गये पर यह नहीं समझ सके कि इस समय क्या करना चाहिए फिर भी दृढ़ मुट्ठियोंवाली भुजासे उन्होंने उसे खूब पीटा ॥१२६॥ इतना होनेपर भी दुष्ट मनुष्यकी आकृतिको धारण करनेवाली वह कन्या उन्हें मजबूत पकड़कर रात्रिके समय गलीके मार्गसे श्मशान ले गयी ॥१२७॥ हृदयकी चेष्टाओंको जाननेवाले कुमारने वहाँ भ्रमरीके समान काली-काली मातंगियोंसे युक्त एक मातंगीको देखा। उस मातंगीने हँसकर कुमारसे कहा कि आइए आपके लिए स्वागत है। यह कहकर वेताल विद्याओंसे उसने इनका अभिषेक कराया और उसके बाद वह हँसती हुई अन्तर्हित हो गयी ॥१२८–१२९॥ तदनन्तर उसने असली रूपमें प्रकट होकर कहा कि कुमार, मुझे मातंगी मत समझो, मैं हिरण्यवती हूँ। मैंने कार्य सिद्ध

१. यादवश्च म.। २. संगीताङ्ग -म.। ३. वसुदेवः। ४. हसन्तीतिमेनया ग.। ५. सिक्ता म. ख.। ६. अन्तर्हिता बभूव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मातङ्ग इति मा संस्था त्वं हिरण्यवतीत्यहम् । कल्पो मातङ्गविद्यायाः शौरेऽयं कार्यसाधनः ॥१३०॥
सेयं त्वा नाप्तितो म्लाना बाला चेतोमलिम्लुचम् । बाला वष्टि दृढं नेतुं बाहुपाशेन बन्धनम् ॥१३१॥
तमित्युक्त्वान्तिकं प्राप्तां सा नीलयशसं जगौ । वल्लभः स्पृश सोऽयं ते करेण करपल्लवम् ॥१३२॥
साऽनुज्ञाता करेणास्य प्रस्विन्नावयवा करम् । प्रसारिताङ्गुलिं बाला स्वेदिनस्तादृशाऽग्रहीत् ॥१३३॥
तयोः प्रेमतरुः सिक्तस्तनुस्पर्शसुखाम्भसा । रोमाञ्चव्यपदेशेन व्यमुञ्चत् [1]कर्कशाङ्कुरान् ॥१३४॥
पाणिग्रहणमाद्यं हि तदेवासीत्तदा तयोः । भावार्द्रीकृतयोः पश्चाद्भाविता व्यावहारिकम् ॥१३५॥
सद्यो विद्याधरीवृन्दं [2] खमुत्पत्य ततोऽखिलम् । शौरिणा सह संहृष्टमुत्तरां दिशमुद्ययौ ॥१३६॥
भूषौषधिप्रभापिण्डखण्डितध्वान्तसन्ततिः । रेजे खे खेचरस्त्रीणां [3]संहतिस्तडितां यथा ॥१३७॥
तदा शौरिरिवार्कोऽपि करसम्पर्कमात्रतः । प्राग्नीलाशावधूवक्त्रमकरोत् प्रभयोज्ज्वलम् ॥१३८॥
अर्धोदितो बभौ भानुः पाटलः प्राग्वधूमुखे । दिवसस्य स्फुरद्वाढमर्धदष्ट इवाधरः ॥१३९॥
सर्वोदितमभात्प्राच्या मुखमण्डलमण्डनम् । मार्तण्डमण्डलं यद्वत्सौवर्णं कर्णकुण्डलम् ॥१४०॥
रविजा शौरिणेवाशु भुवनद्योतकारिणी । द्यावापृथिव्यौ विस्पष्टे द्राग् दृष्टिप्रसरे कृते ॥१४१॥
शौरिं हिरण्यवत्याह महारण्यनगावृतम् । अधः पश्यसि यं भूमौ कुमार ! गिरिमुन्नतम् ॥१४२॥
श्रीमन्तं प्रवदन्तीमं ह्रीमन्तं नामतो गिरिम् । तपःश्रीमन्तमाधत्ते लोकं ह्रीमन्तमप्ययम् ॥१४३॥

करनेके लिए मातङ्ग विद्याके प्रभावसे यह वेष रक्खा था ॥१३०॥ यह कहकर उसने पासमें बैठी नीलंयशाकी ओर संकेत कर कहा कि देखो यह वही बाला नीलंयशा है जो हृदयको चुरानेवाले आपको न पाकर मुरझा गई है। यह बाला आपको अपने बाहुपाशसे बाँधना चाहती है— आपका आलिङ्गन करना चाहती है ॥१३१॥ कुमारसे इतना कहकर हिरण्यवतीने पासमें बैठी हुई नीलंयशासे भी कहा कि यही तेरा वह स्वामी है अपने हाथसे इसके हस्त पल्लवका स्पर्श कर ॥१३२॥ इस प्रकार हिरण्यवतीकी आज्ञा पाकर कुमारी नीलंयशाने कुमार वसुदेवके फैलाये हुए हाथको अपने हाथसे पकड़ लिया। उस समय एक दूसरेके स्पर्शसे दोनोंके शरीरसे पसीना छूट रहा था ॥१३३॥ उन दोनोंका प्रेमरूपी वृक्ष शरीरके स्पर्शजन्य सुखरूपी जलसे सींचा गया था इसलिए वह रोमाञ्चके बहाने कठोर अङ्कुरोंको प्रकट कर रहा था ॥१३४॥ वे दोनों ही स्नेहसे आर्द्रचित्त थे इसलिए उनका प्रथम पाणिग्रहण उसी समय हो गया था और व्यावहारिक पाणिग्रहण पीछे होगा ॥१३५॥ तदनन्तर हर्षसे भरा विद्याधरियोंका समस्त समूह शीघ्र ही कुमार वसुदेवके साथ आकाशमें उड़कर उत्तर दिशाकी ओर चल दिया ॥१३६॥ आभूषण तथा औषधियोंकी प्रभासे अन्धकारको सन्ततिको नष्ट करता हुआ वह विद्याधरियोंका समूह आकाशमें बिजलियोंके समूहके समान सुशोभित हो रहा था ॥१३७॥ उस समय जिस प्रकार कुमार वसुदेवने हाथके स्पर्शमात्रसे नीलंयशाके मुखको प्रभासे उज्ज्वल कर दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अपनी किरणोंके स्पर्श मात्रसे पूर्व दिशारूपी स्त्रीके मुखको प्रभासे उज्ज्वल कर दिया था ॥१३८॥ उस समय पूर्व दिशाके अग्रभागमें आधा उदित हुआ लाल-लाल सूर्य ऐसा जान पड़ता था मानो दिवसरूपी युवाके द्वारा आधा डसा हुआ पूर्व दिशारूपी स्त्रीका लाल अधर ही हो ॥१३९॥ थोड़ी देर बाद जब सूर्यमण्डल पूर्ण उदित हो गया तब ऐसा जान पड़ने लगा मानो पूर्व दिशारूपी स्त्रीके मुखमण्डलको अलंकृत करनेवाला सुवर्णमय कानोंका कुण्डल ही हो ॥१४०॥ कुमार वसुदेवके समान संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्यने जब शीघ्र ही आकाश और पृथिवीको स्पष्ट कर दिया तथा उनकी ओर शीघ्र ही दृष्टिका प्रसार होने लगा ॥१४१॥ तब हिरण्यवतीने वसुदेवसे कहा कि हे कुमार ! नीचे पृथिवीपर महावनके वृक्षोंसे घिरे हुए जिस उन्नत पर्वतको देख रहे हो उस शोभासम्पन्न पर्वतको लोग ह्रीमन्त गिरि कहते हैं। यह पर्वत लज्जासे युक्त मनुष्यको भी

१. कर्कराङ्कुरान् म० । २. समूहः । ३. समूहः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्यामयाशनिवेगस्य दुहित्राङ्गारकः खगः । युद्धे खण्डितविद्योऽत्र विद्यासिद्धिं प्रतिस्थितः ॥१४४॥
दर्शनेन तवास्याशु किल विद्या प्रसिद्ध्यति । तदास्यानुग्रहेच्छा चेद्देहि देहि स्वदर्शनम् ॥१४५॥
इत्युक्तो विदितश्यामाक्षेमवार्त्तः स तोषवान् । जगाद किमनिष्टेन दृष्टेनाङ्गारकेण मे ॥१४६॥
कालातिपातिभिर्व्यर्थैः क्रीडितैरिह किं कृतैः । प्रयामो वयमास्स्व त्वं पश्यामः [2]श्वासुरं पुरम् ॥१४७॥
एवमस्त्विति नीत्वासौ स्थापितोऽसितपर्वते । कृतविद्याधरीरक्षो बाह्योद्याने मनोहरे ॥१४८॥
प्रविष्टा तुष्टचित्ता च निजं नीलयशाः पुरम् । शौरिसंकथया तस्थौ तत्समागमकाङ्क्षया ॥१४९॥
सुस्नातोऽलंकृतो भूत्या महत्या स [3]रथस्थितः । प्रवेशितः पुरं वीरः खेचरैः स्वर्गसंनिभम् ॥१५०॥
दृष्टः सप्रश्रयं श्रीमानवितृप्तविलोचनैः । जनैः ससिंहदंष्ट्रैः स तुष्टान्तःपुरपूर्वकैः ॥१५१॥
ततः पुण्यदिने पुण्यपूर्णयोः पूर्णरूपयोः । विधिपूर्वं तयोर्वृत्तं पाणिग्रहणमङ्गलम् ॥१५२॥
स नीलयशसा शौरिर्नगरेऽसितपर्वते । रत्येव सहितः कामः कामभोगानसेवत ॥१५३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

नीलं नीलयशोयशो न जनितं स्त्रीभिर्यतः [4]स्वैर्गुणैः
शौरेः शौर्यशरीरिणो हि न यशः कृष्णीकृतं खेचरैः ।

उस शोभासम्पन्न पर्वतको लोग ह्रीमन्त गिरि कहते हैं। यह पर्वत लज्जासे युक्त मनुष्यको भी तपरूपी लक्ष्मीसे युक्त कर देता है ॥१४२-१४३॥ यहाँ अशनिवेगकी पुत्री श्यामाने युद्धमें जिसकी विद्या खण्डित कर दी थी ऐसा अंगारक नामका विद्याधर विद्या सिद्ध करनेके लिए स्थित है। आपके दर्शनसे इसे शीघ्र विद्या सिद्ध हो जावेगी इसलिए यदि इसका उपकार करनेकी आपकी इच्छा है तो इसे अपना दर्शन दें ॥१४४-१४५॥ हिरण्यवतीके इस प्रकार कहनेपर प्रियतमा श्यामाके कुशल समाचार जानकर कुमार बहुत सन्तुष्ट हुए और कहने लगे कि अंगारक तो हमारा शत्रु है इसको देखनेसे क्या लाभ है ? ॥१४६॥ इस पर्वतपर की हुई समयको बितानेवाली व्यर्थकी क्रीड़ाओंसे मुझे क्या प्रयोजन है ? यदि तुम्हें रहना इष्ट है तो रहो मैं तो जाता हूँ और श्वसुरके नगरको देखता हूँ ॥१४७॥ कुमारके ऐसा कहनेपर हिरण्यवतीने 'एवमस्तु' कहा अर्थात् जैसा आप चाहते हैं वैसा ही करती हूँ। यह कह उसने असितपर्वत नगर ले जाकर उन्हें नगरके बाहर एक सुन्दर उद्यानमें ठहरा दिया तथा रक्षाके लिए विद्याधरियोंको नियुक्त कर दिया ॥१४८॥ कुमारी नीलंयशा प्रसन्नचित्त हो अपने नगरमें प्रविष्ट हुई और कुमारके समागमकी आकांक्षा तथा उन्हींकी कथा करती हुई रहने लगी ॥१४९॥ तदनन्तर बड़े वैभवके साथ जिन्हें स्नान कराया गया था तथा उत्तमोत्तम आभूषण पहनाये गये थे ऐसे वीर कुमार वसुदेवको रथपर बैठाकर विद्याधरोंने स्वर्ग तुल्य नगरमें प्रविष्ट कराया ॥१५०॥ वहाँ कुमारका मनोहर रूप देख-देखकर जिसके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे ऐसे नीलंयशाके पिता सिंहदंष्ट्रा तथा सन्तोषसे युक्त अन्तःपुरको आदि लेकर समस्त लोगोंने बड़े विभवके साथ श्रीमान् बसुदेवको देखा ॥१५१॥ तदनन्तर जो पुण्यसे परिपूर्ण थे और जिनका रूप चरम सीमाको प्राप्त था ऐसे कुमार वसुदेव और नीलंयशाका पाणिग्रहण मंगल किसी पवित्र दिन विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ ॥१५२॥ तत्पश्चात् जिस प्रकार कामदेव अपनी स्त्री रतिके साथ इच्छानुसार भोगोंका सेवन करता है उसी प्रकार कुमार वसुदेव असितपर्वत नगरमें नीलंयशाके साथ इच्छानुसार भोगोंका सेवन करने लगे ॥१५३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि चूँकि वहाँकी स्त्रियाँ अपने गुणोंसे नीलंयशाके यशको मलिन नहीं कर सकी थीं और न विद्याधर ही पराक्रमी वसुदेवके यशको कलंकित कर सके थे इसलिए वहाँ प्रेम-

---

१. तवास्या- म. । २. श्वसुरस्येदम् श्वासुरम् म. । ३. रथः स्थितः म. । ४. -र्जितः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्तत्र स्थितयोस्तयोः सुखरसं प्रेमप्रसक्तात्मनोः
साकल्येन जनो जिनप्रवचनज्ञो हि प्रवक्तुं क्षमः ॥१५४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ नीलयशोलाभवर्णनो
नाम द्वाविंशः सर्गः ॥२२॥



पूर्वक रहनेवाले वसुदेव और नीलंयशाको जो सुख उपलब्ध था उसका सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करनेके लिए जिन प्रवचनका ज्ञाता श्रुतकेवली ही समर्थ हो सकता है ॥१५४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें नीलंयशाके लाभका वर्णन करनेवाला बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२२॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रयोविंशः सर्गः

प्रासादस्थोऽन्यदा श्रुत्वा महाकलकलध्वनिम् । इत्यपृच्छत्प्रतीहारीं शौरिः पार्श्वव्यवस्थिताम् ॥१॥
कुतो हेतोरयं लोको वर्तते मुखरोऽखिलः । इत्युक्ता सावदत्तस्मै वृत्तवृत्तान्तवेदिनी ॥२॥
शृणु देवास्ति शैलेऽस्मिन् नगरं शकटामुखम् । तस्येशो नीलवान् नाम्ना व्योमगानामधीश्वरः ॥३॥
नीलस्तस्य सुतः[1] कन्या मान्या नीलाञ्जनाभिधा । कुमारकन्ययोर्वृत्ता संकथा च तयोरिति ॥४॥
पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयोः । अविवादो विवाहोऽत्र गोत्रप्रीतौ परस्परम् ॥५॥
ऊढायाः सिंहदंष्ट्रेण श्वशुरेण तवामुना । सेयं नीलाञ्जनायाश्च जाता नीलयशाः सुता ॥६॥
नीलस्योदूढभार्यस्य नीलकण्ठस्तु यः सुतः । जातोऽस्मै याचते स्मैतां स नीलयशसं तदा ॥७॥
सिद्धादेशस्य सत्साधोरादेशात्तु बृहस्पतेः । दत्तेयं तेऽर्द्धचक्रेशपित्रे पित्रा यशस्विने ॥८॥
[2]पितापुत्रौ च तौ नीलनीलकण्ठौ सभान्तरे । खलौ च सिंहदंष्ट्रेण व्यवहारं श्रिताविमौ ॥९॥
न्यायेन च तयोरत्र जितयोः श्वशुरेण ते । उच्चैः खेचरलोकेन कृतः कलकलध्वनिः ॥१०॥
इति श्रुत्वा प्रतीहार्या वचः सूर्यपुरोद्भवः[3] । कृतस्मितमुखं तस्थौ स नीलयशसा सह ॥११॥
प्राप्तां घनकृताश्लेषां प्रावृषं[4] विषयप्रियाम् । [5]शुक्लापाङ्गस्वनैर्हृद्यां सोऽन्वभूतां वधूमिव ॥१२॥

अथानन्तर—किसी समय महलके ऊपर बैठे हुए कुमारने लोगोंका बहुत भारी कोलाहल सुनकर पासमें बैठी प्रतीहारीसे पूछा कि ये समस्त लोग किस कारण कोलाहल कर रहे हैं? कुमारके इस प्रकार कहनेपर अतीत वृत्तान्तको जाननेवाली प्रतीहारीने कहा कि हे देव! सुनिए, इस पर्वतपर एक शकटामुख नामका नगर है उसका स्वामी विद्याधरोंका अधिपति नीलवान् नामका विद्याधर है ॥१-३॥ राजा नीलवान्के नील नामका पुत्र और नीलांजना नामकी माननीय पुत्री इस प्रकार दो सन्तान हैं। एक बार नील और नीलांजनाके बीच यह बात हुई कि यदि मेरे पुत्र हो और तुम्हारे पुत्री हो तो परस्पर गोत्रकी प्रीति बनाये रखनेके लिए दोनोंका विवादरहित विवाह होगा ॥४-५॥ नीलांजनाको तुम्हारे श्वसुर सिंहदंष्ट्रने विवाहा था और उससे यह नीलयशा नामकी पुत्री हुई थी ॥६॥ कुमार नीलका भी विवाह हुआ और उसके नीलकण्ठ नामका पुत्र हुआ। पूर्व वार्ताके अनुसार नीलने अपने पुत्र नीलकण्ठके लिए सिंहदंष्ट्रसे नीलयशाकी याचना की ॥७॥ परन्तु सिंहदंष्ट्रने अमोघवादी बृहस्पति नामक मुनिराजके कथनानुसार यह कन्या आपके लिए दी है। आप अर्धचक्रवर्तीके यशस्वी पिता हैं ॥८॥ आज दुष्ट प्रकृतिके धारक पिता-पुत्र—नील और नीलकण्ठने सभाके बीच सिंहदंष्ट्रके साथ विवाद ठाना था परन्तु तुम्हारे श्वसुर—सिंहदंष्ट्रने उन दोनोंको न्याय मार्गसे जीत लिया इसलिए विद्याधरोंने बहुत भारी कलकल शब्द किया है ॥९-१०॥ इस प्रकार प्रतीहारीके वचन सुनकर कुमार वसुदेव मुसकराये और नीलयशाके साथ पहलेकी तरह रहने लगे ॥११॥

तदनन्तर वर्षा ऋतु आयी, सो कुमार वसुदेवने स्त्रीके समान उसका अनुभव किया क्योंकि जिस प्रकार स्त्री घनकृताश्लेषा—गाढ़ आलिंगनसे युक्त होती है उसी प्रकार वर्षा ऋतु भी घनकृताश्लेषा—मेघकृत आलिंगनसे युक्त थी। जिस प्रकार स्त्री विषय-प्रिया—विषयोंसे प्रिय होती है उसी प्रकार वर्षा ऋतु भी विषय-प्रिया—देशोंके लिए प्रिय थी। और जिस प्रकार स्त्री शुक्ला-

१. सुताः म. । २. पितृपुत्रौ ख., म. । ३. वसुदेवः । ४. विषया भोग्यवस्तूनि अन्यत्र जनपदाः । ५. मयूरकेकाध्वनिभिः, पक्षे कटाक्षस्वनैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्तः शरदृतुर्दूषः शरपुङ्खकरस्ततः । गुञ्जद्भृङ्गाज्यया सज्जः प्राज्यबाणासनश्रिया ॥१३॥
काले विद्याधरास्तत्र स्वविद्यौषधिसिद्धये । निगृहीतमनोवेगा मनोवेगा विनिर्ययुः ॥१४॥
तदा तौ दम्पती शैलं ह्रीमन्तं कामवर्षिणौ । प्रयातौ विद्यया श्लिष्टौ घनं विद्युद्घनौ यथा ॥१५॥
[1]असपत्नसपत्नीकतापसस्त्रीधरोरसम् । असिधारावतं तीव्रं चरन्तमिव संततम् ॥१६॥
मधुपानमदोन्मत्तपतत्रिमधुपारवैः । विध्यतो मदनस्येव स शरज्यारवैर्युतः ॥१७॥
अवतीर्णौ तमुद्गन्धिसप्तपर्णवनक्रमम् । [2]हारिणं वर्णयन्तौ तौ मरुद्घूर्णितभूरुहम् ॥१८॥
परिभ्रम्य चिरं शोभां पश्यन्तौ तृप्तिवर्जितौ । गिरेः सानुषु रम्येषु रंरम्येते स्म सस्मरौ ॥१९॥
तयोः संभोगसंभारः पुष्पपल्लवकल्पिते । तल्पेऽनल्पोऽपि खेदाय समजायत नो तदा ॥२०॥
चिरेण रतिसंभोगसंभूतस्वेदभूषितौ । निष्क्रान्तौ कदलीगेहात् तौ रक्तान्तविलोचनौ ॥२१॥
मुक्तकेकारवं तत्र चित्रगात्रमपश्यताम् । कलापिनमकस्मात्तौ मयूरं मत्तलोचनम् ॥२२॥
शोभया [3]हृतचित्तं तमुत्कादिदृक्षुः सकौतुका । स्कन्धमारोप्य तेनासौ नीता नीलयशा नभः ॥२३॥
नीचेन नीलकण्ठेन [4]नीलकण्ठवपुर्भृता । हृतायां विह्वलो वध्वां वसुदेवोऽभ्रमद्वने ॥२४॥

पाङ्गस्वनैर्हृद्या—सफेद-सफेद कटाक्षों और मधुर वाणीसे मनोहर होती है उसी प्रकार वर्षाऋतु भी शुक्लापाङ्गस्वनैर्हृद्या—मयूरोंकी वाणीसे मनोहर थी ॥१२॥ वर्षाके बाद, जो बाणोंकी मूठको हाथमें धारण कर रहा था तथा गुंजार करते हुए भ्रमररूपी डोरीसे युक्त उत्तम बाणासन जातिके वृक्ष-रूपी बाणासन—धनुषकी शोभासे युक्त था ऐसे अहंकारी सुभटके समान शरद् ऋतु आयी ॥१३॥ उस समय मनके समान तीव्र वेगको धारण करनेवाले विद्याधर अपनी-अपनी विद्याओं और ओषधियोंकी सिद्धिके लिए मनके वेगको नियन्त्रित कर बाहर निकले ॥१४॥ उस समय इच्छानुसार कामभोग करनेवाले एवं विद्याके द्वारा अत्यन्त आलिंगित दोनों दम्पती—कुमार वसुदेव और नीलयशा भी ह्रीमन्त पर्वतकी ओर गये। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्परमें गाढ़ आलिंगनको प्राप्त एवं इच्छानुसार वर्षा करते हुए बिजली और मेघ ही पर्वतकी ओर जा रहे हों ॥१५॥ उस पर्वतका मध्य भाग वैरिरहित सपत्नीक तपस्वियोंकी स्त्रियोंको धारण करता था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो निरन्तर अतिशय कठिन असिधाराव्रतका ही आचरण कर रहा हो ॥१६॥ वह पर्वत जगह-जगह मधुपानके मदसे उन्मत्त पक्षियों और भ्रमरोंके शब्दसे युक्त था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो कामीजनोंको वेधनेवाले कामदेवके बाण और प्रत्यंचाके शब्दोंसे ही युक्त हो ॥१७॥ उत्कट सुगन्धिसे युक्त सप्तपर्णवन जिसकी शोभा बढ़ा रहा था, जो स्वयं सुन्दर था तथा वायुसे जिसके वृक्ष हिल रहे थे ऐसे ह्रीमन्त पर्वतपर उतरकर वे दोनों उसकी प्रशंसा करने लगे। चिरकाल तक इधर-उधर भ्रमण कर शोभाको देखते हुए वे तृप्त ही नहीं होते थे अतः कामाकुलित होकर दोनोंने पर्वतके सुन्दर शिखरोंपर बार-बार रमण किया था ॥१८-१९॥ उन्होंने पुष्प और पत्तोंसे निर्मित शय्यापर अत्यधिक सम्भोग किया था फिर भी वह उस समय उनके खेदके लिए नहीं हुआ था ॥२०॥ जो रतिक्रीड़ासे उत्पन्न पसीनासे सुशोभित थे तथा जिनके नेत्रोंके कोण लाल-लाल हो रहे थे ऐसे वे दोनों चिरकाल बाद कदली गृहसे बाहर निकले ॥२१॥ बाहर निकलते ही उन्होंने एक ऐसा मयूर देखा जो केका वाणी छोड़ रहा था, चित्र-विचित्र शरीरसे युक्त था, शिखण्डोंसे सहित था और जिसके नेत्र अत्यन्त मत्त थे ॥२२॥ शोभासे चित्तको हरण करनेवाले उस मयूरको देखकर जो अत्यन्त उत्कण्ठित थी तथा कौतुकवश जो उसे पकड़ लेना चाहती थी ऐसी नीलयशा-को कन्धेपर बैठाकर वह मयूर आकाशमें ले गया ॥२३॥ यथार्थमें वह मयूर नहीं था किन्तु मयूरका

---

१. असपत्ना ये सपत्नीकतापसास्तेषां स्त्रिय इति असपत्नसपत्नीकतापसस्त्रियस्तासां धरमुरो वक्षो यस्य पर्वतस्य स तम् । २. मनोहरम् । ३. हृतचित्तां तां म. । ४. मयूराकारधारिणा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोष्ठे गोपवधूधूतक्षुत्पिपासापरिश्रमः । उषित्वा प्रातरुत्थाय स प्रायाद्दक्षिणां दिशम् ॥२५॥
पुरं गिरितटं तत्र वप्रप्राकारवेष्टितम् । दृष्ट्वा हृष्टः प्रविष्टोऽसौ विशिष्टजनतावृतम् ॥२६॥
वेदाध्ययननिर्घोषमुखरीकृतदिग्मुखे । तत्रापृच्छन्नरं कंचिदिति शौरिः सकौतुकः ॥२७॥
किं केनात्र महादानं माहनेभ्यः[1] प्रवर्त्तितम् । येनामी मिलिता विश्वे मेदिन्या वेदवेदिनः ॥२८॥
सोऽवोचद्वसुदेवोऽत्र भोजकोऽस्यास्ति कन्यका । [2]सोमश्रीरिव सोमश्रीः कलावेदविशारदा ॥२९॥
जेता वेदविचारेऽस्याः यः स भर्त्ता भविष्यति । इति दैवज्ञवाक्येन संहता वैदिकी[3] प्रजा ॥३०॥
जघनस्तनभारार्त्ता तनुमध्यातिरूपिणी । मरक्षमस्य नो विद्मः कस्योपरि पतिष्यति ॥३१॥
श्रुत्वैवं शब्दमात्रेण सा कन्या श्रोत्रहारिणी । हंसीव राजहंसस्य चक्रे सोत्कण्ठितं मनः ॥३२॥
ब्रह्मदत्तमुपाध्यायं सोऽभ्युपेत्य निवेद्य च । गोत्रसंचारणं वेदानहोऽध्यापयं[4] मामिति ॥३३॥
आर्षांस्त्वमिह किं वेदान् धर्मानभिजिगांससे । अनार्षानथवा वेदानित्यवादीदसौ गुरुः ॥३४॥
कथं द्वैविध्यमेतेषामिति पृष्टोऽवदत्पुनः । प्रहृष्टहृदयोऽत्यर्थं यथार्थवचनो द्विजः ॥३५॥
षट्कर्मसु प्रजाः प्राप्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये । यः शशास पुरा वेदैस्त्रिभिर्वर्णैरिवाश्रिताः ॥३६॥
हिमविन्ध्यस्तनाभोगां [5]रौप्यपर्वतहारिणीम् । वार्धिकाञ्चीगुणां राजा योऽन्वभूद्वसुधावधूम् ॥३७॥

शरीर धारण करनेवाला नीच नीलकण्ठ था । उसके द्वारा स्त्रीके हरे जानेपर वसुदेव विह्वल होकर वनमें घूमते रहे ॥२४॥ वह भूखे थे इसलिए गोपोंकी एक बस्तीमें गये वहाँ गोपोंकी स्त्रियोंने उनकी भूख-प्यासकी बाधा तथा परिश्रमको दूर किया । उस बस्तीमें रातभर रहकर वे प्रातःकाल दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥२५॥ वहाँ धूलिकुट्टिम तथा प्राकारसे वेष्टित गिरितट नामक नगरको देखकर वसुदेवने हर्षित हो उसमें प्रवेश किया । उस समय वह नगर विशिष्ट जनसमूहसे व्याप्त था तथा वेद-पाठकी ध्वनिसे उसकी समस्त दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं । वहाँ कौतुकसे भरे वसुदेवने किसी मनुष्यसे इस प्रकार पूछा ॥२६-२७॥ क्या यहाँ ब्राह्मणोंके लिए किसीने महादान किया है ? जिससे वेदोंको जाननेवाले पृथिवीके समस्त ब्राह्मण यहाँ आकर इकट्ठे हुए हैं ॥२८॥ उस मनुष्यने कहा कि यहाँ एक वसुदेव नामक ब्राह्मण रहता है । उसके एक सोमश्री नामकी कन्या है जो चन्द्रमाके समान सुन्दर और अनेक कला तथा वेद-शास्त्रमें निपुण है ॥२९॥ ज्योतिषीने कहा है कि जो इसे वेदोंके विचारमें जीत लेगा वही इसका पति होगा इसीलिए यह वेदोंको जाननेवाली प्रजा इकट्ठी हुई है ॥३०॥ स्थूल नितम्ब और स्तनोंके भारसे पीड़ित, कमरकी पतली यह अतिशय सुन्दरी कन्या, भार धारण करनेमें समर्थ किस भाग्यशालीके ऊपर गिरती है यह हम नहीं जानते ॥३१॥ यह सुनकर जिस प्रकार शब्दमात्रसे कानोंको हरनेवाली हँसी राजहंसके मनको उत्कण्ठित कर देती है उस प्रकार चर्चामात्रसे कानोंको हरनेवाली उस कन्याने वसुदेवके मनको उत्कण्ठित कर दिया ॥३२॥

तदनन्तर कुमारने ब्रह्मदत्त नामक उपाध्यायके पास जाकर तथा उसे अपना गोत्र बताकर प्रार्थना की कि आप हमें वेद पढ़ा दीजिए ॥३३॥ इसके उत्तरमें ब्रह्मदत्तने कहा कि यहाँ तुम धर्मको प्रकट करनेवाले आर्ष वेदोंको पढ़ना चाहते हो या अनार्ष वेदोंको ? ॥३४॥ यह सुन कुमारने फिर पूछा कि दो वेद कैसे ? कुमारके इस तरह पूछनेपर अत्यन्त प्रसन्न चित्त एवं यथार्थवादी उपाध्याय पुनः इस प्रकार कहने लगा कि युगके आदिमें कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेपर जिन्होंने शरणागत प्रजाको असि-मषि आदि छह कार्योंका उपदेश दिया था तथा अपने पूर्वज्ञानके आधारपर उनमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंका विभाग किया था ॥३५-३६॥ जिन्होंने राजा बनकर हिमाचल और

१. ब्राह्मणेभ्यः क. । माहवेभ्यः म. । २. सोमस्येव चन्द्रस्येव श्रीर्यस्याः सा । ३. वैदिकप्रजाः ग. । ४. -नाहाध्यापय मामिति क. । ५. रौप्यपर्वत एव हारो यस्याः सा ताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राज्ये पुत्रशतं प्राज्ये संस्थाप्य भरतादिकम् । यो मुमुक्षुर्विनिःक्रान्तः सचतुर्नृसहस्रकः ॥३८॥
[1]यश्चचार चतुर्वेदस्तपो दुश्चरमात्मभूः । धीरो वर्षसहस्रं वै पराजितपरीषहः ॥३९॥
समुत्पादितकैवल्यवेदनेत्रेक्षिताखिलः । धर्मतीर्थेन यश्चक्रे धर्मक्षेत्रं [2] खलोज्झितम् ॥४०॥
यौ द्वौ धर्माश्रमौ धर्म्यौ गृहिश्रमणसंश्रयौ । स्वर्गापवर्गसौख्यस्य सिद्धयेऽदर्शयन्मुनिः ॥४१॥
द्वादशाङ्गविकल्पेषु वेदेषु यतिवृत्तिषु । अन्तर्गता गृहस्थानां यथोक्ताचारदर्शिता ॥४२॥
गुणशिक्षाव्रतस्थानामनेकनियमश्रिताम् । तेन ये दर्शिता वेदा ऋषभप्रभुणार्षकाः [3] ॥४३॥
तानधीत्य तदुक्तेन विधिना भरतार्चितः । धर्मयज्ञानयष्टाद्ययुगे विप्रगणोऽखिलः ॥४४॥
अनार्षाणां तु वेदानामुत्पत्तिरभिधीयते । ऐदंयुगीनविप्राणां तात्पर्यं यत्र वर्त्तते ॥४५॥
भूपो धारणयुग्मेऽभूत्पुरे यो रणभूमिषु । अयोधनतया योधैरयोधन इतीरितः ॥४६॥
भूषितादित्यवंशस्य सोमवंशतनूद्भवा । दितिस्तस्य महादेवी तृणविन्दोः कनीयसी ॥४७॥
सा योषिद्गुणमञ्जूषामसूत सुलसां सुताम् । यौवने च पिता तस्याः स्वयंवरमचीकरत् ॥४८॥
आगताश्च समाहूताः पृथिव्यां पृथुकीर्त्तयः । स्वयंवरार्थिनो भूपाः सादराः सगरादयः ॥४९॥
सगरस्य प्रतीहारी नाम्ना मन्दोदरी दितेः । गृहं गतान्यदाथौवादेकान्ते वचनं दितेः ॥५०॥

विन्ध्याचल रूप स्तनोंसे युक्त, विजयार्धरूपी हारसे सुशोभित और सागर रूपी मेखलासे अलंकृत पृथिवीरूपी स्त्रीका उपभोग किया था ॥३७॥ जिन्होंने अन्तमें विरक्त हो श्रेष्ठ राज्यपर भरतादिक सौ पुत्रोंको आसीन कर चार हजार राजाओंके साथ दीक्षा धारण की थी ॥३८॥ जो स्वयं प्रतिबुद्ध थे, धीर-वीर थे, परीषहोंके जेता थे और जिन्होंने चार ज्ञानके धारक होकर एक हजार वर्ष तक कठिन तप किया था ॥३९॥ जिन्होंने उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा समस्त पदार्थोंको जान लिया था तथा धर्मरूप तीर्थके द्वारा जिन्होंने धर्मक्षेत्रको दुष्टोंसे रहित कर दिया था ॥४०॥ जिन्होंने स्वर्ग और मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिए गृहस्थ और मुनियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले दो धर्माश्रम दिखलाये थे ॥४१॥ जिन्होंने मुनिधर्मका वर्णन करनेके लिए द्वादशांगरूप वेदोंका निर्माण किया था तथा उन्हीं वेदोंके अन्तर्गत (उपासकाध्ययनांग) गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके धारक एवं अनेक नियमोंका पालन करनेवाले गृहस्थोंके भी आचारका वर्णन किया था। उन्हीं भगवान् वृषभदेवके द्वारा उस समय जो वेद दिखाये गये थे वे आर्ष वेद कहलाते हैं ॥४२-४३॥ युगके आदिमें भरत चक्रवर्तीने जिसका सम्मान किया था ऐसा समस्त ब्राह्मणोंका समूह उन्हीं आर्ष वेदोंका अध्ययन कर उन्हींमें बतायी हुई विधिसे धर्म-यज्ञ करता था ॥४४॥ अब जिनमें इस युगके ब्राह्मणोंका तात्पर्य है उन अनार्ष वेदोंकी उत्पत्ति कही जाती है ॥४५॥

धारण-युग्म नगरमें एक राजा रहता था जिसे युद्ध-भूमिमें अयोध्य होनेके कारण योधा लोग अयोधन कहते थे ॥४६॥ सूर्यवंशको अलंकृत करनेवाले राजा अयोधनकी महारानीका नाम दिति था। यह दिति चन्द्रवंशकी लड़की थी तथा चन्द्रवंशी राजा तृणविन्दुकी छोटी बहन थी ॥४७॥ महारानी दितिने कदाचित् स्त्रियोंके गुणोंकी पिटारीस्वरूप सुलसा नामकी कन्याको जन्म दिया। जब वह यौवनवती हुई तब पिताने उसका स्वयंवर करवाया ॥४८॥ और पृथिवीके यशस्वी राजाओंको बुलवाया जिससे विशाल यशके धारक, स्वयंवरके अभिलाषी एवं आदरसे युक्त सगर आदि राजा वहाँ आ पहुँचे ॥४९॥

एक दिन राजा सगरकी मन्दोदरी नामकी प्रतीहारी रानी दितिके घर गयी थी, वहाँ उसने एकान्तमें दितिके यह वचन सुने कि बेटी सुलसा ! तू मुझसे बहुत स्नेह करती है क्योंकि पुत्रोंका

---

१. यश्चत्वारश्चतुर्वेद- म. । २. धर्मं तीर्थं म. । ३. -णार्षभाः म. । ४. -नयच्छाद्य -म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुलसे[1] ! शृणु वत्से मे वचस्त्वं मातृवत्सले । [2]स्तन्यानुसारिणी स्नेहव्यक्तिर्मातरि [3]यन्मता ॥५१॥
जातः सर्वयशोदेव्यां तृणविन्दोर्ममाग्रजात् । [4]स्थितः क्षत्रमधिक्षिप्य श्रिया नु मधुपिङ्गलः ॥५२॥
पूर्वमेव मया तस्मै मनसा त्वं निरूपिता । मन्मनोरथमेवातः पूरय त्वं स्वयंवरे ॥५३॥
इत्युक्त्वा सुलसा साश्रु मातरं प्राह सा वरा । मारोदीर्मातरिष्टं ते कुर्वे राजन्यसंनिधौ ॥५४॥
इत्युक्तमखिलं श्रुत्वा गत्वा मन्दोदरी रहः । [5]कन्यास्वीकारचित्ताय सगराय न्यवेदयत् ॥५५॥
ततः पुरोहितेनाशु सगरो विश्वभूतिना । नरलक्षणविज्ञापि रहः शास्त्रमकारयत् ॥५६॥
स्वयंवरधरोत्खातलोहमञ्जूषिकोद्धृतम् । अदर्शयत्पुरो राज्ञां पुस्तकं धूमधूसरम् ॥५७॥
स्वयंवरार्थिनां तेषां पुरः पुस्तकमुच्चकैः । अवाचयत्पुरोधाश्च लक्षणश्रवणार्थिनाम् ॥५८॥
मत्स्यशङ्खांकुशाद्यङ्कौ पद्मगर्भनिभोदरौ । सुपार्ष्णिभागशोभाढ्यौ सुश्लिष्टाङ्गुलिपर्वकौ ॥५९॥
स्निग्धताम्रनखौ पादौ गूढगुल्फौ सिरोज्झितौ । सोष्णौ कूर्मोन्नतौ स्वेदमुक्तौ स्तां पृथिवीपतेः ॥६०॥
सूर्पाकारौ सिरानद्धौ वक्रौ रूक्षनखौ स्मृतौ । पादौ पापवतः पुंसः संशुष्कौ विरलाङ्गुली ॥६१॥
सच्छिद्रौ सकषायौ च वंशच्छेदकरौ तु तौ । हिंस्रस्य दग्धमृच्छायौ पीतौ गम्येत रोषिणः ॥६२॥
अल्पातिततनुरोमानुवृत्तजङ्घा सुजानवः । वृत्तोरवः शुभा निन्द्याः शुष्कजङ्घोरुजानवः ॥६३॥

माताके ऊपर जो स्नेह होता है वह दूधके अनुसार प्रकट होता है, इसलिए तू मेरी बात सुन ॥५०–५१॥ मेरे बड़े भाई राजा तृणविन्दुकी सर्वयशा देवीसे उत्पन्न हुआ मधुपिंगल नामका पुत्र है जो अपनी शोभासे समस्त राजाओंका तिरस्कार कर स्थित है—सबसे अधिक सुन्दर एवं प्रतापी है ॥५२॥ मैंने पहले ही उसके लिए तेरे देनेका मनमें संकल्प कर लिया था। इसलिए तू स्वयंवरमें मेरा ही मनोरथ पूर्ण कर ॥५३॥ इस प्रकार कहकर माता दिति आँसू छोड़ने लगी। माताको रोती देख कन्या सुलसाने कहा कि हे माता ! तू रो मत। मैं राजाओंके सामने जो तुझे इष्ट है वही करूँगी—तेरे कहे अनुसार मधुपिंगलको ही वरूँगी ॥५४॥ मन्दोदरीने यह सब सुना और जाकर कन्याकी प्राप्तिके लिए उत्कण्ठित राजा सगरके लिए एकान्तमें कह सुनाया ॥५५॥

तदनन्तर राजा सगरने शीघ्र ही अपने विश्वभूति नामक पुरोहितसे एकान्तमें मनुष्योंके लक्षणोंको बतानेवाला एक शास्त्र बनवाया ॥५६॥ और उसे धूमसे धूसरित कर तथा लोहेकी सन्दूकमें भरवाकर स्वयंवरकी भूमिमें गड़वा दिया। जब स्वयंवरका दिन आया तब सगरने स्वयंवरकी भूमिको खुदवाकर लोहेका वह सन्दूक निकलवाया और उससे उक्त शास्त्र निकालकर राजाओंके आगे दिखाया ॥५७॥ स्वयंवरमें जो राजा आये थे, वे मनुष्योंके लक्षण सुनना चाहते थे। इसलिए उन सबके आगे पुरोहितने जोर-जोरसे उस शास्त्रको बाँचना शुरू किया ॥५८॥ उसमें लिखा था कि राजाके पैर मछली, शंख तथा अंकुश आदिके चिह्नोंसे युक्त होते हैं, कमलके भीतरी भागके समान उनका मध्य भाग होता है, एड़ियोंकी उत्तम शोभासे वे सहित होते हैं, उनकी अँगुलियोंके पौरा एक दूसरेसे सटे रहते हैं, उनके नख चिकने एवं लाल होते हैं, उनकी गाँठें छिपी रहती हैं, वे नसोंसे रहित होती हैं, कुछ-कुछ उष्ण होते हैं, कछुएके समान उठे होते हैं और पसीनासे युक्त रहते हैं ॥५९–६०॥ पापी मनुष्यके पैर सूपाके आकार, फैले हुए, नसोंसे व्याप्त, टेढ़े, रूखे नखोंसे-युक्त, सूखे एवं विरल अँगुलियोंवाले होते हैं ॥६१॥ जो पैर छिद्र सहित एवं कषैले रंगके होते हैं वे वंशका नाश करनेवाले माने गये हैं। हिंसक मनुष्यके पैर जली हुई मिट्टीके समान और क्रोधी मनुष्यके पैर पीले रंगके जानना चाहिए ॥६२॥ जिनकी पिण्डलियाँ थोड़े एवं अत्यन्त सूक्ष्म रोमोंसे युक्त और ऊपर-ऊपर गोल होती जाती हैं, जिनके घुटने अच्छे हैं और जाँघें गोल हैं वे

---

१. सुलसे ! शृणु वृत्तं मे वत्से त्वं मातृवत्सले म.। २. सूत्यानुसारिणी म.। ३. जन्मता क., घ., ङ.। ४. स्थितं क्षेत्रमधिक्षिप्य म.। ५. कन्यायाः स्वीकारे चित्तं यस्य स तस्मै।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकैकं कूपके रोम राज्ञां द्वे द्वे सुमेधसाम् । व्यादीनि जडनिस्वानां केशाश्चैवंफलाः स्मृताः ॥६४॥
अल्पं दक्षिणतो वक्रं स्थूलग्रन्थि शुभं शिशोः । शिश्नं तद्विपरीतं तु विपरीतफलं मतम् ॥६५॥
म्रियन्ते स्वल्पवृषणा विषमैः स्त्रीबलाश्च तैः । समैर्भूपाश्चिरायुष्काः प्रलम्बवृषणा नराः ॥६६॥
सशब्दमूत्राः सुखिनो विपरीतास्तु दुःखिनः । द्वयादिप्रदक्षिणावर्त्तधाराः श्रीशास्तु नेतरे ॥६७॥
स्थूलस्फिक्च पुमान्निःस्वो मांसलस्फिक् सुखी भवेत् । माण्डूकास्फग् नरा व्याघ्रादुद्धतास्फिग्मृतिं व्रजेत् ॥६८॥
राजा सिंहकटिः प्रोक्तो वानरौष्ट्रकटिर्धनी । समोदरः सुखी दुःखी घटोरुपिठरोदरः ॥६९॥
संपूर्णैर्धनिनः पार्श्वैर्निम्नवक्रैरभोगिनः । कुक्षिभिश्च तथा निम्नैर्भोगिनः समकुक्षयः ॥७०॥
उन्नतैः कुक्षिभिर्भूपाः कुधना विषमैश्च तैः । सर्पोदरा दरिद्रास्तु भवन्ति बहुभोजनाः ॥७१॥
विस्तीर्णोन्नतगम्भीरवृत्तनाभिः सुखी नरः । निम्नाल्पादृश्यनाभिस्तु कथितः क्लेशभाजनः ॥७२॥
शूलबाधाश्च दारिद्र्यं विषमा बलिमध्यमाः । सा वामदक्षिणावर्ता [1]साध्यां मेधां करोति च ॥७३॥
कुरुते भूपतिं नाभिः पद्मकर्णिकया समा । आयतोपर्यधःपार्श्वा वित्तगोमच्चिरायुषः ॥७४॥

शुभ हैं—अच्छे पुरुष हैं और जिनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जाँघें सूखी हैं वे निन्दनीय हैं ॥६३॥ राजाओंके एक रोम-कूपमें एक रोम होता है, विद्वानोंके एक रोम-कूपमें दो रोम होते हैं और मूर्ख तथा निर्धन मनुष्योंके एक रोम-कूपमें तीनको आदि लेकर अनेक रोम होते हैं। रोमोंके समान ही केशोंका भी फल समझना चाहिए ॥६४॥ बच्चेका लिंग यदि छोटा, दाहिनी ओर कुछ टेढ़ा और मोटी गाँठसे युक्त है तो शुभ है और इससे विपरीत अशुभ है ॥६५॥ जिन मनुष्योंके वृषण (अण्डकोष) अत्यन्त छोटे होते हैं वे शीघ्र मर जाते हैं, जिनके विषम–एक छोटे एक बड़े होते हैं वे स्त्रियोंपर अपना बल रखते हैं—स्त्रियोंको वश करनेवाले होते हैं, जिनके एक बराबर होते हैं वे राजा होते हैं और जिनके नीचेकी ओर लटकते रहते हैं वे दीर्घजीवी होते हैं ॥६६॥ पेशाब करते समय जिनका मूत्र शब्दसहित निकलता है वे सुखी होते हैं और जिनका मूत्र शब्दरहित निकलता है वे दुखी होते हैं। पेशाब करते समय जिनके मूत्रकी पहली और दूसरी धारा दाहिनी ओर पड़ती है वे लक्ष्मीके स्वामी होते हैं और जिनकी धारा इसके विपरीत पड़ती है वे निर्धन होते हैं ॥६७॥ जिस पुरुषका नितम्ब स्थूल होता है वह दरिद्र होता है, जिसका पुष्ट होता है वह सुखी होता है और जिसका मण्डूकके समान ऊँचा उठा होता है वह व्याघ्रसे मृत्युको प्राप्त होता है ॥६८॥ जिसकी कमर सिंहकी कमरके समान पतली होती है वह राजा होता है और जिसकी कमर वानर अथवा ऊँटकी कमरके समान होती है वह धनी होता है। जिसका पेट न छोटा न बड़ा किन्तु समान होता है वह सुखी होता है और जिसका पेट घड़ा अथवा मटकाके समान हो वह दुखी होता है ॥६९॥ जिनकी पसलियाँ भरी हुई हों वे सुखी होते हैं और जिनकी पसलियाँ नीची तथा टेढ़ी हों वे भोगरहित होते हैं। जिनकी कूँख नीची हो वे भोगरहित होते हैं, जिनकी कूँख सम हों वे भोगी होते हैं, जिनकी कूँख उठी हुई हों वे राजा होते हैं और जिनकी कूँख विषम हों वे निर्धन होते हैं। जिसकी उदर सर्पके समान लम्बा हो वे दरिद्र तथा बहुत भोजन करनेवाले होते हैं ॥७०-७१॥ जिनकी नाभि चौड़ी, ऊँची, गहरी और गोल होती है वह सुखी होता है और जिसकी नाभि छोटी तथा कुछ-कुछ दीखनेवाली होती है वह क्लेशका पात्र होता है ॥७२॥ यदि मध्य भागकी रेखाएँ विषम हैं, तो वे शूलकी बाधा तथा दरिद्रताको उत्पन्न करती हैं और वही रेखा यदि बायीं और दाहिनी ओर आवर्तों—भँवरोंसे युक्त हैं तो उत्तम बुद्धिको करती हैं ॥७३॥ कमलकी कर्णिकाके समान नाभि मनुष्यको राजा बना देती है और जिसका ऊपर, नीचे तथा आजू-बाजूका भाग विस्तृत हो ऐसी नाभि मनुष्यको धनवान्

१. साव्यं म. । २. पार्श्व म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]शास्त्रार्थी स्त्रीप्रियो नित्यमाचार्यो बहूपत्यकः । एकद्वित्रिचतुर्भिः स्याद् बलिभिः क्षितिपोऽवलिः[2] ॥७५॥
ज्ञेयाः स्वदारसंतुष्टा ऋजुभिर्वलिभिर्नराः । [3]अगम्यगामिनः पापा विषमैर्वलिभिः पुनः ॥७६॥
[4]मांसलैर्मृदुभिः पार्श्वैर्दक्षिणावर्त्तरोमभिः । भूपास्तद्विपरीतैस्तु परप्रेष्यकरा नराः ॥७७॥
सुभगाः स्युरनुद्भूतैश्चूचुकैः पीवरैर्नराः । दीर्घैश्च विषमैर्मर्त्या जायन्ते धनवर्जिताः ॥७८॥
मांसलं हृदयं राज्ञां पृथून्नतमवेपनम् । विपरीतमपुण्यानां खररोमभिराचितम् ॥७९॥
वक्षोभिश्च समैराढ्याः पीनैः शूरास्त्वकिंचनाः । तनुभिर्विषमैर्निःस्वास्तथा शस्त्रान्तजीविताः[5] ॥८०॥
पीनेन जानुना ह्याढ्यो भोगवानुन्नतेन तु । निःस्वो निम्नास्थिनद्धेन विषमो विषमेण ना ॥८१॥
नित्यमस्वेदनाः कक्षाः पीनोन्नतसुगन्धयः । निश्चेतव्या धनेशानां संकुलाः समरोमभिः ॥८२॥
निःस्वस्य चिपिटा ग्रीवा संशुष्का च सिराचिता । कम्बुग्रीवो नृपः शूरो महिषग्रीवमानवः ॥८३॥
अरोमशममग्नं च पृष्ठं शुभकरं मतम् । रोमशं चातिभु[6]ग्नं च न शुभावहमिष्यते ॥८४॥
अल्पावमांसलौ भु[7]ग्नौ रोमशावधनस्य तु । सुश्लिष्टौ मांसलावंसौ शौर्यवित्तवतां नृणाम् ॥८५॥
पीनौ समौ प्रलम्बौ च करौ करिकरोपमौ । नृपाणामधनानां तु नृणां ह्रस्वौ च रोमशौ ॥८६॥
दीर्घा दीर्घायुषां पुंसां करशाखाः सुकोमलाः । सुभगानामवलिताः सूक्ष्मा मेधाविनां पुनः ॥८७॥

गोमान् और दीर्घजीवी करती है ॥७४॥ जिसके एक वलि होती है वह शास्त्रार्थी होता है, जिसके दो वलि होती हैं वह निरन्तर स्त्रीका प्रेमी होता है, जिसके तीन वलि होती हैं वह आचार्य होता है और जिसके चार वलि होती हैं वह बहुत सन्तानवाला होता है और जिसके एक भी वलि नहीं होती वह राजा होता है ॥७५॥ जिन मनुष्योंकी वलि सीधी होती हैं वे स्वदार-सन्तोषी होते हैं और जिनको वलि विषम होती हैं वे अगम्यगामी एवं पापी होते हैं ॥७६॥ जिन मनुष्योंके पसवाड़े पुष्ट, कोमल एवं दाहिनी ओर आवर्ताकार रोमोंसे सहित होते हैं वे राजा होते हैं और जिनके इनसे विपरीत होते हैं वे दूसरोंके आज्ञाकारी किंकर होते हैं ॥७७॥ जिन मनुष्योंके स्तनोंके अग्रभाग छोटे और स्थूल हों वे उत्तम भाग्यशाली होते हैं और जिनके दीर्घ अथवा विषम होते हैं वे निर्धन होते हैं ॥७८॥ राजाओंका हृदय पुष्ट, चौड़ा, ऊँचा और कम्पनसे रहित होता है तथा पुण्यहीन मनुष्योंका हृदय इससे विपरीत तीक्ष्ण रोगोंसे व्याप्त होता है ॥७९॥ जिनके वक्षःस्थल सम हों वे सम्पत्तिशाली होते हैं, जिनके स्थूल हों वे शूर-वीर किन्तु निर्धन होते हैं और जिनके कृश तथा विषम हों वे निर्धन एवं शस्त्रसे मरनेवाले होते हैं ॥८०॥ जो मनुष्य स्थूल घुटनेसे सहित होता है वह धनाढ्य होता है, जिसका घुटना ऊँचा उठा होता है वह भोगी होता है, जिसका गहरा तथा हड्डियोंसे बद्ध रहता है वह निर्धन होता है और जिसका विषम होता है वह विषम ही रहता है ॥८१॥ धनाढ्य मनुष्योंकी बगलें निरन्तर पसीनासे रहित, पुष्ट, ऊँची, सुगन्धित और समान रोमोंसे व्याप्त रहती हैं ॥८२॥ निर्धन मनुष्यकी गरदन चपटी, सूखी एवं नसोंसे व्याप्त रहती है। इसके विपरीत शंखके समान गरदनवाला मनुष्य राजा होता है और भैंसेके समान गरदनवाला मनुष्य शूर-वीर होता है ॥८३॥ जो पीठ रोमरहित एवं सीधी हो वह शुभ मानी गयी है तथा जो रोमोंसे व्याप्त और अत्यन्त झुकी हुई हो वह अच्छी नही मानी गयी है ॥८४॥ निर्धन मनुष्यके कन्धे छोटे, अपुष्ट, नीचेकी ओर झुके हुए और रोमोंसे व्याप्त होते हैं तथा पराक्रमी और धनवान् मनुष्योंके कन्धे सटे हुए एवं पुष्ट होते हैं ॥८५॥ राजाओंके हाथ स्थूल, सम, लम्बे और हाथीकी सूँड़के समान होते हैं परन्तु निर्धन मनुष्योंके हाथ छोटे और रोमोंसे युक्त रहते हैं ॥८६॥ दीर्घायु मनुष्योंकी अंगुलियाँ

---

१. शास्त्रार्थस्त्रीप्रियो म. । २. बलिरहितः । ३. अन्यदाररता नीचा वर्जिता विषमैर्नराः ख. । ४. अस्य श्लोकस्य स्थाने 'ख' पुस्तके इत्थं पाठः 'स्थूलैश्च मृदुभिः पार्श्वैर्दक्षिणावर्तरोमभिः । राजा भवति मर्त्योऽसावन्यथा किंकरो भवेत् ॥' ७७ ॥ ५. -जीविनः म. । ६. चातिभग्नं म. । ७. भग्नौ म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूला धनविमुक्तानां चिपिटाः प्रेष्यकारिणाम् । आढ्याः कपिकरा मर्त्याः क्रूरा व्याघ्रकराः स्मृताः ॥८८॥
निगूढगूढसुश्लिष्टसंधिसंमणिबन्धनैः । भूपैः दारिद्र्ययुक्तास्तैः सशब्दैश्च श्लथैस्तथा ॥८९॥
निम्नैः करतलैः क्लीबाः पितृवित्तविवर्जिताः । धनिनः [1]संभृतैर्निम्नैः प्रोत्तानैस्तु प्रदायकाः ॥९०॥
लाक्षाभैरीश्वरा निस्स्वा विषमैर्विषमाश्च तैः । अगम्यगामिनः पीतैरूक्षैः रूपविवर्जिताः ॥९१॥
तुषच्छविनखैः क्लीबाः स्फुटितैर्वित्तवर्जिताः । आताम्रैश्च चमूनाथाः कुनखैः परितर्किणः ॥९२॥
अङ्गुष्ठजैर्यवैराढ्याः पुत्रिणोऽङ्गुष्ठमूलजैः । निम्नातिस्निग्धरेखाभिर्धनिनो व्यत्ययेऽन्यथा ॥९३॥
सुघनाङ्गुलयोऽर्थाढ्या विरलाङ्गुलयोऽन्यथा । तिस्रः करमिता रेखा नृपतेर्मणिबन्धनात् ॥९४॥
[2]प्रदेशिनीं सृता रेखा लक्षणं परमायुषः । छिन्नाभिस्ताभिरूनाभिरायुरूनं निरूपितम् ॥९५॥
असिशक्तिगदाकुन्तचक्रतोमरपूर्विकाः । कथयन्ति चमूनाथं कररेखाः परिस्फुटम् ॥९६॥
कृशैस्तु चिबुकैर्दीर्घैर्निस्स्वा धन्यास्तु मांसलैः । [3]ओष्ठैरस्फुटितावक्रैर्भूपा बिम्बफलोपमैः ॥९७॥
तीक्ष्णदंष्ट्राः समाः स्निग्धा विशदा दशना घनाः । जिह्वा रक्ता च दीर्घा च श्लक्ष्णा भोगवतां नृणाम्॥९८॥
आननं संभृतं सौम्यं समं राज्ञामवक्रकम् । दुर्भगानां बृहद्वक्त्रं शठानां परिमण्डलम् ॥९९॥

लम्बी तथा अत्यन्त कोमल होती हैं, भाग्यशाली मनुष्योंकी बलिरहित और बुद्धिमान् मनुष्योंकी छोटी-छोटी होती हैं ॥८७॥ निर्धन मनुष्योंके हाथ स्थूल रहते हैं, सेवकोंके हाथ चिपटे होते हैं, वानरोंके समान हाथवाले मनुष्य धनाढ्य होते हैं और व्याघ्रके समान हाथवाले मनुष्य शूर-वीर होते हैं ॥८८॥ जिनकी कलाइयाँ अत्यन्त गूढ़ एवं सुश्लिष्ट सन्धियोंसे युक्त होती हैं वे राजा होते हैं और जिनकी कलाइयाँ ढीली तथा शब्दोंसे सहित हैं वे दरिद्रतासे युक्त होते हैं ॥८९॥ जिनकी हथेलियाँ गहरी—भीतरको दबी हुई हों वे नपुंसक तथा पिताके धनसे रहित होते हैं, जिनकी हथेलियाँ भरी हुई तथा गहरी हों वे धनाढ्य होते हैं और जिनकी हथेलियाँ ऊपरको उठी हुई हों वे दानी होते हैं ॥९०॥ जिनकी हथेलियाँ लाखके समान लाल हों वे धनाढ्य होते हैं, जिनकी विषम होती हैं वे दरिद्र तथा विषम होते हैं, जिनकी पीली हों वे अगम्यगामी होते हैं और जिनकी रूक्ष होती हैं वे सौन्दर्यसे रहित कुरूप होते हैं ॥९१॥ जिनके नख तुषके समान हों वे नपुंसक, जिनके फटे हों वे निर्धन, जिनके कुछ-कुछ लाल हों वे सेनापति और जिनके भद्दे हों वे तर्क-वितर्क करनेवाले होते हैं ॥९२॥ जिनके अँगूठेपर यवका चिह्न हो वे धनाढ्य होते हैं, जिनके अँगूठेके मूलमें यवका चिह्न हो वे अधिक पुत्रवाले होते हैं, जिनके अँगूठेमें गहरी तथा चिकनी रेखाएँ होती हैं वे धनाढ्य होते हैं और जिनके इससे विपरीत रेखाएँ हैं वे निर्धन होते हैं ॥९३॥ जिनकी अँगुलियाँ अत्यन्त सघन होती हैं वे धन-सम्पन्न होते हैं और जिनकी अँगुलियाँ विषम होती हैं वे निर्धन होते हैं। जिनकी कलाईसे लेकर हाथ तक तीन रेखाएँ होती हैं वे राजा होते हैं ॥९४॥ प्रदेशिनी अँगुली तक लम्बी रेखा दीर्घायुका चिह्न है अर्थात् जिसकी रेखा कनिष्ठासे लेकर प्रदेशिनी तक लम्बी चली जाती है वह दीर्घायु होता है और जिसकी रेखाएँ कटी तथा छोटी होती हैं वह अल्प आयुका धारक होता है ॥९५॥ तलवार, शक्ति, गदा, भाला, चक्र और तोमर आदि रेखाएँ हाथमें हों तो वे स्पष्ट कहती हैं कि यह व्यक्ति सेनापति होगा ॥९६॥ जिनकी दाढ़ी पतली और लम्बी होती है वे दरिद्र होते हैं तथा जिनको पुष्ट होती है वे धनी होते हैं। जिनके ओठ बिना फटे, सीधे और बिम्बीफलके समान लाल होते हैं वे राजा होते हैं ॥९७॥ जिनकी डाढ़ें तीक्ष्ण, सम और स्निग्ध होती हैं, दाँत सफेद और सघन रहते हैं एवं जीभ लाल, लम्बी और कोमल होती है वे भोगी होते हैं ॥९८॥ जिनका मुख भरा हुआ, सौम्य, सम और कुटिलता रहित होता है वे राजा होते हैं। जिनका मुख बहुत बड़ा होता है वे अभागे होते हैं और जिनका मुख गोलाकार होता है वे मूर्ख

१. संवृतै-म., ग. । २. प्रदेशिनी स्मृता म. । ३. उष्टैरस्फुटिता वक्त्रैर्भूपा म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रीवक्त्रमनपत्यानां निम्नं वक्त्रं च निश्चितम् । ह्रस्वं कृपणमर्त्यानां दीर्घमद्रव्यभागिनाम् ॥१००॥
शङ्कुकर्णाः महीपालाः रोमकर्णाश्चिरायुषः । ऋज्वी समपुटा नासा स्वल्पच्छिद्रा च भोगिनाम् ॥१०१॥
सुकृत्स्नुतं[1] धनेशानां द्विस्त्रिः शाश्वतां विदुः । संहतं च प्रमुक्तं च विदितं चिरजीविनाम् ॥१०२॥
रक्तान्तैः पद्मपत्राभैर्नेत्रैः श्रीधनभागिनः । गजेन्द्रवृषनेत्रास्तु भवन्ति वसुधाधिपाः ॥१०३॥
अमङ्गलदृशः पापाः पिङ्गलासंगसंगिनः । असंभाष्याः सदा पुंसामदृश्याश्च विशेषतः ॥१०४॥
मानसैर्वाचिकैः कायैः पापैः संचर्चिताः सदा । दुर्जना दुर्भगाः क्रूराः पापा मार्जारलोचनाः ॥१०५॥
लक्षणानां समस्तानां गुणदोषविचिन्तने । चक्षुर्लक्षणमेवात्र पर्याप्तं फलसाधने ॥१०६॥
मानोन्मानस्वरं देहं गतिसंहतिमन्वयम् । सारं वर्णं बुधो दृष्ट्वा प्रकृतिं च वदेत्फलम् ॥१०७॥
इति प्रवाच्यमानेऽसौ पुस्तके मधुपिङ्गलः । नेत्रदोषकृताशङ्को निर्गत्य सदसोऽगमत् ॥१०८॥
सुलसां च परित्यज्य प्रव्रज्य नवयौवनः । मुनिचर्याश्रितो देशान् पर्यटन्मधुपिङ्गलः ॥१०९॥
इतः सुलसदम्भोजलोचनां[2] सुलसां स्वयम् । प्राप्तः स्वयंवरे दक्षः सगरः सुखमन्वभूत् ॥११०॥
तदात्वेऽभ्येति शब्दश्चेद् वैदग्ध्यमभिकथ्यते । नातिगूढतया जन्तुरायत्यां तु दुरन्तताम् ॥१११॥
सामुद्रिकोऽन्यदाद्राक्षीन्निःसंगमधुपिङ्गलम् । मध्याह्नो पुरि कस्यांचित्पारणार्थमुपागतम् ॥११२॥

होते हैं ॥९९॥ सन्तान-रहित मनुष्योंका मुख स्त्रीके समान तथा नीचा होता है। कंजूस मनुष्योंका मुख छोटा और निर्धन मनुष्योंका मुख लम्बा होता है ॥१००॥ जिनके कान कीलाके समान हों वे राजा होते हैं, जिनके कानोंपर रोम होते हैं वे दीर्घायु होते हैं, जिनकी नाक सीधी समान पुटवाली एवं छोटे छिद्रोंसे युक्त होती है वे भोगी होते हैं ॥१०१॥ जिनको एक छींक आवे वे धनाढ्य, जिनको दो-तीन छींकें एक साथ आवें वे विद्वान् तथा जिनको लगातार अनेक खुली छींकें आवें दीर्घायु होते हैं ॥१०२॥ जिनके नेत्र अन्तमें लाल और कमलपत्रके समान हों वे लक्ष्मीमान् और जिनके गजेन्द्र एवं बैलके समान हों वे राजा होते हैं ॥१०३॥ जो मनुष्य पिंगलवर्णके नेत्रोंसे युक्त हैं वे अमांगलिक और पापी हैं उनके साथ न कभी बात करना चाहिए और न उनकी ओर खासकर देखना चाहिए ॥१०४॥ जिनके नेत्र मार्जारके नेत्रोंके समान रहते हैं वे सदा मानसिक, वाचनिक और कायिक पापोंसे युक्त होते हैं तथा दुर्जन, अभागे, क्रूर और पापी माने गये हैं ॥१०५॥ समस्त लक्षणोंके गुण और दोषका विचार करते समय चक्षुके लक्षणका पूर्ण विचार करना चाहिए क्योंकि फलकी सिद्धिके लिए यही पर्याप्त कारण है ॥१०६॥ विद्वान्को चाहिए कि वह मनुष्यके मान, उन्मान, देह, चाल-ढाल, वंश, उत्तमवर्ण और प्रकृतिको देखकर फलका प्रतिपादन करे ॥१०७॥

इस प्रकार पुस्तक बाँचे जानेपर मधुपिंगलको यह आशंका हो गयी कि हमारे नेत्रमें दोष है इसीलिए वह सभासे निकलकर चला गया ॥१०८॥ यद्यपि मधुपिंगल नवयौवनसे युक्त था तथापि सुलसाको छोड़कर दीक्षित हो गया और मुनिचर्याको धारण कर अनेक देशोंमें विहार करने लगा ॥१०९॥ इधर राजा सगर बड़ा चतुर था इसलिए वह कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली सुलसाको स्वयंवरमें स्वयं प्राप्त कर सुखका उपभोग करने लगा ॥११०॥ आचार्य कहते हैं कि ऐसी प्रवृत्ति तत्काल तो चतुराई कही जाती है परन्तु वह सदा छिपी नहीं रहती इसलिए इसका करनेवाला प्राणी आगामी कालमें अवश्य ही दुष्परिणामको प्राप्त होता है—उसका खोटा फल भोगता है ॥१११॥

तदनन्तर एक दिन मध्याह्नके समय पारणाके लिए किसी नगरमें आये हुए दिगम्बर मुद्रा-

१. कृतं म. । २. सुलसतो सुशोभमाने अम्भोजलोचने यस्याः सा ताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पादमस्तकपर्यन्तान्निरूप्यावयवान्यतेः । सशिरःकम्पमाहासौ महाविस्मयसंगतः ॥११३॥
तिलमात्रोऽपि देहस्य नेक्ष्यतेऽवयवो मुनेः । सामुद्रया सुदृष्ट्या यः शुद्धया परिदूष्यते ॥११४॥
तिष्ठत्वन्यदिहामुष्य सल्लक्षणकदम्बकम् । राज्यं सौभाग्यमप्याह मधुपिङ्गलनेत्रता ॥११५॥
ईदृग्लक्षणयुक्तोऽपि यदयं नवयौवने । परिभ्रमति भिक्षार्थी तद्धिक् सामुद्रशास्त्रकम् ॥११६॥
यद्येष दग्धदैवेन कदर्थयितुमर्थितः । तत्किमर्थमनिन्द्येन लक्षणौघेन चर्चितः ॥११७॥
अथवा दुःखभीरुत्वान्न स्पृशन्ति सुखैषिणः । फलितामपि दुष्पाकां विषवल्लीमिव श्रियम् ॥११८॥
शुभलक्षणपूर्णस्य पुनः शुद्धान्वयस्य हि । युज्यते[1] क्षपतोऽमुष्य मुमुक्षोर्दीक्षया धृतिः ॥११९॥
सामुद्रिकवचः श्रुत्वा नरः कश्चिदुवाच तम् । किं सामुद्रिकवार्त्तास्य न श्रुता विश्रुतावनौ ॥१२०॥
मिलितैः खलभूपालैः सुलसायाः स्वयंवरे । चक्षुर्लक्षणहीनोऽयमिति संसदि दूषितः ॥१२१॥
यथैव सूचकः पुंसां पृष्ठमांसस्य खादकः । निन्दितः स्वप्रशंसी च तथैव किल पिङ्गलः ॥१२२॥
परप्रमाणको मुग्धो मत्वात्मानमलक्षणम् । मधुपिङ्गः शुभाक्षोऽयं विलक्षस्तपसि स्थितः ॥१२३॥
प्रमादालस्यदर्पेभ्यो ये स्वतो नागमेक्षिणः । ते शठैर्विप्रलभ्यन्ते दृष्टादृष्टार्थगोचरे ॥१२४॥
स्वयंवरे नरश्रेष्ठः कन्यया सगरो वृतः । वृतः[2] क्षत्रसमूहेन भोगासक्तोऽवतिष्ठते ॥१२५॥

धारी मधुपिंगलको एक सामुद्रिकशास्त्रीने देखा ॥११२॥ वह पैरसे लेकर मस्तक तक मुनिराजके समस्त अवयवोंको देखकर बहुत भारी आश्चर्यमें पड़ गया और शिर हिलाता हुआ कहने लगा कि इन मुनिके शरीरमें तिल बराबर भी ऐसा अवयव नहीं दिखाई देता जो सामुद्रिक शास्त्रकी शुद्ध दृष्टिसे दूषित किया जा सके अर्थात् जिसमें सामुद्रिक-शास्त्रके अनुसार दोष बताया जा सके ॥११३-११४॥ इनके शरीरमें जो उत्तमोत्तम अन्य लक्षणोंका समूह है वह तो एक ओर रहे एक नेत्रोंकी पीलाई ही इनके राज्य तथा सौभाग्यको सूचित कर रही है ॥११५॥ क्योंकि ऐसे लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी जब यह नयी जवानीमें भिक्षाके लिए इधर-उधर भ्रमण कर रहा है तब ऐसे सामुद्रिक शास्त्रको धिक्कार हो ॥११६॥ यदि दुर्दैव इसे पीड़ित ही करना चाहता है तो फिर निर्दोष लक्षणोंके समूहसे इसे युक्त क्यों किया ? ॥११७॥ अथवा यह भी हो सकता है कि जो मनुष्य सुखकी इच्छा रखते हैं वे दुःखसे भयभीत होनेके कारण फलोंसे लदी किन्तु खोटा फल देनेवाली विष लताके समान प्राप्त हुई लक्ष्मीको छूते भी नहीं ॥११८॥ यथार्थमें यह मुनि शुभ लक्षणोंसे पूर्ण और शुद्ध कुलका है तथा मोक्षकी इच्छासे तप कर रहा है इसलिए इसका दीक्षा द्वारा सन्तोष धारण करना युक्त ही है ॥११९॥

सामुद्रिकके उक्त वचन सुनकर किसी मनुष्यने उससे कहा कि क्या आपने इसके सामुद्रिक शास्त्रकी बात सुनी नहीं ? वह तो समस्त पृथिवीमें प्रसिद्ध है ॥१२०॥ सुलसाके स्वयंवरमें इकट्ठे हुए दुष्ट राजाओंने 'यह नेत्रके लक्षणोंसे हीन है' यह कहकर इसे सभामें दूषित ठहराया था ॥१२१॥ उस समय कहा गया था कि जिस प्रकार पीठ पीछे दूसरेकी बुराई करनेवाला चुगल और अपनी प्रशंसा स्वयं करनेवाला मनुष्य निन्दित है उसी प्रकार यह पिंगल भी निन्दित है-दोषयुक्त है ॥१२२॥ यह मधुपिंगल भोला-भाला था तथा दूसरोंको प्रमाण मानता था इसलिए शुभ नेत्रोंका धारक होनेपर भी अपने आपको अशुभ लक्षणवाला मान बैठा और लज्जित हो तप करने लगा ॥१२३॥ ठीक ही है जो मनुष्य प्रमाद, आलस्य और अहंकारके कारण स्वयं शास्त्रोंको नहीं देखते हैं वे देखे-अनदेखे पदार्थोंके विषयमें धूर्तोंके द्वारा ठगे जाते हैं ॥१२४॥ मधुपिंगलके चले जानेपर कन्याने स्वयंवरमें राजा सगरको वर लिया जिससे वह क्षत्रियोंके समूहसे घिरा भोगोंमें आसक्त है ॥१२५॥

१. क्षपितेऽ ग । -क्षिपितेऽ -ङ । ऽन्वयतो ख. । २. वृतक्षत्र -म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति श्रुत्वा महाक्रोधः स मृत्वा मधुपिङ्गलः । जातो वननिकायेषु[1] महाकालोऽधमामरः ॥१२६॥
अहो कषायपानस्य वैषम्यं यद्विरोधिनः । सम्यक्त्वौषधिपानस्य जातमत्यन्तदूषणम् ॥१२७॥
सुलसापहृतिं ध्यात्वा सोपायां सगरेण सः । क्रोधाग्निना महाकालो जज्वाल हृदये भृशम् ॥१२८॥
स्त्रीवैरविषदग्धस्य हृदयस्य विदाहिनः । स दाहोपशमं कर्तुं न शशाक शमाम्बुना ॥१२९॥
अचिन्तयदसौ येन शत्रोर्दुःखपरम्परा[3] । जायते दीर्घसंसारे तमुपायं करोम्यहम् ॥१३०॥
प्राणी प्रत्यपकाराय चेष्टते ह्यपकारिणः । तैरुपायैर्यकैर्याति मूढधीः स्वयमप्यधः ॥१३१॥
आगतश्च महाकालः क्षत्रक्रोधेन दीपितः । नारदेन जितं जल्पे[4] पश्यति स्म स पर्वतम् ॥१३२॥
शाण्डिल्याकृतिरूपोऽद्य तस्य विश्वासमाह सः । मागाः पर्वत ! निर्वेदं जल्पेऽहं जित इत्यलम् ॥१३३॥
ध्रौव्यनाम्नो गुरोः शिष्यः शाण्डिल्योऽहं पिता च ते । वैन्यश्चापि तथोदञ्चः प्रावृतश्चैव पञ्चमः ॥१३४॥
सूनोः क्षीरकदम्बस्य भवतो यः पराभवः । स ममैव ततोऽस्याहं मार्जनाय समुद्यतः ॥१३५॥
सहायं मां परिप्राप्य कुरु क्षेत्रमकण्टकम् । मरुत्सखस्य रौद्रस्य शिखिनः किमु दुष्करम् ॥१३६॥
इति पर्वतमामाष्य पुरस्कृत्य स दुष्टधीः । सक्षत्रं भरतक्षेत्रं चक्रे व्याधिशताकुलम् ॥१३७॥
चक्रे व्याधिविनाशाय शान्तिकर्म च पर्वतः । विश्वासेन ततो लोकः शरणं प्रतिपद्यते ॥१३८॥

यह सुनकर मधुपिंगलको बहुत भारी क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी समय मरकर वह व्यन्तर देवोंमें महाकाल नामका नीच देव हुआ ॥१२६॥ आचार्य कहते हैं कि अहो ! कषायरूपी कषैले शरबतकी बड़ी विषमता है क्योंकि वह सम्यग्दर्शनरूपी ओषधिके शरबतको अत्यन्त दूषित कर देता है। भावार्थ—जिस प्रकार कषैला रस पीनेसे उसके पूर्व पिया हुआ मीठा रस दूषित हो जाता है उसी प्रकार क्रोधादि कषायोंकी तीव्रतासे सम्यग्दर्शनरूप ओषधिका रस दूषित हो जाता है—सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥१२७॥ राजा सगरने उपाय भिड़ाकर सुलसाका अपहरण किया था इसका ध्यान आते ही महाकाल, हृदयमें क्रोधरूपी अग्निसे अत्यन्त जलने लगा ॥१२८॥ उसका हृदय स्त्रीके वैररूपी विषसे जलकर तीव्र दाह उत्पन्न कर रहा था इसलिए वह शान्तिरूपी जलसे उसकी दाहको शान्त करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥१२९॥ वह विचार करने लगा कि जिससे शत्रुको दीर्घ संसारमें दुःखोंकी परम्परा प्राप्त होती रहे मैं उसी उपायको करता हूँ ॥१३०॥ आचार्य कहते हैं कि यह प्राणी अपने अपकारी मनुष्यका उन उपायोंसे अपकार करनेकी—बदला लेनेकी चेष्टा करता है कि जिनसे वह मूर्ख स्वयं नीचेकी ओर जाता है—अधोगतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ इस प्रकार राजा सगरके ऊपर क्रोधसे देदीप्यमान होता हुआ महाकाल पृथिवीपर आया और आते ही उसने शास्त्रार्थमें नारदके द्वारा जीते हुए पर्वतको देखा ॥१३२॥ महाकालने शाण्डिल्यका रूप धारण कर पर्वतको विश्वास दिलाते हुए उससे कहा कि हे पर्वत ! तुम इस बातका खेद मत करो कि मैं शास्त्रार्थमें हार गया हूँ ॥१३३॥ ध्रौव्य नामक गुरुके मैं शाण्डिल्य, तुम्हारे पिता क्षीरकदम्बक, वैन्य, उदंच और प्रावृत ये पांच शिष्य थे ॥१३४॥ तुम क्षीरकदम्बकके पुत्र हो इसलिए जो तुम्हारा पराभव है वह मेरा पराभव है और इसीलिए मैं उसे दूर करनेके लिए उद्यत हूँ ॥१३५॥ तुम मेरी सहायता पाकर अपने क्षेत्रको निष्कण्टक करो, क्योंकि वायुसे प्रज्वलित भयंकर अग्निको क्या कार्य कठिन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१३६॥ इस प्रकार दुर्बुद्धिके धारक महाकालने पर्वतसे कहकर तथा उसे आगे कर राजाओं सहित समस्त भरत क्षेत्रको सैकड़ों बीमारियोंसे व्याकुल कर दिया ॥१३७॥ उन बीमारियोंको नष्ट करनेके लिए पर्वत शान्तिकर्म करता था जिससे लोग विश्वास कर उसकी

---

१. व्यन्तरदेवेषु । अवनिकायेषु म. । २. महाकायो म. । ३. परम्परां म. । ४. वादे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सगरः क्षत्रलोकेन सहोपेत्य तमादरात् । होमैर्मन्त्रविधानैश्च बभूव विगतज्वरः ॥१३९॥
हिंसानोदनयानार्षान् क्रूरान् क्रूरः स्वयंकृतान् । वेदानध्यापयन् विप्रान् क्षिप्रं देवोऽनयद्वशम् ॥१४०॥
अश्वमेधोऽजगोमेधो यागो यागफलैषिणाम् । दर्शितः क्षत्रियादीनां साक्षात्प्रत्ययकारिणाम् ॥१४१॥
सूयन्ते यत्र राजानः शतशोऽपि सहस्रशः । राजसूयक्रतुस्तेन दर्शितो राजवैरिणा ॥१४२॥
प्राग्दिवाकरदेवाख्यः खेचरो नारदान्वितः । पापविघ्नकरस्तेन विघ्नितः सुरमायया ॥१४३॥
अणिमादिगुणोत्कृष्टे[1] विकुर्वाणे सुराधमे । विद्याबलसमृद्धोऽपि मानुषः किं करिष्यति ॥१४४॥
घातयित्वा बहून् जीवान् ब्राह्मणादिभिरुद्यतैः । यष्टेऽयष्ट[2] स दुष्टस्तान् स्वपरानिष्टकृत्सुरः ॥१४५॥
इष्ट्वा च सगरं यागे सुलसां च कृपोज्झितः । हिंसानन्दं परिप्राप्तः प्रयातश्च निजं पदम् ॥१४६॥
प्रवर्तिताश्च ते वेदा महाकालेन कोपिना । विस्तारितास्तु सर्वस्यामवनौ पर्वतादिभिः ॥१४७॥
नारदस्य सुतायासौ खेचरोऽपि सुदृष्टये । सुतां परमकल्याणीं ददौ विद्यासमन्विताम् ॥१४८॥
अन्वये तनुजातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका । सोमश्रीरिति विख्याता वसुदेवद्विजन्मनः ॥१४९॥
करालब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा । वेदे जेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी ॥१५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान् वेदान् यदूत्तमः[3] । जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे[4] विधानतः ॥१५१॥
वरे प्रेम वरं जातं नववध्वा यथा दृढम् । वरस्यापि तथा तस्यां तत्र का सुखवर्णना ॥१५२॥

शरणमें आने लगे ॥१३८॥ राजा सगर भी अनेक राजाओंके साथ आदरपूर्वक उसके पास आया और बताये हुए होम तथा मन्त्र-विधानसे नीरोग हो गया ॥१३९॥ दुष्ट महाकाल देव हिंसाकी प्रेरणा देनेके लिए स्वयं बनाये हुए अनार्ष वेद ब्राह्मणोंको पढ़ाता था और उन्हें शीघ्र अपने वश कर लेता था ॥१४०॥ उसने यज्ञके फलकी इच्छा रखनेवाले एवं साक्षात् विश्वास करनेवाले क्षत्रिय आदि जनोंको अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध यज्ञ बतलाये ॥१४१॥ जिसमें सैकड़ों-हजारों राजा होमे जाते थे ऐसा राजसूय यज्ञ भी उस राजाओंके वैरी महाकालने दिखलाया था ॥१४२॥ यद्यपि प्राग्दिवाकर देव नामका विद्याधर नारदके साथ आकर महाकालके इस पाप कार्यमें विघ्न करनेके लिए उद्यत था तथापि देवकी मायाने उसके इस कार्यमें विघ्न डाल दिया ॥१४३॥ सो ठीक ही है क्योंकि अणिमादि गुणोंसे उत्कृष्ट नीच देव जब अपनी विक्रिया दिखानेमें तत्पर है तब मनुष्य विद्याबलसे समृद्ध होनेपर भी क्या कर सकता है ? ॥१४४॥ इस प्रकार निज और परका अहित करनेवाले उस दुष्ट देवने आज्ञापालन करनेमें उद्यत ब्राह्मण आदिके द्वारा बहुत जीवोंका घात कराकर उन्हें यज्ञमें होम दिया। यही नहीं उस निर्दयने राजा सगर और सुलसाको भी यज्ञमें होम दिया और इस प्रकार हिंसानन्द नामक रौद्र ध्यानको प्राप्त होता हुआ अपने स्थान-पर चला गया ॥१४५-१४६॥ क्रोधसे युक्त महाकाल देवने उन अनार्ष वेदोंको चलाया और पर्वत आदिने समस्त पृथिवीपर उनका विस्तार किया ॥१४७॥ नारदका एक सम्यग्दृष्टि पुत्र था। उसे प्राग्दिवाकर देव नामक विद्याधरने विद्याओंसे सहित अपनी परम कल्याणी पुत्री प्रदान की थी ॥१४८॥ उसी वंशमें वसुदेव ब्राह्मणकी क्षत्रिया स्त्रीसे यह सोमश्री नामकी उत्तम कन्या उत्पन्न हुई है ॥१४९॥ करालब्रह्मदत्त नामक अवधिज्ञानी मुनिराजने कहा था कि जो इसे वेदोंमें जीतेगा उसी महापुरुषकी यह स्त्री होगी ॥१५०॥

यह सुनकर श्रीमान् कुमार वसुदेवने उस समय समस्त वेदोंका अध्ययन किया और सोमश्रीको जीतकर विधिपूर्वक उसके साथ विवाह किया ॥१५१॥ जिस प्रकार नववधूका कुमार वसुदेवमें दृढ़ प्रेम था उसी प्रकार कुमार वसुदेवका भी नववधूमें दृढ़ प्रेम था। इसलिए उनके

१. सुरोत्कृष्टे म.। २. यष्टे यष्टा स दुष्टस्तां म.। ३. वसुदेवः। ४. परिणीतवान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वीच्छन्दः

रहस्यकृत वक्षसा घनपयोधरोत्पीडनं
चुचुम्ब सकचग्रहं जघनमाजघानाधरम् ।
ददंश नृवरो वरः सनखपातमस्या वधू-
र्विवेद मदनातुरा न च तथाविधं बाधनम् ॥१५३॥
चचार खचरीसखः खचरलोकलोकाधिकः
स्वरूपगुणसंपदारतिषु दक्षिणो यो युवा ।
स्वतन्त्रजिनभक्तधारमदतीव सोमश्रिया
पुरे गिरितटाभिधे सुमतिचारुयोषित्सखः ॥१५४॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सोमश्रीलाभवर्णनो नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥२३॥

□

सुखका क्या वर्णन किया जाये ? ॥१५२॥ कुमार वसुदेवने एकान्त स्थानमें अपने वक्षःस्थलसे उसके स्थूल स्तनोंका पीडन किया, केश खींचते हुए चुम्बन किया, नखक्षत करते हुए नितम्बका आस्फालन किया और अधरको डँसा परन्तु कामातुर सोमश्रीने उस प्रकारकी बाधाको कुछ भी नहीं जाना ॥१५३॥ जो अपने सौन्दर्य तथा गुणरूपी सम्पदाके द्वारा विद्याधरोंसे भी श्रेष्ठ थे, जो विद्याधरियोंके साथ भ्रमण करते थे, जो रतिक्रियामें अत्यन्त कुशल एवं युवा थे और जो सुबुद्धि-रूपी सुन्दर स्त्रीके सखा थे, ऐसे कुमार वसुदेवने गिरितट नामक नगरमें स्वतन्त्र एवं जिनभक्त रमणी सोमश्रीके साथ अत्यधिक क्रीड़ा की ॥१५४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें सोमश्रीके लाभका वर्णन करनेवाला तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२३॥

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशः सर्गः

अथासावेकदा शौरिरिन्द्रशर्मोपदेशतः । उद्याने साधयन् विद्यां निशि धूर्तैर्निरीक्षितः ॥१॥
आरोप्य शिविकां क्वापि दूरं नीतो दिवानने[1] । अपसृत्य ततो यातो नगरं तिलवस्तुकम् ॥२॥
बाह्यचैत्यगृहोद्याने रात्रौ सुप्तः प्रबोधितः । केनचिद्राक्षसेनेव पुंसा मानुषभक्षिणा ॥३॥
भो ! भो ! बुध्यस्व बुध्यस्व कस्त्वं स्वपिषि मानुष । व्याघ्रस्येव क्षुधार्त्तस्य ममास्ये पतितः स्वयम् ॥४॥
विनिद्रो रौद्रनादेन शौरिः शूरतरोऽमुना । जिघांसन्तं भुजेनारिमाजघान भुजेन सः ॥५॥
दृढमुष्टिघनाघातघोरनिर्घोषभीषणम् । भूतं[2] भूतलसंक्षोभं युद्धमुद्धतयोस्तयोः ॥६॥
चिरेण दानवाकारो यादवेन बलीयसा । निहत्य मल्लयुद्धेऽसौ मोचितः प्रियजीवितम् ॥७॥
प्रभाते पौरलोकस्तं नराशिनरनाशनम्[3] । रथेन पुरमावेश्य सत्पौरुषमपूजयत् ॥८॥
कन्याः पञ्चशतान्यत्र रूपलावण्यवाहिनीः । कुलशीलवतीर्लब्ध्वा तत्र तावदतिष्ठपत्[4] ॥९॥
कुतस्त्योऽयं नृमांसादः पुरुषः परुषाशयः । इति तेन तदा पृष्टैर्वृद्धैरिति निवेदितम् ॥१०॥
आसीन्नृपः कलिङ्गेषु पुरे काञ्चननामनि । जितशत्रुगणः[5] ख्यातो जितशत्रुरभिख्यया ॥११॥
आसीदयममोघाज्ञः स्वदेशे देशपालकः । जीवघातनिवृत्तेच्छः सर्वत्राभयघोषणः ॥१२॥

अथानन्तर एक समय कुमार वसुदेव, इन्द्रशर्मा ब्राह्मणके उपदेशसे गिरितट नगरके उद्यानमें रातको विद्या सिद्ध कर रहे थे कि कुछ धूर्तोंने उन्हें देख लिया ॥१॥ वे उन्हें पिछली रात्रिमें पालकीपर बैठाकर कहीं दूर ले गये। वसुदेव वहाँसे चलकर तिलवस्तु नामक नगर पहुँचे ॥२॥ और वहाँ नगरके बाहर जो चैत्यालय था उसके उद्यानमें रात्रिके समय सो गये, वहाँ राक्षसके समान एक मनुष्यभक्षी पुरुषने आकर उन्हें जगाया ॥३॥ वह कहने लगा कि अरे मनुष्य ! जाग-जाग, तू यहाँ कौन सो रहा है ? भूखसे पीड़ित बाघके समान मेरे मुखमें तू स्वयं आकर पड़ा है ॥४॥ शूर-वीर वसुदेव उस भयंकर शब्दसे जाग उठे। जब मनुष्यभक्षी पुरुष अपनी भुजासे वसुदेवको मारनेके लिए उद्यत हुआ तब उन्होंने भी अपनी भुजाओंसे उसे कसकर पिटाई लगायी ॥५॥ तदनन्तर प्रबल शक्तिको धारण करनेवाले उन दोनोंके बीच पृथिवीको कँपा देनेवाला युद्ध हुआ। उनका वह युद्ध मुट्ठियोंके प्रबल प्रहारसे उत्पन्न घोर शब्दसे भयंकर था ॥६॥ वसुदेव बहुत बलवान् थे इसलिए उन्होंने बहुत देर तक युद्ध करनेके बाद उस दानवाकार मनुष्यको मल्लयुद्धमें मारकर प्राण-रहित कर दिया ॥७॥ जब प्रातःकाल हुआ तब नगरवासी लोग, उत्तम पौरुषके धारी एवं नरभोजी मनुष्यको नष्ट करनेवाले वसुदेवको रथपर बैठाकर नगरमें ले गये और उन्होंने वहाँ उनका बहुत सम्मान किया ॥८॥ कुमार वसुदेव उस नगरमें रूप और सौन्दर्यको धारण करनेवाली कुल और शीलसे सुशोभित पाँच सौ कन्याएँ प्राप्त कर वहीं रहने लगे ॥९॥ मनुष्योंके मांसको खानेवाला यह दुष्ट मनुष्य यहाँ कहाँसे आया था ? इस प्रकार वसुदेवके पूछनेपर वहाँके वृद्धजनोंने इस प्रकार कहा ॥१०॥

कलिंग देशके कांचनपुर नामक नगरमें शत्रुओंके समूहको जीतनेवाला एक जितशत्रु नामका राजा था ॥११॥ अपने देशमें उस राजाकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन नहीं करता था। वह नीतिपूर्वक देशका पालन करता था, उसकी इच्छा जीव-हिंसासे दूर रहती थी तथा समस्त

---

१. पश्चिमरात्रौ । २. जातम् । ३. मनुष्यभक्षिमनुष्यनाशकं—वसुदेवम् । ४. स्थितवान् । ५. जितः शत्रुगणो येन सः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तनयस्तस्य सौदासः स मांसरसलालसः । मायूरमांसमात्रायाः पितुराज्ञामदापयत् ॥१३॥
प्रत्यहं शिखिनां मांसं सूपकारेण संस्कृतम् । भक्षयत्यप्रकाशं तत् प्रासादान्तरवस्थितः ॥१४॥
कदाचित्तु हृते मांसे मार्जारेण पुरो बहिः । सूपकारो गतोऽपश्यन्मृतं शिशुमुपांशु च ॥१५॥
आनीयादात्सुसंस्कृत्य सौदासोऽप्यघसन्मुदा । अपृच्छच्च स तं मांसं कस्येदमिति सादरः ॥१६॥
अशितानि पुरा भद्र ! पिशितानि बहूनि मोः । न शतांशेन तान्यस्य स्पृशन्ति स्म रसान्तरम् ॥१७॥
सत्यं ब्रूहि हितं साधो ! सत्यमस्मन्न ते भयम् । इत्युक्तः सोऽवदत्सर्वं नीत्या युक्तः स्वचेष्टितम् ॥१८॥
सौदासोऽपि च तत् श्रुत्वा सूपकारं शशास सः । तुष्टोऽस्मि मर्त्यमांसं मे नित्यमानीयतामिति ॥१९॥
पितर्युपरते तावत्सौदासेऽपि पदस्थिते । सोपायं सूपकारोऽभूदन्वहं शिशुमारकः ॥२०॥
प्रत्येकं प्रत्यहं हानिमपत्यानामवेक्ष्य वै । परीक्ष्य भक्षको लोकैराशु देशादपाकृतः ॥२१॥
रन्ध्रे व्याघ्रवदापत्य निशि नीत्वा नु मानुषान् । दिवारण्ये चरः कुर्याद् व्यसनोपहतो न किम् ॥२२॥
असाध्यो लोकत्रित्रासी स एष भवताधुना । प्रापितः साधुना मृत्युमसाधारणशक्तिना ॥२३॥
इत्यावेद्य वयोवृद्धाः सौदासस्य कुचेष्टितम् । वस्त्रमाल्यविभूषाद्यैः पूजयन्ति स्म यादवम् ॥२४॥
लेभे च सोऽचलग्रामे सार्थवाहस्य देहजाम् । वेदसामपुरं चामा प्रयातो वनमालया ॥२५॥

राज्यमें उसने अभयकी घोषणा करा रखी थी ॥१२॥ उसका एक सौदास नामका पुत्र था। वह मांस खानेका बड़ा लम्पट था इसलिए उसने पितासे मयूरका मांस खानेकी आज्ञा प्राप्त कर ली थी ॥१३॥ प्रतिदिन रसोइया उसे मयूरका मांस तैयार कर देता था और वह उसे महलके भीतर छिपकर खाया करता था ॥१४॥ किसी एक दिन तैयार मांसको बिल्ली उठा ले गयी जिससे मांस-की तलाशमें रसोइया नगरके बाहर गया। वहाँ उसने एक मरा हुआ बालक देखा जिसे वह छिपाकर ले आया और अच्छी तरह तैयार कर उसे सौदासके लिए दे दिया। सौदासने उस मांसको बड़ी प्रसन्नतासे खाया और आदरपूर्वक उस रसोइयासे पूछा कि यह मांस किसका है ? ॥१५-१६॥ वह कहने लगा कि हे भद्र ! मैंने पहले बहुत-से मांस खाये हैं पर वे इस मांसके रसके सौवें भागका भी स्पर्श नहीं करते ॥१७॥ हे भले आदमी ! जो बात सत्य और हितकारी हो वह कहो। यह सच है कि तुम्हें मुझसे कुछ भी भय नहीं है। इस प्रकार कहनेपर नीतिसे युक्त रसोइयाने अपनी सब चेष्टा सौदासके लिए बतला दी ॥१८॥ रसोइयाकी बात सुनकर सौदासने उसकी बहुत प्रशंसा की और कहा कि मैं तुम्हारे ऊपर बहुत सन्तुष्ट हूँ, तुम प्रतिदिन मेरे लिए मनुष्यका ही मांस लाया करो ॥१९॥

तदनन्तर पिताके मरनेपर सौदास राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हुआ और उसका रसोइया किसी उपायसे प्रतिदिन बच्चोंको मारने लगा ॥२०॥ 'प्रतिदिन एक-एक बच्चेकी हानि होती जा रही है' यह देख नगरवासी लोगोंमें खलबली मच गयी। उन्होंने परीक्षा कर सौदासको शिशु-भक्षक पाया। और उसे शीघ्र ही देशसे बाहर खदेड़ दिया ॥२१॥ अब वह अवसर देख व्याघ्रकी तरह रात्रिमें झपाटा मारकर मनुष्योंको ले जाता है और दिन-भर जंगलमें रहता है सो ठीक ही है क्योंकि व्यसनमें पड़ा मनुष्य क्या नहीं करता है ? ॥२२॥ हे कुमार ! लोगोंको भयभीत करनेवाला यह वही सौदास था। यह हम लोगोंके लिए असाध्य था परन्तु असाधारण शक्तिको धारण करनेवाले आपने उसे आज यमलोक पहुँचा दिया ॥२३॥ इस प्रकार नगरके वयोवृद्ध लोगोंने सौदासकी कुचेष्टाओंका वर्णन कर वस्त्र, माला तथा आभूषण आदिसे वसुदेवका खूब सत्कार किया ॥२४॥

तदनन्तर वहाँसे चलकर कुमार वसुदेवने अचलग्रामके सेठकी वनमाला नामक पुत्रीको प्राप्त किया—उसके साथ विवाह किया और वहाँसे वनमालाके साथ चलकर वे वेदसामपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पुराधिपतिं युद्धे स जित्वा कपिलश्रुतिम् । उवाह विधिना वीरस्तत्कन्यां कपिलामिधाम् ॥२६॥
तस्यामजनयत्पुत्रं प्रसिद्धं कपिलाख्यया । प्रीतिं श्वसुरपुत्रेण प्राप्तश्चांशुमता पराम् ॥२७॥
वारिबन्धेऽन्यदा गन्धगजेन[1] ह्रियमाणकः । दृढमुष्टिर्जघानेभं नीलकण्ठः शुचाभवत्[2] ॥२८॥
पतितश्च शनैः शौरिस्तडागाम्भस्यनाकुलः । अटव्याश्च विनिष्क्रम्य गतः शालगुहां पुरीम् ॥२९॥
तत्र पद्मावतीं लेभे धनुर्वेदोपदेशतः । जित्वा जयपुरेशं च तत्सुतामपि लब्धवान् ॥३०॥
साकमंशुमता यातो भद्रिलाख्यपुरं परम् । पौण्ड्रश्च नृपतिस्तत्र दुहिता चारुहासिनी ॥३१॥
दिव्यौषधिप्रभावेन सा युवंवेषधारिणी[3] । तेन विज्ञातवृत्तान्ता परिणीतातिहारिणी ॥३२॥
पुत्रं पात्रं श्रियां तस्यां स पौण्ड्रमुदपादयत् । निशि हंसापदेशेन हृतश्चाङ्गारकारिणा ॥३३॥
विसृष्टश्चापि गङ्गायां पपात वियतः शनैः । अपश्यत्पुरं प्रातरिलावर्धनसंज्ञकम् ॥३४॥
तत्रापणे निविष्टोऽसौ वणिग्दत्तवरासने । आपणः क्षणमात्रेण पूर्यते स्म धनैश्च सः ॥३५॥
तत्प्रभावमसौ बुद्ध्वा वणिग्नीत्वा स्वमन्दिरम् । ददौ रत्नवतीं यूने कन्यां धन्याय संपदा ॥३६॥
भुञ्जानः स तया दिव्यान् भोगानन्तरवर्जितान् । यातः शक्रमहं द्रष्टुमेकदा तु महापुरम् ॥३७॥
पुरो बहिरसौ दृष्ट्वा प्रासादान् विपुलान् बहून् । पृष्टवानिति केनामी किमर्थं वा निवेशिताः ॥३८॥

पहुँचे ॥२५॥ वीर वसुदेवने वेदसामपुरके राजा कपिलमुनिको युद्धमें जीतकर उसकी कपिला नामक पुत्रीके साथ विधि-पूर्वक विवाह किया ॥२६॥ वहाँ कपिलाके भाई अंशुमान नामक सालेके साथ वसुदेव परम प्रीतिको प्राप्त हुए जिससे वहाँ रहकर उन्होंने कपिलाके कपिल नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥२७॥ एक दिन जिस नीलकण्ठने पहले नीलयशाका अपहरण किया था वह गन्धहस्तीका रूप धरकर वेदसामपुरमें आया। उसे बन्धनमें डालनेके लिए जब वसुदेव उसपर आरूढ़ हुए तो उन्हें वह हरकर आकाशमें ले गया। यह देख वसुदेवने उसे मुट्ठियोंके दृढ़ प्रहारसे खूब पीटा जिससे शोकवश वह गन्धहस्तीका रूप छोड़कर नीलकण्ठ हो गया ॥२८॥ वसुदेव धीरे-धीरे तालाबके जलमें गिरे और बिना किसी आकुलताके अटवीसे निकलकर शालगुहा नामक नगरीमें पहुँच गये ॥२९॥ वहाँ धनुर्वेदके उपदेशसे उन्होंने पद्मावती नामकी कन्या प्राप्त की। वहाँसे चलकर जयपुर गये और वहाँके राजाको जीतकर उसकी कन्या भी प्राप्त की ॥३०॥ वहाँसे चलकर वे अपने साले अंशुमान्‌के साथ भद्रिलपुर नामक श्रेष्ठ नगर गये। वहाँ उस समय पौण्ड्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी चारुहासिनी नामकी एक कन्या थी, वह कन्या दिव्य ओषधिके प्रभावसे सदा युवाका वेष धारण करती थी। वसुदेवको इसका पता लग गया इसलिए उन्होंने उस अतिशय सुन्दरी कन्याके साथ विवाह कर लिया ॥३१-३२॥ तथा कुछ समय बाद उस कन्यामें उन्होंने लक्ष्मीका पात्र एक पौण्ड्र नामका पुत्र उत्पन्न किया। एक दिन वसुदेव रात्रिके समय शयन कर रहे थे कि उनका वैरी अंगारक उन्हें हंसका रूप धरकर हर ले गया ॥३३॥ जब उससे छूटे तो धीरे-धीरे आकाशसे गंगा नदीमें गिरे। उसे पार कर जब किनारेपर आये तो सवेरा होते ही उन्होंने इलावर्धन नामका नगर देखा ॥३४॥ वहाँ वे एक दुकानमें सेठके द्वारा दिये हुए उत्तम आसनपर बैठ गये। उनके बैठते ही क्षणमात्रमें वह दुकान धनसे भर गयी ॥३५॥ इसको सेठ, वसुदेवका ही प्रभाव जानकर उन्हें अपने घर ले गया तथा वहाँ ले जाकर उसने भाग्यशाली तरुण वसुदेवके लिए अपनी रत्नवती कन्या प्रदान की ॥३६॥ वसुदेव रत्नवतीके साथ निरन्तराय दिव्य भोगोंको भोगते हुए वहीं रहने लगे। तदनन्तर वे एक समय इन्द्रध्वज विधान देखनेके लिए महापुर नगर गये ॥३७॥ वहाँ उन्होंने नगरके बाहर बहुत-से बड़े-बड़े महल देखकर किसी मनुष्यसे पूछा कि ये महल किसने किस लिए बनवाये हैं ? ॥३८॥ मनुष्यने कहा कि राजा सोमदत्तने अपनी

१. गन्धगजेन्द्रह्रियमाणकः घ. । २. स चाभवत् म. । ३. तत्रैता- म. । ४. युवन्वेष- म., क., ग., घ., ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेनोक्तं सोमदत्तेन राज्ञा कन्यास्वयंवरे । कारिता बहुशश्चित्राः प्रासादाः पृथिवीभृताम् ॥३९॥
स्वयंवरविधेः कन्या कुतश्चिदपि हेतुतः । विरक्ताभूदतः सर्वे राजानश्च विसर्जिताः ॥४०॥
इत्याकर्ण्य स तस्याश्च चिन्तयन्मनसो गतिम् । पश्यन्निन्द्रमहं तत्र शौरिर्यावदवस्थितः ॥४१॥
तावच्च सहसा प्राप्ताः सरक्षाः नृपतिस्त्रियः । इन्द्रध्वजं च वन्दित्वा प्रस्थिताः स्वगृहं पुनः ॥४२॥
आलानस्तम्भमाभज्य तदा स समदद्विपः । मारयन्सहसागच्छन्मर्त्यान्मृत्युरिव स्वयम् ॥४३॥
लोकस्य मार्यमाणस्य महाकलकलध्वनिः । दिशो दश तदा व्याप रसतः पश्यतः पथि ॥४४॥
प्राप्तश्च मत्तमातङ्गो वेगी प्रवहणान्यसौ । कन्या प्रवहणाच्चैका पपात सभया क्षितौ ॥४५॥
करिणं निर्मदीकृत्य तां ररक्ष भयाकुलाम् । पश्यतः सर्वलोकस्य कृतक्रीडः स यादवः ॥४६॥
परित्यज्य गजं श्रान्तं कन्यां भयविमूर्च्छिताम् । समाश्वासयदुत्थाय सा तमैक्षिष्ट रूपिणम् ॥४७॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य वाष्पाकुलविलोचना[1] । त्रपानता करं तस्य जग्राह स्पर्शसौख्यदम् ॥४८॥
गते शौरौ यथास्थानं धात्री वृद्धा महत्तराः । प्रगृह्य कन्यकां तां च ययुरन्तःपुरालयम् ॥४९॥
ततः कुबेरदत्तस्य[2] भवने कृतभूषणम् । शौरिमेत्य प्रतीहारी राजादेशात्ततोऽवदत् ॥५०॥
ज्ञातमेव हि ते नूनं वृत्तं देव ! यथा नृपः । सोमदत्तः प्रिया चास्य पूर्णचन्द्रेति कीर्त्तिता ॥५१॥
नाम्ना भूरिश्रवाः पुत्रः सोमश्रीस्तनयानयोः । अस्याः स्वयंवरार्थं च समाहूता नरेश्वराः ॥५२॥
सोमश्रीर्निशि हर्म्यस्था देवागमनदर्शनात् । जातिस्मरणसंयुक्ता सुमूर्च्छं प्रेमवाहिनी ॥५३॥

कन्याके स्वयंवरमें आनेवाले राजाओंके ठहरनेके लिए ये नाना प्रकारके महल बनवाये थे ॥३९॥ परन्तु कन्या, किसी कारण स्वयंवरकी विधिसे विरक्त हो गयी इसलिए स्वयंवर नहीं हो पाया और सब लोग विदा कर दिये गये ॥४०॥ यह सुनकर कुमार वसुदेव, उस कन्याके मनकी गतिका विचार करते हुए इन्द्रध्वज विधान देखनेके लिए ज्यों ही बैठे त्यों ही रक्षकोंके साथ राजाकी स्त्रियाँ सहसा वहाँ आ पहुँचीं । कुछ समय बाद वे स्त्रियाँ इन्द्रध्वज विधानको नमस्कार कर अपने घरकी ओर चलीं ॥४१-४२॥ उसी समय बन्धनका खम्भा तोड़कर एक मदोन्मत्त हाथी साक्षात् मृत्यु (यम) की तरह मनुष्योंको मारता हुआ वहाँ आ पहुँचा ॥४३॥ उस समय जो लोग मारे जा रहे थे तथा जो मार्गमें यह सब देखते हुए चिल्ला रहे थे उनका बहुत भारी कलकल शब्द दशों दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥४४॥ वह मदोन्मत्त हाथी बड़े वेगसे उन स्त्रियोंके वाहनोंके समीप आया जिससे भयभीत हो एक कन्या वाहनसे नीचे पृथिवीपर गिर पड़ी ॥४५॥ यह देख कुमार वसुदेवने उस हाथीको मदरहित कर भयसे घबड़ायी हुई उस कन्याकी रक्षा की और सब लोगोंके देखते-देखते वे उस हाथीके साथ क्रीड़ा करने लगे ॥४६॥ तदनन्तर जब हाथी थक गया तो उसे छोड़ उन्होंने भयसे मूर्च्छित कन्याको सान्त्वना दी । कन्याने उठकर सुन्दर रूपके धारक वसुदेवको देखा । देखते ही वह गरम और लम्बी साँस भरने लगी, उसके नेत्र आँसुओंसे व्याप्त हो गये तथा लज्जासे नम्रीभूत होकर उसने स्पर्शजन्य सुखको देनेवाला कुमारका हाथ पकड़ लिया ॥४७-४८॥

तदनन्तर वसुदेव यथास्थान चले गये और वृद्धा धाय, तथा कुलकी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ उस कन्याको लेकर अन्तःपुर चली गयीं ॥४९॥ तत्पश्चात् एक दिन कुमार वसुदेव कुबेरदत्त सेठके घर आभूषण आदि धारण कर बैठे थे कि इतनेमें राजाकी आज्ञासे उनकी द्वारपालिनी आकर कहने लगी कि हे देव ! यह समाचार आपको अच्छी तरह विदित ही है कि यहाँका राजा सोमदत्त है और उसकी रानी पूर्णचन्द्र नामसे प्रसिद्ध है ॥५०-५१॥ इन दोनोंके भूरिश्रवा नामका पुत्र और सोमश्री नामकी कन्या है । कन्या सोमश्रीके स्वयंवरके लिए राजाने अनेक राजाओंको बुलाया था ॥५२॥ परन्तु सोमश्री रात्रिके समय महलके ऊपर बैठी थी वहाँ देवोंका आगमन देख वह

---

१. विमोचना म. । २. भुवने म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लब्धसंज्ञा समुत्थाय ध्यायन्ती स्वर्गिणं पतिम् । स्नानाशननिवृत्तेच्छा मौनव्रतमशिश्रियत् ॥५४॥
एकान्ते पृष्टया कृच्छ्रात् कथितं च ममानया । पूर्वजन्मनि देवेन सह क्रीडितमात्मनः ॥५५॥
पूर्वप्रच्युतदेवस्य हरिवंशे समुद्भवः । विज्ञातश्चानया देव्या सत्यात् केवलिभाषितात् ॥५६॥
समागमश्च विज्ञातः पत्या हस्तिभयच्छिदा । संवादे चाधुना जाते सा ते वाञ्छति संगमम् ॥५७॥
राज्ञा मद्वचनाज्ज्ञात्वा प्रेषिताहं तवान्तिकम् । सौम्य ! सोमश्रिया सार्कं भज वीवाहमङ्गलम् ॥५८॥
इत्यावेदितसंबन्धः स तुष्टोऽन्धकवृष्टिजः । सोमश्रियमुवाहेष्टां सोमदत्ततनूद्भवाम् ॥५९॥
स्वास्यारविन्दसौगन्ध्यमकरन्दोपयोगिनोः । काले याति सुखे तावत् सोमश्रीवसुदेवयोः ॥६०॥
अथ कोऽप्येकदा भर्तुर्भुजपञ्जरशायिनीम् । सोमश्रियं श्रियं वारिरहरन्निशि खेचरः ॥६१॥
विबुद्धस्तु पतिः पत्नीमपश्यन् परमाकुलः । सोमश्रीः क्व गतासि त्वमेह्येहीति जुहाव ताम् ॥६२॥
वचोऽनन्तरमेषाहमिति दत्त्वा वचः श्रिताम् । खेटस्वसारमद्राक्षीत्सोमश्रीरूपवर्त्तिनीम् ॥६३॥
निष्क्रान्तासि बहिः कान्ते किमर्थमिति नोदिता । घर्मशान्त्यर्थमित्याह सोमश्रीरिव सा स्वयम् ॥६४॥
कृतरूपपरावर्तिः शौरिरूपवशीकृता । कन्याभावमुदस्यैनमरीरमदरिस्वसा ॥६५॥
नित्यशो भुक्तभोगा च सुप्ते पत्यौ स्वपित्यसौ । प्राक् प्रबुद्धा करोत्यूरूपादसंवाहनादिकम् ॥६६॥

जाति स्मरणसे युक्त हो गयी और अपने पूर्व पतिके प्रेमको प्रकट करती हुई मूर्च्छित हो गयी ॥५३॥ जब वह सचेत हुई तो उठकर अपने देव पतिका ध्यान करने लगी और स्नान, भोजन आदिकी इच्छा छोड़ मौन लेकर बैठ गयी ॥५४॥ एकान्तमें मैंने उससे पूछा तो उसने बड़ी कठिनाई-से मुझे बताया कि पूर्वजन्ममें मैंने देवके साथ क्रीड़ा की थी, उसने यह भी बताया कि जब मैं देवी थी और वह देव मुझसे पहले ही वहाँसे च्युत हो गया तब केवली भगवान्के सत्य कथनसे मुझे मालूम हुआ था कि वह देव हरिवंशमें उत्पन्न हुआ है तथा हाथीके भयको नष्ट करनेवाले उस पतिके साथ मेरा पुनः समागम होगा । इस समय केवली भगवान्का कथन ज्योंका-त्यों मिल गया है अर्थात् जैसा उन्होंने बताया था वैसा ही हुआ है इसलिए वह आपके समागमकी इच्छा करती है ॥५५-५७॥ मेरे कथनसे सब समाचार जानकर राजाने मुझे आपके पास भेजा है इसलिए हे सौम्य ! मेरी यही प्रार्थना है कि आप सोमश्रीके साथ विवाह मंगलको प्राप्त हों ॥५८॥

इस प्रकार पूर्व भवका सम्बन्ध बतलानेपर वसुदेव बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्होंने राजा सोमदत्तकी पुत्री सोमश्रीके साथ जो कि उनकी पूर्वभवकी प्रिय स्त्री थी विवाह कर लिया ॥५९॥ तदनन्तर जब अपने मुख कमलकी सुगन्धि और मकरन्दका उपयोग करनेवाले सोमश्री और वसुदेवका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था तब एक दिन रात्रिके समय पतिके भुजपंजरमें शयन करनेवाली लक्ष्मीके समान सुन्दर सोमश्रीको कोई विद्याधर वैरी हर ले गया ॥६०-६१॥ जब वसुदेव जागे तब पत्नीको न देख बहुत व्याकुल हुए और 'हे सोमश्री ! तू कहाँ गयी ? जल्दी आओ, आओ' इस प्रकार उसे पुकारने लगे ॥६२॥ जिस विद्याधरने सोमश्रीका हरण किया था उसकी बहनने वसुदेवके पास आकर सोमश्रीका रूप धारण कर लिया और उनके पुकारते ही कहा कि 'मैं यह तो हूँ' इस प्रकार उत्तर देकर पासमें खड़ी हुई तथा सोमश्रीका रूप धारण करनेवाली विद्याधरकी बहनको वसुदेवने देखा ॥६३॥ उसे देखकर कुमारने पूछा कि हे प्रिये ! बाहर किस लिए गयी थीं ? इसके उत्तरमें उसने स्वयं सोमश्रीके समान कहा कि गरमी शान्त करनेके लिए गयी थी ॥६४॥ इस प्रकार वसुदेवके रूपसे वशीभूत हुई शत्रुकी बहन रूप बदलकर तथा अपना कन्याभाव छोड़कर उनके साथ क्रीड़ा करने लगी ॥६५॥ वह प्रतिदिन भोग भोगनेके बाद पति जब सो जाते थे तब सोती थी और उनके पहले ही जागकर जघा तथा पैर आदिका मर्दन करने लगती थी ॥६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यदा तु विबुद्धोऽसौ प्रथमं कथमप्यथ । सोमश्रीरूपमुक्तां तां ददर्श शयितां निशि ॥६७॥
धीरो विस्मययुक्तस्तां सहसा स्वयमुत्थिताम् । अप्राक्षीद् ब्रूह्यहो का त्वं सोमश्रीरिव वर्तसे ॥६८॥
सा प्रणम्यामणीत्सौम्य ! दक्षिणश्रेण्यवस्थितम् । स्वर्णाभं पुरमस्येशश्चित्तवेगो नभश्चरः ॥६९॥
पत्न्यङ्गारवती तस्य प्रत्यङ्गं संगतप्रभा । सूनुर्मानसवेगोऽस्याः सुता वेगवती त्वहम् ॥७०॥
राज्यं मानसवेगे च पिता न्यस्य तपस्यया । पापस्योपशमं कर्तुं तपोवनमुपाविशत् ॥७१॥
नीता मानसवेगेन सोमश्रीः स्वपुरं परम् । आर्य ! तिष्ठति तत्रासौ शीलवेलावलम्बिनी ॥७२॥
तस्याः प्रसादने तेन प्रयुक्ताहमशक्तितः । त्वत्प्रियायाः सखी जाता सत्त्वशीलवशीकृता ॥७३॥
वार्तानिवेदनायाहं प्रेषिताशु तया तदा । त्वत्कलत्रत्वमायाता विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥७४॥
इत्यावेद्य तदादेशाद्वेगवत्या निवेदितम् । सक्रमं पितृबन्धुभ्यः सोमश्रीहरणादिकम् ॥७५॥
श्रुत्वा च तत्तथा तेऽपि विषण्णमतयः स्थिताः । वेगवत्यपि पत्यामा प्रकृत्या चिरमारमत् ॥७६॥
तया सह सुखं तस्य रममाणस्य भोगिनः । संप्राप्तो माधवो मासो मधुमत्तमधुव्रतः ॥७७॥
कदाचित्सह सुप्तोऽसौ तया सुरतखिन्नया । हृतो मानसवेगेन खेचरेण निशि द्रुतम् ॥७८॥
ताडितश्च विबुद्धेन खेचरो दृढमुष्टिना । तेन गङ्गाजले तं च मुमोच मयविह्वलः ॥७९॥
विद्यां साधयतस्तत्र स्कन्धे विद्याधरस्य सः । पपात नभसस्तस्य विद्यासिद्धिस्तथोदिता ॥८०॥
सिद्धविद्यः प्रणम्यासौ प्रयातो यदुनन्दनम् । कन्या विद्याधरी चैनं निनाय खचराचलम् ॥८१॥

अथानन्तर किसी दिन वसुदेव उससे पहले जाग गये और रात्रिके समय सोमश्रीका रूप छोड़कर सोती हुई उस स्त्रीको उन्होंने असली रूपमें देख लिया ॥६७॥ यह देख धीर-वीर वसुदेव आश्चर्यमें पड़ गये। उसी समय वह स्त्री भी सहसा जाग उठी। वसुदेवने उससे पूछा कि अहो ! तू सोमश्रीके समान कौन है ? ॥६८॥ इसके उत्तरमें उसने प्रणाम कर कहा कि हे सौम्य ! दक्षिण श्रेणीमें एक स्वर्णाभ नामका नगर है। इसका स्वामी मनोवेग नामका विद्याधर है ॥६९॥ मनोवेगकी अंगारवती नामकी अत्यन्त सुन्दर पत्नी है। उसके मानसवेग नामका पुत्र और वेगवती नामकी मैं पुत्री हूँ ॥७०॥ हमारे पिता मानसवेगको राज्य देकर तपस्यासे पापका उपशम करनेके लिए तपोवनमें चले गये ॥७१॥ हे आर्य ! हमारा भाई मानसवेग, सोमश्रीको हरकर अपने श्रेष्ठ नगरको ले गया जहाँ वह शीलकी मर्यादाका अवलम्बन लेकर विद्यमान है ॥७२॥ मानसवेगने उसे प्रसन्न करनेके लिए मुझे नियुक्त किया था पर मैं इस कार्यमें समर्थ नहीं हो सकी अतः आपकी प्रियाके सत्त्व और शील गुणसे वशीभूत हो उसकी सखी बन गयी ॥७३॥ उस समय शीघ्रतासे अपना समाचार देनेके लिए उसने मुझे आपके पास भेजा था पर मैं आपकी स्त्री बन गयी सो ठीक ही है क्योंकि चित्तवृत्तियाँ नाना प्रकारकी होती हैं ॥७४॥ इस प्रकार वेगवतीने कुमारको सब समाचार बताकर उनकी आज्ञानुसार सोमश्रीके पिता तथा भाई आदिको भी उसके हरण आदिके सब समाचार क्रमसे सुनाये ॥७५॥ जिन्हें सुनकर वे सब खेदखिन्न हुए। इधर वेगवती भी अपने असली रूपमें रहकर चिरकाल तक पतिके साथ क्रीड़ा करती रही ॥७६॥

अथानन्तर जब भोगी वसुदेव वेगवतीके साथ सुखसे क्रीड़ा करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे तब वसन्तका महीना आ पहुँचा और भ्रमर मधु पी-पीकर उन्मत्त होने लगे ॥७७॥ कदाचित् वसुदेव सम्भोगसे खिन्न हुई वेगवतीके साथ सो रहे थे कि रात्रिके समय मानसवेग विद्याधर उन्हें शीघ्र ही हर ले गया। जागनेपर उन्होंने मुट्ठियोंके दृढ़ प्रहारसे उसे इतना पीटा कि उसने भयसे विह्वल हो उन्हें गंगाके जलमें छोड़ दिया ॥७८-७९॥ उस समय गंगाके जलमें बैठकर एक विद्याधर विद्या सिद्ध कर रहा था सो वसुदेव आकाशसे उसके कन्धेपर गिरे और उनके गिरते ही उस विद्याधरको विद्या सिद्ध हो गयी ॥८०॥ विद्या सिद्ध होनेपर वह विद्याधर तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनन्तरमाकीर्णं खेचरैर्नभसस्तलम् । पुष्पाणि पञ्चवर्णानि मुञ्चद्भिः प्रणतैः पुरः ॥८२॥
प्रवेशितः पुरं सोऽथ रथेन रविरोचिषा । तूर्यशङ्खनिनादेन पूरिताखिलदिङ्मुखम् ॥८३॥
कन्यां मदनवेगां च मदनोपमविभ्रमः । उपयेमे मुदा दत्तां खगैर्दधिमुखादिभिः ॥८४॥
बिभ्राणो वसुदेवोऽत्र भावं मदनवेगजम्[1] । चिक्रीड निविडस्तन्या चिरं मदनवेगया ॥८५॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अनुभवन्तममुं जिनधर्मजं शमसुषङ्गजेमङ्गजगोचरम्[2] ।
रतिषु लब्धवरा वरमङ्गना जनकबन्धविमोक्षमयाचत ॥८६॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मदनवेगालाभवर्णनो नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥२४॥

□

वसुदेवको प्रणाम कर चला गया और एक विद्याधर कन्या उन्हें विजयार्ध पर्वतपर ले गयी ॥८१॥ उनके वहाँ पहुँचते ही आकाश विद्याधरोंसे व्याप्त हो गया। वे विद्याधर उस समय पाँच रंगके फूलोंकी वर्षा कर रहे थे तथा सामने आ-आकर प्रणाम करते थे ॥८२॥ तदनन्तर उन विद्याधरोंने सूर्यके समान देदीप्यमान रथपर बैठाकर वसुदेवका नगरमें प्रवेश कराया। उस समय तुरही और शंखोंके शब्दसे दशों दिशाएँ भर गयी थीं ॥८३॥ वहाँ कामदेवके समान सुन्दर शरीरके धारक वसुदेवने, दधिमुख आदि विद्याधरोंके द्वारा प्रदत्त मदनवेगा नामक कन्याके साथ हर्षपूर्वक विवाह किया ॥८४॥ और वहीं रहकर कामके वेगसे उत्पन्न भावको धारण करते हुए वसुदेवने पीनस्तनी मदनवेगाके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा की ॥८५॥

कदाचित् कुमार वसुदेव, जिनधर्मके प्रसादसे मदनवेगाके साथ कामजनित सुखका उपभोग कर रहे थे कि रतिकालमें मदनवेगाने उन्हें अत्यन्त आनन्द दिया इसलिए प्रसन्न होकर उन्होंने मदनवेगासे कहा कि 'प्रिये ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ जो वर माँगना हो माँगो।' इस प्रकार वह वर पाकर मदनवेगाने उनसे यही वर माँगा कि हमारे पिता बन्धनमें पड़े हैं सो उन्हें छुड़ा दीजिए ॥८६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मदनवेगाके लाभका वर्णन करनेवाला चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२४॥

□

१. कामवेगोत्थम् । २. समसुखं गज म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चविंशः सर्गः

भ्राता मदनवेगायाः श्रित्वा दधिमुखोऽन्यदा । पितृबन्धविमोक्षार्थी संबन्धं शौरयेऽवदत् ॥१॥
शृणु देव ! नमेर्वंशे संख्यातीतेषु राजसु । अरिञ्जयपुराधीशो मेघनादोऽभवन्नृपः ॥२॥
पद्मश्रीस्तस्य कन्याभूत् सा च नैमित्तिकैः पुरा । स्त्रीरत्नं भवितेत्येवमादिष्टा चक्रवर्त्तिनः ॥३॥
नभस्तिलकनाथश्च प्रियपूर्वमनेकशः । वज्रपाणिरिति ख्यातस्तामयाचत रूपिणीम् ॥४॥
अलाभे च ततस्तस्या स रुष्टो दुष्टखेचरः । युद्धे जेतुमशक्तोऽगादकृतार्थो निजं पुरम् ॥५॥
मेघनादोऽपि तत्काले जातकेवललोचनम् । मुनिमभ्यर्च्य पप्रच्छ नृसुरासुरसंसदि ॥६॥
प्रभो ! मे दुहितुर्भर्त्ता भविता भरतेऽत्र कः । इति पृष्टोऽवदत्सोऽपि वरमन्वयपूर्वकम् ॥७॥
कौरवान्वयसंभूतो भूतो गजपुरे नृपः । कार्तवीर्य इति ख्यातिं बिभ्रद्वीर्यसमुद्धतः ॥८॥
सोऽवधीत् कामधेन्वर्थं जमदग्निं[२] तपस्विनम् । क्रोधात्परशुरामस्तं जघान पितृघातिनम् ॥९॥
क्षत्रियेषु तथाऽन्येषु सकलत्रेषु शत्रुणा । क्रुद्धेन दत्तयुद्धेषु मार्यमाणेषु भूरिषु ॥१०॥
अन्तर्वत्नी तदा पत्नी कार्तवीर्यस्य कातरा । तारा रहसि निःसृत्य प्राविशत्कौशिकाश्रमम् ॥११॥
वसन्ती तत्र सा भीरुः प्रसूता तनयं शुभम् । क्षत्रियत्रासनिर्भेदमष्टमं चक्रवर्त्तिनम् ॥१२॥

अथानन्तर किसी दिन मदनवेगाका भाई दधिमुख अपने पिताको बन्धनसे छुड़ानेकी इच्छा करता हुआ कुमार वसुदेवके पास आकर निम्नांकित सन्दर्भ कहने लगा ॥१॥ उसने कहा कि हे देव ! सुनिए. नमिके वंशमें असंख्यात राजाओंके हो जानेसे अरिंजयपुरका स्वामी राजा मेघनाद हुआ ॥२॥ उसके एक पद्मश्री नामकी कन्या थी। उस कन्याके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने बताया था कि यह चक्रवर्तीकी स्त्री-रत्न होगी ॥३॥ उसीके समयमें नभस्तिलक नगरका राजा वज्रपाणि भी हुआ। उसने रूपवती पद्मश्री कन्याकी पहले अनेक बार याचना की परन्तु जब वह उसे नहीं प्राप्त कर सका तो उस दुष्ट विद्याधरने रुष्ट होकर युद्ध ठान दिया। मेघनाद प्रबल शक्तिका धारक था इसलिए वज्रपाणि उसे युद्धमें जीत नहीं सका फलस्वरूप वह कार्यमें असफल हो अपने नगरको वापस लौट गया ॥४–५॥ उसी समय किन्हीं मुनिराजको केवलज्ञानरूपी लोचनकी प्राप्ति हुई सो उनकी पूजाके अर्थ अनेक मनुष्य, देव और धरणेन्द्रोंकी सभा जुटी। उस सभामें केवली भगवान्‌की पूजा कर मेघनादने उनसे पूछा कि हे प्रभो ! इस भरत क्षेत्रमें मेरी पुत्रीका भर्ता कौन होगा ? इस प्रकार पूछनेपर केवलज्ञानी मुनिराजने उसके योग्य वर और उसके कुलका निरूपण किया ॥६–७॥

उन्होंने कहा कि हस्तिनापुर नगरमें कौरववंशमें उत्पन्न हुआ कार्तवीर्य नामका एक राजा था जो पराक्रमसे बहुत ही उद्दण्ड था ॥८॥ उसने कामधेनुके लोभसे जमदग्नि नामक तपस्वीको मार डाला था। जमदग्निका लड़का परशुराम था वह भी बड़ा बलवान् था अतः उसने क्रोधवश पिताका घात करनेवाले कार्तवीर्यको मार डाला ॥९॥ इतनेसे ही उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ अतः उसने क्रुद्ध होकर युद्धमें स्त्री-पुत्रों सहित और भी अनेक क्षत्रियोंको मार डाला। इस तरह जब वह अनेक क्षत्रियोंको मार रहा था तब राजा कार्तवीर्यकी गर्भवती तारा नामकी पत्नी भयभीत हो गुप्त रूपसे निकलकर कौशिक ऋषिके आश्रममें जा पहुँची ॥१०–११॥ वहाँ भय सहित निवास करती हुई तारा रानीने एक पुत्र उत्पन्न किया जो क्षत्रियोंके त्रासको नष्ट करनेवाला

१. पितृबन्धु म. । २. यमदग्नि क., ख., ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्माद्भूमिगृहे जातः सुभौमस्तेन भाषितः । कौशिकस्याश्रमे रम्ये प्रच्छन्नो वर्धतेऽधुना ॥१३॥
स हन्ता जामदग्न्यस्य षड्खण्डपतिरूर्जितः । दुहितुर्भविता भर्त्ता भवतोऽल्पैर्दिनैरिह ॥१४॥
सप्तकृत्वः कृतान्ताभः स कृत्वा क्षत्रमारणम् । रामोऽपि निभृतं चेतो धत्ते द्विजहितेऽधुना ॥१५॥
एवमेकातपत्रायां पृथिव्यां जमदग्निजः । प्रतापाग्निपरीताशः पूरिताशो विजृम्भते ॥१६॥
सुभौमे वर्धमाने तु तापसाश्रमवासिनि । उत्पाताः शतशो जाता जामदग्न्यगृहेऽधुना ॥१७॥
आशङ्कितः स नैमित्तं पृच्छति स्म सविस्मयः । उत्पाताः कथयन्तीमे किमनिष्टमिति श्रुतम् ॥१८॥
स आह वर्धते वैरी भवतोऽन्तर्हितः क्वचित् । विज्ञेयः कथमित्युक्ते प्राह नैमित्तिकस्ततः ॥१९॥
हतक्षत्रियसङ्घानां दंष्ट्रा यस्य जिघत्सतः । पायसत्वेन वर्त्तन्ते स एवारिस्तवोद्धतः ॥२०॥
इति श्रुत्वा रु[1]जिज्ञासुः शत्रुं क्षत्रियपुङ्गवम् । विशालां [2]सत्रशालां तामाश्वेव समचीकरत् ॥२१॥
[3]सत्रमध्ये व्यवस्थाप्य दंष्ट्रामरितभाजनम् । [4]निरूपिततदध्यक्षो यत्नवानवतिष्ठते ॥२२॥
आकर्ण्य मेघनादस्तं कृत्वा केवलिवन्दनाम् । गत्वा गजपुरं शीघ्रं पश्यति स्म कुमारकम् ॥२३॥
शस्त्रशास्त्रार्णवस्यान्ते वर्त्तमानमधिश्रियम् । ज्वलत्प्रतापमभितो भानुमन्तमिवोदितम् ॥२४॥
शनैः स प्रेरितस्तेन वृत्तान्तविनिवेदिना । अहितेन्धनदाहाय वायुनेव [5]तनूनपात् ॥२५॥
आजगाम च तेनैव सह शत्रुगृहं गृहात् । बुभुक्षुरुपविष्टश्च दर्भासनपरिग्रहः ॥२६॥

आठवाँ चक्रवर्ती होगा ॥१२॥ क्योंकि वह पुत्र भूमिगृह—तलघरमें उत्पन्न हुआ था इसलिए 'सुभौम' इस नामसे पुकारा जाने लगा। इस समय वह बालक कौशिक ऋषिके रमणीय आश्रममें गुप्त रूपसे बढ़ रहा है ॥१३॥ वही कुछ ही दिनोंमें परशुरामको मारनेवाला बलशाली चक्रवर्ती होगा और वही तुम्हारी कन्याका पति होगा ॥१४॥ परशुराम यमराजके समान क्रूर है वह सात बार क्षत्रियोंका अन्त कर इस समय ब्राह्मणोंके हितमें अपना मन लगा रहा है ॥१५॥ इस तरह जिसने प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर दिया है तथा मनोवांछित दान देकर जिसने याचकोंकी आशाएँ पूर्ण कर दी हैं ऐसा परशुराम इस समय एकछत्र पृथिवीपर निरन्तर वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥१६॥

इधर तपस्वीके आश्रममें निवास करनेवाला सुभौम जैसे-जैसे बढ़ने लगा उधर परशुरामके घर वैसे-वैसे ही सैकड़ों उत्पात होने लगे ॥१७॥ उत्पातोंसे आशंकित एवं आश्चर्यचकित हो उसने निमित्तज्ञानीसे पूछा कि ये उत्पात मेरे किस अनिष्टको कह रहे हैं ? ॥१८॥ निमित्तज्ञानीने कहा कि आपका शत्रु कहीं छिपकर वृद्धिको प्राप्त हो रहा है। वह कैसे जाना जा सकता है ? इस प्रकार परशुरामके पूछनेपर निमित्तज्ञानीने पुनः कहा कि ॥१९॥ तुम्हारे द्वारा मारे हुए क्षत्रियोंकी डाढ़ें जिसके भोजन करते समय खीर रूपमें परिणत हो जावें वही तुम्हारा उद्दण्ड शत्रु है ॥२०॥ यह सुनकर क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ शत्रुको जाननेकी इच्छा करते हुए परशुरामने शीघ्र ही एक विशाल दानशाला बनवायी ॥२१॥ और दानशालाके मध्यमें डाढ़ोंसे भरा बरतन रखकर उसके अध्यक्षको सब वृत्तान्त समझा दिया जिससे वह यत्नपूर्वक वहाँ सदा अवस्थित रहता है ॥२२॥ यह सब समाचार सुन राजा मेघनाद केवलीकी वन्दना कर शीघ्र ही हस्तिनापुर गया और वहाँ उसने कुमार सुभौमको देखा ॥२३॥ उस समय सुभौम कुमार शस्त्र और शास्त्ररूपी सागरके अन्तिम तटपर विद्यमान था, अधिक शोभासे युक्त था, सब ओर उसका देदीप्यमान प्रताप फैल रहा था, और वह उदित होते हुए सूर्यके समान जान पड़ता था ॥२४॥ जिस प्रकार ईन्धनको नष्ट करनेके लिए वायु अग्निको प्रेरित कर देती है उसी प्रकार पूर्ववृत्तान्त सुनानेवाले राजा मेघनादने उसे शत्रुरूपी ईन्धनको जलानेके लिए धीरेसे प्रेरित कर दिया ॥२५॥ वह उसी समय घरसे

१. जिघांसुः म.। २. भोजनशालाम्। ३. शत्रुमध्ये क.। ४. निरूपितं तदध्यक्षे क.। ५. अग्निः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]दंष्ट्राभाजनमग्रेऽस्य द्विजाग्रासनवर्त्तिनः । विन्यस्तं तत्प्रभावेण दंष्ट्राः पायसतां ययुः ॥२७॥
ततोऽध्यक्षनरैराशु रामाय विनिवेदितम् । स जिघांसुस्तमागच्छत्परशुव्यग्रपाणिकः ॥२८॥
भुञ्जानः पायसं पात्र्यां[2] सुभौमो हन्यमानकः । जघानारिं[3]तयैवाशु चक्रत्वपरिवृत्तया ॥२९॥
तं चतुर्दशरत्नानि निधयो नव भेजिरे । द्वात्रिंशच्च सहस्राणि नृपाश्चक्रिणमष्टमम् ॥३०॥
स्त्रीरत्नलाभतुष्टेन मेघनादोऽपि चक्रिणा । नीतो विद्याधरेशित्वमवधीद्वज्रपाणिकम् ॥३१॥
एकविंशतिवारांश्च चक्रवर्त्यपि रोषणः । चक्रेणाब्राह्मणां क्षोणीं शठं प्रतिशठस्ततः[4] ॥३२॥
षष्टिवर्षसहस्राणि जीवित्वा तृप्तिवर्जितः । सुभौमः [5]सार्वभौमोऽन्ते सप्तमीं पृथिवीं गतः ॥३३॥
[6]संताने मेघनादस्य विद्याबलसमुद्धतः । प्रतिशत्रुरभूत्षष्ठस्त्रिखण्डाधिपतिर्बलिः ॥३४॥
नन्दश्च पुण्डरीकश्च [7]हलचक्रधरौ ततः । अभूतां निहतस्ताभ्यां बलिभ्यां बलिराहवे ॥३५॥
बलेर्वंशे समुत्पन्नः सहस्रग्रीवखेचरः । परः पञ्चशतग्रीवो द्विशतग्रीव इत्यतः ॥३६॥
एवमादिष्वतीतेषु खेचरेषु बहुष्वभूत् । विद्युद्वेगः पितास्माकं श्वसुरस्तव यादव ॥३७॥
सोऽन्यदा मुनिमप्राक्षीदवधिज्ञानचक्षुषम् । पतिर्मदनवेगायाः कोऽस्त्वस्या भगवन्निति ॥३८॥
मुनिराह भवत्सूनोर्विद्यां साधयतो निशि । चण्डवेगस्य यः स्कन्धे गङ्गास्थस्य पतिष्यति ॥३९॥
तं निश्चित्य पिता पुत्रं चण्डवेगं न्ययोजयत् । गङ्गायां चण्डवेगायां विद्याराधनकर्मणि ॥४०॥

निकल राजा मेघनादके साथ शत्रुके घर जा पहुँचा और भूखा बन दर्भका आसन ले परशुरामकी दानशालामें भोजनार्थ जा बैठा ॥२६॥ ब्राह्मणके अग्रासनपर बैठे हुए कुमार सुभौमके आगे डाढ़ोंका पात्र रखा गया और उसके प्रभावसे समस्त डाढ़ें खीर रूपमें परिणत हो गयीं ॥२७॥ तदनन्तर अध्यक्षके आदमियोंने शीघ्र ही जाकर परशुरामके लिए इसकी सूचना दी और परशुराम उसे मारनेकी इच्छासे फरसा हाथमें लिये शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा ॥२८॥ जिस समय सुभौम थालीमें आनन्दसे खीरका भोजन कर रहा था उसी समय परशुरामने उसे मारना चाहा। परन्तु सुभौमके पुण्य प्रभावसे वह थाली चक्रके रूपमें परिवर्तित हो गयी और उसीसे उसने शीघ्र ही परशुरामको मार डाला ॥२९॥ सुभौम अष्टम चक्रवर्तीके रूपमें प्रकट हुआ। चौदह रत्न, नौ निधियाँ और मुकुट-बद्ध बत्तीस हजार राजा उसकी सेवा करने लगे ॥३०॥ स्त्रीरत्नके लाभसे सन्तुष्ट हुए चक्रवर्ती सुभौमने मेघनादको विद्याधरोंका राजा बना दिया जिससे शक्तिसम्पन्न हो उसने वज्रपाणिको मार डाला ॥३१॥ तदनन्तर शठके प्रति शठता दिखानेवाले सुभौम चक्रवर्तीने भी क्रोधयुक्त हो चक्ररत्नसे इक्कीस बार पृथिवीको ब्राह्मण-रहित किया ॥३२॥ चक्रवर्ती सुभौम साठ हजार वर्ष तक जीवित रहा परन्तु तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ इसलिए आयुके अन्तमें मरकर सातवें नरक गया ॥३३॥ राजा मेघनादकी सन्ततिमें आगे चलकर छठा राजा बलि हुआ। बलि विद्याबलसे उद्दण्ड था, और तीन खण्डका स्वामी प्रतिनारायण था ॥३४॥ उसी समय नन्द और पुण्डरीक नामक बलभद्र तथा नारायण विद्यमान थे और अतिशय बलके धारक इन्हीं दोनोंके द्वारा युद्धमें बलि मारा गया ॥३५॥ बलिके वंशमें सहस्रग्रीव, पंचशतग्रीव और द्विशतग्रीवको आदि लेकर जब बहुत-से विद्याधर राजा हो चुके तब हे यादव! विद्युद्वेग नामका राजा उत्पन्न हुआ। वह विद्युद्वेग हमारा पिता है तथा आपका श्वसुर है ॥३६-३७॥ एक दिन राजा विद्युद्वेगने अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा कि हे भगवन्! हमारी इस मदनवेगा पुत्रीका पति कौन होगा? ॥३८॥ मुनिराजने कहा कि रात्रिके समय गंगामें स्थित होकर विद्या सिद्ध करनेवाले तुम्हारे चण्डवेग नामक पुत्रके कन्धेपर जो गिरेगा उसीकी यह स्त्री होगी ॥३९॥ यह निश्चय करके पिताने अपने चण्डवेग नामक

१. दंष्ट्राभोजन म.। २. पात्र्या। ३. तथैवाशु म.। ४. तथा म.। ५. सर्वस्याः भूमेरधिपः सार्वभौमः चक्रवर्ती। ६. सन्तानो म.। ७. हलशक्रधरौ म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नभस्तिलकनाथश्च खेटस्त्रिशिखरः खलः । याचित्वैनां स्वपुत्राय सूर्यकाय न लब्धवान् ॥४१॥
युद्धे रन्ध्रमसौ लब्ध्वा बध्वास्मज्जनकं व्यधात् । वैरानुबन्धबुद्धिस्तं बन्धनागारवर्त्तिनम् ॥४२॥
संप्राप्तश्च त्वमस्माभिः सांप्रतं पुरुविक्रमः । श्वशुरस्यारिबद्धस्य कुरु बन्धविमोक्षणम् ॥४३॥
पूर्वजानां च दत्तानि सुभौमेन प्रसादिना । विद्यास्त्राणि गृहाणेश ! शात्रवस्य जिघांसया ॥४४॥
श्रुत्वा दधिमुखस्योक्तं वसुदेवः प्रतापवान् । श्वशुरस्य विमोक्षार्थं मतिमात्मनि चादधे ॥४५॥
चण्डवेगस्ततस्तस्मै विद्यास्त्राणि बहून्यसौ । विधिपूर्वं ददौ यूने सेवितानि सुरैः सदा ॥४६॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम्ना लोकोत्सादनमप्यतः । आग्नेयं वारुणं चास्त्रं माहेन्द्रं वैष्णवं तथा ॥४७॥
यमदण्डमथैशानं स्तम्भनं मोहनं तथा । वायव्यं जृम्भणं चापि बन्धनं मोक्षणं ततः ॥४८॥
विशल्यकरणं चास्त्रं व्रणसंरोहणं तथा । सर्वास्त्रच्छादनं चैव छेदनं हरणं परम् ॥४९॥
एवमाद्यानि चान्यानि सरहस्यानि यादवः । चण्डवेगवितीर्णानि जग्राहास्त्राणि सादरः ॥५०॥
स्वयमेव [1]बलोद्रेकात् क्रूरस्त्रिशिखरो बली: । युयुत्सुरागमत्क्षिप्रं चण्डवेगपुरान्तिकम् ॥५१॥
गत्वा बध्यः स्वयं प्राप्तः समीपमिति तोषवान् । शौरिः श्वशुरपुत्रादिबलेनामा[2] विनिर्ययौ ॥५२॥
खेचराणां निकायस्य मध्ये स यदुनन्दनः । कल्पवासिनिकायस्य पुरन्दर इवाबभौ ॥५३॥
खे मातङ्गनिकायस्य मध्ये त्रिशिखरो बभौ । रौद्रासुरनिकायस्य यथैव चमरासुरः ॥५४॥
विमानैश्च महामानैर्गजैश्च मदमत्तरैः । तुरङ्गैर्वायुवेगैश्च बलयोः [3]स्थगितं नभः ॥५५॥

पुत्रको तेज वेगसे युक्त गंगा नदीमें विद्या सिद्ध करनेके कार्यमें नियुक्त किया ॥४०॥ नभस्तिलक नगरका राजा त्रिशिखर नामका दुष्ट विद्याधर, अपने सूर्यक नामक पुत्रके लिए इस कन्याकी कई बार याचना कर चुका था पर इसे प्राप्त नहीं कर सका ॥४१॥ इसलिए सदा वैर रखता था। एक दिन युद्धमें अवसर पाकर उसने हमारे पिताको बाँधकर कारागृहमें डाल दिया ॥४२॥ इस समय प्रबल पराक्रमको धारण करनेवाले आप हम सबको प्राप्त हुए हैं इसलिए शत्रुके द्वारा बन्धनको प्राप्त अपने श्वसुरको शीघ्र ही बन्धनसे मुक्त करो ॥४३॥ सुभौम चक्रवर्तीने प्रसन्न होकर हमारे पूर्वजोंके लिए जो विद्यास्त्र दिये थे हे स्वामिन् ! शत्रुका घात करनेकी इच्छासे उन्हें ग्रहण कीजिए ॥४४॥

इस प्रकार दधिमुखके कहे वचन सुनकर प्रतापी वसुदेवने श्वसुरको छुड़ानेके लिए मनमें विचार किया ॥४५॥ तदनन्तर चण्डवेगने युवा वसुदेवके लिए देव जिनकी सदा सेवा करते थे ऐसे बहुत-से विद्यास्त्र विधिपूर्वक प्रदान किये ॥४६॥ उनमें-से कुछ विद्यास्त्रोंके नाम ये हैं—ब्रह्मशिर, लोकोत्सादन, आग्नेय, वारुण, माहेन्द्र, वैष्णव, यमदण्ड, ऐशान, स्तम्भन, मोहन, वायव्य, जृम्भण, बन्धन, मोक्षण, विशल्यकरण, व्रणसंरोहण, सर्वास्त्रच्छादन, छेदन और हरण ॥४७-४९॥ इस प्रकार इन्हें आदि लेकर चलाने और संकोचनेकी विधि सहित अन्य अनेक विद्यास्त्र चण्डवेगने कुमार वसुदेवके लिए दिये और उन्होंने आदरके साथ उन्हें ग्रहण किया ॥५०॥ उस समय बलकी अधिकतासे युद्धकी इच्छा रखता हुआ दुष्ट त्रिशिखर, स्वयं ही सेनाओंके साथ शीघ्र चण्डवेगके नगरके समीप आ पहुँचा ॥५१॥ 'जिसे जाकर बाँधना था वह स्वयं ही पास आ गया' यह विचारकर सन्तुष्ट होते हुए वसुदेव, अपने सालों आदिकी सेनाके साथ बाहर निकले ॥५२॥ विद्याधरोंके झुण्डके बीच वह वसुदेव कल्पवासी देवोंके समूहके बीच इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५३॥ और आकाशमें खड़े मातंग जातिके विद्याधरोंके बीच त्रिशिखर क्रूर असुरोंके बीचमें स्थित चमरेन्द्रके समान सुशोभित हो रहा था ॥५४॥ दोनों ही सेनाओंके बड़े-बड़े विमानों, मदोन्मत्त हाथियों और वायुके समान वेगशाली घोड़ोंसे आकाश आच्छादित हो गया ॥५५॥ शस्त्र-समूहकी किरणोंसे जिन्होंने सूर्यकी किरणोंको आच्छादित कर दिया था तथा जो तुरही आदि वादित्रोंके शब्दसे

१. शक्त्यतिरेकात् । २. सह । ३. आच्छन्नम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शस्त्रजालकरच्छन्नचण्डांशुकरयोरभूत् । तूर्यादिरवतोषिण्योः संघातो व्योम्नि सेनयोः ॥५६॥
आकर्णाकृष्टकोदण्डमण्डलोन्मुक्तसायकैः । अभिद्यत नृणां बाह्या नान्तःस्था हृदयस्थली ॥५७॥
अछिद्यन्त शिरांस्युग्रचक्रधाराभिराहवे । शशिशङ्खविशुद्धानि न यशांसि मनस्विनाम् ॥५८॥
पपात सुभटः खड्गधारापातेन मूर्च्छितः । अनेकरणनिर्व्यूढप्रतापस्तु न संयुगे ॥५९॥
घोरमुद्गरघातेन चक्षुर्बभ्राम मानिनः । विपक्षस्य जयोद्ग्रासघस्मरं तु न मानसम् ॥६०॥
गजाश्वरथपादातं यथास्वं सुमनोरथम् । युयुधे युधि धैर्येण शौर्येण च विशेषितम् ॥६१॥
शस्त्रार्थैः प्राकृतैर्योधाः कृतयुद्धमहोत्सवाः । युद्धश्रमविनिर्मुक्ताश्चिरं युयुधिरेऽधिकम् ॥६२॥
सौर्पकाङ्गारवैगारिनीलकण्ठपुरोगमाः । पुरस्कृत्य जिताश्चण्डाश्चण्डवेगेन वेगिना ॥६३॥
जवनाश्वरथारूढं नानाशस्त्रास्त्रभीषणम् । अग्रेदधिमुखं शौरिं प्राप्तस्त्रिशिखरोऽभितः ॥६४॥
प्राकृतास्त्रैस्तयोरासीत्प्रथमं प्रधनं महत् । परस्परशरासारव्याप्ताशान्तान्तरिक्षयोः ॥६५॥
क्षिप्रं चिक्षेप चाग्नेयमस्त्रं शौरिर्धनुर्धरः । रौद्रज्वालाकुलेनाशु तेनादाहि रिपोर्बलम् ॥६६॥
अस्त्रेण वारुणेनारिर्विध्याप्याग्नेयमाहवे । मोहनेन महास्त्रेण शौरिसैन्यं व्यमोहयत् ॥६७॥
चित्तप्रसादनेनाशु मोहनास्त्रमपास्य सः । शौरिर्व्यनाशयद् व्योम्नि वायव्येन च वारुणम् ॥६८॥
क्षिप्रं क्षिप्रं निरस्यासावस्त्रमस्त्रेण वैरिणः । माहेन्द्रास्त्रेण चिच्छेद शिरस्तस्य यदूत्तमः ॥६९॥
तस्मिन्नस्तमिते दीप्ते क्षिप्रं शेषा नभश्चराः । नेशुराशाः परित्यज्य रवाविव करोत्कराः ॥७०॥

अपना सन्तोष प्रकट कर रही थीं ऐसी दोनों सेनाओंकी आकाशमें मुठभेड़ हुई ॥५६॥ कानों तक खींचे हुए धनुष-मण्डलोंसे छूटे बाणोंसे मनुष्योंके बाह्य हृदय तो खण्डित हुए थे परन्तु अन्तर्मन हृदय नहीं ॥५७॥ युद्धमें चक्रोंकी तीक्ष्ण धाराओंसे तेजस्वी मनुष्योंके शिर तो कटे थे परन्तु चन्द्रमा और शंखके समान उज्ज्वल यश नहीं ॥५८॥ युद्धमें तलवारकी धारके पड़नेसे मूर्च्छित हुआ योद्धा तो गिरा था, परन्तु अनेक युद्धोंमें वृद्धिको प्राप्त हुआ प्रताप नहीं ॥५९॥ मुद्गरकी भयंकर चोटसे अभिमानीका नेत्र तो घूमने लगा था परन्तु शत्रुकी विजयरूपी उत्कृष्ट ग्रासको खानेवाला मन नहीं ॥६०॥ युद्धस्थलमें धीरता और शूरतासे विशेषताको प्राप्त हुई हाथी, घोड़ा, रथ और पयादोंकी—चतुरंगिणी सेना, अपनी-अपनी इच्छानुसार यथायोग्य रीतिसे युद्ध कर रही थी ॥६१॥ जो योद्धा पहले साधारण शस्त्रोंसे युद्धका महोत्सव मनाया करते थे वे भी उस समय युद्धजन्य परिश्रमसे रहित हो चिरकाल तक अधिक युद्ध करते रहे ॥६२॥ सौर्पक, अंगार, वैगारि तथा नीलकण्ठ आदि शत्रुपक्षके जो प्रमुख शूरवीर थे वेगशाली चण्डवेगने सामना कर उन सबको जीत लिया ॥६३॥ तदनन्तर जो वेगशाली घोड़ोंके रथपर आरूढ़ थे, नाना शस्त्र और अस्त्रोंसे भयंकर थे, तथा जिनके आगे रथ हाँकनेके लिए दधिमुख विद्यमान था ऐसे वसुदेवके सामने त्रिशिखर आया ॥६४॥ परस्परकी बाण वर्षासे जिन्होंने दिशाओंके अन्त तथा आकाशको व्याप्त कर रखा था ऐसे उन दोनोंका पहले तो साधारण शस्त्रोंसे महायुद्ध हुआ किन्तु पीछे धनुर्धारी वसुदेवने शीघ्र ही आग्नेय अस्त्र छोड़ा जिसकी भयंकर ज्वालाओंसे शत्रुकी सेना तत्काल जलने लगी ॥६५-६६॥ उधर शत्रुने वारुणास्त्रके द्वारा आग्नेयास्त्रको बुझाकर मोहन नामक महा अस्त्रसे वसुदेवकी सेनाको विमोहित कर दिया ॥६७॥ इधर वसुदेवने चित्तप्रसादन नामक अस्त्रसे मोहनास्त्रको दूर हटा दिया और आकाशमें वायव्य अस्त्र चलाकर वारुणास्त्रको नष्ट कर दिया ॥६८॥ इस प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वी शस्त्रसे शत्रुके शस्त्रको शीघ्रातिशीघ्र नष्ट कर वसुदेवने माहेन्द्रास्त्रके द्वारा शत्रुको काट डाला ॥६९॥ जिस प्रकार सूर्यके अस्त होनेपर किरणोंके समूह दिशाएँ छोड़कर

---

१. युद्धभ्रम -म. । २. शौर्यकांगारि -म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः शौरिः समस्तैस्तैरात्मीयैः खेचरैर्वृतः । श्वसुरं बन्धनागाराद्विमोच्य स्वपुरं ययौ ॥७१॥

दोधकवृत्तम्

दुर्जयमप्यरिलोकमनेकैः शौर्यसखो निखिलं खचरौघैः ।
आशु विजित्य जनो जिनधर्मादाश्रयतामिह याति बहूनाम् ॥७२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मदनवेगालाभत्रिशिखरवधवर्णनो नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥२५॥

□

नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार देदीप्यमान त्रिशिखिरके अस्तमित होते ही शेष विद्याधर दिशाएँ (अथवा अभिलाषाएँ) छोड़कर नष्ट हो गये—भाग गये ॥७०॥ तदनन्तर अपने पक्षके समस्त विद्याधरोंसे घिरे हुए वसुदेव, कारागृहसे श्वसुरको छुड़ाकर अपने नगर वापस गये ॥७१॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जिनधर्मके प्रसादसे एक प्रतापी मनुष्य, अनेक विद्याधरोंके समूहसे दुर्जेय समस्त शत्रुओंको शीघ्र ही जीतकर बहुत-से मनुष्योंकी आश्रयताको प्राप्त हो जाता है—उनके द्वारा सेवनीय हो जाता है अतः सदा जिनधर्मकी उपासना करनी चाहिए ॥७२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मदनवेगाके लाभ और त्रिशिखिरके वधका वर्णन करनेवाला पचीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२५॥

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षड्विंशः सर्गः

[1]शौरेर्मदनवेगायां मदनप्रतिमोऽभवत् । अनावृष्टिरिति ख्यातस्तनयो नयविद्बली ॥१॥
सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूटजिनालयम् । एकदा वन्दितुं सोऽपि शौरिः मदनवेगया ॥२॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः[2] प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् । तस्थुः स्तम्भानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥३॥
विद्युद्वेगोऽपि गौरीणां विद्यानां स्तम्भमाश्रितः । कृतपूजास्थितिः श्रीमान् स्वनिकायपरिष्कृतः ॥४॥
पृष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया । विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्त्तिताः ॥५॥
अस्मदीयं विभो स्तम्भं ये श्रिताः पद्मपाणयः । पद्ममालाधरास्तेऽमी गौरिकाख्या नभश्चराः ॥६॥
रक्तमालाधराश्चैते रक्तकम्बलवाससः । गान्धारस्तम्भमाश्रित्य गान्धाराः खेचराः स्थिताः ॥७॥
नानावर्णमयस्वर्णपीतकौशेयवाससः । मानवस्तम्भमेत्यामी स्थिता मानवपुत्रकाः ॥८॥
किंचिदारक्तवस्त्रा ये लसन्मणिविभूषणाः । मानस्तम्भमिता ह्येते खेचरा मनुपुत्रकाः ॥९॥
विचित्रौषधिहस्तास्तु विचित्राभरणस्रजः । ओषधिस्तम्भमायाता मूलवीर्या नभश्चराः ॥१०॥
सर्वर्त्तुकुसुमामोदकाञ्चनाभरणस्रजः । अन्तर्भूमिचरा ह्येते ये स्तम्भे भूमिमण्डके ॥११॥
विचित्रकुण्डलाटोपा ये नागाङ्गदभूषणाः । शङ्कुस्तम्भाश्रितास्तेऽमी शङ्काः खचराः प्रभो ॥१२॥
आबद्धमुकुटापीडविलसन्मणिकुण्डलाः । ये तेऽमी कौशिकाः खेटाः कौशिकस्तम्भमाश्रिताः ॥१३॥

अथानन्तर कुमार वसुदेवसे मदनवेगामें कामदेवके समान सुन्दर अनावृष्टि नामका नीतिज्ञ और बलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१॥ एक दिन अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर सिद्धकूट जिनालयकी वन्दना करनेके लिए गये सो कुमार वसुदेव भी मदनवेगाके साथ वहाँ पहुँचे ॥२॥ नाना प्रकारके वेषोंको धारण करनेवाले विद्याधर जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा कर तथा प्रतिमा-गृहोंकी वन्दना कर यथायोग्य स्तम्भोंका आश्रय ले बैठ गये ॥३॥ शोभासम्पन्न विद्युद्वेग भी भगवान्‌की पूजा कर अपने निकायके लोगोंके साथ गौरी विद्याओंके स्तम्भका सहारा ले बैठ गया ॥४॥ तदनन्तर वसुदेवने मदनवेगासे विद्याधर निकायोंका परिचय पूछा सो वह यथायोग्य इस प्रकार उनका वर्णन करने लगी ॥५॥

उसने कहा कि हे नाथ ! जो ये हाथमें कमल लिये तथा कमलोंकी माला धारण किये हमारे खम्भाके आश्रय बैठे हैं वे गौरिक नामके विद्याधर हैं ॥६॥ ये लाल मालाएँ धारण किये तथा लाल कम्बलके वस्त्रोंको पहने हुए गान्धार खम्भाका आश्रय ले गान्धार जातिके विद्याधर बैठे हैं ॥७॥ ये जो नाना वर्णोंसे युक्त एवं सुवर्णके समान पीले वस्त्रोंको धारण कर मानव स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे मानवपुत्रक विद्याधर हैं ॥८॥ जो कुछ-कुछ लाल वस्त्रोंसे युक्त एवं मणियोंके देदीप्यमान आभूषणोंसे सुसज्जित हो मानस्तम्भके सहारे बैठे हैं वे मनुपुत्रक विद्याधर हैं ॥९॥ नाना प्रकारकी ओषधियाँ जिनके हाथमें हैं तथा जो नाना प्रकारके आभूषण और मालाएँ पहनकर ओषधि स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे मूलवीर्य विद्याधर हैं ॥१०॥ सब ऋतुओंके फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त स्वर्णमय आभरण और मालाओंको धारण कर जो भूमिमण्डक स्तम्भके समीप बैठे हैं वे अन्तर्भूमिचर विद्याधर हैं ॥११॥ हे प्रभो ! जो चित्र-विचित्र कुण्डल पहने तथा सर्पाकार बाजू-बन्दोंसे सुशोभित हो शंकु स्तम्भके समीप बैठे हैं वे शंकुक नामक विद्याधर हैं ॥१२॥ जिनके मुकुटोंपर सेहरा बँधा हुआ है तथा जिनके मणिमय कुण्डल देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे ये कौशिक स्तम्भके आश्रय कौशिक

१. शौरिर्मदन -म. । २. विद्याधराः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः । मातङ्गानामपि स्वामिन् निकायान् शृणु वच्मि ते ॥१४॥
नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्रजः । अमी मातङ्गनामानो मातङ्गस्तम्भसंगताः ॥१५॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणुविधूसराः । श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तम्भसंश्रिताः ॥१६॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयन्त्यम्बराणि ये : पाण्डुरस्तम्भमेत्यामी स्थिताः पाण्डुकखेचराः ॥१७॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः । कालस्तम्भं समभ्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥१८॥
पिङ्गलैर्मूर्धजैर्युक्तास्तप्तकाञ्चनभूषणाः । श्वपाकीनां च विद्यानां श्रिताः स्तम्भं श्वपाकिनः ॥१९॥
पत्रिपर्णांशुकच्छन्नविचित्रमुकुटस्रजः । पार्वतेया इति ख्याताः पार्वतं स्तम्भमाश्रिताः ॥२०॥
वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः । वंशस्तम्भाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥२१॥
महाभुजगशोभाङ्गसंदष्टवरभूषणाः । वृक्षमूलमहास्तम्भमाश्रिता वार्क्षमूलिकाः ॥२२॥
स्ववेषकृतसंचाराः स्वचिह्नकृतभूषणाः । समासेन समाख्याता निकायाः खचरोद्गताः ॥२३॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तरः । शौरिर्यातो निजं स्थानं खेचराश्च यथायथम् ॥२४॥
शौरिर्मदनवेगां तामेकदा तु कुतश्चन । एहि वेगवतीत्याह सापि रुष्टाविशद्गृहम् ॥२५॥
प्रज्वाल्यात्रान्तरे गेहान् शौरिं त्रिशिखराङ्गना । श्रित्वा मदनवेगाभां सूर्पणख्याहरच्छलात् ॥२६॥

जातिके विद्याधर बैठे हैं ॥१३॥ हे स्वामिन् ! अभी मैंने संक्षेपसे आर्य विद्याधरोंका वर्णन किया है अब आपके लिए मांतग विद्याधरोंके भी निकाय कहती हूँ सो सुनिए ॥१४॥

जो नील मेघोंके समूहके समान श्याम वर्ण हैं तथा नीले वस्त्र और नीली मालाएँ पहने हैं वे मातंग स्तम्भके समीप बैठे मातंग नामके विद्याधर हैं ॥१५॥ जो श्मशानकी हड्डियोंसे निर्मित आभूषणोंको धारण कर भस्मसे धूलि-धूसर हैं वे श्मशान स्तम्भके आश्रय बैठे हुए श्मशाननिलय नामक विद्याधर हैं ॥१६॥ जो ये नीलमणि एवं वैडूर्यमणिके समान वस्त्रोंको धारण किये हुए हैं तथा पाण्डुर स्तम्भके समीप आकर बैठे हैं वे पाण्डुक नामक विद्याधर हैं ॥१७॥ जो ये काले मृग-चर्मको धारण किये तथा काले चमड़ेसे निर्मित वस्त्र और मालाओंको पहने हुए कालस्तम्भके पास आकर बैठे हैं वे कालश्वपाकी विद्याधर हैं ॥१८॥ जो पीले-पीले केशोंसे युक्त हैं, तपाये हुए स्वर्णके आभूषण पहने हैं और श्वपाकी विद्याओंके स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे श्वपाकी विद्याधर हैं ॥१९॥ जो वृक्षोंके पत्तोंके समान हरे रंगके वस्त्रोंसे आच्छादित हैं तथा नाना प्रकारके मुकुट और मालाओंको धारण कर पार्वत स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे पार्वतेय नामसे प्रसिद्ध हैं ॥२०॥ जिनके आभूषण बाँसके पत्तोंके बने हुए हैं तथा जो सब ऋतुओंके फूलोंकी मालाओंसे युक्त हो वंशस्तम्भके आश्रय बैठे हैं वे वंशालय विद्याधर माने गये हैं ॥२१॥ जिनके उत्तमोत्तम आभूषण महासर्पोंके शोभायमान चिह्नोंसे युक्त हैं तथा जो वृक्षमूल नामक महास्तम्भोंके आश्रय बैठे हैं वे वार्क्षमूलिक नामक विद्याधर हैं ॥२२॥ जो अपने-अपने निश्चित वेषमें ही भ्रमण करते हैं तथा जो आभूषणोंको अपने-अपने चिह्नोंसे अंकित रखते हैं ऐसे इन विद्याधरोंके निकायोंका संक्षेपसे वर्णन किया ॥२३॥ इस प्रकार आर्या मदनवेगाके कथनसे विद्याधरोंका अन्तर जानकर वसुदेव अपने स्थानपर चले गये तथा अन्य विद्याधर भी यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंकी ओर रवाना हुए ॥२४॥

अथानन्तर एक दिन कुमार वसुदेवने किसी कारणवश मदनवेगासे 'आओ वेगवति !' यह कह दिया जिससे रुष्ट होकर वह घरके भीतर चली गयी ॥२५॥ उसी समय त्रिशिखर विद्याधरकी विधवा पत्नी शूर्पणखी, मदनवेगाका रूप धरकर तथा अपनी प्रभासे महलोंको एकदम

---

१. पर्णपत्रांशुक-म., पत्रपर्णांशुक-ग. । २. गताः म. । ३. गेहात् म. । ४. सूर्यनख्य-म., ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरिक्षे मुमुक्षुस्तमद्राक्षीद् द्रागधोऽन्तरे । रिपुं मानसवेगाख्यमकस्मात्समुपस्थितम् ॥२७॥
विमुच्य [1]वियतः शौरिमारणे विनियुज्य तम् । यथेष्टं सा गता सोऽपि पपात तृणकूटके ॥२८॥
गीयमानं नरैः श्रुत्वा जरासन्धयशः सितम् । ज्ञात्वा राजगृहं तुष्टः प्रविष्टः पुरमुत्तमम् ॥२९॥
द्यूते जित्वा हिरण्यस्य कोटिमत्र जनायं सः । त्यागशीलो ददौ सर्वां सर्वस्मै तामितस्ततः ॥३०॥
जरासन्धस्य हन्तारमीदृग्ना [2]जनयिष्यति । इति नैमित्तिकादेशादीदृगन्विष्यते तदा ॥३१॥
दृष्ट्वा च तं तदाध्यक्षैर्मस्त्रारुद्धतनुश्च सः । नीत्वा मुक्तो गिरेरग्रान् म्रियतामिति तत्क्षणे ॥३२॥
ततः [3]पतन्नसौ वेगाद्वेगवत्या धृतो बलाद् । नीयमानस्तया क्वापि चिन्तामेतामुपागतः ॥३३॥
भारुण्डैरण्डजैः पूर्वं चारुदत्तो यथाहृतः [4] । तथाहमपि नूनं तैर्दुरन्तं किं नु मे भवेत् ॥३४॥
दुरन्ता बन्धुसंबन्धा दुरन्ता भोगसंपदः । दुरन्ताः कान्तिकायाश्च तथापि स्वन्तधीर्जनः ॥३५॥
पुण्यपापकृदेकोऽयं भोक्ता च सुखदुःखयोः । जायते म्रियते चात्मा तथापि स्वजनोन्मुखः ॥३६॥
त एव सुखिनो धीरास्त एव स्वहिते स्थिताः । विहाय भोगसंबन्धान् ये स्थिता मोक्षवर्त्मनि ॥३७॥
भोगतृष्णोर्मिनिर्मग्ना वयं तु गुरुकर्मकाः । संसारसुखदुःखाप्तौ मुहुः कुर्मो विवर्तनम् ॥३८॥
इत्यादि चिन्तयन् वीरो वेगवत्या गिरेस्तटे । अवतार्यैष भस्त्रायाः समाकृष्य बहिः कृतः ॥३९॥

प्रज्वलित कर छलसे वसुदेवको हर ले गयी ॥२६॥ वह उन्हें आकाशमें ले जाकर छोड़ना ही चाहती थी कि उसे नीचे आकाशमें अकस्मात् आता हुआ कुमारका वैरी मानसवेग विद्याधर दिखा। आकाशसे छोड़कर कुमारको मार दिया जाये इस कार्यमें मानसवेगको नियुक्त कर सूर्पणखी यथेष्ट स्थानपर चली गयी और कुमार घासकी गंजीपर नीचे गिर गये ॥२७-२८॥ वहाँ मनुष्योंके द्वारा गाये हुए जरासन्धके उज्ज्वल यशको सुनकर कुमारने जान लिया कि यह राजगृह नगर है अतः उन्होंने सन्तुष्ट होकर उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया ॥२९॥ राजगृह नगरमें कुमारने जुएमें एक करोड़ स्वर्णकी मुद्राएँ जीतीं और दानशील बनकर सबकी सब यहाँ-वहाँ समस्त लोगोंको बाँट दीं ॥३०॥ निमित्तज्ञानियोंने जरासन्धको बतलाया था कि जो जुएमें एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ जीतकर बाँट देगा वह तुम्हें मारनेवाले पुत्रको उत्पन्न करेगा। निमित्तज्ञानियोंके आदेशानुसार वहाँ उस समय ऐसे व्यक्तिकी खोज हो रही थी ॥३१॥ जरासन्धके अधिकारियोंने वसुदेवको देखकर पकड़ लिया और 'तत्काल मर जाये' इस भावनासे उन्हें एक चमड़ेकी भाथड़ीमें बन्द कर पहाड़की चोटीसे नीचे छोड़ दिया ॥३२॥ वसुदेव नीचे गिर ही रहे थे कि अकस्मात् वेगवतीने वेगसे आकर जोरसे उन्हें पकड़ लिया। जब वेगवती उन्हें पकड़कर कहीं ले जाने लगी तब वे मनमें ऐसा विचार करने लगे कि देखो ! जिस प्रकार पहले भारुण्ड पक्षी चारुदत्तको हर ले गये थे उसी प्रकार जान पड़ता है मुझे भी भारुण्ड पक्षी हरकर लिये जा रहे हैं, न जानें अब क्या दुःख होता है ? ॥३३-३४॥ ये बन्धुजनोंके सम्बन्ध दुरन्त—दुःखदायक हैं, भोग सम्पदाएँ दुरन्त हैं, और कान्तिपूर्ण शरीर भी दुरन्त है फिर भी मूर्ख प्राणी इन्हें स्वन्त—सुखदायक समझता है ॥३५॥ वह जीव अकेला ही पुण्य और पाप करता है, अकेला ही सुख और दुःख भोगता है, और अकेला ही पैदा होता तथा मरता है फिर भी आत्मीयजनोंके संग्रह करनेमें तत्पर रहता है ॥३६॥ वे ही धीर, वीर मनुष्य सुखी हैं और वे ही आत्महितमें लगे हुए हैं जो भोगोंसे सम्बन्ध छोड़कर मोक्षमार्गमें स्थित हैं ॥३७॥ हमारे कर्म बड़े वजनदार हैं इसलिए हम भोग तृष्णारूपी तरंगोंमें डूब रहे हैं तथा सुख-दुखकी प्राप्तिमें हो बार-बार परिभ्रमण करते-फिरते हैं ॥३८॥

तदनन्तर इस प्रकार चिन्तन करते हुए वीर वसुदेवको वेगवतीने पर्वतके तटपर उतारा

१. वियति म. । २. ईदृशो नरः । ३. पतदसौ म. । ४. यथादृतः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतिं वेगवती दृष्ट्वा रुरोद विरहाकुला । परिष्वज्य स तां मेने स्वपराङ्गसुखासिकाम् ॥४०॥
ततस्तेन प्रिया पृष्टा तस्मै सर्वं न्यवेदयत् । हृते भर्त्तरि यद्वृत्तं सुखदुःखं निजास्पदे ॥४१॥
द्वयोरन्वेषितः श्रेण्योर्यथारण्यपुरादिषु । पर्यटन्त्या चिरं क्षेत्रं भारताख्यमशेषतः ॥४२॥
पार्श्वे मदनवेगायाः पत्युर्दर्शनमेतया । वियोगमपि काङ्क्षत्या स्वस्याः स्थानमलक्षितम् ॥४३॥
श्रित्वा मदनवेगाया रूपं त्रिशिखभार्यया । सूर्पणख्या हृतिं चाख्यत्खमुत्क्षिप्य जिघांसया ॥४४॥
अमुतोऽधित्यकातस्त्वमापत्य विधृतो मया । तीर्थं पञ्चनदं चाद्रिं ह्रीमन्तमधितिष्ठसि ॥४५॥
इत्यावेदितवृत्तान्तः स तया चन्द्रवक्त्रया । रेमे तत्र धुनीधीरध्वानहारिषु सानुषु ॥४६॥
सोऽटन् यदृच्छयाद्राक्षीन्नागपाशवशां दृढम् । धन्यां कन्यां यथा वन्यां नागपाशवशां वशाम्[1] ॥४७॥
तदार्द्रहृदये नद्धां[2] तामुद्यन्मुखकान्तिकाम् । व्यपाशयदसौ पाशात्पापपाशाद् यथा यतिः ॥४८॥
मुक्तबन्धा च नत्वा सा तमचिन्तितबान्धवम् । प्रसादात्तव मे नाथ ! सिद्धा विद्येत्यभाषत ॥४९॥
शृणु त्वं दक्षिणश्रेण्यां पुरे गगनवल्लभे । विद्युद्दंष्ट्रान्वयोत्थाहं बालचन्द्रा नृपात्मजा ॥५०॥
साधयन्ती महाविद्यां नद्यां विद्याभृतारिणा । नागपाशैरहं बद्धा मोचिता भवता[3] विभो ॥५१॥
अन्ववायेऽस्मदीयेऽन्या कन्या केतुमतीत्यभूत् । मोचिताहमिवाकाण्डे पुण्डरीकार्धचक्रिणा ॥५२॥

और भाथड़ीसे खींचकर बाहर निकाला ॥३९॥ पतिको देख वेगवती विरहसे आकुल हो रोने लगी और वसुदेवने भी उसका आलिंगन कर उसे स्वपरके शरीरके लिए सुख देनेवाली माना ॥४०॥ तदनन्तर वसुदेवके द्वारा पूछी प्रिया वेगवतीने पतिके हरे जानेपर अपने घर जो सुख-दुख उठाया था वह सब उनके लिए कह सुनाया ॥४१॥ उसने कहा कि मैंने आपको विजयार्ध-की दोनों श्रेणियोंमें खोजा, अनेक वन और नगरोंमें देखा तथा समस्त भरत क्षेत्रमें चिरकाल तक भ्रमण किया परन्तु आपको प्राप्त न कर सकी ॥४२॥ बहुत घूमने-फिरनेके बाद मैंने मदनवेगाके पास आपको देखा। सो देखकर यह विचार किया कि यहाँ रहते हुए भले ही आपके साथ वियोग रहे पर आपके दर्शन तो पाती रहूँगी। इसी विचारसे मैंने वहाँ अलक्षित रूपसे रहनेकी इच्छा की परन्तु त्रिशिखरकी भार्या शूर्पणखी मदनवेगाका रूप धरकर आपके पास आयी और मारनेकी इच्छासे हरकर आपको आकाशमें ले गयी ॥४३-४४॥ उधर उस पर्वतकी चोटीसे आप नीचे गिराये जा रहे थे कि मैंने बीचमें ही लपककर आपको पकड़ लिया। इस समय आप पंचनद तीर्थ और ह्रीमन्त नामक पर्वतपर विराजमान हैं ॥४५॥ इस प्रकार चन्द्रमुखी वेगवतीसे सब समाचार जानकर वसुदेव, नदियोंके गम्भीर शब्दसे सुन्दर ह्रीमन्त पर्वतकी अधित्यकाओंपर क्रीड़ा करने लगे ॥४६॥ एक दिन कुमार वसुदेव अपनी इच्छानुसार वहाँ घूम रहे थे कि उन्होंने नागपाशसे बँधी हुई वनकी हस्तिनीके समान, नागपाशसे मजबूत बँधी हुई एक भाग्यशालिनी सुन्दर कन्याको देखा ॥४७॥ उसे देखते ही कुमारका हृदय दयासे आर्द्र हो गया इसलिए उन्होंने जिस प्रकार मुनि संसारके प्राणियोंको पापरूपी पाशसे मुक्त कर देते हैं उसी प्रकार मुखकी फैलती हुई कान्तिसे युक्त उस बन्धनबद्ध कन्याको बन्धनसे मुक्त कर दिया ॥४८॥ बन्धनसे छूटते ही उस कन्याने अतर्कित बन्धु—वसुदेवको नमस्कार किया और कहा कि हे नाथ! आपके प्रसादसे मेरी विद्या सिद्ध हो गयी है ॥४९॥ सुनिए, मैं दक्षिण श्रेणीपर स्थित गगनवल्लभ नगरकी रहनेवाली राज-कन्या हूँ, मेरा नाम बालचन्द्रा है और मैं विद्युद्दंष्ट्रके वंशमें उत्पन्न हुई हूँ ॥५०॥ मैं नदीमें बैठकर महाविद्या सिद्ध कर रही थी कि एक शत्रु विद्याधरने मुझे नागपाशसे बाँध दिया और हे प्रभो! आपने मुझे उस बन्धनसे मुक्त किया है ॥५१॥ हमारे वंशमें पहले भी एक केतुमती

१. करिणीम् । २. नद्याम् म. । ३. भविता म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्यैव साभवत्पत्नी निःसपत्नी[1] यथा तथा । अवश्यम्भाविनी पत्नी तवाहमिति बुध्यताम् ॥५३॥
त्वं गृहाण विभो विद्यां विद्याधरसुदुर्लभाम् । [2]इत्युक्तः सोऽवदद्देया वेगवत्यै ममेच्छया ॥५४॥
लब्धादेशा तथेत्युक्त्वा ततो वेगवतीमसौ । खमुत्क्षिप्य ययौ कन्या पुरं गगनवल्लभम्[3] ॥५५॥

शालिनीच्छन्दः

विद्यादानं बालचन्द्राभिधाना विद्यां[4] दत्त्वा कन्यका वेगवत्यै ।
सद्यो जाता मुक्तशल्या च जैन्यो विद्याधर्यः साधयन्त्यभ्युपेतम् ॥५६॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ बालचन्द्रादर्शनवर्णनो नाम षड्विंशः सर्गः ॥२६॥

□

नामकी कन्या हो गयी है। उसे मेरे ही समान पुण्डरीक नामक अर्धचक्रीने अचानक आकर बन्धनसे मुक्त किया था और वह जिस प्रकार उसी अर्धचक्रीकी निर्विरोध पत्नी हो गयी थी उसी प्रकार मैं भी आपकी पत्नी अवश्य होनेवाली हूँ। यह आप निश्चित समझ लीजिए ॥५२-५३॥ हे नाथ! आप विद्याधरोंके लिए अतिशय दुर्लभ इस विद्याको ग्रहण कीजिए। कन्याके इस प्रकार कहनेपर कुमार वसुदेवने कहा कि वह विद्या मेरी इच्छासे वेगवतीके लिए देने योग्य है ॥५४॥ कुमारकी आज्ञा पाकर उसने 'तथास्तु' कह वेगवतीके लिए वह विद्या दे दी और तदनन्तर आकाशमें उड़कर वह गगनवल्लभ नगरको चली गयी ॥५५॥ कुमारी बालचन्द्रा, वेगवतीके लिए विद्यारूपी दान देकर शीघ्र ही निःशल्य हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि जिनधर्मकी उपासना करनेवाली विद्याधरियाँ अपने मनोरथको शीघ्र ही सिद्ध कर लेती हैं ॥५६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें बालचन्द्राके दर्शनका वर्णन करनेवाला छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२६॥

□

१. निःसपत्नी म. । २. इत्युक्तोऽसौ वदद्देया म., क., ख. । ३. नगरवल्लभम् म. । ४. विद्या क., ख., ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तविंशः सर्गः

गोतमोऽत्रान्तरे पृष्टः स्वस्थेन मगधेशिना । विद्युद्दंष्ट्रो मुने ! कोऽसौ कीदृगाचरणोऽपि वा ॥१॥
इत्युक्तो सोऽवदद्वंशे नमेर्गगनवल्लभे । विद्युद्दंष्ट्रोऽभवद् भर्त्ता श्रेण्योरद्भुतविक्रमः ॥२॥
अपरेभ्यो विदेहेभ्यः सोऽन्यदानीय योगिनम् । संजयन्तमिहोदारमुपसर्गमकारयत् ॥३॥
हेतुना केन नाथेति प्रश्नितः कौतुकाद् गणी । पुराणं संजयन्तस्य जगौ पापविनाशनम् ॥४॥
इहापरविदेहेऽस्ति विषयो गन्धमालिनी । वीतशोका पुरीहात्र वैजयन्तोऽभवन्नृपः ॥५॥
सर्वश्रीरिति भार्यास्य स्वयं श्रीरिव रूपिणी । संजयन्तजयन्ताख्यौ तस्याश्च तनयौ शुभौ ॥६॥
विहरन्नन्यदा यातः स्वयंभूस्तीर्थकृत्ततः । धर्मं श्रुत्वा पिता पुत्रौ ते त्रयोऽपि प्रवव्रजुः ॥७॥
तेषां विहरतां सार्धं पिहितास्रवसूरिणा । संजातं वैजयन्तस्य केवलं घातिघातिनः ॥८॥
चतुर्णिकायदेवेषु वन्दमानेषु तं मुनिम् । जयन्तो वीक्ष्य धरणं निदानी[1] धरणोऽभवत् ॥९॥
स्वपुर्याश्च मनोहर्याः श्मशाने भीमदर्शने । सप्ताहप्रतिमो योगी संजयन्तोऽन्यदा स्थितः ॥१०॥
भद्रशाले वने स्त्रीभिर्विद्युद्दंष्ट्रोऽन्यदा चिरम् । रन्त्वागच्छत्पुरं दृष्ट्वा संजयन्तं यदृच्छया ॥११॥
पूर्ववैरवशात्क्रुद्धस्तमानीयात्र भारते । वैताढ्यदक्षिणोपान्ते गिरौ वरुणनामनि ॥१२॥

अथानन्तर इसी बीचमें निश्चिन्ततासे बैठे हुए राजा श्रेणिकने गौतम स्वामीसे पूछा कि हे मुनिनाथ ! विद्युद्दंष्ट्र कौन था ? और उसका आचरण कैसा था ? ॥१॥ इस प्रकार पूछनेपर गौतम स्वामी कहने लगे कि नमिके वंशमें गगनवल्लभ नामक नगरमें एक विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर हो गया है जो दोनों श्रेणियोंका स्वामी था तथा अद्भुत पराक्रमसे युक्त था ॥२॥ एक समय वह पश्चिम विदेह क्षेत्रसे संजयन्त नामक मुनिराजको अपने यहाँ उठा लाया और उनपर उसने घोर उपसर्ग कराया ॥३॥ यह सुन राजा श्रेणिकने कौतुकवश फिर पूछा कि हे नाथ ! विद्युद्दंष्ट्रने संजयन्त मुनिराजपर किस कारण उपसर्ग कराया था ? इसके उत्तरमें गणधर भगवान् संजयन्त मुनिका पापनाशक पुराण इस प्रकार कहने लगे ॥४॥

हे राजन् ! इसी जम्बू द्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें एक गन्धमालिनी नामका देश है। उसमें वीतशोका नामकी नगरी है। उस नगरीमें किसी समय वैजयन्त नामका राजा राज्य करता था ॥५॥ उसकी सर्वश्री नामकी रानी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो शरीरको धारण करनेवाली साक्षात् लक्ष्मी हो। इन दोनोंके संजयन्त और जयन्त नामके दो उत्तम पुत्र थे ॥६॥ किसी एक समय विहार करते हुए स्वयम्भू तीर्थंकर वहाँ आये। उनसे धर्म श्रवण कर पिता और दोनों पुत्र—तीनोंने दीक्षा धारण कर ली ॥७॥ अपने पिहितास्रव नामक आचार्यके साथ वे तीनों मुनि विहार करते थे। कदाचित् घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले वैजयन्त मुनिको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥८॥ केवलज्ञानके उत्सवमें जब चारों निकायके देव मुनिराज वैजयन्तकी वन्दना कर रहे थे तब धरणेन्द्रको देख जयन्त मुनिने धरणेन्द्र होनेका निदान किया और उसके फलस्वरूप वे मरकर धरणेन्द्र हो भी गये ॥९॥ किसी समय जयन्तके बड़े भाई संजयन्त मुनिराज अपनी वीतशोका नामक सुन्दर नगरीके भीमदर्शन—भयंकर श्मशानमें सात दिनका प्रतिमा योग लेकर विराजमान थे ॥१०॥ उसी समय विद्युद्दंष्ट्र, भद्रशाल वनमें अपनी स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा कर अपने नगरको ओर लौट रहा था कि अचानक उसकी दृष्टि संजयन्त मुनिराजपर पड़ी ॥११॥ पूर्व वैरके कारण कुपित हो वह उन्हें उठा लाया और भरत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध

१. निदानधरणो ङ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिद्वती [1]सरिच्चण्डवेगा गजवतीति च । तथा कुसुमवत्यन्या या सुवर्णवती च सा ॥१३॥
पञ्चानां सङ्गमे तासां प्रदोषसमये स तम् । स्थापयित्वा समं गत्वा प्रत्यूषेऽक्षोभयत्खगान् ॥१४॥
राक्षसोऽद्य महाकायः स्वप्नेऽदर्शि मया निशि । क्षयकृत्स किलास्माकं निहन्मस्तं खगा लघु [2] ॥१५॥
इति प्रणोद्य तैः साकमुद्यतैर्विविधायुधैः । सोऽवधीन्निर्वृतौ [3] तीर्थे शीतले शीतलस्य सः ॥१६॥
तच्छरीरस्य [4]पूजार्थं धरणेन्द्रः समागतः । रुष्टो हृत्वाखिला विद्यास्तं हन्तुं स समुद्यतः ॥१७॥
आदित्याभस्तमागत्य लान्तवेन्द्रो न्यवारयत् । मा मा प्राणिवधं कार्षीर्धरणेन्द्र ! फणीन्द्र ! मोः ॥१८॥
त्वमहं च खगेन्द्रोऽयं संजयन्तश्च संसृतौ । बद्धवैरा वयं सर्वे यथा भ्रान्तास्तथा शृणु ॥१९॥
अत्राऽस्ति भरतक्षेत्रे विषयः शकटश्रुतिः । पुरं सिंहपुरं तत्र सिंहसेनो नृपोऽभवत् ॥२०॥
रामदत्ता प्रिया तस्य कलागुणविभूषणा । धात्री निपुणमत्याख्या निपुणा निपुणेष्वपि ॥२१॥
सत्यवादी नरेन्द्रस्य श्रीभूत्याख्यः पुरोहितः । अलुब्ध इति स ख्यातः श्रीदत्ता तस्य माहनी [5] ॥२२॥
माण्डशालाः समस्तासु दिशासु नगरस्य सः । कारयित्वा वणिग्वर्गविश्वासं कुरुतेतराम् ॥२३॥
वणिक् सुमित्रदत्तोऽस्ति पद्मखण्डे पुरोधसि । रत्नानि पञ्च विन्यस्य यातः पोतेन तृष्णया ॥२४॥
भिन्नपात्रः स चागत्य याचित्वा तान्यलब्धवान् । पुरोहितप्रमाणैश्च राजलोकैर्निराकृतः ॥२५॥

पर्वतके दक्षिण भागके समीप वरुण नामक पर्वतपर उन्हें ले गया ॥१२॥ हरिद्वती, चण्डवेगा, गजवती, कुसुमवती और सुवर्णवती इन पाँच नदियोंका जहाँ समागम हुआ है वहाँ सायंकालके समय उन्हें रखकर चला गया और प्रातःकाल उसने विद्याधरोंको यह कहकर क्षुभित कर दिया कि आज रात्रिको मैंने स्वप्नमें एक महाकाय राक्षस देखा है। वह राक्षस हम लोगोंका क्षय करनेवाला होगा। इसलिए हे विद्याधरो ! चलो उसे शीघ्र ही मार डालें ॥१३-१५॥ इस प्रकार विद्याधरोंको प्रेरित कर उसने नाना प्रकारके शस्त्र धारण करनेवाले विद्याधरोंके साथ उन्हें मार डाला। मुनिराज संजयन्त भी अन्तिम समय केवलज्ञान प्राप्त कर श्री शीतलनाथ भगवान्के शान्तिदायक तीर्थमें निर्वाणको प्राप्त हुए ॥१६॥ तदनन्तर उनके शरीरकी पूजाके लिए जयन्तका जीव—धरणेन्द्र आया सो विद्युद्दंष्ट्रकी इस करतूतसे वह बहुत ही रुष्ट हुआ। वह विद्युद्दंष्ट्रकी समस्त विद्याओंको हरकर उसे मारनेके लिए उद्यत हुआ ही था कि उसी समय आदित्याभ दिवाकर देव नामक लान्तवेन्द्रने वहाँ आकर 'हे धरणेन्द्र ! हे फणीन्द्र ! व्यर्थ ही जीव हिंसा न करो' इन शब्दों द्वारा उसे हिंसासे रोक दिया ॥१७-१८॥ तुम, मैं, यह विद्याधरोंका राजा विद्युद्दंष्ट्र और संजयन्त इस प्रकार हम सब वैर बाँधकर संसारमें जिस तरह भटकते रहे हैं वह मैं कहता हूँ सो सुनो ॥१९॥

इसी भरत क्षेत्रमें एक शकट नामका देश है। उसके सिंहपुर नगरमें किसी समय सिंहसेन नामका राजा राज्य करता था ॥२०॥ सिंहसेनकी कला और गुणरूपी आभूषणोंसे सुशोभित रामदत्ता नामकी स्त्री थी तथा निपुणमति नामकी एक धाय थी जो निपुण मनुष्योंमें भी अतिशय निपुण थी ॥२१॥ राजाका एक श्रीभूति नामका पुरोहित था जो अपनेको सत्यवादी प्रकट करता था तथा लोकमें अलुब्ध-निर्लोभ है इस तरह प्रसिद्ध था। उसकी ब्राह्मणीका नाम श्रीदत्ता था ॥२२॥ वह श्रीभूति नगरकी समस्त दिशाओंमें भाण्डशालाएँ—धरोहर रखनेके स्थान बनवाकर व्यापारी वर्गका बहुत विश्वासपात्र बन गया था ॥२३॥ उसी समय पद्मखण्ड नामक नगरमें एक सुमित्रदत्त नामक वणिक् रहता था। वह किसी समय अपने पाँच रत्न श्रीभूति पुरोहितके पास रखकर तृष्णावश जहाज द्वारा कहीं गया था ॥२४॥ भाग्यवश उसका जहाज फट गया।

१. शरच्चन्द्रवेगा म.। २. 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। ३. निर्वाणं प्राप्तवान्। ४. महार्थं ख. ग., ङ., माहार्थं म.। ५. माहिनी म.। ब्राह्मणी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याशादग्धचित्तश्च नृपागारसमीपगम् । उच्चैस्तरुं समारुह्य पूत्करोतीति नित्यशः ॥२६॥
सिंहसेनो महाराजो रामदत्ता कृपावती । साधुलोकस्तथान्योऽपि शृणोतु कृपया युतः ॥२७॥
मासे पक्षेऽह्नि चामुष्मिन् श्रीभूतेः सत्यतो मया । पचैवंविधरत्नानि हस्ते न्यस्तानि तान्यसौ ॥२८॥
प्रदातुं नेच्छतोदानीमतिलुब्धमतिर्मम । इति प्रत्यूषवेलायां नित्यं पूत्कृत्य यात्यसौ ॥२९॥
बहुत्वेवमतीतेषु मासेषु नृपमेकदा । रात्रौ प्रियावदद्राजन्नन्यायोऽयमहो महान् ॥३०॥
बलिनो दुर्बलाश्चापि लोके सन्ति तदत्र किम् । बलिनां दुर्बला हस्तैर्लभन्ते नैव जीवितुम् ॥३१॥
दुर्बलस्य वराकस्य हृतान्यस्य बलीयसा । रत्नानि तानि दाप्यन्तां यदि तेऽस्ति कृपा प्रभो ॥३२॥
राजा प्राह प्रिये ! वार्धौ भिन्नपात्रोऽयमत्रपः । अर्थनाशे ग्रही जातः प्रलपत्यतिदुःखितः ॥३३॥
इत्युक्ता सा जगौ राजन्नैषोऽर्थग्रहदूषितः । यतो नियमितालापस्तत्त्वतस्तत्परीक्ष्यताम् ॥३४॥
इत्याकर्ण्य नृपोऽपृच्छत्तमुपांशु दिनानने । अपह्नुते स्म स द्रोही कुतो लुब्धस्य सत्यता ॥३५॥
ततो द्यूतच्छलेनैव स परीक्षितुमुद्यतः । राज्ञी तं तु पुराप्राक्षीत् रात्रौ भुक्तमलक्षिता ॥३६॥
गत्वा निपुणमत्या च राजपत्न्या निदेशतः । [1]याचिता नो ददौ तानि साभिज्ञानमपि प्रिया ॥३७॥
द्यूते निर्जितमादाय ब्रह्मसूत्रं ययाच सा । धात्री तथापि नो लेभे पत्यादेशो हि तादृशः ॥३८॥

लौटकर उसने पुरोहितसे अपने रत्न माँगे परन्तु प्राप्त नहीं कर सका। राजद्वारमें उसने प्रार्थना की परन्तु पुरोहितको प्रमाण माननेवाले राज-कर्मचारियोंने उसे तिरस्कृत कर भगा दिया ॥२५॥ अन्तमें बदलेकी आशासे जिसका चित्त जल रहा था ऐसा सुमित्रदत्त वणिक् राजमहलके समीप एक ऊँचे वृक्षपर चढ़कर प्रतिदिन यह कहता हुआ रोने लगा कि महाराज सिंहसेन, दयावती रानी रामदत्ता तथा अन्य सज्जन पुरुष दयायुक्त हो मेरी प्रार्थना सुनें। मैंने अमुक मास और पक्षके अमुक दिन श्रीभूति पुरोहितकी सत्यवादितासे प्रभावित होकर उसके हाथमें इस-इस प्रकारके पाँच रत्न रखे थे परन्तु इस समय वह अत्यन्त लुब्ध होकर मेरे वह रत्न देना नहीं चाहता है। इस प्रकार प्रतिदिन प्रातःकालके समय रोकर वह यथास्थान चला जाता था ॥२६-२९॥ इस प्रकार उसे रोते-रोते जब बहुत महीने बीत गये तब एक दिन प्रिया रामदत्ताने रात्रिके समय राजासे कहा कि हे राजन्! यह बड़ा अन्याय है। लोकमें बलवान् और दुर्बल सभी होते हैं तो क्या बलवानोंके हाथसे दुर्बल मनुष्य जीवित नहीं रह सकते? ॥३०-३१॥ इस बेचारे दुर्बलके रत्न अतिशय बलवान् पुरोहितने हड़प लिये हैं। इसलिए हे प्रभो! यदि इसपर आपको दया आती है तो इसके रत्न दिलाये जावें ॥३२॥ राजाने कहा कि हे प्रिये! समुद्रमें इसका जहाज फट गया था, इसलिए यह निर्लज्ज धन नष्ट हो जानेके कारण अतिशय दुःखी हो पिशाचसे आक्रान्त हो गया है और उसी दशामें कुछ बकता रहता है ॥३३॥ इस प्रकार राजाका उत्तर पाकर रामदत्ताने कहा कि हे राजन्! यह धनरूपी पिशाचसे आक्रान्त नहीं है क्योंकि यह प्रतिदिन एक ही बात कहता है अतः इसकी परीक्षा की जाये ॥३४॥ यह सुनकर राजाने प्रातःकाल एकान्तमें पुरोहितसे पूछा परन्तु वह द्रोही सर्वथा मेंट गया सो ठीक ही है क्योंकि लोभी मनुष्यके सत्यता कैसे हो सकती है? ॥३५॥ तदनन्तर राजा जुआके छलसे ही पुरोहितकी परीक्षा करनेके लिए उद्यत हुआ। रानी रामदत्ताने जुआ खेलनेके पूर्व ही किसी बहाने पुरोहितसे पूछ लिया था कि आज आपने रात्रिमें क्या भोजन किया था? ॥३६॥ रानी रामदत्ताकी आज्ञा पाकर निपुणमति धायने जाकर पुरोहितकी स्त्रीसे रत्न माँगे और पहचानके लिए रात्रिके भोजनकी बात बतायी परन्तु पुरोहितकी स्त्रीने रत्न नहीं दिये ॥३७॥ अबकी बार जुआमें जीता हुआ जनेऊ ले जाकर निपुणमतिने पुरोहितकी स्त्रीसे रत्न माँगे परन्तु फिर भी वह उन्हें प्राप्त

१. याचितानि म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतिनामाङ्कितां दृष्ट्वा मुद्रिकां तान्यदात् प्रिया । वचनाद्रामदत्ताया द्यूतं चाप्युपसंहृतम् ॥३९॥
व्यामिश्राण्यपि सद्रत्नैः परकीयैरसौ वणिक् । स्वरत्नान्येवमादाय राजपूजामवाप्तवान् ॥४०॥
परस्वहरणप्रीतः सर्वस्वहरणं द्विजः । गोमयादनमप्याप्य मल्लमुष्टिहतो मृतः ॥४१॥
अर्थध्यानाविलश्चासौ सर्पोऽगन्धननामकः । भाण्डागारान्तरे जज्ञे राज्ञो द्रोही हताशकः ॥४२॥
स्थापितोऽन्यः पदे तस्य द्विजो धम्मिल्लसंज्ञकः । मिथ्यादृष्टिरदिष्टार्थं[1] प्रति प्रायः किलोद्यतः ॥४३॥
पद्मखण्डपुरं गत्वा जैनीभूतोऽप्यसौ वणिक् । दानी चासीन्निदानी च दत्तापुत्रत्वयाऽच्छया ॥४४॥
सुमित्रदत्तिका तस्य भार्या मृत्वा विरोधिनी । व्याघ्रीभूता चखादाद्रौ तं साधोर्नंतये गतम् ॥४५॥
सोऽभवद्रामदत्तायाः पुत्रः सस्नेहबन्धनः । सिंहचन्द्र इतीन्द्रत्वमगणय्य निदानतः ॥४६॥
पूर्णचन्द्र इतीन्द्राभः कनीयान् तस्य जातवान् । जातौ च तौ क्षितौ ख्यातौ सूर्याचन्द्रमसौ यथा ॥४७॥
भाण्डागारप्रविष्टं च सिंहसेनमगन्धनैः[3] । दष्टवान् दुष्टसर्पोऽसावेकदा वैरभावतः ॥४८॥
मन्त्रैर्गरुडदण्डेन महागारुडिकेन तु । अगन्धनादयः सर्पास्तदाहूय प्रणोदिताः ॥४९॥
तिष्ठत्वेकोऽपराधी हि शेषा यान्तु यथागतम् । इत्युक्तोऽगन्धनोऽतिष्ठद् यातास्त्वन्ये पृदाकवः[4] ॥५०॥

नहीं कर सको सो ठीक ही है क्योंकि उसके लिए पतिकी आज्ञा ही वैसी थी ॥३८॥ तीसरी बार पतिके नामसे चिह्नित अँगूठा देखकर पुरोहितको स्त्रीने वे रत्न दे दिये। उसी समय रानी रामदत्ताका आज्ञानुसार जुआ बन्द कर दिया गया ॥३९॥ यद्यपि राजाने वणिक्के उन रत्नोंको दूसरेके रत्नोंके साथ मिलाकर दिया था तथापि वणिक्ने अपने ही रत्न पहचानकर उठा लिये और इस सचाईके कारण राजासे सम्मानको भी प्राप्त किया ॥४०॥ दूसरेका धन हरण करनेमें प्रीतिका अनुभव करनेवाले पुरोहितका सब धन छीन लिया गया, उसे गोबर खिलाया गया और मल्लोंके मुक्कोंसे पिटवाया गया जिससे वह मर गया ॥४१॥ चूँकि वह धनके आर्तध्यानसे कलुषित चित्त होकर मरा था इसलिए राजाके भाण्डार गृहमें अगन्धन नामका साँप हुआ और अपनी दुष्टताके कारण राजासे सदा द्रोह रखने लगा ॥४२॥ श्रीभूति पुरोहितके स्थानपर धम्मिल्ल नामक दूसरा ब्राह्मण रखा गया परन्तु वह भी मिथ्यादृष्टि था और प्रायः नहीं कहे कार्यको करनेके लिए उद्यत रहता था ॥४३॥ सुमित्रदत्त वणिक् रत्न लेकर अपने पद्मखण्डपुर नगरको चला गया। यद्यपि वह जैन था—जैन धर्मके स्वरूपको समझता था तथापि 'मैं रानी रामदत्ताका पुत्र होऊँ' ऐसा उसने निदान बांध लिया और इसी इच्छासे वह खूब दान करने लगा ॥४४॥ वणिक्की स्त्री सुमित्रदत्तिका जो सदा उससे विरोध रखती थी मरकर एक पर्वतपर व्याघ्री हुई। एक दिन सुमित्रदत्त किन्हीं मुनिराजकी वन्दनाके लिए उसी पर्वतपर गया था सो उस व्याघ्रीने उसे खा लिया ॥४५॥ मरकर वह रामदत्ताका पुत्र हुआ। यद्यपि वह अपने पुण्य बलसे इन्द्र हो सकता था तथापि निदानके द्वारा इन्द्रत्वकी उपेक्षा कर राजपुत्र ही हुआ। उसका सिंहचन्द्र नाम रखा गया तथा वह रामदत्ताके स्नेह-बन्धनसे युक्त था—उसे अतिशय प्यारा था ॥४६॥ सिंहचन्द्रके, इन्द्रके समान आभावाला पूर्णचन्द्र नामका एक छोटा भाई भी हुआ। ये दोनों भाई पृथिवीपर सूर्य-चन्द्रमाके समान प्रसिद्ध थे ॥४७॥ एक समय राजा सिंहसेन कार्यवश भाण्डागारमें प्रविष्ट हुए सो वहाँ पूर्व वैरके कारण पुरोहितके जीव अगन्धन नामक दुष्ट साँपने उन्हें काट खाया ॥४८॥ उसी नगरमें एक गारुडिक विद्या (सर्प उतारनेकी विद्या) का अच्छा जानकार गरुडदण्ड रहता था। उसने मन्त्रों द्वारा अगन्धनको आदि लेकर समस्त सर्पोंको बुलाकर उनसे कहा कि तुम लोगोंमें जो एक अपराधी सर्प है वही यहाँ ठहरे, बाकी सब यथास्थान चले जावें। गरुडदण्डके ऐसा कहनेपर राजाको

---

१. रदृष्टार्थं म.। २. रामदत्तायाः पुत्रोऽहं भवेयमिति वाञ्छया निदानयुक्तोऽभूत् । ३. सिंहसेनं स गन्धनः म.। ४. सर्पाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहर हे दुष्ट ! स्वविसृष्टं विषं लघु । नोपसंहर्तुमिच्छा चेत्प्रविशाशु हुताशनम् ॥५१॥
इत्युक्तो नोपसंहृत्य विषं विषधरो रुषा । ज्वलत्कृशानुमाविश्य मृत्वामूच्चमरो मृगी ॥५२॥
सिंहसेनो मृतो जातः स हस्ती सल्लकीवने । शाखामृगस्तु धम्मिल्लः का वा मिथ्यादृशां गतिः ॥५३॥
रामदत्तासुतौ राजयुवराजौ नयान्वितौ । शशासतुरिलां वेलावलयावधिकां विभू ॥५४॥
पोदने पूर्णचन्द्रो यो या हिरण्यवती च तौ[1] । पितरौ रामदत्ताया जिनशासनभावितौ ॥५५॥
राहुभद्रमुनेः पार्श्वे प्रव्रज्यावधिमैप्सिता । दत्तवत्यार्यिकापार्श्वे माताधत्तार्यिकाव्रतम् ॥५६॥
पूर्णचन्द्रमुनेः श्रुत्वा रामदत्ताम्बिकार्यिका । प्रवृत्तिं रामदत्ताया गत्वा बोधयतिस्म ताम् ॥५७॥
प्राव्रजद्रामदत्ता सा संसारभयवेदिनी । राहुभद्रगुरोरन्ते सिंहचन्द्रोऽपि बोधितः ॥५८॥
पूर्णचन्द्रस्तु राज्यस्थः [2]प्रतापप्रणताहितः । भोगासक्तो बभूवासौ संयक्त्वव्रतवर्जितः ॥५९॥
एकदा रामदत्तार्या सिंहचन्द्रं धृतावधिम् । पप्रच्छ चारणं नत्वा स्वमातृसुतजन्म सा ॥६०॥
स प्राह भरतेऽत्रैव विषये कोसलाभिधे । बभूव वर्द्धकिग्रामे विप्रो नाम्ना मृगायणः ॥६१॥
ब्राह्मस्य स्वभावेन मधुरा मधुराभिधा । सुता च वारुणी यूनां वारुणीव[3] मदावहा ॥६२॥

काटनेवाला अगन्धन सर्प रह गया बाकी सब चले गये ॥४९-५०॥ गरुडदण्डने उसे ललकारते हुए कहा कि अरे दुष्ट ! अपने द्वारा छोड़े हुए विषको शीघ्र ही खींच और यदि खींचनेकी इच्छा नहीं है तो शीघ्र ही अग्निमें प्रवेश कर ॥५१॥ गरुडदण्डके इस प्रकार कहनेपर उस अगन्धन सर्पने क्रोधके कारण विष तो नहीं खींचा पर जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर मरण स्वीकार कर लिया और मरकर वह चमरी मृग हुआ ॥५२॥ विषके वेगसे मरकर राजा सल्लकी वनमें हाथी हुआ और जिसे श्रीभूतिके स्थानपर रखा गया था वह धम्मिल्ल मरकर उसी वनमें वानर हुआ सो ठीक ही है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवोंकी और गति हो ही क्या सकती है ॥५३॥ रामदत्ताके सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामक दोनों नीतिज्ञ एवं सामर्थ्यवान् पुत्र क्रमसे राजा और युवराज बनकर समुद्रान्त पृथिवीका पालन करने लगे ॥५४॥

पोदनपुर नगरमें जो राजा पूर्णचन्द्र और रानी हिरण्यवती थी वे रानी रामदत्ताके माता-पिता थे और वे दोनों ही जिनशासनकी भावनासे युक्त थे ॥५५॥ एक बार रामदत्ताके पिता पूर्णचन्द्रने राहुभद्र मुनिके समीप दीक्षा ले अवधिज्ञान प्राप्त किया और माता हिरण्यवतीने दत्तवती आर्यिकाके समीप दीक्षा ले आर्यिकाके व्रत धारण कर लिये ॥५६॥ कदाचित् रामदत्ता की माता हिरण्यवती आर्यिकाने अवधिज्ञानी पूर्णचन्द्र मुनिसे रामदत्ताका सब समाचार सुना और जाकर उसे सम्बोधित किया—समझाया ॥५७॥ माताके मुखसे उपदेश श्रवण कर रामदत्ता संसारसे भयभीत हो उठी जिससे उसने उसी समय दीक्षा ले ली। हिरण्यवतीने रामदत्ताके पुत्र सिंहचन्द्रको भी समझाया जिससे उसने भी राहुभद्र गुरुके समीप दीक्षा ले ली ॥५८॥ सिंहचन्द्रके बाद प्रतापके द्वारा शत्रुओंको नम्रीभूत करनेवाला युवराज पूर्णचन्द्र राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हुआ परन्तु वह सम्यग्दर्शन और व्रतसे रहित होनेके कारण भोगोंमें आसक्त हो गया ॥५९॥ एक बार आर्यिका रामदत्ताने अवधिज्ञानी एवं चारण ऋद्धिके धारक सिंहचन्द्र मुनिको नमस्कार कर उनसे अपना, अपनी माताका तथा अपने पुत्रोंका पूर्वभव पूछा ॥६०॥

इसके उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि इसी भरतक्षेत्रके कोसल देशमें एक वर्धकि नामका ग्राम था और उसमें मृगायण नामका एक ब्राह्मण रहता था ॥६१॥ ब्राह्मणकी ब्राह्मणीका नाम मधुरा था जो न केवल नामसे ही मधुरा थी किन्तु स्वभावसे भी मधुरा थी। उन दोनोंके एक वारुणी नामकी पुत्री थी जो तरुण मनुष्योंके लिए वारुणी-मदिराके समान मद उत्पन्न करनेवाली

१. -वतीत्यसौ म.। २. प्रतापेन प्रणताः अहिताः शत्रवो येन सः। ३. मदिरेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्वा मृगायणो राज्ञः साकेतेऽतिबलस्य सः । हिता हिरण्यवत्येषा श्रीमत्याश्च सुतामवत् ॥६३॥
मधुरा त्वं रामदत्ताभूः पूर्णचन्द्रस्तु वारुणी । वणिक्सुमित्रदत्तोऽहं सिंहचन्द्रस्तवात्मजः ॥६४॥
[1]दष्टः श्रीभूतिपूर्वेण भुजगेन पिता गजः । संजातो ग्राहितो धर्मं मया स मदवारणः ॥६५॥
दुर्भुजङ्गचरो मृत्वा चमरो चमरातुरा । रौद्रः कुक्कुटसर्पोऽभूद् रुक्षपक्षपरिग्रहः ॥६६॥
सोपवासव्रतश्रान्तः स विश्रान्तमदः करी । ग्रस्तः कुक्कुटसर्पेण सहस्रारमगात्सुधीः ॥६७॥
विमाने श्रीप्रभे तत्र श्रीधरः श्रीधरोऽमरः[3] । अप्सरोभिरमा भोगी धर्मेण रमतेऽधुना ॥६८॥
क्रोधाद् धम्मिल्लपूर्वेण मर्कटेन हतस्तदा । पापः कुक्कुटसर्पोऽगात्पृथिवीं बालुकाप्रभाम् ॥६९॥
म्लेच्छः शृगालदत्तस्तद्दन्तिदन्तास्थिमौक्तिकम् । दत्तवान् धनमित्राय पूर्णचन्द्राय वाणिजः ॥७०॥
दन्तास्थिभिरयं तुष्टः कारयित्वा नृपासनम् । हारमारं तु मुक्ताभिरथास्ते तद्विमर्त्ति तम् ॥७१॥
अहो संसारवैचित्र्यं देहिनामिह मोहिनाम् । पितुरङ्गानि जायन्ते भोगाङ्गानि पराङ्गवत् ॥७२॥
निशम्य शमिनो वाक्यं[4] रामदत्ता प्रमादिनम् । तदशेषमुदाहृत्य पूर्णचन्द्रमबोधयत् ॥७३॥
दानपूजातपःशीलसम्यक्त्वमनुपाल्य सः । कल्पे तस्मिन् विमानेऽभूद्वैडूर्यप्रभनामनि ॥७४॥
रामदत्ताऽपि सम्यक्त्वात्स्त्रैणमुत्सृज्य तत्र तु । प्रभंकरविमानेऽभूद्देवः सूर्यप्रभाभिधः ॥७५॥
सिंहचन्द्रमुनिः सम्यगाराधितचतुष्टयः । ग्रैवेयकेऽहमिन्द्रोऽभूत्स प्रीतिंकरसंज्ञके ॥७६॥

थी ॥६२॥ मृगायण मरकर साकेत नगरमें राजा अतिबल और उसकी रानी श्रीमतीके तुम्हारी माँ हिरण्यवती हुआ है ॥६३॥ उसकी मधुरा ब्राह्मणी तू रामदत्ता हुई है, वारुणीका जीव तेरा छोटा पुत्र पूर्णचन्द्र हुआ है, और वणिक् सुमित्रदत्तका जीव मैं तेरा सिंहचन्द्र नामका पुत्र हुआ हूँ ॥६४॥ पिता सिंहसेनको श्रीभूतिके जीव अगन्धन सर्पने डँस लिया था इसलिए मरकर वे हाथी हुए थे। मैंने उन्हें हाथीकी पर्यायमें श्रावकका धर्म धारण कराया था ॥६५॥ श्रीभूति पुरोहितका जीव साँप हुआ था फिर चमरी मृग हुआ। तदनन्तर चमरमृगके लिए आतुर होता हुआ मरकर रूखे पंखोंको धारण करनेवाला दुष्ट कुक्कुट सर्प हुआ ॥६६॥ पिताका जीव जो हाथी हुआ था वह उपवासका व्रत लेकर शिथिल पड़ा हुआ था और उसका सब मद सूख गया था उसी दशामें पुरोहितके जीव कुक्कुट सर्पने उसे डँस लिया जिससे वह अच्छे परिणामोंसे मरकर सहस्रार स्वर्ग गया ॥६७॥ वह वहाँ श्रीप्रभ नामक विमानमें लक्ष्मीको धारण करनेवाला श्रीधर नामका देव हुआ है और इस समय धर्मके प्रभावसे भोगोंसे युक्त हो अप्सराओंके साथ रमण कर रहा है ॥६८॥ धम्मिल्लका जीव जो मर्कट हुआ था उसने हाथीका घात करनेवाले कुक्कुट सर्पको क्रोधवश मार डाला जिससे वह मरकर बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरकमें गया ॥६९॥ किसी शृगालदत्त नामक भीलने उस हाथीके दाँत, हड्डी और मोती इकट्ठे कर धनमित्र सेठके लिए दिये और धनमित्रने राजा पूर्णचन्द्रके लिए समर्पित किये ॥७०॥ राजा पूर्णचन्द्र उन्हें पाकर बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने दाँतोंकी हड्डियोंसे सिंहासन बनवाया है और मोतियोंसे बड़ा हार तैयार करवाया है। इस समय वह उसी सिंहासनपर बैठता है और उसी हारको धारण करता है ॥७१॥ अहो ! मोही प्राणियोंकी संसारकी विचित्रता तो देखो कि जहाँ अन्य प्राणियोंके अंगके समान पिताके अंग भी भोगके साधन हो जाते हैं ॥७२॥ मुनिराज सिंहचन्द्रके वचन सुनकर आर्यिका रामदत्ताने जाकर प्रमादमें डूबे पूर्णचन्द्रको वह सब बताकर अच्छी तरह समझाया ॥७३॥ जिससे वह दान, पूजा, तप, शील और सम्यक्त्वका अच्छी तरह पालन कर उसी सहस्रार स्वर्गके वैडूर्यप्रभ नामक विमानमें देव हुआ ॥७४॥ रामदत्ता भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे स्त्री पर्यायको छोड़कर उसी सहस्रार स्वर्गके प्रभंकर नामक विमानमें सूर्यप्रभ नामका देव हुई ॥७५॥ और सिंहचन्द्र मुनि भी अच्छी तरह चार

१. दृष्टः म. । २. लक्ष्मीधरः । ३. एतन्नामधेयः । ४. वाच्यं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूर्यप्रभसुरश्च्युत्वा जम्बूद्वीपस्य भारते । वैताढ्यदक्षिणश्रेण्यां धरणीतिलके पुरे ॥७७॥
भूभृतोऽतिबलस्याभूत्सम्यक्त्वच्युतिदोषतः । सुलक्षणमहादेव्यां श्रीधराख्या शरीरजा ॥७८॥
अलकापतये दत्ता सा सुदर्शनभूभुजे । स वैडूर्यविमानेशस्तस्यां जाता यशोधरा ॥७९॥
दत्तायामुत्तरश्रेण्यां प्रभाकरपुरेशिने । सूर्यावर्त्ताय जातोऽस्यां सुतोऽसौ श्रीधरोऽमरः ॥८०॥
तस्मै तु रश्मिवेगाय राज्यं दत्त्वा पिता ततः । मुनिचन्द्रसमीपेऽसौ मोक्षार्थी तपसि स्थितः ॥८१॥
गुणवत्यार्यिकापार्श्वे श्रीधरा सयशोधरा । सम्यग्दर्शनसंशुद्धा प्रव्रज्यां प्रत्यपद्यत ॥८२॥
रश्मिवेगोऽन्यदा यातः[1] सिद्धकूटं ववन्दिषुः[2] । हरिचन्द्रमुनेस्तत्र धर्मं श्रुत्वामवद्यतिः ॥८३॥
काञ्चनाख्यगुहायां तं स्वाध्यायध्वनिपावनम् । आर्ये ते वन्दितुं याते रश्मिवेगं महामुनिम् ॥८४॥
बालुकाप्रभभूमेर्यो निर्यातो नारकश्चिरम् । स संसृत्य गुहायां हि जातः सोऽजगरोऽत्र तु ॥८५॥
कायोत्सर्गस्थितं साधुमुपसर्गनिरीक्षणात् । आर्ये च ते समर्यादे सोऽगिलद्विपुलोदरः ॥८६॥
रश्मिवेगो मृतः कल्पे कापिष्टे श्रेष्ठधीरभूत् । अर्कप्रभस्तथात्रार्ये विमाने रुचके सुरौ ॥८७॥
महाशत्रुररौ मृत्वा रौद्रध्यानदुराशयः । पङ्कप्रभां भुवं प्राप्तः पापपङ्ककलङ्कितः ॥८८॥
प्रीतिंकरविमानेशः सिंहचन्द्रचरश्च्युतः । अपराजितसुन्दर्योः पुत्रश्चक्रपुरेऽजनि ॥८९॥
चक्रायुधाभिधानस्य चित्रमालास्य भामिनी । तस्यामर्कप्रभश्च्युत्वा जातो वज्रायुधः सुतः ॥९०॥

आराधनाओंकी आराधना कर प्रीतिंकर नामक ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए ॥७६॥ रामदत्ताका जीव जो सूर्यप्रभ देव हुआ था वहाँ उसका सम्यग्दर्शन छूट गया था इसलिए आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत हो वह विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर जो धरणीतिलक नामका नगर है उसके राजा अतिबलकी सुलक्षणा नामक महादेवीके श्रीधरा नामकी पुत्री हुआ ॥७७-७८॥ श्रीधरा, अलका नगरीके स्वामी राजा सुदर्शनको दी गयी और उसके पूर्णचन्द्रका जीव जो वैडूर्यप्रभ विमानका स्वामी था वहाँसे चयकर यशोधरा नामकी पुत्री हुआ ॥७९॥ यशोधरा, उत्तर श्रेणीपर स्थित प्रभाकरपुरके स्वामी राजा सूर्यावर्तके लिए दी गयी और उसके राजा सिंहसेनका जीव जो श्रीधर देव हुआ था वह वहाँसे चयकर रश्मिवेग नामका पुत्र हुआ ॥८०॥ तदनन्तर जब राजा सूर्यावर्त मोक्षकी अभिलाषासे उस रश्मिवेग पुत्रके लिए राज्य देकर मुनिचन्द्र गुरुके समीप तप करने लगा तब श्रीधरा और यशोधराने भी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो गुणवती आर्यिकाके पास दीक्षा ले ली ॥८१-८२॥ एक समय रश्मिवेग वन्दना करनेकी इच्छासे सिद्धकूट गया था कि वहाँ हरिचन्द्र मुनिसे धर्म श्रवण कर मुनि हो गया ॥८३॥ एक दिन महामुनि रश्मिवेग, कांचन नामक गुहामें स्वाध्याय करते हुए विराजमान थे कि श्रीधरा और यशोधरा नामकी आर्यिकाएँ उनकी वन्दनाके लिए वहाँ गयीं ॥८४॥ श्रीभूति पुरोहितका जीव जो बालुकाप्रभा पृथिवीमें नारकी हुआ था वह चिरकालके बाद वहाँसे निकलकर तथा संसारमें परिभ्रमण कर उसी गुहामें अजगर हुआ था ॥८५॥ उपसर्ग आया देख मुनि रश्मिवेग कायोत्सर्गमें स्थित हो गये और दोनों आर्यिकाओंने भी सावधिक संन्यास ले लिया। विशाल उदरका धारक वह अजगर उन तीनोंको निगल गया ॥८६॥ रश्मिवेग मरकर कापिष्ठ स्वर्गमें उत्तम बुद्धिके धारक अर्कप्रभ देव हुए और दोनों आर्यिकाएँ भी उसी स्वर्गके रुचक विमानमें देव हुईं ॥८७॥ जिसका हृदय रौद्रध्यानसे दूषित था ऐसा महाशत्रु अजगर पापरूपी पंकसे कलंकित हो मरकर पंकप्रभा नामक चौथी पृथिवीमें उत्पन्न हुआ ॥८८॥ सिंहचन्द्रका जीव जो प्रीतिंकर विमानका स्वामी था वह वहाँसे च्युत हो चक्रपुर नामक नगरके राजा अपराजित और रानी सुन्दरीके चक्रायुध नामका पुत्र हुआ। चक्रायुधकी स्त्री चित्रमाला थी और उसके मुनि रश्मिवेगका जीव (रानी रामदत्ताका पति राजा सिंहसेनका

१. जातः म. । २. वन्दितुमिच्छुः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीधरापूर्वको देवः पृथिवीतिलके पुरे । प्रियंकरातिवेगाभ्यां रत्नमालाभवत्सुता ॥९१॥
वज्रायुधाय सा दत्ता तस्यां रत्नायुधः सुतः । जातो यशोधरापूर्वः[1] सुरः पूर्वसुकर्मणः ॥९२॥
चक्रायुधः श्रियं न्यस्य सुते वज्रायुधे तपः । पिहितास्रवपादान्ते कृत्वान्ते[2] निर्वृतिं श्रितः ॥९३॥
वज्रायुधोऽपि विन्यस्य राज्यं रत्नायुधे तपः । दध्रे राज्यमदोन्मत्तः स च मिथ्यात्वमागतः ॥९४॥
जलावगाहनायास्य राजहस्त्यन्यदा गतः । मुनिदर्शनतः स्मृत्वा जातिं नापः पिबत्यसौ ॥९५॥
तस्य मेघनिनादस्य राज्ञा कृत्यमजानता । वज्रदत्तमुनिः पृष्टः कारणं प्रत्यभाषत ॥९६॥
चित्रकारपुरेऽत्राभूत्प्रीतिभद्रो नरेश्वरः । दयिता सुन्दरी तस्य पुत्रः प्रीतिंकरस्तयोः ॥९७॥
चित्रबुद्धिस्तथा मन्त्री कमला तस्य कामिनी । विचित्रमतिरित्यासीत्तनयः सनयोऽनयोः ॥९८॥
अमात्यराजपुत्रौ तौ श्रुत्वा तु तपसः फलम् । श्रुतसागरपादान्ते युवानौ तपसि स्थितौ ॥९९॥
तौ च निर्वाणधामानि पश्यन्तौ कान्तदर्शनौ । साकेतमन्यदा यातौ नानाविधतपोधनौ ॥१००॥
गणिकां बुद्धिसेनाख्यां तत्र दृष्ट्वातिरूपिणीम् । भग्नः कर्मवशान्नाग्न्यान्मन्त्रिपुत्रस्त्वपत्रपः[3] ॥१०१॥
राज्ञः स गन्धमित्रस्य सूपकारपदे स्थितः । मांसपाकविशेषज्ञो लेभे तां गणिकां ततः ॥१०२॥
स भुक्त्वामानया कामं सर्वतोऽविरतात्मकः । मांसाशनप्रियो मृत्वा सप्तमीं पृथिवीमितः ॥१०३॥

जीव) अर्कप्रभ देव कापिष्ठ स्वर्गसे च्युत हो वज्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥८९-९०॥ श्रीधरा आर्यिकाका जीव जो कापिष्ठ स्वर्गमें देव हुआ था, वहाँसे च्युत हो पृथिवीतिलक नगरमें राजा प्रियंकर और अतिवेगा रानीके रत्नमाला नामकी पुत्री हुआ ॥९१॥ रत्नमाला वज्रायुधके लिए दी गयी और उसके आर्यिका यशोधराका जीव जो कापिष्ठ स्वर्गमें देव हुआ था वहाँसे च्युत हो पूर्व पुण्यके उदयसे रत्नायुध नामका पुत्र हुआ ॥९२॥ चक्रायुध, वज्रायुध पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर पिहितास्रव मुनिके पादमूलमें तप करने लगा और अन्तमें निर्वाणको प्राप्त हुआ ॥९३॥ राजा वज्रायुधने भी राज्यका भार रत्नायुध पुत्रके लिए सौंपकर तप धारण कर लिया। परन्तु रत्नायुध राज्यके मदसे उन्मत्त हो मिथ्यादृष्टि हो गया ॥९४॥ राजा रत्नायुधका एक मेघनिनाद नामका मुख्य हस्ती था। एक समय वह जलावगाहनके लिए गया था परन्तु बीचमें मुनिराजका दर्शन होनेसे उसे जाति स्मरण हो गया जिससे उसने पानी नहीं पिया ॥९५॥ राजा रत्नायुध मेघनिनादके इस कार्यको नहीं समझ सका इसलिए उसने वज्रदत्त नामक मुनिराजसे इसका कारण पूछा। उत्तरमें मुनिराज कहने लगे ॥९६॥

इसी भरत क्षेत्रके चित्रकारपुरमें एक प्रीतिभद्र नामका राजा रहता था। उसकी सुन्दरी नामकी स्त्री थी और दोनोंके प्रीतिंकर नामका पुत्र था ॥९७॥ राजा प्रीतिभद्रका एक चित्रबुद्धि नामका मन्त्री था। मन्त्रीकी स्त्रीका नाम कमला था और दोनोंके विचित्रमति नामका नीतिवेत्ता पुत्र था ॥९८॥ राजपुत्र प्रीतिंकर और मन्त्रिपुत्र विचित्रमति दोनोंने एक बार श्रुतसागर मुनिसे तपका फल सुना और दोनों ही युवावस्थामें उनके चरणोंके समीप रहकर तप करने लगे ॥९९॥ जो देखनेमें बहुत सुन्दर थे और नाना प्रकारका तपश्चरण ही जिनका धन था ऐसे वे दोनों मुनि एक समय सिद्ध क्षेत्रोंके दर्शन करते हुए साकेत नगर पहुँचे ॥१००॥ साकेतनगरमें एक बुद्धिसेना नामकी वेश्या बहुत सुन्दरी थी। उसे देखकर मन्त्रिपुत्र विचित्रमति कर्मोदयके कारण मुनिपदसे भ्रष्ट हो गया और उसने निर्लज्ज हो मुनिपद छोड़ दिया ॥१०१॥ विचित्रमति, मुनिपदसे भ्रष्ट हो राजा गन्धमित्रका रसोइया बन गया। वह मांस बनानेमें अत्यन्त निपुण था। इसलिए अपनी कलासे राजाको प्रसन्न कर उसने वरस्वरूप वह वेश्या प्राप्त कर ली ॥१०२॥ जिसकी आत्मा समस्त पापोंसे अविरत थी—जिसे किसी भी पापके करनेमें संकोच नहीं था तथा जो मांस

१. यशोधरापूर्वं म.। २. मृत्वान्ते म. ग.। ३. अपगता त्रपा लज्जा यस्य सः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वर्त्यापि ततो भ्रान्त्वा संसारं सारवर्जितम् । जातः पापविशेषेण मारणो मत्तवारणः ॥१०४॥
साधुदर्शनयोगेन जातिस्मृतिमुपागतः । निन्दन् मन्दरुचिः कर्म गजोऽयमुपशान्तवान् ॥१०५॥
तदाकर्ण्य करीन्द्रोऽसौ नरेन्द्रश्च यतेर्वचः । मिथ्याकलङ्कमुत्सृज्य जातौ श्रावकतायुजौ ॥१०६॥
पङ्कप्रभाविनिर्यातो नारकोऽप्यभवत्पुनः । मङ्गीदारुणयोर्व्याधो नामकर्मातिदारुणः ॥१०७॥
वने प्रियङ्गुखण्डेऽसौ वज्रायुधमहामुनिम् । ध्याधो विव्याध योगस्थं सोऽपि सर्वार्थसिद्धिमैत्[1] ॥१०८॥
महातमःप्रभां प्राप्तो मृत्वा व्याधोऽतिदारुणः । दुःखमन्वभवत्सोऽस्यां घोरं मुनिवधोद्भवम् ॥१०९॥
मृत्वा श्रावकधर्मेण रत्नमालाच्युतेऽमरः । जातो रत्नायुधश्चापि तत्रैव सुरसत्तमः ॥११०॥
द्वीपे च धातकीखण्डे पूर्वमेरोश्च पश्चिमे । विदेहे गन्धिलादेशे राज्ञोऽयोध्यापतेः सुतौ ॥१११॥
अर्हद्दासस्य तौ देवौ सुव्रताजिनदत्तयोः । जातौ वीतभयः सीरी चक्री चात्र विभीषणः ॥११२॥
पृथ्वीं रत्नप्रभां यातो जीवितान्ते विभीषणः । अनिवृत्तिमुनेस्त्वन्ते कृत्वा वीतभयस्तपः ॥११३॥
जातः स लान्तवेन्द्रोऽहमादित्याभो मयाप्यसौ । नारको बोधितो गत्वा विभीषणचरस्ततः ॥११४॥
जम्बूद्वीपविदेहे यो विषयो गन्धमालिनी । तत्र रौप्यगिरौ[2] चारौ[3] चारुखेचरगोचरे[4] ॥११५॥
प्राणी श्रीधर्मणः पूर्वः श्रीदत्तायामजायत । श्रीदामनामधेयोऽसौ मया मेरौ प्रबोधितः ॥११६॥

खानेका प्रेमी हो चुका था ऐसा विचित्रमति उस वेश्याके साथ इच्छानुसार भोग भोगकर मरा और मरकर सातवें नरक गया ॥१०३॥ वहाँसे निकलकर इस असार संसारमें भटकता रहा। अब किसी पाप विशेषके कारण आपका हिंसाशील मदोन्मत्त हाथी हुआ है ॥१०४॥ मुनिराजके दर्शनका योग पाकर यह जाति-स्मरणको प्राप्त हुआ है और इसीलिए संसारमें मन्दरुचि हो अपने कार्यकी निन्दा करता हुआ शान्त हो गया है ॥१०५॥ वज्रदत्त मुनिराजके उक्त वचन सुनकर वह मेघनिनाद हाथी और राजा रत्नायुध दोनों ही मिथ्यात्वरूपी कलंकको छोड़ श्रावकके व्रतसे युक्त हो गये ॥१०६॥ श्रीभूति पुरोहितका जीव, जो अजगर पर्यायसे पंकप्रभा पृथिवीमें गया था वह वहाँसे निकलकर मंगी और दारुण नामक भील-भीलनीके नाम और कार्य दोनोंसे ही अतिदारुण पुत्र हुआ। भावार्थ—उस पुत्रका नाम अतिदारुण था और उसका काम भी अति दारुण—अत्यन्त कठोर था ॥१०७॥ एक दिन राजा सिंहसेनके जीव वज्रायुध महामुनि प्रियंगुखण्ड नामक वनमें ध्यानारूढ़ थे कि उस अतिदारुण भीलने उन्हें मार डाला। महामुनि मरकर सर्वार्थसिद्धि गये और वह अतिदारुण भील मरकर महातमःप्रभा नामक सातवीं पृथिवीमें गया जहाँ मुनिवधसे उत्पन्न घोर दुःख उसे भोगना पड़ा ॥१०८-१०९॥ रत्नमाला, मरकर श्रावक धर्मके प्रभावसे अच्युत स्वर्गमें देव हुई तथा रत्नायुध भी उसी स्वर्गमें उत्तम देव हुआ ॥११०॥ धातकीखण्ड द्वीपमें पूर्व मेरुके पश्चिम विदेहमें एक गन्धिला नामका देश है। उसकी अयोध्या नगरीमें राजा अर्हद्दास राज्य करते थे। उनकी सुव्रता और जिनदत्ता नामकी दो रानियाँ थीं। रत्नमाला और रत्नायुधके जीव जो अच्युत स्वर्गमें देव हुए थे वहाँसे च्युत हो उन्हीं दोनों रानियोंके क्रमसे वीतभय नामक बलभद्र और विभीषण नामक नारायण हुए ॥१११-११२॥ इनमें विभीषण तो आयुका अन्त होनेपर रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवीमें उत्पन्न हुआ और वीतभय अनिवृत्ति मुनिके समीप तप कर आदित्याभ नामका लान्तवेन्द्र हुआ। वह लान्तवेन्द्र मैं ही हूँ। मैंने रत्नप्रभा पृथिवीमें जाकर विभीषणके जीव नारकीको अच्छी तरह समझाया ॥११३-११४॥ तदनन्तर इसी जम्बू द्वीपके विदेह क्षेत्रमें जो गन्धमालिनी नामका देश है उसमें विद्याधरोंके मनोहर-मनोहर निवासोंसे युक्त एक अतिशय सुन्दर विजयार्ध पर्वत है। उसी विजयार्धपर श्रीधर्म राजा और श्रीदत्ता नामकी रानी रहती थी। विभीषणका जीव नारकी,

१. अगच्छत् । २. विजयार्धपर्वते । ३. सुन्दरे । ४. गोचरः म., ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्तमतिसंज्ञस्य गुरोः कृत्वातिशिष्यताम् । स चन्द्राभविमानेन्द्रो ब्रह्मलोकेऽभवत्सुरः ॥११७॥
व्याधपूर्वोऽपि सप्तम्या निःसृत्य भुजगोऽभवत् । रत्नप्रभां प्रविश्यैत्य भ्रान्त्वा तिर्यक्षु दुःखमाक् ॥११८॥
स भूतरमणाटव्यामैरावत्यास्तटेऽभवत् । तोकं[1] कनककेश्यां तु तापसस्य खमालिनः ॥११९॥
स पञ्चाग्नितपः कुर्वन् मृगशृङ्गो मृगोपमः । चन्द्राभं खेचरं दृष्ट्वा खेचर तं यदृच्छया ॥१२०॥
निदानी वज्रदंष्ट्रस्य विद्युद्दंष्ट्रोऽयमात्मजः । जातो विद्युत्प्रभागर्भे विद्याविद्योतितोद्यमः ॥१२१॥
वज्रायुधचरश्च्युत्वा जातः सर्वार्थसिद्धितः[2] । संजयन्तः फणीन्द्रस्त्वं जयन्तो ब्रह्मलोकतः ॥१२२॥
एकजन्मापकारेण बहुजन्मसु वैरधीः । अवधीत् सिंहसेनं तं श्रीभूतिचरजीवकः ॥१२३॥
घ्नतोऽस्य घनवैरेण कोपनिघ्नस्य को गुणः । जातः प्रत्युत जातोऽयं सौख्यविघ्नकृदात्मनः ॥१२४॥
उपलभ्य मतं जैनं गजो जन्मनि पञ्चमे । निर्वैरो निर्वृतोऽहिस्त्वं संसरत्येष वैरभाक् ॥१२५॥
वैरबन्धमिति ज्ञात्वा घोरसंसारवर्धनम् । धरणेन्द्र ! विमुञ्च त्वं तथा मिथ्यात्वमप्यरम् ॥१२६॥
इत्यादित्याभदेवेन धरणेन्द्रः प्रबोधितः । मुक्तवैरः स सम्यक्त्वं जग्राह भवतारणम् ॥१२७॥
ततः खण्डितविद्यास्ते छिन्नपक्षाः खगा यथा । खिन्नोद्यमास्तदेत्युक्ता धरणेन्द्रेण खेचराः ॥१२८॥
प्रतिमां व्योमगाः सर्वे संजयन्तस्य पावनीम् । शैले स्थापयतात्राशु पञ्चचापशतोच्छ्रयाम् ॥१२९॥

नरकसे निकलकर इन्हीं दोनोंके श्रीदाम नामका पुत्र हुआ। यह श्रीदाम मुझे एक बार सुमेरु पर्वतपर मिला तो वहाँ भी मैंने उसे समझाया ॥११५-११६॥ जिससे अनन्तमति गुरुका शिष्य बनकर वह ब्रह्मलोक स्वर्गमें चन्द्राभ विमानका स्वामी देव हुआ है ॥११७॥ श्रीभूतिका जीव जो पहले भील था सातवीं पृथिवीसे निकलकर सर्प हुआ। फिर रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवीमें गया, वहाँसे निकलकर तिर्यंचोंमें भ्रमण कर दुःख भोगता रहा ॥११८॥

तदनन्तर भूतरमण नामक अटवीमें ऐरावती नदीके किनारे खमाली नामक तापसकी कनककेशी स्त्रीसे पुत्र उत्पन्न हुआ ॥११९॥ वह मृगके समान था तथा मृगशृंग उसका नाम था। एक बार वह पंचाग्नि तप तप रहा था कि उसकी दृष्टि स्वेच्छासे आकाशमें विचरण करते हुए चन्द्राभ नामक विद्याधरपर पड़ी। विद्याधरको देखकर उसने विद्याधर होनेका निदान किया और उसके फलस्वरूप वह राजा वज्रदंष्ट्रकी विद्युत्प्रभा रानीके गर्भसे, जिसका उद्यम विद्याओंसे प्रकाशमान है ऐसा यह विद्युद्दंष्ट्र नामका पुत्र हुआ है ॥१२०-१२१॥ वज्रायुधका जीव सर्वार्थ-सिद्धिसे च्युत होकर संजयन्त हुआ है और ब्रह्मलोकसे चयकर जयन्तका जीव तू धरणेन्द्र हुआ है ॥१२२॥ देखो वैरकी महिमा, राजा सिंहसेनने श्रीभूति पुरोहितका एक जन्ममें अपकार किया था पर उसी अपकारसे वैर बाँधकर श्रीभूतिके जीवने अनेक जन्मोंमें सिंहसेनका वध किया ॥१२३॥ तीव्र वैरसे क्रोधके वशीभूत हो श्रीभूतिके जीवने सिंहसेनका अनेक बार घात किया अवश्य पर उससे उसे क्या लाभ हुआ ? प्रत्युत उसका यह कार्य अपने ही सुखको नष्ट करनेवाला हुआ ॥१२४॥ सिंहसेनका जीव तो जब हाथी था तभी जैनधर्म प्राप्तकर वैर रहित हो गया था और उसके फलस्वरूप पाँचवें भवमें संजयन्त पर्यायसे मोक्ष चला गया है पर तू नागेन्द्र होकर भी वैरको धारण कर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ॥१२५॥ हे धरणेन्द्र ! इस प्रकार वैर-भावको घोर संसारका वर्धक जानकर तू छोड़ दे और सबका मूल जो मिथ्यादर्शन है उसका भी शीघ्र त्याग कर दे ॥१२६॥ इस प्रकार आदित्याभ देवके द्वारा प्रबोधको प्राप्त हुए धरणेन्द्रने सब वैर-भाव छोड़कर संसारसागरसे पार करानेवाला सम्यग्दर्शन धारण कर लिया ॥१२७॥

तदनन्तर विद्याओंके खण्डित हो जानेसे जो पंख कटे पक्षियोंके समान खेद-खिन्न हो रहे थे ऐसे उन विद्याधरोंसे धरणेन्द्रने कहा कि हे समस्त विद्याधरो ! तुम सब शीघ्र ही इस पर्वतपर

१. पुत्रः । 'पुत्रः सुनूरपत्यं च तुक्तोकं चात्मजः प्रजा' इत्यमरः । २. भूतपूर्वो वज्रायुध इति वज्रायुधचरः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्याश्चरणमूले वः पुरश्चरणकारिणाम् । कालेन महता क्लेशाद्विद्याः सिद्धयन्तु नान्यथा ॥१३०॥
इतः प्रभृति च स्त्रीणां विद्युद्दंष्ट्रस्य संततौ । प्रज्ञप्तिरोहिणीगौर्यः सिद्धयन्तु न नृणां तु ताः ॥१३१॥
इत्युक्तमनुमन्यैते खगाः प्रणतिपूर्वकम् । विद्याः स्वा लेभिरे भूयो यथास्वं च ययुः सुराः ॥१३२॥
खेचराः स्थापयांचक्रुस्तां यतेः प्रतियातनाम् । नानोपकरणां तत्र हेमरत्नमयीं गिरौ ॥१३३॥
हृतविद्या यतस्तत्र ह्रीमन्तस्तस्थुरानताः । विद्याधरास्ततः शैलं ह्रीमन्तं तं जना जगुः ॥१३४॥
भूभृतो रत्नवीर्यस्य मथुरायां पृथुश्रियः । स मेरुर्मेघमालायां लान्तवेन्द्रोऽभवत्सुतः ॥१३५॥
अमितप्रभया तस्य प्रिययालाभि भूपतेः । धरणेन्द्रचरः पुत्रो मन्दरश्चन्द्रसुन्दरः ॥१३६॥
युवानौ तौ ततो भुक्त्वा कामभोगान् यथेप्सितान् । श्रेयसो जिनचन्द्रस्य शिष्यतामुपजग्मतुः ॥१३७॥
स मेरुर्मेरुनिष्कम्पः प्राप्य केवलसंपदम् । निर्वृतौ तु गणेन्द्रत्वं मन्दरो मन्दरोपमः ॥१३८॥

रथोद्धतावृत्तम्

संजयन्तचरितं जगत्त्रये सुप्रसिद्धमतिभक्तिभावतः ।
संभवन्तु भुवि भव्यजन्तवः संस्मरन्तु जिनतां यियासवः[1] ॥१३९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ संजयन्तपुराणवर्णनो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥२७॥

□

संजयन्त स्वामीकी पाँच सौ धनुष ऊँची प्रतिमा स्थापित करो। उसी प्रतिमाके पादमूलमें उनकी सेवा करते हुए तुम लोगोंको बहुत समय बाद बड़े कष्टसे विद्याएँ सिद्ध होंगी अन्य प्रकारसे नहीं ॥१२८–१३०॥ आजसे विद्युद्दंष्ट्रके वंशमें केवल स्त्रियोंको ही प्रज्ञप्ति, रोहिणी और गौरी नामकी विद्याएँ सिद्ध हो सकेंगी पुरुषोंको नहीं ॥१३१॥ इस प्रकार धरणेन्द्रकी आज्ञाको विद्याधरोंने नमस्कारपूर्वक स्वीकार किया तथा यथायोग्य विधिसे अपनी विद्याएँ पुनः प्राप्त कीं। यह सब होनेके बाद देव यथास्थान चले गये ॥१३२॥ विद्याधरोंने धरणेन्द्रकी आज्ञानुसार उस पर्वतपर नाना उपकरणोंसे युक्त एवं सुवर्ण और रत्नोंसे निर्मित संजयन्त स्वामीकी प्रतिमा स्थापित करायी ॥१३३॥ विद्याओंके हरे जानेसे लज्जित हो नीचा मस्तक किये हुए विद्याधर चूँकि उस पर्वतपर बैठे थे इसलिए लोग उस पर्वतको ह्रीमन्त कहने लगे ॥१३४॥ मथुरामें विशाल लक्ष्मीका धारक रत्नवीर्य नामका राजा रहता था। उसकी मेघमाला नामकी स्त्री थी, आदित्याभ नामका लान्तवेन्द्र उन्हीं दोनोंके मेरु नामका पुत्र हुआ ॥१३५॥ उसी राजा रत्नवीर्यकी दूसरी स्त्री अमितप्रभा थी, उसके धरणेन्द्रका जीव चन्द्रमाके समान सुन्दर मन्दर नामका पुत्र हुआ ॥१३६॥

तदनन्तर युवा होनेपर दोनोंने इच्छानुसार कामभोगोंका उपभोग किया और उसके बाद दोनों ही, श्री श्रेयान्सनाथ जिनेन्द्रके शिष्य हो गये—दीक्षा लेकर मुनि हो गये ॥१३७॥ उनमें मेरु पर्वतके समान निष्कम्प मेरु मुनिराज केवलज्ञानरूपी सम्पत्तिको प्राप्त कर मोक्ष चले गये और मन्दरगिरिकी उपमाको धारण करनेवाले मन्दर मुनिराज श्रेयान्सनाथ भगवान्‌के गणधर हो गये ॥१३८॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि इस पृथिवीपर जो भव्य जीव तीर्थंकर पद प्राप्त करना चाहते हैं वे तीनों लोकोंमें अतिशय प्रसिद्ध संजयन्त स्वामीके इस चरितका उत्कट भक्ति-भावसे आदर करें तथा उसीका अच्छी तरह स्मरण करें ॥१३९॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें संजयन्त पुराणका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२७॥

१. यातुमिच्छवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टाविंशः सर्गः

अतः परं[1] परं शौरेः शृणु श्रेणिक ! चेष्टितम् । वेगवत्या वियुक्तस्य पुण्यपौरुषयोगिनः ॥१॥
पर्यटन्नटवीं वीरस्तापसाश्रममश्रमः । प्रविष्टोऽपश्यदाविष्टविकथान्[2] तत्र तापसान् ॥२॥
राजयुद्धकथासक्ताः यूयं किमिति तापसाः । तापसास्तपसा युक्तास्तपो वाक्संयमादिकम् ॥३॥
इति पृष्टा जगुस्ते तं विशिष्टजनवत्सलाः । नवप्रव्रजिता वृत्तिं मौनीं विद्मो वयं न भोः ॥४॥
श्रावस्त्यामस्ति विस्तीर्णयशस्तीर्णमहार्णवः । एणीपुत्र इति क्षोणीपतिरक्षीणपौरुषः ॥५॥
प्रियङ्गुसुन्दरी तस्य दुहिता लोकसुन्दरी । तस्याः स्वयंवरार्थं तु तेनाहूता वयं नृपाः ॥६॥
केनापि हेतुना कोऽपि न वृतो वृतया श्रिया । कन्यया वन्यहस्तिन्या वन्येतरगजो यथा ॥७॥
भूपाः संभूय भूयांसो विलक्षा लोभलक्षिताः । कन्यापित्रा ततः सत्रा सद्यो योद्धुं समुद्यताः ॥८॥
तेन भोः क्षुभितान्याशु सहस्राणि महीभुजाम् । संकोचितानि संग्रामे नेत्राणि रविणा यथा ॥९॥
तुङ्गाभिमानिनः केचिद् भङ्गाङ्गीकरणाक्षमाः[3] । रणाङ्गणगता भूपाः प्राणान् सद्यो हि तत्यजुः ॥१०॥
विश्वेऽप्यश्वरवात्तस्मात्सहस्रकरतो वयम् । ध्वान्तौघा इव भीता भोः प्रविष्टा गह्वरं वनम् ॥११॥
कुरु धर्मोपदेशं मो धर्मतत्त्वमजानताम् । त्वं वचोभिरलं मृष्टैर्दृष्टतत्त्वोऽभिलक्ष्यसे ॥१२॥

अथानन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब तुम वेगवतीसे रहित तथा पुण्य और पुरुषार्थके समागमको प्राप्त वसुदेवका आगेका चरित सुनो ॥१॥ एक दिन बिना किसी थकावटके अटवीमें भ्रमण करते हुए वीर वसुदेवने तपस्वियोंके आश्रममें प्रवेश किया और वहाँ विकथा करते हुए तापसोंको देखा ॥२॥ कुमारने उनसे कहा—अये तापसो ! आप लोग इस तरह राज-कथा और युद्ध-कथामें आसक्त क्यों हैं ? क्योंकि तापस वे कहलाते हैं जो तपसे युक्त हों और तप वह कहलाता है जिसमें वचन संयम आदिका पालन किया जाय अर्थात् वचनोंको वशमें किया जाय ॥३॥ इस प्रकार कहनेपर विशिष्ट आगन्तुकसे स्नेह रखनेवाले उन तपस्वियोंने कहा कि हमलोग अभी नवीन ही दीक्षित हुए हैं। इसलिए मुनियोंकी वृत्तिको जानते नहीं हैं ॥४॥ इसी श्रावस्ती नगरीमें विस्तृत यशसे समुद्रको पार करनेवाला एवं अखण्ड पौरुषका धारक एक एणीपुत्र नामका राजा है ॥५॥ उसकी लोकमें अद्वितीय सुन्दरी प्रियंगुसुन्दरी नामकी कन्या है। उसके स्वयंवरके लिए एणीपुत्रने हम सब राजाओंको बुलाया था ॥६॥ परन्तु किसी कारणवश, जिस प्रकार वनकी हस्तिनी वनके हस्तीके सिवाय किसी दूसरे हस्तीको नहीं वरती है उसी प्रकार उस शोभासम्पन्न कन्याने किसीको नहीं वरा ॥७॥ तदनन्तर जो कन्याके लोभसे युक्त थे, परन्तु उसके प्राप्त न होनेसे मन-ही-मन लज्जित हो रहे थे, ऐसे बहुतसे राजा मिलकर कन्याके पिताके साथ शीघ्र ही युद्ध करनेको तैयार हो गये ॥८॥ परन्तु जिस प्रकार एक ही सूर्य हजारों नेत्रोंको अकेला ही संकोचित कर देता है उसी प्रकार उस अकेले एणीपुत्रने हजारों राजाओंको शीघ्र ही क्षुभित कर संकोचित कर दिया ॥९॥ उत्कट अभिमानसे भरे कितने ही राजाओंने जो पराजयको स्वीकृत करनेमें समर्थ नहीं थे, युद्धके मैदानमें जाकर शीघ्र ही प्राण त्याग दिये ॥१०॥ जिस प्रकार सूर्यसे डरकर अन्धकारके समूह सघन वनमें जा घुसते हैं उसी प्रकार हम सब भी घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे युक्त युद्धसे डरकर इस सघन वनमें आ घुसे हैं ॥११॥ भो महाशय ! हम लोग धर्मका कुछ भी

---

१. श्रेष्ठम् । २. -दाविष्टदिग्वासांस्तत्र क., ग. घ., ङ. । ३. रणाङ्गीकरणक्षमाः क., भङ्गाङ्गीकरणक्षमाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृष्टस्तथा तथा शौरिस्तेषां धर्मं द्विधाभ्यधात् । यतिश्रावकभेदज्ञाः श्रामण्यं ते यथा ययुः ॥१३॥
प्रियङ्गुसुन्दरीलाभलोभेन यदुनन्दनः । श्रावस्तीं वस्तुविस्तारविश्रुतां तामशिश्रियत् ॥१४॥
बाह्योद्याने च तत्रासौ कामदेवगृहेऽग्रतः । त्रिपादं कृत्रिमं हैमं महामहिषमैक्षत ॥१५॥
पप्रच्छ विप्रमेकं भो किमेष महिषस्त्रिपाद् । निर्मितो रत्ननिर्माणो भाव्यमत्र हि हेतुना ॥१६॥
स प्राहैवमिहैवासूत्पुर्यां भूपतिरार्यकः । इक्ष्वाकुर्जितशत्रुस्तत्पुत्रश्चापि मृगध्वजः ॥१७॥
श्रेष्ठी तु कामदत्तोऽत्र गोष्ठं द्रष्टुं गतोऽन्यदा । पपात पादयोस्तस्य कृपणो महिषोऽल्पकः ॥१८॥
ततश्चाश्चर्यकृत् कार्यं यथास्वं स्वामिनाऽमुना । [1]पिण्डारी दण्डकस्तत्र पृष्टः कारणमब्रवीत् ॥१९॥
उत्पन्नदिन एवास्योपरि करुणा मेऽभवत् । [2]वने दृष्ट्वा मुनिं नत्वा पृष्टवान् तमहं पुनः ॥२०॥
अस्योपरि किमर्थं मे करुणा महती मुने । स बभाण मुनिर्ज्ञानी शृणु गोपाऊ ! निश्चितम् ॥२१॥
एकस्यामेव चामुष्यां महिष्यामेष जातवान् । पञ्चकृत्वो वराकस्तु जातो जातो हतस्त्वया ॥२२॥
वारे षष्ठे तु तन्निष्ठकनिष्ठस्य तवैषकः[3] । सहसोत्थाय संत्रस्तः पादयोः पतितः शिशुः ॥२३॥
कृपया स मयाऽत्रायं पुत्रवत्परिपालितः । जीवितार्थी तवेदानीं पतितः पादयोरिह ॥२४॥
श्रुत्वैवं कृपया तेन समानीतः पुरीमसौ । अभयं राजलोकेभ्यो लब्ध्वावर्द्धिष्ट मद्गृहे ॥२५॥

तत्त्व नहीं जानते। इसलिए आप हम लोगोंको धर्मका उपदेश दीजिए। आपके मधुर वचनोंसे पता चलता है कि आपने धर्मका तत्त्व अच्छी तरह देखा है ॥१२॥ इस प्रकार उन सबके पूछनेपर वसुदेवने उन्हें श्रावक और मुनिके भेदसे दोनों प्रकारका धर्म बतलाया जिससे वे मुनि और श्रावकके भेदको अच्छी तरह जानकर यथार्थ साधु अवस्थाको प्राप्त हुए ॥१३॥

तदनन्तर प्रियंगुसुन्दरीके लाभके लोभसे प्रेरित हो कुमार वसुदेवने वस्तुओंके विस्तारसे प्रसिद्ध उस श्रावस्ती नगरीमें प्रवेश किया ॥१४॥ वहाँ उन्होंने बाह्य उद्यानमें कामदेवके मन्दिरके आगे निर्मित तीन पाँवका एक बड़ा भारी सुवर्णमय भैंसा देखा ॥१५॥ उसे देखकर उन्होंने एक ब्राह्मणसे पूछा कि हे महानुभाव! यहाँ यह रत्नमयी तीन पाँवोंका भैंसा किसलिए बनाया गया है? इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए ॥१६॥ ब्राह्मणने कहा कि इस नगरमें पहले शत्रुओंको जीतनेवाला एक इक्ष्वाकुवंशीय जितशत्रु नामका उत्तम राजा था और उसका मृगध्वज नामक पुत्र था ॥१७॥ इसी नगरमें एक कामदत्त नामका सेठ रहता था। वह एक समय गोशाला देखनेके गया तो वहाँ एक दीन-हीन छोटा-सा भैंसा उसके चरणोंपर आ गिरा ॥१८॥ उसका यह आश्चर्यजनक कार्य देख सेठने गोशालाके अधिकारी पिण्डार नामक गोपालसे इसका कारण पूछा ॥१९॥ गोपालने कहा जिस दिन यह उत्पन्न हुआ था उसी दिनसे इसपर मुझे बहुत दया उत्पन्न हुई थी इसलिए मैंने वनमें विराजमान मुनिराजके दर्शनकर नमस्कार पूर्वक उनसे इसके विषयमें पूछा था ॥२०॥ कि हे मुनिनाथ! इसके ऊपर मेरे हृदयमें बहुत भारी दया क्यों उत्पन्न हुई है? इसके उत्तरमें ज्ञानी मुनिराजने कहा था कि हे गोपाल! सुन, मैं इसका कारण कहता हूँ ॥२१॥ यह बेचारा इसी एक भैंसके पाँच बार उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही तू ने इसे मार डाला ॥२२॥ अब छठवीं बार भी उसी भैंसके उत्पन्न हुआ है, अबकी बार इसे जाति स्मरण हुआ है इसलिए भयभीत हो सहसा उठकर तेरे पैरोंपर आ गिरा था। छोटे बच्चोंका संरक्षण भी तो तेरे ही आधीन था ॥२३॥

मुनिराजके उक्त वचन सुनकर मैंने यहाँ पुत्रवत् इसका पालन किया है। अब जीवित रहनेकी इच्छासे यह यहाँ आपके चरणोंमें भी गिरा है ॥२४॥ गोपालके वचन सुनकर वह सेठ दयापूर्वक उस भैंसके बच्चेको अपने साथ नगर ले गया और राज-कर्मचारियोंसे उसे अभय

---

१. पेण्डारो म.। २. वनं म.। ३. ममैषकः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यदान्यभवोपात्तवैरबन्धानुबन्धतः । पादं चकर्त्त चक्रेण महिषस्य मृगध्वजः ॥२६॥
राज्ञा विज्ञाय [1]चाज्ञप्ते मृगध्वजवधे रुषा । छद्मना मन्त्रिणा नीत्वारण्ये श्रामण्यमापितः ॥२७॥
भद्रके भद्रभावेन मृते चाष्टादशेऽहनि । द्वाविंशे केवली जातः शुद्धध्यानान्मृगध्वजः ॥२८॥
चतुर्णिकायदेवैः स मर्त्यैश्च कृतपूजनः । संपृष्टो वैरसंबन्धः पित्रा नु जितशत्रुणा ॥२९॥
मृगध्वजमुनिः प्राह देवदानवमानवैः । कथाकर्णनसंतुष्टचित्तकर्णपुटैर्वृतः ॥३०॥
प्रतिशत्रुस्त्रिपिष्टस्य द्रोह्यभूदलकापुरे । अश्वग्रीव इति ख्यातो विद्याधरमहेश्वरः ॥३१॥
सचिवस्तस्य निस्तीर्णतर्कमार्गमहार्णवः । [3]हरिश्मश्रुवदस्पृश्यो हरिश्मश्रु इति श्रुतः ॥३२॥
नास्तिकैकान्तवादी स प्रत्यक्षैकप्रमाणकः । प्रत्यक्षानुपलभ्यं यत्तन्नास्तीत्यभ्युपेतवान् ॥३३॥
चतुर्भूतसमूहेऽस्मिन् किण्वादौ मदशक्तिवत् । चैतन्यशक्तिरत्यन्तमसत्येव भवत्यसौ ॥३४॥
आत्मेति व्यवहारोऽत्र लोकस्य न विरुध्यते । न भूतव्यतिरिक्तोऽस्ति संसार्यनुपलब्धितः ॥३५॥
पुण्यापुण्यविधाता यो भोक्ता च सुखदुःखयोः । [4]इष्टो ज्ञैस्तस्य वा दृष्टेरभावात् पारलौकिकः ॥३६॥
नारकस्वर्गतिर्यक्त्वविकल्पोऽज्ञविकल्पितः । भोगाधिष्ठात्रधिष्ठानः परलोको न विद्यते ॥३७॥

दिलाकर उसका भद्रक नाम रख दिया। भद्रक दिन-प्रति-दिन बड़ा होने लगा ॥२५॥ किसी समय राजपुत्र मृगध्वजने अन्य भवसम्बन्धी वैरके संस्कारसे चक्रके द्वारा उस भैंसेका एक पाँव काट डाला ॥२६॥ राजाको जब इस बातका पता चला तो उसने क्रोधमें आकर मृगध्वजको मारनेका आदेश दे दिया। मन्त्री बुद्धिमान् था इसलिए उसने मृगध्वजको मारा तो नहीं किन्तु किसी छलसे वनमें ले जाकर उसे मुनि दीक्षा दिला दी ॥२७॥ भद्रक शुभ परिणामोंसे अठारहवें दिन मर गया और बाईसवें दिन निर्मल ध्यानके प्रभावसे मृगध्वज मुनि केवलज्ञानी हो गये ॥२८॥ चारों निकायके देव तथा मनुष्योंने आकर मृगध्वज केवलीकी पूजा की। तदनन्तर पिता जितशत्रुने मृगध्वज केवलीसे मृगध्वज तथा भैंसेके वैरका सम्बन्ध पूछा ॥२९॥ तदनन्तर कथाके सुननेसे जिनके चित्त तथा हृदय प्रसन्न हो रहे थे ऐसे देव, दानव और मानवोंसे घिरे मृगध्वज मुनि इस प्रकार कहने लगे ॥३०॥

किसी समय अलका नगरीमें प्रथम नारायण त्रिपिष्टका प्रतिशत्रु—प्रतिनारायण, अश्वग्रीव नामसे प्रसिद्ध विद्याधरोंका राजा रहता था ॥३१॥ उसका हरिश्मश्रु नामका एक मन्त्री था जिसने तर्कशास्त्र रूपी महासागरको पार कर लिया था और सिंहकी मूँछके समान जिसका स्पर्श करना कठिन था ॥३२॥ हरिश्मश्रु एकान्तवादी नास्तिक तथा सिर्फ प्रत्यक्षको प्रमाण माननेवाला था इसलिए जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं दिखती थी उसे वह 'है ही नहीं' ऐसा मानता था ॥३३॥ उसका कहना था कि जिस प्रकार आटा आदिमें मद शक्ति पहले नहीं थी किन्तु विभिन्न वस्तुओंका संयोग होनेपर नवीन ही उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतोंके समूह स्वरूप इस शरीरमें जो पहले बिलकुल ही नहीं थी ऐसी नवीन ही चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥३४॥ इसी चैतन्य शक्तिमें 'यह आत्मा है' ऐसा लोगोंका व्यवहार विरुद्ध नहीं होता अर्थात् उस चैतन्य शक्तिको लोग आत्मा कहते रहें इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। यथार्थमें पृथिव्यादि भूतोंसे अतिरिक्त कोई संसारी आत्मा नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती ॥३५॥ पुण्य-पापका कर्ता, सुख-दुःखका भोक्ता और परलोकमें जानेवाला जो अज्ञानी जनोंने मान रखा है वह नहीं है क्योंकि वह दिखाई नहीं पड़ता ॥३६॥ भोगोंके अधिष्ठाता-आत्माके रहनेका आधार, तथा नरक देव और तिर्यंचोंके भेदसे युक्त जिस परलोककी कल्पना अज्ञानी जनोंने कर रखी है वह नहीं

१. चाज्ञप्तेर्मृग -म.। २. वर्णन म.। ३. सिंहश्मश्रुवत्। ४. इष्टाज्ञैः म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानवृत्तिविशेषस्य शक्यो यश्च विनिश्चितः । मोक्षो मोक्तुरभावास्य न युक्तो निःप्रमाणकः ॥३८॥
भूतसंश्लेषजातस्य भूतविश्लेषनाशिनः । सुखिनश्चिद्विशेषस्य संयमो भोगनाशनः ॥३९॥
इत्येकान्तकुतर्केण रञ्जितः सचिवः स च । आगमानुमितिज्ञेय[1]जीवाद्यर्थात् परोचनः ॥४०॥
परलोककथापोढदुःकथामूढमानसः । [2]कामभोगैकनिष्ठोऽभूत्कनिष्ठो धर्मदूषकः ॥४१॥
नास्तिकस्य तथा तस्य प्रेत्य[3]भावापलापिनः । तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादिमहापुरुषदूषिणः ॥४२॥
हरिश्मश्रोर्दुरीहस्य हरिकण्ठोऽपि[4] नास्तिकः । धर्मकुण्ठोऽपि भावेन नित्याविष्टोऽवतिष्ठते ॥४३॥
अश्वग्रीवो हतो युद्धे त्रिपिष्टेन तमस्तमः । विजयेन हरिश्मश्रुः प्राविशन्नरकं ततः ॥४४॥
चिरं संसृत्य जातोऽहं हयग्रीवो मृगध्वजः । हरिश्मश्रुः पुना राजन् भद्रको महिषोऽधुना ॥४५॥
पूर्वकोपानुबन्धेन मयैव महिषो हतः । अकामनिर्जरातोऽभूल्लोहिताख्यो[5] महासुरः ॥४६॥
आगतो वन्दनाभक्त्या देवभूत्याधुना युतः । आस्तेऽयमत्र जातेन मित्रभावेन भावितः ॥४७॥
क्रोधानुबन्धमित्येकं सत्त्वान्धीकरणक्षमम् । विनियम्य महाराज ! शाम्यन्तु शिवकाङ्क्षिणः ॥४८॥
राजाद्याः प्राव्रजन् श्रुत्वा प्रशान्तो महिषासुरः । निःशल्यो लौल्यमुज्झित्वा रराज सभाजनः ॥४९॥
[6]गताः केवलिनं नत्वा ससुरासुरमानवाः । यथास्वं स्थानमन्ये च सिद्धस्थानं मृगध्वजः ॥५०॥

है ॥३७॥ विशिष्ट ज्ञानवान् मनुष्योंको ही जिसकी प्राप्ति शक्य एवं सुनिश्चित की गयी है ऐसा मोक्ष मानना भी निष्प्रमाण है क्योंकि जब मुक्त होनेवाला आत्मा ही नहीं है तब मोक्षका मानना उचित कैसे हो सकता है ? ॥३८॥ जो भूतोंके संयोगसे उत्पन्न होता है और भूतोंके वियोगसे नष्ट हो जाता है ऐसे सुखके उपभोक्ता चेतनके लिए संयम धारण करना भोगोंको नष्ट करना है ॥३९॥ इस प्रकार जो एकान्त मत रूपी कुतर्कोंसे रँगा हुआ था, आगम तथा अनुमान प्रमाणके द्वारा ज्ञेय जीवादि पदार्थोंसे सदा पराङ्मुख रहता था, परलोक सम्बन्धी कथाओंसे रहित दुष्ट कथाओंमें ही जिसका मन मूढ रहता था और जो धर्मकी निन्दा करता रहता था ऐसा वह क्षुद्र मन्त्री निरन्तर काम भोगोंमें ही आसक्त रहता था ॥४०-४१॥ नास्तिक, परलोकके अपलापी, तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंको दोष लगानेवाले और खोटी चेष्टासे युक्त हरिश्मश्रु मन्त्रीके संसर्गसे अश्वग्रीव भी नास्तिक बन गया जिससे वह भी धर्मसे विमुख एवं भवों द्वारा पिशाचादिसे निरन्तर आक्रान्त हुएके समान रहने लगा ॥४२-४३॥ तदनन्तर किसी समय युद्धमें अश्वग्रीवको त्रिपिष्ट नारायणने और हरिश्मश्रुको विजय बलभद्रने मार गिराया जिससे वे दोनों ही मरकर तमस्तमः नामक सातवें नरक गये ॥४४॥ हे राजन् ! चिर काल तक अनेक योनियोंमें भ्रमण कर अश्वग्रीवका जीव तो मैं मृगध्वज हुआ हूँ और हरिश्मश्रुका जीव इस समय भद्रक नामका भैंसा हुआ है ॥४५॥ पूर्व क्रोधके संस्कारसे मैंने ही उस भैंसेको मारा था और अकामनिर्जराके प्रभावसे वह लोहित नामका असुर हुआ है ॥४६॥ वह लोहितासुर इस समय वन्दनाकी भक्तिसे यहाँ आया है और देवोंकी विभूतिसे युक्त हो मित्र भावसे यहीं बैठा है ॥४७॥ हे महाराज ! यह क्रोधका संस्कार प्राणीको अन्धा बना देनेमें समर्थ है इसलिए जो मोक्षकी इच्छा रखते हैं वे इसे रोककर शान्त हों ॥४८॥ मृगध्वज केवलीके मुखसे यह वृत्तान्त सुन जितशत्रुको आदि लेकर कितने ही राजाओंने दीक्षा ले ली। महिषासुर शान्त हो गया और सभाके लोग लोलुपता छोड़, शल्य रहित हो सुशोभित होने लगे ॥४९॥ तदनन्तर देव-दानव और केवलीको नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये और केवली मृगध्वज सिद्ध स्थानपर जा विराजे ॥५०॥ गौतम स्वामी

१. ज्ञेयो जीवाद्यर्थात् म. । २. कामभोगैः कनिष्ठोऽभूत् म. । ३. प्रेत्याभावाप -म. । ४ अश्वग्रीवोऽपि । ५. लोहिताक्षो क. । ६. गत्वा म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्यागीतिच्छन्दः

[1]महिषमृगध्वजवृत्तं यः सततं शुद्धवृत्तमनसि धत्ते ।
स भजति दृष्टिविशुद्धिं जिनदृष्टपदार्थगोचरां भव्यजनः ॥५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मृगध्वजमहिषोपाख्यानवर्णनो नाम अष्टाविंशः सर्गः ॥२८॥



कहते हैं कि जो भव्य जीव इस महिषासुर और मृगध्वजके वृत्तान्तको सदा अपने शुद्ध हृदयमें धारण करता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा इष्ट पदार्थोंको विषय करनेवाली दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शनकी निर्मलताको प्राप्त होता है ॥५१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मृगध्वज और महिषके चरितका वर्णन करनेवाला अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२८॥



१. महिषध्वज म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकोनत्रिंशः सर्गः

कामदत्तो जिनागारपुरो लोकप्रवेशने । मृगध्वजस्य प्रतिमां स न्यधान्महिषस्य च ॥१॥
अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमां व्यधात् । जिनागारे समस्तायाः प्रजायाः कौतुकाय सः ॥२॥
कामदेवरतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः । जिनायतनमागत्य प्रेक्ष्य तत्प्रतिमाद्वयम् ॥३॥
संविधानकमाकर्ण्य तद् भाद्रकमृगध्वजम् । बहवः प्रतिपद्यन्ते जिनधर्ममहर्दिवम् ॥४॥
प्रसिद्धं च गृहं जैनं कामदेवगृहाख्यया । कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमताप्तये ॥५॥
व्यतिक्रान्तेषु बहुषु संजातपुरुषेष्विह । कामदेवाभिधः श्रेष्ठी कामदत्तान्वयेऽधुना ॥६॥
रूपयौवनसंपूर्णा पूर्णचन्द्रसमानना । कन्या बन्धुमती तस्य बन्धुलोकातिनन्दिनी ॥७॥
आदिष्टः पितृपृष्टेन दैवज्ञेन नरो वरः । तस्याः स्मरगृहद्वारमुद्घाट्य स्मरपूजनः ॥८॥
एवंविधवचः श्रुत्वा तद्गृहद्वारमेत्य सः । द्वात्रिंशदर्गलादुर्गमुद्घाट्य सहसाविशत् ॥९॥
ततोऽभ्यर्च्य जिनेन्द्रार्चाः सोऽर्चयत् सरतिस्मरम् । चैत्यार्चनार्थमेतेन कामदेवेन वीक्षितः ॥१०॥
तेन नैमित्तिकादेशसंवादमुदितात्मना । दत्ता बन्धुमती तस्मै बन्धुराधरबन्धुरा ॥११॥
कामदः कामदेवेन कामदेवस्य कामिनः । जामाता कामदेवाभः कोऽपि दत्त इतीदृशी ॥१२॥
वार्ता प्रादुरभूत्पुर्यामतस्तस्यामितोऽमुतः । राज्ञान्तःपुरपौरैश्च दृष्टः स्वैरमसौ ततः ॥१३॥

अथानन्तर सेठ कामदत्तने, जहाँ लोगोंका आना-जाना अधिक था ऐसे स्थानपर नगरमें जिनमन्दिरके आगे मृगध्वज केवलीकी प्रतिमा और महिषकी मूर्ति स्थापित की ॥१॥ सेठने इसी मन्दिरमें समस्त प्रजाके कौतुकके लिए कामदेव और रतिकी भी मूर्ति बनवायी ॥२॥ कामदेव और रतिको देखनेके कौतूहलसे जगत्के लोग जिन-मन्दिरमें आते हैं और वहाँ स्थापित दोनों प्रतिमाओंको देखकर मृगध्वज केवली और महिषका वृत्तान्त सुनते हैं जिससे अनेकों पुरुष प्रतिदिन जिनधर्मको प्राप्त होते हैं ॥३-४॥ यह जिनमन्दिर कामदेवके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध और कौतुकवश आये हुए लोगोंको जिनधर्मकी प्राप्तिका कारण है ॥५॥ उसी कामदत्त सेठके वंशमें अनेक लोगोंके उत्पन्न हो चुकनेके बाद इस समय एक कामदेव नामका सेठ उत्पन्न हुआ है ॥६॥ उसकी रूप और यौवनसे पूर्ण, पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली तथा बन्धुजनोंको आनन्दित करनेवाली बन्धुमती नामकी एक कन्या है ॥७॥ पिताके पूछनेपर निमित्तज्ञानीने बताया था कि जो मनुष्य कामदेवके मन्दिरका दरवाजा खोलकर कामदेवकी पूजा करेगा वही इसका पति होगा ॥८॥

ब्राह्मणके इस प्रकारके वचन सुन वसुदेव कामदेवके मन्दिरके द्वारपर पहुँचे और बत्तीस अर्गलाओंसे दुर्गम उस द्वारको खोलकर शीघ्र ही भीतर जा पहुँचे ॥९॥ भीतर जाकर वसुदेवने प्रथम तो जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाओंकी पूजा की और उसके बाद रति सहित कामदेवकी पूजा की। उसी समय कामदेव सेठ प्रतिमाओंकी पूजाके लिए मन्दिरमें आया था सो उसने वसुदेवको देखा ॥१०॥ तदनन्तर निमित्तज्ञानीके आदेशकी सचाईसे जिसकी आत्मा प्रसन्न हो रही थी ऐसे कामदेव सेठने सुन्दर ओठोंसे सुशोभित अपनी बन्धुमती कन्या वसुदेवके लिए प्रदान कर दी ॥११॥ उसी समय नगरीमें चारों ओर यह समाचार फैल गया कि वरके अभिलाषी सेठ कामदेवके लिए कामदेवने, मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला एवं कामदेवके समान आभावाला कोई अद्भुत जामाता

---

१. निमित्तज्ञेन, ज्योतिर्विदा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रियङ्गुसुन्दरी तं च कथंचिदवलोक्य सा । अनुरक्ता तथा जाता विरक्ताभूद् यथाम्भसि ॥१४॥
रहस्यावाह्य चापृच्छद्य तां स्वां बन्धुमतीं सखीम् । पत्युर्वल्लभिकासि त्वं वैदग्ध्यं चास्य कीदृशम् ॥१५॥
सास्यै मुग्धावदत्तस्य विदग्धस्य विचेष्टितम् । तथा यथा गता मोहं स्वसंवेद्यसुखासिकम् ॥१६॥
साभिमानमुदस्यान्तं तस्यै[1] द्वाःस्थमजीगमत् । तत्समागममिच्छाशु स्त्रीवधं वेत्स्यनुत्तरम् ॥१७॥
अन्याय्यमुभयं चैतदिति संचिन्त्य यादवः । व्याजेन केनचिद्दक्षः कालक्षेपमयोजयत् ॥१८॥
लब्धप्रत्याशया कन्या शौरिविन्यस्तधीरसौ । शयने निशि संपूर्णं मन्यमाना मनोरथम् ॥१९॥
बन्धुमत्युपगूढाङ्गं सुप्तमन्धकवृष्णिजम् । ज्वलनप्रभनागस्त्री[2] रात्रौ दिव्या व्यबोधयत् ॥२०॥
विबुद्धो देहभूषाभाभासिताखिलदिङ्मुखाम् । तां दृष्ट्वा नागचिह्नां स्त्रीं केयमत्रेत्यचिन्तयत् ॥२१॥
आहूतश्च तया धीरः प्रियालापविदग्धया । अशोकवनिकां[3] नीत्वा नीत्यामाषि विनीतया ॥२२॥
शृणु त्वं धीर ! विश्रब्धो ममागमनकारणम् । तर्प्यते श्रवणे येन त्वामृतरसेन वा ॥२३॥
आसीदमोघविक्रान्तिः समाक्रान्तारिमण्डलः । अमोघदर्शनो नाम्ना नरेन्द्रश्चन्दने वने ॥२४॥
कान्ता चारुमतिश्चारुश्चारुचन्द्रोऽस्य देहजः । नीतिपौरुषसंपन्नो नवयौवनभूषितः ॥२५॥
रङ्गसेना च गणिका कलागुणगणान्विता । सुता कामपताकास्याः कामस्येव पताकिका ॥२६॥

दिया है। इस समाचारसे प्रेरित होकर राजाने, उसके अन्तःपुरकी स्त्रियोंने, तथा नगरवासी लोगोंने इच्छानुसार वसुदेवको देखा ॥१२-१३॥ राजपुत्री प्रियंगुसुन्दरीने भी उन्हें किसी तरह देख लिया और देखकर वह उनपर इतनी अनुरक्त हो गयी कि पानीसे विरक्त हो गयी अर्थात् भोजन पानीसे भी उसे अरुचि हो गयी ॥१४॥ प्रियंगुसुन्दरीने अपनी सखी बन्धुमतीको एकान्तमें बुलाकर उससे पूछा कि हे सखी ! तुम पतिको बहुत प्यारी हो, कहो इनकी चतुराई कैसी है ? ॥१५॥ भोलीभाली बन्धुमतीने चतुर वसुदेवकी चेष्टाओंका प्रियंगुसुन्दरीके लिए इस ढंगसे वर्णन किया कि वह एकदम स्वसंवेद्य सुखसे युक्त मोहको प्राप्त हो गयी ॥१६॥ निदान प्रियंगुसुन्दरीने अभिमान छोड़कर द्वारपालको यह संदेश देकर वसुदेवके पास भेजा कि या तो हमारे साथ समागम करो या शीघ्र ही हत्या स्वीकृत करो ॥१७॥ 'यह दोनों ही काम अनुचित है' यह विचारकर वसुदेव चिन्तामें पड़ गये। अन्तमें वे चतुर तो थे ही इसलिए किसी बहाने उन्होंने कुछ समय तक ठहरनेका समाचार कहला भेजा ॥१८॥ वसुदेवमें जिसकी बुद्धि लग रही थी ऐसी प्रियंगुसुन्दरीको उनकी प्राप्तिकी आशा हो गयी और इसी आशासे वह रात्रिके समय शय्यापर अपने मनोरथको पूर्ण हुआ ही मानने लगी ॥१९॥

एक दिन रात्रिके समय कुमार वसुदेव बन्धुमतीका गाढ़ आलिंगन कर सो रहे थे कि एक ज्वलनप्रभा नामकी दिव्य नागकन्याने आकर उन्हें जगा दिया ॥२०॥ कुमार जाग गये और शरीर तथा आभूषणोंकी कान्तिसे जिसने समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर दिया था तथा जिसके शिरपर नागका चिह्न था ऐसी उस स्त्रीको देखकर वे विचार करने लगे कि यह कौन स्त्री यहाँ आयी है ? ॥२१॥ उसी समय प्रिय वार्तालाप करनेमें निपुण नागकन्याने धीर, वीर कुमारको बुलाया और बड़ी विनयके साथ नीतिपूर्वक अशोकवाटिकामें ले जाकर कहा कि हे धीर ! निश्चिन्त होकर मेरे आनेका कारण सुनिए। वह कारण कि जिससे तुम्हारे कान अमृत रसके समान तृप्त हो जावेंगे ॥२२-२३॥

हे धीर वीर कुमार ! चन्दनवन नामक नगरमें, अमोघ शक्तिका धारक एवं शत्रुमण्डलको वश करनेवाला अमोघदर्शन नामका राजा था ॥२४॥ उसकी चारुमति नामकी स्त्री थी और दोनोंके नीति तथा पुरुषार्थसे युक्त नवयौवनसे सुशोभित चारुचन्द्र नामका पुत्र था ॥२५॥ उसी नगरमें कला और गुणोंके समूहसे सहित एक रंगसेना नामकी वेश्या थी और उसकी कामपताका

१. तस्या म. । २. नागश्री म. । ३ वनितां म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राविक्षद् यागदीक्षायै क्षितिपो धर्ममोहितः । तापसाः कौशिकाद्याश्च तदायाता जटाधराः ॥२७॥
नृत्यन्त्या च नृपादेशात् तया कामपताकया । व्यक्तं कामपताकात्वं हरन्त्या हृदयं नृणाम् ॥२८॥
शास्त्रकौशलतायुक्तो मूलपत्रफलाशनः । कौशिकः क्षुभितो यत्र तत्रान्यस्य तु का कथा ॥२९॥
यागकर्मणि निर्वृत्ते सा कन्या राजसूनुना । स्वीकृता तापसा भूयं भक्तं कन्यार्थमागताः ॥३०॥
कौशिकायात्र तैस्तस्यां याचितायां नृपोऽवदत् । कन्या सोढा[1] कुमारेण यातेत्युक्तास्तु ते ययुः ॥३१॥
सर्पीभूयापि हन्तव्यो मया त्वमपि भूपते । आक्रुश्य कौशिको यातः क्लिशितेनान्तरात्मना ॥३२॥
अभिषिच्य नृपस्त्रस्तो धरित्रीधरणे सुतम् । अव्यक्तगर्भया देव्या सहाभूत्तापसस्तया ॥३३॥
तापस्यपि सुतां लेभे तारसाश्रममूषिणीम् । ऋषिदत्तास्वया ख्यातां भूषितामप्यभिख्यया ॥३४॥
अणुव्रतानि सा लेभे चारणश्रमणान्तिके । यौवनं च नवं यूनां मनोनयनबन्धनम् ॥३५॥
शान्तायुधसुतः श्रीमान् श्रावस्तीपतिरेकदा । शीलायुध इति ख्यातस्तं यातस्तापसाश्रमम् ॥३६॥
एकयैव कृतातिथ्यस्तया तापसकन्यया । रुच्याहारैर्मनोहारिसवल्ककलकुचश्रिया ॥३७॥
अतिविश्रम्भतः[2] प्रेम तयोरप्रतिरूपयोः । विभेद निजमर्यादां चिरं समनुपालिताम् ॥३८॥
गतो रहसि निःशङ्कां निःशङ्कस्तामसौ युवा । अरीरमद् यथाकामं कामपाशवशो वशाम् ॥३९॥

नामकी पुत्री थी जो सचमुच ही कामकी पताकाके समान जान पड़ती थी ॥२६॥ एक बार धर्म-अधर्मके विवेकसे रहित राजा अमोघदर्शनने यज्ञदीक्षाके लिए प्रवेश किया। उसी समय जटाओंको धारण करनेवाले कौशिक आदि ऋषि भी आये ॥२७॥ उस यज्ञोत्सवमें राजाकी आज्ञासे काम-पताकाने नृत्य किया। ऐसा नृत्य, कि मनुष्योंके हृदयको हरण करती हुई उसने स्पष्ट कर दिया कि मैं यथार्थमें कामकी पताका ही हूँ ॥२८॥ उस नृत्यको देखकर शास्त्रोंकी निपुणतासे युक्त तथा वृक्षोंके मूल पत्र और फलोंको खानेवाला कौशिक ऋषि भी क्षोभको प्राप्त हो गया तब अन्य-की तो कथा ही क्या थी ? ॥२९॥ यज्ञ कार्य समाप्त होनेपर राजपुत्र चारुचन्द्रने उस कन्या—कामपताकाको स्वीकृत कर लिया। उसी समय कौशिक ऋषिके शिष्य कुछ तापस राजाको भक्त जान कन्याकी याचना करनेके लिए वहाँ आये ॥३०॥ जब उन्होंने कौशिक ऋषिके लिए काम-पताकाकी याचना की तब राजाने कहा कि वह कन्या तो राजकुमारने विवाह ली है। आपलोग जावें। राजाके इस प्रकार कहनेपर वे तापस चले गये ॥३१॥ कन्याके न मिलनेसे कौशिककी आत्मामें बड़ा संक्लेश उत्पन्न हुआ। वह राजाके पास गया और 'हे राजन्! तूने मुझे कन्या नहीं दी है इसलिए मैं सर्प बनकर भी तुझे मारूँगा' इस प्रकार आक्रोशपूर्ण वचन कहकर चला आया ॥३२॥ राजा, कौशिकके आक्रोशपूर्ण वचन सुनकर डर गया इसलिए पुत्रका राज्या-भिषेककर अव्यक्त गर्भवाली रानी चारुमतिके साथ तापस हो गया ॥३३॥ कुछ समय बाद तापसी चारुमतिने तपस्वियोंके आश्रमको सुशोभित करनेवाली, एवं अनुपम शोभासे सुशोभित ऋषिदत्ता नामकी कन्याको जन्म दिया ॥३४॥ कन्या ऋषिदत्ताने एक बार चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके समीप अणुव्रत धारण किये। धीरे-धीरे उस कन्याने तरुण पुरुषोंके मन और नेत्रोंको बाँधनेवाला नवयौवन प्राप्त किया ॥३५॥ एक समय शान्तायुधका पुत्र, लक्ष्मीसे सुशोभित एवं शीलायुध नामसे प्रसिद्ध श्रावस्तीका राजा तपस्वियोंके उस आश्रममें पहुँचा ॥३६॥ उसे देख अकेली ऋषिदत्ता कन्याने रुचिवर्धक उत्तम आहार देकर उसका अतिथि सत्कार किया। कन्या ऋषिदत्ता सुन्दरी तो थी ही उसपर वल्कलोंके कारण उसके स्तनोंकी शोभा और भी अधिक मनोहारिणी हो गयी थी ॥३७॥ फल यह हुआ कि अनुपम रूपको धारण करनेवाले उन दोनोंके प्रेमने विश्वासकी अधिकतामें चिरकालसे पाली हुई अपनी-अपनी मर्यादा तोड़ दी ॥३८॥ कामपाशसे बँधा युवा शीलायुध निःशंक

१. सा + ऊढा इतिच्छेदः । २. अतिविश्रमतः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यजिज्ञपत् ततस्तं सा साध्वी साध्वसपूरिता[1] । ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदि स्यां गर्भधारिणी ॥४०॥
तदा वद विधेयं मे किमिहाकुलचेतसा[2] । पृष्टस्तया[3] स तामाह माकुला मू प्रिये ! शृणु ॥४१॥
इक्ष्वाकुकुलजो राजा श्रावस्त्यामस्तशात्रवः । शीलायुधस्त्वयावश्यं द्रष्टव्योऽहं सपुत्रया ॥४२॥
इत्याश्वास्य रहस्येनामाश्लिष्य विरहासहः । तावन्निजबलं प्राप्तं तापसाश्रमगोचरम् ॥४३॥
दृष्ट्वा तुष्टेन तेनामा प्रविष्टो नगरीमसौ । याते नृपे तया पित्रोर्विनिगूह्य ततक्षपाम् ॥४४॥
निवेदितमिदं वृत्तं लोकवृत्तविदग्धया । अन्तर्वत्नी रहःपत्नी निस्त्रपस्य नृपस्य सा ॥४५॥
असूत सुतमुद्गीर्णमिव पित्रानुहारिणम् । प्रसूतिक्लेशतः सा च प्रसूतिसमनन्तरम् ॥४६॥
मृता नागवधूर्जाता ज्वलनप्रभवल्लभा । साहं सम्यक्त्वयोगेन भवप्रत्ययसावधिः ॥४७॥
कृपास्नेहवशात्प्राप्ता पितृपुत्रतपोवनम् । आश्वास्य शोकसंतप्तौ पितरौ पृथुकं[4] तकम्[5] ॥४८॥
एणीस्वरूपिणी स्तन्यपानतोऽवर्द्धयत्ततः । पिता कौशिकपूर्वेण दंदशूकेन वैरिणा ॥४९॥
स दष्टोऽमोघमन्त्रेण जीवितं प्रापितो मया । धर्मोपदेशदानेन दुर्मोचक्रोधदूषितः ॥५०॥
मयासौ ग्राहितो धर्ममयासीद् गतिमर्चिताम् । गताहं पुत्रमादाय तापसीवेषधारिणी ॥५१॥
सोपचारं नृपं दृष्ट्वा तमवोचं नयान्वितम् । तनयस्तव राजेन्द्र ! राजलक्षणराजितः ॥५२॥

होकर एकान्तमें ऋषिदत्ताके पास चला गया और शंकारहित एवं वशीभूत ऋषिदत्ताके साथ उसने इच्छानुसार क्रीड़ा की ॥३९॥ तदनन्तर भयसे युक्त हो तापसी ऋषिदत्ताने राजासे कहा कि हे आर्यपुत्र ! मैं ऋतुमती हूँ यदि गर्भवती हो गयी तो मुझे क्या करना होगा सो बताओ। इस प्रकार व्याकुल चित्तसे युक्त ऋषिदत्ताके पूछनेपर शीलायुधने कहा कि हे प्रिये ! व्याकुल मत होओ। सुनो, मैं शत्रुओंको नष्ट करनेवाला, इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न हुआ श्रावस्तीका राजा शीलायुध हूँ। पुत्रके साथ-साथ तुम मुझे अवश्य ही दर्शन देना अर्थात् पुत्र प्रसवके बाद श्रावस्ती आ जाना ॥४०-४२॥ इस प्रकार आश्वासन देकर तथा एकान्तमें आलिंगन कर विरहसे उत्कण्ठित होता हुआ वह जानेके लिए उद्यत ही था कि इतनेमें उसकी सेना तपस्वियोंके आश्रममें आ पहुँची ॥४३॥ सेनाको देख राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसके साथ नगरीको लौट आया। तदनन्तर राजाके चले जानेपर लोकव्यवहारको जाननेवाली ऋषिदत्ताने लज्जा छोड़कर माता-पिताके लिए यह वृत्तान्त सुना दिया और कह दिया कि मैं निर्लज्ज राजा शीलायुधकी एकान्तमें पत्नी बन चुकी हूँ और गर्भवती हो गयी हूँ ॥४४-४५॥ तदनन्तर नव मास व्यतीत होनेपर ऋषिदत्ताने सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया जो बिलकुल पिताके अनुरूप था और ऐसा जान पड़ता था मानो पिताके द्वारा ही प्रकट किया गया हो। प्रसूतिके समय ऋषिदत्ताको क्लेश अधिक हुआ था इसलिए वह प्रसूतिके बाद ही मर गयी और सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ज्वलनप्रभवल्लभा नामकी नागकुमारी उत्पन्न हुई। वही मैं हूँ, मुझे देव पर्यायके कारण भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी प्रकट हुआ है ॥४६-४७॥ इसलिए उससे पूर्वभवकी सब बात जानकर दया और स्नेहके वशीभूत हो मैं पिता और पुत्रके तपोवनमें गयी। वहाँ शोकसन्तप्त माता-पिताको आश्वासन देकर मैंने अपने उस पुत्रको मृगीका रूप रख दूध पिला-पिलाकर बड़ा किया। तदनन्तर कौशिक ऋषिका जीव निदानके कारण सर्प हुआ था सो उसने पूर्व वैरके कारण हमारे पिताको डस लिया परन्तु मैंने अमोघमन्त्रसे उन्हें जीवन प्राप्त करा दिया—अच्छा कर दिया। मेरे पिता यद्यपि जो छूट न सके ऐसे क्रोधसे दूषित थे तथापि धर्मोपदेश देकर मैंने उन्हें धर्म ग्रहण करा दिया जिससे वे मरकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। तत्पश्चात् तापसीका वेष धारणकर और उस पुत्र-को लेकर मैं राजा शीलायुधके पास गयी ॥४८-५१॥ राजा शीलायुध बड़ी विभूतिसे युक्त तथा

१. भयपूरिता । २. चेतसः म., ग. । ३. तथा म., ग. । ४. पुत्रम् । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । ५. स्वार्थेऽकच्प्रत्ययः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहाण गृहिणीत्यक्तमेणीपुत्राख्यमेतकम् । इत्युक्तेन तु तेनोक्तमपुत्रस्य कुतः सुतः ॥५३॥
कथं वा तापसि ! प्राप्तो दारकोऽयं त्वया वद । वृत्तं मया समस्तं तत्सामिज्ञानं ततोऽकथि ॥५४॥
देवीत्वं च निजं येन स राजात्मजमग्रहीत् । वर्धमानस्य तस्याहं पुत्रस्नेहेन मोहिना[1] ॥५५॥
जातानुपालिनी नित्यं राज्ञश्चेप्सितदायिनी । एणीपुत्रमसौ राजा स्वराज्ये न्यस्य पण्डितः ॥५६॥
प्रव्रज्य मुनिमार्गस्थः स्वर्गलोकमवाप्तवान् । जाता च तनया पश्चादेणीपुत्रस्य रूपिणी ॥५७॥
प्रियङ्गुसुन्दरीनाम्ना प्रियङ्गुश्यामवर्तिनी । स्वयंवरविधौ धीरा प्रत्याख्यातवती च सा ॥५८॥
भूमौ राजसुतान् कामसौख्यभोगविरागिणी । अद्राक्षीद् बन्धुमत्यामा त्वां सा राजगृहे यदा ॥५९॥
ततः परमधत्ताङ्गमनङ्गशरशल्यितम् । तद् विधत्स्व तया वीर ! वचनान्मम संगमम् ॥६०॥
अदत्तेति न चाशङ्क्यं तुभ्यं दत्ता मया हि सा । अस्य राजकुलस्याहं प्रमाणं कार्यवस्तुनि ॥६१॥
अतो मया वितीर्णेयं वितीर्णा पितृबान्धवैः । समागमस्तु वामस्तु देवतासुगृहे ततः ॥६२॥
[3]इवस्तन्यां कृतसंकेतो रजन्यां सुविनिश्चितः । अमोघदर्शनं देव ! देवतानामतो भवान् ॥६३॥
वरित्वा वरमादत्स्व यत् किंचिदिह वाञ्छितम् । इत्युक्तेनैव सावोचि वाचा विनयपूर्वया ॥६४॥
कृतस्मरणया देवि ! स्मर्तव्योऽमोघसस्मिते[4] । एवमुक्ता च तेनासावेवमस्त्विति देवता ॥६५॥

परम नीतिज्ञ था उसे देखकर मैंने कहा कि हे राजेन्द्र ! यह राजाओंके लक्षणोंसे युक्त आपका पुत्र है ॥५२॥ यह आपकी मृत स्त्री द्वारा छोड़ा गया है और एणीपुत्र इसका नाम है। इसे आप ग्रहण कीजिए। मेरे इस प्रकार कहनेपर राजा शीलायुधने कहा कि मैं तो पुत्रहीन हूँ। मेरे पुत्र कहाँसे आया ? ॥५३॥ हे तापसि ! ठीक-ठीक बता यह पुत्र तुझे कैसे प्राप्त हुआ है ? राजाके इस प्रकार पूछनेपर मैंने अभिज्ञान-परिचायक घटनाओंके साथ-साथ वह सब वृत्तान्त कह दिया ॥५४॥ और यह भी कह दिया कि मैं मरकर देवी हुई हूँ। मेरे इस कथनपर विश्वास कर राजा शीलायुधने वह पुत्र ले लिया। पुत्र धीरे-धीरे बढ़ने लगा और मैं मोहयुक्त पुत्रस्नेहके कारण उसकी निरन्तर रक्षा करने लगी। राजा शीलायुधकी जो इच्छा होती थी उसकी मैं तत्काल पूर्ति कर देती थी। कदाचित् परम विवेकी राजा शीलायुध, उस एणीपुत्रको अपने राज्यपर पदारूढ़ कर दीक्षा ले मुनि हो गया और मरकर स्वर्गलोकको प्राप्त हुआ। पश्चात् राजा एणीपुत्रके प्रियंगु-पुष्पके समान श्यामवर्ण, अतिशय रूपवती, प्रियंगुसुन्दरी नामकी पुत्री हुई। राजा एणीपुत्रने उसका स्वयंवर किया परन्तु कामभोगसे विरक्त उस धैर्यशालिनीने पृथिवीतलके समस्त राज-कुमारोंका निराकरण कर दिया अर्थात् किसीके साथ विवाह करना स्वीकृत नहीं किया। तदनन्तर जिस दिनसे उसने राजमहलमें बन्धुमतीके साथ आपको देखा है उसी दिनसे वह कामके बाणोंसे अत्यन्त सशल्य शरीरको धारण कर रही है इसलिए हे वीर ! मेरे कहनेसे तू उसके साथ समागम कर ॥५५-६०॥ वह कन्या अदत्ता है किसीके द्वारा दी नहीं गयी है—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि मैंने तेरे लिए वह कन्या दी है। इस राजकुलके करने योग्य कार्योंमें मैं प्रमाण-भूत हूँ अर्थात् समस्त कार्य मेरी ही सम्मतिसे होते हैं ॥६१॥ इसलिए मैंने तुझे यह कन्या दी मानो इसके पिता और भाइयोंने ही दी है। अतः कामदेवके मन्दिरमें तुम दोनोंका समागम हो और इसके लिए कलकी रातका संकेत निश्चित किया गया है। हे देव ! देवताओंका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता इसलिए आप मुझसे वर माँगकर इस संसारमें जो कुछ भी आपको इष्ट हो वह प्राप्त करो। नागकुमारीके इस प्रकार कहनेपर वसुदेवने विनयपूर्ण वचनों द्वारा उससे कहा कि हे अमोघ मुस्कानको धारण करनेवाली देवि ! मैं यही वर चाहता हूँ कि जब मैं आपका स्मरण करूँ तब आप मेरा ध्यान रखें। वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर उसने 'एवमस्तु' कहा ॥६२-६५॥

१. मोहिनी म.। २. युवयोः। ३. आगामिन्याम्। ४. संमिते म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्धानमिता सोऽपि निजवासमुपागमत् । दैवतोक्तविधानेन देवताया गृहे ततः ॥६६॥
प्रियङ्गुसुन्दरीं शौरी रहसि प्रत्यपद्यत । सा गन्धर्वविवाहासा [1]विहसन्मुखपङ्कजा ॥६७॥
रमिता यदुसूर्येण पद्मिनीव तदा बभौ । प्रियङ्गुसुन्दरीसद्मन्यहान्यस्य बहून्यगुः ॥६८॥
अन्योन्यप्रेमबद्धस्य मिथुनस्य रहस्यतः । कृतं देवतया योगं राज्ञा ज्ञात्वानुरूपयोः ॥६९॥
तोषीलोकप्रकाशार्थं तद्विवाहमकारयत् । ततः सर्वस्य लोकस्य विदितो यदुनन्दनः ॥७०॥
रेमे प्रियङ्गुसुन्दर्या सुन्दर्या सह सुन्दरः । रूपयौवनहारिण्या शच्येव कौशिको[2] यथा ॥७१॥

पृथिवीच्छन्दः

स राजसुतया तया प्रथमबन्धुमत्यापि च
प्रतीतगुणसंपदा गुणकलाकलापश्रिया ।
क्रमेण रतिगोचरे रहसि सेव्यमानः पुरी-
मिमां जिनगृहार्चितां सुचिरमध्युवासार्चितः ॥७२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ बन्धुमतीप्रियङ्गुसुन्दरीलाभवर्णनो नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

□

उक्त वरदान देकर देवी अन्तर्हित हो गयी और वसुदेव अपने निवास स्थानपर आ गये। तदनन्तर देवीसे कहे अनुसार कुमार वसुदेव एकान्त पाकर कामदेवके मन्दिरमें प्रियंगुसुन्दरीके पास गये। कुमारको देख प्रियंगुसुन्दरीका मुख-कमल खिल उठा और गन्धर्व विवाहसे उन्होंने उसे स्वीकृत किया ॥६६-६७॥ उस समय वसुदेवरूपी सूर्यके द्वारा रमणको प्राप्त हुई प्रियंगुसुन्दरी कमलिनीके समान सुशोभित हो रही थी। इस प्रकार प्रियंगुसुन्दरीके घरमें वसुदेवके बहुत दिन निकल गये ॥६८॥ तदनन्तर परस्परके प्रेमसे बँधे हुए इस दम्पतिका यह समागम रहस्यपूर्ण रीतिसे देवीने कराया है—यह जानकर राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने लोकमें प्रकट करनेके लिए उस अनुरूप दम्पतीका विवाह करा दिया। विवाहके पश्चात् सुन्दर वसुदेव सब लोगोंकी जानकारी-में रूप और यौवनके द्वारा मनको हरण करनेवाली सुन्दरी प्रियंगुसुन्दरीके साथ, इन्द्राणीके साथ इन्द्रके समान रमण करने लगे ॥६९-७१॥ इस प्रकार जिनकी गुणरूपी सम्पदाएँ प्रसिद्ध थीं तथा जो गुण और कलाओंके समूहसे लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ऐसी बन्धुमती तथा राजपुत्री प्रियंगुसुन्दरी एकान्त पूर्ण रतिगृहमें क्रमसे जिनकी सेवा करती थीं तथा जो नगरवासियोंके द्वारा अत्यन्त सम्मानको प्राप्त थे ऐसे कुमार वसुदेवने जिन-मन्दिरोंसे सुशोभित इस श्रावस्ती नगरीमें चिरकाल तक निवास किया ॥७२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें बन्धुमती और प्रियंगुसुन्दरीके लाभका वर्णन करनेवाला उनतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२९॥

□

१. गन्धर्वविवाहादिसहसन् म.। २. इन्द्रः 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिंशः सर्गः

अथ [1]कार्तिकराकायां चिरक्रीडातिखेदकः । प्रियङ्गुसुन्दरीगाढभुजबन्धवशः प्रियः ॥१॥
सुखनिद्राप्रसुप्तोऽसौ विबुद्धश्च कुतश्चन । अद्राक्षीद् रूपिणीमेकां कन्यामन्यामिव श्रियम् ॥२॥
अप्राक्षीत् पुण्डरीकाक्षि ! का त्वमत्रेत्यसौ हि सा । ज्ञास्यसे हि कुमारेति तमाहूय विनिर्ययौ ॥३॥
व्यपनीय प्रियाश्लेषमेषोऽनुपदवीमयात् । रम्यहर्म्यतलासीना हेतुं साह निजागमे ॥४॥
आर्यपुत्र ! शृणु श्रीमन्[2] समाधाय निजं मनः । वचो मदीयमप्राप्यवस्तुप्रापणकारणम् ॥५॥
इहास्ति दक्षिणश्रेण्यां देशे गान्धारनामनि । पुरं गन्धसमृद्धाख्यं गन्धाराख्यस्तु तत्पतिः ॥६॥
पृथिवीति महादेवी पृथिवीवास्य वल्लभा । सुता प्रभावती तस्य श्रीरिवाहं प्रभावती ॥७॥
गता मानसवेगस्य स्वर्णनाभपुरं परम् । ज्ञात्वाङ्गारवतीं[3] वार्तां दुहितुः पृष्टवत्यहम् ॥८॥
प्रवृत्तिर्वेगवत्यास्तु तत्सखीभिर्ममोदिता । संगमो यदुचन्द्रेण चित्राया इव च त्वया ॥९॥
तत्रैव नगरे या सा शुद्धशीलविभूषणा । त्वन्नामग्रहणाहारा सोमश्रीरवतिष्ठते ॥१०॥
त्वद्वियोगमहादुःखपाण्डुगण्डालकान्तया । कान्तया प्रहिता तेऽहं संदेशप्रापिणी तया ॥११॥
शीलप्राकाररक्षाहमलङ्घ्यानुनयैररेः । आर्यपुत्रावतिष्ठेयं शत्रुस्थाने कियच्चिरम् ॥१२॥

अथानन्तर कार्तिककी पूर्णिमाके दिन चिरकाल तक क्रीड़ा करनेसे अतिशय खिन्न कुमार वसुदेव प्रियंगुसुन्दरीमें प्रगाढ़ भुजबन्धनसे बँधे सुखकी नींद सो रहे थे कि किसी कारण जाग पड़े। जागते ही उन्होंने सामने खड़ी द्वितीय लक्ष्मीके समान अतिशय रूपवती एक कन्या देखी ॥१-२॥ कुमारने उससे पूछा कि हे कमललोचने ! यहाँ तुम कौन हो ? उत्तरमें कन्याने कहा कि हे कुमार ! थोड़ी देर बाद मेरा सब वृत्तान्त जान लोगे। अभी मेरे साथ आइए—इस प्रकार कुमारको बुलाकर वह कन्या बाहर चली गयी ॥३॥ कुमार भी प्रियाका आलिंगन दूरकर उसके पीछे-पीछे चल दिये। बाहर जाकर वह सुन्दर महलके फर्सपर बैठ गयी और अपने आनेका कारण इस प्रकार कहने लगी ॥४॥

हे आर्यपुत्र ! हे श्रीमन् ! अपना मन स्थिरकर अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिमें कारणभूत मेरे वचन सुनिए ॥५॥ इस विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके गान्धार देशमें एक गन्धसमृद्ध नामका नगर है उसका स्वामी राजा गन्धार है ॥६॥ उसकी पृथिवी नामकी स्त्री है जो उसे पृथिवीके ही समान प्यारी है। मैं उन दोनोंकी साक्षात् लक्ष्मीके समान कान्तिमती प्रभावती नामकी पुत्री हूँ ॥७॥ मैं एक दिन मानसवेगके स्वर्णनाभ नामक उत्तम नगरको गयी थी। वहाँ मैंने मानसवेगकी माता अंगारवतीको जानकर उससे उसकी पुत्री वेगवतीका वृत्तान्त पूछा ॥८॥ वेगवतीकी सखियोंने मुझे उसका समाचार बताया और साथ ही यह भी बताया कि जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ चित्रा नक्षत्रका संगम होता है उसी तरह आपके साथ उसका संगम हुआ है ॥९॥ उसी नगरमें शुद्ध शील ही जिसका आभूषण है तथा आपका नाम ग्रहण करना ही जिसका आहार है ऐसी सोमश्री भी रहती है ॥१०॥ जिसकी अलकावलीके छोर आपके वियोगजन्य महा दुःखसे सफेद-सफेद दिखनेवाले गालोंपर लटक रहे हैं ऐसी आपकी उस सोमश्री प्रियाने मुझे सन्देश लेकर आपके पास भेजा है ॥११॥ उसने कहलाया है कि हे आर्यपुत्र ! यद्यपि मैं शत्रुकी अनुनय-विनयके द्वारा अलंघनीय शीलरूपी प्राकारके अन्दर सुरक्षित हूँ तथापि इस तरह मुझे यहाँ

---

१. कार्तिकपूर्णिमायाम् । २. श्रीमान् म. । ३. ज्ञात्वाङ्गारवती म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षिता शत्रुमात्राहं पुत्रतर्जनशीलया । प्राणिनी [1]प्राणनाथातो मोचनीया लघु त्वया ॥१३॥
अविरामवियोगाया मा कदाचिदिहैव मे । स्याद्विपत्तिरतो वीर ! मोपेक्षिष्ठाः कठोरधीः ॥१४॥
साश्रुलोचनयाजस्रमिति संदिष्टमिष्टया । निवेद्यासीत्कृतार्थाहं कृत्यं पत्यौ त्वयि स्थितम् ॥१५॥
न चागम्यमगस्थानमिति चिन्त्यं त्वया यतः । [2]नेष्ये निमेषमात्रेण तत्र त्वाहं यथेप्सितम् ॥१६॥
साभिज्ञानमभिज्ञोऽसौ तं निशम्य निशाम्य[3] ताम् । प्राह प्रापय सौम्यास्ये सोमश्रीधाम मां द्रुतम्॥१७॥
सा प्राप्तानुमतिः प्रीता खमुत्क्षिप्य प्रभावती[4] । विद्याप्रभावसंपन्ना ययौ विद्युदिवोदिता ॥१८॥
अन्योन्याङ्गसमासंगात् संगताङ्गरुहौ च तौ । खमुल्लङ्घ्य लघु प्राप्तौ स्वर्णनाभपुरं वरम् ॥१९॥
प्रवेशितस्तया स्रस्तरसनांशुकया गृहम् । अप्रकाशमसौ देवः सोमश्रियमवैक्षत ॥२०॥
प्रलम्बालककाम्लानकपोलवदनश्रियम्[5] । स्वान्तभ्रान्तालिसम्लानिसंपद्मामिव पद्मिनीम् ॥२१॥
देवदर्शनपर्यन्तवेणीबन्धेन संगताम् । तनुना सेतुबन्धेन धुनीमिव तदन्तिकम् ॥२२॥
ताम्बूलरागनिर्मुक्तकिंचिद्धूसरिताधराम् । म्लानामीषत्परिम्लानपल्लवामिव वल्लरीम् ॥२३॥
अभ्युत्थितां विभुं वीक्ष्य पीनपाण्डुपयोधराम् । तुष्टः सोमश्रियं दृष्ट्वा शारदीमिव स श्रियम् ॥२४॥
आलिलिङ्गतुरन्योऽन्यं गाढं रोमाञ्चकर्कशौ । पुनर्विरहभीरुत्वादेकतामिव तौ गतौ ॥२५॥

कितनी देर तक रहना होगा ? ॥१२॥ पुत्रको डाँटनेवाली शत्रुकी माता ही मेरी रक्षा कर रही है इसीलिए अबतक जीवित हूँ। हे प्राणनाथ ! इस शत्रुसे आप मुझे शीघ्र छुड़ाइए ॥१३॥ निरन्तर वियोग सहते-सहते कदाचित् मेरी यहींपर मृत्यु न हो जावे इसलिए हे वीर ! कठोर बुद्धि होकर मेरी उपेक्षा न कीजिए ॥१४॥ इस तरह जिसके नेत्र सदा आँसुओंसे युक्त रहते हैं ऐसी सोमश्री द्वारा भेजा हुआ सन्देश सुनाकर मैं कृत-कृत्य हुई हूँ। अब जो कुछ करना हो वह आपपर निर्भर है आप उसके पति हैं ॥१५॥ आप यंह नहीं सोचिए कि वह पर्वतका स्थान मेरे लिए अगम्य है क्योंकि आपकी इच्छा होते ही मैं निमेष मात्रमें आपको वहाँ ले चलूँगी ॥१६॥ बुद्धिमान् वसुदेवने अनेक परिचायक चिह्नोंके साथ श्रवण करने योग्य बातको सुनकर उससे कहा कि हे सौम्यवदने ! तुम मुझे शीघ्र ही सोमश्रीके घर पहुँचा दो ॥१७॥ कुमारकी अनुमति पाते ही विद्याके प्रभावसे सम्पन्न प्रभावती उन्हें लेकर आकाशमें उस तरह जा उड़ी जिस तरह मानो बिजली ही कौंध उठी हो ॥१८॥ परस्परके अंग-स्पर्शसे जिन्हें रोमांच निकल आये थे ऐसे वे दोनों, आकाशको उल्लंघकर शीघ्र ही स्वर्णनाभपुर नामक उत्तम नगरमें जा पहुँचे ॥१९॥ तदनन्तर जिसका कटिसूत्र और वस्त्र कुछ-कुछ नीचेकी ओर खिसक गया था ऐसी प्रभावतीने गुप्त रीतिसे वसुदेवको सोमश्रीके घर जा उतारा। वहाँ पहुँचते ही कुमारने सोमश्रीको देखा ॥२०॥ उस समय विरहके कारण सोमश्रीकी बुरी हालत थी। चारों ओर लटकते हुए बालोंसे उसके विरहपाण्डु मुखकी शोभा मलिन हो गयी थी इसलिए समीपमें भ्रमण करते हुए भौरोंसे मलिन-कमलसे युक्त कमलिनीके समान जान पड़ती थी ॥२१॥ वह पतिका दर्शन होनेकी अवधि तक बाँधे हुए वेणी बन्धनसे युक्त थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो पतले पुलसे युक्त नदी ही हो। उसका अधरोष्ठ ताम्बूलकी लालिमासे रहित होनेके कारण कुछ-कुछ मटमैला हो गया था इसलिए वह कुछ कुम्हलाये हुए पल्लवको धारण करनेवाली म्लान लताके समान जान पड़ती थी ॥२२-२३॥ पतिको आया देख जो उठकर खड़ी हो गयी थी तथा जो स्थूल एवं पाण्डुवर्ण पयोधरों—स्तनोंको धारण करनेके कारण स्थूल धवल पयोधरों—मेघोंको धारण करनेवाली शरद् ऋतुकी शोभाके समान जान पड़ती थी ऐसी सोमश्रीको देखकर कुमार वसुदेव बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥२४॥ जिनके शरीर रोमांचोंसे कर्कश हो

१. प्राणनाथोऽतो म. । २. नेष्यम् म., ग. । ३. निशाम्य म. । ४. प्रभावतीम् म. । ५. प्रलम्बालसकाम्लान म. । ६. सम्लान क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुसाधितकार्यां सा तामाश्लिष्य प्रभावतीम् । सखीं प्राणसमां श्रव्यैर्वचनैरभ्यनन्दयत् ॥२६॥
रूपं नाम च तस्यासौ निजं कृत्वा प्रभावती । आपृच्छ्य दम्पतीं मुक्त्वा ययावात्मीयमास्पदम् ॥२७॥
धाम्नि मानसवेगस्य परावर्त्तितरूपभृत् । सोमश्रिया सहाहानि न्यवसत्कतिचिद् यदुः ॥२८॥
एकदा प्राग् विबुद्धासौ प्रकृतिस्थाकृतिं पतिम् । दृष्ट्वारुदद्द्विषद्भीत्या प्रमादपरिशङ्किनी ॥२९॥
अपृच्छच्च विबुद्धोऽसौ किमर्थं रोदिषि प्रिये । आह [1]रूपपरावृत्तिमपश्यन्ती तवेत्यसौ ॥३०॥
मा भैषीरेष विद्यानां स्वभावः स्वपतां वपुः । अपसृत्यावतिष्ठन्ते संश्रयन्ते सुजाग्रताम् ॥३१॥
इत्युक्त्वा सुपरावृत्त्यरूपं पूर्ववदेव सः । वसुदेवोऽवसत्तत्र यथेष्टं प्रियया युतः ॥३२॥
ततो मानसवेगेन कथंचिदुपलक्षितः[2] । वैजयन्तीपतिं [3]पत्न्या बलसिंहमसौ श्रितः ॥३३॥
तस्य न्यायपरस्याग्रे व्यवहारे पराजितः । मायी मानसवेगोऽसौ विलक्षो योद्धुमुत्थितः ॥३४॥
शौरिपक्षतया केचित् खचराः समवस्थिताः । ततोऽभूदुग्रसंग्रामः शौरिमानसवेगयोः ॥३५॥
वेर्गाद् वेगवतीमात्रा जामात्रे धनुरर्पितम् । दिव्यं दिव्यशरापूर्णं शरधिद्वयसंयुतम् ॥३६॥
प्रज्ञप्तिश्च प्रभावत्या विज्ञाय लघु योजिता । तत्प्रभावादसौ संख्ये[5] बबन्ध रिपुखेचरम् ॥३७॥
तन्मात्रा याचितः शौरिः पुत्रभिक्षां दयापरः । सोमश्रीदर्शनं नीत्वा मुमोच खचराधिपम् ॥३८॥

रहे थे ऐसे दोनोंने परस्पर गाढ़ आलिंगन किया, उस समय आलिंगनको प्राप्त हुए दोनों ऐसे जान पड़ते थे मानो पुनः विरह न हो जाये इस भयसे एकरूपताको ही प्राप्त हो गये थे ॥२५॥ अच्छी तरह कार्य सिद्ध करनेवाली प्राणतुल्य प्रभावती सखीका आलिंगन कर सोमश्रीने मनोहर वचनों द्वारा उसका अभिनन्दन किया—मीठे-मीठे वचन कहकर उसे प्रसन्न किया ॥२६॥ वसुदेवके आनेका रहस्य प्रकट न हो जाये इस विचारसे प्रभावती वसुदेवको अपना रूप तथा अपना नाम देकर दोनों दम्पतीसे पूछकर एवं उनसे विदा लेकर अपने स्थानपर चली गयी। भावार्थ—प्रभावतीने अपनी विद्याके प्रभावसे वसुदेवको प्रभावती बना दिया ॥२७॥ इस प्रकार परिवर्तित रूपको धारण करनेवाले कुमार वसुदेवने मानसवेगके घर सोमश्रीके साथ कितने ही दिन निवास किया ॥२८॥

एक दिन सोमश्री पहले जाग गयी और पति—वसुदेवको अपने स्वाभाविक वेषमें देख शत्रुके भयसे किसी विपत्तिकी आशंका करती हुई रोने लगी ॥२९॥ इतनेमें कुमार भी जाग गये और उसे रोती देख पूछने लगे कि हे प्रिये ! किस लिए रोती हो ? सोमश्रीने उत्तर दिया कि आपका रूप परिवर्तित नहीं देख रही हूँ यही मेरे रोनेका कारण है ॥३०॥ कुमारने कहा कि डरो मत, विद्याओंका यह स्वभाव है कि वे सोते हुए मनुष्योंके शरीरको छोड़कर पृथक् हो जाती हैं और जागनेपर पुनः आ जाती हैं ॥३१॥ इस प्रकार कहकर तथा पहलेके ही समान रूप बदलकर कुमार वसुदेव प्रिया सोमश्रीके साथ वहाँ रहने लगे ॥३२॥

तदनन्तर एक दिन मानसवेगने किसी तरह कुमार वसुदेवको देख लिया जिससे 'कुमार वसुदेव हमारी स्त्री सोमश्रीके साथ रूप बदलकर रहता है' यह शिकायत लेकर वह पत्नीके साथ वैजयन्ती नगरीके राजा बलसिंहके पास गया ॥३३॥ राजा बलसिंह न्यायपरायण पुरुष था इसलिए जब उसने इस शिकायतकी छानबीन की तो मानसवेग हार गया। हार जानेसे मानसवेग बहुत ही लज्जित हुआ और वसुदेवके साथ युद्ध करनेके लिए उठ खड़ा हुआ ॥३४॥ यह देख कितने ही विद्याधर वसुदेवका पक्ष लेकर खड़े हो गये। तदनन्तर वसुदेव और मानसवेगका युद्ध हुआ ॥३५॥ वेगवतीकी माताने जमाई वसुदेवके लिए एक दिव्य धनुष तथा दिव्य बाणोंसे भरे हुए दो तरकस दे दिये और प्रभावतीने युद्धका समाचार जानकर शीघ्र ही प्रज्ञप्ति नामकी विद्या दे दी। उसके प्रभावसे कुमारने मानसवेगको युद्धमें शीघ्र ही बाँध लिया ॥३६-३७॥ तदनन्तर

१. सुपरावृत्ति रूपं म., ग. । २. -दुपलक्षितम् ग. । ३. पत्या ग. । ४. वेदात् म. । ५. युद्धे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेन मानसवेगेन बन्धुभावमुपेयुषा । सपत्नीको विमानेन प्रापितः स महापुरम् ॥३९॥
सोमश्रीबन्धुभिस्तत्र जाते तस्य समागमे । गतो मानसवेगोऽपि स्वस्थानं तद्वचःस्थितः ॥४०॥
श्रुतानुभूतवार्त्तादिप्रश्नप्रकथनात्मनोः । याति कामरसक्षिप्तचेतसोः[1] समयस्तयोः ॥४१॥
अश्वरूपधरेणासावेकदा सूर्पकारिणा । हरता नभसः क्षिप्तो[2] गङ्गायामतपद् यदुः ॥४२॥
स तामुत्तीर्य संप्राप्तस्तापसाश्रममत्र च । निरीक्ष्योन्मादिनीं नारीं नरास्थिमयशेखराम् ॥४३॥
पप्रच्छ तापसं कंचित् कस्येयं युवतिर्वरा । परिभ्रमति विभ्रान्ता महोन्मादवशा वशा ॥४४॥
तस्मै सोऽकथयद् राज्ञो जरासन्धस्य देहजा । नाम्ना केतुमतीयं च जितशत्रुनृपप्रिया ॥४५॥
मन्त्रवादिपरिव्राजा वराकी स्ववशीकृता । हतस्यास्यास्थिमालां च मालीकृत्याटति क्षितिम् ॥४६॥
इत्याकर्ण्य कृपायुक्तो महामन्त्रप्रभावतः । आवेशपूर्वकं तस्याः स चक्रे ग्रहनिग्रहम् ॥४७॥
शौरिस्तदा नियुक्तैस्तु जरासन्धस्य मानवैः । पुरं राजगृहं नीतः परिवार्योपकार्यपि ॥४८॥
तानवोचदसौ राज्ञः कोऽपराधो मया कृतः । ब्रूत मे येन नीयेऽहं[3] तद्राजपुरुषाः रुषा ॥४९॥
इत्युक्ता इत्यवोचंस्ते यो राजदुहितुर्ग्रहम् । व्युदस्यति भवेत्सोऽत्र राजारिजनकः किल ॥५०॥
इत्यावेद्य वधस्थानं नीतो नीचैर्नरैर्वृतः । खमुल्क्षिप्यापनीतः प्राक् केनचित्खचरेण सः ॥५१॥
उक्तश्च वीर ! विद्धि त्वं प्रभावत्याः पितामहम् । मां मगोरथनामानं त्वन्मनोरथपूरकम् ॥५२॥

मानसवेगकी माताने कुमारसे पुत्र भिक्षा माँगी जिससे दयायुक्त हो कुमारने उसे सोमश्रीके पास ले जाकर छोड़ दिया ॥३८॥ इस घटनासे मानसवेग कुमारका गहरा बन्धु हो गया और विमान द्वारा सोमश्री सहित वसुदेवको उनके अभीष्ट स्थान महापुर नगर तक पहुँचाने गया ॥३९॥ वहाँ पहुँचनेपर वसुदेवका सोमश्रीके बन्धुओंके साथ समागम हो गया और मानसवेग भी उनका आज्ञाकारी हो अपने स्थानपर वापस चला गया ॥४०॥ तदनन्तर सुनी एवं अनुभवी बातोंके प्रश्नोत्तर करना ही जिनका काम शेष था और जिनके चित्त कामरसके आधीन थे ऐसे उन दोनों दम्पतियोंका समय सुखसे व्यतीत होने लगा ॥४१॥

अथानन्तर एक समय कुमारका शत्रु राजा त्रिशिखरका पुत्र सूर्पक अश्वका रूप रखकर कुमारको हर ले गया और आकाशसे उसने नीचे गिरा दिया जिससे वे गंगा नदीमें जा गिरे॥४२॥ गंगा नदीको पारकर कुमार वसुदेव तापसोंके एक आश्रममें पहुँचे। वहाँ उन्होंने मनुष्योंकी हड्डियोंका सेहरा धारण करनेवाली एक पागल स्त्रीको देखकर किसी तापससे पूछा कि यह सुन्दरी युवती किसकी स्त्री है जो मदोन्मादके वश हो पागल हस्तिनीके समान इधर-उधर घूम रही है ॥४३-४४॥ तापसने कहा कि यह राजा जरासन्धकी पुत्री केतुमती है और राजा जितशत्रुको विवाही गयी है ॥४५॥ इस बेचारीको एक मन्त्रवादी परिव्राजकने अपने वश कर लिया था वह मर गया इसलिए उसकी हड्डियोंके समूहकी माला बनाकर यह पृथिवीपर घूमती रहती है ॥४६॥ यह सुनकर वसुदेवको दया उमड़ पड़ी और उन्होंने महामन्त्रोंके प्रभावसे शीघ्र ही केतुमतीके पिशाच-का निग्रह कर दिया ॥४७॥ वहाँ वसुदेवकी खोजमें जरासन्धके आदमी पहलेसे ही नियुक्त थे इसलिए यद्यपि कुमार उपकारी थे तथापि वे उन्हें घेरकर राजगृह नगर ले गये ॥४८॥ उनको ले जानेवाले लोगोंसे वसुदेवने पूछा कि हे राजपुरुषो ! बताओ तो सही मैंने राजाका कौन-सा अपराध किया है जिससे मैं इस तरह क्रोधपूर्वक ले जाया जा रहा हूँ ॥४९॥ इस प्रकार कहनेपर राजपुरुष बोले कि जो राजपुत्रीके पिशाचको दूर करेगा वह राजाको घात करनेवाले शत्रुका पिता होगा ॥५०॥ इस प्रकार कहकर नीच मनुष्योंसे घिरे वसुदेव वधस्थान पर ले जाये गये परन्तु वध होनेके पहले ही कोई विद्याधर उन्हें झपटकर आकाशमें ले गया ॥५१॥ उस विद्याधरने

१. कामरसाक्षिप्तचेतसोः म. । २. क्षिप्रो म. । ३. नीयेयं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावतीसमीपं त्वं मया नीतिज्ञ ! नीयसे । इति प्रियवचोवाची निनाय खचराचलम् ॥५३॥
प्राप्य गन्धसमृद्धं च नगरं नगमूर्धनि । प्रवेशितो महाभूत्या विद्याधरजनैर्वृतः ॥५४॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगे [1]योगे कृते ततः । पितृबन्धुजनैः शौरिप्रभावत्योः प्रहृष्टयोः ॥५५॥
प्रागेव मदनावेशपरस्परवशात्मकौ । वधूवरौ वरौ वृत्तौ भोगसागरवर्त्तिनौ ॥५६॥

रथोद्धतावृत्तम्

संप्रयुक्तमपि वल्लभैः सदा विप्रयोजयति पापकृत्परम् ।
पूर्वतोऽपि शतशोऽतिवल्लभैर्युज्यते तु जिनधर्मकृत्पुरा ॥५७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ प्रभावतीलाभवर्णनो नाम त्रिंशः सर्गः ॥३०॥

□

कुमारको सम्बोधते हुए कहा कि हे वीर ! तुम मुझे प्रभावतीका पितामह जानो, भगीरथ मेरा नाम है और तुम्हारे मनोरथको पूर्ण करनेवाला हूँ ॥५२॥ हे नीतिज्ञ ! मैं तुम्हें प्रभावतीके पास लिये जाता हूँ—इस प्रकार मधुर वचन कहता हुआ वह विद्याधर उन्हें विजयार्ध पर्वतपर ले गया ॥५३॥ वहाँ पर्वतके मस्तकपर एक गन्धसमृद्ध नामक नगर था। उसमें अनेक विद्याधरोंसे घिरे हुए वसुदेवका उसने बड़े वैभवके साथ प्रवेश कराया ॥५४॥ तदनन्तर प्रशस्त तिथि और नक्षत्रके योगमें प्रभावतीके पिता तथा बन्धुजनोंने हर्षसे युक्त वसुदेव और प्रभावतीका विवाहोत्सव किया ॥५५॥ वसुदेव और प्रभावतीके हृदय कामके आवेशसे पहले ही एक दूसरेके वशीभूत थे। अतः अब वर-वधू बनकर दोनों भोगरूपी सागरमें निमग्न हो गये ॥५६॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि यद्यपि पापी मनुष्य प्रियजनोंके साथ संयोगसे प्राप्त हुए अन्य मनुष्यको सदा प्रियजनोंसे वियुक्त करता है तथापि पूर्वभवमें जिनधर्मको धारण करनेवाला मनुष्य पूर्वकी अपेक्षा सैकड़ों बार अतिशय प्रियजनोंके साथ संयोगको प्राप्त होता है ॥५७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें प्रभावतीके लाभका वर्णन करनेवाला तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३०॥

□

१. योग म.। संबन्धे कृते सतीत्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्रिंशत्तमः सर्गः

अथ हर्म्यतले सुप्तः प्रभावत्या सहान्यदा । सूर्पकेण हृतः शौरिर्बुबुधे स चिरेण खे ॥१॥
जघान मुष्टिघातेन विद्विषं चामुचत् स खात् । गोदावर्याः पपातायं हृदे देहसुखावहे ॥२॥
तत्र कुण्डपुरे लेभे कन्यां पद्मरथस्य सः । माल्यकौशलयोगेन कलाकौशलशालिनीम् ॥३॥
ततोऽपि नीलकण्ठेन नीत्वा मुक्तोऽपतद् यदुः । चम्पासरसि संप्राप्तस्तस्यां सोऽमात्यदेहजाम् ॥४॥
जलक्रीडारतस्तत्र स हृतः सूर्पकारिणा । विमुक्तश्च पपातासौ भागीरथ्यां मनोरथी ॥५॥
पर्यटन्नटवीं तत्र म्लेच्छराजेन वीक्षितः । परिणीय सुतां तस्य जराख्यां तत्र चावसत् ॥६॥
जरत्कुमारमुत्पाद्य तस्यामुन्नतविक्रमः । अवन्तिसुन्दरीं प्राप शूरसेनां च शंसिताम् ॥७॥
पुरुषान्वेषिणीमन्यां कन्यां जीवद्यशःश्रुतिम् । उपयम्यापराश्चासावरिष्टपुरमाययौ ॥८॥
राजा तत्र तदा धीरो रुधिरो युधि रोधनः । तस्य मित्रा महादेवी देवीव द्युतिसंपदा ॥९॥
ज्येष्ठो हिरण्यनाभाख्यस्तनयो नयवित्तयोः । रणशौण्डो महासत्त्वः शस्त्रशास्त्रे कृतग्रहः ॥१०॥
कलापारमिता रूपयौवनोदयधारिणी । तनया रोहिणीनाम्ना रोहिणीव यशस्विनी ॥११॥

अथानन्तर—किसी समय कुमार वसुदेव प्रभावतीके साथ महलमें सो रहे थे कि उसी समय उनका वैरी सूर्पक उन्हें हरकर आकाशमें ले गया ॥ कुछ देर बाद जब उनकी नींद खुली तो मुक्कोंके प्रहारसे उन्होंने शत्रुको पीटना शुरू किया । मुक्कोंकी मारसे घबड़ाकर सूर्पकने उन्हें आकाशसे छोड़ दिया जिससे वे शरीरको सुख पहुँचानेवाले गोदावरीके कुण्डमें गिरे ॥१-२॥ वहाँसे निकलकर वे कुण्डपुर ग्राममें पहुँचे । वहाँका राजा पद्मरथ था । उसकी कला-कौशलसे सुशोभित एक सुन्दरी कन्या थी । उस कन्याकी प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे माला गूँथनेमें पराजित करेगा उसीके साथ मैं विवाह करूँगी । कुमार वसुदेवने उसे माला गूँथनेका कौशल दिखाकर प्राप्त किया—उसके साथ विवाह किया ॥३॥ एक दिन कुमारका शत्रु नीलकण्ठ वहाँसे भी उन्हें हरकर ले गया तथा आकाशमें ले जाकर उसने छोड़ दिया । भाग्यवश कुमार चम्पानगरीके तालाबमें गिरे । वहाँसे निकलकर उन्होंने चम्पापुरीमें प्रवेश किया तथा वहाँके मन्त्रीकी पुत्रीके साथ विवाह किया ॥४॥ एक दिन कुमार चम्पानगरीमें जलक्रीड़ा कर रहे थे कि वैरी सूर्पक फिर हर ले गया । अबकी बार उससे छूटकर अनेक मनोरथोंको धारण करनेवाले कुमार भागीरथी नदीमें गिरे ॥५॥ वहाँसे निकलकर वे अटवीमें घूमने लगे । वहाँ म्लेच्छोंके राजाने उन्हें देखा जिससे वे म्लेच्छराजकी जरा नामक कन्याको विवाहकर वहीं रहने लगे ॥६॥ उन्नत पराक्रमको धारण करनेवाले वसुदेवने उस कन्यामें जरत्कुमार नामका पुत्र उत्पन्न किया । उसी समय कुमारने अवन्तिसुन्दरी और शूरसेना नामकी उत्तम कन्याको भी प्राप्त किया ॥७॥ तदनन्तर पुरुषको खोजनेवाली जीवद्यशा नामकी कन्याको एवं अनेक कन्याओंको विवाह कर कुमार वसुदेव अरिष्टपुर नामक नगर आये ॥८॥ उस समय वहाँ युद्धमें शत्रुओंको रोकनेवाला धीर-वीर रुधिर नामका राजा था । उसकी मित्रा नामकी महारानी थी जो कान्तिरूपी सम्पदासे देवीके समान जान पड़ती थी ॥९॥ उन दोनोंके नीतिका वेत्ता, रण-निपुण, महापराक्रमी एवं शस्त्र और शास्त्रका अभ्यास करनेवाला हिरण्य नामका ज्येष्ठ पुत्र था ॥१०॥ और कलाओंकी पारगामिनी, रूप तथा यौवनके अभ्युदयको धारण करनेवाली, रोहिणी नामकी पुत्री थी । वह

१. अपराः अन्याः कन्याः विवाह्य असौ अरिष्टपुरम् आययौ । २. नीतिज्ञः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयंवरविधौ तस्याः संगताः सकलाः नृपाः । जरासन्धं पुरोधाय समुद्रविजयादयः ॥१२॥
तत्र चित्रमणिस्तम्भधारितेषु यथाक्रमम् । ते मञ्चेषु समासीना नृपा भूषितविग्रहाः ॥१३॥
वसुदेवोऽपि तत्रैव [1]भ्रात्रलक्षितवेषभृत् । तस्थौ पाणविकान्तःस्थो गृहीतपणवोऽग्रणीः ॥१४॥
ततः स्वयंवरान्तर्भूभागं सौभाग्यभूमिका । प्रविष्टा रोहिणी कन्या रोहिणीवातिरूपिणी ॥१५॥
तदा च सर्वभूपालैर्बलितैरलमाकुलैः । सालोकि युगपन्नेत्रैरर्चयद्भिरिवाम्बुजैः ॥१६॥
तद्रूपश्रवणाद् येषां परा प्रीतिरभूत्पुरा । सा रूपदर्शनात्तेषां महत्त्वमगमत्परम् ॥१७॥
श्रुतितूलततौ[2] वृद्धो योऽनुरागतनूनपात् । दर्शनेन्धनदीप्तस्य तस्य वृद्धिः किमुच्यताम् ॥१८॥
शङ्खतूर्यरवस्यान्ते ततो धात्री पवित्रवाक् । धृतप्रसाधनां कन्यां मान्यामाहामितो नृपान् ॥१९॥
आतपत्रमिदं यस्य चन्द्रमण्डलपाण्डुरम् । त्रिखण्डजयतो लब्धं यशः स्वमिव शोभते ॥२०॥
यस्य चाज्ञाकराः सर्वे भूचरास्तु नभश्चराः । वसुंधरेश्वरः सोऽयं जरासन्धोऽवतिष्ठते ॥२१॥
वृणीष्व रोहिणीशं[3] तं नृपं स्वल्लाभलोभतः । रोहिणीसंगमुज्झित्वा क्षितिं चन्द्रमिवागतम् ॥२२॥
तस्मिन्नरागिणीं बुद्ध्वा रोहिणीं साह सात्त्विका । जरासन्धसुतास्त्वेते वृणीष्वैषु हृदि स्थितम् ॥२३॥
धात्री चेतोविदूचे तां मथुरानाथमग्रतः । उग्रसेननृपं पश्य रोचते यदि ते सुते ॥२४॥

पुत्री सचमुच ही रोहिणी ताराके समान कीर्तिमती थी ॥११॥ रोहिणीके स्वयंवरमें जरासन्धको आगे कर समुद्रविजय आदि समस्त राजा आये ॥१२॥ शोभित शरीरको धारण करनेवाले राजा लोग स्वयंवर मण्डपमें नाना प्रकारके मणिमयी खम्भोंसे सुशोभित मंचोंपर यथाक्रम बैठ गये ॥१३॥ भाइयोंकी पहचानमें न आ सके ऐसे वेषको धारण करनेवाले कुमार वसुदेव भी स्वयंवरमें गये और पणव नामक बाजा बजानेवालोंके पास जाकर बैठ गये। उस समय कुमार अपने हाथमें पणव नामक बाजा लिये हुए थे और उसके बजानेवालोंमें सबसे अग्रणी जान पड़ते थे ॥१४॥

तदनन्तर सौभाग्यकी भूमि और रोहिणी-ताराके समान अतिशय रूपवती रोहिणी कन्याने स्वयंवरके भीतर प्रवेश किया ॥१५॥ उस समय समस्त राजाओंने मुड़-मुड़कर, आकुलतासे युक्त नेत्रों द्वारा एक साथ उसका अवलोकन किया। उस समय उसकी ओर देखनेवाले राजा ऐसे जान पड़ते थे मानो नेत्ररूपी कमलोंसे उसकी पूजा ही कर रहे हों ॥१६॥ जिन राजाओं-को पहले उसका रूप सुनकर परम प्रीति उत्पन्न हुई थी अब उसका रूप देखकर उन राजाओंकी वह परम प्रीति और भी अधिक महत्त्वको प्राप्त हो गयी ॥१७॥ सो ठीक ही है क्योंकि जो अनुरागरूपी अग्नि श्रवणरूपी रूईकी सन्ततिमें लगकर धीरे-धीरे सुलग रही थी वह यदि दर्शन-रूपी ईंधनको पाकर एकदम प्रज्वलित हो उठे तो उसकी वृद्धिका क्या कहना है ? ॥१८॥ तद-नन्तर जब शंख और तुरही आदि वादित्रोंका शब्द शान्त हुआ तब पवित्र वचन बोलनेवाली धाय, अलंकारोंको धारण करनेवाली माननीय कन्याको राजाओंके सम्मुख ले जाकर कहने लगी ॥१९॥ कि हे पुत्रि ! जिसका यह चन्द्र-मण्डलके समान सफेद छत्र, तीन खण्डोंकी विजयसे प्राप्त यशरूपी धनके समान सुशोभित हो रहा है और समस्त भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजा जिसके आज्ञाकारी हैं ऐसा यह वसुधाका स्वामी राजा जरासन्ध बैठा है ॥२०-२१॥ हे रोहिणी ! तुझे पानेके लोभसे रोहिणीका समागम छोड़कर पृथिवीपर आये हुए चन्द्रमाके समान जान पड़ता है ऐसे इस राजा जरासन्धको तू स्वीकृत कर ॥२२॥ सत्त्वगुणको धारण करनेवाली धायने जब देखा कि इसका अनुराग जरासन्धमें नहीं है तब उसने आगे बढ़कर कहा कि ये जरासन्धके पुत्र हैं। इनमें-से जो तुझे पसन्द हो उसे वर ॥२३॥ उनमें भी जब अनुराग नहीं देखा तब चित्तको जाननेवाली धायने आगे

१. भ्रातृभिरलक्षितं वेषं बिभर्त्तीति भ्रात्रलक्षितवेषभृत् । २. ततौ म. । श्रुतिकुलतनौ ग. । ३. रोहिणी शान्तम् म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लब्धधीः साह शौर्यादीन् पश्य सौर्यपुराधिपान् । मालामारोपयामीषामेकस्य रुचितस्य ते ॥२५॥
इत्युक्ते तेषु चेतोऽस्या बभार गुरुगौरवम् । ततोऽदर्शयदेषास्यै पाण्डुं विदुरमप्यतः ॥२६॥
दमघोषं यशोघोषं दत्तवक्त्रं सुविक्रमम् । [1]शल्यं शल्यमिवारीणां तथ्यं शत्रुंजयं नृपम् ॥२७॥
चन्द्राभं चन्द्रवत्कान्तं मुख्यं कालमुखं ततः । पौण्ड्रं च पुण्डरीकाक्षं मत्स्यं मात्सर्यवर्जितम् ॥२८॥
संजयं च जये सक्तं सोमदत्तं नृपोत्तमम् । तत्पुत्रं भ्रातृभिर्युक्तं भूरिश्रवसमाश्रवम्[2] ॥२९॥
सूनुनांशुमतात्यन्तं कपिलं विपुलेक्षणम् । तथा पद्मरथं भूपं सोमकं सोमसौम्यकम् ॥३०॥
देवकं देवनाथाभं श्रीदेवं श्रीवधूश्रितम् । प्रदर्श्य तान् नृपानित्थं वंशस्थानादिशंसिनी ॥३१॥
अन्यानपि च कन्यायै धात्री सा न्यायविज्जगौ । एतावन्तो नृपा बाले मुख्याः किमिदमास्यते ॥३२॥
कुरु कन्ये गुणं कण्ठे चित्तस्थस्येह कस्यचित् । त्वत्सौभाग्यगुणाकृष्टराजमस्यास्य संनिधौ ॥३३॥
[3]त्वं प्रकाशय सौभाग्यं कस्यचिच्चित्तहारिणः । योग्यभर्तृपरिप्राप्तिचिन्तास्तनिद्रयोः ॥
वृतयोग्यवरा पित्रोर्मुग्धे कुरु सुखासिकाम् ॥३४॥
एवमुक्तावदत्कन्या[4] साधु मातरुदीरितम् । किंतु त्वदर्शितेष्वेषु न मनो रज्यते क्वचित् ॥३५॥
दर्शनानन्तरं यत्र स्नेहोऽभिव्यज्यते हृदि । पौनरुक्त्यं भवेद्वाच्यं तत्राप्यत्राप्यतर्षता[5] ॥३६॥

बढ़कर कहा कि हे बेटी ! यह आगे मथुराके स्वामी राजा उग्रसेन बैठे हैं यदि तेरी रुचि हो तो इसकी ओर देख ॥२४॥ तदनन्तर विवेकवती धायने आगे बढ़कर कहा कि सौर्यपुरके स्वामी समुद्रविजय आदिको देख, यदि तेरी रुचि हो तो इनमें-से किसी एकके गलेमें माला डाल ॥२५॥ धायके इस प्रकार कहनेपर कन्याके चित्तने उन सबके ऊपर गुरुके समान गौरव धारण किया अर्थात् उन्हें गुरु समझकर प्रणाम किया। तदनन्तर धायने कन्याके लिए राजा पाण्डुको दिखाया और उसके बाद विदुरको भी दिखलाया ॥२६॥ जब उसे इनमेंसे किसीपर भी कन्याका अनुराग नहीं दिखा तब उसने यशकी घोषणा करनेवाले दमघोष, अतिशय पराक्रमी दत्तवक्त्र, शत्रुओंके लिए शल्यके समान दुःख देनेवाले शल्य, सार्थक नामको धारण करनेवाले शत्रुंजय, चन्द्रमाके समान सुन्दर चन्द्राभ, अतिशय मुख्य कालमुख, कमलके समान नेत्रोंको धारण करनेवाले पौण्ड्र, मात्सर्यसे रहित मत्स्य, विजय प्राप्त करनेमें लीन संजय, राजाओंमें उत्तम सोमदत्त, भाइयों सहित सोमदत्तका आज्ञाकारी पुत्र भूरिश्रवा, अंशुमान् नामक पुत्रसे सहित तथा अतिशय विशाल नेत्रोंको धारण करनेवाला राजा कपिल, राजा पद्मरथ, सोम—चन्द्रमाके समान सौम्य राजा सोमक, इन्द्रके समान आभाको धारण करनेवाला देवक और लक्ष्मीरूपी वधूसे सेवित श्रीदेव राजाको दिखाया तथा इन सब राजाओंको दिखाकर उनके वंश और स्थान आदिका भी वर्णन किया ॥२७–३१॥ तदनन्तर न्यायको जाननेवाली धायने कन्याके लिए और भी अनेक राजाओंका परिचय देते हुए कहा कि हे बाले ! मुख्य इतने ही हैं। इस तरह चुपचाप क्यों खड़ी है ? इनमेंसे जो भी तेरे हृदयमें स्थित हो—जिसे तू चाहती हो उसके कण्ठमें माला डाल दे। ये सभी राजा तेरे सौभाग्यरूपी गुणसे आकर्षित होकर इधर तेरे समीप स्थित हैं इनमें जो तुम्हारे चित्तको हरण करनेवाला हो उसके सौभाग्यको प्रकाशित कर। हे मुग्धे ! तेरे लिए योग्य भर्ताकी प्राप्तिकी चिन्तासे तेरे माता-पिताको निद्रा नष्ट हो गयी है सो योग्य वरको स्वीकार कर उन्हें सुखी बना ॥३२–३४॥ धायके इस प्रकार कहनेपर कन्याने उत्तर दिया कि हे मातः ! आपने ठीक कहा है किन्तु आपके द्वारा दिखाये हुए इन राजाओंमें-से किसीपर मेरा मन अनुरक्त नहीं हो रहा है ॥३५॥ देखनेके बाद ही जिसके ऊपर हृदयमें स्नेह प्रकट हो जाता है उसे वरनेके लिए वचन पुनरुक्त होता है तथा आन्तरिक स्नेहके प्रकट होनेपर ही स्त्री-पुरुष दोनोंमें सन्तोषका अनुभव होता है ॥३६॥ इन

---

१. शूल्यं म. । २. -माश्रयं म. । ३. षट्पादोऽयं श्लोकः । ४. कन्यां म. । ५. -प्यनर्थता म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न रागो न च विद्वेषो न मोहो न च शून्यता । मुनेरिव ममामीषु जातोपेक्षा कुतोऽप्यहो ॥३७॥
यद्यमीभ्यः परः कोऽपि विधिना मे विधित्सितः । वरस्तं दर्शयत्वद्य विधिरेव जगद्गुरुः ॥३८॥
तद्वचोऽनन्तरं कन्या शुश्राव पणवध्वनिम् । श्रव्यं श्रवणमार्गेण गत्वा चेतोऽतिकर्षिणम् ॥३९॥
इतः पश्य वरारोहे ! त्वन्मनोहरणक्षमम् । राजहंसमिति स्पष्टं बभाण पणवः स हि ॥४०॥
परावृत्य ततः कन्या पश्यन्ती सा व्यलोकत । राजलक्षणसंयुक्तं वसुदेवं [1]वसूपमम् ॥४१॥
अन्योन्यदृष्टिसंपातनिशातैः[2] शरसंपदा । मनो मनसिजश्चक्रे ततो जर्जरितं तयोः ॥४२॥
आसाद्य सा ततस्तस्य भूषणस्वनहारिणी । कण्ठे कण्ठगुणं चक्रे स्तनचक्रेण संनता ॥४३॥
मञ्चस्थस्योपकण्ठेऽस्य समासीना व्यराजत । रोहिणी हारिणी तारा रोहिणीव कलावतः[3] ॥४४॥
नवसंगमसंजातसाध्वसेन सकम्पना । कन्या सा स्वाङ्गसंगेन तस्याङ्गसुखमाहरत् ॥४५॥
तं स्वयंवरमालोक्य केचिदूचुरिदं[4] नृपाः । जातोऽनुरूपयोर्योगो रत्नकाञ्चनयोरिव ॥४६॥
अहो नैपुण्यमेतस्याः कन्याया यदयं नृपः । कोऽपि गूढकुलः श्रीमान् प्रधानपुरुषो वृतः ॥४७॥
मात्सर्योपहतास्त्वन्ये जगुः पाणविकं वरम् । कुर्वन्त्या पश्यतात्यन्तमन्यायः कन्यया कृतः ॥४८॥
पराभूतिमिमां राज्ञां नैव युक्तमुपेक्षितुम् । सर्वदातिप्रसंगः स्यादेवं सति महीतले ॥४९॥
कुलीनानां समाजेऽस्मिन् परस्यावसरोऽस्य कः । वक्तु वा वक्तुकामश्चेत्कुलीनः कुलमात्मनः ॥५०॥
न चेदेवं करोत्येष कोऽपि नीचान्वयोद्भवः । कुत्स्यतां राजपुत्रस्य कन्याप्यस्स्विह कस्यचित् ॥५१॥

राजाओंपर मुझे न राग है, न द्वेष है, न मोह है और न शून्यता है। अहो! मुनिके समान मेरी इन सबपर किसी कारणसे उपेक्षा हो गयी है ॥३७॥ यदि विधाताने इन सबसे बढ़कर कोई दूसरा वर मेरे लिए बनाना चाहा है तो जगत्का गुरु विधाता ही आज उस वरको दिखलावे ॥३८॥ इतना कहनेके बाद ही कन्याने, कर्ण मार्गसे भीतर जाकर चित्तको खींचनेवाली पणवकी मधुर ध्वनि सुनी ॥३९॥ वह ध्वनि मानो स्पष्ट रूपसे यही कह रही थी कि हे सुन्दरि! तुम्हारे मनको हरण करनेवाला राजहंस इधर बैठा है, अतः इस ओर देखो ॥४०॥ तदनन्तर ज्योंही कन्याने मुड़कर उस ओर देखा, त्यों ही उसे राजलक्षणोंसे युक्त कुबेरके समान वसुदेव दिखे ॥४१॥ उसी क्षण कामदेवने परस्पर दृष्टि सम्मिश्रणरूप तीक्ष्ण बाणोंकी सम्पदासे दोनोंका मन जर्जरित कर दिया ॥४२॥ तदनन्तर जो आभूषणोंके शब्दसे अतिशय मनोहर जान पड़ती थी और स्तनचक्रके भारसे नीचेकी ओर झुक रही थी ऐसी रोहिणीने पास जाकर वसुदेवके गलेमें माला डाल दी ॥४३॥ मंचपर आसीन वसुदेवके समीप बैठी हुई रोहिणी, चन्द्रमाके समीप स्थित रोहिणी ताराके समान मनोहर जान पड़ती थी ॥४४॥ नवीन समागमसे उत्पन्न भयके कारण जिसका शरीर कुछ-कुछ काँप रहा था ऐसी रोहिणीने अपने शरीरके स्पर्शसे वसुदेवके शरीरको सुख उत्पन्न कराया ॥४५॥ उस स्वयंवरको देखकर कितने ही राजा यह कहने लगे कि अहो! जिस प्रकार रत्न और सुवर्णका संयोग होता है उसी प्रकार यह दोनों योग्य वरवधूका संयोग हुआ है ॥४६॥ अहो! इस कन्याकी चतुराई देखो कि जिसने छिपे कुलसे युक्त लक्ष्मी-सम्पन्न एवं प्रधान पुरुषरूप इस किसी अनिर्वचनीय राजाको वरा है ॥४७॥ मात्सर्यसे पीड़ित अन्य राजा लोग यह कह रहे थे कि देखो पणववादकको वर बनाती हुई कन्याने यह बड़ा अन्याय किया है ॥४८॥ राजाओंको इस पराभवकी उपेक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा होनेसे तो पृथिवी-तलपर सदा अतिप्रसंग होने लगेगा—कुल मर्यादाकी सब व्यवस्था ही भंग हो जायेगी ॥४९॥ कुलीन मनुष्योंकी इस सभामें इस अकुलीन मनुष्यका असर ही क्या था? अथवा यह कुलीन है और अपना कुल बताना चाहता है तो बतावे ॥५०॥ यदि यह ऐसा नहीं करता है—अपना कुल

१. 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति वैजयन्ती । २. तीक्ष्ण । ३. चन्द्रस्य । ४. -रिमं म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुदेवस्ततो धीरः प्रोवाच क्षुभितान् नृपान् । श्रूयतां क्षत्रियैर्दृप्तैः साधुभिश्च वचो मम ॥५२॥
स्वयंवरगता कन्या वृणीते रुचिरं वरम् । कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥५३॥
अक्षान्तिस्तत्र नो युक्ता पितुर्भ्रातुर्निजस्य वा । स्वयंवरगतिज्ञस्य परस्येह च कस्यचित् ॥५४॥
कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः सुभगोऽपरः । कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिबन्धोऽस्ति कश्चन ॥५५॥
तदत्र यदि सौभाग्यमविज्ञातस्य मेऽनया । अभिव्यक्तं न वक्तव्यं भवद्भिरिह किंचन ॥५६॥
अथ पौरुषदर्पेण कश्चिदत्र न शाम्यति । शमयामि तमाकर्णकृष्टमुक्तैः शिलीमुखैः ॥५७॥
तच्छ्रुत्वाशु जरासन्धः क्रुद्धः प्राह नृपान् नृपाः । गृह्यतामयमुद्वृत्तो[1] रुधिरश्च सपुत्रकैः[2] ॥५८॥
क्षुभिताः पूर्वमेवासन् द्विगुणं चक्रिवाक्यतः । खलप्रकृतयो भूपाः सन्नद्धाः योद्धुमुद्यताः ॥५९॥
साधुप्रकृतयः केचित्तत्र क्षत्रियपुङ्गवाः । तस्थुः पापनिवृत्तेच्छाः पृथक् स्वबलसंगताः ॥६०॥
पक्षास्तु रुधिरस्यैके प्रतिपक्षबिभित्सया । संनह्य सहसा प्राप्ताः रुधिरारुणवीक्षणाः ॥६१॥
रथं हिरण्यनाभः स्वं तस्थावारोप्य रोहिणीम् । समस्तबलसंयुक्तो रुधिरोऽपि वरं वरम् ॥६२॥
रुधिरो मधुरैर्वाक्यैर्निजयोधानबोधयत् । यूयं महारथा[3] युद्धे कुरुध्वं युक्तमात्मनः[4] ॥६३॥
वरेण श्वशुरोवाचि पूज्य ! मे स्यन्दनं द्रुतम् । समर्पय महानेकशस्त्रास्त्रपरिपूरितम् ॥६४॥

नहीं बतलाता है तो यह कोई नीच कुलमें उत्पन्न हुआ है अतः इसे यहाँसे हटा दिया जाये और यह कन्या किसी राजपुत्रको दे दी जाये ॥५१॥

तदनन्तर धीर-वीर वसुदेवने क्षोभको प्राप्त हुए राजाओंसे कहा कि अहंकारसे भरे क्षत्रिय तथा सज्जन पुरुष हमारे वचन सुनें ॥५२॥ स्वयंवरमें आयी हुई कन्या अपनी इच्छाके अनुरूप कुलीन अथवा अकुलीन वरको वरती है। स्वयंवरमें कुलीन अथवा अकुलीनका कोई क्रम नहीं है ॥५३॥ इसलिए कन्याके पिता, भाई अथवा स्वयंवरकी विधिको जाननेवाले किसी अन्य महाशयको इस विषयमें अशान्ति करना योग्य नहीं है ॥५४॥ कोई महाकुलमें उत्पन्न होकर भी दुर्भग—स्त्रीके लिए अप्रिय होता है और कोई नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी सुभग—स्त्रीके लिए प्रिय होता है। यही कारण है कि इस विषयमें कुल और सौभाग्यका कोई प्रतिबन्ध नहीं है ॥५५॥ इसलिए यदि इस कन्याने मुझ अपरिचितका सौभाग्य प्रकट किया है तो इस विषयमें आप लोगोंको कुछ नहीं कहना चाहिए ॥५६॥ इतनेपर भी यदि कोई पराक्रमके गर्वसे यहाँ शान्त नहीं होता है तो मैं कान तक खींचकर छोड़े हुए बाणोंसे उसे शान्त कर दूँगा ॥५७॥ वसुदेवके उक्त वचन सुनकर राजा जरासन्ध शीघ्र ही कुपित हो उठा। उसने राजाओंसे कहा कि इस उद्दण्डको तथा पुत्र सहित राजा रुधिरको पकड़ लो ॥५८॥ दुष्ट स्वभावके राजा पहले हीसे कुपित थे फिर चक्रवर्तीका आदेश पाकर तो दूने कुपित हो गये। तदनन्तर वे दुष्ट राजा तैयार होकर युद्धके लिए उद्यत हो गये ॥५९॥ वहाँ जो सज्जन प्रकृतिके राजा थे वे पापसे निःस्पृह हो अपनी-अपनी सेना लेकर अलग खड़े हो गये ॥६०॥ जो क्षत्रिय रुधिरके पक्षके थे वे क्रोधसे रक्तके समान लाल-लाल नेत्र करते हुए, शत्रुको घायल करनेकी इच्छासे शीघ्र ही तैयार होकर वहाँ पहुँचे ॥६१॥ राजा रुधिरका पुत्र स्वर्णनाभ रोहिणीको अपने रथपर चढ़ाकर खड़ा हो गया और समस्त सेनासे युक्त राजा रुधिर उत्कृष्ट वर—वसुदेवको अपने रथपर सवार कर खड़ा हो गया ॥६२॥ रुधिरने मीठे-मीठे शब्दों द्वारा अपने योद्धाओंको सम्बोधते हुए कहा कि हे महारथियो! तुम लोग युद्धमें अपने अनुरूप ही कार्य करो—जैसा तुम लोगोंका नाम है वैसा ही कार्य करो ॥६३॥ वसुदेवने अपने श्वसुर—राजा रुधिरसे कहा कि हे पूज्य! आप मुझे अनेक

---

१. -मुद्वृत्ता म. । २. सुपुत्रकः म. । ३. महारथो म. । ४. युद्धैः कुरुध्वं युद्धमात्मनः ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]कान्दिशीकान् करोम्यद्य यद्द्रुतं क्षत्रियानमून् । संख्येऽप्रख्यातवंशस्य सहन्तां मे शरानमी ॥६५॥
इत्युक्ते रुधिरोऽतोषि पुरुषान्तरवीक्षणात् । अढौकयद्[2]दृढास्त्राढ्यं [3]जवनाश्वमहारथम् ॥६६॥
खेटो दधिमुखः शौरिं [4]शूरो रथवरस्थितः । मनोरथ इव प्राप्तस्तदा दिव्यास्त्रभासुरः ॥६७॥
प्रणतश्च स तं प्राह रथमारोह मे द्रुतम् । सारथिस्तव युद्धेऽहं जहि शत्रुकदम्बकम् ॥६८॥
आरुरोह रथं शौरिस्तस्य तुष्टः परिष्कृतः । चापी च कवची चित्रशरसंघातसंकुलम् ॥६९॥
द्विसहस्ररथं सैन्यं षट्सहस्रमदद्विपम् । चतुर्दशसहस्राश्वं लक्षात्मकपदातिकम् ॥७०॥
[5]रौधिरं युधि सांनिध्यं शौरेराशु तदाश्रितम् । शत्रुसैन्यविनाशाय कृतनिश्चयमाबभौ ॥७१॥
चतुरङ्गेण तेनाशु बलेन बलशालिना । अदृष्टपारमभ्याच्च शौरिः शत्रुबलोदधिम् ॥७२॥
संपातश्च तयोर्जातः सेनयोश्चतुरङ्गयोः । समुद्रघोषयोः शङ्खतूर्यादिरवरौद्रयोः ॥७३॥
हस्त्यश्वरथपादातमौचित्येन यथायथम् । हस्त्यश्वरथपादातमभ्येत्य[7]युध्यदाहवे ॥७४॥
नीरन्ध्रशरजालेन नभोरन्ध्रपिधायिना । न सहस्रकरोऽदर्शि रणेऽन्यत्र कथैव[8] का ॥७५॥
असिचक्रगदाघातरक्तधारान्धकारिते । निरुद्धः पादसंचारो रणे तेजोनिधेरपि ॥७६॥
पतद्भिर्मत्तमातङ्गैः पर्वतैरिव सर्वतः । नरैरश्वैः रथैर्घोषः शीर्यमाणैर्महानभूत् ॥७७॥

अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ रथ शीघ्र ही दीजिए ॥६४॥ जिससे मैं इन क्षत्रियोंको शीघ्र ही पलायमान कर दूँ। ये लोग युद्धमें जिसके कुलका पता नहीं ऐसे मेरे बाणोंको सहन करें ॥६५॥ वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर राजा रुधिर बहुत सन्तुष्ट हुआ। वह पुरुषोंके अन्तरको समझनेवाला जो था। तदनन्तर उसने मजबूत अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त एवं वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ महारथ बुलाया ॥६६॥ उसी समय शूर, वीर, उत्तम रथपर स्थित तथा दिव्य अस्त्रोंसे देदीप्यमान दधिमुख नामका विद्याधर मनोरथके समान कुमार वसुदेवके पास आ पहुँचा ॥६७॥ और नम्र होकर बोला कि आप शीघ्र ही मेरे रथपर चढ़ जाइए। युद्धमें मैं आपका सारथी रहूँगा। आप इच्छानुसार शत्रुओंके समूहको नष्ट कीजिए ॥६८॥ उसके वचन सुनकर वसुदेव बहुत सन्तुष्ट हुए और धनुष हाथमें ले तथा कवच धारण कर नाना प्रकारके बाणोंके समूहसे भरे हुए उसके रथपर चढ़ गये ॥६९॥ जिसमें दो हजार रथ थे, छह हजार मदोन्मत्त हाथी थे; चौदह हजार घोड़े थे और एक लाख पैदल सैनिक थे। ऐसी राजा रुधिरकी विशाल सेना, शत्रु सेनाके नाशका दृढ़ निश्चय कर शीघ्र ही कुमार वसुदेवके समीप आ गयी ॥७०-७१॥ उस बलशाली चतुरंग सेनाके साथ वसुदेव शीघ्र ही, जिसका अन्त नहीं दिखाई देता था ऐसे शत्रुकी सेनारूपी समुद्रके सम्मुख गये ॥७२॥

तदनन्तर समुद्रके समान शब्द करनेवाली एवं शंख, तुरही आदिके शब्दोंसे भयंकर दोनों चतुरंग सेनाओंमें मुठभेड़ शुरू हुई ॥७३॥ हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिक यथायोग्य रीतिसे हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिकोंके सामने जाकर रणक्षेत्रमें युद्ध करने लगे ॥७४॥ आकाश-विवरको आच्छादित करनेवाले सघन बाणोंके समूहसे उस समय युद्धमें सूर्य भी दिखाई नहीं देता था फिर अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या थी ? ॥७५॥ तलवार, चक्र और गदाके प्रहारसे निकलती हुई खूनकी धाराओंसे जहाँ अन्धकार फैल रहा था ऐसे उस रणक्षेत्रमें सूर्यका भी पादसंचार—किरणोंका संचार रुक गया था। पक्षमें अतिशय तेजस्वी मनुष्यका पैदल आना-जाना रुक गया था ॥७६॥ वहाँ सब ओर पर्वतोंके समान बड़े-बड़े हाथी गिर रहे थे तथा मनुष्य, घोड़े और रथ जीर्ण-शीर्ण होकर धराशायी हो रहे थे। इन सबसे वहाँ बहुत भारी शब्द हो रहा

---

१. भयद्रुतान् । २. आढौक्य म. । ३. यावनाश्व—म. । ४. रथवरं स्थितः म. । ५. रुधिरस्येदं रौधिरं । ६. मध्यं च म. । अभ्याञ्च संमुखं जगाम । ७. अभ्येत्य + अयुध्यत् + आहवे । ८. रणेऽन्यत्रैव म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ सेनामुखं खिन्नं चिरं कृतरणं निजम् । शौरिर्हिरण्यनाभश्च साधारयितुमुद्यतौ ॥७८॥
तौ दृष्टिमुष्टिसंधानप्रयोगानभिलक्षितौ । [1]शरैश्छादयितुं लग्नौ [2]परयोधानितस्ततः ॥७९॥
न नागो न रथो नाश्वो न नरो वा महाहवे । यो न जर्जरितस्ताभ्यां मुञ्चद्भ्यां निशितान् शरान् ॥८०॥
द्विट्प्रयुक्तशरासारं वायव्यास्त्रेण सोऽकिरत् । शौरिर्माहेन्द्रबाणेन निचकर्त्त धनूंष्यपि ॥८१॥
छत्राणि शशिशुभ्राणि शत्रूणां स यशांसि च । सुतुङ्गान्मूर्धजान्मान्यान् शरपातैरपातयत् ॥८२॥
युध्यमाने तथा तस्मिन् वीरे वीरभयानके । हिरण्यनाभवीरेण रणे पौण्ड्रः पुरस्कृतः ॥८३॥
कुमार्योस्तयोस्तत्र सुमहारथवर्त्तिनोः । शरैर्युद्धमभूद्घोरं यथा सिंहकिशोरयोः ॥८४॥
अपातयद् ध्वजं छत्रं [3]रौधिरिः[4] सारथिं रिपोः । रथस्य तुरगान् वेगादक्षांश्च शरैः शितैः ॥८५॥
ततश्चण्डरुषा पौण्ड्रो वज्रदण्डनिभैः शरैः । कृतानुरूपमस्यारेः स चकार तदेव हि ॥८६॥
ततो हिरण्यनाभोऽपि बिभेद कवचं द्विषः । केतुं छत्रं च बाणौघै रथसारथिवाजिनः ॥८७॥
विरथीकृत्य पौण्ड्रोऽपि तमाशु शितसायकैः[4] । सद्यः प्राणहरं तस्य संधत्ते यावदाशुगम् ॥८८॥
वसुदेवोऽर्द्धचन्द्रेण तावच्छित्त्वास्य तद्धनुः । चक्रे हिरण्यनाभं च त्वरयाश्व[5] रथे स्थिरे ॥८९॥
छाद्यमाने तथा पौण्ड्रे शौरिणा शरवर्षिणा । ववृषुः शरसंघातानेकीभूय बहुद्विषः ॥९०॥
शरैः शरान् निवार्यासौ बिभेद निशितैः शरैः । शत्रुं शत्रुवितीर्णोच्चैः साधुकारः पदे पदे ॥९१॥

था ॥७७॥ तदनन्तर चिरकाल तक युद्ध करनेके बाद जो खेद-खिन्न हो गया था ऐसी अपनी सेनाके अग्रभागको सहारा देनेके लिए वसुदेव और स्वर्णनाभ दोनों ही उद्यत हुए ॥७८॥ दृष्टिको अपहरण करनेवाले प्रयोगसे जिन्हें कोई देख नहीं पाता था ऐसे ये दोनों ही जहाँ-तहाँ बाणोंके द्वारा शत्रु-पक्षके योद्धाओंको आच्छादित करने लगे ॥७९॥ उस महायुद्धमें न ऐसा हाथी था, न रथ था, न घोड़ा था और न मनुष्य ही था जो तीक्ष्ण बाणोंको छोड़नेवाले उन दोनोंके द्वारा जर्जरित न किया गया हो ॥८०॥ कुमार वसुदेव शत्रुके द्वारा चलाये हुए बाणोंकी वर्षाको तो वायव्य अस्त्रसे तितर-बितर कर देते थे और अपने माहेन्द्र बाणसे शत्रुओंके धनुष तकको तोड़ देते थे ॥८१॥ उन्होंने बाणोंके प्रहारसे शत्रुओंके चन्द्रमाके समान सफेद छत्र, उज्ज्वल यश तथा अतिशय उन्नत माननीय शिरके बालोंको नीचे गिरा दिया ॥८२॥ इधर वीरोंको भय उत्पन्न करनेवाले शूरवीर वसुदेव इस प्रकार भयंकर युद्ध कर रहे थे और उधर वीर स्वर्णनाभने युद्धक्षेत्रमें पौण्ड्र राजाको अपने सामने किया ॥८३॥ जिस प्रकार सिंहके दो बच्चोंका भयंकर युद्ध होता है उसी प्रकार अतिशय महान् रथपर बैठे हुए उन दोनों कुमारोंमें भी बाणों द्वारा भयंकर युद्ध होने लगा ॥८४॥ स्वर्णनाभने देखते-देखते तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुकी ध्वजा, छत्र, सारथि और रथके घोड़ोंको शीघ्र ही नीचे गिरा दिया ॥८५॥ तदनन्तर राजा पौण्ड्रने भी अत्यन्त कुपित हो वज्रदण्डके समान तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुकी नकल करते हुए उसकी ध्वजा, छत्र, सारथि और घोड़ोंको धराशायी कर दिया ॥८६॥ तत्पश्चात् स्वर्णनाभने भी बाणोंके समूहसे शत्रुके कवच, पताका, छत्र, रथ, सारथि, और घोड़ोंको काट डाला ॥८७॥ यह देख पौण्ड्रने भी तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा स्वर्णनाभ को शीघ्र ही रथ-रहित कर तत्काल ही उसके प्राणोंको हरण करनेवाला बाण ज्योंही धनुषपर चढ़ाया त्योंही वसुदेवने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसके धनुषको काट डाला और शीघ्रताके साथ स्वर्णनाभको अपने स्थिर रथपर चढ़ा लिया ॥८८-८९॥ तदनन्तर लगातार बाण वर्षा करनेवाले वसुदेवने जब पौण्ड्रको आच्छादित कर लिया तब बहुत-से शत्रु एक होकर—मिलकर वसुदेवपर बाणोंके समूहकी वर्षा करने लगे ॥९०॥ परन्तु फिर भी वसुदेव अपने बाणोंसे शत्रुके बाणोंका निवारण

---

१. शनैः म. । २. परं योधानितस्ततः म. । ३. रुधिरस्यापत्यम् पुमान् रौधिरिः । ४. शितिसायकैः म. । ५. त्वरयाश्वरथे म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ साधुनृपैस्तत्र न्यायविद्भिरितीरितम् । न द्रष्टव्यमिदं युद्धमेकस्य बहुभिः सह ॥९२॥
ततो जगौ जरासन्धो धर्मयुद्धदिदृक्षया । अनेन सह कन्यार्थमेकैको युध्यतामिति ॥९३॥
ततः शत्रुंजयो लग्नः शौरिणा योद्धुमुद्यतः । शेषास्तु प्रेक्षका जाता क्षत्रियाः क्षतमत्सराः[1] ॥९४॥
शरान् शत्रुंजयोत्क्षिप्तान् शौरिः प्रक्षिप्य दूरतः । तं ध्वस्तरथसंनाहं विह्वलीकृत्य मुक्तवान् ॥९५॥
दत्तवक्त्रस्ततो दत्तचिरयुद्धो महोद्धतः । विरथीकृत्य निर्मुक्तो निःसारीकृतपौरुषः ॥९६॥
रिपुं कालमुखं प्राप्तं रणे कालमिवोद्धतम् । प्राणशेषमसौ कृत्वा विससर्जोर्जितो यदुः ॥९७॥
शल्यं रथेन संप्राप्तं तीक्ष्णसायकमोचकम् । जृम्भणास्त्रेण रौद्रेण बबन्धान्धकवृष्णिजः ॥९८॥
समुद्रविजयं प्राह जरासन्धस्ततो द्रुतम् । त्वं हरास्य रणे दर्पं पार्थिवास्त्रविशारदः ॥९९॥
अपि न्यायविदुत्तस्थौ स राजा राजशासनात् । युद्धे प्रायोऽनुवर्त्तन्ते प्रभुं न्यायविदोऽपि हि ॥१००॥
समुद्रविजयादेशात्पुनः सारथिना रथः । दधावोच्चैर्ध्वजच्छत्रो वासुदेवरथं[2] प्रति ॥१०१॥
दृष्ट्वा ज्येष्ठरथं दूरात् कनीयान् सारथिं जगौ । ज्यायांसं मम जानीहि समुद्रविजयं स्विमम् ॥१०२॥
मन्दमत्र गुरौ वाह्यो रथो दधिमुख ! त्वया । सापेक्षं हि मया योध्यमनेन गुरुणा रणे ॥१०३॥
यथोद्दिष्टं ततस्तेन रथः सारथिना रणे । नोदितोऽपि ययौ मन्दः स्यन्दनं गुर्वधिष्ठितम् ॥१०४॥

कर तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुपर प्रहार करते रहे। उस समय कुमारकी कुशलतासे प्रसन्न होकर शत्रु भी उन्हें पद-पदपर साधु-साधु—बहुत अच्छा बहुत अच्छा कहकर धन्यवाद दे रहे थे ॥९१॥

अथानन्तर जो वहाँ न्याय-नीतिके जाननेवाले सज्जन राजा थे उन्होंने कहा कि हम लोगोंको यह युद्ध नहीं देखना चाहिए क्योंकि यह एकका अनेकके साथ हो रहा है—एकके ऊपर अनेक व्यक्ति प्रहार कर रहे हैं इसलिए यह अन्यायपूर्ण युद्ध है ॥९२॥ तदनन्तर धर्म-युद्ध देखनेकी इच्छासे जरासन्धने कहा कि अच्छा, कन्याके लिए इसके साथ एक-एक राजा युद्ध करे ॥९३॥ तत्पश्चात् जरासन्धका आदेश पाकर राजा शत्रुंजय कुमार वसुदेवके साथ युद्ध करनेके लिए उठा और शेष राजा मत्सररहित हो युद्ध देखने लगे ॥९४॥ कुमारने शत्रुंजयके द्वारा चलाये हुए बाणोंको दूर फेंककर उसके रथ और कवचको तोड़ डाला तथा उसे मूर्च्छित कर छोड़ दिया ॥९५॥ तदनन्तर मदसे उद्धत राजा दत्तवक्त्र युद्ध करने लगा परन्तु कुमारने उसका भी रथ तोड़ डाला और उसके पौरुषको निःसार कर उसे भगा दिया ॥९६॥ तदनन्तर जो यमराजके समान उद्धत था ऐसा कालमुख युद्धके लिए सामने आया सो अतिशय बलवान् वसुदेवने उसे भी प्राण-शेष कर छोड़ दिया ॥९७॥ अब रथपर सवार हो तीक्ष्ण बाणोंको छोड़ता हुआ शल्य सामने आया सो वसुदेवने उसे भी अतिशय भयंकर जृम्भण नामक अस्त्रसे बाँध लिया ॥९८॥

तदनन्तर जरासन्धने समुद्रविजयसे कहा कि हे राजन् ! तुम अस्त्र-विद्यामें अत्यन्त निपुण हो इसलिए शीघ्र ही युद्धमें इसका गर्व हरण करो ॥९९॥ यद्यपि समुद्रविजय न्याय-नीतिके वेत्ता थे—युद्ध नहीं करना चाहते थे तथापि राजा जरासन्धकी आज्ञासे उठे सो ठीक ही है क्योंकि युद्धके विषयमें न्यायके वेत्ता मनुष्य भी प्रायः अपने स्वामीका ही अनुसरण करते हैं ॥१००॥ तत्पश्चात् समुद्रविजयकी आज्ञा पाकर सारथिके द्वारा चलाया हुआ रथ, ऐसा रथ कि जिसपर बहुत ऊँची ध्वजा और छत्र लगा हुआ था, वसुदेवके रथकी ओर दौड़ा ॥१०१॥ वसुदेवने दूरसे ही बड़े भाईके रथको देखकर अपने सारथिसे कहा कि इन्हें तुम मेरे बड़े भाई समुद्रविजय जानो ॥१०२॥ हे दधिमुख ! ये हमारे पितातुल्य हैं अतः तुम्हें इनके आगे रथ धीरे-धीरे ले जाना चाहिए। मुझे रणभूमिमें इनके साथ इनकी रक्षाका ध्यान रखते हुए ही युद्ध करना चाहिए॥१०३॥ सारथि—दधिमुखने, वसुदेवकी आज्ञानुसार ही रथ चलाया जिससे वह प्रेरित होनेपर भी

१. क्षत्रमत्सराः म.। २. वसुदेवं रथं म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजसारथिमाजिस्थः[1] समुद्रविजयो जगौ । भद्र ! योधमिमं दृष्ट्वा सस्नेहं मे मनः कुतः ॥१०५॥
दक्षिणाक्षिभुजास्पन्दो बन्धुसंबन्धगन्धनः । युधि बध्यस्य सांनिध्ये वद संबध्यते कथम् ॥१०६॥
सुनिमित्तविसंवादो नानुभूतश्च जातुचित् । विरुद्धदेशकालत्वात्संवादोऽपि न युज्यते ॥१०७॥
इत्युक्ते सोऽवदत् स्वामिन्नभ्यमित्रमितस्य ते । अवश्यं बन्धुसंबन्धो जितजेयस्य जायते ॥१०८॥
परैः राजन्नजय्यस्य राजलोकस्य संनिधौ । परस्य विजये पूजां राजराजादवाप्स्यसि ॥१०९॥
सोऽभिनन्दिततद्वाच्यः कार्मुकी तं सकार्मुकम् । शरधेः शरमुद्धृत्य जगादोद्धृतसायकम् ॥११०॥
भो धीर ! ते यथादृष्टं मृधे धनुषि कौशलम् । तथा निर्वहणं तस्य त्वं कुरुष्व ममाग्रतः ॥१११॥
शौर्यशैल ! तवोत्तुङ्गमानशृङ्गमनावृतम् । आवृणोमि शरैर्मेघैः समुद्रविजयस्त्वहम् ॥११२॥
कुमारः स्वरभेदेन जगौ किं नो बहूदितैः । आवयोरिह राजेन्द्र ! रणे व्यक्तिर्भविष्यति ॥११३॥
समुद्रविजयस्त्वं चेत्संग्रामविजयस्त्वहम् । न चेत्प्रत्येषि तत्क्षिप्रं क्षिप संधाय सायकम् ॥११४॥
इत्युक्ते मुक्तमाध्यस्थ्यो वैशाखस्थानमास्थितः । संधाय शरमाकृष्य विव्याध क्रोधतो नृपः ॥११५॥
प्रतिक्षिप्तेन स क्षिप्रमाशुगेन तमाशुगम् । दूरादेव च विच्छेद वैशाखस्थानमण्डितः ॥११६॥
मुक्तान्मुक्तान्नृपेणासाविषूनिषुभिराहवे । प्रत्युन्मुक्तैरतिक्षिप्रं दूरादेव निराकरोत् ॥११७॥
वायव्यवारुणाद्यैस्तौ दिव्यास्त्रैरस्त्रकोविदौ । युयुधाते नृदेवानां साधुकारैः स्तुतौ चिरम् ॥११८॥

समुद्रविजयसे अधिष्ठित रथकी ओर धीरे-धीरे ही चला ॥१०४॥ युद्धके मैदानमें आनेपर राजा समुद्रविजयने अपने सारथिसे कहा कि हे भद्र ! इस योद्धाको देखकर मेरा मन स्नेहयुक्त क्यों हो रहा है ? ॥१०५॥ दाहिनी आँख तथा भुजा भी फड़क रही है जो बन्धुके समागमको सूचित करनेवाली है परन्तु युद्धके मैदानमें जब कि शत्रु सामने खड़ा है इस शकुनकी संगति कैसे बैठ सकती है तुम्हीं कहो ॥१०६॥ उत्तम शकुनोंमें विसंवाद—विरोधका कभी अनुभव नहीं किया और देश तथा कालके विरुद्ध होनेसे निमित्तोंका संवाद भी संगत नहीं जान पड़ता ॥१०७॥ समुद्रविजयके इस प्रकार कहनेपर सारथिने कहा कि हे स्वामिन् ! अभी आप शत्रुके सामने खड़े हैं जब इसे आप जीत लेंगे तब अवश्य ही बन्धु-समागम होगा ॥१०८॥ हे राजन् ! यह शत्रु दूसरोंके द्वारा अजेय है अतः इसके जीत लेनेपर आप राजाओंके समक्ष राजाधिराज जरासन्धसे अवश्य ही विशिष्ट सम्मानको प्राप्त करेंगे ॥१०९॥

समुद्रविजयने सारथिके वचनोंकी प्रशंसा कर धनुष उठाया और तरकशसे बाण निकालकर धनुष हाथमें ले बाण निकालकर खड़े हुए कुमार वसुदेवसे कहा कि हे धीर ! युद्धमें तुम्हारे धनुषका जैसा कौशल देखा है अब मेरे आगे वैसा ही उसका समारोप करो—उसी प्रकारकी कुशलता दिखाते रहो तो जानें ॥११०-१११॥ हे शूरवीरताके पर्वत ! तुम्हारा अतिशय उन्नत यह मानरूपी शिखर अभी तक अनाच्छादित है सो मैं बाणरूपी मेघोंसे अभी आच्छादित करता हूँ, मैं समुद्रविजय हूँ ॥११२॥ कुमारने आवाज बदलकर कहा कि हे राजेन्द्र ! हम लोगोंको बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? युद्धमें ही हम दोनोंकी प्रकटता हो जायेगी—जो जैसा होगा वह वैसा सामने आ जावेगा ॥११३॥ यदि आप समुद्रविजय हैं तो मैं संग्रामविजय हूँ । यदि आपको प्रतीति न हो तो शीघ्र ही धनुषपर बाण रखकर छोड़िए ॥११४॥ वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर जिनकी मध्यस्थता छूट गयी थी तथा जो वैशाख आसनसे खड़े थे ऐसे राजा समुद्रविजयने डोरीपर बाण रखकर तथा खींचकर क्रोधवश जोरसे मारा ॥११५॥ उधर वैशाख आसनसे सुशोभित वसुदेवने शीघ्र ही बदलेमें चलाये हुए बाणसे समुद्रविजयके उस बाणको दूरसे ही काट डाला ॥११६॥ इस प्रकार राजा समुद्रविजयने युद्धमें जितने बाण छोड़े उन सबको बदलेमें छोड़े हुए बाणोंके द्वारा वसुदेवने बहुत शीघ्र दूरसे ही निराकृत कर दिया ॥११७॥ तदनन्तर जो अस्त्र-विद्यामें निपुण थे और राजा लोग

१. युद्धस्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्येष्ठो मुमोच यान् बाणान् योद्धृसारथिवाजिनाम् । तान् कनिष्ठोऽच्छिनद्बाणैर्वैनतेय इवोरगान् ॥११९॥
एकैकं स त्रिधा छित्त्वा क्षुरप्रं भ्रातृयोजितम् । युवा विव्याध तस्याश्वै रथसारथिवाजिनः ॥१२०॥
दृष्ट्वास्त्रकौशलं तस्य शशंसुरवनीश्वराः । शिरष्कम्पाङ्गुलिस्फोटसाधुवादविधायिनः ॥१२१॥
ज्यायानज्ञातसंबन्धः पुनः संधाय सायकम् । दिव्यमस्त्रसहस्राणां सहस्रमुचद् रुषा ॥१२२॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरः शीघ्रमस्त्रच्छादनमप्यसौ । युवा क्षिप्त्वाच्छिनद्रौद्रं ज्यायसा क्षिप्तसायकम् ॥१२३॥
परं कौशलमस्त्रेषु वसुदेवस्य यद्रणे । चिच्छेदास्त्राणि चित्राणि ररक्ष च निजाग्रजम् ॥१२४॥
इत्थं कृतरणक्रीडः कनीयान् ज्यायसे ततः । प्रजिघाय घनस्नेहः स्वनामाङ्कं शनैः[1] शरम् ॥१२५॥
अनुकूलमिषुं राजा तमादायेत्यवाचयत् । अज्ञातो निर्गतो योऽसौ महाराज ! तवानुजः ॥१२६॥
सोऽयं वर्षशतेऽतीते संप्राप्तः स्वजनान्तिकम् । पादप्रणाममद्यार्य वसुदेवः करोति ते ॥१२७॥
भ्रातृस्नेहसमुद्रेकात्समुद्रविजयस्ततः । क्षिप्तचापो रथात्तूर्णमुत्तीर्यापि निजानुजम् ॥१२८॥
उत्तीर्णः स्यन्दनादाशु वसुदेवोऽपि दूरतः । प्रणतः पादयोस्तेन दोर्भ्यामालिङ्ग्य चोद्धृतः ॥१२९॥
आश्लिष्य रुदतोर्भ्रात्रोः साश्रुलोचनयोस्तयोः । प्राप्याक्षुभ्यादयः सर्वे कण्ठलग्नास्ततोऽरुदन् ॥१३०॥

'साधु-साधु' शब्द कहकर जिनकी स्तुति कर रहे थे ऐसे उन दोनोंने वायव्य तथा वारुण आदि अस्त्रोंसे चिरकाल तक युद्ध किया ॥११८॥ योद्धा, सारथि और घोड़ोंको लक्ष्य कर बड़े भाई जिन बाणोंको छोड़ते थे छोटे भाई उन्हें अपने बाणोंसे उस तरह छेद डालते थे जिस तरह कि गरुड़ सर्पोंको छेद डालता है ॥११९॥ तदनन्तर युवा वसुदेवने भाईके द्वारा चलाये हुए एक-एक बाणके तीन-तीन टुकड़े कर अपने अस्त्रोंसे उनके रथ, सारथि और घोड़ोंको छेद डाला ॥१२०॥ वसुदेवके अस्त्र-कौशलको देखकर राजा लोग उनकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। उस समय कितने ही राजा अपना शिर हिला रहे थे, कोई अंगुलियाँ चटका रहे थे और कोई मुखसे साधु-साधु शब्दका उच्चारण कर रहे थे। ॥१२१॥ बड़े भाईको इस बातका पता नहीं था कि इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है इसलिए उन्होंने क्रोधमें आकर वसुदेवपर हजारों अस्त्रोंसे युक्त दिव्य रौद्रास्त्र छोड़ा परन्तु कुमार वसुदेवने भी शीघ्र ही अस्त्रोंको आच्छादित करनेवाला ब्रह्मशिर नामक अस्त्र छोड़कर बड़े भाईके द्वारा छोड़े हुए उस रौद्रास्त्रको बीचमें ही काट डाला ॥१२२-१२३॥ वसुदेवका संग्राममें शस्त्र चलानेका कौशल परम प्रशंसनीय था क्योंकि उन्होंने नाना प्रकारके शस्त्रोंको तो काट दिया था परन्तु अपने बड़े भाईको सुरक्षित रखा था ॥१२४॥

इस प्रकार रणक्रीड़ा करते-करते जिनका हृदय स्नेहसे भर गया था ऐसे वसुदेवने बड़े भाईके पास अपने नामसे चिह्नित बाण भेजा। उनका वह बाण मन्दगतिसे गमन करता हुआ बड़े भाईके पास पहुँचा ॥१२५॥ राजा समुद्रविजयने उस अनुकूल बाणको लेकर उसमें लिखा हुआ यह समाचार पढ़ा कि 'हे महाराज ! जो अज्ञात रूपसे निकल गया था वही मैं आपका छोटा भाई वसुदेव हूँ। सौ वर्ष बीत जानेके बाद वह आज आत्मीय जनोंके समीप आया है। हे आर्य ! वह आपके चरणोंमें प्रणाम करता है ॥१२६-१२७॥ तदनन्तर भ्रातृ-स्नेहकी प्रबलतासे समुद्रविजयने अपने हाथका धनुष दूर फेंक दिया और वे शीघ्र ही रथसे उतरकर छोटे भाईके पास जा पहुँचे ॥१२८॥

इधर वसुदेव भी शीघ्र ही रथसे उतरकर दूरसे ही उनके चरणोंमें गिर गये। समुद्र-विजयने दोनों भुजाओंसे उठाकर उनका आलिंगन किया ॥१२९॥ दोनों भाई एक दूसरेका आलिंगन कर रोने लगे और उनके नेत्रोंसे आँसू टप-टप गिरने लगे। उसी समय अक्षुभ्य

१. निजं म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वसुरास्तस्य यावन्तः सपुत्रास्तत्र संगताः । बान्धवाश्चापरे लग्ना रुरुदू रणरङ्गगाः ॥१३१॥
जरासंधादयस्तुष्टा दृष्ट्वा भ्रातृसमागमम् । शशंसू रोहिणीं कन्यां तद्भ्रातृपितृबान्धवाः ॥१३२॥
यथास्वं शिबिरस्थानं दिनान्ते ते ययुर्नृपाः । वसुदेवकथासक्ता निशा निन्युर्दिनान्यपि ॥१३३॥
ततस्तिथौ प्रशस्तायां रोहिणीचन्द्रसंगमे । रोहिणीमुपयेमेऽसौ समुद्रविजयानुजः ॥१३४॥
दृष्ट्वा विवाहमुर्वीशास्तुष्टिपुष्टिसमन्विताः । वर्षं तस्थुर्जरासन्धसमुद्रविजयादयः ॥१३५॥
कृतसाहाय्यकः संख्ये वसुदेवः[२] सुपूजितः । आपृच्छ्य प्रययौ प्रीतो निजं दधिमुखः पदम् ॥१३६॥
वरो नववधूहारिवक्त्राम्भोजमधुव्रतः । न सस्मार स्मरासक्तः पूर्वभुक्तवधूलताः ॥१३७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्रादुर्भूतसमस्तभूतलमहाभूपाललोकैः समं
संभूयाद्भुतविक्रमैकशरणप्राणैः रणप्राङ्गणे ।
प्रारब्धोऽप्यतिलुब्धबुद्धिभिरभूज्जय्यो न यद्दोःसखः
शौरिः शौर्यगिरिर्जिनोक्ततपसस्तस्य तत्प्राभवम् ॥१३८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ रोहिणीस्वयंवर-भ्रातृसमागमवर्णनो नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥३१॥

□

आदि शेष भाई भी आ गये और सब गले लगकर रोने लगे ॥१३०॥ उस समय युद्धभूमिमें वसुदेवके जितने श्वसुर, साले तथा अन्य बन्धुजन थे वे सब उनसे लिपटकर रोने लगे ॥१३१॥ जरासन्ध आदि राजा, भाइयोंके इस समागमको देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए। रोहिणीके भाई, पिता तथा अन्य सम्बन्धी जन उसकी बहुत प्रशंसा करने लगे ॥१३२॥

तदनन्तर सायंकालके समय सब राजा लोग अपने-अपने शिविरोंमें गये और वसुदेवकी ही कथामें आसक्त हो दिन तथा रात्रियाँ व्यतीत करने लगे ॥१३३॥ तत्पश्चात् शुभ तिथिमें जब कि चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्रपर था वसुदेवने रोहिणीको विधिपूर्वक विवाहा ॥१३४॥ जरासन्ध तथा समुद्रविजय आदि राजा उस विवाहोत्सवको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए और एक वर्ष तक वहीं राजा रुधिरके यहाँ रहे आये ॥१३५॥ युद्धमें जिसने सहायता की थी तथा वसुदेवने जिसका अच्छा सम्मान किया था ऐसा दधिमुख वसुदेवसे आज्ञा लेकर प्रसन्न होता हुआ अपने स्थानपर चला गया ॥१३६॥ कामासक्त वसुदेव नवीन स्त्रीके सुन्दर मुख कमलके भौंरे बन गये थे इसलिए उन्होंने पहले भोगी हुई स्त्रीरूपी लताओंका स्मरण भी नहीं किया ॥१३७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो शूरवीरताके पर्वत वसुदेव यद्यपि रणांगणमें अकेले ही थे केवल भुजाएँ ही उनकी सहायक थीं और अद्भुत पराक्रमके धारक, अतिशय लोभी पृथिवीतलके समस्त राजाओंने एक साथ मिलकर उन्हें पराजित करना चाहा था तथापि वे उन्हें पराजित नहीं कर सके सो यह अच्छी तरह तपे हुए जिनेन्द्रकथित तपका ही प्रभाव समझना चाहिए ॥१३८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें रोहिणीका स्वयंवर और भाइयोंके समागमका वर्णन करनेवाला इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३१॥

□

१. शक्तो म.। २. वसुदेवः स पूजितः। म. वसुदेवेने सुपूजितः शिष्टाचारीकृत इत्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वात्रिंशः सर्गः

अथ सा रोहिणी भर्त्रा विचित्रे शयनेऽन्यदा । प्रसुप्ता चतुरः स्वप्नान् ददर्श शुभसूचिनः ॥१॥
रुद्रं[1] चन्द्रं[2] समच्छायं गजेन्द्रं मन्द्रगर्जितम् । समुद्रं सान्द्रनिर्घोषं[3] महोर्ध्वोच्चैर्महोर्मिकम् ॥२॥
चन्द्रं चन्द्रमुखी पूर्णं दृष्ट्वा पूर्णमनोरथा । कुन्दशुभ्रं मृगेन्द्रं सा ददर्शास्यप्रवेशिनम् ॥३॥
विबुद्धा च प्रभाते तान् विबुद्धाम्बुजलोचना[4] । पत्ये न्यवेदयत्सोऽस्या इति स्वप्नफलं जगौ ॥४॥
उत्पत्स्यते सुतः क्षिप्रं धीरोऽलङ्घ्यः शशिप्रभः । एकवीरो भुवो भर्त्ता प्रिये ! ते जनताप्रियः ॥५॥
इति पत्या समादिष्टं श्रुत्वा स्वप्नफलं शुभम् । हारिणी रोहिणी हृष्टा शिश्रिये श्रियमैन्दवीम् ॥६॥
च्युत्वा कल्पान्महाशुक्रान्महासामानिकः सुरः । गर्भेऽभूदिह रोहिण्या धरण्या इव सन्मणिः ॥७॥
ततः पूर्णेषु मासेषु सुखं संपूर्णदोहला । सासूत सुतमृक्षेषु शुभेषु शशिसंनिभम् ॥८॥
तस्य जन्मोत्सवं दृष्ट्वा जरासन्धपुरःसराः । यथास्थानं ययुः प्रीताः पार्थिवाः कृतपूजनाः ॥९॥
अभिरामः स रामाख्यां प्रख्याप्य पृथिवीतले । वर्द्धते वर्द्धयन् प्रीतिं पित्रोर्बन्धुजनस्य च ॥१०॥
श्रीमण्डपस्थितान् सर्वानेकदा रौधिरपदे । समुद्रविजयाद्यांस्तान् वसुदेवहितोद्यतान् ॥११॥
खावतीर्णाभिनन्द्यैका दिव्या विद्याधरी श्रिता । वसुदेवमितः प्राह सुखासनकृतासना ॥१२॥

अथानन्तर किसी समय वह रोहिणी अपने भर्ता—वसुदेवके साथ विचित्र शय्यापर शयन कर रही थी कि उसने शुभको सूचित करनेवाले चार स्वप्न देखे ॥१॥ पहले स्वप्नमें उसने गम्भीर गर्जन करता हुआ चन्द्रमाके समान सफेद विशाल हाथी देखा। दूसरे स्वप्नमें पर्वतके समान ऊँची एवं बड़ी-बड़ी लहरोंसे युक्त अत्यधिक शब्द करनेवाला समुद्र देखा। तीसरे स्वप्नमें पूर्ण चन्द्रमाको देखकर चन्द्रमुखी रोहिणीका मनोरथ पूर्ण हो गया और चौथे स्वप्नमें उसने मुखमें प्रवेश करता हुआ कुन्दके समान सफेद सिंह देखा ॥२-३॥ प्रातःकालके समय जागनेपर जिसके नेत्र खिले हुए कमलके समान सुशोभित थे ऐसी रोहिणीने वे स्वप्न पतिके लिए बतलाये और पतिने उनका यह फल बताया कि हे प्रिये ! तुम्हारे शीघ्र ही ऐसा पुत्र होगा जो धीर, वीर, अलंघ्य, चन्द्रमाके समान कान्तिवाला, अद्वितीय वीर, पृथिवीका स्वामी और जनताका प्यारा होगा ॥४-५॥ इस प्रकार पतिके द्वारा बताये हुए स्वप्नोंका शुभ फल सुनकर सुन्दरी रोहिणी हर्षित हो उठी तथा चन्द्रमाकी शोभा धारण करने लगी ॥६॥ उसी समय महासामानिक देव महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर रोहिणीके गर्भमें उस तरह स्थित हो गया जिस तरह कि पृथिवीके गर्भमें उत्तम मणि स्थित होता है ॥७॥

तदनन्तर जिसके समस्त दोहला पूर्ण किये गये थे ऐसी रोहिणीने सुखसे नौ माह पूर्ण होनेपर शुभ नक्षत्रोंमें चन्द्रमाके समान सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया ॥८॥ जो जरासन्ध आदि राजा एक वर्षसे राजा रुधिरके यहाँ रह रहे थे उस पुत्रका जन्मोत्सव देखकर प्रसन्न होते हुए अपने-अपने स्थानपर गये। जाते समय राजा रुधिरने उन सबका खूब सत्कार किया ॥९॥ वह बालक अत्यन्त सुन्दर था इसलिए पृथिवीतलपर अपना 'राम' नाम प्रसिद्ध कर माता-पिता और बन्धु-जनोंकी प्रीतिको बढ़ाता हुआ दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥१०॥

तदनन्तर एक समय कुमार वसुदेवके हितमें उद्यत समुद्रविजय आदि सभी भाई राजा रुधिरके घर श्रीमण्डपमें बैठे थे कि एक दिव्य विद्याधरी आकाशसे उतरकर वहाँ आयी और

---

१. रुद्रं ग., म. । २. चन्द्रं म. । ३. महीन्द्रोच्चै—म. । ४. विकसितकमलनयना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव ! वेगवती पत्नी बालचन्द्रा च मे सुता । पादयोस्तव संपत्य वाञ्छति प्रियदर्शनम् ॥१३॥
कुमारी त्वद्गतप्राणा बालचन्द्रावतिष्ठते । गत्वा तां त्वं विवाह्याशु कुरु तच्चित्तनिर्वृतिम् ॥१४॥
तदाकर्ण्य वचस्तेन दृष्टिर्ज्येष्ठे समर्पिता । अभिप्रायविदा तेन लघ्वेहीति[1] विसर्जितः ॥१५॥
तमादाय गता सापि पुरं गगनवल्लभम् । समुद्रविजयाद्याश्च ययुः शौर्यपुरं नृपाः ॥१६॥
भार्यां वेगवतीं दृष्ट्वा शौरिर्गगनवल्लभे । बालचन्द्रामुवाहात्र पूर्णचन्द्रसमाननाम् ॥१७॥
नववध्वा तया[2] सार्धं वेगवत्या च हृद्यया । रममाणोऽवसत्तत्र दिनानि कतिचित्सुखी ॥१८॥
ताभ्यां जिगमिषोस्तस्य शीघ्रं शौर्यपुरं पुरम् । चक्रे[3] वनवती देवी विमानं रत्नभास्वरम् ॥१९॥
पिता काञ्चनदंष्ट्रोऽथ परिवारं ददौ परम् । समस्तं बालचन्द्राया वेगवत्याश्च सोऽग्रजः ॥२०॥
कामगेन विमानेन सोऽनेन वनितासखः । अरिंजयपुरं गत्वा विद्युद्वेगं निरैक्षत[4] ॥२१॥
प्रियां मदनवेगां तामनावृष्णिं च देहजम् । आदायाशु विमानेन तेनैव वियदुद्ययौ ॥२२॥
पुरं गन्धसमृद्धं द्राक् श्रीसमृद्धमवाप्य सः । सुतां गान्धारराजस्य पश्यति स्म प्रभावतीम् ॥२३॥
समारोप्य विमाने तां परिवारसमन्विताम् । प्राप्तः प्राप्तमहार्घः सहसासितपर्वतम् ॥२४॥
सिंहदंष्ट्रात्मजां दृष्ट्वा स नीलयशसं प्रियाम् । तत्रारमत्तया चित्रं[5] प्रवियुक्तसमेतया ॥२५॥
तामप्यादाय संप्राप्तः किन्नरोद्गीतमत्र च । नीलोत्पलदलश्यामां कामं श्यामाममानयत् ॥२६॥

सबको अभिनन्दनकर सुखदायक आसनपर बैठ गयी। कुछ समय बाद उसने वसुदेवको लक्ष्य कर कहा कि हे देव ! आपकी पत्नी वेगवती तथा हमारी पुत्री बालचन्द्रा आपके चरणोंमें गिरकर आपका प्रिय दर्शन करना चाहती हैं ॥११-१३॥ कुमारी बालचन्द्राके प्राण एक आपमें ही अटक रहे हैं इसलिए शीघ्र जाकर उसे विवाहो और उसका चित्त सन्तुष्ट करो ॥१४॥ विद्याधरीके वचन सुनकर कुमार वसुदेवने अपनी दृष्टि बड़े भाई समुद्रविजयपर डाली और अभिप्रायको जाननेवाले बड़े भाईने भी 'जल्दी जाओ' कहकर उन्हें छोड़ दिया—विद्याधरीके साथ जानेकी अनुमति दे दी ॥१५॥ तदनन्तर विद्याधरी वसुदेवको लेकर गगनवल्लभपुर गयी और समुद्रविजय आदि राजा शौर्यपुर चले गये ॥१६॥ वसुदेवने गगनवल्लभ नगरमें अपनी प्रिया वेगवतीसे मिलकर पूर्णचन्द्रके समान मुखवाली बालचन्द्राको विवाहा ॥१७॥ और विवाहके बाद वे नयी वधू बालचन्द्रा तथा हृदयको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली वेगवतीके साथ क्रीड़ा करते हुए कुछ दिन तक वहीं सुखसे रहे आये ॥१८॥ कुछ दिन बाद कुमार वसुदेवने उन दोनों स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही शौर्यपुर लौटनेकी इच्छा प्रकट की जिससे एणीपुत्रकी पूर्व भवकी माँ वनवती देवीने रत्नोंसे देदीप्यमान एक विमान रचकर उन्हें दे दिया ॥१९॥ यह देख बालचन्द्राके पिता कांचनदंष्ट्र तथा वेगवतीके बड़े भाई मानसवेगने समस्त परिवारके साथ बालचन्द्रा और वेगवतीको कुमारके लिए सौंप दिया ॥२०॥ कुमार, दोनों स्त्रियोंको साथ ले इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा अरिंजयपुर नगर गये और वहाँ जाकर विद्युद्वेगसे मिले ॥२१॥ वहाँसे प्रिया मदनवेगा और अनावृष्णि नामक उसके पुत्रको लेकर वे शीघ्र ही उसी विमानसे आकाशमें उड़ गये ॥२२॥ तदनन्तर शीघ्र ही लक्ष्मीसे समृद्ध गन्धसमृद्ध नामक नगरमें जाकर वे गान्धार राजाकी पुत्री प्रभावतीसे मिले ॥२३॥ तत्पश्चात् परिवार सहित उसे विमानमें बैठाकर महान् हर्षको प्राप्त होते हुए वे असितपर्वत नामक नगरमें पहुँचे ॥२४॥ वहाँ राजा सिंहदंष्ट्रकी पुत्री प्रिया नीलंयशासे मिले और वियोगके बाद मिली हुई उस नीलंयशाके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करने लगे ॥२५॥ तत्पश्चात् उसे साथ ले किन्नरोद्गीत नामक नगर पहुँचे और वहाँ नील कमलकी कलिकाओंके समान श्यामवर्ण श्यामा नामक स्त्रीको उन्होंने अच्छी तरह

---

१. शीघ्रमागच्छेत्युक्त्वा विसर्जितः । २. सार्द्धं म. । ३. या नागदेवता पूर्वं प्रोक्ता सैव वनवतीत्यपरनामधेया । ४. निरीक्ष्यत म., क. । ५. चित्तं प्रवियुक्तं समेतया म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्यामामादाय संप्राप्तः श्रावस्तीमनयत्ततः । प्रियङ्गुसुन्दरीं शौरिस्तां च बन्धुमतीं प्रियाम् ॥२७॥
महापुरात्समादाय सोमश्रियमसौ प्रियाम् । इलावर्धनतो निन्ये मान्यां रत्नावतीं च ताम् ॥२८॥
नगरे भद्रिलाभिख्ये गृहीत्वा चारुहासिनीम् । पौण्ड्रं संस्थाप्य तत्रैव गत्वा जयपुरं ततः ॥२९॥
अश्वसेनामुपादाय गत्वा शालगुहं पुरम् । पद्मावतीं समादाय वेदसामपुरं ययौ ॥३०॥
कपिलं तत्र पुत्रं स्वमभिषिच्य ततोऽपि च । गृहीत्वा कपिलां प्रापदचलग्राममत्र च ॥३१॥
मित्रश्रियं प्रगृह्यागान्नगरं तिलवस्तुकम् । कन्यापञ्चशतं ग्राही पुरं गिरितटं गतः ॥३२॥
ततः सोमश्रिया युक्तश्चम्पां प्राप महापुरीम् । अतोऽमात्यसुतां निन्ये सह गन्धर्वसेनया ॥३३॥
पुरे विजयखेटे च सूनुमक्रूरदृष्टिकम् । दृष्ट्वा विजयसेनां स निन्ये कुलपुरं ततः ॥३४॥
पद्मश्रियमुपादाय तथैवावन्तिसुन्दरीम् । सूरसेनां सपुत्रां च जरां जीवद्यशोऽन्विताम् ॥३५॥
गृहीत्वान्याः स्वमार्याः स वसुदेवः ससंमदः । आययौ प्रमदं प्राप्तो विमानेनाशुगामिना ॥३६॥
आससाद विमानं तच्चारुसंगीतसंगतम् । आशु शौर्यपुरं सूर्यविमानमिव भास्वरम् ॥३७॥
ततो [1]वनवती देवी समुद्रविजयं स्वयम् । प्राग् दृष्ट्यावर्धयत्तुष्ट्या वसुदेवागमाशया ॥३८॥
कारयित्वा ततः पौरैः पुरशोभां नृपो मुदा । निर्ययौ बन्धुभिः सार्द्धं तस्याभिमुखमादृतैः ॥३९॥
सोऽवतीर्य विमानाग्रादग्रजान् गुरुबान्धवान् । प्रणनाम प्रियायुक्तः प्रणतः प्रणयात् परैः ॥४०॥
देव्यः शिवादयो नम्रं सयोषं साश्रुलोचनाः । तमाश्लिष्याशिषो भूयः खेऽविश्लेषफला ददुः ॥४१॥
सन्मानितयथायोगजनताजनितादरः । स रेमे रोहिणीशोऽस्मिन् बन्धुसिन्धुहितोदयः ॥४२॥

मनाया—प्रसन्न किया ॥२६॥ तदनन्तर श्यामाको लेकर श्रावस्ती पहुँचे। वहांसे प्रियंगुसुन्दरी और बन्धुमतीको साथ ले महापुर गये। महापुरसे प्रिया सोमश्रीको लेकर इलावर्धनपुर पहुँचे। वहांसे माननीय रत्नावतीको लेकर भद्रिलपुर गये। वहांसे चारुहासिनीको साथ लेकर तथा उसके पुत्र पौण्ड्रको वहीं बसाकर जयपुर गये। वहांसे अश्वसेनाको साथ ले शालगुह नगर पहुँचे। वहांसे पद्मावतीको लेकर वेदसामपुर गये ॥२७–३०॥ वहाँ अपने कपिल नामक पुत्रका राज्याभिषेक कर कपिलाको साथ ले अचलग्राम आये ॥३१॥ वहांसे मित्रश्रीको लेकर तिलवस्तु नगर गये वहाँ पाँच सौ कन्याओंको ग्रहणकर गिरितट नगर पहुँचे ॥३२॥ वहांसे सोमश्रीको साथ ले चम्पापुरी पहुँचे। वहांसे मन्त्रीकी पुत्री और गन्धर्वसेनाको साथ ले विजयखेट नगर गये। वहाँ अक्रूरदृष्टि नामक पुत्रसे मिल कर तथा विजयसेनाको साथ लेकर कुलपुर पहुँचे ॥३३–३४॥ वहांसे पद्मश्री, अवन्तिसुन्दरी, पुत्र सहित सूरसेना, जरा, जीवद्यशा तथा अपनी अन्य स्त्रियोंको साथ ले हर्षित होते हुए शीघ्रगामी विमानसे वापस आये ॥३५–३६॥ जो सुन्दर संगीतसे युक्त, तथा सूर्यके विमानके समान देदीप्यमान था ऐसा उनका वह विमान शीघ्र ही शौर्यपुर आ पहुँचा ॥३७॥

तदनन्तर वनवती देवीने स्वयं ही पहलेसे आकर वसुदेवके आगमनसे उत्पन्न हर्षसे राजा समुद्रविजयको वृद्धिगत किया—वसुदेवके आगमनका समाचार सुनाकर प्रसन्न किया ॥३८॥ तत्पश्चात् राजा समुद्रविजय, प्रजाजनोंसे नगरकी शोभा कराकर बड़े हर्षसे आदरसे युक्त बन्धुजनोंके साथ कुमार वसुदेवको लेनेके लिए उनके सम्मुख गये ॥३९॥ वसुदेवने अपनी समस्त स्त्रियों सहित विमानसे उतरकर बड़े भाइयों तथा अन्य गुरुजनोंको प्रणाम किया तथा अन्य लोगोंने प्रेमपूर्वक वसुदेवको प्रणाम किया ॥४०॥ जिनके नेत्रोंमें हर्षके अश्रु भर रहे थे ऐसी शिवा आदि महारानियोंने स्त्रियों सहित नमस्कार करते हुए वसुदेवका आलिंगन कर आकाशकी ओर मुँह कर बार-बार यही आशीर्वाद दिया कि अब पुनः वियोग न हो ॥४१॥ कुमारने आगत जनताका यथायोग्य सम्मान किया और जनताने भी उनके प्रति आदरका भाव प्रकट किया।

---

१. धनवती म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुद्रविजयं दृष्ट्वा वसुदेवं च देवता[1] । ययौ [2]वनवतीप्रीता निजं स्थानं हितोद्यता ॥४३॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

लोकः शौर्यपुरोद्भवोऽपि च तदा शौर्यार्जितं निर्जित-
क्ष्माभृच्चक्रमुदारचारुचरितं विद्याधरीवल्लभम् ।
देवाभं वसुदेवमाप्तविभवं दृष्ट्वातितुष्टोऽगदोद्
धर्मस्यैष जिनोदितस्य महिमा पूर्वार्जितस्येत्यसौ ॥४४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सकलबन्धुवधूसमागमवर्णनो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥३२॥

समाप्तं चेदं विद्याधरकाण्डम्

□

तदनन्तर जिनका उदय, बन्धरूपी सागरके लिए हितकारी था ऐसे रोहिणीश—कुमार वसुदेव (पक्षमें चन्द्रमा) शौर्यपुरमें रहते हुए क्रीड़ा करने लगे ॥४२॥ सदा हित करनेमें उद्यत रहनेवाली वनवती देवी समुद्रविजय और वसुदेवको देखकर बहुत प्रसन्न हुई और अन्तमें उनसे पूछकर अपने स्थानको चली गयी ॥४३॥ जो शूर वीरतासे बलिष्ठ थे, जिन्होंने राजाओंके समूहको जीत लिया था, जो उदार एवं सुन्दर चरित्रसे युक्त थे, विद्याधरियोंके स्वामी थे, देवतुल्य थे, और महान् वैभवको प्राप्त थे ऐसे वसुदेवको देखकर उस समय शौर्यपुरके लोग अत्यन्त सन्तुष्ट हो यही कहते थे कि यह पूर्वोपार्जित जैनधर्मकी ही महिमा है ॥४४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें समस्त भाइयों और स्त्रियोंके समागमका वर्णन करनेवाला बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३२॥

विद्याधर काण्ड समाप्त

□

१. वसुदेवः पक्षे चन्द्रः । २. वेगवती ग., क., ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

अथ स प्रार्थितः प्राज्यैः पार्थिवः[1] पार्थिवात्मजैः । [2]शस्त्रोपदेशमातन्वन्नास्ते सूर्यपुरे यदुः ॥१॥
*जातु कंसादिभिः शिष्यैर्धनुर्वेदविचक्षणैः । गतो राजगृहं शौरिर्जरासन्धदिदृक्षया ॥२॥
अश्रौषीद् घोषणां राज्ञः पुरे [3]राजकराजिते । सावधानस्य लोकस्य [4]समाकर्णयतस्तदा ॥३॥
यः सिंहरथमुद्वृत्तं तं सिंहपुरवासिनम् । सत्यसिंहरथारूढमारूढपुरुषौरुषम् ॥४॥
जीवग्राहं गृहीत्वासौ दर्शयिष्यति मेऽग्रतः । स एव पुरुषो लोके शूरः शूरतरोऽपि च ॥५॥
तस्य मानधनस्यान्ते पीतशत्रुयशोऽम्बुधेः । आनुषङ्गिकमप्येतत्फलमन्यसुदुर्लभम् ॥६॥
जीवद्यशसमाशान्तविश्रान्तयशसं गुणैः । सुतामीप्सितदेशेन सह दास्यामि सुन्दरीम् ॥७॥
श्रुत्वा तां घोषणां श्रव्यां वीरैकरसभावितः । कंसेनाग्राहयद्धीरः पताकां यदुनन्दनः ॥८॥
गत्वासौ स समारुह्य विद्यासिंहमयं रथम् । सिंहश्रद्धलमच्छैत्सीत् शरैस्ते हरयोऽप्यगुः [5]॥९॥
शत्रुमुत्प्लुत्य कंसस्तं बबन्ध गुरुशासनात् । दृष्ट्वा कंसस्य कौशल्यं वसुदेवो जगौ तकम् ॥१०॥

अथानन्तर राजा वसुदेव, श्रेष्ठ राजपुत्रों द्वारा प्रार्थित होनेपर उन्हें शस्त्र विद्याका उपदेश देते हुए सूर्यपुरमें रहने लगे ॥१॥ किसी दिन कुमार वसुदेव, धनुर्विद्यामें प्रवीण अपने कंस आदि शिष्योंके साथ, राजा जरासन्धको देखनेकी इच्छासे राजगृह नगर गये ॥२॥ उस समय वह राजगृह नगर बाहरसे आये हुए अनेक राजाओंके समूहसे शोभित था। उसी समय वहाँ सावधान होकर श्रवण करनेवाले लोगोंके लिए राजा जरासन्धकी ओरसे निम्नांकित घोषणा दी गयी थी जिसे वसुदेवने भी सुना ॥३॥ घोषणामें कहा गया था कि "सिंहपुरका स्वामी राजा सिंहरथ बड़ा उद्दण्ड है, वह वास्तविक सिंहोंके रथपर सवारी करता है और उत्कट पराक्रमका धारक है। जो मनुष्य उसे जीवित पकड़कर हमारे सामने दिखावेगा वही पुरुष संसारमें शूर और अतिशय शूरवीर समझा जावेगा ॥४-५॥ शत्रुके यशरूपी सागरको पीनेवाले उस पुरुषको सम्मानरूपी धन तो समर्पित किया ही जावेगा उसके बाद यह अन्य जन दुर्लभ आनुषंगिक फल भी प्राप्त होगा ॥६॥ गुणोंके कारण जिसका यश दिशाओंके अन्तमें विश्राम कर रहा है तथा जो अद्वितीय सुन्दरी है ऐसी अपनी जीवद्यशा नामकी पुत्री भी मैं उसे इच्छित देशके साथ दूँगा" ॥७॥

उस हृदयहारी घोषणाको सुनकर वीर-रसमें पगे हुए धीर-वीर वसुदेवने कंससे पताका ग्रहण करवायी। भावार्थ—वसुदेवने प्रेरित कर कंससे, सिंहरथको पकड़नेकी प्रतिज्ञास्वरूप पताका उठवायी ॥८॥ तदनन्तर वसुदेव, कंसको साथ ले विद्यानिर्मित सिंहोंके रथपर सवार हो सिंहपुर गये। जब सिंहरथ, सिंहोंके रथपर बैठकर युद्धके लिए वसुदेवके सामने आया तब उन्होंने बाणोंके द्वारा उसके सिंहोंकी रास काट डाली जिससे उसके सिंह भाग गये ॥९॥ उसी समय कंसने गुरुकी आज्ञासे उछलकर शत्रुको बाँध लिया। कंसकी चतुराई देख वसुदेवने उससे कहा

---

१. पार्थिवैः म.। २. शास्त्रोपदेश-म.। ३. राजकेन-राजसमूहेन राजिते-शोभिते। ४. समाकर्ण्य यतस्तदा म.। ५ -माक्रान्त-म।

* म पुस्तके प्रथमश्लोकादनन्तरं निम्नाङ्कितः श्लोको दृश्यते—

दृष्ट्वा कंसस्य कौशल्यं वसुदेवो जगौ तकम्।
वरं वृणीष्व तेनोक्तं तिष्ठत्वार्य तवान्तिकम् ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरं वृणीष्व तेनोक्तं तिष्ठाचार्य तवौकसि[1] । दर्शितो वसुदेवेन जरासन्धाय सोऽप्यरिः ॥११॥
दृष्ट्वा च तेन तुष्टेन सुतोपनयनं प्रति । वसुदेवः समादिष्टः कंसेनारेर्ग्रहं जगौ ॥१२॥
पृष्टः कंसो नृपेणाख्यत् स्वजातिमिति भूपते । मम मञ्जोदरी[2] माता कौशाम्ब्यां सीधुकारिणी ॥१३॥
कंसवाक्यमिति श्रुत्वा ततो राजेत्यचिन्तयत् । आकृतिः कथयत्यस्य नायं सीधुकरीसुतः ॥१४॥
आनीनयन्नृपं मङ्क्षु कौशाम्ब्यास्तां निजैस्ततः । प्राप्ता मञ्जोदरी[3] त्वात्तमंजूषानामुद्रिका ॥१५॥
पृष्टा पूर्वापरं राज्ञा व्यजिज्ञपदिति प्रभो । यमुनायाः प्रवाहेऽयं लब्धो मंजूषया सह ॥१६॥
संवर्द्धितः शिशू राजन् मया कारुण्ययुक्तया । उपालम्भसहस्राणां भूयो भाजनभूतया[4] ॥१७॥
स्वभावाच्चण्डतुण्डोऽयमर्भकान् दुर्भगोऽर्भकः । रमयन्न शिरस्ताडाद्विना क्रीडति पुण्यवान् ॥१८॥
गृहं सीधु[5] गृहीत्यर्थं वेश्यानां बालिकाः श्रिताः । पाणिनाऽऽकृष्य वेणीस्ताः सुखलीकृत्य मुञ्चति ॥१९॥
लोकोपालम्भतो भीत्या मयकायं निराकृतः । कृतवान् शस्त्रशिक्षार्थी शिष्यतां किल कस्यचित् ॥२०॥
कंसमञ्जूषिका ह्येषा माता तिष्ठति नाहकम् । तद्गुणैरस्य दोषैर्वा न स्पृश्ये स्पृश्यतामियम् ॥२१॥
इत्युक्ते दर्शितायां च तया तस्यां व्यलोकत । तन्नाममुद्रिकां राजा ततो वाचयति स्म सः ॥२२॥
गर्भस्थोऽपि सुतोऽत्युग्रः पद्मावत्युग्रसेनयोः । जीवताद्वरमात्मीयैः कर्मभिः कृतरक्षणः ॥२३॥
वाचयित्वेति विज्ञाय राजा स्वस्रीयमात्मनः । हृष्टः कन्यां ददौ तस्मै संपन्नगुणसंपदाम् ॥२४॥

कि वर माँग। कंसने उत्तर दिया कि हे आर्य! अभी वर आपके ही घर रहने दीजिए। वसुदेवने शत्रुको ले जाकर जरासन्धको दिखा दिया ॥१०-११॥ शत्रुको सामने देख जरासन्ध सन्तुष्ट हुआ और वसुदेवसे बोला कि तुम पुत्री जीवद्यशाके साथ विवाह करो। इसके उत्तरमें वसुदेवने कह दिया कि शत्रुको कंसने पकड़ा है मैंने नहीं ॥१२॥ राजा जरासन्धने जब कंससे उसकी जाति पूछी तब उसने कहा कि हे राजन्! मेरी माता मंजोदरी कौशाम्बीमें रहती है और मदिरा बनानेका काम करती है ॥१३॥ तदनन्तर कंसके वचन सुनकर राजा इस प्रकार विचार करने लगा कि इसकी आकृति कहती है कि यह मदिरा बनानेवालीका पुत्र नहीं है ॥१४॥ तत्पश्चात् राजा जरासन्धने अपने आदमी भेजकर शीघ्र ही कौशाम्बीसे मंजोदरीको बुलाया और मंजोदरी मंजूषा तथा नामकी मुद्रिका लेकर वहाँ आ पहुँची ॥१५॥ राजाने उससे पूर्वापर कारण पूछा तो वह कहने लगी कि हे प्रभो! मैंने यमुनाके प्रवाहमें इसे मंजूषाके साथ पाया था ॥१६॥ हे राजन्, इस शिशुको देखकर मुझे दया आ गयी अतः पीछे चलकर हजारों उपालम्भोंका पात्र बनकर भी मैंने इसका पालन-पोषण किया ॥१७॥ यह बालक स्वभावसे ही उग्रमुख है—कठोर शब्द बकनेवाला है। यद्यपि यह पुण्यवान् है तो भी अभागा जान पड़ता है। यह बच्चोंके साथ खेलता था तो उनके शिरमें थप्पड़ लगाये बिना नहीं खेलता था। मदिरा खरीदनेके लिए घरपर वेश्याओंकी लड़कियाँ आती थीं तो हाथसे उनकी चोटियाँ खींचकर तथा उन्हें तंग करके ही छोड़ता था ॥१८-१९॥ इसकी इस दुष्प्रवृत्तिसे मेरे पास लोगोंके उलाहने आने लगे जिनसे डरकर मैंने इसे निकाल दिया। यह शस्त्र विद्या सीखना चाहता था इसलिए किसीका शिष्य बन गया ॥२०॥ यह काँसकी मंजूषा ही इसकी माता है, मैं नहीं हूँ, अतः इसके गुण अथवा दोषोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। लीजिए यह मंजूषा है—यह कहकर उसने साथ लायी हुई मंजूषा राजाको दिखा दी। जब मंजूषा खोली गयी तो उसमें उसके नामकी मुद्रिका दिखी। राजा जरासन्ध उसे लेकर बाँचने लगा ॥२१-२२॥ उसमें लिखा था कि यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावतीका पुत्र है। जब यह गर्भमें स्थित था तभीसे अत्यन्त उग्र था। इसकी उग्रतासे भयभीत होकर ही इसे छोड़ा गया है, यह जीवित रहे तथा इसके अपने कर्म ही इसकी रक्षा करें ॥२३॥ मुद्रिकाको बाँचकर राजा जरासन्ध समझ गया कि यह हमारा भानजा है अतः उसने हर्षित होकर उसे

१. तवान्तिके म., ख.। २-३. रंजोदरी म.। ४. भीतया म.। ५. सीधुनो मद्यस्य गृहीतिस्तदर्थम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्योजातं पिता नद्यां मुक्तवानिति स क्रुधा । वरीत्वा मथुरां लब्ध्वा सर्वसाधनसंगतः ॥२५॥
कंसः कालिन्दसेनाया सुतया सह निर्घृणः । गत्वा युद्धे विनिर्जित्य बबन्ध पितरं द्रुतम् ॥२६॥
महोग्रो भग्नसंचारमुग्रसेनं निगृह्य सः । अतिष्ठिपत् कनिष्ठाशः स्वपुरद्वारगोचरे ॥२७॥
वसुदेवोपकारेण हृतः प्रत्युपकारधीः । न वेत्ति किं करोमीति किंकरत्वमुपागतः ॥२८॥
अभ्यर्थ्य गुरुमानीय मथुरां पृथुभक्तितः । स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम् ॥२९॥
आस्ते कंसोपरोधेन मथुरायां ततो यदुः । प्रदीव्य दिव्यदीप्त्यासौ देवक्या हारिवाक्यया ॥३०॥
सूरसेनमहाराष्ट्रराजधानीं द्विषंतपः । शशास मथुरां कंसो जरासन्धातिवल्लभः ॥३१॥
जातुचिन्मुनिवेलायामतिमुक्तकमागतम् । कंसज्येष्ठं मुनिं नत्वा पुरः स्थित्वा सविभ्रमम् ॥३२॥
हसन्ती नर्ममावेन जगौ जीवद्यशा इति । आनन्दवस्त्रमेतत्ते देवक्याः स्वसुरीक्ष्यताम्[1] ॥३३॥
तस्या निर्बन्धचित्ताया प्रमत्ताया निवृत्तये । वचोगुप्तिमसौ भित्त्वा संसारस्थितिविज्जगौ ॥३४॥
अहो क्रीडनशीलायास्तवेयमतिमूढता । शोकस्थाने प्रपन्नासि यदानन्दमनन्दिनि ॥३५॥
भविता यो हि देवक्या गर्भेऽवश्यमसौ शिशुः । पत्युः पितुश्च ते मृत्युरितीयं भवितव्यता ॥३६॥
ततो भीतमतिर्मुक्त्वा मुनिं साश्रुनिरीक्षणा । गत्वा न्यवेदयत्पत्ये सत्यं हि यतिभाषितम् ॥३७॥

गुणरूपी सम्पदासे सम्पन्न अपनी जीवद्यशा पुत्री दे दी ॥२४॥ पिताने मुझे उत्पन्न होते ही नदीमें छोड़ दिया था। यह जानकर कंसको बड़ा क्रोध आया इसलिए उसने जरासन्धसे मथुराका राज्य माँगा और जरासन्धने दे भी दिया। उसे पाकर सब प्रकारकी सेनासे युक्त कंस जीवद्यशाके साथ मथुरा गया। वह निर्दय तो था ही इसलिए वहाँ जाकर उसने पिता उग्रसेनके साथ युद्ध ठान दिया तथा युद्धमें उन्हें जीतकर शीघ्र ही बाँध लिया ॥२५-२६॥ तत्पश्चात् जो प्रकृतिका अत्यन्त उग्र था और जिसकी आशाएँ अत्यन्त क्षुद्र थीं ऐसे उस कंसने अपने पिता राजा उग्रसेनका इधर-उधर जाना बन्द कर उन्हें नगरके मुख्य द्वारके ऊपर कैद कर दिया ॥२७॥

वसुदेवके उपकारका आभारी होनेसे कंस उनका प्रत्युपकार तो करना चाहता था पर यह नहीं निर्णय कर पाता था कि मैं इनका क्या प्रत्युपकार करूँ। वह सदा अपने-आपको वसुदेवका किंकर समझता था ॥२८॥ एक दिन वह प्रार्थनापूर्वक बड़ी भक्तिसे गुरु वसुदेवको मथुरा ले आया और वहाँ लाकर उसने उन्हें गुरु-दक्षिणास्वरूप अपनी देवकी नामक बहन प्रदान कर दी ॥२९॥ तदनन्तर वसुदेव, कंसके आग्रहसे, सुन्दर कान्तिकी धारक एवं मधुर वचन बोलनेवाली देवकीके साथ क्रीड़ा करते हुए मथुरामें ही रहने लगे ॥३०॥ शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाला एवं जरासन्धको अतिशय प्रिय कंस, शूरसेन नामक विशाल देशकी राजधानी मथुराका शासन करने लगा ॥३१॥

एक दिन कंसके बड़े भाई अतिमुक्तक मुनि आहारके समय राजमन्दिर आये सो कंसकी स्त्री जीवद्यशा नमस्कार कर विभ्रम दिखाती हुई उनके सामने खड़ी हो गयी और हँसती हुई क्रीड़ा भावसे कहने लगी कि यह आपकी बहन देवकीका आनन्द वस्त्र है इसे देखिए ॥३२-३३॥ संसारकी स्थितिको जाननेवाले मुनिराज, उस निर्मर्याद चित्तकी धारक एवं राज्यवैभवसे मत्त जीवद्यशाको रोकनेके लिए अपनी वचनगुप्ति तोड़कर बोले कि अहो! तू हँसी कर रही है परन्तु यह तेरी बड़ी मूर्खता है। तू दुःखदायक शोकके स्थानमें भी आनन्द प्राप्त कर रही है ॥३४-३५॥ तू वह निश्चित समझ, कि इस देवकीके गर्भसे जो पुत्र होगा वह तेरे पति और पिताको मारनेवाला होगा। यह ऐसी ही होनहार है—इसे कोई टाल नहीं सकता ॥३६॥

यह सुनते ही जीवद्यशा भयभीत हो उठी, उसके नेत्रोंसे आँसू निकलने लगे। वह उसी समय मुनिराजको छोड़ पतिके पास गयी और 'मुनिके वचन सत्य ही निकलते हैं' यह विश्वास

१. रीक्षताम् क., ग.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत्वा कंसोऽपि शङ्कावानाशु गत्वा पदानतः । वसुदेवं वरं वव्रे तीव्रधीः सत्यवाग्व्रतम् ॥३८॥
स्वामिन् ! वरप्रसादो मे दातव्यो भवता ध्रुवम् । प्रसूतिसमये वासो देवक्या मद्गृहेऽस्त्विति ॥३९॥
सोऽप्यविज्ञातवृत्तान्तो दत्तवान् वरमस्तधीः । नापायः शङ्क्यते कश्चित्सोदरस्य गृहे स्वसुः ॥४०॥
पश्चाद्विदितवृत्तान्तः पश्चात्तापहतान्तरः । सहकारवनान्तस्थमतिमुक्तकमासदवान् ॥४१॥
देवक्या सह वन्दित्वा चारणश्रमणं स तम् । दत्ताशिषमुपासृत्य पप्रच्छ मनसि स्थितम् ॥४२॥
भगवन्नत्र कंसोऽयं कृतेनान्यत्र जन्मनि । पितुरेव रिपुर्जातः कर्मणा केन दुर्मतिः ॥४३॥
कथं वा मम पुत्रोऽस्य कंसस्य भविता विभो । हिंसकः पापचित्तस्य वद वाञ्छामि वेदितुम् ॥४४॥
इति पृष्टो मुनिः प्राह स दीप्तावधिलोचनः । संशयच्छेदिनी यस्मात्प्रवृत्तिर्दिव्यचक्षुषः ॥४५॥
आकर्णयस्व देवानांप्रिय ! सर्वजनप्रियः । कथयामि यथाप्रश्नं यस्तु जिज्ञासितं नृप ॥४६॥
मथुरायामिहैवासीदुग्रसेने तु राजनि । प्राक् पञ्चाग्नितपोनिष्ठो वशिष्ठो नाम तापसः ॥४७॥
एकपादस्थितश्चासावूर्ध्वबाहुर्बृहज्जटः । यमुनायास्तटे सोऽज्ञः तपस्तपति तापसः ॥४८॥

जमाकर उसने सब समाचार कह सुनाया ॥३७॥ स्त्रीके मुखसे यह समाचार सुनकर कंसको भी शंका हो गयी। वह तीक्ष्ण बुद्धिका धारक तो था ही इसलिए शीघ्र ही उपाय सोचकर सत्यवादी वसुदेवके पास गया और चरणोंमें नम्रीभूत होकर वर माँगने लगा ॥३८॥ उसने कहा कि हे स्वामिन् ! मेरा जो वर आपके पास धरोहर है उसे दे दीजिए और वह वर यही चाहता हूँ कि 'प्रसूतिके समय देवकीका निवास मेरे ही घरमें रहा करे' ॥३९॥ वसुदेवको इस वृत्तान्तका कुछ भी ज्ञान नहीं था इसलिए उन्होंने निर्बुद्धि होकर कंसके लिए वह वर दे दिया। भाईके घर बहनको कोई आपत्ति आ सकती है यह शंका भी तो नहीं की जा सकती ? ॥४०॥ पीछे जब उन्हें इस वृत्तान्तका पता चला तो उनका हृदय पश्चात्तापसे बहुत दुःखी हुआ। वे उसी समय आम्रवनके मध्यमें स्थित चारण ऋद्धिधारी अतिमुक्तक मुनिराजके पास गये और देवकीके साथ प्रणाम कर समीपमें बैठ गये। मुनिराजने दोनोंको आशीर्वाद दिया। तदनन्तर वसुदेवने उनसे अपने हृदयमें स्थित निम्नांकित प्रश्न पूछा ॥४१-४२॥

हे भगवन् ! कंसने अन्य जन्ममें ऐसा कौन-सा कर्म किया कि जिससे वह दुर्बुद्धि अपने पिताका ही शत्रु हुआ। इसी प्रकार हे नाथ ! मेरा पुत्र इस पापी कंसका विघात करनेवाला कैसे होगा ?—यह मैं जानना चाहता हूँ सो कृपा कर कहिए ॥४३॥ अतिमुक्तक मुनिराज देदीप्यमान अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे और अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्रके धारक पुरुषोंकी वाणी चूँकि संशयको नष्ट करनेवाली होती है इसलिए कुमार वसुदेवके पूछनेपर मुनिराज कहने लगे ॥४४॥

हे देवोंके प्रिय ! राजन् ! सुन, तेरा प्रश्न सब लोगोंके लिए प्रिय है इसलिए मैं तेरे प्रश्नके अनुसार तेरी जिज्ञासित वस्तुको कहता हूँ ॥४५॥ इसी मथुरा नगरीमें जब राजा उग्रसेन राज्य करता था तब पहले पंचाग्नि तप तपनेवाला एक वशिष्ठ नामक तापस रहता था ॥४६॥ वह अज्ञानी यमुना नदीके किनारे तप तपता था, एक पाँवसे खड़ा रहता था, ऊपरकी ओर भुजा उठाये रहता था और बड़ी-बड़ी जटाओंको धारण करता था ॥४७॥ वहाँपर लोगोंकी पनिहारिनें पानीके लिए आती थीं। एक दिन जिनदास सेठकी प्रियंगुलतिका नामकी पनिहारिन भी वहाँ आयी। हितकी बुद्धि रखनेवाली अन्य पनिहारिनोंने प्रियंगुलतिकासे कहा कि हे प्रियंगुलतिके !

---

१. अत्र क. ग. ङ. पुस्तकेषु एवंविधः पाठः—'पश्चाद्विदितवृत्तान्तः पश्चात्तापहतान्तरः । देवकी रुदमानासौ निजनाथं जगाद सा ॥४१॥ बहवो नन्दनास्तेऽस्मिन् किं करिष्याम्यहं पुनः । तच्छ्रुत्वा स वनान्तस्थमतिमुक्तकमासदवान् ॥४२॥'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलार्थं तत्र लोकानां घटदासीभिः सा तथा । भणिता जिनदासस्य चेटिकाहितबुद्धिभिः ॥४९॥
प्रियङ्गुलतिके त्वस्य प्रणामं कुरु सत्वरम् । सा चावादीन्न मे भक्तिरस्योपरि करोमि किम् ॥५०॥
ततो हठान्नामिताभिः[1] सा जगौ धीवरस्य हे । पातिताहं पदद्वन्द्वे श्रवणाद्दुष्टः[2] स मूढधीः ॥५१॥
गतो राजसमीपेऽसौ जगावाक्रोशितोऽप्यहम् । श्रेष्ठिना जिनदत्तेन मो प्रभो कारणं विना[3] ॥५२॥
राज्ञा ह्यानाय्य[4] पृष्टोऽसौ जिनदत्तो बभाण तम् । अस्य मे दर्शनं नास्ति किं शाप्यमब्रवीन्मुनिः ॥५३॥
शापितश्चास्य दास्याहं पृष्टाचानाय्य तेन सा । कथं न नमसे पापे मुनिं निन्दयसि क्रुधा ॥५४॥
तयोक्तं न मुनिस्त्वेष धीवरोऽस्ति प्रभो कुधीः । जटाभारस्य नो अस्य शुद्धिः कुत्रापि दृश्यते ॥५५॥
शोधिते बहवो मत्स्याः सूक्ष्मास्तेभ्यश्च निर्गताः । लज्जितो हसितो लोकैर्मृषावादी त्वसौ मुनिः ॥५६॥
[5]यदा स परीक्षितो राज्ञा तदा कोपं विधाय सः । प्रकाशितनिजाज्ञानो मथुरायां विनिर्गतः ॥५७॥
वाराणसीं समासाद्य समासादितनिश्चयः । गत्वा बाह्यं च[6] गङ्गायाः संगमे कुरुते तपः ॥५८॥
वीरभद्रगुरुश्चागात् सपञ्चशतशिष्यकः । तद्देशं तत्र चैकेन नवप्रव्रजितेन सः ॥५९॥
प्रशंसितो वशिष्ठोऽयमहो घोरतपा इति । वारितः स तपः कीदृगज्ञानस्येति सूरिणा ॥६०॥
वशिष्ठेन किमज्ञोऽहमित्युक्तो गुरुरब्रवीत् । त्वं षड्जीवनिकायानां पीडनादज्ञ इत्यसौ ॥६१॥
पञ्चाग्नितपसि प्रायो नियोगो दहनस्य हि । दह्यन्ते तेन चावश्यं पञ्चैकविकलेन्द्रियाः ॥६२॥

तू शीघ्र ही इस साधुको नमस्कार कर। उत्तरमें प्रियंगुलतिकाने कहा कि इसके ऊपर मेरी भक्ति बिलकुल नहीं है। मैं क्या करूँ ? ॥४८-४९॥ तदनन्तर अन्य पनिहारिनोंने प्रियंगुलतिकाको जबरदस्ती उस साधुके चरणोंमें नमा दिया। प्रियंगुलतिकाने रुष्ट होकर कहा कि अहो ! तुम लोगोंने मुझे धीवरके चरणोंमें गिरा दिया। प्रियंगुलतिकाके उक्त वचन सुनते ही मूर्ख साधु कुपित हो उठा ॥५०-५१॥ वह सीधा राजा उग्रसेनके पास गया और कहने लगा कि हे प्रभो ! जिनदत्त सेठने मुझे बिना कारण ही गाली दी है ॥५२॥ राजाने जिनदत्त सेठको बुलाकर पूछा तो उसने कहा कि नाथ ! मैंने तो इसे देखा भी नहीं है फिर गाली तो दूर रही है। इसके उत्तरमें साधुने कहा कि इसकी दासीने गाली दी है। राजाने दासीको बुलाकर क्रोध दिखाते हुए पूछा कि अरी पापिन ! तू इस साधुको नमस्कार क्यों नहीं करती ? उलटी निन्दा करती है ? ॥५३-५४॥

दासीने कहा कि प्रभो ! यह साधु नहीं है यह तो मूर्ख धीवर है। इसकी जटाओंमें कहीं भी शुद्धता नहीं दिखाई देती ॥५५॥ साधुकी जटाएँ शोधी गयीं तो उनसे बहुत-सी छोटी-छोटी मछलियाँ निकल पड़ीं। इससे साधु बहुत लज्जित हुआ और यह 'असत्यवादी है' यह कहकर लोगोंने उसकी बहुत हँसी उड़ायी ॥५६॥ जब राजाने उसकी परीक्षा ली तो वह क्रोध कर अपना अज्ञान प्रकट करता हुआ मथुरासे बाहर चला गया ॥५७॥ और बनारस जाकर वहाँ रहनेका उसने निश्चय कर लिया। अब वह बनारसके बाहर जाकर गंगाके किनारे तप करने लगा ॥५८॥ किसी एक दिन वहाँ अपने पाँच सौ शिष्योंके साथ वीरभद्र मुनिराज आये। उनके संघके एक नवदीक्षित मुनिने वशिष्ठकी तपस्या देख, 'अहा ! यह घोर तपस्वी वशिष्ठ है' इस प्रकार उसकी प्रशंसा की। 'अरे अज्ञानीका तप कैसा ?' यह कहते हुए आचार्यने उस नवदीक्षित मुनिको प्रशंसा करनेसे रोका ॥५९-६०॥ वशिष्ठने पूछा कि 'मैं अज्ञानी कैसे हूँ ?' इसके उत्तरमें आचार्यने कहा कि तुम छह कायके जीवोंको पीड़ा पहुँचाते हो इसलिए अज्ञानी हो ॥६१॥ पंचाग्नि तपमें अग्निका संसर्ग अवश्य रहता है और उस अग्निके द्वारा पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा एकेन्द्रिय

१. नामिता आभिः । २. श्रवणाद्दुष्टो क., ग. । ३. प्रभोऽहं कारणाद्विना म. । ४. राज्ञानाय्य म. । ५. ख. पुस्तक एकोनपञ्चाशत्तमात् षट्पञ्चाशत्तमपर्यन्ताः श्लोका न सन्ति । तत्स्थाने निम्नाङ्कितः पाठोऽधिको वर्तते—'श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य भृत्ययाज्ञान इत्यसौ । हेतोः कुतोऽप्यधिक्षिप्तः प्रियङ्गुलतिकाख्यया ॥ क्रुद्धो राजानमद्राक्षोद् राज्ञा चापि परीक्षितः ॥' ६ बाह्यश्च म., ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथिव्यप्तेजसां वायोः प्राणिनां च वनस्पतेः । प्रघाते ज्ञानहीनस्य कुतः स्यात् प्राणिसंयमः ॥६३॥
विरागस्यापि मिथ्यादृग्ज्ञानचारित्रमानिनः । संज्ञानपूर्वको जन्तोः कुतश्चेन्द्रियसंयमः ॥६४॥
केवलं कायसंतापं भजमानस्य मानिनः । सम्यक्संयमहीनस्य तापस्यं मुक्तये कुतः ॥६५॥
जैन एव हि सन्मार्गे संयमस्तप एव च । दर्शनं चापि चारित्रं ज्ञानं चाशेषभासनम् ॥६६॥
अवेहि तापसात्मीयं पितरं व्यालतां गतम् । ज्वालाधूमावलीव्याप्ते दह्यमानमिहेन्धने ॥६७॥
इत्युक्ते तापसः काष्ठं कुठारेण विपाट्य सः । ददर्श दंदशूकं तं दह्यमानं तदाकुलम् ॥६८॥
कृततापसधर्मस्य ब्रह्माख्यस्त्वपितुर्गतिम् । कुत्सितामवगम्यासावज्ञत्वं चापि चात्मनः ॥६९॥
ज्ञात्वा च जैनधर्मस्य ज्ञानपूर्वकतां तथा । वीरभद्रगुरोरन्ते [1]वशिष्ठोऽधिष्ठितस्तपः ॥७०॥
एको लाभान्तरायस्य कर्मणः परिपाकतः । [2]तपस्यतामभूत् साधुः स भिक्षालब्धिवर्जितः ॥७१॥
स पर्युपासनाहेतोरागमागमनाय च । शिवगुप्तयतेर्यत्नात् गुरुणापि समर्पितः ॥७२॥
संतप्तं च स षण्मासान् वीरदत्ते न्ययोजयत् । तथा सोऽपि सुमत्याख्ये षण्मासान् सोऽप्यपालयत् ॥७३॥
यतिधर्मविधानज्ञः परीषहसहस्ततः । बभूवैकविहारी स वशिष्ठो विदितः क्षितौ ॥७४॥
मथुरायामथ संप्राप्तो विहरन् स महातपाः । पूज्यते च प्रजापालप्रजाभिर्गुरुवत्तया ॥७५॥

जीव अवश्य जलते हैं ॥६२॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों तथा अन्य त्रस प्राणियोंका विघात होनेसे अज्ञानी जीवके प्राणिसंयम कैसे हो सकता है ॥६३॥ इसी प्रकार जो विरक्त होकर भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको माननेवाला है उसके सम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेवाला इन्द्रिय संयम भी कैसे हो सकता है ? ॥६४॥ जो केवल कायक्लेश तपको प्राप्त है, मानसे भरा हुआ है और समीचीन संयमसे रहित है उसकी तपस्या मुक्तिके लिए कैसे हो सकती है ? ॥६५॥ एक जैन मार्ग ही सन्मार्ग है, उसीमें संयम, तप, दर्शन, चारित्र और समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान प्राप्त हो सकता है ॥६६॥ हे तापस ! तुम जानते हो तुम्हारा पिता मरकर साँप हुआ है और ज्वालाओं तथा धूमकी पंक्तिसे व्याप्त इसी ईंधनमें जल रहा है ॥६७॥ आचार्यके इस प्रकार कहनेपर तापसने कुल्हाड़ासे उस काष्ठको चीरकर देखा तो उसके अन्दर साँप जलता हुआ छटपटा रहा था ॥६८॥ तदनन्तर आचार्यने फिर कहा कि तेरे पिताका नाम ब्रह्मा था और वह तेरे ही समान तापसके धर्मका पालन करता था। उसीसे उसकी यह कुगति हुई है। आचार्यके मुखसे यह सब जानकर वशिष्ठ तापसको जान पड़ा कि मैं अज्ञानी हूँ और जैनधर्म सम्यग्ज्ञानसे परिपूर्ण है। अतः उसने उन्हीं वीरभद्र गुरुके पास जैन दीक्षा धारण कर ली ॥६९-७०॥ उनके साथ अनेक मुनि तपस्या करते थे परन्तु लाभान्तराय कर्मके उदयसे उन सबमें एक वशिष्ठ मुनि ही भिक्षाके लाभसे वर्जित रह जाते थे अर्थात् उन्हें भिक्षाकी प्राप्ति बहुत कम होती थी ॥७१॥ तदनन्तर वीरभद्र गुरुने सेवाके निमित्त और आगमका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वशिष्ठ मुनिको यत्नपूर्वक शिवगुप्त यतिको सौंप दिया ॥७२॥ छह महीने तक तप करनेके बाद शिवगुप्त यतिने वशिष्ठ मुनिको वीरदत्त नामक मुनिराजके लिए सौंप दिया। वीरदत्त मुनिने भी छह माह अपने पास रखकर उन्हें सुमति नामक मुनिके लिए सौंप दिया और सुमति मुनिने भी छह माह तक उनका अच्छी तरह पालन किया ॥७३॥ तदनन्तर अनेक गुरुओंके पास रहनेसे जो मुनि-धर्मकी विधिको अच्छी तरह जानने लगे थे और परीषह सहन करनेका जिन्हें अच्छा अभ्यास हो गया था ऐसे वशिष्ठ मुनि पृथिवीपर प्रसिद्ध एकविहारी हो गये—अकेले ही विचरण करने लगे ॥७४॥

अथानन्तर महातपस्वी वशिष्ठ मुनि कदाचित् विहार करते हुए मथुरा आये सो राजा

१. वशिष्ठः तपोऽधिष्ठितवान् इत्यर्थः । २. तपः कुर्वतामन्येषां मध्ये । तपस्यन्समभूत् साधुः क. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धृतातपनयोगं तं मुदा पर्वतमस्तके । सप्तैत्योचुस्तपोवश्याः किं कुर्मस्तेऽथ देवताः ॥७६॥
कर्तव्यं मम नास्तीति स निषिध्य तपोधनः । व्यसर्जयद्धि[1] तद्वश्या गताश्च वनदेवताः ॥७७॥
मासोपवासिने तस्मै निःस्पृहाय तपस्विने । पारणास्वन्नदानाय स्पृहयन्त्यखिलाः प्रजाः ॥७८॥
उग्रसेनोऽन्यदा दातुं पारणां तमयाचत । न्यवारयत्तदा दातॄन् मथुरावासिनोऽखिलान् ॥७९॥
पारणासु नृपस्तस्य विसस्मार तिसृष्वपि । दूताग्निद्विरदक्षोभव्यासंगेन प्रमादवान् ॥८०॥
अटित्वा मथुरां सर्वामलाभे श्रमपीडितः । श्रमणोऽन्ते विशश्राम नगरद्वारि सोऽन्यदा ॥८१॥
तं दृष्ट्वा केनचित्प्रोक्तं[2] हा कष्टं भूभृता कृतम् । भिक्षां स्वयं न दत्तेऽस्मै परानपि निषिद्धवान् ॥८२॥
तदाकर्ण्य रुषा तेन ध्यातास्ताः पूर्वदेवताः । कार्यं कुर्यात मेऽन्यस्मिन् जन्मनीति विनिर्ययौ ॥८३॥
निकारायोग्रसेनस्य प्रकृतोग्रनिदानतः । स मिथ्यात्वमितो मृत्वा पद्मावत्युदरेऽवसत् ॥८४॥
तस्मिन् गर्भस्थिते देवीमेकान्ते कृशविग्रहाम् । नृपः पप्रच्छ तां कान्ते दौर्हृदं ते किमित्यसौ ॥८५॥
नाथावाच्यमचिन्त्यं च गर्भदोषेण चिन्तितम् । इत्युक्ते स त्वयावश्यं वाच्यमित्यवदन्नृपः ॥८६॥

तथा प्रजाने बड़ी प्रतिष्ठाके साथ उनकी पूजा की ॥७५॥ एक समय वे बड़ी प्रसन्नतासे पर्वतके मस्तकपर आतापन योग धारण कर विराजमान थे कि उनके तपसे वशीभूत हुईं सात देवियाँ पास आकर कहने लगीं कि हम लोग आपका क्या कार्य करें ? ॥७६॥ तपोधन वशिष्ठ मुनिने यह कहकर उन देवियोंको वापस कर दिया कि मेरा कोई काम नहीं है। अन्तमें उनके आधीन हुईं वे वन-देवियाँ चली गयीं ॥७७॥ आहारकी इच्छासे रहित वशिष्ठ मुनि एक मासके उपवासका नियम लेकर तपस्या कर रहे थे, इसलिए समस्त प्रजा पारणाओंके समय उन्हें आहार देना चाहती थी ॥७८॥ परन्तु राजा उग्रसेनने किसी समय नगरवासियोंसे यह याचना की कि मासोपवासी मुनिराजके लिए पारणाओंके समय मैं ही आहार दूँगा और इसी भावनासे उसने मथुरामें रहनेवाले सब दाताओंको आहार देनेसे रोक दिया ॥७९॥ मुनिराज एक-एक मास बाद तीन बार पारणाओंके लिए आये परन्तु तीनों बार राजा प्रमादी बन आहार देना भूल गया। पहली पारणाके समय जरासन्धका दूत आया था सो उसकी व्यवस्थामें निमग्न हो आहार देना भूल गया। दूसरी पारणाके समय आग लग गयी सो उसकी व्यवस्थामें संलग्न होनेसे प्रमादी हो गया और तीसरी पारणाके समय नगरमें हाथीने क्षोभ मचा दिया इसलिए उसके व्यासंगसे प्रमादी हो आहार देना भूल गया ॥८०॥ मुनि आहारके लिए समस्त मथुरा नगरीमें घूमे परन्तु कहीं आहार प्राप्त नहीं हुआ। अन्तमें श्रमसे पीड़ित हो नगरके द्वारमें विश्राम करने लगे ॥८१॥ उन्हें देख किसी नगरवासीने कहा कि हाय बड़े खेदकी बात राजाने कर रक्खी है—इन मुनिराजके लिए वह स्वयं आहार देता नहीं है तथा दूसरोंको मना कर रखा है ॥८२॥ यह सुनकर मुनिराजको क्रोध आ गया। उन्होंने उसी समय पहले आयी हुईं देवियोंका स्मरण किया। स्मरण करते ही देवियाँ आ गयीं। उन्हें देख मुनिने कहा कि 'आप लोग अन्य जन्ममें मेरा काम करें।' मुनिकी आज्ञा स्वीकृत कर देवियाँ वापस चली गयीं और मुनि वनको ओर प्रस्थान कर गये॥८३॥ राजा उग्रसेनका अपमान करनेके लिए वशिष्ठ मुनिने यह उग्र निदान बाँध लिया कि मैं उग्रसेनका पुत्र होकर इसका बदला लूँ। निदानके कारण वे मुनि पदसे भ्रष्ट हो मिथ्यात्व गुणस्थानमें आ गये और उसी समय मरकर राजा उग्रसेनकी रानी पद्मावतीके उदरमें निवास करने लगे ॥८४॥ जब कंसका जीव पद्मावतीके गर्भमें था तब पद्मावतीका शरीर एकदम दुर्बल हो गया। एक दिन राजाने उससे एकान्तमें पूछा कि कान्ते ! तुम्हारा दोहला क्या है ? जिसके कारण तुम सूखकर काँटा हुई जा रही हो ॥८५॥ पद्मावतीने कहा कि हे नाथ ! गर्भके दोषसे मुझे जो दोहला हुआ है वह न तो कहने योग्य है

१. विवृद्धस्या ग. (?)। २. प्रोक्तो म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सास्य निर्बन्धतो वाचा दुःखगद्गदयागदीत् । विपाट्य जठरं पातुं रुधिरं तव मे स्पृहा ॥८७॥
सचिवोपायतस्तस्या दौर्हृदे विहिते ततः । असूत तनयं देवी भ्रकुटीकुटिलाननम् ॥८८॥
गर्भप्रभृतिरौद्रं तं कंसमंजूषिकाकृतम् । देव्यमोचयदेकान्ते प्रवाहे यामुने[1] भयात् ॥८९॥
अवीवृधदसौ लब्ध्वा कौशाम्ब्यां सीधुकारिणी । कृतकंसाभिधं शेषं तवापि विदितं नृप ॥९०॥
निदानदोषदुष्टोऽयं कृतवान् पितृनिग्रहम् । उग्रसेननृपं चापि मोचयिष्यति ते सुतः ॥९१॥
नृपोक्तः कंससंबन्धः पितृबन्धनिबन्धनः । वच्मि ते पुत्रसंबन्धं शृणु संधाय मानसम् ॥९२॥
देवक्याः सप्तमः सूनुः शङ्खचक्रगदासिभृत् । निहत्य कंसपूर्वारीन् निःशेषां भोक्ष्यति क्षितिम् ॥९३॥
चरमोत्तमदेहास्तु शेषाः षडपि सूनवः । न तेषामपमृत्युः[2] स्यादाधिव्याधिमतस्त्यज ॥९४॥
रामभद्रसमेतानां तेषां जन्मान्तराणि ते । भणामि शृणु सस्त्रीकश्चित्तप्रीतिकराण्यहम् ॥९५॥
शूरसेननृपे पाति मथुरां भानुरित्यभूत् । इभ्यो द्वादशकोटीशो यमुना तस्य सासिनी ॥९६॥
सुभानुर्भानुकीर्तिश्च भानुषेणस्तथा परः । शूरश्च सूरदेवश्च शूरदत्तस्तथैव च ॥९७॥
शूरसेनश्च सप्तैते यमुनाभानुसूनवः । अभिरामाः स्वभावेन तेऽन्योऽन्यानुगतास्तदा ॥९८॥
कालिन्दी तिलका कान्ता श्रीकान्ता सुन्दरी द्युतिः । चन्द्रकान्ता च तत्कान्ता क्रमेण कुलबालिकाः॥९९॥
भानुः प्राव्रजदन्तेऽसौ गुरोरभयनन्दिनः । तथा यमुनदत्तापि जिनदत्तार्यिकान्तिके ॥१००॥

और न विचार करने योग्य है। रानीके इस प्रकार कहनेपर राजाने कहा कि वह दोहला तुम्हें अवश्य कहना चाहिए ॥८६॥ राजाका हठ देख उसने दुःखसे गद्गद वाणी द्वारा कहा कि हे नाथ! मेरी इच्छा है कि मैं आपका पेट फाड़कर आपका रुधिर पीऊँ ॥८७॥ तदनन्तर मन्त्रियोंके उपायसे उसका दोहला पूर्ण किया गया। नौमाह बाद रानी पद्मावतीने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जिसका मुख भौंहोंसे अत्यन्त कुटिल था ॥८८॥ चूँकि वह बालक गर्भसे ही अत्यन्त रौद्र था इसलिए रानी पद्मावतीने भयसे उसे काँसकी मंजूषामें बन्द कर एकान्तमें यमुनाके प्रवाहमें छुड़वा दिया ॥८९॥ वह मंजूषा बहती-बहती कौशाम्बी नगरी पहुँची। वहाँ एक कलारिनने उसे पाकर पुत्रका कंस नाम रखा तथा उसका पालन-पोषण किया। हे राजन्! इसके आगेका सब समाचार तुम्हें विदित ही है ॥९०॥ निदानके दोषसे दूषित होकर इसने पिताका निग्रह किया है। आगे चलकर तुम्हारा पुत्र उसे मारेगा और उसके पिता राजा उग्रसेनको भी बन्धनसे छुड़ावेगा ॥९१॥ हे राजन्! कंसने अपने पिताको बन्धनमें क्यों डाला इसका कारण बतलानेवाला कंसका वृत्तान्त कहा। अब तेरे पुत्रोंका वृत्तान्त कहता हूँ सो मनको स्थिर कर सुन ॥९२॥

देवकीका सातवाँ पुत्र शंख, चक्र, गदा तथा खड्गको धारण करनेवाला होगा और वह कंस आदि शत्रुओंको मारकर समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥९३॥ शेष छहों पुत्र चरम-शरीरी होंगे। उनकी अपमृत्यु नहीं हो सकेगी, अतः चिन्तारूपी व्याधिका त्याग करो ॥९४॥ मैं रामभद्र (बलदेव) सहित उन सबके पूर्वभव तुम्हें कहता हूँ सो अपनी स्त्रीके साथ श्रवण करो। अवश्य ही उन सबके पूर्वभव तेरे चित्तको प्रीति करनेवाले होंगे ॥९५॥

जब राजा शूरसेन मथुरापुरीकी रक्षा करते थे तब यहाँ बारह करोड़ मुद्राओंका अधिपति भानु नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम यमुना था ॥९६॥ उन दोनोंके सुभानु, भानुकीर्ति, भानुषेण, शूर, सूरदेव, शूरदत्त और शूरसेन ये सात पुत्र उत्पन्न हुए। ये सातों भाई अत्यन्त सुन्दर तथा स्वभावसे ही एक दूसरेके अनुगामी थे ॥९७-९८॥ उन सातों पुत्रोंकी क्रमसे कालिन्दी, तिलका, कान्ता, श्रीकान्ता, सुन्दरी, द्युति और चन्द्रकान्ता ये सात स्त्रियाँ थीं जो उच्च कुलोंकी कन्याएँ थीं ॥९९॥ कदाचित् भानु सेठने अभयनन्दी गुरुके समीप और उसकी स्त्री यमुनाने

१. यमुनाया इदमिति यामुनं तस्मिन् यामुने । २. तेषामपि म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्यूतवेश्याप्रसङ्गेन विनाश्य द्रविणं पितुः । चौर्यार्थं भ्रातरः सर्वे गतास्तूज्जयिनीं पुरीम् ॥१०१॥
कनीयांसं महाकाले संतत्यर्थं निधाय ते । प्राविशन् निशि निःशङ्काः पुरीं षडपि चेतरे ॥१०२॥
कमलायास्तदा भर्त्ता राजात्र वृषभध्वजः । वप्रश्रीवल्लभस्तस्य [1]दृढमुष्टिर्भटोत्तमः ॥१०३॥
स वज्रमुष्टये मङ्गीं स्वाङ्गजायाङ्गजार्त्तये । राज्ञा विमलचन्द्रेण विमलाजामदापयत् ॥१०४॥
सातिवल्लभिका तस्य [2]वल्लकीवाङ्गवादिनी । [3]श्वश्रूं शुश्रूषया मङ्गी संगता नानुवर्त्तते ॥१०५॥
अन्तःकलुषिणी सास्याः [4]सततापायचिन्तती । उपायं चिन्तयन्त्यास्ते छद्मना तद्वियोजने ॥१०६॥
सा वसन्तोत्सवे रन्तुं वनं प्रमदपूर्वकम् । द्राङ् मामन्वेहि मङ्गीति राज्ञाऽमा [5]प्राग्तेऽङ्गजे ॥१०७॥
माल्यदानापदेशेन तामादिष्टां वधूं कुधीः । संदष्टां दंदशूकेन धूपिनेन घटोदरे ॥१०८॥
मूर्च्छितां विषवेगेन श्वश्रूभृत्यैरजीहरत् । श्मशानं तन्महाकालं कालस्यापि भयंकरम् ॥१०९॥
स रात्रौ गृहमागत्य ज्ञात्वा वृत्तान्तमाविशत् । महाकालं महास्नेहादन्वेष्टुं स्वप्रियां प्रियः ॥११०॥
खड्गदीप्रकरः सोऽयं तच्छ्मशानमशङ्कितः । [6]रात्रौ प्रतिमयापश्यद् वरधर्ममुनिं स्थितम् ॥१११॥

जिनदत्ता आर्यिकाके समीप दीक्षा ले ली ॥१००॥ सातों भाइयोंने जुआ और वेश्या व्यसनमें फँसकर पिताका सब धन नष्ट कर दिया। जब उनके पास कुछ भी नहीं रहा तब सब भाई चोरी करनेके लिए उज्जयिनी नगरी गये ॥१०१॥ उज्जयिनीके बाहर एक महाकाल नामका वन है। वहाँ सन्ततिकी रक्षाके लिए छोटे भाईको रखकर शेष छहों भाई निःशंक हो रात्रिके समय नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥१०२॥ उस समय उज्जयिनीका राजा वृषभध्वज था। उसकी स्त्रीका नाम कमला था। राजा वृषभध्वजका दृढ़मुष्टि नामका एक उत्तम योद्धा था। उसकी स्त्रीका नाम वप्रश्री था। उन दोनोंको वज्रमुष्टि नामका पुत्र था। युवा होनेपर जब वह कामसे पीड़ित हुआ तब उसने राजा विमलचन्द्रसे उनकी विमला रानीसे उत्पन्न मंगी नामक पुत्री उसके लिए दिलवा दी ॥१०३-१०४॥ मंगी वज्रमुष्टिके लिए बहुत प्यारी थी। वह वीणाकी तरह सदा उसीके साथ रहती थी और शुश्रूषा-सेवासे युक्त हो सासके अनुकूल आचरण नहीं करती थी अर्थात् सासकी कभी सेवा नहीं करती थी। इसलिए उसकी सास मन ही मन बहुत कलुषित रहती थी और निरन्तर उसके नाशका उपाय सोचती रहती थी। एक दिन वह छलसे उसके मारनेका उपाय सोचती हुई बैठी थी कि इतनेमें वसन्तोत्सवका समय आ गया और उसका पुत्र वज्रमुष्टि प्रमदवनमें क्रीड़ा करनेके लिए राजाके साथ पहले चला गया तथा मंगीसे कह गया कि हे मंगि! तू शीघ्र ही मेरे पीछे आ जाना ॥१०५-१०७॥ इधर सासने मंगीको वसन्तोत्सवमें नहीं जाने दिया। उस दुर्बुद्धिने एक घड़ेमें धूपिन जातिका जहरीला साँप पहलेसे बुला रखा था। अवसर देख उसने मंगीसे कहा कि तू वसन्तोत्सवमें नहीं जा सकी है इसलिए दुःखी न हो। मैंने तेरे लिए पहलेसे ही सुन्दर माला बुला रखी है। जा उस घड़ेमें-से निकालकर पहिन ले। भोली-भाली मंगीने मालाके लोभसे घड़ेमें ज्योंही हाथ डाला त्योंही उस धूपिन सर्पने उसे डँस लिया ॥१०८॥ मंगी विषके वेगसे तुरन्त ही मूर्च्छित हो गयी और सासने उसे अपने भृत्यों द्वारा उस महाकाल नामक श्मशानमें जो यमराजके लिए भी भय उत्पन्न करनेवाला था छुड़वा दिया ॥१०९॥

वज्रमुष्टि जब रात्रिको घर आया और सब वृत्तान्त उसे मालूम हुआ तो वह बड़े स्नेहसे अपनी प्रिया मंगीको ढूँढ़नेके लिए महाकाल श्मशानमें जा घुसा ॥११०॥ उस समय उसके हाथमें एक चमकती हुई तलवार थी। उसीके बलपर वह निःशंक होकर श्मशानमें घुसा जा रहा था। आगे चलकर उसने उस श्मशानमें रात्रि-भरके लिए प्रतिमा योग लेकर विराजमान वरधर्म नामक

---

१. दृष्टमुष्टि -म.। २. वीणेव। ३. श्वश्रूशुश्रूषया म., ग.। ४. सकृतापाय -ग.। ५. राज्ञा अमा = सहेत्यर्थः। ६. रात्रिप्रतिमया-म., ख., ग.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिः परीत्य स तं नत्वा जगौ ते पादपूजनम् । कुर्वे पद्मसहस्रेण मुने ! मङ्गीं लभे यदि ॥११२॥
उक्त्वेति प्रगतो लब्ध्वा स तामानीय मानिनीम् । महामुनिपदस्पर्शान्निर्विषां विदधे वधूम् ॥११३॥
मुनिपादोपकण्ठेऽसौ तावत्तिष्ठेत्युदीर्य ताम् । सुदर्शनं सरो यातः पद्मानामानिनीषया ॥११४॥
शूरसेनस्तमादृश्यं महास्नेहं प्रियां प्रति । स जिज्ञासुर्मनस्तस्या रूपी रूपमदर्शयत् ॥११५॥
गूढधीः कृतसल्लापस्तया सकृतमन्त्रणः । तस्य दर्शनमात्रेण जातासौ कामविह्वला ॥११६॥
तमागत्याब्रवीद् देव ! मामिच्छ कृपयान्वितः । स बभाण करोम्येवं कथं भर्तरि जीवति ॥११७॥
बिभेम्यतः प्रियेऽवश्यं वीर्यान्वितभटादहम् । त्वं मा कुर्वीर्मयं नाथ ! सा तं प्राह सुरुक्षधीः ॥११८॥
असिना घातयाम्येनं तेनाभ्युपगतं तथा[1] । तत्र गूढतनुस्तस्थौ तत्कृतं[2] तद्दिदृक्षया ॥११९॥
आगत्याभ्यर्च्य साध्वंही[3] नमतोऽस्य शिरस्यसिः । मुक्तस्तया निरुद्धो द्राक् शूरसेनेन तेन सः ॥१२०॥
अन्तर्हितवपुर्यातः शूरसेनो विरक्तधीः । ततोऽनु मायया मङ्गी तस्य स्पर्शेन शङ्किता ॥१२१॥
स्वदोषच्छादनायासौ पपात धरणीतले । मत्रा पृष्टा प्रिये किं नु केनचिद् भीषितात्र हि ॥१२२॥
न किंचिदपि चास्त्यत्र तां प्रबोध्य भयातुराम् । वज्रमुष्टिर्मुनिं नत्वा सकान्तः स्वगृहं गतः ॥१२३॥

मुनिराजको देखा ॥१११॥ उसने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर मुनिराजको नमस्कार किया और कहा कि हे मुनिराज ! यदि मैं मंगीको प्राप्त कर सका तो एक हजार कमलोंसे आपके चरणोंकी पूजा करूँगा ॥११२॥ इस प्रकार कहकर वह ज्योंही आगे बढ़ा त्योंही उसे उसकी स्त्री मंगी मिल गयी। वह उसे मुनिराजके पास ले आया और उनके चरणोंके स्पर्शसे उसने उसे विष रहित कर लिया ॥११३॥ तदनन्तर 'जबतक मैं न आ जाऊँ तबतक तुम मुनिराजके चरणोंके समीप बैठना' इस प्रकार मंगीसे कहकर वज्रमुष्टि कमल लानेकी इच्छासे सुदर्शन नामक सरोवरकी ओर चला गया ॥११४॥ पास ही छिपा हुआ शूरसेन मंगीके प्रति वज्रमुष्टिका महान् स्नेह देख चुका था इसलिए उसने उसके मनका भाव जाननेकी इच्छासे उसे अपना रूप दिखाया। वह सुन्दर तो था ही ॥११५॥ वह अपने अभिप्रायको छिपाकर उसके साथ मीठी-मीठी बातचीत और गुप्त सलाह करने लगा। मंगी उसे देखते ही कामसे विह्वल हो गयी ॥११६॥ उसी विह्वल दशामें उसने शूरसेनके पास जाकर कहा कि हे देव ! आप कृपा कर मुझे स्वीकृत कीजिए। मंगीकी प्रार्थना सुनकर शूरसेनने कहा कि जबतक तुम्हारा पति जीवित है तबतक मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ ? हे प्रिये ! मैं इस शक्तिशाली सुभटसे अवश्य ही डरता हूँ। इसके उत्तरमें अनुरागसे भरी मंगीने कहा कि हे नाथ ! आप इसका भय नहीं कीजिए। मैं इसे तो तलवारसे अभी मार डालती हूँ। शूरसेनने उत्तर दिया कि यदि ऐसा है तो मुझे स्वीकार है। इस प्रकार कहकर वह उसका वह कार्य देखनेकी इच्छासे वहीं छिपकर खड़ा हो गया ॥११७–११९॥

तदनन्तर वज्रमुष्टिने आकर मुनिराजके चरणोंकी पूजा की और पूजा करनेके बाद ज्योंही वह नमस्कार करने लगा त्योंही मंगीने उसके शिरपर तलवार छोड़ना चाही, परन्तु शूरसेनने शीघ्र ही आकर तलवार छीन ली ॥१२०॥ शूरसेनको यह दृश्य देखकर संसारसे वैराग्य हो आया, इसलिए वह अपने-आपको प्रकट किये बिना ही वहाँसे चला गया। मंगी उसके स्पर्शसे शंकित हो गयी, इसलिए अपना दोष छिपानेके लिए वह माया बताती हुई पृथिवी तलपर गिर पड़ी। वज्रमुष्टिको मंगीके इस दुष्कृत्यका पता नहीं चल पाया। इसलिए वह उससे पूछता है कि प्रिये ! क्या यहाँ तुम्हें किसीने डरा दिया है ? यहाँ भयका तो कुछ भी कारण दिखाई नहीं देता। इस प्रकार भयसे पीड़ित मंगीको सचेत कर वज्रमुष्टिने मुनिराजको नमस्कार किया और तदुपरान्त वह स्त्रीको साथ ले घर चला गया ॥१२१–१२३॥

१. यदा म. । २. तत्कृत्यं म. । ३. मुनिचरणौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौरास्ततः समागत्य चौर्यालब्धधनं तदा । विभज्य सममागेन स्वं गृहाणेति तं जगुः ॥१२४॥
अनिच्छन् शूरसेनोऽपि जगौ दारार्थमर्थिनः । घटन्तेऽनर्थकार्यं ते वज्रमुष्टिस्त्रियः समाः ॥१२५॥
दृष्ट्वा श्रुत्वा च वृत्तान्तं षट् कनिष्ठाः विरागिणः । प्राव्रजन् वरधर्मान्ते [1]ज्येष्ठेभ्योऽप्यनयद् धनम् ॥१२६॥
सप्तसु श्रुतवार्त्तासु निष्क्रान्तास्वथ तास्वपि । तस्यैव स गुरोरन्ते सुभानुः प्राव्रजत्सुधीः ॥१२७॥
मुनीन् कालान्तरेणामूनागतान् वीक्ष्य सूरिणा । दीक्षाहेतुमसौ पृष्ट्वा वज्रमुष्टिरदीक्षत ॥१२८॥
आर्यिकास्तास्तथा पृष्ट्वा जिनदत्तापुरःसरा । मङ्गी संस्मृतवृत्तान्ता प्रवव्राज दृढव्रता ॥१२९॥
भृतघोरतपोभाराः सर्वेऽप्याराध्य तेऽभवन् । सौधर्मे चार्णवायुष्कास्त्रायस्त्रिंशत्सुरोत्तमाः ॥१३०॥
पूर्वस्मिन् धातकीखण्डे भारते रौप्यपर्वते । च्युत्वा दक्षिणश्रेण्यां च नित्यालोकपुरोत्तमे ॥१३१॥
चित्रचूलमनोहर्योर्ज्येष्ठश्चित्राङ्गदोऽङ्गजः । जज्ञे[2] त्रिद्वन्द्वगर्भास्तु क्रमेणैव तथोत्तरे ॥१३२॥
कान्तौ गरुडसेनौ द्वौ गरुडध्वजवाहनौ । चूलौ मणिहिमादी च व्योमानन्दचरौ वरौ ॥१३३॥
अभिरूपतमाः सर्वे भूरिविद्योद्यताः स्थिताः । चित्रचूलसुता मूर्ध्नि ते चूलामणयो नृणाम् ॥१३४॥
राजा मेघपुरे चैव सर्वश्रीशो धनंजयः । धनश्रीरिति विख्याता तस्य कन्यातिरूपिणी ॥१३५॥

तदनन्तर शूरसेनके जो छह भाई चोरी करनेके लिए गये थे उन्होंने चोरीसे प्राप्त हुए धनके बराबर हिस्से कर शूरसेनसे कहा कि अपना हिस्सा उठा लो ॥१२४॥ शूरसेनने हिस्सा लेनेके प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि लोग स्त्रियोंके पीछे ही नाना प्रकारके अनर्थ करते हैं और स्त्रियाँ वज्रमुष्टिकी स्त्रीके समान होती हैं ॥१२५॥ इस वृत्तान्तको देख-सुनकर छह छोटे भाइयोंने विरक्त होकर उसी समय वरधर्म गुरुके समीप दीक्षा ले ली और बड़ा भाई स्त्रियोंके पास धन ले गया ॥१२६॥ जब उन भाइयोंकी सातों स्त्रियोंने यह वृत्तान्त सुना तो उन्होंने भी विरक्त हो दीक्षा ले ली। अन्तमें बड़े भाई सुभानुकी बुद्धि भी ठिकाने आ गयी इसलिए उसने भी उन्हीं वरधर्म गुरुके पास दीक्षा ली ॥१२७॥

अथानन्तर किसी समय अपने गुरुके साथ विहार करते हुए वे सातों मुनि उज्जयिनी आये। उनके दर्शन कर वज्रमुष्टिने उनसे दीक्षा लेनेका कारण पूछा। उत्तरमें उन्होंने वज्रमुष्टि और मंगीका सब वृत्तान्त कह सुनाया जिसे सुन वज्रमुष्टिको बहुत खेद हुआ तथा उसी समय उसने दीक्षा ले ली ॥१२८॥ उसी समय आर्यिका जिनदत्ताके साथ विहार करती हुई पूर्वोक्त सात आर्यिकाएँ भी उज्जयिनी आयीं। मंगीने उनसे दीक्षाका कारण पूछा। उन्होंने जो उत्तर दिया उसे सुनकर मंगीको अपना पिछला सब वृत्तान्त स्मृत हो गया इसलिए उसने भी दृढ़ व्रत धारण कर दीक्षा ले ली ॥१२९॥ तदनन्तर घोर तपके भारको धारण करनेवाले सातों मुनिराज आयुके अन्तमें समाधिमरण कर सौधर्म स्वर्गमें एक सागरकी आयुवाले त्रायस्त्रिंश जातिके उत्तम देव हुए ॥१३०॥ धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतक्षेत्रमें जो विजयार्ध पर्वत है उसकी दक्षिण श्रेणीमें एक नित्यालोक नामका नगर है ॥१३१॥ उसमें किसी समय राजा चित्रचूल राज्य करता था उसकी स्त्रीका नाम मनोहरी था। बड़े भाई सुभानुका जीव उन्हीं दोनोंके चित्रांगद नामका पुत्र हुआ और शेष छह भाइयोंके जीव भी उन्हींके क्रम-क्रमसे तीन युगलोंके रूपमें गरुडकान्त, सेनकान्त, गरुडध्वज, गरुडवाहन, मणिचूल और हिमचूल नामके छह पुत्र हुए। ये सभी आकाशमें आनन्दसे विचरण करते थे तथा अत्यन्त उत्कृष्ट थे ॥१३२-१३३॥ चित्रचूलके ये सभी पुत्र अत्यन्त सुन्दर थे, अनेक विद्याओंके प्राप्त करनेमें उद्यत थे और मनुष्योंके मस्तकपर चूडामणिके समान स्थित थे ॥१३४॥ उसी समय मेघपुर नगरमें सर्वश्री नामका स्त्रीका स्वामी धनंजय नामका राजा राज्य करता था। राजा धनंजय और रानी सर्वश्रीके एक धनश्री नामकी अत्यन्त रूपवती कन्या

---

१. ज्येष्ठश्चासौ इम्यश्चेति ज्येष्ठेभ्यः। २. यज्ञे म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयंवरमगुस्तस्या विश्वे विद्याधरात्मजाः । तत्रास्मैमैथुनं वव्रे कन्यासौ हरिवाहनम् ॥१३६॥
वयं स्वयंवरव्याजात् स्वविवाहाय मायया । समाहूता इति क्रुद्धास्तत्पित्रे गगनायनाः ॥१३७॥
परस्परवधं चक्रुस्ते तत्कन्यार्थिनस्ततः । चित्रचूलसुता निन्द्यं दृष्ट्वा क्षत्रवधं तकम् ॥१३८॥
पापहेतुं विनिन्द्याक्षविषयान् विषमानमी । भूतानन्दजिनस्यान्ते प्रव्रज्यां ते प्रपेदिरे ॥१३९॥
सप्ताप्याराध्य माहेन्द्रे सप्ताब्ध्युपमजीविताः । सामानिकसुरा भूत्वा सुखं बुभुजिरे चिरम् ॥१४०॥
ततश्च्युत्वाग्रजोऽत्रैव भारते हस्तिनाह्वये । नगरे श्रेष्ठिनः शङ्खो बन्धुमत्यामभूत्सुतः ॥१४१॥
इतरे गङ्गदेवस्य तत्पुरेशस्य भूपतेः । नन्दना नन्दयशसो द्वन्द्वभूतास्तु जज्ञिरे ॥१४२॥
गङ्गश्च गङ्गदत्तश्च गङ्गरक्षितकस्तथा । नन्दश्चापि सुनन्दश्च नन्दिषेणश्च सुन्दरः ॥१४३॥
सप्तमस्तु सुतो देव्या गर्भे दौर्भाग्यदग्धया । त्यक्तः संवर्धितश्चासौ धात्र्या रेवतिकाख्यया ॥१४४॥
शङ्खो [२]यातोऽन्यदादाय तं निर्नामकनामकम् । हृद्यं मनोहरोद्यानं पौरलोकसमाकुलम् ॥१४५॥
भुञ्जानानाह राजन्याँस्तत्र राजसुतैः सह । भोक्तुं नाह्वयते कस्मादयं निर्नामकोऽनुजः ॥१४६॥
आहूतस्तैरसौ भोक्तुमासीनः सोदरैः सह । [३]राज्ञ्या चागतया मात्रा कोपात्पादेन ताडितः ॥१४७॥
धिग् मद्धेतोरयं दुःखं निर्नामा प्राप्तवानिति । दुःखी शङ्खस्तमादाय गत्वा राजादिमिर्वने ॥१४८॥

थी ॥१३५॥ धनश्रीका किसी समय स्वयंवर किया गया, स्वयंवरमें समस्त विद्याधरोंके पुत्र गये परन्तु कन्याने उनमें अपने पिताके भानजे हरिवाहनको वरा ॥१३६॥ 'जब इसे अपने सम्बन्धीके साथ ही विवाह करना था तो स्वयंवरके बहाने छलपूर्वक हम लोगोंको क्यों बुलाया'—यह कहते हुए अन्य विद्याधर कन्याके पितापर क्रुद्ध हो गये ॥१३७॥ तदनन्तर उस कन्याकी इच्छा रखते हुए वे विद्याधर परस्पर एक-दूसरेका वध करने लगे। राजा चित्रचूलके पुत्र भी स्वयंवरमें गये थे। इस निन्दनीय क्षत्रिय-वधको देखकर वे विचार करने लगे कि अहो ! ये इन्द्रियोंके विषम विषय ही पापके कारण हैं। इस प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंकी निन्दा कर भूतानन्द जिनराजके समीप दीक्षित हो गये ॥१३८-१३९॥ सातों मुनिराज अन्तमें समाधि धारण कर माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरकी आयुके धारक सामानिक जातिके देव हुए और वहाँकी विभूतिसे चिरकाल तक सुख भोगते रहे ॥१४०॥

तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर बड़े भाईका जीव इसी भरतक्षेत्रके हस्तिनापुर नगरमें किसी सेठकी बन्धुमती स्त्रीसे शंख नामका पुत्र हुआ ॥१४१॥ शेष छह भाइयोंके जीव इसी नगरके राजा गंगदेवकी नन्दयशा रानीसे तीन युगलके रूपमें गंग, गंगदत्त, गंगरक्षित, नन्द, सुनन्द और नन्दिषेण नामके छह सुन्दर पुत्र हुए ॥१४२-१४३॥ रानी नन्दयशाके गर्भमें जब सातवाँ पुत्र आया तब उसके अत्यन्त दुर्भाग्यका उदय आ गया। उससे दुखी होकर उससे उत्पन्न होनेपर उस पुत्रको छोड़ दिया, निदान, रेवती नामक धायने पालन-पोषण कर उसे बड़ा किया ॥१४४॥ रानी नन्दयशाके इस त्याज्य पुत्रका नाम निर्नामक था। यह निर्नामक, श्रेष्ठिपुत्र शंखको बड़ा प्रिय था। एक दिन शंख, निर्नामकको साथ लेकर नागरिक मनुष्योंसे भरे हुए मनोहर उद्यानमें गया ॥१४५॥ वहाँ राजा गंगदेवके छहों पुत्र एक साथ भोजन कर रहे थे। उन्हें देख शंख ने कहा कि यह निर्नामक भी तो तुम्हारा छोटा भाई है, इसे भोजन करनेके लिए क्यों नहीं बुलाते ?॥१४६॥ शंखकी बात सुन राजपुत्रोंने निर्नामकको बुला लिया और वह भाइयोंके साथ भोजन करनेके लिए बैठ गया। उसी समय उसकी माता रानी नन्दयशा कहींसे आ गयी और उसने क्रोधसे आग-बबूला हो उसे लात मार दी ॥१४७॥ इस घटनासे शंखको बड़ा दुःख हुआ। वह कहने लगा कि मेरे निमित्तसे ही निर्नामकको यह दुःख उठाना पड़ा है अतः मुझे धिक्कार है। अन्तमें वह दुखी

१. पितुर्भगिनीपुत्रम् इति ग पुस्तके टिप्पणी। २. जातो म.। ३. राज्ञामागतया म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रुमषेणर्षिमेकान्ते दृष्ट्वा नत्वा स पृष्टवान् । निर्नामकस्य जन्मानि सावधिः सोऽभ्यधान्मुनिः ॥१४९॥
आसीच्चित्ररथो राजा नगरे गिरिपूर्वके । कामिनी गुणिनी यस्य कान्ता कनकमालिनी ॥१५०॥
मांसप्रियस्य तस्यासीत्सूदोऽमृतरसायनः । राज्ञा च मांसपाकज्ञो दशग्रामेश्वरः कृतः ॥१५१॥
मांसदोषं नृपः श्रुत्वा सुधर्मात्त्रिशतैर्नृपैः । क्षिप्त्वा मेघरथे लक्ष्मीमदीक्षिष्ट मुमुक्षया ॥१५२॥
नवराजेन सूदोऽपि श्रावकेन सता ततः । निर्मदीकृत्य मास्पाको ग्राममात्ररतिः कृतः ॥१५३॥
सूदेन कुपितेनासौ मुनिर्मांसनिषेधनः । कटुवालाम्बुविषाहारं दत्त्वा प्राणैर्वियोजितः ॥१५४॥
ऊर्जयन्तगिरौ मृत्वा स्वयोगादूर्जितादभूत् । द्वात्रिंशदब्धितुल्यायुः सोऽहमिन्द्रोऽपराजिते ॥१५५॥
सूपकारो मृतः प्राप पृथिवीं बालुकाप्रभाम् । त्रिसमुद्रोपमं कालं नारकं दुःखमन्वभूत् ॥१५६॥
ततश्चोद्वर्त्य पर्यटन्य तिर्यग्गतिमहाटवीम् । सोऽङ्गो मलयराष्ट्रान्तःपलाशग्रामवर्त्तिनोः ॥१५७॥
कुटुम्बिनोर्जडप्रायोयक्षिलायक्षदत्तयोः । यक्षस्वावरजो नाम्ना सूनुर्यक्षलिकोऽभवत् ॥१५८॥
स भ्रात्रा वार्यमाणोऽपि पर्यटन् शकटं शठः । उपरिष्टात्तदान्धाहेरवाहयदनिष्टकृत् ॥१५९॥
भग्नभोगा भुजङ्गी तु म्रियमाणातिदुःखतः । अकामनिर्जरायोगात् मानुष्यगतिमार्जयत् ॥१६०॥
मृत्वा श्वेताम्बिकापुर्यां वासवस्य महीपतेः । जाता वसुन्धरागर्भे देवी नन्दयशा स्त्रियम् ॥१६१॥

होता हुआ निर्नामकको लेकर राजा आदिके साथ वनमें गया ॥१४८॥ वहाँ एकान्तमें द्रुमषेण नामक मुनिराजको देखकर शंखने उनसे निर्नामकके पूर्वभव पूछे। मुनिराज अवधिज्ञानी थे अतः उसके भवान्तर इस प्रकार कहने लगे ॥१४९॥

गिरिनगर नामक नगरमें राजा चित्ररथ रहता था, उसकी कनकमालिनी नामकी गुणवती एवं सुन्दरी स्त्री थी ॥१५०॥ राजा चित्ररथ मांस खानेका बड़ा प्रेमी था, उसका एक अमृत-रसायन नामका रसोइया था जो मांस पकाना बहुत अच्छा जानता था। उसकी कलासे प्रसन्न होकर राजाने उसे दश ग्रामोंका स्वामी बना दिया था ॥१५१॥ एक दिन राजाने सुधर्म नामक मुनिराजसे मांस खानेके दोष सुने जिससे प्रभावित होकर उसने राज्य-लक्ष्मीको मेघरथ नामक पुत्रके लिए सौंप दी और स्वयं मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छासे तीन सौ राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥१५२॥ नवीन राजा मेघरथ श्रावक बन गया इसलिए उसने मांस पकानेवाले रसोइया-को अपमानित कर केवल एक ग्रामका स्वामी कर दिया ॥१५३॥ इस घटनासे रसोइया बड़ा कुपित हुआ। उसने सोचा कि मेरे अपमानका कारण मांसका निषेध करनेवाले ये मुनि ही हैं इस-लिए उसने कड़वी तूमड़ीका विषमय आहार देकर मुनिको प्राण रहित कर दिया ॥१५४॥ मुनिराजका समाधिमरण ऊर्जयन्तगिरिपर हुआ था। प्रबल आत्मध्यानके प्रभावसे वे मरकर अपराजित नामक अनुत्तर विमानमें बत्तीस सागरकी आयुके धारक अहमिन्द्र हुए ॥१५५॥ रसोइया मरकर तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवीमें गया और वहाँ तीन सागर तक नरकके तीव्र दुःख भोगता रहा ॥१५६॥ वहाँसे निकलकर तिर्यंच गतिरूपी महाअटवीमें भ्रमण करता रहा। एक बार वह मलय देशके अन्तर्गत पलाश नामक ग्राममें रहनेवाले यक्षदत्त और यक्षिला नामक दम्पतीके यक्षलिक नामका पुत्र हुआ। यह यक्षलिक स्वभावसे ही मूर्ख था। और यक्षस्व नामक बड़े भाईसे छोटा था ॥१५७-१५८॥ एक बार दुष्ट यक्षलिक गाड़ीपर बैठा कहीं जा रहा था। सामने मार्गमें एक अन्धी सर्पिणी पड़ी थी। बड़े भाईके रोकनेपर अनिष्टकारी यक्षलिकने उसपर गाड़ी चढ़ा दी जिससे उसका फण कट गया। तीव्र दुःखसे वह मरणोन्मुख हो गयी। उसी समय अकामनिर्जराके कारण उसने मनुष्यगतिका बन्ध कर लिया ॥१५९-१६०॥ तदनन्तर सर्पिणी मरकर श्वेताम्बिका पुरीमें वहाँके राजा वासवकी स्त्री वसुन्धराके गर्भमें नन्दयशा

१. उपरिष्टात्ततो ग्राहे म., ख., ग.। २. वसुन्धरीगर्भे-म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोऽयं यक्षलिको नाम्ना निर्नामा मुनिमारणात् । निर्दयत्वाच्च पूर्वत्र मात्रा विद्वेषतां गतः ॥१६२॥
श्रुत्वा तद्द्विशतक्षत्रै राजा संसारभीरुधीः । देवनन्दे श्रियं न्यस्य तस्यान्ते दीक्षितो मुनेः ॥१६३॥
राजपुत्राश्च ते सर्वे श्रेष्ठी शङ्खश्च दीक्षितः । सुनिर्मलं तपश्चक्रुर्भवचक्रनिवृत्तये ॥१६४॥
राज्ञी चापि सधात्रीका बन्धुमत्या सहाश्रिता । प्रव्रज्यां सुव्रतार्यान्ते सुव्रतव्रातभूषिताम् ॥१६५॥
कुर्वन्निर्नामकस्तीव्रं सिंहनिःक्रीडितं तपः । निदानमकरोदन्यजनने जनकान्तताम्[1] ॥१६६॥
धात्री मानुष्यकं प्राप्ता पुरे भद्रिलसाह्वये । सुदृष्टिश्रेष्ठिनो भार्या वर्तते ह्यलकाभिधा ॥१६७॥
गङ्गाद्या देवकीगर्भे षडपि द्वन्द्वभाविनः । उत्पत्स्यन्ते क्रमणैव[2] विक्रमैकमहार्णवाः ॥१६८॥
हारिणा स्वर्गिणा धात्रीं सुत्रामादेशकारिणा । प्राप्स्यन्ते जातिमात्रेण[3] तत्राप्स्यन्ति च यौवनम् ॥१६९॥
नृपदत्तोऽग्रजस्तेषां देवपालस्तथापरः । तृतीयोऽनीकदत्तस्तु तुरीयोऽनीकपालकः ॥१७०॥
[4]शत्रुघ्नो जितशत्रुस्ताविति नामभिरीरिताः । रूपेण सदृशाः सर्वे भविष्यन्ति तवात्मजाः ॥१७१॥
हरिवंशशशाङ्कस्य जिनस्य त्रिजगद्गुरोः । शिष्यतां ते करिष्यन्ति गमिष्यन्ति च निर्वृतिम् ॥१७२॥
आगत्य देवकीगर्भे निर्नामा सप्तमः[5] सुतः । उत्पद्य भविता वीरो वासुदेवोऽत्र भारते ॥१७३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

श्रुत्वा कंसभवान्तरं तदुदयं संचिन्त्य पुण्योदयात्
सोपेक्षान्तरमित्रतामुपगतोऽप्यत्राभवत्कालवित् ।

नामकी पुत्री हुई ॥१६१॥ और यक्षलिक निर्नामक हुआ, इस यक्षलिकने रसोइयाकी पर्यायमें मुनिराजको मारा था तथा सर्पिणीके साथ अत्यन्त निर्दयताका व्यवहार किया था इसलिए माता नन्दयशाके साथ विद्वेषको प्राप्त हुआ है ॥१६२॥ यह सुनकर राजा गंगदेव संसारसे भयभीत हो गया और अपने देवनन्द नामक पुत्रको राज्यलक्ष्मी सौंपकर दो सौ राजाओंके साथ उन्हीं मुनिके समीप उसने दीक्षा धारण कर ली ॥१६३॥ समस्त राजपुत्रों और श्रेष्ठिपुत्र शंखने भी दीक्षा ले ली तथा सब, संसारचक्रसे निवृत्त होनेके लिए निर्मल तप करने लगे ॥१६४॥ रानी नन्दयशाने रेवती धाय और बन्धुमती सेठानीके साथ सुव्रता नामक आर्यिकाके समीप उत्तम व्रतोंके समूहसे सुशोभित दीक्षा धारण कर ली ॥१६५॥ निर्नामकने मुनि होकर सिंहनिष्क्रीडित नामक कठिन तप किया था और यह निदान बाँध लिया कि मैं जन्मान्तरमें नारायण होऊँ ॥१६६॥ रेवती धाय मनुष्य पर्याय प्राप्त कर भद्रिलसा नगरमें सुदृष्टि नामक सेठकी अलका नामकी स्त्री हुई है ॥१६७॥ गंग आदि छह पुत्रोंके जीव युगलिया रूपसे देवकीके गर्भमें क्रम-क्रमसे उत्पन्न होंगे और वे पराक्रमके महासागर—अत्यन्त पराक्रमी होंगे ॥१६८॥ इन्द्रका आज्ञाकारी हारी नामका देव उन पुत्रोंको उत्पन्न होते ही धायके जीव अलकाके पास पहुँचा देगा; वहीं वे यौवनको प्राप्त करेंगे ॥१६९॥ उन पुत्रोंमें बड़ा पुत्र नृपदत्त, दूसरा देवपाल, तीसरा अनीकदत्त, चौथा अनीकपालक, पाँचवाँ शत्रुघ्न और छठा जितशत्रु नामसे प्रसिद्ध होगा। तुम्हारे ये सभी पुत्र रूपसे अत्यन्त सदृश होंगे अर्थात् समान रूपके धारक होंगे ॥१७०-१७१॥ ये सभी कुमार हरिवंशके चन्द्रमा, तीन जगत्के गुरु श्री नेमिनाथ भगवान्की शिष्यताको प्राप्त कर मोक्ष जावेंगे ॥१७२॥ निर्नामकका जीव देवकीके गर्भमें आकर सातवाँ पुत्र होगा। वह अत्यन्त वीर होगा तथा इस भरत क्षेत्रमें नौवाँ नारायण होगा ॥१७३॥ जिनमतकी लक्ष्मीकी प्रशंसा करनेवाले कालज्ञ वसुदेव, मुनिराजके मुखसे कंसके भवान्तर तथा पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए उसके अभ्युदयको सुनकर उसके साथ उपेक्षापूर्ण मित्रताको प्राप्त हुए अर्थात् उन्होंने मित्रता

१. जनानां मध्ये कान्ततां मनोज्ञताम् (क. टि) जनकान्तिकम् म., ग., ङ., ख. । २. क्रमेणैक-म. । ३. यातमात्रेण म., क. । ४. शत्रुघ्न-म. । ५. देवकीसुतः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर्ण्याष्टसुतप्रियासुचरितं चामुत्र चेहात्र च
प्राप्तः संमदमुन्नतं जिनमतश्रीशंसनो यादवः ॥१७४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कंसोपाख्यानबलदेववासुदेव-
देवकीतनयागारचरितवर्णनो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥३३॥

तो पूर्ववत् बनाये रखी परन्तु उसमें उपेक्षाका भाव आ गया। वे अपने आठों पुत्र तथा प्रिया देवकीके पूर्वभव एवं वर्तमान भव सम्बन्धी चरितको सुनकर अत्यधिक हर्षको प्राप्त हुए ॥१७४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कंसका
उपाख्यान तथा बलदेव, वासुदेव और देवकीके अन्य पुत्रोंके गृह चरितका
वर्णन करनेवाला तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३३॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुस्त्रिंशः सर्गः

स्ववंशभाविनं श्रुत्वा जिनेन्द्रं देवकीप्रियः । हृष्टः श्रेणिक ! नत्वेति पृष्टवानतिमुक्तकम् ॥१॥
कथं नाथ ! जिनो भावी हरिवंशविशेषकः । चरितं श्रोतुमिच्छामि तस्येत्युक्तोऽवदन्मुनिः ॥२॥
द्वीपेऽत्रैव सुपद्माख्यां शीतोदायास्त्वपाक्तटे[1] । अभूत् सिंहपुरे भूभृद्दर्हद्दासो महार्हितः ॥३॥
जायास्य जिनदत्तासौ कृतोरुजिनपूजना । लेभे श्रीमृगेन्द्रार्कचन्द्रसुस्वप्नदृक् सुतम् ॥४॥
अपराजित इत्याख्यां स परैरपराजितः । पितृभ्यां लक्ष्मितो द्यावापृथिव्योः प्रथितस्ततः ॥५॥
पुत्रीं चक्रभृतस्तत्र पवित्रगुणमालिनीम् । कन्यां प्रीतिमतीं मान्यामुपयेमे स यौवने ॥६॥
तमन्योऽन्यातिशायिन्यो मानिन्यो गुणमण्डनाः । कन्याश्चारीरमन् धन्याः[3] सहस्रगणनाः पतिम् ॥७॥
राजा मनोहरोद्याने वन्द्यं देवैर्विवन्दिषुः । अन्येद्युः ससुतो यातो जिनं विमलवाहनम् ॥८॥
प्रवव्राज नृपोऽस्यान्ते पञ्चराजशतान्वितः । बभ्रेऽपराजितो राज्यं सम्यक्त्वं चैव निर्मलम् ॥९॥
जिनेन्द्रपितृनिर्वाणं गन्धमादनपर्वते । श्रुत्वा कृत्वाष्टमं भक्तं कृतनिर्वाणभक्तिकः ॥१०॥
जिनार्चां चैत्यगेहार्चां समर्च्य धनदार्पिताम् । आसीनो जातु जायाभ्यो धर्मं सप्रोषधोऽवदत्[4] ॥११॥

अथानन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! 'तीर्थंकर भगवान् अपने वंशमें उत्पन्न होनेवाले हैं' यह सुनकर कुमार वसुदेव बहुत ही हर्षित हुए और उन्होंने उसी समय अतिमुक्तक मुनिराजको नमस्कार कर इस प्रकार पूछा कि 'हे नाथ ! हरिवंशके तिलकस्वरूप जिनेन्द्र भगवान् किस प्रकार होंगे ? मैं उनका चरित सुनना चाहता हूँ।' कुमार वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर अतिमुक्तक मुनिराज कहने लगे ॥१-२॥

इसी जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें शीतोदा नदीके दक्षिण तटपर सुपद्मा नामका देश है। उसमें सिंहपुर नामका नगर है। और उसमें किसी समय राजा अर्हद्दास रहता था जो अत्यन्त योग्य था ॥३॥ जिनेन्द्र भगवान्की महापूजा करनेवाली जिनदत्ता उसकी स्त्री थी। एक बार उसने लक्ष्मी, हाथी, सिंह, सूर्य और चन्द्रमा ये पांच शुभ स्वप्न देखनेके बाद उत्तम पुत्र प्राप्त किया॥४॥ चूँकि वह पुत्र दूसरोंके द्वारा कभी पराजित नहीं होता था इसलिए माता-पिताने उसका 'अपराजित' नाम रखा। अपराजित आकाश और पृथिवी दोनोंमें ही अत्यन्त प्रसिद्ध था ॥५॥ यौवन काल आनेपर अपराजितने चक्रवर्तीकी पवित्र गुणोंकी मालासे सहित, प्रीतिमती नामकी माननीय कन्याके साथ विवाह किया ॥६॥ इसके सिवाय जो परस्पर एक दूसरेकी शोभाका उल्लंघन कर रही थीं, माननीय थीं एवं गुणरूपी आभूषणोंसे सुशोभित थीं ऐसी सौभाग्यशालिनी एक हजार कन्याएँ उसे और भी क्रीड़ा कराती थीं ॥७॥ किसी एक दिन राजा अर्हद्दास, मनोहर नामक वनमें देवोंके द्वारा वन्दनीय विमलवाहन भगवान्की वन्दना करनेके लिए अपने पुत्र सहित गया ॥८॥ उपदेशसे प्रभावित होकर राजा अर्हद्दासने पाँच सौ राजाओंके साथ उन्हीं भगवान्के समीप दीक्षा ली। पिताके दीक्षा लेनेके बाद युवराज अपराजितने राज्य एवं निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया ॥९॥ एक दिन अपराजितने सुना कि गन्धमादन पर्वतपर जिनेन्द्र विमलवाहन और पिता अर्हद्दासको मोक्ष प्राप्त हो गया है। यह सुनकर उसने तीन दिनका उपवास कर निर्वाण भक्ति की ॥१०॥ एक बार राज अपराजित, कुबेरके द्वारा समर्पित जिन-प्रतिमा एवं चैत्यालयमें विराजमान अर्हत्प्रतिमाकी पूजा कर उपवासका नियम ले मन्दिरमें बैठा हुआ अपनी

१. दक्षिणतटे । २. शयिनो क., ख., म. । ३. चारीरमद्धन्याः म. । ४. प्रोषधोऽब्रुधत् म. । प्रौषधोऽब्रुवत् ख., ग., घ., ङ. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काले तत्र मुनी व्योम्नश्चारणावतरेतुः । नत्वा क्षितौ सुखासीनौ पप्रच्छेति कृताञ्जलिः ॥१२॥
तोषः साधुषु मे नाथौ ! जैनस्याकृत्रिमो युवाम् । अपूर्वो वीक्ष्य किं जातः सहजस्नेहवर्त्मनः ॥१३॥
अस्ति तत्पूर्वसंबन्धः स्नेहाधिक्यप्रबोधनः । राजन्नित्याह तत्राद्यः स्रवन्निव गिरामृतम् ॥१४॥
पाश्चात्यपुष्करार्द्धस्य विदेहस्यापरस्य हि । रौप्याद्रेरुत्तरश्रेण्यामस्ति गण्यपुरं पुरम् ॥१५॥
[1]सूर्याभो विभुरस्यासीत्सूर्याभ इति भूपतिः । धारिणी धारिणीवार्या गृहिणी तस्य हारिणी[2] ॥१६॥
पुत्रास्त्रयस्तयोश्चिन्तामनश्चपलपूर्वकाः । अत्यन्ता वेगवन्तस्ते स्नेहवन्तः सुपौरुषाः ॥१७॥
तत्रैवारिंजयो राजा पुरेऽरिंजयसंज्ञके । कन्यास्यामजितसेनायां जाता प्रीतिमती वरा ॥१८॥
सिद्धविद्या प्रसिद्धासौ स्त्रैणगर्हणकारिणी । गुरुं प्राह वरं देहि पितरेकमभीप्सितम् ॥१९॥
कन्याकृतविदूचे स वृणीष्व वरमीप्सितम् । तपसोऽन्यमितीदं च श्रुत्वाह प्रीतिमत्यपि ॥२०॥
तपो वरप्रसादो मे पितर्यदि न दीयते । गतियुद्धे विजेत्रेऽहं देयेत्येष वरोऽस्तु मे ॥२१॥
तथास्त्वित्यभिधायासावाजुहाव नभश्चरान्[3] । स्वयंवरे स्वकन्यायाः गतियुद्धजिगीषया ॥२२॥
विश्वान् विद्याधरान् प्राप्तान् प्राह कन्यापिता ततः । गतियुद्धं[4] समर्थोऽस्या ददातु दुहितुर्मम ॥२३॥
मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य कृत्वा जिनवरार्चनम् । प्राप्तस्येह द्वयोः पूर्वमेकस्य विजयो मतः ॥२४॥

स्त्रियोंके लिए धर्मोपदेश कर रहा था ॥११॥ कि उसी समय दो चारणऋद्धिधारी मुनिराज आकाशसे नीचे उतरे। जब दोनों मुनिराज पृथ्वीतलपर सुखसे विराजमान हो गये तब राजा अपराजितने हाथ जोड़ नमस्कार कर उनसे इस प्रकार पूछा—॥१२॥

हे नाथ! वैसे तो जैनधर्मके साधुओंको देखकर मुझे अकृत्रिम—स्वाभाविक आनन्द होता ही है परन्तु आप दोनोंके दर्शन कर आज अपूर्व ही आनन्द हो रहा है तथा मेरा स्वाभाविक स्नेह उमड़ पड़ा है सो इसका कारण क्या है ? ॥१३॥ उन मुनियोंमें जो बड़े मुनि थे वे अपनी वाणीसे अमृत झराते हुएके समान बोले कि हे राजन्! पूर्वभवका सम्बन्ध ही स्नेहकी अधिकताको प्रकट करनेवाला है। मैं पूर्वभवका सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो—॥१४॥

पश्चिम पुष्करार्धके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें जो रूप्याचल है उसकी उत्तर श्रेणीमें एक गण्यपुर नामका नगर है ॥१५॥ उस नगरका स्वामी सूर्याभ था जो सचमुच ही सूर्याभ—सूर्यके समान आभावाला था और धारिणी उसकी स्त्री थी जो दूसरी धारिणी—पृथिवीके समान जान पड़ती थी और आर्य तथा अत्यन्त सुन्दरी थी ॥१६॥ उन दोनोंके चिन्तागति, मनोगति और चपलगति नामके तीन पुत्र थे, जो अतिशय वेगशाली, स्नेहवान् और उत्तम पराक्रमसे युक्त थे ॥१७॥ उसी समय अरिंजयपुरमें राजा अरिंजय रहता था उसकी अजितसेना नामकी स्त्री थी और उससे उसके प्रीतिमती नामकी उत्तम कन्या उत्पन्न हुई थी ॥१८॥ प्रीतिमतीको अनेक विद्याएँ सिद्ध थीं, वह अत्यन्त प्रसिद्ध थी और स्त्री पर्यायकी सदा निन्दा करती रहती थी। एक दिन उसने अपने पितासे कहा कि हे पिताजी! मुझे एक इच्छित वर दीजिए ॥१९॥ पिता कन्याके भावको जानता था इसलिए उसने कहा कि तपके सिवाय और जो कुछ वर तुझे इष्ट हो सो माँग ले। पिताका उत्तर सुनकर प्रीतिमतीने कहा कि हे पिताजी! यदि तप करनेका वर आप नहीं देते हैं तो यह वर मुझे अवश्य दीजिए कि गतियुद्धमें जीतनेवालेके लिए ही मैं दी जाऊँ ॥२०-२१॥ 'तथास्तु' कहकर पिताने कन्याका वर स्वीकृत कर लिया और गतियुद्धमें जीतनेकी इच्छासे अपनी कन्याका स्वयंवर रचकर उसमें विद्याधरोंको आमन्त्रित किया ॥ २२ ॥ तदनन्तर जब सब विद्याधर आ गये तब कन्याके पिताने सबको लक्ष्य बनाते हुए कहा कि आप लोगोंमें जो भी समर्थ हो वह मेरी पुत्रीके लिए गतियुद्धका अवसर देवे ॥ २३ ॥ गतियुद्धका रूप यह है कि वर और कन्या जो भी, मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर तथा श्री

१. सूर्याभवितु—म. (?)। २. मनोहारिणी। ३. नभश्चरं म.। ४. गतियुद्धे म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीयेत येन कन्येयं गतियुद्धेऽतिवेगिना । परिणेया तेन वीरेण मन्मनोरथपूरिणा ॥२५॥
श्रुत्वेति खेचरास्तस्थुर्ज्ञात्वा विद्याधिकाममूम् । विद्यावेगोद्यता बोद्धुमुत्तस्थुर्धारिणीसुताः ॥२६॥
ततः परिकरं बद्ध्वा चेतसा च समं तदा । करमास्फाल्य लोकेन मुक्ता माध्यस्थ्यमीयुषा ॥२७॥
अहंयवो दधावुस्ते सार्द्धमर्द्धपथं पथा । [1]मरुतां मेरुमुद्दिश्य हरन्तो मरुतां रयम् ॥२८॥
अतिक्रम्य तथा कन्या परीत्य सुरपर्वतम् । भद्रशालवनेऽभ्यर्च्य जिनार्चाः प्राङ् न्यवर्तत ॥२९॥
वेगश्रमागतस्वेदलवमुक्ताफलाञ्चिता । प्राप्य नत्वा ददौ पित्रे सिद्धशेषां प्रमोदिने ॥३०॥
ततो लब्धजया पित्रा मुक्ता मुक्तैहिकस्पृहा । [2]निर्वृत्त्यन्ते प्रवव्राज व्रतव्रातविभूषिता ॥३१॥
गतियुद्धे जितास्तेऽपि चिन्तागत्यादयस्तया । दीक्षां दमवरस्यान्ते त्रयोऽपि भ्रातरो दधुः ॥३२॥
अन्ते माहेन्द्रकल्पान्ते प्राप्तसप्ताब्धिजीविनः । सामानिकाख्योऽप्यत्र दिव्यं बुभुजिरे सुखम् ॥३३॥
प्रच्युत्य पुष्कलावत्यामुदक्श्रेण्यां ततो नृप[3] । मध्यमावरजौ जातौ पुरे गगनवल्लभे ॥३४॥
सुतौ गगनसुन्दर्यां गगनेन्दोः क्रमेण तौ । प्रथमोऽमितवेगाख्योऽमिततेजास्ततोऽनुजः ॥३५॥
दीक्षित्वा पुण्डरीकिण्यां स्वयंप्रभजिनान्तिके । श्रुत्वा पूर्वभवांस्तस्मात्तावावामिह पार्थिव ॥३६॥
पूर्वं प्रच्युत्य माहेन्द्रात्प्रजातमपराजितम् । ज्यायांसं द्रष्टुमायातौ त्वां चिन्तागतिपूर्वकम् ॥३७॥

जिनेन्द्र देवकी पूजा कर सबसे पहले वापस आ जावेगा उसी एककी जीत समझी जावेगी ॥२४॥ इस प्रकार अत्यन्त वेगसे गमन करनेवाले जिस वीरके द्वारा गतियुद्धमें यह कन्या जीती जावेगी मेरे मनोरथको पूर्ण करनेवाले उसी वीरके द्वारा यह कन्या विवाहने योग्य है ॥ २५ ॥ यह सुनकर अन्य विद्याधर उसे अधिक विद्यावती जान चुप-चाप बैठे रहे परन्तु विद्याके वेगसे उद्यत धारिणीके पुत्र चिन्तागति, मनोमति और चपलगति गतियुद्ध करनेके लिए उठकर खड़े हो गये ॥ २६ ॥ तदनन्तर मनके साथ-साथ परिकर बाँधकर जब सब तैयार हो गये तब मध्यस्थता को प्राप्त हुए लोगोंने हाथ हिलाकर उन्हें छोड़ा ॥ २७ ॥ अहंकारसे वे चारों व्यक्ति अपने वेगसे वायुके वेगको रोकते हुए, मेरुको लक्ष्य कर आकाशमें दौड़े और आधे मार्ग तक तो साथ-साथ दौड़ते रहे परन्तु उसके बाद कन्याने उन्हें पीछे छोड़ दिया और वह मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर तथा भद्रशालवनमें विद्यमान जिन-प्रतिमाओंकी पूजा कर पहले वापस लौट आयी ॥२८-२९ ॥ वेगके श्रमसे उत्पन्न पसीनाके कणोंसे जो मोतियोंके समान सुशोभित हो रही थी ऐसी कन्याने आकर पिताके लिए नमस्कार किया एवं पूजाके शेषाक्षत भेंट किये। पुत्रीको विजयसे पिताको अधिक हर्ष हुआ ॥ ३० ॥

तदनन्तर गतियुद्धमें जिसे विजय प्राप्त हुई थी और इस लोक सम्बन्धी भोगोंकी इच्छा जिसकी छूट चुकी थी ऐसी कन्या प्रीतिमतीके लिए पिताने तप धारण करनेकी अनुमति दे दी जिससे उसने व्रतोंके समूहसे सुशोभित हो निर्वृत्ति नामक आर्यिकाके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥३१॥ गतियुद्धमें प्रीतिमतीके द्वारा पराजित चिन्तागति आदि तीनों भाइयोंने भी दमवर मुनिराजके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥३२॥ आयुके अन्तमें तीनों भाई माहेन्द्र स्वर्गके अन्तिम पटलमें सात सागरकी आयु प्राप्त कर सामानिक जातिके देव हुए और वहाँके दिव्य सुखका उपभोग करने लगे ॥३३॥ तदनन्तर हे राजन् ! पुष्कलावती देशके विजयार्ध की उत्तर श्रेणीमें जो गगनवल्लभ नामका नगर है उसमें राजा गगनचन्द्र रहते हैं और उनकी स्त्रीका नाम गगनसुन्दरी है। मध्यम तथा छोटे भाईके जीव माहेन्द्र स्वर्गसे च्युत होकर उनके क्रमसे हम अमितवेग और अमिततेज नामक पुत्र हुए हैं ॥३४-३५॥ पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर उनसे हमने अपने पूर्व भव सुने। हे राजन् ! हमें स्वयंप्रभ जिनेन्द्रने बताया कि तुम्हारे बड़े भाई चिन्तागतिका जीव माहेन्द्र स्वर्गसे पूर्व ही च्युत होकर

१. मरुतां पथा = आकाशेन । २. निर्वृत्तिनामिकार्यिकासमीपे । ३. नृपः म. ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिष्टनेमिनामार्हन् भविता भरतावनौ । हरिवंशमहावंशे त्वमितः पञ्चमे भवे ॥३८॥
आयुर्मासावशेषं ते सांप्रतं [1]पथ्यमात्मनः । क्रियतामिति तावुक्त्वा तमापृच्छ्य गतौ यतो ॥३९॥
श्रवणीयं वचः श्रुत्वा चारणश्रमणस्य सः । प्रहृष्टोऽपि चिरं दध्यौ तपःकालव्यतिक्रमम् ॥४०॥
अष्टाहं प्रविधायासौ जिनेन्द्रमहमन्ततः[2] । प्रीतिंकरे श्रियं न्यस्य शरीरादिषु निस्पृहः ॥४१॥
स द्वाविंशत्यहोरात्रो प्रायोपगमनाञ्चितौ । [3]आराध्यापाच्युतेन्द्रत्वं द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥४२॥
च्युत्वा गजपुरे जज्ञे जिनेन्द्रमतभावितः । श्रीचन्द्रश्रीमतोसूनुः सुप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः ॥४३॥
सुप्रतिष्ठं प्रतिष्ठाप्य राज्ये श्रीचन्द्रचन्द्रमाः । सुमन्दिरगुरोरन्ते दीक्षित्वा मोक्षमाप्तवान् ॥४४॥
श्रीचन्द्रात्मजराजोऽसौ दानं मासोपवासिने । यशोधराय दत्त्वाप वसुधारादिपञ्चकम् ॥४५॥
कार्तिक्यामन्यदा रात्रावष्टस्त्रीशतवेष्टितः । तिष्ठन्पतनमुल्काया दृष्ट्वा लक्ष्मीं सुदृष्टये ॥४६॥
सुनन्दासूनवे दत्त्वा सुमन्दिरमहागुरोः । सुप्रतिष्ठोऽप्यदीक्षिष्ट दृष्ट्वोल्कासदृशीं श्रियम् ॥४७॥
चतुःसहस्रसंख्याताः सहस्रकिरणौजसः । प्रातिष्ठन्त तपस्युग्रे सुप्रतिष्ठेन पार्थिवाः ॥४८॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यविवृद्धिमान् । अध्यैष्ट सोऽङ्गपूर्वाणि सरहस्यान्यतन्द्रितः ॥४९॥
तपोविधिविशेषः स सर्वतोभद्रपूर्वकैः । वपुर्विभूषयांचक्रे सिंहनिःक्रीडितोत्तरैः ॥५०॥
श्रवणादपि पापघ्नानुपवासमहाविधीन् । शृणु यादव ! ते वच्मि समाधाय मनः क्षणम् ॥५१॥

यहाँ अपराजित राजा हुआ है सो उसे देखनेके लिए हम दोनों आये हैं ॥३६-३७॥ हे अपराजित ! तुम इससे पाँचवें भवमें भरतक्षेत्रके हरिवंश नामक महावंशमें अरिष्टनेमि नामक तीर्थंकर होओगे ॥३८॥ इस समय तुम्हारी आयु एक माहकी शेष रह गयी है इसलिए आत्महित करो। यह कहकर तथा राजा अपराजितसे पूछकर दोनों मुनिराज विहार कर गये ॥ ३९ ॥ चारण-ऋद्धिधारी मुनिराजके श्रवण करने योग्य वचन सुनकर राजा अपराजित हर्षित होता हुआ भी चिरकाल तक इस बातकी चिन्ता करता रहा कि अहो ! मेरा तप करनेका समय व्यर्थ ही निकल गया ॥ ४० ॥ वह आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करता रहा और अन्तमें प्रीतिंकर नामक पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर शरीरादिसे निःस्पृह हो गया ॥४१॥ तत्पश्चात् प्रायोपगमन संन्याससे सुशोभित बाईस दिन रात तक चारों आराधनाओंकी आराधना कर वह अच्युत स्वर्गमें बाईस सागरकी आयुका धारक इन्द्र पदको प्राप्त हुआ ॥ ४२ ॥ वहांसे चयकर नागपुरमें श्रीचन्द्र और श्रीमतीके सुप्रतिष्ठ नामका पुत्र हुआ। वह सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रमतकी भावनासे युक्त था ॥ ४३ ॥ राजा श्रीचन्द्ररूपी चन्द्रमा, सुप्रतिष्ठ पुत्रको राज्यसिंहासनपर प्रतिष्ठित कर सुमन्दिर नामक गुरुके पास दीक्षा ले मोक्ष चले गये ॥ ४४ ॥ एक दिन राजा सुप्रतिष्ठने मासोपवासी यशोधर मुनिराजके लिए दान देकर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४५॥

कदाचित् राजा सुप्रतिष्ठ कार्तिककी पूर्णिमाकी रात्रिमें अपनी आठ सौ स्त्रियोंसे वेष्टित हो महलकी छतपर बैठा था। उसी समय आकाशसे उल्कापात हुआ। उसे देख वह राज्यलक्ष्मी-को उल्काके समान ही क्षणभंगुर समझने लगा। इसलिए अपनी सुनन्दा रानीके पुत्र सुदृष्टिके लिए राज्यलक्ष्मी देकर उसने सुमन्दिर नामक महागुरुके समीप दीक्षा ले ली ॥ ४६-४७॥ राजा सुप्रतिष्ठके साथ, सूर्यके समान तेजस्वी चार हजार राजाओंने भी उग्र तप धारण किया था ॥४८॥ मुनिराज सुप्रतिष्ठने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यकी वृद्धिसे युक्त हो आलस्य छोड़ गूढार्थ-सहित ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंका अध्ययन किया तथा सर्वतोभद्रको आदि लेकर सिंह-निष्क्रीडितपर्यन्त विशिष्ट तपोंसे अपने शरीरको विभूषित किया ॥४९-५०॥ हे यादव ! श्रवण मात्रसे भी पापोंको नष्ट करनेवाली, उन उपवासोंकी महाविधि, मैं तेरे लिए कहता हूँ सो तू क्षण-भरके लिए मन स्थिर कर सुन ॥५१॥

१. हितम् । २. महिमां ततः म. । ३. आराध्य आप अच्युतेन्द्रत्वम् इति पदच्छेदः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकादिपूपवासेषु पञ्चान्तेषु यथाक्रमम् । अन्तयोः कृतयोरादौ शेषभङ्गसमुद्भवे ॥५२॥
कल्पितश्चतुरस्रोऽयं प्रस्तारः पञ्चभङ्गकः । सर्वतोऽप्युपवासाश्च गण्याः पञ्चदशात्र हि ॥५३॥
पञ्चभिर्गुणितास्ते स्युः संख्यया पञ्चसप्ततिः । ताडिताः पञ्चभिः पञ्च पारणाः पञ्चविंशतिः ॥५४॥
सर्वतोभद्रनामायमुपवासविधिः कृतः । विधत्ते सर्वतोभद्रं निर्वाणाभ्युदयोदयम् ॥५५॥
पञ्चादिषु नवान्तेषु भद्रोत्तरवसन्तकः । विधिस्तत्रोपवासास्तु पञ्चत्रिंशत्समं परम् ॥५६॥
सप्तान्तेष्वेकपूर्वेषु प्रस्तारे सप्तभङ्गके । आद्ययोः कृतयोरन्ते सर्वभङ्गेष्वनुक्रमम् ॥५७॥
अष्टात्रिंशतिरिष्टास्ते सर्वतः सप्तपारणाः । स महासर्वतोभद्रः सर्वतोभद्रसाधनः ॥५८॥
पञ्चाद्या यत्र रूपान्ता द्व्याद्यास्ते चतुरन्तकाः । द्व्याद्या रूपान्तकाः स त्रिलोकसारः स्मृतो विधिः ॥५९॥

सर्वतोभद्र—पाँच भंगका एक चौकोर प्रस्तार बनावे और एकसे लेकर पाँच तकके अंक उसमें इस तरह भरे कि सब ओरसे गिननेपर पन्द्रह-पन्द्रह उपवासोंकी संख्या निकल आवे। इन पन्द्रह उपवासोंमें पाँच भंगोंका गुणा करनेसे उपवासोंकी संख्या पचहत्तर और पाँच पारणाओंमें पाँच भंगोंका गुणा करनेसे पारणाओंकी संख्या पचीस निकलती है। यह सर्वतोभद्र नामका उपवास है तथा इसकी विधि यह है कि एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा और पाँच उपवास एक पारणा। इसी प्रकार आगेके भंगोंमें भी समझना चाहिए। यह सर्वतोभद्र व्रत सौ दिनमें होता है और निर्वाण तथा स्वर्गादिककी प्राप्तिरूप समस्त कल्याणोंको प्रदान करता है ॥५२-५५॥

वसन्तभद्र—एक सीधी रेखामें पाँचसे लेकर नौ तक अंक लिखे। उन सबका जोड़ पैंतीस होता है। इस प्रकार वसन्तभद्र व्रतमें ३५ उपवास होते हैं। उनका क्रम यह है कि पाँच उपवास एक पारणा, छह उपवास एक पारणा, सात उपवास एक पारणा, आठ उपवास एक पारणा और नौ उपवास एक पारणा। इस व्रतमें उपवासोंके ३५ और पारणाओंके ५ इस तरह चालीस दिन लगते हैं ॥५६॥

सर्वतोभद्रयन्त्र

उपवास	१	२	३	४	५
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	४	५	१	२	३
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	२	३	४	५	१
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	५	१	२	३	४
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	३	४	५	१	२
पारणा	१	१	१	१	१

वसन्तभद्रयन्त्र

उपवास	५	६	७	८	९
पारणा	१	१	१	१	१

महासर्वतोभद्र—सात भंगोंवाला एक चौकोर प्रस्तार बनावे। उसमें एकसे लेकर सात तकके अंक इस रीतिसे लिखे कि सब ओरसे संख्याका जोड़ अट्ठाईस-अट्ठाईस आवे। एक-एक भंगमें अट्ठाईस-अट्ठाईस उपवास और सात-सात पारणाएँ होती हैं। सातों भंगोंको मिलाकर एक सौ छियानबे उपवास और उनचास पारणाएँ होती हैं। इसके उपवास और पारणाओंकी विधि पहलेके समान जानना चाहिए। यह महासर्वतोभद्र नामका व्रत कहलाता है तथा सब प्रकारके कल्याणोंका करनेवाला है। इसमें दो सौ पैंतालीस दिन लगते हैं ॥५७-५८॥

त्रिलोकसारविधि—जिसमें नीचेसे पाँचसे लेकर एक तक, फिर दोसे लेकर चार तक और उसके बाद तीनसे लेकर एकतक बिन्दु रखी जावें वह त्रिलोकसार विधि है। इसका प्रस्तार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

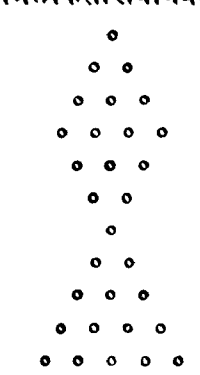
प्रस्तारश्चास्य विन्यस्यस्त्रिलोकाकृतिरत्र तु । धारणाः पारणाश्चापि त्रिंशदेकादशक्रमात् ॥६०॥
फलमस्य विधेः श्रेष्ठं कोष्ठबीजादिबुद्धयः । त्रिलोकसारभूतं च त्रिलोकशिखरे सुखम् ॥६१॥
क्रमेणाद्यन्तमध्येषु यः पञ्चैकोपवासकः । वज्रमध्यो विधिः स स्याद् गण्याः पारणधारणाः ॥६२॥
शक्रचक्रिगणेशत्वं समनःपर्ययोऽवधिः । प्रज्ञाश्रमणतो मोक्षो वज्रमध्यविधेः फलम् ॥६३॥
द्व्याद्यास्ते यत्र पञ्चान्ता द्व्यन्ताश्च चतुरादयः । विधिर्मृदङ्गमध्योऽयं मृदङ्गाकृतिरिष्यते ॥६४॥

तीन लोकके आकार बनाना चाहिए। इसमें तीस धारणाएँ अर्थात् तीस उपवास और ग्यारह पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम यह है पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। इस विधिमें इकतालीस दिन लगते हैं। इस विधिका फल कोष्ठबीज आदि ऋद्धियाँ तथा तीन लोकके शिखरपर तीन लोकका सारभूत मोक्ष सुखका प्राप्त होना है ॥५९-६१॥

महासर्वतोभद्रयन्त्र

उपवास	१	२	३	४	५	६	७
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	३	४	५	६	७	१	२
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	५	६	७	१	२	३	४
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	७	१	२	३	४	५	६
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	२	३	४	५	६	७	१
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	४	५	६	७	१	२	३
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	६	७	१	२	३	४	५
पारणा	१	१	१	१	१	१	१

त्रिलोकसारविधियन्त्र



वज्रमध्यविधि—जिसमें आदि और अन्तमें पाँच-पाँच तथा बीचमें घटते-घटते एक बिन्दु रह जाये वह वज्रमध्यविधि है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। इनका क्रम इस प्रकार है—पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा और पाँच उपवास एक पारणा। इस व्रतमें उनतीस उपवास और नौ पारणाएँ होती हैं तथा अड़तीस दिनमें समाप्त होता है। इन्द्र, चक्रवर्ती और गणधरका पद, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि और मोक्षका प्राप्त होना इस वज्रमध्यविधिका फल है ॥६२-६३॥

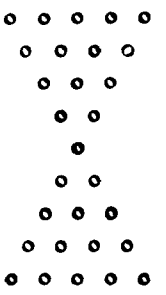
मृदंगमध्यविधि—जिसमें दोसे लेकर पाँच तक और चारसे लेकर दो तक बिन्दुएँ रखी जावें वह मृदंगाकार प्रस्तारसे युक्त मृदंगमध्यविधि है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। इनका क्रम यह है—दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा और दो उपवास एक पारणा। इस प्रकार इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

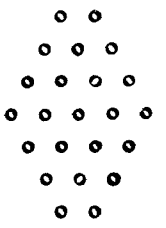
क्षीरस्रावित्वमक्षीणमहानसगुणादिकाः । लब्धयोऽवधिरन्ते च फलं निर्वाणमस्य च ॥६५॥
पञ्चादयो द्विपर्यन्ताः पञ्चान्ता द्व्यादयः परे । विधिर्मुरजमध्योऽस्य फलं चानन्तरं श्रुतम् ॥६६॥
[२]चतुर्थकानि यत्र स्युश्चतुर्विंशतिरेव सा । एकावली फलं तस्याः सुखमेकावलीस्थितम् ॥६७॥

व्रतमें तेईस उपवास और सात पारणाएँ होती हैं तथा तीस दिनमें समाप्त होता है। क्षीरस्रावित्व, अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ, अवधिज्ञान और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होना इस व्रतका फल है ॥६४-६५॥

वज्रमध्यविधियन्त्र —

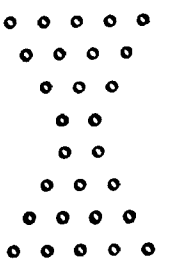


मृदङ्गमध्यविधियन्त्र —



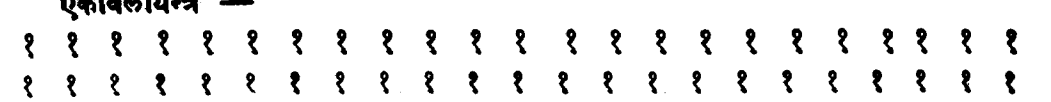
मुरजमध्यविधि—जिसमें पाँचसे लेकर दो तक, दोसे लेकर पाँच तक बिन्दुएँ हों वह मुरजमध्यविधि कहलाती है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हों उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ समझनी चाहिए। इनका क्रम यह है कि पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा और पाँच उपवास एक पारणा है। इस प्रकार इसमें अट्ठाईस उपवास और आठ पारणाएँ हैं तथा छत्तीस दिनमें समाप्त होता है। इसका फल मृदंग-मध्यविधिके समान है ॥६६॥

मुरजमध्यविधियन्त्र —



एकावलीविधि—जिसमें चौबीस उपवास और चौबीस पारणा हों वह एकावलीविधि है। इसमें एक उपवास तथा एक पारणाके क्रमसे चौबीस उपवास और चौबीस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत अड़तालीस दिनमें समाप्त होता है तथा अखण्ड सुखकी प्राप्ति होना इसका फल है ॥६७॥

एकावलीयन्त्र —



१. विधिरन्ते म.। २. उपवासाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्र षष्ठोपवासाः स्युश्चत्वारिंशत्तथाष्ट च । द्विकावलीयमुद्गीता लोकद्विकसुखावली ॥६८॥
एकाद्या यत्र पञ्चान्ता एकान्ताश्चतुरादिकाः । मुक्तावलीयमाख्याता ख्याता मुक्तावली यथा ॥६९॥
नान्तरीयकमेतस्या लोकालंकरणं फलम् । मुक्तालयपरिप्राप्तिरन्ते चात्यन्तिकं फलम् ॥७०॥
पञ्चान्ता यत्र चैकाद्याः पञ्चाद्येकान्तिका पुनः । रत्नावलीयमस्याश्च फलं रत्नावलीगुणाः ॥७१॥

द्विकावलीविधि—जिसमें अड़तालीस वेला और अड़तालीस पारणाएँ हों वह द्विकावली-विधि कही गयी है। यह दोनों लोकोंमें सुखको देनेवाली है। इसमें एक वेलाके बाद एक पारणा होती है। यह व्रत छयानबे दिनमें पूर्ण होता है ॥६८॥

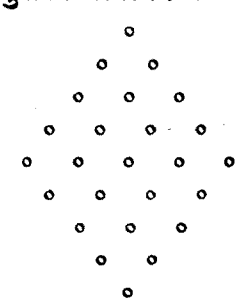
३ द्विकावलीयन्त्र —

२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

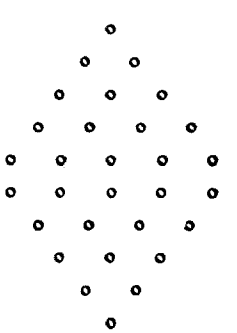
मुक्तावली विधि—जिसमें एकसे लेकर पाँच तक और चारसे लेकर एक तक बिन्दुएँ हों वह मुक्तावली विधि है। यह मोतियोंकी मालाके समान प्रसिद्ध है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतनी पारणाएँ होती हैं। इस प्रकार इस व्रतमें पचीस उपवास और नौ पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम यह है—एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पांच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, और एक उपवास एक पारणा। यह व्रत चौंतीस दिनमें पूर्ण होता है। इसका साक्षात् फल यह है कि इस व्रतको करते ही मनुष्य समस्त लोगोंका अलंकारस्वरूप श्रेष्ठ हो जाता है और अन्तमें सिद्धालयकी प्राप्तिस्वरूप आत्यन्तिक फलकी प्राप्ति होती है ॥६९-७०॥

रत्नावली विधि—जिसमें एकसे लेकर पांच तक और पांचसे लेकर एक तक बिन्दुएँ हों वह रत्नावली विधि है। इसका फल रत्नावलीके समान अनेक गुणोंकी प्राप्ति होना है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हों उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। उनका क्रम यह है—एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। इस प्रकार इसमें तीस उपवास और दस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत चालीस दिनमें पूर्ण होता है ॥७१॥

मुक्तावलीविधियन्त्र —



रत्नावलीविधियन्त्र —



१. दिनद्वयोपवासाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रवज्रावृत्तम्

रूपान्तराः पञ्चदशावसाना रूपान्तराः षोडश यत्र चाग्रे ।
रूपोनकास्तत्परमन्तरूपाः मुक्तावलीयं खलु रत्नपूर्वा ॥७२॥

उपजातिवृत्तम्

द्विशत्यशीतिश्चतुरुत्तराः स्युरत्रोपवासाः परिगण्यमानाः ।
एकोनषष्टिश्च हि भुक्तिकालाः फलं तु रत्नत्रयसारलब्धिः ॥७३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एको द्वौ च नव त्रिकाण्यपि ततश्चैकादिभिः षोडश
प्राज्ञैस्ते[2] गणिताश्चतुष्किकयुतं त्रिंशत्त्रिकाण्येव तु ।

रत्नमुक्तावलीविधि—एक ऐसा प्रस्तार बनाया जावे जिसमें रूप अर्थात् एक-एकका अन्तर देते हुए एकसे लेकर पन्द्रह तकके अंक लिखे जावें। उसके आगे एक-एकका अन्तर देकर सोलह लिखे जावें और उसके आगे एक-एकका अन्तर देते हुए एक-एक कम कर अन्तमें एक आ जावे वहाँ तक लिखे। इसमें प्रारम्भमें प्रथम अंकसे दूसरा अंक लिखते समय बीचमें और अन्तमें दोसे प्रथम अंक लिखते समय बीचमें पुनरुक्त होनेके कारण एकका अन्तर नहीं देवे। इस व्रतमें सब अंकोंका जोड़ करनेपर दो सौ चौरासी उपवास और उनसठ पारणाएँ होती हैं। उस उपवासमें तीन सौ तैंतालीस दिन लगते हैं। इसका फल रत्नत्रयकी प्राप्ति है। इसकी विधि यह है कि एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा आदि ॥७२-७३॥

कनकावलीविधि—जिसमें एकका अंक, दो का अंक, नौ बार तीनका अंक, फिर एकसे लेकर सोलह तकके अंक, फिर चौंतीस बार तीनके अंक, सोलहसे लेकर एक तकके अंक, नौ बार तीनके अंक तथा दो और एकका अंक लिखा जावे अर्थात् इस क्रमसे चार सौ चौंतीस उपवास और अठासी पारणाएँ की जावें वह कनकावली व्रत है। लौकान्तिक देव पदकी प्राप्ति होना अथवा संसारका अन्तकर मोक्ष प्राप्त करना इस व्रतका फल है। इसका क्रम यह है कि एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा आदि। इस व्रतके उपवासोंकी गणना निकालनेकी दूसरी विधि यह है कि एकसे लेकर सोलह तक दो बार संख्या लिखे और उसे आपसमें

रत्नमुक्तावलीयन्त्र —

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६
	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	
	१	१५	१	१४	१	१३	१	१२	१	११	१	१०	१	९	१	८	१	७	१	६	१	५	१	४	१	३	१	२	१

कनकावलीयन्त्र —

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	२	३	३	३	३	३	३	३	३	३	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	३	३
	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१		
	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
३	३	३	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१	३	३	३	३	३	३	३	३	२	१	

---

१. रूपान्तराख्यं च दशा ख.। २. –स्तद्गणिता म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपान्तान्यपि षोडशप्रभृतयो रन्ध्रं [1]त्रिकं द्व्येककं
यत्रैषा कनकाँवली [2]प्रकुरुते लौकान्तिकत्वं फलम् ॥७४॥
द्विघ्ने संकलिते हि षोडशगते त्रिघ्नात्मकोच्चैश्चतुः-
पञ्चाशत् त्रिकयोज्ययोजितचतुःशत्याश्चतुस्त्रिंशता ।
द्विघ्नैकादश षोडशान्वितचतुस्त्रिंशद्दिनैः साशनै[3] –
र्वर्षं द्वादशवासरैरभिहिताः पञ्चेह मासा[4] विधौ ॥७५॥
एकद्वित्रिचतुर्द्विकानि सहितैस्ते षोडशैकादिभि–
र्विंशेयानि सितं[5] चतुर्द्विकयुतं त्रिंशद्द्विकान्यादरात् ।
एकान्ता खलु षोडशादय इह ह्यष्टौ द्विकान्येव तु
त्रिद्व्येकोऽपि च यत्र ते प्रकथिता रत्नावलीयं परा ॥७६॥

स्रग्धरावृत्तम्

षट्पञ्चाशद्द्विकोत्थे द्विकपरिगुणिते मिश्रिते षोडशोत्थ–
द्वासप्तत्या द्विशत्याशनिरसनगणो गण्यते मिश्रितेऽस्मिन् ।

जोड़ देनेपर जितनी संख्या हो उसमें चौवनके तिगुने एक सौ बासठ और मिला दें। ऐसा करनेसे चार सौ चौंतीस उपवास निकल आते हैं और अठासी स्थान होनेसे अठासी पारणाएँ होती हैं। इस कनकावली विधिमें एक वर्ष पाँच मास और बारह दिन लगते हैं ॥७४–७५॥

दूसरे प्रकारकी रत्नावलीविधि—जिसमें रत्नोंके हारके समान एक प्रस्तार बनाकर बायीं ओर पहले बेलाका सूचक दो बिन्दुओंका एक द्विक लिखे, फिर दो बेलाओंके सूचक दो द्विक लिखे, फिर तीन बेलाओंके सूचक तीन द्विक लिखे, फिर चार बेलाओंके सूचक चार द्विक लिखे। इसके आगे एक उपवासकी सूचक एक बिन्दु लिखे, उसके बाद दो उपवासोंकी सूचक दो बिन्दुएँ बराबरीपर लिखे। तदनन्तर इसके आगे इसी प्रकार तीन आदि उपवासोंकी सूचक सोलह तक बिन्दुएँ रखे। फिर वे बायीं ओरसे दाहिनी ओर गोलाकार बढ़ते हुए बत्तीस बेलाओंके बत्तीस द्विक लिखे और उनके नीचे चार बेलाओंके सूचक चार द्विक लिखे। तीस द्विकके ऊपर सोलह आदि उपवासोंके सूचक सोलहसे लेकर एक तक बराबरीपर सोलह पन्द्रह आदि बिन्दुएँ रखे। और उसके आगे आठ बेलाओंके सूचक आठ द्विक, तीन बेलाओंके सूचक तीन द्विक, दो बेलाओंके सूचक दो द्विक तथा एक बेलाका सूचक एक द्विक लिखे। इस व्रतमें छप्पन द्विकके द्विगुणित एक सौ बारह तथा दोनों ओरकी षोडशियोंके दो सौ बहत्तर इस प्रकार सब मिलाकर तीन सौ चौरासी उपवास और अठासी स्थानोंके अठासी भुक्तिकाल होते हैं। यह व्रत एक वर्ष तीन माह और बाईस दिनमें पूरा होता है तथा रत्नत्रयरूपी तेजको बढ़ानेवाला है अर्थात् इस व्रतके फलस्वरूप रत्नत्रयमें निर्मलता आती है। इसकी विधि इस प्रकार है—एक बेला एक पारणा, एक बेला एक पारणा, इस क्रमसे दश बेला दश पारणा, फिर एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा इस क्रमसे सोलह उपवास तक बढ़ाना चाहिए। फिर एक बेला एक पारणा इस क्रमसे तीस बेला तीस पारणा, फिर षोडशीके सोलह उपवास एक पारणा, पन्द्रह उपवास एक पारणा, इस क्रमसे एक उपवास एक

---

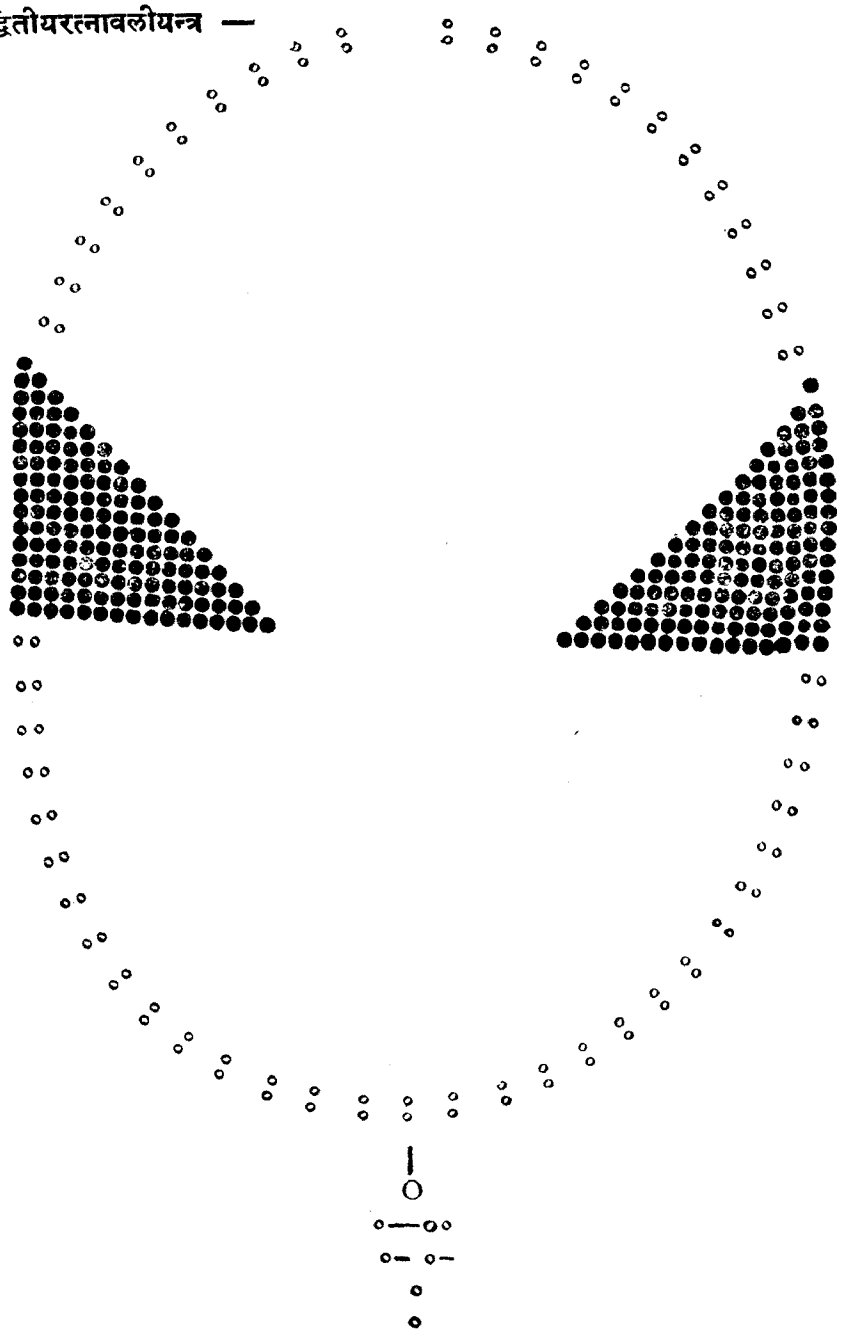
१. द्विकं त्र्येककं म.। २. एकः द्वौ, नववारं त्रयः, एकः द्वौ त्रयः इत्यादि षोडशपर्यन्ताः, ततः चतुस्त्रिंशद्वारं उपवासत्रिकं (तेला) ततः षोडश पञ्चदश इत्याद्येकपर्यन्ताः, ततः नववारं उपवासत्रिकं ततो द्वावेकश्च इति कनकावली। ३. पारणादिवसैः। ४. कनकावलीसमयः एको वर्षः पञ्चमासाः द्वादशदिनानि। ५. गिरि क., म.। ६. अन्तं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टाशीत्या समाहैरिह भवति विधा[1]काल संख्याप्यहोमि-
द्वार्विंशत्या त्रिरत्नद्युतिकृतिसुकृते वर्षमेकं [2]त्रिमास्या ॥७७॥

पारणा तक आना चाहिए। फिर एक बेला एक उपवासके क्रमसे बारह बेला और बारह पारणाएँ तत्पश्चात् नीचेके चार बेला और चार पारणाएँ करनी चाहिए ॥७६–७७॥

द्वितीयरत्नावलीयन्त्र —



१. विधौ ग. म. । २. रत्नावली समय एको वर्षस्त्रयो मासा द्वार्विंशतिदिनानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुष्टुप्

द्वौ द्वौ चैकादयः शस्ताः पञ्चपर्यंतसारकाः । हीने ह्युभयतः षष्टिः सिंहनिष्क्रीडिते विधौ ॥७८॥
त एक चाष्टपर्यन्ता नवं च शिखराः पुनः । मध्यमेऽप्युपवासाः स्युस्त्रि पञ्चाशं शतं स्फुटम् ॥७९॥

सिंहनिष्क्रीडित विधि—सिंहनिष्क्रीडित व्रत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है, उनमें हीन अर्थात् जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रतका क्रम इस प्रकार है। एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर पाँच तकके अंक दो दो वार आ जावें तथा वे पहलेके अंकोंमें दो-दो अंकोंकी सहायतासे एक-एक बढ़ता और घटता जाय इस रीतिसे लिखे जावें। पुनः पाँचसे लेकर एक तकके अंक भी दो-दो बार पूर्वोक्त क्रमसे लिखे जावें। समस्त अंकोंका जोड़ करनेपर जितनी संख्या हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। इस व्रतके प्रस्तारका आकार यह है—

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ५ ५ ४ ५ ३ ४ २ ३ १ २ १

इसमें पहले एक उपवास एक पारणा और दो उपवास एक पारणा करना चाहिए। फिर दोमें-से एक उपवासका अंक घट जानेसे एक उपवास एक पारणा, दोमें एक उपवासका अंक बढ़ जानेसे तीन उपवास एक पारणा, तीनमें एक उपवासका अंक घट जानेसे दो उपवास एक पारणा, तीनमें एक उपवासका अंक बढ़ जानेसे चार उपवास एक पारणा, चारमें-से एक उपवासका अंक घट जानेसे तीन उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवासका अंक बढ़ जानेसे पाँच उपवास एक पारणा, पाँचमें-से एक उपवासका अंक कमा देनेपर चार उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवासका अंक बढ़ा देनेपर पाँच उपवास एक पारणा होती है। यहाँपर अन्तमें पाँचका अंक आ जानेसे पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है। आगे उलटी संख्यासे पहले पाँच उपवास एक पारणा करनी चाहिए। पश्चात् पाँचमें से एक उपवासका अंक कमा देनेपर चार उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवासका अंक बढ़ा देनेपर पाँच उपवास एक पारणा, चारमें-से एक उपवासका अंक घटा देनेपर तीन उपवास एक पारणा, तीनमें एक उपवासका अंक बढ़ा देनेपर चार उपवास एक पारणा, तीनमें से एक उपवासका अंक घटा देनेपर दो उपवास एक पारणा, दोमें एक उपवासका अंक बढ़ा देनेसे तीन उपवास एक पारणा, दोमें से एक उपवासका अंक घटा देनेपर एक उपवास एक पारणा, फिर दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा करना चाहिए। इस जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें समस्त अंकोंका जोड़ साठ होता है इसलिए साठ उपवास होते हैं और स्थान बीस हैं इसलिए पारणाएँ बीस होती हैं। यह व्रत अस्सी दिनमें पूर्ण होता है ॥७८॥

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित विधि—मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर आठ अंक तकका प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखरपर नौ अंक लिखना चाहिए। उसके बाद उलटे क्रमसे एक तकके अंक लिखना चाहिए। यहाँ भी जघन्य निष्क्रीडितके समान दो-दो अंकोंकी अपेक्षा एक-एक उपवासका अंक घटाना-बढ़ाना चाहिए। इस रीतिसे लिखे हुए समस्त अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ समझनी चाहिए। इस तरह इस व्रतमें एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत एक सौ छियासी दिनमें पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—॥७९॥

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ८ ९
१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
८ ७ ८ ६ ७ ५ ६ ४ ५ ३ ४ २ ३ १ २ १

१. -त्वेकादयः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वे पञ्चदशान्तास्तु शिखरे षोडशाधिकाः । उत्कृष्टे तत्र ते वेद्याः षण्णवत्या चतुःशती ॥८०॥

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित विधि—उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर पन्द्रह तकके अंकोंका प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखरमें सोलहका अंक लिखना चाहिए। उसके बाद उलटे क्रमसे एक तकके अंक लिखना चाहिए। यहाँपर भी जघन्य और मध्यम सिंहनिष्क्रीडितके समान दो-दो अंकोंकी अपेक्षा एक-एक उपवासका अंक घटाना-बढ़ाना चाहिए। इस रीतिसे लिखे हुए समस्त अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाननी चाहिए। इस तरह इस व्रतमें चार सौ छियानबे उपवास और इकसठ पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पाँच सौ सत्तावन दिनमें पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है---॥८०॥

१ १
१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ९ ८ १० ९ ११ १० १२ ११
१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
१३ १२ १४ १३ १५ १४ १५ १६ १५ १४ १५ १३ १४ १२ १३
१ १
११ १२ १० ११ ९ १० ८ ९ ७ ८ ६ ७ ५ ६ ४ ५ ३ ३ २ ३ १ २ १

विशेष—७८, ७९, ८०वें श्लोकोंका एक सीधा-साधा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है विद्वज्जन इसपर विचार करें—

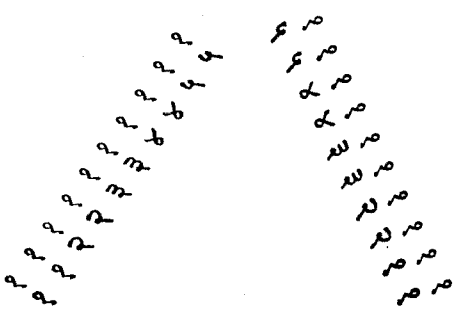
जघन्य सिंहनिष्क्रीडित विधिमें एकसे लेकर पाँच तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखें और उसके बाद उलटे क्रमसे पाँचसे एक तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखें। दोनों ओरके सब अंकोंका जोड़ कर देनेपर साठ उपवास और बीस पारणाएँ होती हैं ॥७८॥

मध्यम सिंहनिष्क्रीडितमें एकसे लेकर आठ तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखें और उनके ऊपर शिखरस्थानपर नौका अंक लिखे फिर उलटे क्रमसे एक तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखे। सब अंकोंका जोड़ करनेपर एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणाएँ आती हैं ॥७९॥

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडितमें एकसे लेकर पन्द्रह तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखे और उसके ऊपर शिखरस्थानपर सोलहका अंक लिखे फिर उलटे क्रमसे एक तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखे सब अंकोंका जोड़ करनेपर चार सौ छियानबे उपवास और इकसठ पारणाएँ होती हैं।

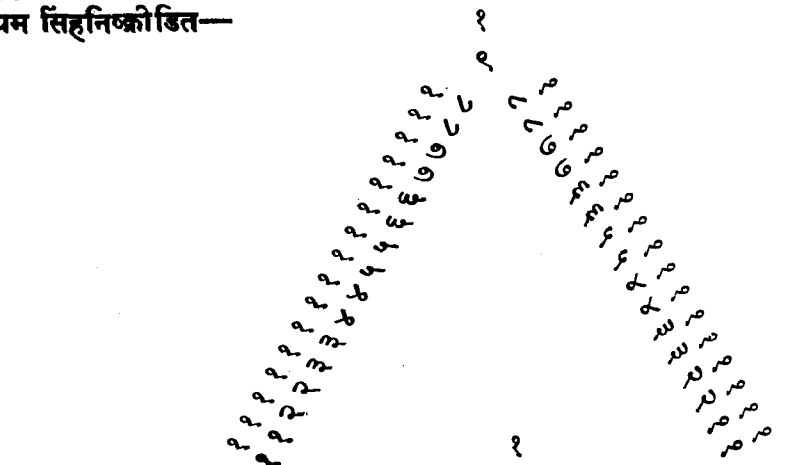
इनके प्रस्तार इस क्रमसे जानना चाहिए—

जघन्य सिंहनिष्क्रीडित—

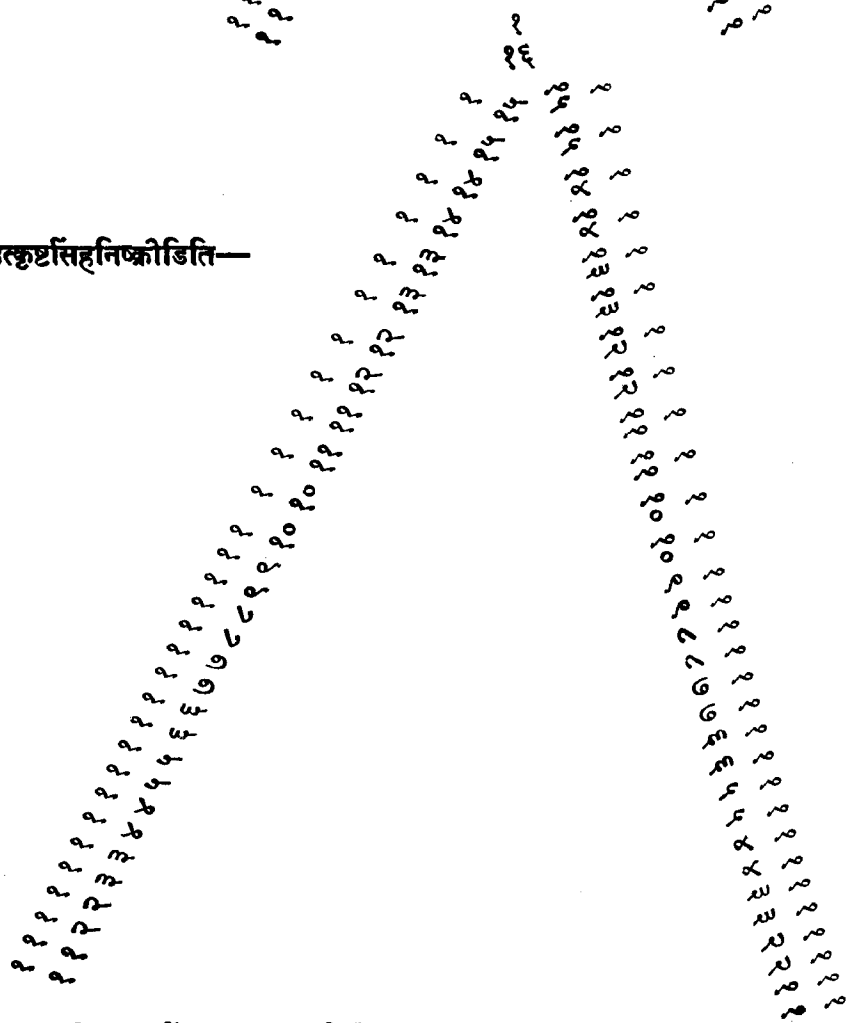


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित—



उत्कृष्टसिंहनिष्क्रीडिति—



सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें कल्पना यह है कि जिस प्रकार सिंह किसी पर्वतपर क्रम-क्रमसे चढ़ता हुआ उसके शिखर पर पहुँचता है, बादमें क्रम-क्रमसे नीचे उतरता है उसी प्रकार मुनिराज क्रम-क्रमसे उपवास करते हुए तपरूपी पर्वतके शिखर पर चढ़ते हैं और उसके बाद क्रम-क्रमसे नीचे उतरते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्या

पञ्चानां संकलिते चतुर्गुणो षष्टिरेवमष्टानाम् । नवभिर्मिश्रितमध्यः पञ्चदशानां च षोडशभिः ॥८१॥

अनुष्टुप्

विंशतिश्च त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिश्च पारणाः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टसिंहनिष्क्रीडितं क्रमात् ॥८२॥
वज्रसंहननोऽनन्तवीर्यसिंह इवाभयः । अणिमादिगुणः सिद्धयेत्फलेनास्य नरोऽचिरात् ॥८३॥

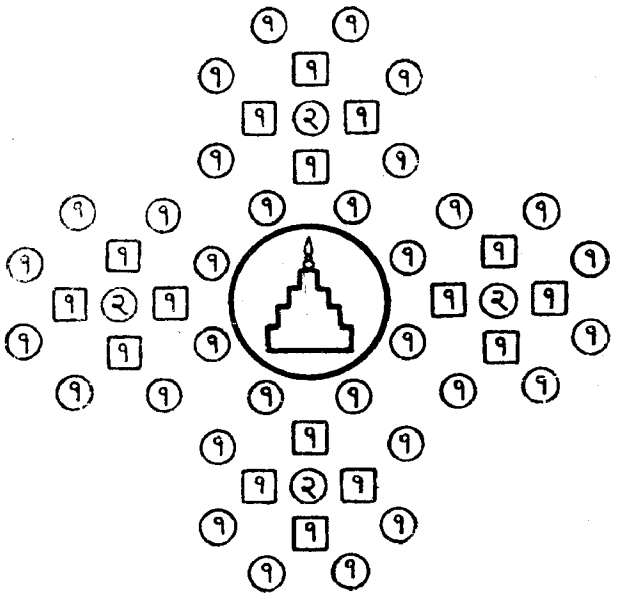
हरिणीच्छन्दः

प्रतिदधिमुखं चत्वारस्ते निरस्तमनोमलाः प्रतिरतिकरं चाष्टौ यत्र ह्युपोषितवासराः ।
प्रतिदिशमथो षष्टं कार्यं तथाञ्जनकान्प्रति व्रतविधिरयं श्रेष्ठो नन्दीश्वरो जिनचक्रिकृत् ॥८४॥

ग्रन्थकर्ताने तीनों प्रकारके सिंहनिष्क्रीडित व्रतोंकी संख्या और पारणा गिननेकी एक सरल रीति यह भी बतलायी है कि जघन्यसिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर पाँच तकके अंक लिखकर सबको जोड़ ले फिर उसमें चारका गुणा कर दे। जैसे एकसे लेकर पाँच तकके अंकोंका जोड़ पन्द्रह होता है उसमें चारका गुणा करनेपर उपवासोंकी संख्या साठ आती है। मध्यमसिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर आठ तकके अंक लिखकर सबको जोड़ दे फिर उसमें चारका गुणा कर दे और शिखरके नौ अलगसे जोड़ दे। जैसे—एकसे लेकर आठ तकके अंकोंका जोड़ छत्तीस होता है उसमें चारका गुणा करनेपर एक सौ चवालीस आते हैं उसमें शिखरके नौ जोड़ देनेपर उपवासोंकी संख्या एक सौ त्रेपन होती है। उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडितमें एकसे लेकर पन्द्रह तकके अंक लिखकर उनका जो जोड़ हो उसमें चारका गुणा करे फिर शिखरके सोलह अलगसे जोड़ दे। जैसे एकसे पन्द्रह तकके अंकका जोड़ एक सौ बीस होता है। उसमें चारका गुणा करनेपर चार सौ अस्सी होते हैं। उसमें शिखरके सोलह जोड़ देनेपर उपवासोंकी संख्या चार सौ छ्यानबे होती है ॥८१॥ जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रतोंकी पारणाएँ क्रमसे बीस, तैंतीस और इकसठ होती हैं ॥८२॥ इस व्रतके फलस्वरूप मनुष्य वज्रवृषभनाराच संहननका धारक, अनन्तवीर्यसे सम्पन्न, सिंहके समान निर्भय और अणिमा आदि गुणोंसे युक्त होता हुआ शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥८३॥

नन्दीश्वर व्रतविधि—नन्दीश्वर द्वीपकी एक-एक दिशामें चार-चार दधिमुख हैं इसलिए

नन्दीश्वर व्रतविधि-यन्त्र—



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

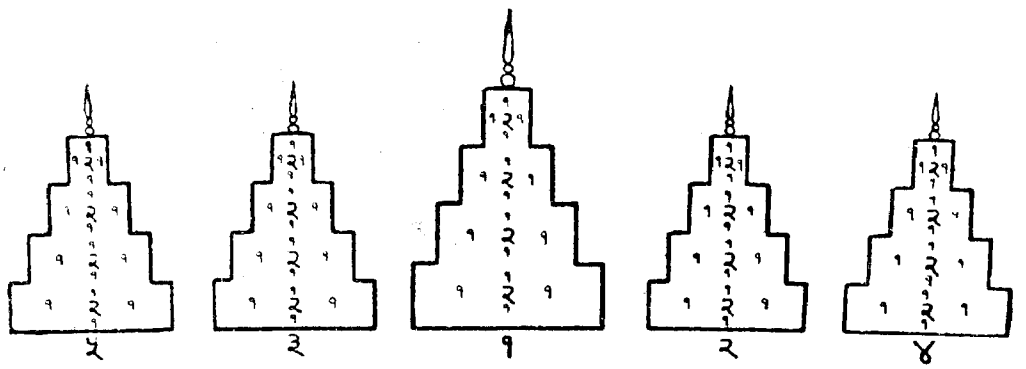
रथोद्धता

मेरुषु प्रतिवनं तु षष्ठतः प्रत्यगारमुदिता चतुर्थकान् ।
मेरुपङ्क्तिविधिरेषु मेरुषु प्रापयिष्यति महाभिषेचनम् ॥८५॥

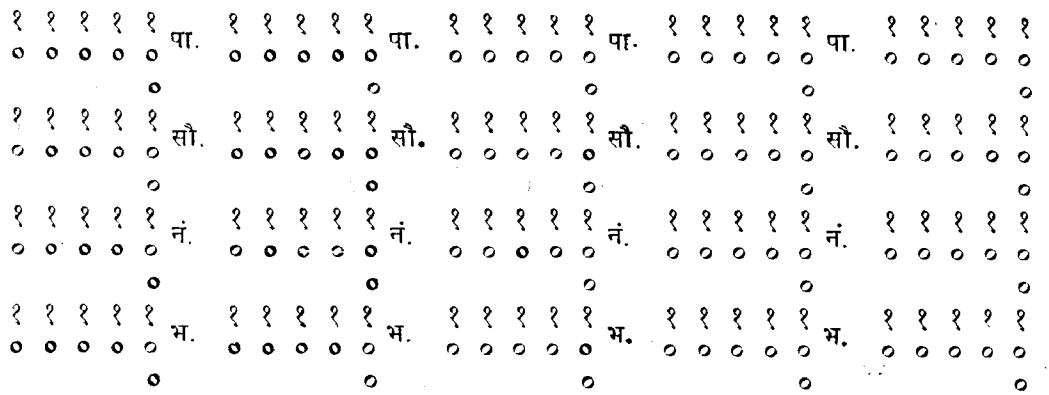
प्रत्येक दधिमुखको लक्ष्य कर मनकी मलिनताको दूर करते हुए चार उपवास करना चाहिए। एक-एक दिशामें आठ-आठ रतिकर हैं इसलिए प्रत्येक रतिकरको लक्ष्य कर आठ उपवास करना चाहिए। एक-एक दिशामें एक-एक अंजनगिरि है इसलिए उसे लक्ष्य कर एक बेला करना चाहिए। इस प्रकार एक दिशाके बारह उपवास एक बेला और तेरह पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पूर्व दिशासे प्रारम्भ कर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके क्रमसे चारों दिशाओंमें करना चाहिए। इसमें अड़तालीस उपवास, चार बेला और बावन पारणाएँ हैं। इस तरह यह व्रत एक सौ आठ दिनमें पूर्ण होता है। यह नन्दीश्वर व्रत अत्यन्त श्रेष्ठ है और जिनेन्द्र तथा चक्रवर्तीके पदको प्राप्त करानेवाला है ॥८४॥

मेरुपंक्तिव्रत विधि—जम्बूद्वीपका एक, धातकीखण्ड पूर्वदिशाका एक, धातकीखण्ड पश्चिम दिशाका एक, पुष्करार्ध पूर्व दिशाका एक और पुष्करार्ध पश्चिम दिशाका एक इस प्रकार कुल पाँच मेरु पर्वत हैं। प्रत्येक मेरु पर्वतपर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये चार वन हैं और एक-एक वनमें चार-चार चैत्यालय हैं। मेरुपंक्तिव्रतमें वनोंको लक्ष्य कर बेला और

मेरुपंक्तिव्रत यन्त्र—



अथवा—



१. ८० उपवासाः २० षष्ठानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

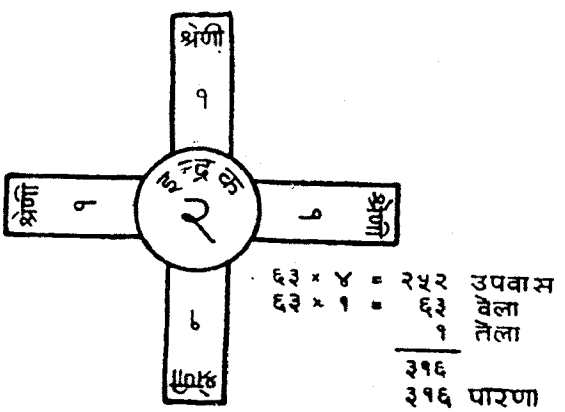
उपजातिः

चतुश्चतुर्थान्वितषष्टकेन त्रिषष्टितावेष्टनभागषष्टे ।
विमानपङ्क्तिर्विधिरस्य कर्ता विमानपङ्क्तीश्वरभावकर्ता[1] ॥८६॥

चैत्यालयोंको लक्ष्य कर उपवास करने पड़ते हैं। इस प्रकार इस व्रतमें पाँचों मेरु सम्बन्धी अस्सी चैत्यालयोंके अस्सी उपवास और बीस वन सम्बन्धी बीस बेला करने पड़ते हैं तथा सौ स्थानोंकी सौ पारणाएँ होती हैं। इसमें दो सौ बीस दिन लगते हैं। व्रत, जम्बूद्वीपके मेरुसे शुरू होता है। इसमें प्रथम ही भद्रशाल वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास; चार पारणाएँ और वनसम्बन्धी एक बेला, एक पारणा होती है। फिर नन्दन वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास, चार पारणाएँ और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। फिर सौमनस वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास चार पारणाएँ और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। तदनन्तर पाण्डुक वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास चार पारणाएँ और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। इसी क्रमसे धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व और पश्चिम मेरु तथा पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व और पश्चिम मेरु सम्बन्धी उपवास बेला और पारणाएँ जानना चाहिए। यह मेरुपंक्तिव्रत, मेरु पर्वतपर महाभिषेकको प्राप्त कराता है अर्थात् इस व्रतका पालन करनेवाला पुरुष तीर्थंकर होता है ॥८५॥

विमानपंक्ति विधि—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके हैं। इन्द्रक विमान बीचमें है और श्रेणीबद्ध विमान चारों दिशाओंमें श्रेणीरूपसे स्थित हैं। ऋतु विमानको आदि लेकर इन्द्रक विमानोंकी संख्या त्रेसठ है। विमानपंक्तिव्रतमें इनकी चारों दिशाओंमें श्रेणीबद्ध विमानोंकी अपेक्षा चार उपवास, चार पारणाएँ और इन्द्रककी अपेक्षा एक बेला एक पारणा होती है। इस तरह त्रेसठ इन्द्रक विमानोंकी चार-चार श्रेणियोंकी अपेक्षा चार-चार उपवास होनेसे ये दो सौ बावन उपवास तथा त्रेसठ इन्द्रक सम्बन्धी त्रेसठ बेला होते हैं। त्रेसठ बेलाके बाद एक तेला होता है इस प्रकार उपवास २५२ बेला ६३ और तेला १ सब मिलाकर तीन सौ सोलह स्थान होते हैं अतः इतनी ही पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पूर्व, दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशाके क्रमसे होता है। चारों दिशाओंके चार उपवासके बाद बेला होता है। इसमें कुल छह सौ सत्तानबे दिन लगते हैं। यह व्रत विमानोंकी ईश्वरता प्राप्त करानेवाला है अर्थात् इस व्रतका करनेवाला मनुष्य विमानोंका स्वामी होता है ॥८६॥

विमानपंक्तियन्त्र—



१. ६८७ दिनेषु समाप्यते अत्र ३१६ स्थानानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रथोद्धता

रूपमादिरधि यत्र पञ्च ते त्रिस्ततो भवति रूपमप्यतः ।
शातकुम्भविधिरेष संभवे शातकुम्भसुखदस्तृतीयके ॥८७॥

शातकुम्भ विधि—शातकुम्भ विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है उनमें जघन्य शातकुम्भ विधि इस प्रकार है। एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर पाँच तकके अक्षर पाँच, चार, तीन, दो, एकके क्रमसे लिखे। तदनन्तर प्रथम अंक अर्थात् पाँच को छोड़कर अवशिष्ट अंकोंको चार, तीन, दो, एकके क्रमसे तीन बार लिखे। सब अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाने। इस विधिमें पैंतालीस उपवास और सत्तरह पारणाएँ हैं, यह बासठ दिनमें पूर्ण होता है। प्रस्तारका आकार इस प्रकार है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
५	४	३	२	१	४	३	२	१	४	३	२	१	४	३	२	१

मध्यमशातकुम्भ विधि—एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर नौ पर्यन्त तकके अंक नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो, एकके क्रमसे लिखे। तदनन्तर प्रथम अंक अर्थात् नौको छोड़कर आठ-सात आदिके क्रमसे अवशिष्ट अंकोंको तीन बार लिखे। सब अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाने। इस व्रतमें एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणाएँ हैं। यह व्रत एक सौ छियासी दिनमें पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
९	८	७	६	५	४	३	२	१	८	७	६	५	४	३	२	१
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	
८	७	६	५	४	३	२	१	८	७	६	५	४	३	२	१	

उत्कृष्ट शातकुम्भ विधि—एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर सोलह तकके अंक सोलह पन्द्रह चौदह आदिके क्रमसे एक तक लिखे फिर प्रथम अंकको छोड़कर अवशिष्ट अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाने। इस व्रतमें चार सौ छियानबे उपवास और इकसठ पारणाएँ हैं। यह विधि पाँच सौ सन्तावन दिनमें पूर्ण होती है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	
३	२	१	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
६	५	४	३	२	१	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
८	७	६	५	४	३	२	१	१५	१४	१३	१२	११
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१			
१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१			

यह विधि सुवर्णमय कलशोंसे अभिषेक सम्बन्धी सुखको देनेवाली है। यह इन

१. ४५ उपवासाः १७ पारणाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्या

एकादयः प्रणीता विधयोऽमी शातकुम्भपर्यन्ताः ।
पञ्चनवषोडशान्ता भवन्त्यपि प्रथममध्यमोत्कृष्टाः ॥८८॥[1][2]

उपजातिवृत्तम्

यथोक्तमेषां हि तपोविधीनां विधेरशक्तैरुपवाससंख्या ।
यथात्मशक्ति स्वहितप्रवृत्तैश्चतुर्थषष्ठाष्टमतोऽपि पूर्या ॥८९॥

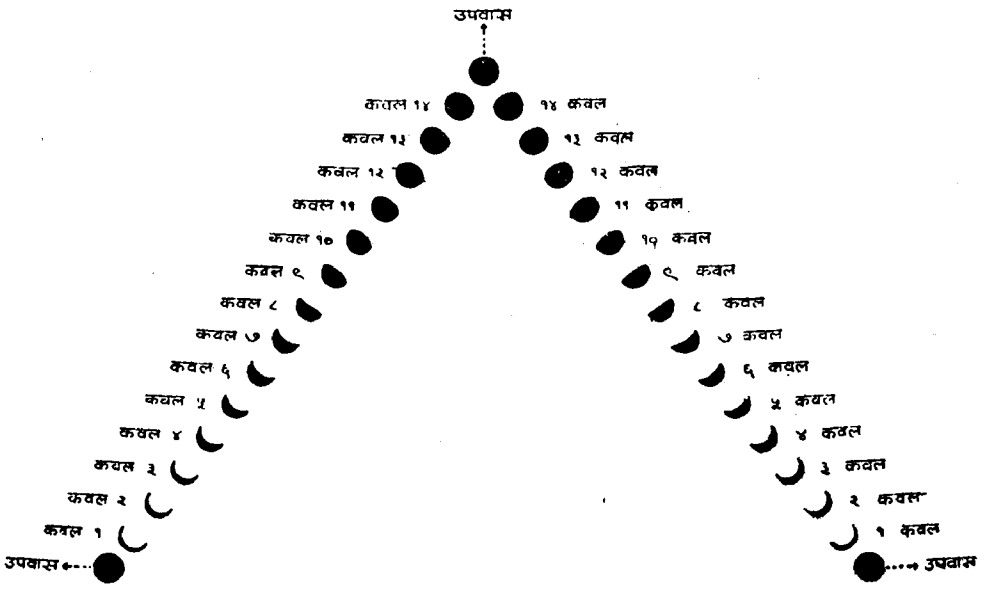
स्रग्धरा

योऽमावस्योपवासी प्रतिपदि कवलाहारमात्रः पुरस्ता-
त्तद्वृद्ध्या पौर्णमास्यामुपवसनयुतोद्ध्रासयन् ग्रासमग्रे ।
साऽमावस्योपवासः स भजति तपसश्चन्द्रगत्यानुपूर्व्या
चार्व्या चान्द्रायणस्य प्रविततयशसः कर्तृणः कर्तृभावम् ॥९०॥[3]

तपोंकी विधि कही है परन्तु जो मनुष्य इनके करनेमें असमर्थ हैं वे अपनी शक्तिके अनुसार आत्महितमें प्रवृत्त होते हुए उपवास, बेला तथा तेलाके द्वारा भी उपवासोंकी निश्चित संख्या पूरी कर सकते हैं ॥८७-८९॥

चान्द्रायणविधि—चान्द्रायण व्रत चन्द्रमाकी सुन्दर गतिके अनुसार होता है। इस व्रतका करनेवाला अमावस्याके दिन उपवास करता है फिर प्रतिपदाको एक *कवल—एक ग्रास मात्र आहार लेता है। तदनन्तर द्वितीयादि तिथियोंमें एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ चतुर्दशीको चौदह कवलका आहार करता है। पूर्णिमाके दिन उपवास करता है फिर चन्द्रमाकी कलाओंके अनुसार

कवलचान्द्रायणविधियन्त्र—



१. १५३ उपवासाः ३३ पारणाः। २. ४९६ उपवासाः ६१ पारणाः। ३. अमावस्यायामुपवासः प्रतिपदि एककवलाहारः एवं क्रमेण चतुर्दश्यां चतुर्दशकवलाहारः तत उपवासः कृष्णप्रतिपदि चतुर्दशकवलाहारः एवमूनक्रमेण पुनरमावस्यायामुपवासः। * एक हजार चावलोंका एक कवल होता है। अतः एक हजार चावलोंका जितना परिमाण हो उतना कवल बनाना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रथोद्धता

प्रागुपोष्य कवलस्य भोजनं सप्तमान्तमपि सैकवृद्धिकम् ।
सप्तकृत्व इति यत्र तु क्रिया सप्तसप्तमतपोविधिस्त्वसौ ॥९१॥

आर्या

अष्टाष्टमनवनवमौ दशदशमैकादशो विधयः ।
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशद्विध्यन्ता एवमात्मका बोध्याः ॥९२॥

अनुष्टुप्

एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ता भुक्तिपिण्डकाः । प्रत्येकं सप्तमान्ताः स्युः सप्तसप्तमकेऽथवा ॥९३॥
अष्टान्तादिषु विज्ञेयः शेषेष्वपि विधिस्वयम् । क्रमेणैकोपवासादिकवलक्रमसंज्ञकः ॥९४॥

आर्या

आचाम्लवर्धमाने भवन्ति सौवीरभुक्तयस्त्वेकाद्याः ।
सोपोषिता दशान्ता दशादयश्चापि रूपान्ताः ॥९५॥
निर्विकृतिं पूर्वार्धः सैकस्थानस्तु पश्चिमार्धश्च ।
आचाम्लवर्धमानाः क्रमेण विधयो विधेयास्ते ॥९६॥

एक-एक कवल घटाता हुआ चौदह, तेरह, बारह आदि कवलोंका आहार लेता है और अन्तमें अमावास्याको पुनः उपवास करता है। यह व्रत इकतीस दिनमें पूर्ण होता है और यशको विस्तृत करनेवाला है अतः इस व्रतको करनेवाला यशको प्राप्त होता है ॥९०॥

सप्तसप्तमतपोविधि—जिसमें पहले दिन उपवास और उसके बाद एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए आठवें दिन सात ग्रासका आहार लिया जाय फिर एक-एक ग्रास घटाते हुए अन्तिम दिन उपवास किया जाय। इसी प्रकारकी क्रिया सात बार की जाय। वह सप्तसप्तमविधि है ॥९१॥

अष्टअष्टम, नवनवमादिविधि—सप्तसप्तमविधिके अनुसार अष्टअष्टम, नवनवम, दशदशम, एकादशएकादश और द्वादशद्वादशको आदि लेकर द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशद् तककी विधि भी इसी प्रकार जानना चाहिए। जितनेवीं विधि प्रारम्भ की जावे उसमें प्रथम दिन उपवास रखकर एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए उतने ग्रास तक आहार लेना चाहिए। फिर एक-एक ग्रास घटाते हुए एक ग्रास तक आवे और अन्तिम दिनका उपवास रखना चाहिए। मनुष्यका स्वाभाविक भोजन बत्तीस ग्रास बतलाया है, अतः यह व्रत भी बत्तीस ग्रास तक ही सीमित रखा गया है ॥९२॥ अथवा सप्तसप्तमविधिका एक दूसरा क्रम यह भी बतलाया गया है कि पहले दिन उपवास न कर क्रमसे एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात कवलका आहार ले जब एक दौर पूर्ण हो जावे तो यही क्रम फिर करे। इस तरह सात बार इस क्रमके कर चुकनेपर यह व्रत पूर्ण होता है ॥९३॥ अष्टअष्टम आदि विधियोंमें भी यही क्रम जानना चाहिए। इनमें क्रमसे एक उपवाससे प्रारम्भ कर एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए ॥९४॥

आचाम्लवर्धमानविधि—आचाम्लवर्धमान विधिमें पहले दिन उपवास करना चाहिए दूसरे दिन एक बेर बराबर भोजन करना चाहिए, तीसरे दिन दो बेर बराबर, चौथे दिन तीन बेर बराबर इस तरह एक-एक बेर बराबर बढ़ाते हुए ग्यारहवें दिन दस बेर बराबर भोजन करना चाहिए फिर दशको आदि लेकर एक-एक बेर बराबर घटाते हुए दशवें दिन एक बेर बराबर भोजन करना चाहिए और अन्तमें एक उपवास करना चाहिए। इस व्रतके पूर्वार्धके दश दिनोंमें निर्विकृति-नीरस भोजन लेना चाहिए और उत्तरार्द्धके दश दिनोंमें इक्कट्ठाणाके साथ अर्थात् भोजनके लिए बैठनेपर पहली बार जो भोजन परोसा जाये उसे ग्रहण करना चाहिए। दोनों ही

---

१. प्रथमदिने उपवासः पुनरेकैकवृद्धिक्रमेण अष्टमदिवसे सप्तकवलाहारः पुनर्हानिक्रमेणोपवासः एवं सप्तवारं कर्तव्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितम्

अष्टाविंशतिरिष्टसाधनमतौ चैकादशाङ्गेषु ते
द्वात्रिंशौ परिकर्मणोऽष्टसहिताशीतिस्तु सूत्रस्य हि ।
एकौ चाद्यनुयोगकेवलकृतौ द्विःसप्तपूर्वेष्वमी
षट्पञ्चावधिचूलिके श्रुतविधौ द्वौ तौ मनःपर्यये[1] ॥९७॥

उपजातिः

प्रत्येकमष्टावुपवासभेदा निश्शङ्किताद्यष्टगुणव्यपेक्षाः ।
त्रिदर्शनानामपि ते विधेयास्तपोविधौ दर्शन[2]शुद्धिसंज्ञे ॥९८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

द्वावेकः पुनरेक एव हि परे पञ्चैक एकः क्रमात्
षोढा बाह्यतपस्यमी क्रमगताः पुण्योपवासाः पृथक् ।
सान्तःस्थे दश साधिकाश्च नवभिस्त्रिंशद्दश व्याहृताः
पञ्च द्वौ पुनरेक एव च तपःशुद्धौ विधेया विधौ ॥९९॥

अनुष्टुप्

चतुर्दशस्वहिंसार्थं[3] जीवस्थानेषु भाविताः । त्रियोगनवकोटिघ्ना ते षड्विंशं शतं स्फुटम् ॥१००॥

अर्धोंमें भोजनका परिमाण ऊपर लिखे अनुसार ही समझना चाहिए । ये आचाम्ल वर्धमान तपकी विधियाँ क्रमसे करनी चाहिए ॥९५-९६॥

श्रुतविधि—श्रुतविधि उपवासमें मतिज्ञानके अट्ठाईस, ग्यारह अंगोंके ग्यारह, परिकर्मके दो, सूत्रके अठासी, प्रथमानुयोग और केवलज्ञानके एक-एक, चौदह पूर्वोंके चौदह, अवधिज्ञानके छह, चूलिकाके पाँच और मनःपर्ययज्ञानके दो इस प्रकार एक सौ अट्ठावन उपवास करने पड़ते हैं। एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा होती है इसलिए यह व्रत तीन सौ सोलह दिनोंमें पूर्ण होता है ॥९७॥

दर्शनशुद्धि विधि—दर्शनविशुद्धि नामक तपकी विधिमें औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन सम्यग्दर्शनोंके निःशंकित आदि आठ-आठ अंगोंकी अपेक्षा चौबीस उपवास होते हैं। एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा होती है। इस तरह यह व्रत अड़तालीस दिनमें समाप्त होता है ॥९८॥

तपःशुद्धि विधि—बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तपके दो भेद हैं। उनमें बाह्य तपके अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह भेद हैं और आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग ये छह भेद हैं। इनमें अनशनादि बाह्य तपोंके क्रमसे दो, एक, एक, पाँच, एक और एक इस प्रकार ग्यारह पवित्र उपवास होते हैं और प्रायश्चित्त आदि छह अन्तरंग तपोंके क्रमसे उन्नीस, तीस, दश, पाँच, दो और एक इस प्रकार सड़सठ उपवास होते हैं। दोनों भेदोंके मिलाकर अठहत्तर उपवास होते हैं। ये सब उपवास पृथक्-पृथक्* होते हैं अर्थात् एक उपवासके बाद एक पारणा होती है ॥९९॥

चारित्रशुद्धि विधि—पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समितिके भेदसे चारित्रके तेरह भेद हैं। चारित्रशुद्धि विधिमें इन सबकी शुद्धिके लिए पृथक्-पृथक् उपवास करनेकी प्रेरणा दी गयी है।

१. १५८ उपवासस्थानानि । २. २४ उपवासस्थानानि । ३. अहिंसाव्रतोपवासाः १४ × ९ = १२६ ।

* कुछ लोग अठहत्तर उपवासोंके बारह स्थान मानते हैं अर्थात् पारणाएँ केवल बारह ही होती हैं ऐसा अर्थ करते हैं परन्तु इस अर्थमें पृथक् शब्द निरर्थक जाता है और आभ्यन्तर तपोंमें उन्नीसके बाद एक पारणा तथा उसके बाद तीस उपवास लगातार करना अत्यन्त कष्टसाध्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]भीर्ष्यास्वपक्षपैशुन्यक्रोधलोभात्मशंसनैः । द्वासप्ततिर्नवघ्नैस्ते परनिन्दा[2]न्वितैरिति ॥१०१॥
ग्रामारण्यखलैकान्तैरन्यत्रोपध्यभुक्तकैः । [3]सपुष्टग्रहणैः प्राग्वद्द्वासप्ततिरमी मताः ॥१०२॥
नृदेवाचित्ततिर्यक्स्त्रीरूपैः पञ्चेन्द्रियाहतैः । नवघ्नैः ब्रह्मचर्यैः स्युः शतं तेऽशीतिमिश्रितम् ॥१०३॥

उपजातिः

चतुष्कषाया नव नोकषाया मिथ्यात्वमेते द्विचतुःपदे च ।
क्षेत्रं च धान्यं च हि कुप्यभाण्डे धनं च यानं शयनासनं च ॥१०४॥
अन्तर्बहिर्भेदपरिग्रहास्ते रन्ध्रैश्चतुर्विंशतिराहतास्तु ।
ते द्वे शते षोडशसंयुते स्युर्महाव्रते स्यादुपवासभेदाः ॥१०५॥

अनुष्टुप्

षष्टे दशोपवासाः स्युरनिच्छा नव कोटिभिः । प्रत्येकं नव विज्ञेया त्रिगुप्तिसमितित्रिके ॥१०६॥

प्रथम ही अहिंसा महाव्रत है सो १ बादर एकेन्द्रियपर्याप्तक, २ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, ३ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, ४ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, ५ द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, ६ द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक, ७ त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, ८ त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, ९ चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, १० चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक, ११ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, १२ संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक, १३ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और १४ असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक। इन चौदह प्रकारके जीवस्थानोंकी हिंसाका त्याग मन-वचन-काययोग तथा कृत कारित अनुमोदना इन नौ कोटियोंसे करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर प्रथम अहिंसा व्रतके एक सौ छब्बीस उपवास होते हैं और एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा होनेसे एक सौ छब्बीस ही पारणाएँ होती हैं ॥१००॥

दूसरा सत्य महाव्रत है सो १ भय, २ ईर्ष्या, ३ स्वपक्ष पुष्टि, ४ पैशुन्य, ५ क्रोध, ६ लोभ, ७ आत्मप्रशंसा और ८ परनिन्दा—इन आठ निमित्तोंसे बोले जानेवाले असत्यका पूर्वोक्त नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर द्वितीय सत्य महाव्रतके बहत्तर उपवास होते हैं तथा उपवासके बाद एक-एक पारणा होनेसे बहत्तर ही पारणाएँ होती हैं ॥१०१॥

तीसरा अचौर्य महाव्रत है सो १ ग्राम, २ अरण्य, ३ खलिहान, ४ एकान्त, ५ अन्यत्र, ६ उपधि, ७ अभुक्तक और ८ पृष्ठ ग्रहण—इन आठ भेदोंसे होनेवाली चोरीका पूर्वोक्त नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर तृतीय अचौर्य महाव्रतमें बहत्तर उपवास होते हैं तथा प्रत्येक उपवासको एक-एक पारणा होनेसे बहत्तर ही पारणाएँ होती हैं ॥१०२॥

चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है सो मनुष्य, देव, अचित्त और तिर्यंच इन चार प्रकारकी स्त्रियोंका प्रथम ही स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और तदनन्तर पूर्वोक्त नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर ५ × ४ = २० × ९ = १८० एक सौ अस्सी उपवास होते हैं और इतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०३॥ पाँचवाँ परिग्रह त्याग महाव्रत है। सो चार कषाय, नौ नोकषाय और एक मिथ्यात्व इन चौदह प्रकारके अन्तरंग और दोपाये, (दासी-दास आदि) चौपाये, (हाथी-घोड़ा आदि) खेत, अनाज, वस्त्र, बर्तन, सुवर्णादि धन, यान (सवारी), शयन और आसन—इन दस प्रकारके बाह्य, दोनों मिलाकर चौबीस प्रकारके परिग्रहका नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर परिग्रहत्याग महाव्रतमें दो सौ सोलह उपवास होते हैं और उतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०४-१०५॥ छठा रात्रिभोजन त्याग महाव्रत यद्यपि तेरह प्रकारके चारित्रोंमें परिगणित नहीं है तथापि गृहस्थके सम्बन्धसे मुनियोंपर भी असर आ सकता है अर्थात् गृहस्थ द्वारा रात्रिमें बनायी हुई वस्तुको मुनि जान-बूझकर ग्रहण करे तो उन्हें रात्रिभोजनका दोष लग सकता है।

१. भीर्ष्या म. । २-७२ उपवासाः । २. ३-७२ उपवासाः ६-१८० । ३. संपुष्टग्रहणैः म. । ४. नृदेवचित्र ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्या

भावोपमाव्यवहारप्रतीत्यसंभावनासुभाषाबाम् । जनपदसंवृतिनामस्थापनारूपा दश नवघ्नाः ॥१०७॥

अनुष्टुप्

षट्चत्वारिंशद्दोषानेषणासमितौ मतान् । नवघ्नान् विघ्नितुं कार्यास्तावन्त उपवासकाः ॥१०८॥
त्रयोदशविधस्यैव चारित्रस्य विशुद्धये । विधौ चारित्रशुद्धौ स्युरुपवासाः प्रकीर्तिताः ॥१०९॥

आर्या

निर्विकृतिपश्चिमार्धावेकस्थानं[1] तथोपवासश्च । आचाम्ल-भुक्तमेकं तपोविधिस्त्वेककल्याणः ॥११०॥

अनुष्टुप्

पञ्चकृत्वः कृतावश्यः[2] पञ्चकल्याण उच्यते । चतुर्विंशतिसंख्यान् स कार्यस्तीर्थंकरान् प्रति ॥१११॥
तुर्यव्रतोपवासैस्तु शीलकल्याणको विधिः । पञ्चविंशतिसंख्यैस्तैर्भावनाविधिरिष्यते ॥११२॥

इस प्रकारके रात्रिभोजनका नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए तथा अनिच्छा—दूसरेकी जबर्दस्तीसे भी रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए। इस भावनाको लेकर रात्रिभोजन त्याग व्रतमें दश उपवास होते हैं और दश ही पारणाएँ होती हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियों तथा ईर्या, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति इन तीन समितियोंमें प्रत्येकके नौ कोटियोंकी अपेक्षा नौ-नौ उपवास होते हैं अर्थात् तीन गुप्तियोंके सत्ताईस उपवास और सत्ताईस पारणाएँ हैं तथा उपरिकथित तीन समितियोंके भी सत्ताईस उपवास और सत्ताईस पारणाएँ जाननी चाहिए ॥१०६॥

भाषा समितिमें १ भाव सत्य, २ उपमा सत्य, ३ व्यवहार सत्य, ४ प्रतीत सत्य, ५ सम्भावना सत्य, ६ जनपद सत्य, ७ संवृत्ति सत्य, ८ नाम सत्य, ९ स्थापना सत्य और १० रूप सत्य इन दश प्रकार सत्य वचनोंका नौ कोटियोंसे पालन करना पड़ता है। इस अभिप्रायको लेकर भाषासमितिमें नब्बे उपवास होते हैं तथा इतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०७॥

और एषणा समितिमें नौ कोटियोंसे लगनेवाले छियालीस दोषोंको नष्ट करनेके लिए चार सौ चौदह उपवास होते हैं तथा उतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०८॥ इस प्रकार तेरह प्रकारके चारित्रको शुद्ध रखनेके लिए चारित्र शुद्धि व्रतमें सब मिलाकर एक हजार दो सौ चौंतीस उपवास कहे हैं तथा इतनी ही पारणाएँ कही गयी हैं। इस व्रतमें छह वर्ष दश माह आठ दिन लगते हैं ॥१०९॥

एककल्याण विधि—पहले दिन नीरस आहार लेना; दूसरे दिन, दिनके पिछले भागमें अर्ध आहार लेना, तीसरे दिन एकस्थान—इक्काट्ठाना करना अर्थात् भोजनके लिए बैठनेपर एक बार जो भोजन सामने आवे उसे ही ग्रहण करना, चौथे दिन उपवास करना और पाँचवें दिन आचाम्ल—इमलीके साथ केवल भात ग्रहण करना, यह एककल्याणककी विधि है ॥११०॥

पंचकल्याण विधि—जो विधि एककल्याण व्रतमें कही गयी है उसे समता, वन्दना आदि आवश्यक कार्य करते हुए पाँच बार करना सो पंचकल्याणक विधि है। यह पंचकल्याणक विधि चौबीस तीर्थंकरोंको लक्ष्य करके करना चाहिए ॥१११॥

शील कल्याणक विधि—चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रतमें जो एक सौ अस्सी उपवास बतलाये हैं उनमें उपवास कर लेनेपर शील कल्याणक विधि-व्रत पूर्ण होता है। एक उपवास एक पारणा, दूसरा उपवास दूसरी पारणा, इस क्रमसे करनेपर इस व्रतमें ३६० दिन लगते हैं।

भावनाविधि—अहिंसादि महाव्रतोंमें प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। एकत्रित करने-

---

१. पश्चिमाद्धारैकस्थानं म.। पश्चिमाहारैकस्थानं ङ.। २. कृतावश्या म., ग.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चविंशतिकल्याणभावनाविधिरत्र तैः । तावद्भिरेव बोद्धव्यो विद्वद्भिरुपवर्णितः ॥११३॥
सम्यक्त्वविनयज्ञानशीलसत्त्वश्रुतश्रुताः । समित्येकान्तगुप्तीनां भावना धर्म्यशुक्लगाः ॥११४॥
संक्लेशेच्छानिरोधस्य संवरस्य च भावनाः । प्रशस्तयोगं संवेगकरुणोद्वेगभावनाः ॥११५॥
भोगसंसारनिर्वेदभक्तिवैराग्यमोक्षजाः । मैत्र्युपेक्षा प्रमोदान्ताः ख्याताः कल्याणभावनाः ॥११६॥
प्रतीत्य सप्तभूमीनां जघन्यपरमायुषाम् । चतुर्दशोपवासास्तु विधेया विधिवद्बुधैः ॥११७॥
तिर्यग्गतावपर्याप्तपर्याप्तानां नृणां गतौ । प्रत्येकमपि चत्वार ऐशानान्तेषु प्रबुद्धयेः ॥११८॥
द्वाविंशतिरतस्तूर्ध्वमच्युतान्तेष्वमी ततः । ग्रैवेयकेषु कर्तव्य अष्टादश नवस्वपि ॥११९॥
द्वौ नवानुदिशेष्वेतौ द्वौ वानुत्तरपञ्चके । अष्टाषष्टिरमी सर्वे स्युर्दुःखहरणे विधौ ॥१२०॥
नामन्निणवतित्वादीरुत्तरप्रकृतीः प्रति । ते चत्वारिंशदष्टाभिः कर्मक्षयविधौ स तम् ॥१२१॥

पर पाँच व्रतोंकी पचीस भावनाएँ होती हैं। उन्हें लक्ष्य कर पचीस उपवास करना तथा एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा करना, यह भावना विधि नामका व्रत है। यह पचास दिनमें पूर्ण होता है ॥११२॥

पंचविंशति कल्याण भावना विधि—पचीस कल्याण भावनाएँ हैं, उन्हें लक्ष्य कर पचीस उपवास करना तथा उपवासके बाद पारणा करना यह पंचविंशति कल्याण भावना व्रत विद्वानोंके द्वारा कहा गया है ॥११३॥ १. सम्यक्त्व भावना, २. विनय भावना, ३. ज्ञान भावना, ४. शील भावना, ५. सत्य भावना, ६. श्रुत भावना, ७. समिति भावना, ८. एकान्त भावना, ९. गुप्ति-भावना, १०. ध्यानभावना, ११. शुक्ल ध्यान भावना, १२. संक्लेश निरोध भावना, १३. इच्छा निरोध भावना, १४. संवर भावना, १५. प्रशस्तयोग, १६. संवेग भावना, १७. करुणा भावना, १८. उद्वेग भावना, १९ भोगनिर्वेद भावना, २०. संसारनिर्वेद भावना, २१. भुक्तिवैराग्य भावना, २२. मोक्षभावना, २३. मैत्री भावना, २४. उपेक्षा भावना और २५. प्रमोद भावना, ये पचीस कल्याण भावनाएँ हैं ॥११४-११६॥

दुःखहरण विधि—दुःखहरण विधिमें सर्वप्रथम विद्वानोंको सात भूमियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट आयुकी अपेक्षा चौदह उपवास करना चाहिए ॥११७॥ तदनन्तर तिर्यंचगतिके पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंकी द्विविध आयुकी अपेक्षा चार उपवास करना चाहिए। उसके बाद मनुष्य-गतिके पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंकी द्विविध आयुकी अपेक्षा चार उपवास करना चाहिए। फिर देवगतिमें ऐशान स्वर्ग तकके दो, उसके आगे अच्युत स्वर्ग तकके बाईस, फिर नौ ग्रैवेयकोंके अठारह, नौ अनुदिशोंके दो और पंचानुत्तर विमानोंके दो इस प्रकार सब मिलाकर अड़सठ उपवास करना चाहिए। इस व्रतमें दो उपवासके बाद एक पारणा होती है। इस तरह अड़सठ उपवास और चौंतीस पारणा दोनोंको मिलाकर यह विधि एक सौ दो दिनमें पूर्ण होती है। इस विधिके करनेसे सब दुःख दूर हो जाते हैं ॥११८-१२०॥

कर्मक्षय विधि—कर्मक्षय विधिमें नाम कर्मकी तेरानबे प्रकृतियोंको आदि लेकर समस्त कर्मोंकी जो एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं उन्हें लक्ष्य कर एक सौ अड़तालीस उपवास करना चाहिए। इसमें एक उपवासके बाद एक पारणा होती है। इस प्रकार उपवास और पारणा दोनोंको मिलाकर दो सौ छियानबे दिनमें यह व्रत पूर्ण होता है। इस व्रतके प्रभावसे कर्मोंका क्षय होता है ॥१२१॥

---

१. प्रसुप्तयो संवेग-म. । प्रशस्तप्रयोगसंवेग ग. । २. कारणोद्वेग ग., म., क. । ३. प्रमादान्ताः ग., म. । ४. प्रशमान्ते म. । ५. प्रबुद्धयन् ? म. प्रबुद्धयः ग. । ६. परमूर्ध्वं ग. । ७. नामतस्त्रिनवत्वादी-म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्या

कल्याणातिविशेषैः प्रतिकार्यैः प्रातिहार्यकारणगः ।
जिनगुणसम्पत्तिस्तैः पञ्चचतुस्त्रिंशदष्टषोडशभिः ॥१२२॥

अनुष्टुप्

द्वात्रिंशता चतुःषष्ट्या ह्यष्टोत्तरशतेन तैः । दिव्यलक्षणपङ्क्तिः स्याद्दिव्यातिमहतः परा ॥१२३॥
स्यात्परस्परकल्याणा चतुर्विंशतिवारतः । आदौ षष्ठोपवासः स्यात्समाप्तावष्टमस्तथा ॥१२४॥

जिनेन्द्रगुणसंपत्ति विधि—जिसमें पाँच कल्याणकोंके पाँच, चौंतीस अतिशयोंके चौंतीस, आठ प्रातिहार्योंके आठ और सोलह कारण भावनाओंके सोलह इस प्रकार त्रेशठ उपवास किये जावें तथा एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा की जावे उसे जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति व्रत कहते हैं। यह व्रत एक सौ छब्बीस दिनमें पूर्ण होता है। इस व्रतके प्रभावसे जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी प्राप्ति होती है अर्थात् इसका आचरण करनेवाला तीर्थंकर होता है ॥१२२॥

दिव्यलक्षण पंक्ति विधि—बत्तीस व्यंजन, चौंसठ कला और एक सौ आठ लक्षण इस प्रकार दो सौ चार लक्षणोंकी अपेक्षा जिसमें दो सौ चार उपवास किये जावें उसे दिव्यलक्षण विधि कहते हैं। इसमें एक उपवासके बाद एक पारणा होती है अतः दोनोंके मिलाकर चार सौ आठ दिनमें यह व्रत पूर्ण होता है। इस व्रतके प्रभावसे यह जीव अत्यन्त महान् होता है तथा उसके अत्यन्त श्रेष्ठ दिव्य लक्षणोंकी पंक्ति प्रकट होती है ॥१२३॥

[1]**धर्मचक्र विधि**—धर्मचक्रमें हजार अराएँ होती हैं। उनमें प्रत्येक अराकी अपेक्षा एक उपवास लिया गया है, इसलिए इस व्रतमें हजार उपवास हैं तथा स्थान भी हजार हैं इसलिए पारणा भी हजार समझनी चाहिए। इस तरह उपवास और पारणा इसमें कुल दो हजार हैं। एक उपवास एक पारणा, पुनः एक उपवास एक पारणा इसी क्रमसे इस व्रतका आचरण करना चाहिए। इस व्रतके आदि और अन्तमें एक-एक वेला करना आवश्यक है। यह व्रत दो हजार चार दिनमें समाप्त होता है और इससे धर्मचक्रकी प्राप्ति होती है।

[2]**परस्पर कल्याण विधि**—पाँच कल्याणकोंके पाँच उपवास, आठ प्रातिहार्योंके आठ और चौंतीस अतिशयोंके चौंतीस इस प्रकार ये सैंतालीस उपवास हैं। इन सैंतालीसको चौबीस बार गिननेपर जितनी संख्या सिद्ध हो उतने तो इस विधिमें उपवास समझना चाहिए और जितने स्थान हों उतनी पारणा जाननी चाहिए। सैंतालीसको चौबीस बार गिननेसे ग्यारह सौ अट्ठाईस होते हैं, इसलिए इतने तो उपवास समझना चाहिए और स्थान भी ग्यारह सौ अट्ठाईस हैं इसलिए इतनी ही पारणा जाननी चाहिए। इस प्रकार इस व्रतमें कुल उपवास और पारणा दो हजार दो सौ छप्पन हैं। इसके आचरण करनेकी विधि एक उपवास एक पारणा, पुनः एक उपवास एक पारणा इस प्रकार है। यह व्रत दो हजार दो सौ छप्पन दिनमें समाप्त होता है। इसके प्रारम्भमें एक वेला और अन्तमें एक तेला करना पड़ता है। यह व्रत आचरण करनेवालेका कल्याण करनेवाला

१. धर्मचक्र विधिका वर्णन करनेवाला श्लोक हमारे द्वारा उपलब्ध प्रतियोंमें नहीं है परन्तु श्रीमान् स्व. पं. गजाधरलालजीने अपने अनुवादमें उसका वर्णन किया है तथा श्लोकका नम्बर भी दिया है अतः उनके द्वारा उपलब्ध प्रतियोंमें वह श्लोक होगा। इसी भावनासे हमने अनुवादमें उक्त पण्डितजीके अनुवादसे उक्त व्रतकी विधि अंकित की है। २. इस व्रतकी विधि भी पण्डित गजाधरलालजीके अनुवादके आधारपर ही लिखी है। उनके अनुवादमें 'आदौ षष्ठोपवासः स्यात्समाप्तावष्टमस्तथा' इस पंक्तिका अनुवाद इस व्रतकी विधिसे हटकर आगे बढ़ गया है, उसे इसमें शामिल किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधीनामिह सर्वेषामेषा हि च प्रदर्शना । एकश्चतुर्थकाभिख्यो द्वौ षष्ठं तु त्रयोऽष्टमः ।
दशमाद्यास्तथा वेद्याः षण्मास्यन्तोपवासकाः ॥१२५॥

आर्या

पञ्चदशीपर्यन्ता उपवासाः प्रतिपदादितिथिषु कार्याः ।
बहुभेदा विज्ञेया जिनमार्गे सर्वसौख्यसंपन्नाः ॥१२६॥
भाद्रपदशुक्लपक्षे सप्तम्यामप्यनन्तफलसुखफलदः ।
परिनिर्वाणाख्यविधिः प्रतिवर्षमुपोषणीयस्तु ॥१२७*॥

शालिनी

एकादश्यां प्रातिहार्यप्रसिद्धः तुल्यां पल्यैः शं फलत्यस्य चैव ।
एकादश्यां कृष्णजायामशीतिः षट् पूर्वाशं संविधत्ते ह्यनन्तम् ॥१२८॥

अनुष्टुप्

शुद्धस्य मार्गशीर्षस्य तृतीयस्यामनन्तकृत् । विमानपङ्क्तिवैराज्यः चतुर्थ्यां षष्ठतो विधिः ॥१२९॥
एतेषु विधयः कार्या यथाशक्ति शरीरिभिः । स्वर्गापवर्गसौख्यस्य पारम्पर्येण हेतवः ॥१३०॥

है ॥१२४॥ इस प्रकरणमें ऊपर जितनी विधियोंका वर्णन किया गया है उन सबमें सामान्य रूपसे यह दिखा देना आवश्यक है कि जहाँ उपवासके लिए चतुर्थक शब्द आया है वहाँ एक उपवास, जहाँ षष्ठ शब्द आया है वहाँ दो उपवास और जहाँ अष्टम शब्द आया है वहाँ तीन उपवास समझना चाहिए। इसी प्रकार दशमको आदि लेकर छह मासपर्यन्तके उपवासोंकी संज्ञा जाननी चाहिए ॥१२५॥ प्रतिपदासे लेकर पञ्चदशी तककी तिथियोंमें उपवास करना चाहिए। ये उपवास अनेक भेदोंको लिये हुए हैं और जैन मार्गमें इन्हें सब प्रकारके सुखोंसे सम्पन्न करनेवाला कहा है ॥१२६॥ प्रतिवर्ष भादों सुदी सप्तमीके दिन उपवास करना चाहिए। यह परिनिर्वाण नामक विधि है तथा अनन्त सुखरूपी फलको देनेवाली है ॥१२७॥ भादों सुदी एकादशीके दिन उपवास करनेसे प्रातिहार्य प्रसिद्धि नामकी विधि होती है तथा यह पल्यों प्रमाणकाल तक सुखरूपी फलको फलती है। हर एक मासकी कृष्ण पक्षकी एकादशियोंके दिन किये हुए छियासी उपवास अनन्त सुखको उत्पन्न करते हैं ॥१२८॥ मार्गशीर्ष सुदी तृतीयाके दिन उपवास करना अनन्त मोक्ष फलको देनेवाला है तथा इसी मासकी चतुर्थीके दिन वेला करनेसे विमान पंक्ति वैराज्य नामकी विधि होती है और उसके फलस्वरूप विमानोंकी पंक्तिका राज्य प्राप्त होता है ॥१२९॥ इन ऊपर कही हुई विधियोंमें मनुष्योंको यथाशक्ति विधियाँ करनी चाहिए क्योंकि वे साक्षात् और परम्परासे स्वर्ग

१. प्रतिपदादिषु च कार्या–क.। २. फलसुखदः म.। ३. विंशति सप्ताधिकाश्चाष्टौ क., ड.।

* अस्मिन् प्रकरणे क., ङ., ग. पुस्तकेषु पार्श्वभागे निम्नाङ्किताः श्लोकाः समाबद्धाः सन्ति परं तु रचनाशैथिल्यात्ते ग्रन्थाङ्गभूताः सन्तीति न प्रतिभान्ति। पश्चात् केनचित् योजिता इति प्रतीयते। पं. गजाधरलालेन तु स्वकृतानुवादे प्रवेशितास्ते—

भाद्रपदकृष्णपक्षे षष्ठ्यां सूर्यप्रभस्त्रयोदश्याम् ।
चन्द्रप्रभनामा च ज्योतिर्माला च पल्यं तु ॥
ततः कृष्णद्वादश्यां नन्दीश्वर इत्युदीरितानन्तफलः ।
कार्तिकशुक्लतृतीयामधिष्ठितश्चापि विविधसर्वार्थविधिः ॥

श्री पं. गजाधरलालेन अन्येऽपि द्वित्राः श्लोका अनूदिताः येषु कुमारसंभव-सुकुमारविध्योरुल्लेखः कृतः किंतूपलब्धपुस्तकेषु ते श्लोका नावलोकिताः, मुम्बईस्थ सरस्वतीभवनपुस्तकेऽपि एते श्लोका न सन्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्युक्तविधिकर्त्तासौ सुप्रतिष्ठो यतिस्तदा । बबन्ध तीर्थकृन्नाम शुद्धैः षोडशकारणैः ॥१३१॥

आर्या

निश्शङ्काद्यष्टगुणा जिनकथिते मोक्षसत्पथे श्रद्धा ।
दर्शनविशुद्धिराद्यस्तीर्थकरप्रकृतिकृद्धेतुः ॥१३२॥
ज्ञानादिषु तद्वत्सु च महादरो यः कषायविनिवृत्त्या ।
तीर्थकरनामहेतुः स विनयसंपन्नताभिख्यः ॥१३३॥
शीलव्रतरक्षायां कायमनोवचनवृत्तिरनवद्या ।
वेद्यो मार्गोद्युक्तैः स शुद्धैः[1] शीलव्रतेष्वनतिचारः ॥१३४॥
अज्ञाननिवृत्तिफले प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणज्ञाने ।
नित्यमभियुक्ततोक्तस्तज्ज्ञैर्ज्ञानोपयोगस्तु ॥१३५॥
जन्मजरामरणामयमानसशारीरदुःखसंभारात् ।
संसाराद्भीरुत्वं संवेगो विषयतृट्छेदी ॥१३६॥
आहाराभयदानं तद्दिनभवदुःखमुद्यथायोगम् ।
संसारदुःखहरणं ज्ञानमहादानमिष्यते त्यागः ॥१३७॥
अनिगूहितवीर्यस्य हि विशरारु शरीरमशुचि मृतकाभम् ।
संयोजयतः कार्ये तपोऽपि मार्गानुगावेशः ॥१३८॥
भाण्डागारहुताशोपशमनवज्जातविघ्नमनुपद्य ।
संधारणं हि तपसः साधूनां स्यात्समाधिरिह ॥१३९॥
गुणवत्साधुजनानां क्षुधातृषाव्याधिजनितदुःखस्य ।
व्यपहरणे व्यापारो वैय्यावृत्त्यं व्यसुद्रव्यैः[2] ॥१४०॥

और मोक्ष सम्बन्धी सुखके कारण हैं १३०॥ इस प्रकार कही हुई विधियोंके कर्ता सुप्रतिष्ठ मुनिराजने उस समय निर्मल सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया ॥१३१॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कथित समीचीन मोक्षमार्गमें निःशंकता आदि आठ गुणोंसे सहित जो श्रद्धा है उसे दर्शनविशुद्धि कहते हैं। यह तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका प्रथम कारण है ॥१३२॥ ज्ञानादि गुणों और उनके धारकोंमें कषायको दूर कर जो महान् आदर करना है वह तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धमें कारणभूत विनयसम्पन्नता नामकी दूसरी भावना है ॥१३३॥ शीलव्रतोंकी रक्षामें मन, वचन और कायकी जो निर्दोष प्रवृत्ति है उसे मार्गमें उद्युक्त पुरुषोंको शुद्ध शीलव्रतेष्वनतीचार नामकी भावना जाननी चाहिए ॥१३४॥ अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलसे युक्त तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंसे सहित ज्ञानमें निरन्तर उपयोग रखना सो अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है ॥१३५॥ जन्म, जरा, मरण तथा रोग आदि शारीरिक और मानसिक दुःखोंके भारसे युक्त संसारसे भयभीत होना सो विषयरूपी तृषाको छेदनेवाली संवेग भावना है ॥१३६॥ जिस दिन आहार ग्रहण किया जाता है उस दिन एवं पर्याय सम्बन्धी दुःखको दूर करनेवाला आहारदान, अभयदान और संसारके दुःखको हरनेवाला ज्ञान महादान शक्तिके अनुसार देना सो त्याग नामकी भावना है ॥१३७॥ शक्तिको नहीं छिपानेवाले एवं विनाशीक, अपवित्र और मृतकके समान शरीरको कार्यमें लगानेवाले पुरुषका मोक्षमार्गके अनुरूप जो उद्यम है वह तप नामकी भावना है ॥१३८॥ भण्डारमें लगी हुई अग्निको उपशान्त करनेके समान आगत विघ्नोंको नष्ट कर साधुजनोंके तपकी रक्षा करना सो साधुसमाधि नामकी भावना है ॥१३९॥ गुणवान् साधुजनोंके क्षुधा, तृषा, व्याधि

---

१. शुद्धशक्तिव्रते–म., ख. । २. प्रासुकद्रव्यैः (क. ङ. टि.) वसुद्रव्यैः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत्सु योऽनुरागो यश्चाचार्ये बहुश्रुते यच्च ।
प्रवचनविनयश्चासौ चातुर्विध्यं भजति [1]भक्तेः ॥१४१॥
आवश्यकक्रियाणां षण्णां काले प्रवर्तनं [2]नियते ।
तासां सापरिहाणिर्ज्ञेया सामायिकादीनाम् ॥१४२॥
सावद्ययोगविरहं सामायिकमेकभावगं चित्तम् ।
गुणकीर्तिस्तीर्थकृतां [3]चतुरादेर्विंशतेःस्तवकः ॥१४३॥
द्व्यासना यासु शुद्धा द्वादशवर्ताः प्रवृत्तिषु प्राज्ञैः ।
सशिरश्चतुरानतिकाः प्रकीर्तिता वन्दना वन्द्याः ॥१४४॥
द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कृतप्रमादनिर्हरणम् ।
वाक्कायमनःशुद्ध्या प्रणीयते तु प्रतिक्रमणम् ॥१४५॥
आगन्तुकदोषाणां प्रत्याख्यानं तु वर्ण्यतेऽपोहः [4] ।
कायोत्सर्गः [5]काये मितकालं [6] निर्ममत्वं तु ॥१४६॥
परमतभेदसमर्थज्ञानतपोजिनमहामहैर्जगति ।
मार्गप्रभावना स्यात्प्रकाशनं मोक्षमार्गस्य ॥१४७॥
धेनोरिव निजवत्से सौत्सुक्यधियः सधर्मणि स्नेहः ।
प्रवचनवत्सलता स्यात्सस्नेहः प्रवचनं यस्मात् ॥१४८॥
तीर्थकरनामकर्मणि षोडश तत्कारणान्यमून्यनिशम् ।
व्यस्तानि समस्तानि च भवन्ति [7]सद्भाव्यमानानि ॥१४९॥

आदिसे उत्पन्न दुःखको प्रासुक द्रव्योंके द्वारा दूर करनेका प्रत्यक्ष करना सो वैयावृत्य भावना है ॥१४०॥ अर्हन्तमें जो अनुराग है, आचार्यमें जो अनुराग है, बहुश्रुत–अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठीमें जो अनुराग है और प्रवचनमें जो विनय है वह क्रमसे अर्हद् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति नामक चार भावनाएँ हैं ॥१४१॥ सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओंकी नियत समयमें प्रवृत्ति करना सो आवश्यकापरिहाणि नामक भावना है ॥१४२॥ समस्त सावद्य योगोंका त्याग कर चित्तको एक पदार्थमें स्थिर करना सो सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोंका कथन करना सो स्तुति है ॥१४३॥ जिन प्रवृत्तियोंमें दो आसन, निर्दोष बारह आवर्त और चार शिरोनतियाँ की जाती हैं उन्हें विद्वज्जन वन्दनीय वन्दना कहते हैं ॥१४४॥ द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावके विषयमें किये हुए प्रमादका मन, वचन, कायकी शुद्धिसे निराकरण करना सो प्रतिक्रमण है ॥१४५॥ आगन्तुक—आगामी दोषोंका निराकरण करना प्रत्याख्यान कहलाता है। और निश्चित समय तक शरीरमें ममताका त्याग करना कायोत्सर्ग है ॥१४६॥ अन्य मतोंके खण्डन करनेमें समर्थ ज्ञान, तपश्चरण एवं जिनेन्द्र भगवान्‌की महामह-पूजाओंसे संसारमें मोक्षमार्गका प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है ॥१४७॥ जिस प्रकार गायका अपने बछड़ेमें स्नेह होता है उसी प्रकार उत्सुकतासे युक्त बुद्धिवाले मनुष्यका सहधर्मी भाईमें जो स्नेह है उसे प्रवचनवात्सल्य कहते हैं क्योंकि सहधर्मीसे जो स्नेह है वह प्रवचनसे ही स्नेह है ॥१४८॥ सत्पुरुषोंके द्वारा निरन्तर चिन्तन की हुई उक्त सोलह भावनाएँ, पृथक्-पृथक् अथवा समुदाय रूपसे तीर्थंकर नामकर्मके बन्धकी कारण हैं ॥१४९॥

१. भक्तिः म.। २ क्रियते म.। ३. चतुरादिर्विंशतिस्तवकः म., क., ख.। ४. वर्ण्यते यो ज्ञै म.। ५. कालो म.। ६. मितकायं म.। ७. सद्भिः भव्यमानानि सद्भाव्यमानानि (क. टि.)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितम्

त्रैलोक्यासनकम्पशक्तसुबृहत्पुण्यप्रकृत्यात्मकः
प्रत्याख्याय स सुप्रतिष्ठसुमुनिर्भक्तं ततो मासिकम् ।
आराध्याथ चतुर्विधां बुधनुतामाराधनां शुद्धधी-
र्द्वात्रिंशज्जलधिस्थितिः पुरुसुखं स्वर्गं जयन्तं श्रितः ॥१५०॥
भुक्त्वा संसृतिसारसौख्यमतुलं तत्राहमिन्द्रोचितं
सज्ज्ञानत्रयदृष्टनेत्रसकलत्रैलोक्यतत्त्वस्थितिः ।
च्युत्वातो भविता समुद्रविजयाद्देव्यां शिवायां शिवो
नेमीशो हरिवंशशैलतिलको द्वाविंशसंख्यो जिनः ॥१५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ महोपवासविधिवर्णनो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥३४॥

□

इस प्रकार तीनों लोकोंके आसनोंको कम्पित करनेमें समर्थ तीर्थंकर प्रकृतिनामक महापुण्य प्रकृतिके बन्ध करनेवाले सुप्रतिष्ठ मुनिराजने, एक मासके आहारका त्याग कर दिया तथा विशुद्ध बुद्धिके धारक हो विद्वज्जनोंके द्वारा स्तुत चार प्रकारकी आराधनाओंकी अच्छी तरह आराधना की जिससे बाईस सागरकी स्थितिके धारक हो विशाल सुखसे युक्त जयन्त स्वर्ग (जयन्त नामक अनुत्तर विमान) में उत्पन्न हुए ॥१५०॥ अब जिन्होंने तीन सम्यग् ज्ञानरूपी नेत्रोंसे तीन लोकके पदार्थोंकी स्थितिको देख लिया है ऐसे सुप्रतिष्ठ मुनिराज, जयन्त विमानमें अहमिन्द्रोंके योग्य, संसारके सारभूत अनुपम सुखका उपभोग कर वहाँसे च्युत होंगे और राजा समुद्रविजयकी शिवा देवीसे हरिवंशरूपी पर्वतके तिलकस्वरूप नेमीश्वर नामके कल्याणकारी बाईसवें तीर्थंकर होंगे ॥१५१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें महोपवास विधिका वर्णन करनेवाला चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३४॥

□

१. सक्त–म., ख. । २. स्थितः म. । ३. मुक्त्वा म. । ४. त्रैलोक्यनेत्र म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चत्रिंशः सर्गः

उपेन्द्रवज्रा

अरिष्टनेमेश्चरितं निशम्य यदुः परं श्रेणिक संप्रहृष्टः ।
प्रणम्य भावादतिमुक्तकर्षिं[1] जगाम कान्तासहितो निशान्ते ॥१॥
यथापुरा तौ मथुरासुपुर्यां यथेष्टमाक्रीडनयातिसक्तौ[2] ।
सुदम्पती तस्थतुरिष्टभोगौ सशङ्ककंसेन समर्च्यमानौ ॥२॥
बभार गर्भं युगलात्मकं सा सुदेवकी कंसभयस्य हेतुम् ।
सहायभावो हि विपक्षयोगान्महाभयस्योपनिपातहेतुः ॥३॥
अथ प्रसूतौ सुतयुग्ममस्याः सुरेण संक्रामितमिन्द्रवाक्यात् ।
सुनैगमेतिश्रुतिना सुभद्रं सुभद्रिलोद्भूतपुरोक्तधाव्याः ॥४॥
प्रजातमात्रं खलु दैवयोगात सुदृष्टिजाया[3]व्यसुपुत्रयुग्मम् ।
स देवकीसूतिगृहे निधाय जगाम देवो निजदेवलोकम् ॥५॥
प्रविश्य कंसः स्वसृसूतिगेहं निरीक्ष्य निर्जीवितजीवयुग्म ।
प्रगृह्य पादेषु निराद सैद्रः शिलातले ताडितवान् सशङ्कः ॥६॥
क्रमेण स द्वन्द्वयुगं प्रयातं निनाय देवोऽप्यलकां सुकामाम् ।
पुनश्च कंसोऽप्यसुविप्रयुक्तमताडयत्पूर्ववदेव पापी ॥७॥
षडप्यविघ्ना वसुदेवपुत्राः स्वपुण्यरक्ष्यास्त्वलकातिहृद्याः ।
पुरोक्तसंज्ञाः सुखलालितास्ते शनैरवर्धन्त ततोऽतिरूपाः ॥८॥

अथानन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस प्रकार अतिमुक्तक मुनिराजसे भगवान् अरिष्टनेमिका चरित सुनकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और भावपूर्वक मुनिराजको नमस्कार कर स्त्री सहित अपने घर चले गये ॥१॥ जिन्हें भोग अत्यन्त इष्ट थे ऐसे दोनों दम्पति इच्छानुसार क्रीड़ामें आसक्त होते हुए मथुरापुरीमें पहलेके समान रहने लगे और मृत्युकी शंकासे शंकित कंस इनकी निरन्तर सेवा-शुश्रूषा करने लगा ॥ २ ॥ तदनन्तर देवकीने कंसके भयका कारण युगल सन्तानरूप गर्भ धारण किया सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंमें परस्परके मिल जानेसे जो सहाय भाव उत्पन्न होता है, वह शत्रुके लिए महाभयकी प्राप्तिका कारण हो जाता है ॥ ३ ॥ तत्पश्चात् प्रसूति कालके आनेपर जब देवकीके युगल पुत्र उत्पन्न हुए तब इन्द्रकी आज्ञासे सुनैगम नामका देव उन उत्तम युगल पुत्रोंको उठाकर सुभद्रिल नगरके सेठ सुदृष्टिकी स्त्री अलका (पूर्वभवकी रेवती धायका जीव) के यहाँ पहुँचा आया। उसी समय अलकाके भी युगालिया पुत्र हुए थे परन्तु भाग्यवश वे उत्पन्न होते ही मर गये थे। नैगम देव उन दोनों मृत पुत्रोंको उठाकर देवकीके प्रसूति गृहमें रख आया और उसके बाद अपने स्वर्ग लोकको चला गया ॥४-५॥ शंकासे युक्त कंसने बहनके प्रसूतिका गृहमें प्रवेश कर उन दोनों मृतक पुत्रोंको देखा और भीलके समान रौद्र-परिणामी हो पैर पकड़कर उन्हें शिलातलपर पछाड़ दिया ॥ ६ ॥ तदनन्तर देवकीने क्रम-क्रमसे दो युगल और उत्पन्न किये सो देवने उन्हें भी पुत्रोंकी इच्छा रखनेवाली अलका सेठानीके पास भेज दिया। इधर पापी कंसने भी उन निष्प्राण पुत्रोंको पहलेके समान ही शिलापर पछाड़ दिया ॥ ७ ॥ तदनन्तर अपना पुण्य ही जिनकी रक्षा कर रहा था, जो अलका सेठानीके

१. -दतिमुक्तिकर्षि म. । २. -तिशक्तौ ग., घ., ङ. । ३. भृत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवर्धमानेष्वथ तत्र तेषु सुदृष्टिसुश्रावकभूतिवृद्धिः ।
अपूर्वनानाविधवस्तुलाभैस्तदात्यशेतापरभूपभूतीः ॥९॥
इतोऽपि देवक्यपि भर्तृवाक्यादपाकृतापत्यवियोगदुःखा ।
शनैः प्रपेदे प्रतिपत्कलेव दिनोत्तरैः पूर्ववदेव कान्तिम् ॥१०॥
अथैकदा चन्द्रसिते निशान्ते निशान्तकान्ते शयने शयाना ।
ददर्श सप्तोदयशंसिनः सा पदार्थकान् स्वप्न इमान्निशान्ते ॥११॥
प्रदीप्तमुद्यन्तमिनं[2] तमोऽन्तं समञ्जकान्तं[3] शशिनं प्रपूर्णम् ।
श्रियं सदिग्नागमहाभिषेकां विमानमाकाशतलान्नमच्च ॥१२॥
ज्वलद्बृहज्ज्वालहुताशमुच्चैः सुरध्वजं रत्नमरीचिचक्रम् ।
मृगाधिपं चाननमाविशन्तं निशाम्य सौम्या बुबुधे सकम्पा ॥१३॥
अपूर्वसुस्वप्नविलोकनात्सा सविस्मया हृष्टतनूरुहा तान् ।
जगौ प्रभाते कृतमङ्गलाङ्गा समेत्य पत्येऽभिदधे स विद्वान् ॥१४॥
प्रतापविध्वस्तरिपुः सुतस्ते प्रियोऽतिसौभाग्ययुतोऽभिषेकी ।
दिवोऽवतीर्यातिरुचिः स्थिरोऽभीर्भविष्यति क्षिप्रमिनो[4] जगत्याः ॥१५॥

लिए अत्यन्त प्रिय थे, जिनके नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु ये नाम पहले कहे जा चुके थे, जिनका सुखपूर्वक लालन-पालन हो रहा था, तथा जो अत्यन्त रूपवान् थे ऐसे वसुदेवके छहों पुत्र धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त होने लगे ॥ ८ ॥ तदनन्तर उन पुत्रोंके वृद्धिगत होनेपर सुदृष्टि सेठको नाना प्रकारकी अपूर्व-अपूर्व वस्तुओंका लाभ होने लगा और उसके वैभवकी वृद्धिने उस समय अन्य राजाओंके वैभवको भी अतिक्रान्त कर दिया ॥ ९ ॥ इधर पतिके कहनेसे जिसने सन्तान-वियोगजन्य दुःखको दूर कर दिया था ऐसी देवकी भी धीरे-धीरे प्रतिपदकी चन्द्रकलाके समान दिनोंदिन पहलेकी ही कान्तिको प्राप्त हो गयी ॥ १० ॥

तदनन्तर एक दिन देवकी, चन्द्रमाके समान सफेद भवनमें प्रातःकालके समान सुन्दर शय्यापर शयन कर रही थी कि उसने रात्रिके अन्तिम प्रहरमें अभ्युदयको सूचित करनेवाले निम्नलिखित सात पदार्थ स्वप्नमें देखे ॥११॥ पहले स्वप्नमें उसने अन्धकारको नष्ट करनेवाला उगता हुआ सूर्य देखा। दूसरे स्वप्नमें उसीके साथ अत्यन्त सुन्दर पूर्ण चन्द्रमा देखा। तीसरे स्वप्नमें दिग्गज जिसका अभिषेक कर रहे थे ऐसी लक्ष्मी देखी। चौथे स्वप्नमें आकाश तलसे नीचे उतरता हुआ विमान देखा। पाँचवें स्वप्नमें बड़ी-बड़ी ज्वालाओंसे युक्त अग्नि देखी। छठे स्वप्नमें ऊँचे आकाशमें रत्नोंकी किरणोंसे युक्त देवोंकी ध्वजा देखी और सातवें स्वप्नमें अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक सिंह देखा। इन स्वप्नोंको देखकर सौम्यवदना देवकी भयसे काँपती हुई जाग उठी ॥१२-१३॥ अपूर्व एवं उत्तम स्वप्न देखनेसे जिसे विस्मय उत्पन्न हो रहा था, जिसके शरीरमें रोमांच निकल आये थे, और जिसने प्रातःकालके समय शरीरपर मंगलमय अलंकार धारण कर रखे थे ऐसी देवकीने जाकर पतिसे सब स्वप्न कहे और विद्वान् पति—राजा वसुदेवने इस प्रकार उनका फल कहा ॥१४॥

"हे प्रिये ! तुम्हारे शीघ्र ही एक ऐसा पुत्र होगा जो समस्त पृथिवीका स्वामी होगा। तुमने पहले स्वप्नमें सूर्यको देखा है इससे सूचित होता है कि वह अपने प्रतापसे शत्रुओंको नष्ट करनेवाला होगा। दूसरे स्वप्नमें पूर्ण चन्द्रमा देखा है उसके फलस्वरूप वह सबको प्रिय होगा। तीसरे

१. भूपभूमिः म.। २. सूर्यम्। ३. समन्तकान्तं म.। ४. इनः स्वामी। 'राजाधिपः पतिः स्वामी भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जयः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निशम्य सा स्वप्नफलं स्वभर्तुस्तथास्त्विति [1]प्रीतिमतिप्रपद्य ।
व्यवस्थिता गर्भमधत्त चाशु जगद्धितं द्यौरिव तापशान्त्यै ॥१६॥
यथा यथासौ परिवर्धतेऽस्याः प्रवर्धमानाङ्गमनःसुखायाः ।
तथा तथावर्धत भूतधात्र्यां जनस्य सर्वस्य च सौमनस्यम् ॥१७॥
ररक्ष गर्भं प्रसवव्यपेक्षः स्वसुः स संक्षोभगतस्तु कंसः ।
दिनानि मासानसमञ्जसात्मा गुणानपेक्ष्यो गणयन्नलक्ष्यः ॥१८॥
[2]अथोदपादि श्रवणे तु पक्षे ह्यधोक्षजो भाद्रपदस्य शुक्ले ।
पवित्रयन् द्वादशिकां तिथिं तामलक्षितः सप्तम एव मासे ॥१९॥
सशङ्खचक्रादिसुलक्षिताङ्गः स्फुरन्महानीलमणिप्रकाशः ।
स देवकीसूतिगृहं स्वदीप्त्या [3]प्रदीप्तिमान् द्योतयति स्म कृष्णः ॥२०॥
स्वपक्षगेहेषु तदाविरासन् स्वतो निमित्तानि शुभावहानि ।
विपक्षगेहेषु भयावहानि प्रभावतस्तस्य नरोत्तमस्य ॥२१॥
तदा च सप्ताहमहातिवर्षे प्रवर्तमाने निशि जातमात्रम् ।
हली स्वपित्रा विधृतातपत्रं हरिं गृहीत्वा गृहतो निरैद् द्राक् ॥२२॥

स्वप्नमें दिग्गजों द्वारा लक्ष्मीका महाभिषेक देखा है इससे जान पड़ता है कि वह अत्यन्त सौभाग्यशाली एवं राज्याभिषेकसे युक्त होगा। चौथे स्वप्नमें आकाशसे नीचे आता हुआ विमान देखा है उससे प्रकट होता है कि वह स्वर्गसे अवतीर्ण होगा। पाँचवें स्वप्नमें देदीप्यमान अग्नि देखी है इसके फलस्वरूप वह अत्यन्त कान्तिसे युक्त होगा। छठे स्वप्नमें रत्नोंकी किरणोंसे युक्त देवोंकी ध्वजा देखी है इसके फलस्वरूप वह स्थिर प्रकृतिका होगा और सातवें स्वप्नमें मुखमें प्रवेश करता हुआ सिंह देखा है इससे जान पड़ता है कि वह निर्भय होगा ॥१५॥

इस प्रकार पतिके मुखसे स्वप्नोंका फल सुनकर 'तथास्तु'—ऐसा ही होगा—कहती हुई वह अत्यधिक प्रीतिको प्राप्त हुई। तदनन्तर जिस प्रकार आकाश, सन्तापकी शान्तिके लिए जगत् हितकारी मेघको धारण करता है उसी प्रकार उसने शीघ्र ही जगत्का हित करनेवाला गर्भ धारण किया ॥१६॥ जिसके शारीरिक और मानसिक सुखकी वृद्धि हो रही थी ऐसी देवकीका वह गर्भ ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था त्यों-त्यों पृथिवीपर समस्त मनुष्योंका सौमनस्य बढ़ता जाता था ॥१७॥ परन्तु कंसका क्षोभ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। फलस्वरूप जिसकी आत्मा अत्यन्त नीच थी, जो गर्भस्थ बालकके गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखता था और जो अलक्ष्यरूपसे गर्भके महीनों तथा दिनोंकी गिनती लगाता रहता था ऐसा कंस, प्रसवकी प्रतीक्षा करता हुआ बहनके गर्भकी रक्षा कर रहा था अर्थात् उसपर पूर्ण देख-रेख रखता था ॥१८॥ सब बालक नौ मासमें ही उत्पन्न होते हैं परन्तु कृष्ण श्रवण नक्षत्रमें भाद्रमासके शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथिको पवित्र करते हुए सातवें ही मासमें अलक्षित रूपसे उत्पन्न हो गये ॥१९॥ जिनका शरीर शंख-चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणोंसे युक्त था, जिनके शरीरसे देदीप्यमान महानीलमणिके समान प्रकाश प्रकट हो रहा था और जो प्रकृष्ट कान्तिसे सहित थे ऐसे कृष्णने अपनी कान्तिसे देवकीके प्रसूतिका गृहको प्रकाशमान कर दिया था ॥२०॥ उस समय उस पुरुषोत्तमके प्रभावसे स्नेही बन्धुजनोंके घरोंमें अपने आप अच्छे-अच्छे निमित्त प्रकट हुए और शत्रुओंके घरोंमें भय उत्पन्न करनेवाले निमित्त प्रकट हुए ॥२१॥ उन दिनों सात दिनसे बराबर घनघोर वर्षा हो रही थी फिर भी उत्पन्न होते ही बालक कृष्णको बलदेवने उठा लिया और पिता वसुदेवने उनपर छत्ता तान दिया एवं रात्रिके समय ही दोनों

१. प्रीतमतिः प्रपद्य म. । २. अथोदयादिश्रमणे म. । ३. प्रदीपवान् म. । प्रदीपमान् ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलक्षितः कंसभटैः प्रसुप्तैः प्रसुप्तपौरे समये पुरस्य ।
स गोपुरद्वारकपाटसंधिं विपाट्य विष्णुक्रमयुग्मसंगात् ॥२३॥
पयःकणे घ्राणपुटं प्रविष्टे शिशोस्तडिद्वातगभीरनादे ।
क्षुते चिरञ्जीव जयत्वविघ्नस्त्वमित्यनुश्रुत्य तदोपरिष्टात् ॥२४॥
प्रियोग्रसेनेन नृपेण दत्तां प्रियाशिषं तोषयुतोऽगदीत्तम् ।
रहस्यरक्षा क्रियतां प्रतीक्ष्यं[1] विमुक्तिरस्मात्तव दैवकेयात् ॥२५॥
प्रवर्धतां भ्रातृशरीरजायाः सुतोऽयमज्ञातमरेरितीष्टम् ।
तदौग्रसेनीमभिवन्द्य वाचममू विनिर्जग्मतुराशु पुर्याः ॥२६॥
ज्वलद्विषाणो वृषभः पुरस्तात्प्रदीपयन्मार्गमगात्स तूर्णम् ।
महानुभावाद्यमुना हरेर्द्राग् बभूव विच्छिन्नमहाप्रवाहा ॥२७॥
धुनीं समुत्तीर्य ततोऽभिगम्य वनं च वृन्दावनमत्र गोष्ठे ।
सुनन्दगोपं सयशोदमासं क्रमागतं तौ निशि दृष्टवन्तौ ॥२८॥
समर्प्य ताभ्यामहरस्यभेदं प्रवर्द्धनीयं निजपुत्रबुद्धया ।
शिशुं विशालेक्षणमीक्षणानां महामृतं कान्तिमयं स्रवन्तम् ॥२९॥
ततश्च तत्कालभवां यशोदाशरीरजां विश्वसनाय शत्रोः ।
अरं समादाय समेत्य देव्यै प्रदाय तौ तस्थतुरप्रलक्ष्यौ ॥३०॥

शीघ्र ही घरसे बाहर निकल पड़े ॥२२॥ उस समय समस्त नगरवासी सो रहे थे तथा कंसके सुभट भी गहरी नींदमें निमग्न थे इसलिए कोई भी उन्हें देख नहीं सका। गोपुर द्वारपर आये तो किवाड़ बन्द थे परन्तु श्रीकृष्णके चरणयुगलका स्पर्श होते ही उनमें निकलने योग्य सन्धि हो गयी जिससे सब बाहर निकल आये ॥२३॥

उस समय पानीकी एक बूँद बालककी नाकमें घुस गयी जिससे उसे छींक आ गयी। उस छींकका शब्द बिजली और वायुके शब्दके समान अत्यन्त गम्भीर था। उसी समय ऊपरसे आवाज आयी कि 'तू निर्विघ्न रूपसे चिरकाल तक जीवित रह।' गोपुर द्वारके ऊपर कंसके पिता राजा उग्रसेन रहते थे। उक्त आशीर्वाद उन्हींने दिया था। उनके इस प्रिय आशीर्वादको सुनकर बलदेव तथा वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उग्रसेनसे कहने लगे कि हे पूज्य ! रहस्यकी रक्षा की जाये। इस देवकीके पुत्रसे तुम्हारा छुटकारा होगा ॥२४-२५॥ इसके उत्तरमें उग्रसेनने स्वीकृत किया कि 'यह हमारे भाईकी पुत्रीका पुत्र शत्रुसे अज्ञात रहकर वृद्धिको प्राप्त हो।' उस समय उग्रसेनके उक्त वचनकी प्रशंसा कर दोनों शीघ्र ही नगरीसे बाहर निकल गये ॥२६॥ उस समय, जिसके सींग देदीप्यमान थे ऐसा एक बैल आगे-आगे मार्ग दिखाता हुआ बड़े वेगसे जा रहा था। यमुनाका अखण्ड प्रवाह बह रहा था परन्तु श्रीकृष्णके प्रभावसे उसका महाप्रवाह शीघ्र ही खण्डित हो गया ॥२७॥ तदनन्तर नदीको पार कर वे वृन्दावनकी ओर गये। वहाँ गाँवके बाहर खिरकामें अपनी यशोदा स्त्रीके साथ सुनन्द नामका गोप रहता था। वह वंश-परम्परासे चला आया इनका बड़ा विश्वासपात्र व्यक्ति था। बलदेव और वसुदेवने रात्रिमें ही उसे देखा और दोनोंको पुत्र सौंपकर कहा कि देखो भाई ! यह पुत्र विशाल नेत्रोंका धारक है तथा नेत्रोंके लिए कान्तिरूपी महाअमृतको बरसानेवाला है। इसे अपना पुत्र समझकर बढ़ाओ और यह रहस्य किसीको प्रकट न हो सके इस बातका ध्यान रखो ॥२८-२९॥ तदनन्तर उसी समय उत्पन्न हुई यशोदाकी पुत्रीको लेकर दोनों शीघ्र ही वापस आ गये और शत्रुको विश्वास दिलानेके लिए उसे रानी देवकीके लिए देकर गुप्त रूपसे स्थित हो गये ॥३०॥

१. पूज्य ? प्रतीक्ष म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वसुः प्रसूतिं प्रतिविद्य[1] कंसः प्रसूत्यगारं[2] विघृणः प्रविश्य ।
विलोक्य बालामममलामसुष्याः पतिः कदाचित्प्रभवेदरिर्मे ॥३१॥
विचिन्त्य शङ्काकुलितस्तदेति निरस्तकोपोऽपि स दीर्घदर्शी ।
स्वयं समादाय करेण तस्याः प्रणुद्य नासां[3] चिपिटीचकार ॥३२॥
स देवकीमानसतापकारी सुतान्तदर्शी किल निर्वृतात्मा ।
अतिष्ठदन्तर्हितरौद्रभावः सुखेन तावत्कतिचिद्दिनानि ॥३३॥
ततो व्रजस्थः कृतजातकर्मा स्तनंधयोऽसौ कृतकृष्णनामा ।
प्रवर्धते नन्दयशोदयोस्तु प्रवर्धयन् प्रीतिममूतपूर्वाम् ॥३४॥
गदासिचक्राङ्कुशशङ्खपद्मप्रशस्तरेखारुणपाणिपादः ।
स गोपगोपीजनमानसानि सकामसुत्तानशयो जहार ॥३५॥
सुरूपमिन्दीवरवर्णशोभं स्तनप्रदानव्यपदेशगोप्यः ।
अहंयवः पूर्णपयोधरास्तमतृप्तनेत्राः पपुरेकतानम् ॥३६॥
इतः कदाचिद्वरुणेन कंसो निमित्तविज्ञेन हितैषिणोक्तः ।
नृपैधते ते रिपुरत्र कश्चित्पुरे वने वा परिमृग्यतां सः ॥३७॥
ततोऽष्टमाख्यानशनं तपोऽसौ चकार कंसो रिपुनाशबुद्ध्या ।
पुराभ्युपेतार्थसमर्थनाय सुदेवताः प्रोचुरुपेत्य तास्तम् ॥३८॥
पुरातपःसाधितदेवतास्ता इमा वयं ते वद वस्तु कृत्यम् ।
विहाय[4] शीरायुधचक्रपाणी क्षणेन कः कंसरिपुर्निरस्यः ॥३९॥

तदनन्तर बहनकी प्रसूतिका समाचार पाकर निर्दय कंस प्रसूतिका-गृहमें घुस गया। वहाँ निर्दोष कन्याको देखकर यद्यपि इसका क्रोध दूर हो गया था तथापि दीर्घदर्शी होनेके कारण उसने विचार किया कि कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है। इस शंकासे आकुलित होकर उसने उस कन्याको स्वयं उठा लिया और हाथसे मसलकर उसकी नाक चपटी कर दी ॥३१-३२॥ इस प्रकार देवकीके मनको सन्ताप करनेवाले कंसने जब देखा कि अब इसके पुत्र होना बन्द हो गया है तब वह सन्तुष्ट हो हृदयकी क्रूरताको छिपाता हुआ कुछ दिनों तक सुखसे निवास करता रहा ॥३३॥ तदनन्तर जिसका जातसंस्कार कर कृष्ण नाम रखा गया था ऐसा व्रजवासी बालक नन्द और यशोदाकी अभूतपूर्व प्रीतिको बढ़ाता हुआ सुखसे बढ़ने लगा ॥३४॥ जब वह बालक चित्त पड़ा हुआ गदा, खड्ग, चक्र, अंकुश, शंख तथा पद्म आदि चिह्नोंकी प्रशस्त रेखाओंसे चिह्नित लाल-लाल हाथ-पैर चलाता था तब गोप और गोपियोंके मनको बरबस खींच लेता था ॥३५॥ नील कमल-जैसी सुन्दर शोभाको धारण करनेवाले उस मनोहर बालकको, पूर्ण स्तनोंको धारण करनेवाली गोपिकाएँ स्तन देनेके बहाने अतृप्त नेत्रोंसे टकटकी लगाकर देखती रहती थीं ॥३६॥

इधर किसी दिन कंसके हितैषी वरुण नामक निमित्तज्ञानीने उससे कहा कि राजन् ! यहाँ कहीं नगर अथवा वनमें तुम्हारा शत्रु बढ़ रहा है उसकी खोज करनी चाहिए ॥३७॥ तदनन्तर शत्रुके नाशकी भावनासे कंसने तीन दिनका उपवास किया सो पूर्व भवमें इसने जिन देवियोंको यह कहकर वापस कर दिया था कि अभी कुछ काम नहीं है अगले भवमें आवश्यकता पड़े तो सहायता करना। वे देवियाँ पूर्व स्वीकृत कार्यको सिद्ध करनेके लिए आकर कंससे कहने लगीं कि

१. विज्ञ म. । २. विगता घृणा दया यस्य सः विघृणः म., ग. । ३. चिपिटीचकार म. । ४. बलभद्र-नारायणौ मुक्त्वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगावसौ कोऽपि ममास्ति वैरी प्रवर्धमानः क्वचिदप्यलक्ष्यः ।
तमाशु यूयं परिमृग्य मृत्योर्मुखे कुरुध्वं करुणानपेक्षाः ॥४०॥
इतीरितं ताः प्रतिपद्य याताः प्रदृश्य चैकोग्रशकुन्तरूपा ।
प्रनुद्य हन्त्री हरिणात्ततुण्डा प्रचण्डनादा प्रणनाश भीता ॥४१॥
कुपूतना पूतनभूतमूर्तिः प्रपाययन्ती सविषस्तनौ तम् ।
स देवताधिष्ठितनिष्ठुरास्यो व्यरीरटच्चूचुकचूषणेन[1] ॥४२॥
स्वपन्निषीदन्नुरसा प्रसर्पन् पदं [2]ददन्नस्खलितं प्रधावन् ।
कलामिलापो नवनीतमद्यन्नजीगमज्जिष्णुरहर्दिनानि ॥४३॥
[3]अनःशरीरामपरां पिशाचीं स चापतन्तीं घनपादघाती ।
विभीर्बभञ्जाञ्जनशैलशोभी पृथूदयस्तां पृथुकोऽपि [4]कोऽपि ॥४४॥
यशोदया दामगुणेन जातु यदृच्छयोदूखलबद्धपादः ।
निपीडयन्तौ रिपुदेवतागौ न्यपातयत्तौ जमलार्जुनौ सः ॥४५॥
सुनन्दगोपेन यशोदया च सुदृष्टशक्तिः[5] शुभशैशवादौ ।
सविस्मिताभ्यामभिनन्द्यमानो बालः स दृश्यो ववृधे वनान्ते[6] ॥४६॥
स गोपतिं दृप्तमशेषघोषमितस्ततो दृष्टमुदग्रघोषम् ।
महार्णवं वा प्रतिपूर्णयन्तं जघान कण्ठोद्बलनात्सुकण्ठः ॥४७॥

ये हम सब तुम्हारे पूर्व भवके तपसे सिद्ध हुई देवियाँ हैं। आपका जो कार्य हो वह कहिए, बलभद्र और नारायणको छोड़कर कंसका कौन-सा शत्रु क्षण-भरमें नष्ट करने योग्य है सो बताओ ॥३८-३९॥ कंसने कहा कि हमारा कोई वैरी कहीं गुप्त रूपसे बढ़ रहा है सो तुम लोग दयासे निरपेक्ष हो शीघ्र ही पता लगाकर उसे मृत्युके मुखमें करो— उसे मार डालो ॥४०॥ इस प्रकार कंसके द्वारा कथित बातको स्वीकृत कर वे देवियाँ चली गयीं। उनमेंसे एक देवी शीघ्र ही उग्र— भयंकर पक्षीका रूप दिखाकर आयी और चोंच द्वारा प्रहार कर बालक कृष्णको मारनेका प्रयत्न करने लगी परन्तु कृष्णने उसकी चोंच पकड़कर इतनी जोरसे दबायी कि वह भयभीत हो प्रचण्ड शब्द करती हुई भाग गई ॥४१॥ दूसरी देवी पूतन भूतका रूप रखकर कुपूतना बन गयी और अपने विष सहित स्तन उन्हें पिलाने लगी। परन्तु देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण श्रीकृष्णका मुख अत्यन्त कठोर हो गया था इसलिए उन्होंने स्तनका अग्रभाग इतने जोरसे चूसा कि वह बेचारी चिल्लाने लगी ॥४२॥ बालक कृष्ण कभी तो सोता था, कभी बैठता था, कभी छातीके बल सरकता था, कभी लड़खड़ाते पैर उठाता हुआ चलता था, कभी दौड़ा-दौड़ा फिरता था, कभी मधुर आलाप करता था और कभी मक्खन खाता हुआ दिन-रात व्यतीत करता था ॥४३॥ तीसरी पिशाची शकटका रूप रखकर उनके सामने आयी परन्तु कृष्ण बालक होनेपर भी अत्यन्त निर्भय थे, अंजनगिरिके समान शोभायमान थे और अत्यधिक अभ्युदयको धारण करनेवाले कोई अनिर्वचनीय पुरुष थे इसलिए उन्होंने जोरकी लात मारकर ही उसे नष्ट कर दिया ॥४४॥ किसी दिन उपद्रवकी अधिकताके कारण यशोदाने कृष्णका पैर रस्सीसे कसकर ओखलीमें बांध दिया था। उसी दिन शत्रुकी दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्षका रूप रखकर उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगीं परन्तु कृष्णने उस दशामें भी दोनों देवियोंको गिरा दिया—मार भगाया ॥४५॥ शुभ बाल्यकालके प्रारम्भमें ही सुनन्दगोप और यशोदाने जिसकी अद्भुत शक्ति देखी थी तथा आश्चर्यसे चकित हो जिसकी प्रशंसा की थी ऐसा वह दर्शनीय—मनोहर बालक वनके मध्यमें बढ़ने लगा ॥४६॥ एक

१. भूषणेन म.। २. ददन्संस्खलितं क.। ३. अतः शरीरां म.। शकटरूपामित्यर्थः। ४. कोपी ग.। ५. सुदृष्टिशक्तिः ग.। ६. वनान्तरे ग.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुदेवपाषाणमयातिवर्षैरनाकुलो व्याकुलगोकुलाय ।
दधार गोवर्धनमूर्ध्वमुच्चैः स भूधरं भूधरणोरुदोर्भ्याम् ॥४८॥
अमानुषं कृष्णविचेष्टितं तत्सकर्णमाकर्ण्य बलेन[1] वर्ण्यम् ।
कृतोपवासव्यपदेशतोऽगाद्व्रजं सवित्री[2] सुतदर्शनाय ॥४९॥
सुकण्ठगोपालक[3]लोपगीतं सुतारघण्टाध्वनिगोधनाढ्यम् ।
महीध्रपादे वनरन्ध्रमा[4]गात्पुरन्ध्रिरध्यास्य[5] परां धृतिं सा ॥५०॥
क्वचिच्चितं स्निग्धसुकृष्णवर्णैः क्वचिच्च सोद्यद्बलभद्रशुभ्रैः ।
गवां गणैर्वीक्ष्य वनं जहर्ष भवत्यपत्यप्रतिमं हि दृष्ट्यै[6] ॥५१॥
तृणाम्बुतृप्ताः स्तनलग्नवत्साः प्रदुह्यमानाश्च परा घटोघ्नीः ।
ददर्श गा गोष्ठगतास्तदैषा प्रवृत्तरोमाञ्चसुखाभिरामाः[7] ॥५२॥
सवत्सधेनुध्वनयोऽतिधीरा रवाश्च गोपीदधिमन्थनोत्थाः ।
मनोऽभिजह्रे हरिमातुरुच्चैर्गभीरनादा न हरन्ति किं वा ॥५३॥
ततोऽभिनन्दी हृदि नन्दगोपो यशोदयोपेत्य यशोविशुद्धाम् ।
स देवकीं स्वामिनिकां निकायैर्मनस्विनीं भक्तियुतो ननाम ॥५४॥

दिन छठी देवी बैलका रूप बनाकर आयी। वह बैल बड़ा अहंकारी था, गोपालोंकी समस्त बस्तीमें जहाँ-तहाँ दिखाई देता था, जोरदार शब्द करता था और सबको डुबोते हुए महासागरके समान जान पड़ता था परन्तु सुन्दर कण्ठके धारक कृष्णने उसकी गरदन मोड़कर उसे नष्ट कर दिया—दूर भगा दिया ॥४७॥ सातवीं देवीने पाषाणमयी तीव्र वर्षासे कृष्णको मारना चाहा परन्तु वे उस वर्षासे रंचमात्र भी व्याकुल नहीं हुए प्रत्युत उन्होंने घबड़ाये हुए गोकुलकी रक्षा करनेके लिए पृथिवीका भार धारण करनेसे विशाल अपनी दोनों भुजाओंसे गोवर्धन पर्वतको बहुत ऊँचा उठा लिया और उसके नीचे सबकी रक्षा की ॥४८॥

जब कृष्णकी इस लोकोत्तर चेष्टाका पता कानों-कान बलदेवको चला तब उन्होंने माता देवकीके सामने इसका वर्णन किया। उसे सुन वह किये हुए उपवासके बहाने पुत्रको देखनेके लिए व्रज—गोकुलकी ओर गयी॥४९॥ वहाँ पर्वतकी शाखापर स्थित, सुन्दर कण्ठके धारक गोपालकोंके मुख गीतसे झंकृत एवं घण्टाओंके जोरदार शब्दोंसे सहित गोधनसे युक्त वनखण्डमें बैठकर यह परम सन्तोषको प्राप्त हुई ॥५०॥ कहीं तो वह वन, कृष्णके रंगके समान स्निग्ध एवं उत्तम कृष्ण वर्णवाली गायोंके समूहसे व्याप्त था और कहीं बलभद्रके समान सफेद वर्णवाली गायोंके समूहसे युक्त था। उसे देख माता देवकी बहुत ही प्रसन्न हुई सो ठीक ही है क्योंकि पुत्रकी समानता प्राप्त करनेवाली वस्तु भी हर्षके लिए होती है ॥५१॥ जो घास और पानीसे सन्तुष्ट थीं, जिनके थनोंसे बछड़े लगे हुए थे, गोपाल लोग जिन्हें दुह रहे थे तथा घड़ोंके समान जिनके बड़े-बड़े स्तन थे ऐसी गोशालाओंमें खड़ीं एक-से बढ़कर एक सुन्दर गायोंको देखकर माता देवकीके रोमांच निकल आये और वह सुखसे सुशोभित होने लगी ॥५२॥ उस समय वहाँ बछड़ोंके साथ गायोंके रँभानेकी ध्वनि फैल रही थी तथा गोपियों द्वारा दही मथे जानेका जोरदार शब्द प्रसरित हो रहा था। उन सबसे देवकीका मन अत्यधिक हरा गया सो ठीक ही है क्योंकि गम्भीर शब्द क्या नहीं हरते हैं ? ॥५३॥ तदनन्तर जो मन ही मन अत्यधिक हर्षित हो रहा था, ऐसे नन्द गोपने यशोदाके साथ आकर, यशसे विशुद्ध, अनेक लोगोंके समूहसे सहित, गौरवशालिनी स्वामिनी देवकीको भक्ति-

१. बलरामेण । २. माता देवकी । ३. कपोलगीतं घ. । ४. मागा म. । ५. रध्यास म. । ६. दृष्ट्यै म. । ७. रामाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुपीतवासोयुगलं वसानं वनेवतंसीकृतबर्हिवर्हम् ।
अखण्डनीलोत्पलमुण्डमालं सुकण्ठिकाभूषितकम्बुकण्ठम् ॥५५॥
सुवर्णकर्णाभरणोज्ज्वलाभं सुबन्धुजीवालिकमुक्तमौलिम् ।
हिरण्यरोचिर्वलयप्रकोष्ठं[1] सुपादगोपालकसानुवंशम्[2] ॥५६॥
यशोदयानीय यशोदयाढ्यं[3] प्रणामितं पुत्रमसौ सवित्री ।
सुगोपवेषं निकटे निषण्णं परामृशन्ती चिरमालुलोके ॥५७॥
जगौ च देवी विपिनेऽपि वासस्तवेदृशापत्यदृशो यशोदे ।
यशस्विनि श्लाघ्यतमो जगत्यां न राज्यलाभोऽभिमतोऽनपत्यः ॥५८॥
जगाद गोपी भवती यथाह तथैव मे स्वामिनि सत्यमेतत् ।
तथैव संतोषविशेषपोषी[4] प्रियाशिषा जीवतु नित्यभृत्यः ॥५९॥
इहान्तरे सा सुतदर्शनेन सुनिर्भरप्रस्नुतसुस्तनौ[5] तौ ।
शशाक नो संवरितुं क्षरन्तौ न संवृतिः स्यात्सति चित्तभेदे ॥६०॥
रिपोर्भयात्पुत्र वियोजितोऽसि न दुष्टबुद्ध्येति विशुद्धिमन्तः ।
स्तनक्षरत्क्षीरनिभेन राज्ञी प्रदर्शयन्तीव तदा रराज ॥६१॥
प्रकाशमीरुः सहसा ततोऽसौ हलायुधः क्षीरघटेन दक्षः ।
तदाभ्यषिञ्चत्स्वयमञ्चितास्थां[6] न मुह्यति प्राप्तकृतौ कृती हि ॥६२॥

पूर्वक नमस्कार किया ॥५४॥ तत्पश्चात् जो पीले रंगके दो वस्त्र पहने हुए था, वनके मध्यमें मयूर-पिच्छकी कलँगी लगाये हुए था, अखण्ड नील कमलकी माला जिसके शिरपर पड़ी हुई थी, जिसका शंखके समान सुन्दर कण्ठ उत्तम कण्ठोसे विभूषित था, सुवर्णके कर्णाभरणोंसे जिसकी आभा अत्यन्त उज्ज्वल हो रही थी, जिसके ललाटपर दुपहरियाके फूल लटक रहे थे, जिसके शिरपर ऊँचा मुकुट बँधा हुआ था, जिसकी कलाइयोंमें सुवर्णके देदीप्यमान कड़े सुशोभित थे, जिसके साथ अनेक सुन्दर गोपाल बालक थे एवं जो यश और दयासे सहित था ऐसे पुत्रको लाकर यशोदाने देवकीके चरणोंमें प्रणाम कराया। उत्तम गोपके वेषको धारण करनेवाला वह पुत्र प्रणाम कर पासमें ही बैठ गया। माता देवकी उसका स्पर्श करती हुई चिरकाल तक उसे देखती रही ॥५५-५७॥ देवकीने यशोदासे कहा कि हे यशस्विनि यशोदे ! तू ऐसे पुत्रका निरन्तर दर्शन करती है अतः तेरा वनमें भी रहना प्रशंसनीय है। यदि पृथिवीका राज्य भी मिल जाये पर सन्तान न हो तो वह राज्य अच्छा नहीं लगता ॥५८॥ इसके उत्तरमें गोपी यशोदाने कहा कि हे स्वामिनि ! आपने जैसा कहा है यह वैसा ही सत्य है। मेरे मनके सन्तोषको अत्यधिक रूपसे पुष्ट करनेवाला यह सदाका दास आपके प्रिय अशीर्वादसे चिरंजीव रहे यही प्रार्थना है ॥५९॥

इसी बीचमें पुत्रको देखनेसे देवकी रानीके दोनों स्तन अत्यधिक दूधसे परिपूर्ण हो गये। वह उन झरते हुए स्तनोंको रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकी सो ठीक ही है क्योंकि चित्तमें भेद पड़ जानेपर किसी बातका छिपाना नहीं हो सकता ॥६०॥ उस समय स्तनोंसे झरते हुए दूधके बहाने रानी, 'हे पुत्र ! शत्रुके भयसे मैंने तुझे वियुक्त किया है दुष्ट बुद्धिसे नहीं' अपने अन्तरंगको इस विशुद्धिको दिखाती हुईके समान सुशोभित हो रही थी ॥६१॥ 'कहीं रहस्य न खुल जाये' इससे भयभीत हो बुद्धिमान् बलदेवने उसी समय स्वयं ही दूधके घड़ेसे प्रेमपूर्ण माताका अभिषेक कर दिया—उसके ऊपर दूधसे भरा घड़ा उड़ेल दिया सो ठीक ही है क्योंकि कुशल मनुष्य अवसरके

---

१. वलयः प्रकोष्ठं म. । २. सानुवंशे म. । ३. यशश्च दया चेति यशोदये ताभ्याम् आढ्यं सहितम् । ४. दौषी म. । ५. प्रस्तुत म. । ६. मञ्चितास्था ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो हरिप्रेक्षणलब्धसौख्यां[1] हली समानीय समाप्तकार्याम् ।
प्रवेश्य साध्वीं मथुरां पुनस्तं न्यवेदयद्वृत्तमपि स्वपित्रे ॥६३॥
कलागुणान् प्रत्यहमेत्य दक्षमशिक्षयत्केशवमाशु शीरी ।
स्थिरोपदेशे प्रणते न शिष्ये गुरूपदेशाः क्षपयन्ति कालम् ॥६४॥
स बालभावात्सुकुमारभावस्तथैवमुन्निद्रकुचाः कुमारः ।
सुयौवनोन्मादभराः [2]सुरासैररीरमत्कैलिषु गोपकन्याः ॥६५॥
कराङ्गुलिस्पर्शसुखं स रासेष्वजीजनद्गोपवधूजनस्य ।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो मुमुद्रिकानद्धमणिर्यथार्घ्यः ॥६६॥
यथा हरौ भूरिजनानुरागो जगाम वृद्धिं हृदि वृद्धिसूचौ ।
तथास्य तेने विरहानुरागो विहारकाले विरहातुरस्य ॥६७॥
द्विषं तमन्वेष्टुमितः प्रविष्टः स शङ्कया कंसरिपुः कदाचित् ।
व्रजं निजैरावजदच्युतोऽस्मात्पुरोऽभ्युपायाद्गमितो जनन्या[3] ॥६८॥
स [4]ताडवीं स्पष्टकृताट्टहासां कुराक्षसीं रूक्षनिरीक्षणास्याम् ।
अधोक्षजो वीक्ष्य विवृद्धकायां शरीरयष्टयां विकृतां जघान ॥६९॥

अनुसार कार्य करनेमें कभी नहीं चूकते ॥६२॥ तदनन्तर कृष्णके देखनेसे जिसे सुख प्राप्त हुआ था और जिसके दुग्धाभिषेकका कार्य समाप्त हो चुका था ऐसी साध्वी माता देवकीको लाकर बलदेवने मथुरापुरीमें प्रविष्ट कराया और इसके बाद उन्होंने यह समाचार अपने पिता वसुदेवके लिए भी सुनाया ॥६३॥

कृष्ण अत्यन्त चतुर थे अतः बलदेवने प्रतिदिन जा-जाकर उन्हें शीघ्र ही कलाओं और गुणोंकी शिक्षा दी थी सो ठीक ही है क्योंकि स्थिर रूपसे उपदेश ग्रहण करनेवाले विनयी शिष्यके मिलने पर गुरुओंके उपदेश व्यर्थ ही समय नहीं नष्ट करते अर्थात् शीघ्र ही उसे निपुण बना देते हैं ॥६४॥ कुमारके समान अत्यन्त निर्विकार अथवा अत्यन्त कोमल हृदयको धारण करनेवाले वह कुमार कृष्ण, क्रीड़ाओंके समय अतिशय यौवनके उन्मादसे भरी एवं प्रस्फुटित स्तनोंवाली गोपकन्याओंको उत्तम रासों द्वारा क्रीड़ा कराते थे ॥६५॥ वे रासक्रीड़ाओंके समय गोपबालाओंके लिए अपने हाथकी अंगुलियोंके स्पर्शसे होनेवाला सुख उत्पन्न कराते थे परन्तु स्वयं अत्यन्त निर्विकार रहते थे। जिस प्रकार उत्तम अँगूठीमें जड़ा हुआ श्रेष्ठ मणि स्त्रीके हाथकी अँगुलिका स्पर्श करता हुआ भी निर्विकार रहता है उसी प्रकार महानुभाव कृष्ण भी गोपबालाओंकी हस्तांगुलिका स्पर्श करते हुए भी निर्विकार रहते थे ॥६६॥ क्रीड़ाके समय कुमार कृष्णसे मिलनेपर वृद्धिको सूचित करनेवाला मनुष्योंका अत्यधिक अनुराग जिस प्रकार हृदयमें वृद्धिको प्राप्त होता था उसी प्रकार उनके विरहकालमें विरहसे पीड़ित मनुष्योंका विरहानुराग भी वृद्धिको प्राप्त होता था। भावार्थ—खेलके समय कृष्णको पाकर जिस प्रकार लोगोंको प्रसन्नता होती थी उसी प्रकार उनके अभावमें लोगोंको विरहजन्य सन्ताप भी होता था ॥६७॥

कृष्णकी लोकोत्तर चेष्टाएँ सुन एक दिन कंसको इनके प्रति सन्देह हो गया और वह वैरी जान इन्हें खोजनेके लिए गोकुल आया। कृष्ण अपने सखाओंके साथ उसके समीप आ रहे थे—परन्तु माताने कोई उपाय रच उन्हें आत्मीय जनोंके द्वारा नगरके बाहर व्रजको भेज दिया ॥६८॥ व्रजमें एक ताडवी नामकी पिशाची आयी जो जोर-जोरसे अट्टहास कर रही थी, जिसके नेत्र और मुख दोनों ही अत्यन्त रूक्ष थे, जिसका शरीर अत्यन्त बढ़ा हुआ था और जिसकी शरीरयष्टि

१. सौख्या म.। २. सुरासै-म.। सुन्दररासक्रीडाभिः। ३. जनन्याः म.। ४. नाटवीं म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुशाल्मलीखण्डसुमण्डपस्य [1]सुदुर्भरास्तम्भतर्तिं परेषाम् ।
तमुत्क्षिपन्तं स्वदयं विदित्वा न्यवर्तयत्सा जननी विशङ्का ॥७०॥
निवृत्य कंसः [2]पुरि घोषणां स्वैरघोषयद्देवविदुक्तकारी [3]।
गवेषणार्थं द्विषतो निजस्य स पापशापाभिमुखः सुखार्थी ॥७१॥
भुजङ्गशय्यामिह सिंहवाँहं शरासनं चाप्यजितं जयान्तम् ।
सपाञ्चजन्याब्जमथारुहेद्यः करोत्यधिज्यं परिपूरयेच्च ॥७२॥
ददाति तस्मै पुरुषोत्तमाय पराजिताशेषपराक्रमाय ।
अलभ्यलाभं सममीष्टमिष्टः प्रहृष्टकंसः [5]पुरुषान्तरज्ञः ॥७३॥
इति प्रवृत्तिश्रवणात्प्रवृत्तास्ततस्तदारोहणपूर्विकासु ।
क्रियासु निस्तेजितवृत्तयश्च [6]महीक्षितो जग्मुरतो विलक्षाः ॥७४॥
अथानयद्भानुरुपेन्द्रमर्थी सहोदरोऽसौ खलु कंसवध्वाः ।
तदीयसामर्थ्यमुदीक्ष्य जातु प्रजाततोषो मथुरापुरीं ताम् ॥७५॥
महाहिशय्यामिह सज्जितां [7]तां विलोक्य चन्द्रस्यपदेशपृष्ठाम् [8] ।
समारुहद्भीषणभोगिभोगां स्वभावशय्यामिव शौरिराशु ॥७६॥

अत्यन्त विकृत थी कृष्णने उसे देखते ही मार भगाया ॥६९॥ व्रजमें एक शाल्मली वृक्षकी लकड़ी-का मण्डप तैयार हो रहा था वहाँ उसके ऐसे बड़े-बड़े खम्भोंका समूह पड़ा था जिसे दूसरे लोग उठा नहीं सकते थे परन्तु कृष्णने उन्हें अकेले ही उठाकर ऊपर चढ़ा दिया। यह जान माताने निःशंक हो उन्हें व्रजसे वापस लौटा लिया ॥७०॥ दुष्ट एवं सुखार्थी कंसको जब कृष्ण गोकुलमें नहीं मिले तब वह मथुरा लौट आया। उसी समय उसके यहाँ सिंहवाहिनी नागशय्या, अजितंजय नामका धनुष और पांचजन्य नामका शंख ये तीन अद्भुत पदार्थ प्रकट हुए। कंसके ज्योतिषीने बताया कि 'जो कोई नागशय्यापर चढ़कर धनुषपर डोरी चढ़ा दे और पांचजन्य शंखको फूँक दे वही तुम्हारा शत्रु है', अतः ज्योतिषीके कहे अनुसार कार्य करनेवाले कंसने अपने शत्रुकी तलाश करनेके लिए आत्मीय जनोंके द्वारा नगरमें यह घोषणा करा दी कि 'जो कोई यहाँ आकर सिंह-वाहिनी नागशय्यापर चढ़ेगा, अजितंजय धनुषको डोरीसे सहित करेगा और पांचजन्य शंखको मुखसे पूर्ण करेगा—फूँकेगा वह पुरुषोंमें उत्तम तथा सबके पराक्रमको पराजित करनेवाला समझा जावेगा। पुरुषोंके अन्तरको जाननेवाला कंस उसपर बहुत प्रसन्न होगा, अपने आपको उसका मित्र समझेगा तथा उसके लिए अलभ्य इष्ट वस्तु देगा' ॥७१-७३॥

कंसकी यह घोषणा सुन अनेक राजा मथुरा आये और नागशय्यापर चढ़ने आदिकी क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगे परन्तु सब भयभीत हो लज्जित होते हुए चले गये ॥७४॥ एक दिन कंसकी स्त्री जीवद्यशाका भाई भानु, किसी कार्यवश गोकुल गया। वहाँ कृष्णका अद्भुत पराक्रम देख वह बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें अपने साथ मथुरापुरी ले आया ॥७५॥

यहाँ, जिसके समीपका प्रदेश अत्यन्त सुसज्जित था, जिसका पृष्ठ भाग चन्द्रमाके समान उज्ज्वल था एवं जिसके ऊपर भयंकर सर्पोंके फण लहलहा रहे थे ऐसी महानाग शय्यापर कृष्ण

१. सुदुर्भरास्तम्भततिः म.। २. पुरघोषणां म.। ३. देवविदुक्त–म.। ४. सिंहवाह म.। ५. स रुषा-न्तरज्ञः म.। ६. निस्तेजितवृत्तयः ग.। ७. सज्जितान्तं म.। ८. चेन्द्रस्य पदे स पृष्ट्वा म. (?)। चेन्द्रस्य पदेश दृष्ट्वा ग. (?)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धनुस्ततोऽधिज्यमसौ व्यधत्त भुजङ्गमोद्गीर्णविकीर्णधूमम् ।
अपूरयच्छङ्खमखेदमाशाः प्रपूरयन्तं निखिला निनादैः ॥७७॥
जनस्तदालोक्य तदातिलोकं तदीयमाहात्म्यमुदीयमानम् ।
अघोषयत्क्षुब्धसमुद्रघोषो महानहो कोऽप्ययमित्यशेषः ॥७८॥
कुकंसशङ्कां वहताग्रजेन निजेन नीत्या प्रहितो हरिस्तु ।
महानुकूलो व्रजमात्मनीनैः सहाव्रजत्तीव्रगुणानुरागैः ॥७९॥

शालिनीच्छन्दः

गर्भाधानात्पूर्वमर्वाक् प्रसूतेराबद्धान्तर्वैरभावोऽपि शत्रुः ।
मत्तः कुर्यात्किं ह्युदात्तस्य पुंसो जैनाद्धर्मात् पूर्वजन्मप्रयातात् ॥८०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ कृष्णबालक्रीडावर्णनो नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥३५॥

□

स्वाभाविक शय्याके समान शीघ्र चढ़ गये ॥७६॥ तदनन्तर उन्होंने साँपोंके द्वारा उगले हुए धूमको बिखेरनेवाले धनुषको प्रत्यंचासे युक्त किया और शब्दोंसे समस्त दिशाओंको भरनेवाले शंखको खेद रहित—अनायास ही पूर्ण कर दिया ॥७७॥ उस समय कृष्णके प्रकट होते हुए लोकोत्तर माहात्म्यको देखकर समस्त लोगोंने घोषणा की कि अहो, क्षुभित समुद्रके समान शब्द करनेवाला यह कोई महान् पुरुष है ॥७८॥ कृष्णका यह पराक्रम देख बड़े भाई बलदेवको दुष्ट कंससे आशंका हो गयी इसलिए उन्होंने महान् आज्ञाकारी कृष्णको, साथ-साथ जानेवाले गुणोंके तीव्र अनुरागी आत्मीय जनोंके साथ व्रजको भेजा। भावार्थ—बलदेवने कंससे शंकित हो कृष्णको अकेला नहीं जाने दिया किन्तु 'यह बहुत गुणी है, इसलिए सब लोग इसे भेजने जाओ' यह कहकर अपने पक्षके बहुत-से लोगोंको उनके साथ कर दिया ॥७९॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो पूर्व जन्ममें प्राप्त हुए जैन धर्मसे उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ है उस मनुष्यका मदोन्मत्त शत्रु क्या कर सकता है ? भले ही वह गर्भाधानसे पूर्व और जन्मके पहले ही हृदयमें वैरभाव बाँधकर बैठा हो ॥८०॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कृष्णकी बालक्रीड़ाओंका वर्णन करनेवाला पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्त्रिंशः सर्गः

मालिनीच्छन्दः

अथ विरुवदलिज्यारूढबाणासनायां कलरवकलहंसीशङ्खशय्याश्रितायाम् ।
रिपुशिखिमदपक्षक्षोदपक्षोदयायां शरदि हरिनवश्रीलीलयाध्यासितायाम् ॥१॥
घननिवहविघाताद्व्यौरभाच्चन्द्रहासा विघटितघनपङ्का मेदिनी काशहासा ।
कतिपयदिनभाविप्रौढकंसाभिघातप्रकटितहरिहासाकारविद्योततीव (वद् द्योतने सा) ॥२॥
विपुलपुलिनफेनव्याजतः स्वच्छनद्यः सहजजलसरस्यः पुण्डरीकापदेशात् ।
सितकुसुमनिभेन स्वैर्वनान्तैश्च शैला हरियश इव शुभ्रं द्राग्दधाना विरेजुः ॥३॥
फलकुचगुरुभाराक्रान्तिराक्रान्तसस्यप्रचुररुचिरकासंत् कञ्चुकोद्भासमाना ।
प्रमदवशविकासिन्युर्वरा सर्वतोऽभादभिनवहरिकण्ठाश्लेषणोत्कण्ठितेव ॥४॥
प्रसवभरविभूतिव्यग्रताव्यग्रगर्भग्रहणसमयहृष्यद्गोवृषोद्घोषघोषाः ।
शरदि हृदयतोषं पोषयन्तिस्म विष्णोः प्रसभमिह रिपूणां पेषणं घोषयन्तः ॥५॥
विदितहरिसमीहश्चापि कंसस्तदानीं पुनरपि तदपायोपायधीर्गोपवर्गम् ।
कमलहरणहेतोर्दुर्गमभ्यङ्गभाजां हृदमपि विषमाहि प्राहिणोद्यामुनं सः ॥६॥

अथानन्तर गूँजते हुए भ्रमररूपी प्रत्यंचासे युक्त बाणासन जातिके वृक्षरूपी धनुषसे सुशोभित, कबूतररूपी शंख और कलहंसरूपी शय्यासे सहित तथा शत्रुरूपी मयूरोंके मद और पंखोंको नष्ट करनेवाली शरद् ऋतु आयी सो ऐसी जान पड़ती थी मानो कृष्णकी नवीन लक्ष्मीकी लीलासे ही सहित हो। भावार्थ—जिस प्रकार कृष्णने उज्ज्वल नागशय्यापर आरूढ़ हो शंख बजाया था और धनुष धारण किया था उसी प्रकार वह शरद् ऋतु भी कलहंसरूपी नागशय्यापर आरूढ़ हो कबूतररूपी शंखको बजा रही थी तथा बाणासन वृक्षरूपी धनुषको धारण कर रही थी ॥१॥ उस समय आकाशमें मेघोंका समूह नष्ट हो गया था तथा चन्द्रमाका प्रकाश फैलने लगा था इसलिए वह अत्यधिक सुशोभित हो रहा था। इसी प्रकार पृथिवीकी विपुल कीचड़ नष्ट हो गयी थी तथा उसपर काशके फूल-फूल उठे थे इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कुछ दिन बाद जो अतिशय बलवान् कंसका घात होनेवाला है उससे प्रकट होनेवाले कृष्णके अट्टहासको ही पहलेसे धारण करने लगी हो ॥२॥ उस समय स्वच्छ नदियोंमें विशाल पुलिनोंकी टक्करसे फेन निकल रहा था, स्वाभाविक जलसे भरे सरोवरोंमें सफेद-सफेद कमल फूल रहे थे और पर्वतोंके अपने वनोंमें सफेद-सफेद फूल खिल उठे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उन सबके बहाने श्रीकृष्णके शुक्ल यशको ही शीघ्र धारण कर रहे हों ॥३॥ फलरूपी स्तनोंके भारी भारसे आक्रान्त, सर्वत्र व्याप्त धानकी सातिशय कान्तिरूपी चोलीसे सुशोभित और हर्षातिरेकसे सब ओर विकसित—नये-नये अंकुरोंको धारण करनेवाली उपजाऊ भूमिरूपी रमणी उस समय नये राजा श्रीकृष्णके कण्ठालिंगनके लिए उत्सुकके समान जान पड़ती थी ॥४॥ उस शरद् ऋतुमें सन्ततिके भाररूप विभूतिसे प्राप्त होनेवाली व्यग्रतासे व्यग्र एवं गर्भधारणके योग्य समय पाकर हर्षित होनेवाली गायों और बैलोंके जोरदार शब्द श्रीकृष्णके हृदय सम्बन्धी सन्तोषको मानो इसलिए ही बरबस पुष्ट कर रहे थे कि वे उनके शत्रुओंके नष्ट होनेकी घोषणा कर रहे थे ॥५॥

यद्यपि कंस, श्रीकृष्णकी चेष्टाको जान चुका था तथापि उनके नष्ट करनेके उपायोंमें बुद्धि लगानेवाले उस दुष्टने फिर भी उस समय कमल लानेके लिए समस्त गोपोंके समूहको यमुनाके

---

१. भासा ग, घ., ङ.। २. केन म.। ३. शोभमान। ४. तोष—म.। ५. तदपायेपापधी—म.। ६. मत्यङ्ग—म.। ७. विषमा अहयो यस्मिन्। ८. प्रेषयामास। ९. यमुनाया इदं यामुनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजभुजबलशाली हेलयैवावगाह्य ह्रदमपि कुपितोत्थं कालियाहिं महोग्रम् ।
फणमणिकिरणौघोद्गीर्णवह्निस्फुलिङ्गव्यतिकरमतिकृष्णं मंक्षु[1] कृष्णो ममर्द ॥७॥
तटरुहविटपाग्र्यग्रगोपप्रणादस्फुटहलधरधीरध्वानसंहृष्टदेहैः[2] ।
भुजनिहतभुजङ्गः संसमुच्छित्य पद्मानुपतटमटतिस्म द्राक् मरुत्वान्[3]निवासौ ॥८॥
प्रविलसदतिभास्वत्पीतवासा बलेन प्रमदमरवशेन प्रोल्लसन्मेचकेन ।
सरभसमुपगूढश्चोद्वृतोऽभाद्भुजाभ्यामसितसितशिलाग्रेणेव सोऽब्दः सविद्युत् ॥९॥
निहितकमलमारान् गोपकैरग्रतोरिः परगुणमसहिष्णुः सोष्णमुच्छ्वस्य दृष्ट्वा ।
सममणदिति शीघ्रं नन्दगोपात्मजाद्याः सरभसमिह गोपा मल्लयुद्धाय सन्तु ॥१०॥
इति विहितमहाज्ञो मल्लयुद्धाय मल्लानतिकठिनकनिष्ठज्येष्ठमध्यप्ररूढान् ।
द्रुततरमुपकण्ठे स्वस्य चक्रे स चक्रकचनिशितचित्तः कर्तुकामस्तदानीम् ॥११॥
चरितमिदमकालक्षेपि विज्ञाय शत्रोः स्थिरमतिवसुदेवश्चाप्यनावृष्टियुक्तः ।
ज्ञपयितुमपि सर्वं ज्येष्ठवर्गं स वार्तामगमयदिह शीघ्रं संनिधानाय तस्य ॥१२॥
विदितरिपुविचेष्टास्ते नव ज्येष्ठमुख्या रथतुरगपदातिप्रोन्मदेभैः स्वसैन्यैः ।
सरभसमभिजग्मुर्भूतलं भूषयन्तः शठहृदयमकस्मात्सस्मयं दारयन्तः ॥१३॥

उस ह्रदके सम्मुख भेजा जो प्राणियोंके लिए अत्यन्त दुर्गम था और जहाँ विषम साँप लहलहाते रहते थे ॥६॥

अपनी भुजाओंके बलसे सुशोभित कृष्ण अनायास ही उस ह्रदमें घुस गये और जो कुपित होकर सामने आया था, महाभयंकर था, फणपर स्थित मणियोंकी किरणोंके समूहसे जो अग्निके तिलगोंकी शोभा प्रकट कर रहा था तथा अत्यन्त काला था ऐसे कालिय नामक नागका उन्होंने शीघ्र ही मर्दन कर डाला ॥७॥ किनारेके वृक्षकी शाखाओंपर चढ़े घबड़ाये हुए गोपोंकी जय-जयकार तथा बलभद्रके गम्भीर शब्दसे जिनका समस्त शरीर रोमांचित एवं हर्षित हो रहा था तथा भुजाओंसे जिन्होंने कालिय भुजंगको नष्ट किया था ऐसे श्रीकृष्ण कमल तोड़कर वायुके समान शीघ्र ही तटके समीप आ गये ॥८॥ देदीप्यमान पीताम्बरसे सुशोभित श्रीकृष्ण ज्यों ही ह्रदसे बाहर निकले त्यों ही आनन्दके समूहसे विवश, नीलाम्बरसे सुशोभित बलभद्रने दोनों भुजाओंसे उनका गाढालिंगन किया। उस समय नीलाम्बरधारी गौरवर्ण बलभद्रसे आलिंगित पीताम्बरधारी श्याम सलोने कृष्ण, ऐसे जान पड़ते थे जैसे बिजली सहित श्याम मेघ, काली और सफेद शिलाओंके अग्रभागसे आलिंगित हो रहा हो ॥९॥

दूसरोंके गुणोंको सहन नहीं करनेवाला वैरी कंस, गोपालोंके द्वारा सामने रखे हुए कमलोंके समूहको देखकर गरम-गरम उच्छ्वास भरने लगा। तदनन्तर उसने शीघ्र ही यह आज्ञा दी। नन्द गोपके पुत्रको आदि लेकर समस्त गोप यहाँ मल्लयुद्धके लिए अविलम्ब तैयार हो जावें ॥१०॥ इस प्रकार मल्लयुद्धके लिए कड़ी आज्ञा देकर चक्र और करोंतके समान तीक्ष्ण चित्तका धारक कंस मल्लयुद्धके लिए इच्छुक हो शीघ्र ही अत्यन्त बलवान् छोटे-बड़े और मध्यम श्रेणीके मल्लोंको उसी समय बुलाकर अपने पास रख लिया ॥११॥ स्थिर बुद्धिके धारक वसुदेवने, अपने अनावृष्टि पुत्रके साथ सलाहकर शत्रुकी इस चेष्टाको तत्काल समझ लिया और अपने समस्त बड़े भाइयोंको बतलाने तथा उन्हें शीघ्र ही मथुरामें उपस्थित होनेके लिए खबर भेज दी ॥१२॥ जिन्होंने शत्रुकी चेष्टाको जान लिया था ऐसे वसुदेवके नौ ही बड़े भाई, रथ, घोडे. पदाति और

१. शीघ्रम् म.। २. भेदः म.। ३. वायुरिव (ग- टि.)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिरवियुतकनीयोदर्शनव्याजतस्तान् पृथुतरमथुरां तामागतान् यादवेन्द्रान् ।
अभिमुखमपशङ्कोऽवेत्य कंसः सशङ्को निभृतकृतनतिः प्रावेशयत्सानुजान् सः ॥१४॥
पुरु पुरगृहशोभादर्शनात्तृप्तनेत्रास्तदधिपतिनियुक्तावासकास्ते यथेष्टम् ।
प्रतिदिनमुपसेव्या दानमानप्रणामैः प्रणयमिव वहन्तस्तस्थुरन्तर्विदाहाः ॥१५॥
हलभृदवधृतार्थो मल्लयुद्धाभिलाषं वृषधवलविशेषोऽत्यन्तविज्ञो विधित्सुः ।
अतिनिपुणमतिस्तां संनिधौ तस्य धीरो वदति लघु यशोदां स्नानमाकल्पयेति ॥१६॥
चिरयसि किमिति त्वं विस्मृतात्मीयदेहे न सकृदसकृदुक्ता न स्वभावं जहासि ।
न हि शुचिशुभशुक्त्युत्पादितोदारमुक्तामणिरतिभृतवेला चापलं स्वं जहाति ॥१७॥
इति सह चिरवासेऽप्युक्तपूर्वा न जातु ह्यतिचकितभया सा साश्रुनेत्रा निरुक्तिः ।
द्रुततरमुपकल्प्य स्नानमन्नप्रसिद्धयै प्रकृतमकृत यत्नं स्नातुमेतौ नदीं तौ ॥१८॥
अवददिति बलस्तं कृष्णमेकान्तवर्ती किमिति मुखमिदं ते दीर्घनिश्वाससास्रम् ।
हिमहतरुचिपद्मच्छायमच्छायमद्य प्रथयति पृथुमन्तस्तापमाचक्ष्व हेतुम् ॥१९॥

मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त अपनी सेनाओंके द्वारा पृथिवीतलको भूषित करते और अकस्मात् आगमनसे दुष्ट कंसके अहंकारपूर्ण हृदयको विदीर्ण करते हुए शीघ्र ही मथुराकी ओर चल पड़े ॥१३॥

यदुवंशी राजाओंको विशाल मथुरा नगरीकी ओर आया देख यद्यपि कंस शंकासे युक्त हो गया था तथापि जब उसे यह बताया गया कि ये चिरकालसे वियुक्त छोटे भाई—वसुदेवको देखनेके लिए आये हैं तब उसने निःशंक हो सामने जाकर उनका स्वागत किया, उन्हें अच्छी तरह नमस्कार किया और छोटे भाइयोंसे सहित उन समस्त भाइयोंका नगरमें प्रवेश कराया ॥१४॥ विशाल मथुरा नगरीके घरोंकी शोभा देखनेसे जिनके नेत्र सन्तुष्ट हो गये थे तथा नगरीके अधिपति—कंसने जिन्हें उत्तमोत्तम भवन प्रदान किये थे, ऐसे वे सब यदुवंशी राजा मथुरा नगरीमें रहने लगे। कंस दान, मान तथा नमस्कारके द्वारा प्रतिदिन उनकी सेवा करता था। यद्यपि वे बाह्यमें ऐसी चेष्टा दिखाते थे जैसे प्रेम ही धारण कर रहे हों तथापि अन्तरंगमें अत्यधिक दाह रखते थे ॥१५॥

तदनन्तर जिन्होंने समस्त कार्यका अच्छी तरह निश्चय कर लिया था, जिनके अवयव वृषभके समान सफेद थे, जो अत्यन्त विज्ञ थे, जिनकी बुद्धि अत्यन्त निपुण थी और जो कृष्णके हृदयमें युद्धकी अभिलाषा उत्पन्न करना चाहते थे ऐसे धीर-वीर बलभद्रने गोकुल जाकर कृष्णके सामने ही यशोदासे कहा कि जल्दी स्नान कर ॥१६॥ क्यों इस तरह देर कर रही है, तू अपने शरीरकी सम्भालमें ही भूली हुई है, एक बार नहीं अनेक बार कहा फिर भी अपनी आदत नहीं छोड़ती। ठीक ही है उज्ज्वल एवं शुभ शुक्तियोंके द्वारा उत्तम मुक्तामणियोंको उत्पन्न करनेवाली समुद्रकी वेला अपनी चंचलता नहीं छोड़ती है। चिरकाल तक साथ-साथ रहनेपर भी बलभद्रने यशोदासे ऐसे कटुक वचन पहले कभी नहीं कहे थे इसलिए वह बहुत ही चकित तथा भयभीत हो गयी। यद्यपि उसने कहा कुछ नहीं फिर भी उसके नेत्रोंसे आँसू निकल आये। वह चुपचाप शीघ्र ही स्नान कर भोजन बनानेके लिए प्रकृत-अवसरानुकूल यत्न करने लगी। इधर कृष्ण और बलभद्र दोनों स्नान करनेके लिए नदी चले गये ॥१७-१८॥

एकान्तमें पहुँचनेपर बलभद्रने कृष्णसे कहा कि आज तुम्हारा यह मुख लम्बी-लम्बी साँसों तथा अश्रुओंसे युक्त क्यों है ? तुषारसे कुम्हलाये हुए कमलके समान कान्तिसे रहित तुम्हारा यह

१. तदधिपतिना कंसेन नियुक्ताः प्रदत्ता आवासा येभ्यस्ते । २. हृदये मात्सर्योपेताः । ३. हलधृदवधृतार्थो म., ख. । ४. वृषलवधविशेषोदन्तविज्ञो म., ख. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणयसहितमित्थं प्रश्नितः प्राह कृष्णः प्रहसितमुखपद्मं पद्ममालोक्य वाक्यम् ।
शृणु वचनमिहार्य त्वं मदीयं प्रसिद्धं स्फुटवदनविकाराल्लक्षितं चित्तदुःखम् ॥२०॥
श्रुतगुरुरसि विद्वान् वेत्सि लोकानुवृत्तिं त्वमुपदिशसि मार्गं चार्यवर्यं पुरस्य ।
तदिह भण सुपूज्यां युज्यते मे यशोदामतिपरुषवचोभिस्ते तिरस्कर्तुमद्य ॥२१॥
इति सुविहितमन्युं गद्गदं[3]त्तं गदन्तं हृषिततनुरहोऽसौ गाढमाश्लिष्य दोर्भ्याम् ।
अवददविरलाश्रुपातसंसूचितान्तःकरणविशदवृत्तिः सर्ववृत्तान्तमस्मै ॥२२॥
मुनिवचनमवन्ध्यं तज्जरासन्धजायाः पदुमदवशवृत्तेर्हेतुतो वृत्तमादौ ।
निधनमपि च षण्णां देवकीगर्भजानां क्षुभितहृदयकंसापादितं कोपहेतुम् ॥२३॥
प्रसवसमयतोऽर्वाग्गोकुले लीनवृत्तिं रिपुविहितमनेकापायमप्यत्र बाल्यात् ।
प्रभृति सकलमग्रे मल्लसंग्राममुग्रं विरचितमवधार्यं द्विड्वधेऽधत्त चित्तम् ॥२४॥
हरिरिति हरिवंशं [3]रौहिणेयादशेषं पितृजनगुरुबन्धुं भ्रातृवर्गं विदित्वा ।
[4]प्रमदमुरुमुवाह श्रीमुखाम्भोजलक्ष्मीं हरिरिव गुरुभूभृद्भूरिरक्षासनाथः ॥२५॥
हितसहजतयोत्थस्नेहसंपृक्तभावौ सुसरिति यमुनायां तौ महामीनलीलौ ।
जलविहरणदक्षौ स्नानमासेव्यसेव्यौ निजसदनमगातामन्वितौ गोपवर्गैः ॥२६॥

मुख किसी भारी मानसिक सन्तापको प्रकट कर रहा है सो उसका कारण कहो ॥१९॥ इस प्रकार प्रेमसहित पूछे हुए कृष्णने, प्रसन्न मुख कमलसे युक्त बलभद्रकी ओर देखकर यह वचन कहे कि हे आर्य ! मेरे वचन सुनिए । मेरे मुखपर प्रकट हुए विकारसे मेरा मानसिक दुःख प्रकट हो रहा है, यह ठीक है । आप शास्त्रज्ञानसे श्रेष्ठ विद्वान् हैं, लोककी रीतिको जानते हैं और हे पूज्य ! आप नगरवासी लोगोंको श्रेष्ठ उपदेश देते हैं फिर यह तो बताइए कि आज आपको हमारी पूज्य माता यशोदाका अत्यन्त कठोर वचनोंसे तिरस्कार करना क्या उचित था ? ॥२०॥ इस प्रकारके वचनों द्वारा शोक प्रकट करते हुए कृष्णका बलभद्रने दोनों भुजाओंसे गाढ़ आलिंगन कर लिया । हर्षसे उनका शरीर रोमांचित हो गया । तदनन्तर अविरल अश्रुधारासे हृदयकी स्वच्छ वृत्तिको सूचित करते हुए उन्होंने कृष्णके लिए सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥२१॥ उन्होंने सबसे पहले तीव्र अहंकारकी वशीभूत जरासन्धकी पुत्री कंसकी स्त्री जीवद्यशाके लिए अतिमुक्तक मुनिने जो अवन्ध्य—सत्य वचन कहे थे वे सुनाये । तदनन्तर क्षुभितहृदय कंसने देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए छह पुत्रोंको अपनी जानमें मार डाला यह क्रोधवर्धक समाचार सुनाया । फिर, तुम प्रसवके समयसे पहले ही उत्पन्न हुए थे और उत्पन्न होते ही तुम्हें हम गोकुलमें छिपाकर यशोदाके यहाँ रख गये थे यह कहा । तदनन्तर बाल्यकालसे ही लेकर शत्रुने मारनेके जो नाना साधन जुटाये उनका निरूपण किया । अन्तमें यह बताया कि इस समय कंस भयंकर मल्लयुद्धका निश्चय कर तुम्हारे मारनेमें चित्त लगा रहा है ॥२२-२४॥ इस प्रकार ज्योंही कृष्णने बड़े भाई बलभद्रसे समस्त हरिवंश, पिता, गुरु, बन्धु तथा भाइयोंका हाल जाना त्योंही वे आनन्दसे अत्यधिक मुख-कमलकी शोभाको धारण करने लगे—हर्षातिरेकसे उनके मुख-कमलकी लक्ष्मी खिल उठी । और वे बड़े भाई-रूपी पर्वतसे प्राप्त अत्यधिक रक्षासे युक्त हो सिंहके समान सुशोभित होने लगे ॥२५॥

तदनन्तर जन्मजात हितबुद्धिसे उत्पन्न स्नेहसे जिनके अन्तःकरण परस्पर मिल रहे थे, जो महामच्छोंकी लीला धारण कर रहे थे एवं जलक्रीड़ामें जो अत्यन्त चतुर थे ऐसे दोनों भाइयोंने यमुना नदीमें स्नान किया । तत्पश्चात् गोप समूहसे सेवनीय दोनों भाई उन्हीं गोपोंके

१. बलम् । २. विष्णुं कृष्णमित्यर्थः । ३. बलात् । ४. प्रमदपुरु-म. । ५. लक्ष्मीर्हरिरिव म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभपरिमलसद्यस्तापहैयङ्गवीनं[1] स्फुरत्सुरससुसूपव्यञ्जनक्षीरदध्ना[2] ।
विरचितमणिभूमौ हेमपात्र्यां सहेतौ मृदुविशदसुसिक्थं शालिभक्तं हि भुक्त्वा[3] ॥२७॥
[4]सुमृदुसुरभिगन्ध्युद्वर्तितास्यस्वपाणी स्वकरकिसलयौ तौ दिग्धदिव्यानुलिप्तौ ।
[स्वकरकिसलयात्तोदिग्धदिव्यानुलेपौ]
[5]दलितहरितपूगैलादिताम्बूलरागप्रविततमुखरागाद्भासमानाधरोष्ठौ ॥२८॥
विविधकरणदक्षौ मल्लविद्यानवद्यौ कृतचलनसुवेषौ नीलपीताम्बराभ्याम् ।
बृहदुरसि विधायोदारसिन्दूरधूलीरभिनववनमालामालतीमुण्डमालौ ॥२९॥
स्थिरमनसि विधाय ध्वंसनं कंसशत्रोश्चलचरणनिघातैर्धारिणीं क्षोभयन्तौ ।
[6]समसरमतिघोरैर्मल्लवेषैः सवर्गैः पुरमभि मथुरां तौ चेलतुर्गोपवर्गैः ॥३०॥
अभिपतदुरगेन्द्रं रासभं दूरसन्तं पथि हि पुरनिवेशे विघ्नयन्तं बृहध्वम् ।
विवृतवदनरन्ध्रं चापतन्तं दुरन्तं कुतुरगमवधीत्तं केशवः केशिनं सः ॥३१॥
नगरमभिविशन्तौ [7]द्वारितौ वारणेन्द्रावविरतमदलेखामण्डितापाण्डुगण्डौ ।
युगपदरिनियोगादापतन्तौ विदित्वा तुतुषतुरिव दृष्ट्वा युद्धरङ्गादिमल्लौ ॥३२॥

साथ-साथ अपने घर आ गये ॥२६॥ घरपर दोनों साथ-साथ मणिजटित भूमिमें गये और वहाँ उन्होंने साथ-ही-साथ, जिसके सीथ अत्यन्त कोमल और उज्ज्वल थे ऐसा शालिधानका भात, शुभ सुगन्धित एवं तत्काल तपाये हुए घीसे स्वादिष्ट दाल, शाक, दूध और दहीके साथ जीमा। जीमनेके बाद अत्यन्त कोमल और सुगन्धित चन्दनादि द्रव्योंके चूर्णसे कुल्ला किया, हाथोंमें उन्हींका उद्वर्तन किया, अपने कर-किसलयमें लेकर गाढ़ा-गाढ़ा सुन्दर लेप लगाया, कटी हुई हरी सुपारी तथा इलायची आदिसे युक्त पान खाया। पानकी लालीसे उनके मुखकी स्वाभाविक लाली और भी अधिक बढ़ गयी जिससे उनके अधर तथा ओठ अत्यन्त सुन्दर दिखने लगे ॥२७-२८॥ तदनन्तर जो नाना आसनोंके लगानेमें चतुर थे, मल्लविद्याके निर्दोष ज्ञाता थे, नीलाम्बर और पीताम्बर धारण कर जिन्होंने चलनेके योग्य सुन्दर वेष धारण किया था, लम्बे-चौड़े वक्षस्थलपर उत्तम सिन्दूरकी रज लगाकर जिन्होंने नूतन वनमाला और मालतीका सेहरा धारण किया था, और जो अपने दृढ़ मनमें वैरी कंसके मारनेका निश्चय कर चंचल चरणोंके आघातसे पृथिवीको कम्पित कर रहे थे ऐसे दोनों भाई, अतिशय भयानक मल्लोंके वेगसे युक्त एवं अपने-अपने वर्गके लोगोंसे सहित गोपोंके साथ शीघ्र ही मथुराकी ओर चले ॥२९-३०॥ मार्गमें कंसके भेजे एक असुरने नागका रूप बनाया, दूसरेने कटु शब्द करनेवाले गधाका और तीसरेने दुष्ट घोड़ेका रूप बनाया तथा नगर-प्रवेशमें विघ्न डालते हुए सबके-सब मुँह फाड़कर सामने आये परन्तु कृष्णने उन सबको मार भगाया ॥३१॥

नगरमें प्रवेश करते हुए दोनों भाई जब द्वारपर पहुँचे तो शत्रुकी आज्ञासे उनपर एक साथ चम्पक और पादाभर नामक दो हाथी हूल दिये गये। उन हाथियोंके भूरे रंगके गण्डस्थल, निरन्तर झरती हुई मदकी रेखाओंसे सुशोभित थे। उन हाथियोंको सामने आते जानकर दोनों भाई ऐसे सन्तुष्ट हुए जैसे युद्धकी रंगभूमिमें आगत प्रथम मल्लोंको देखकर ही सन्तुष्ट हो रहे

१. हैयङ्गवीनं म.। २. दध्नः म.। ३. भुक्तम् ग.। ४. २८-२९ श्लोकयोः स्थाने ख पुस्तके एवं पाठः—सुमृदुसुरभिगन्ध्युद्वर्तनोद्वर्तितास्यस्वकरकिसलयौ तौ मल्लविद्यानवद्यौ। कृतचलनसुवेषौ नीलपीताम्बराभ्यां बृहदुरसि विधायोदारसिन्दूरधूलीः ॥ अभिनववनमालामालतीमुण्डमालौ दरदलितसुबिम्बोद्भासमानाधरोष्ठौ। ५. पलित म.। ६. समम् अरम् इतिच्छेदः। ७. वारितौ म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सललितममितस्थौ चम्पकं शौरपाणिः [1]फणिरिपुरपि नागं तत्र पादाभराख्यम् ।
अभवदभिनवं तद्विस्मयापादि पुंसां नरवरकरिमल्लद्वन्द्वयोर्द्वन्द्वयुद्धम् ॥३३॥
दृढपदहतिगाढाक्रान्ति चोत्पाटयन्तौ कुटिलितकरै[2]रुद्धान् दन्तिदन्तानमाताम् ।
पृथुभुजबललीलोत्पाट्य[3]मानाग्रबन्धक्षितिभृदुरगवेष्ट[4]प्रौढवंशाङ्कुरान् वा ॥३४॥
अदयमथसमूलोन्मूलितोल्लासिता[5]भस्वरदनपरिघातैर्घोर[6]निर्घातघोषैः ।
विरसविरटितेभौ तौ निहत्य प्रविष्टौ पुरमुरुरववेलाक्ष्वेडितास्फोटगोपैः (?) ॥३५॥
कमलकिसलयोद्यत्तोरणद्वारशोभां नृपजनपदशुम्भच्चक्रवालालयालिम् ।
भुजशिखरनिघृष्टज्येष्ठमल्लांसकूटौ विशदमविशतां तौ तां महारङ्गभूमिम् ॥३६॥
स्वचरणभुजदण्डाकुञ्चिताकारशोभान्यभिनयदृढदृष्टिक्षेपरम्याणि रेजुः ।
चलितचलनवस्त्रप्रान्तकान्तानि रङ्गे हरिहलधरहेलावल्गितास्फोटितानि ॥३७॥
रिपुरयमिह कंसोऽयं जरासन्धलोकः सलिलधिविजय[7]द्याऽस्ते दशामी सपुत्राः ।
सहलिसहरि[8]चक्रालोकिनो लाङ्गलोत्थं प्रतिपुरुषमशेषं संज्ञयादर्शयत्तान् ॥३८॥

हों ॥३२॥ उनमें-से बलभद्र तो बड़ी सुन्दरताके साथ चम्पक हाथीके सामने अड़ गये और कृष्ण पादाभर हाथीके सामने जा डटे। तदनन्तर नर मल्ल और हस्तिमल्लोंकी जोड़ियोंमें ऐसा मल्ल-युद्ध हुआ जो देखनेवाले मनुष्योंके लिए बिलकुल नया तथा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला था ॥३३॥ यद्यपि हाथियोंने अपने दाँत टेढ़ी सूँड़ोंसे छिपा रखे थे तथापि उन दोनोंने उन्हें पैरोंके मजबूत प्रहार और बहुत भारी चपेटसे उखाड़ लिया था। उस समय वे हाथियोंके दाँत ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यधिक बाहुबलकी लीलासे जिसका अग्रभाग उखाड़ा जा रहा था ऐसे किसी पर्वतके साँपोंसे घिरे हुए बड़े बाँसोंके अंकुरोंका समूह ही हो ॥३४॥

तदनन्तर निर्दयतापूर्वक जड़से उखाड़े हुए अपने सुशोभित दाँतोंके परिघातसे जो भयंकर वज्रपातके समान जोरदार—विरस शब्द कर रहे थे ऐसे उन दोनों हाथियोंको मारकर दोनों भाई नगरमें प्रविष्ट हुए। उस समय वह मथुरा नगर जोरसे जय-जयकार करनेवाले गोपोंसे व्याप्त होनेके कारण बहुत बड़ा जान पड़ता था (?) ॥३५॥

तदनन्तर कमलकी कलिकाओंसे जिसके तोरण-द्वारकी शोभा बढ़ रही थी एवं जिसके भीतर घेरकर बैठे हुए राजाओं तथा नगरवासियोंसे सुशोभित, कुश्तीके लिए गोलाकार स्थान बनाये गये थे ऐसी बहुत बड़ी रंगभूमिमें दोनों भाई, अपने कन्धोंसे बड़े-बड़े मल्लोंके उन्नत कन्धों-को धक्का देते हुए, हर्षपूर्वक प्रविष्ट हुए ॥३६॥ उस समय रंगभूमिमें अपने चरणों और भुजदण्डों-के संकोच तथा विस्तारसे जिनकी शोभा बढ़ रही थी, जो अभिनयके अनुरूप दृष्टिके दृढ़ निक्षेपसे अत्यन्त रमणीय थीं एवं हिलते हुए चंचल वस्त्रोंके छोरसे जो सुन्दर थीं ऐसी कृष्ण और बलभद्र-की क्रीड़ापूर्वक उछलना तथा ताल ठोकना आदि चेष्टाएँ अत्यधिक सुशोभित हो रही थीं ॥३७॥ रंगभूमिमें पहुँचते ही बलभद्रने 'यह यहाँ शत्रु कंस बैठा है, ये जरासन्धके आदमी हैं और ये अपने-अपने पुत्रों सहित समुद्रविजय आदि दशों भाई विराजमान हैं' इस प्रकार इशारेसे कृष्णको समस्त मनुष्योंका परिचय करा दिया। वे समस्त लोग भी उसी गोलकी ओर देख रहे थे जो बलभद्र तथा कृष्णसे सहित था ॥३८॥

१. कृष्णः । २. कररुद्धादन्ति म. । कररुद्धौ दन्तिदन्तावभाताम् क. । ३. पाट्यमानारवाद्ये क., ग., ङ., म. । ४. चेष्ट–म. । ५. ल्लासिताभ–ख., ग., घ., ङ. । ६. निर्घोषघोषैः–म. । ७. समुद्रविजयादयः म. । ८. सहलसहरिवक्रालोकिनो म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुजनपदराजप्राज्यलोकावलोके क्षुभितसकलमल्लास्फोटवल्गाभिरामे ।
क्रमगहितमिहान्ये तावदादेशमाजो वनमहिषविदृक्षा मल्लयुद्धं प्रचक्रुः ॥३९॥
अथ गिरिगुरुभित्तिव्यूढवक्षोविभागस्फुटदृढभुजयन्त्रोत्पीलितोद्दृप्तमल्लम् ।
हरिमभि खलकंसो ऽयुक्त[2] चाणूरमल्लं विषमितविषदृष्ट्या पृष्ठतो मुष्टिकं च ॥४०॥
खरनखरकठोरौ मुष्टिबन्धौ विधाय प्रकटितपटु[3]सिंहाकारसंस्थानभेदौ ।
स्थिरचरणनिवेशौ शौरिचाणूरमल्लावनिभृतमभिलग्नौ मुष्टिसंघट्टयुद्धे ॥४१॥
कुलिशकठिनमुष्टिं मुष्टिकं पृष्ठतस्तं समपतितुसकामं राममल्लः सलीलम् ।
अलमलमिह तावत्तिष्ठ तिष्ठेति साक्षी:शिरसि करतलेनाक्रम्य चक्रे गतासुम्[4] ॥४२॥
हरिरपि हरिशक्ति[5]: शक्तचाणूरकं तं द्विगुणितमुरसि स्वे हारिहुङ्कारगर्भः ।
व्यतनुत भुजयन्त्राक्रान्तनीरन्ध्रनिर्यद्वहलरुधिरधारोद्गारमुद्गीर्णजीवम् ॥४३॥
दशशतहरिहस्तिप्रोद्बलौ साधिधूमावितिहठहतमल्लौ वीक्ष्य तौ शौरिकृष्णौ ।
प्रचलितवति कंसे [6]शातनिस्त्रिंशहस्ते व्यचलदखिलरङ्गाम्भोधिरुत्तुङ्गनादः ॥४४॥
अभिपतदरिहस्तात्खड्गमाक्षिप्य [7]केशेष्वतिदृढमतिगृह्याहत्य भूमौ सरोषम् ।
विहितपरुषपादाकर्षणस्तं शिलायां तदुचितमिति मत्वास्फाल्य हत्वा जहास ॥४५॥

अथानन्तर जहाँ अनेक नगरवासी और राजा आदि श्रेष्ठ पुरुष देखनेके लिए एकत्रित थे तथा क्षोभको प्राप्त हुए समस्त मल्लोंकी उछल-कूद एवं तालके शब्दोंसे जो अत्यधिक मनोहर जान पड़ता था ऐसे अखाड़ेमें बारी-बारीसे कंसकी आज्ञा पाकर अन्य अनेक मल्ल जंगली भैंसाओंके समान अहंकारी हो मल्ल-युद्ध करने लगे ॥३९॥ जब साधारण मल्लोंका युद्ध हो चुका तब दुष्ट कंसने कृष्णसे लड़नेके लिए उस चाणूर मल्लको आज्ञा दी जो पर्वतकी विशाल दीवालके समान विस्तृत वक्षःस्थलसे युक्त था और जिसने अपने मजबूत भुजयन्त्रसे बड़े-बड़े अहंकारी मल्लोंको पेल डाला था। यही नहीं, पीछेसे मुष्टिक मल्लको भी उसने उनपर रूर पड़नेके लिए अपनी विषम-विषमयी दृष्टिसे इशारा कर दिया ॥४०॥

तदनन्तर समर्थ सिंहके समान आकार और खड़े होनेकी मुद्रा विशेषको प्रकट करनेवाले कृष्ण और चाणूर मल्ल, स्थिर चरण रख एवं तीक्ष्ण नखोंसे कठोर मुट्ठियाँ बाँधकर अविराम रूपसे मुष्टि-युद्धमें जुट गये—परस्पर मुक्केबाजी करने लगे ॥४१॥ वज्रके समान कठोर मुट्ठिका धारक मुष्टिक मल्ल पीछेसे मुट्ठिका प्रहार करना ही चाहता था कि इतनेमें बलभद्र मल्लने शीघ्रतासे 'बस-बस ! ठहर-ठहर !' यह कहते हुए चवड़े और शिरमें जोरसे मुक्का लगाकर उसे प्राणरहित कर दिया ॥४२॥ इधर सिंहके समान शक्तिके धारक एवं मनोहर हुंकारसे युक्त श्रीकृष्णने भी चाणूर मल्लको जो उनसे शरीरमें दूना था अपने वक्षःस्थलसे लगाकर भुजयन्त्रके द्वारा इतने जोरसे दबाया कि उससे अत्यधिक रुधिरकी धारा बहने लगी और वह निष्प्राण हो गया ॥४३॥ कृष्ण और बलभद्रमें एक हजार सिंह और हाथियोंका बल था। इस प्रकार अखाड़ेमें जब उन्होंने हठपूर्वक कंसके दोनों प्रधान मल्लोंको मार डाला तो उन्हें देख, कंस हाथमें पैनी तलवार लेकर उनकी ओर चला। उसके चलते ही समस्त अखाड़ेका जनसमूह समुद्रकी नाईं जोरदार शब्द करता हुआ उठ खड़ा हुआ ॥४४॥ कृष्णने सामने आते हुए शत्रुके हाथसे तलवार छीन ली और मजबूतीसे उसके बाल पकड़ उसे क्रोधवश पृथिवीपर पटक दिया। तदनन्तर उसके कठोर पैरोंको खींचकर 'उसके योग्य यही दण्ड है' यह विचार उसे पत्थरपर पछाड़कर मार डाला। कंसको मारकर कृष्ण हँसने लगे ॥४५॥

१. पीलितं दृप्तमल्लं क., पीडितो दृष्टमल्लं म., ख.। २. अयुङ्क्त = योजितवान्, युक्तचाणूर-म. । ३. पद म.। ४. मृतम्। ५. हरेः सिंहस्येव शक्तिर्यस्य सः। ६. शाल-म.। ७. कोशेषु म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षुभितमभिपतन्तं कंससैन्यं च रामः कुटिलभ्रूकुटिमञ्जस्तम्भमुत्पाट्य[1] कोपात् ।
कुलिशसदृशघातैः सर्वतो गर्वदत्तैरकृत कृतविरावं कान्दिशीकं क्षणेन ॥४६॥
यदुषु विषमदृष्टिष्वेककालं बलैः स्वैश्चलितजलधिनादैरुत्थितेषूद्धतेषु ।
क्षुभितमपि समस्तं कंसकार्ये नियुक्तं व्यनशदवशमत्तं तज्जरासन्धसैन्यम् ॥४७॥
रथमथ चतुरश्वं[2] तावनावृष्टियुक्तौ सपदि सममिरूढौ मल्लनेपथ्ययुक्तौ ।
सदनमगमतां तत्पैतृकं यादवै[3]र्वैर्जलधिविजयपूर्वैः पूर्णमुर्वीभृदीशैः ॥४८॥
क्रमयुतमवनत्या पूजयित्वा दशार्हप्रभृतिगुरुजनान् तौ तत्र दत्ताशिषौ तैः ।
चिरविरहजमन्तस्तापमस्तं स्वयोग[4]प्रथमसलिलधारासंगतौ निन्यतुस्तम् ॥४९॥
वसु[5]निभवसुदेवो देवकी चात्मजस्य प्रशमितरिपुवह्नेर्वीक्ष्य विश्रब्धमास्यम् ।
सुखमतुलमगातामेकनासा च कन्या भुवि सुतसहजानां संप्रयोगः सुखाय ॥५०॥
गतनिगलकलङ्कः कंसशङ्काविमुक्तश्चिरविरहकृशाङ्गं राज्यलक्ष्मीकलत्रम् ।
यदुनिवहनियोगादुग्रसेनस्तदानीमभजत मथुरायां कंसमाथिप्रदत्तम् ॥५१॥
स्वजननिजवधूनां क्रन्दनाद्यैः सभावे श्रितवति लघु कंसेऽप्यङ्गसंस्कारमन्त्यम् ।
यदुषु कुपितचित्ता[6] प्राप[7] जीवद्यशाश्च[8] स्वकपितुरुपकण्ठे वाष्पसंरुद्धकण्ठा ॥५२॥

कंसकी सेना क्षुभित हो सामने आयी तो उसे देख रामकी भौंहें कुटिल हो गयीं। उन्होंने उसी समय क्रोधवश मंचका एक खम्भा उखाड़ लिया और गर्वसे सब ओर दिये हुए उसके वज्रतुल्य कठोर आघातोंसे चिल्लाती हुई उस सेनाको क्षणभरमें खदेड़ दिया ॥४६॥ कंसके कार्यमें नियुक्त जरासन्धकी स्वच्छन्द एवं मदोन्मत्त सेना यद्यपि क्षुभित हुई थी तथापि ज्योंही विषम दृष्टिके धारक शक्तिशाली यादव लोग चंचल समुद्रके समान शब्द करनेवाली अपनी-अपनी सेनाओंके साथ एक ही समय उठ खड़े हुए त्योंही वह समस्त सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गयी ॥४७॥

तदनन्तर मल्लके वेषसे युक्त दोनों भाई अनावृष्टिके साथ-साथ, चार घोड़ोंसे वाहित रथपर सवार हो अपने पिताके घर गये। पिताका वह घर समुद्रविजय आदि राजाओं तथा अन्य अनेक यदुवंशियोंके समूहसे भरा हुआ था ॥४८॥ वहाँ जाकर दोनों भाइयोंने क्रमसे समुद्रविजय आदि गुरुजनोंको नमस्कार कर उनकी पूजा की तथा गुरुजनोंने उन्हें आशीर्वाद दिया। इस प्रकार अपने संयोगरूप प्रथम जलकी धारासे युक्त दोनों भाइयोंने चिर कालके विरहसे उत्पन्न सबके मानसिक सन्तापको अस्त कर दिया ॥४९॥ कुबेरकी उपमा धारण करनेवाले वसुदेव और देवकी, शत्रुरूपी अग्निको शान्त करनेवाले पुत्रके मुखको निःशंक रूपसे देखकर अनुपम सुखको प्राप्त हुए। इसी प्रकार कंसने जिसकी नाक चिपटी कर दी थी उस कन्याने भी भाईका मुख देख अनुपम सुखका अनुभव किया सो ठीक ही है क्योंकि संसारमें पुत्र-पुत्रियोंका समागम सुखके लिए होता ही है ॥५०॥ जिनकी बेड़ियोंका कलंक नष्ट हो गया था और जो कंसकी शंकासे विमुक्त हो चुके थे ऐसे राजा उग्रसेन उस समय यादवोंकी आज्ञासे कृष्णके द्वारा प्रदत्त, चिरकालीन विरहसे दुबली-पतली राज्यलक्ष्मीरूपी स्त्रीका मथुरामें पुनः उपभोग करने लगे ॥ भावार्थ—कृष्णने राजा उग्रसेनकी बेड़ी काटकर उन्हें पुनः मथुराका राजा बना दिया और वे चिरकालके विरहसे कृश राज्यलक्ष्मीका पुनः सेवन करने लगे ॥५१॥ उधर कुटुम्बी जन तथा अपनी स्त्रियोंके रुदन आदिसे सहित कंस जब अन्तिम शारीरिक संस्कारको प्राप्त हो चुका तथा यादवोंके ऊपर जिसका चित्त अत्यन्त

१. मञ्जस्तम्भमुत्पाद्य म. । २. चतुरस्रम् म. । ३. यादवाद्यै क. । ४. संयोग म. । ५. 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति कोशः । ६. चित्ताः म. । ७. प्राप्य म. । ८. जीवद्यशायाः म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ गगनसमुद्रे मोदरङ्गत्तरङ्गे त्वरितगतिरनूनामुद्वहन्मीनलीलाम् ।
खचरनृपतिदूतोऽलोकि लोकैः समस्तैः स्फुरितमणिविभूषो माथुरैरुन्मुखाब्जैः ॥५३॥
तनुविशददुकूलश्चन्दनार्द्रीकृताङ्गः स्फुट इव कलहंसो मानसस्नानसेवी ।
सुरसरितमिवाप्तो माथुरीं सोऽथ रथ्यां दिशि दिशि धृतशोभां संचरद्राजहंसैः ॥५४॥
परिषदमथ दत्तद्वारपालप्रवेशो यदुभिरवहितात्मा भूषितां संप्रविश्य ।
कृतविनतिनिषण्णो विष्णुमूचेऽरिजिष्णुं प्रभुमवसरवेदी यादवानां समक्षम् ॥५५॥
शृणुत विनुत राजा राजताद्रौ सुकेतुर्नमिविनमिकुलश्रीवैजयन्तीसुकेतुः ।
अधिवसति रथं यो नूपुरं चक्रवालं पुरमिह नयदक्षो दक्षिणश्रेण्यधिष्ठम् ॥५६॥
जलजशयनचापैस्त्वां परीक्ष्यामुनाहं तव निकटमिहाशु प्रेषितः प्रेमपूर्वम् ।
भज वरदवृतस्त्वं सत्यभामावरत्वं खचरभुवनभूत्यै सर्वकल्याणमूलम् ॥५७॥
सकलयदुमनोज्ञं दूतवाक्यं निशम्य प्रतिवचनमुपेन्द्रोऽदादिति प्रीतचित्तः ।
[1]खगधनपतिसृष्टा रत्नशैले मयि द्राक् निपततु वसुधारा सत्यभामाभिधाना ॥५८॥

कुपित हो रहा था एवं आसुओंसे जिसका गला रुँधा हुआ था ऐसी जीवद्यशा अपने पिता जरासन्धके पास पहुँची ॥५२॥

अथानन्तर किसी समय ऊपरकी ओर मुख कमल किये हुए मथुरा निवासी समस्त लोगोंने आकाशमें विद्याधरोंके राजा सुकेतुका दूत देखा। वह दूत हर्षसे लहराते हुए आकाशरूपी समुद्रमें बड़े वेगसे आ रहा था, मच्छको उत्कट लीलाको धारण कर रहा था, और देदीप्यमान मणियोंके आभूषणोंसे युक्त था ॥५३॥ उसका शरीर चन्दनसे आर्द्र था तथा वह महीन और श्वेत वस्त्र पहने था इसलिए मानसरोवरमें स्नान करनेवाले हंसके समान जान पड़ता था। वह शीघ्र ही प्रत्येक दिशाओंमें विचरण करनेवाले श्रेष्ठ राजाओं (पक्षमें राजहंस पक्षियों) से गंगा नदीके समान सुशोभित मथुरा नगरीकी गलीमें आया ॥५४॥ तदनन्तर द्वारपालने जिसे प्रवेश दिया था ऐसा वह दूत, यादवोंसे सुशोभित सभामें सावधानीसे प्रविष्ट हो नमस्कार कर बैठ गया। फिर कुछ देर बाद अवसरको जाननेवाले उस दूतने यादवोंके समक्ष, शत्रुओंको जीतनेवाले कृष्णसे निम्नांकित वचन कहे ॥५५॥ उसने कहा कि हे राजाओंके द्वारा स्तुत! आप मेरी प्रार्थना सुनिए—विजयार्ध पर्वतके ऊपर एक सुकेतु नामका राजा है जो नमि और विनमिकी कुललक्ष्मीकी मानो विजय-पताका है, नीतिमें अत्यन्त चतुर है और दक्षिण श्रेणीमें स्थित रथनूपुरचक्रवाल नामक नगरमें रहता है ॥५६॥ शंख फूकना, नागशय्यापर चढ़ना और धनुष चढ़ाना इन लक्षणोंसे आपकी परीक्षा कर उसने शीघ्र ही प्रेमपूर्वक मुझे यहाँ आपके पास भेजा है तथा कहलाया है कि यद्यपि आप उत्तमोत्तम वस्तुओंको प्रदान करनेवाले लोगोंसे घिरे रहते हैं तथापि मेरी एक तुच्छ प्रार्थना है वह यह कि आप मेरी पुत्री सत्यभामाको स्वीकृत कर लें। आपका यह कार्य विद्याधर लोकके वैभवको बढ़ानेवाला एवं समस्त कल्याणोंका मूल होगा ॥५७॥ समस्त यादवोंके लिए रुचिकर दूतके वचन सुनकर प्रसन्नचित्त कृष्णने यह उत्तर दिया कि विद्याधरोंके राजा सुकेतुरूपी कुबेरके द्वारा रची सत्यभामा नामक रत्नोंकी धारा मुझ रत्नाचलपर शीघ्र ही पड़े। भावार्थ—मुझे सत्यभामाका वर होना स्वीकृत है अथवा कुछ पुस्तकोंमें धनपतिके स्थानपर नगपति पाठ है इसलिए इस श्लोकका यह अर्थ भी होता है कि विद्याधररूपी विजयार्ध पर्वतके द्वारा रची सत्यभामारूपी जलकी धारा मुझ रत्नाचलपर शीघ्र ही पड़े ॥५८॥

---

१. खगनगपतिसृष्टा ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिविहितसुपूजः खेचरेन्द्रस्य दूतः प्रमुदितमतिरित्वा स्वास्पदं स्वामिनेऽसौ ।
वरगुणनुतिपूर्वं सर्वकार्यस्य सिद्धिं समभणदिति तोषी[1] तोषिणे[2] सप्रियाय ॥५९॥
भुवि हरिबलदेवौ[3] भ्रातरौ भ्राजमानौ प्रतिहतपरतेजोरूपकान्ती विदित्वा ।
निजवचनहरास्यात्खेचरेन्द्रः सुकेतुः खचरप-रतिमालश्चागतौ कन्यकाभ्याम् ॥६०॥
रतिमिव रतिमालो रूपतो रेवतीं स्वां दुहितरमतिकान्तां देहजां ज्यायसेऽदात् ।
अतिमुदितसुकेतुः सत्यभामां प्रभायाः स्वयमुपपदवत्या गर्भजां केशवाय ॥६१॥
कुचकलशकलं[4]श्रोदारभारातिखिन्नाः शिथिलवसनकाञ्चीकेशपाशोत्तरीयाः ।
ननृतुरिह विवाहे नूपुरारावरम्याः क्षितिचरखचराणां योषितः शोचिवेषाः ॥६२॥
प्रथमनववधूकौ नीलपीताम्बरौ तौ विविधमणिविभूषाज्योतिरुद्भासिताङ्गौ ।
यदुनृपतिपरीतौ वीक्ष्य पुत्रावतोषीद्यदुयुवतिसमग्रा रोहिणी देवकी च ॥६३॥
प्रथममदनरङ्गे शार्ङ्गिणः सत्यभामा हृदयमहरदिष्टा रेवती शीरपाणेः ।
गुणितगुणकलानां सुप्रयोगैस्तयोस्तावुचितकरणकाले न स्खलन्ति प्रगल्भाः ॥६४॥
अथ सकलुषभावा सा जरासन्धराजं जलनिधिमिव वेला व्याकुला क्षोभयन्ती ।
अतिविततततमालोन्नीलकेशाप्यरोदीद्यदुकुलकृतदोषं कंसयोषिद्वदन्ती ॥६५॥

तदनन्तर कृष्णकी ओरसे जिसका सत्कार किया गया था और जिसकी बुद्धि अत्यन्त प्रसन्न थी ऐसा राजा सुकेतुका वह दूत अपने स्थानपर चला गया। वहाँ जाकर उसने पहले कृष्णके उत्तम गुणोंकी स्तुति की, उसके पश्चात् सन्तुष्ट होकर, वल्लभाके साथ बैठे हुए सन्तोषी राजा सुकेतुके लिए सर्व कार्यके सिद्ध होनेकी सूचना दी ॥५९॥ 'पृथिवीपर श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों अत्यन्त देदीप्यमान हैं तथा शत्रुओंके तेज, रूप और कान्तिको खण्डित करनेवाले हैं' इस प्रकार अपने दूतके मुखसे जानकर विद्याधरोंका राजा सुकेतु और उसका भाई रतिमाल अपनी-अपनी कन्याओंके साथ मथुरा आ पहुँचे ॥६०॥ रतिमालकी कन्याका नाम रेवती था और वह रूपमें साक्षात् रतिके समान जान पड़ती थी। रतिमालने अपनी वह सुन्दर कन्या बड़े भाई बलभद्रके लिए दी और अत्यन्त प्रसन्न सुकेतुने स्वयंप्रभा रानीके गर्भसे उत्पन्न अपनी सत्यभामा नामक पुत्री कृष्णके लिए दी ॥६१॥ इस विवाह-मंगलके अवसरपर जो स्तनरूपी कलश और नितम्बोंके बहुत भारी भारसे खिन्न थीं, जिनके वस्त्र, मेखला, केशपाश और उत्तरीय वस्त्र शिथिल हो रहे थे, जो नूपुरोंकी झनकारसे मनोहर जान पड़ती थीं और उज्ज्वल वेषको धारण करनेवाली थीं ऐसी भूमिगोचरी एवं विद्याधरोंकी स्त्रियोंने नृत्य किया था ॥६२॥ जो पहली-पहली नयी वधुओंसे सहित थे, नील और पीत वस्त्रके धारक थे, नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंकी कान्तिसे जिनके शरीर देदीप्यमान हो रहे थे तथा जो चारों ओर बैठे हुए यदुवंशी राजाओंसे घिरे हुए थे ऐसे अपने पुत्रोंको देखकर यादवोंकी स्त्रियोंसे युक्त रोहिणी तथा देवकी अत्यधिक सन्तुष्ट हो रही थीं ॥६३॥ प्रथम समागममें ही सत्यभामाने कृष्णके तथा अतिशय प्रिय रेवतीने बलभद्रके हृदयको हर लिया था। इसी प्रकार कृष्ण तथा बलभद्रने भी अभ्यस्त गुण और कलाओंके उत्तमोत्तम प्रयोगोंसे उन दोनोंका हृदय हर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य उचित कार्यके करनेके समय कभी नहीं चूकते हैं ॥६४॥

तदनन्तर जिसका हृदय अत्यन्त कलुषित था, जो अत्यधिक व्याकुल थी और जिसके तमाल पुष्पके समान काले-काले केश बिखरे हुए थे ऐसी कंसकी स्त्री जीवद्यशा, राजा जरासन्धके पास जाकर यदुवंशियोंके द्वारा किये हुए दोषका बखान करती हुई रोने लगी तथा जिस प्रकार वेला

१. तेषां म.। २. तोषणे म., ग.। ३. हरबलदेवौ म.। ४. नितम्ब। ५. सुप्रयोगौ तयो-म.। ६. तमालानील-म.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वयि सकलधरित्रीं शासति ध्वस्तनाथा कथमहमुपयाता तात वैधव्यदुःखम् ।
इदमपि खलु सोढं वैरनिर्यातनार्थं मदमुदितयदूनां रक्तपङ्कैः शिरोभिः ॥६६॥
दुहितुरिति विलापप्रायमाकर्ण्य वाक्यं नरपतिरुदवोचन्मुञ्च बालेऽतिशोकम् ।
जगति हि भवितव्यं भाविनो दैवयोगादगणितपरवीर्यं दैवमत्र प्रधानम् ॥६७॥
पशुरपि निरपायं निर्गमोपायमार्गं विमृशति वधशङ्कः क्षेत्रमादौ विविक्षुः ।
स्फुटमिदमपि वृत्तं विस्मृतं मर्तुकामैस्तव पतिमतिमत्तैर्यादवैर्मारयद्भिः ॥६८॥
तव पदशरणास्तेऽकण्टका यद्यपि स्युः सहबलकुलशाखास्ते तथाप्याशु वत्से ।
श्रुतिपथमनिवृत्ताः सन्ति मत्क्रोधवर्षद्वदहनशिखाभिर्भस्मिता ध्वस्तसंज्ञाः ॥६९॥
प्रियवचनपयोभिर्देहजाक्रोधवह्निप्रततिमुपशमय्य क्षुब्धकोपानलः सः ।
यवननिधनकालं कालकल्पं तनूजं यदुजनिधनहेतोरादिदेशाशु राजा ॥७०॥
चलजलधिसमानेनाभ्यमित्रं बलेन द्विपचतुरतुरङ्गस्यन्दनाद्येन गत्वा ।
स लघु दश च सप्तार्प्युग्रयुद्धानि युद्ध्वा यदुभिरतुलमालावर्तशैले ननाश ॥७१॥
पुनरपि जितजेयं भ्रातरं मागधो द्रागजितमपरपूर्वं प्राहिणोत्प्राणतुल्यम् ।
प्रलयशिखिशिखालोढस्मरः स स्वयोगात्स्वबलपवननुन्नो द्विट्जगद्ग्रासलोलः ॥७२॥

समुद्रको क्षुभित कर देती है उसी प्रकार उसने राजा जरासन्धको क्षुभित कर दिया ॥६५॥ वह कह रही थी कि हे तात ! जब आप समस्त पृथिवीका शासन कर रहे हैं तब मैं पतिरहित हो वैधव्यके दुःखको कैसे प्राप्त हो गयी ? हे पिताजी ! अब तक मैंने जो यह वैधव्यका दुःख सहा है वह गर्वसे फूले यादवोंके रक्तरूप पंकसे युक्त शिरोंसे वैरका बदला चुकानेके लिए ही सहा है ॥६६॥ इस प्रकार प्रायः विलापसे युक्त पुत्रीके वचन सुनकर राजा जरासन्धने कहा कि बेटी ! अत्यधिक शोक छोड़ । इस संसारमें जो होता है वह होनहार दैवके योगसे ही होता है । दूसरोंकी शक्तिका तिरस्कार करनेवाला दैव ही इस संसारमें प्रधान है ॥६७॥ खेतमें घुसनेका इच्छुक पशु भी वधकी शंका कर सबसे पहले निकलनेके लिए निरुपद्रव मार्गका विचार कर लेता है परन्तु तेरे पतिको मारते हुए इन अत्यन्त मत्त यादवोंने इस स्पष्ट बातको भी भुला दिया इससे सिद्ध है कि ये मरना चाहते हैं ॥६८॥ हे वत्से ! ये भले अब तक तेरे चरणको शरण प्राप्त कर निष्कण्टक रहे हों और भले ही ये बल तथा कुलकी शाखाओंसे युक्त हों परन्तु यह निश्चित है कि ये शीघ्र ही मेरे क्रोधसे बरसनेवाली दावानलकी ज्वालाओंसे भस्म होनेवाले हैं, इनका नाम भी नष्ट हो जानेवाला है और ये श्रवण मार्गको अतिक्रान्त कर चुके हैं—अब इनका नाम भी नहीं सुनाई देगा ॥६९॥

इस प्रकार प्रिय वचनरूपी जलके द्वारा पुत्रीकी क्रोधाग्निके समूहको शान्त कर क्षोभको प्राप्त हुए क्रोधानलसे युक्त राजा जरासन्धने यादवोंको मारनेके लिए यमराजके तुल्य अपने काल-यवन नामक पुत्रको शीघ्र ही आदेश दिया ॥७०॥ कालयवन, चंचल समुद्रके समान दिखनेवाली हाथी, घोड़ा और रथ आदिसे युक्त सेनाके साथ शीघ्र ही शत्रुके सम्मुख चला और यादवोंके साथ सत्रह बार भयंकर युद्ध कर अतुलमालावर्त नामक पर्वतपर नष्ट हो गया—मर गया ॥७१॥ तदनन्तर राजा जरासन्धने शीघ्र ही अपने भाई अपराजितको भेजा जो कि शत्रुओंको जीतनेवाला था, प्राणोंके तुल्य था, अपने संयोगसे प्रलय कालको अग्निकी शिखाओंके समूहको नष्ट करनेवाला था, अपनी सेनारूपी प्रबल पवनसे प्रेरित था, और शत्रुरूपी जगत्के ग्रसनेके लिए सतृष्ण

१. शरणाशा कण्टका म. क., ग., ङ. । २. मतिमत्ताः क., ख., ग., ङ., म. । ३. न क्रोध—क. । ४. व्युग्र-युद्धानि म. । ५. द्विट्गजग्रास—ग. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुमुलरणशतानि त्रीणि [1]स प्रीणितास्तैर्यदुभिररिषु चत्वारिंशतं षट् च युद्ध्वा ।
श्रमनुदमिव वीरो वीरशय्यां यशस्वी हरिशरमुखपीतप्राणसारोऽध्यशेत ॥७३॥
प्रमदमथ वहन्तः संततं संवसन्तो [2] [3]हरिपुरि मथुरायां माधुरैः पौरलोकैः ।
हरिहलधरवीरावार्यवीर्यावलेपप्रतिहतरिपुशङ्काः शौरयो रेमिरेऽमी ॥७४॥
शमयति रिपुलोकोदारदावावलेपं जनयति जनबन्धुर्बन्धुलोकप्रहर्षम् ।
जिनमतघनचर्यावारिधारातति र्भूवलयफलसमृद्धिः श्रीयशोमालिनीयम् ॥७५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कंसापराजितवधवर्णनो नाम षट्त्रिंशः सर्गः ।

□

था ॥७२॥ वीर अपराजितने सन्तुष्ट होकर शत्रुओंके बीच यादवोंके साथ तीन सौ छियालीस बार युद्ध किया परन्तु अन्तमें वह श्रीकृष्णके बाणोंके अग्रभागसे निष्प्राण हो पृथ्वीपर गिर पड़ा। पृथिवीपर पड़ा यशस्वी अपराजित ऐसा जान पड़ता था मानो थकावटको दूर करनेवाली वीरशय्यापर ही शयन कर रहा हो ॥७३॥ अथानन्तर जो निरन्तर हर्षको धारण कर रहे थे, कृष्णपुरी मथुरामें निवास करते थे और कृष्ण तथा बलभद्रके अवार्य वीर्यके गर्वसे जिनकी शत्रुकी शंका नष्ट हो गयी थी ऐसे यादव लोग मथुरावासी नागरिक जनोंके साथ क्रीड़ा करने लगे ॥७४॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो समस्त जीवोंके लिए बन्धुके समान है, पृथिवीमण्डलके फलोंकी समृद्धिको बढ़ानेवाली है तथा लक्ष्मी और यशकी मालासे सहित है ऐसी यह जिनेन्द्र मतरूपी मेघके जलकी धारा शत्रुसमूहरूपी प्रचण्ड दावानलके गर्वको शान्त करती है और बन्धुजनोंके प्रकृष्ट बहुत भारी हर्षको उत्पन्न करती है ॥७५॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कंस और अपराजितके वधका वर्णन करनेवाला छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३६॥

□

१. सप्रीणितास्ते म. । २. वंशहेतोः ख., संवहन्तो म., क. । शं वहन्ता ग. । ३. हरिरिपु म., हरिपुर म. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org